

प्रभावकचरित

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव



प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली
बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर (बिहार)-844128 (भारत)

2013

प्रभावकचरित

प्रधान सम्पादक

प्रो. (डॉ.) ऋषभचन्द्र जैन

निदेशक

प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

मूलपाठ सम्पादक

जिनविजय मुनि

हिन्दी अनुवाद

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव



प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर (बिहार)-844128 (भारत)

2013

प्रभावकचरित

प्रधान सम्पादक : प्रो. (डॉ.) ऋषभचन्द्र जैन
निदेशक, प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

मूलपाठ सम्पादक : जिनविजय मुनि

हिन्दी अनुवाद : डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव
शिवशक्ति नगर, सन्दलपुर, पटना, बिहार

© Research Institute of Prakrit Jainology & Ahimsa, Vaishali

First Edition : 2013

ISBN : 987-93-81403-09-9

Price . Rs. 560.00

Published on behalf of the Research Institute of Prakrit Jainology and Ahimsa,
Basokund, Muzaffarpur, Bihar by Prof. (Dr.) Rishabha Chandra Jain,
Director; Website : www.ripja.bih.nic.in, Email-vaishaliinstitute@gmail.com,
Ph : 09471001719.

Printed in India at the Impression Publication, Salimpur Ahra 'Baulia',
Kadamkuan, Patna-800003; Ph. : 08877663597



The Government of Bihar established the Research Institute of Prakrit Jainology and Ahimsa at Vaishali in 1955, with the object, inter alia, to promote advanced studies and research in Prakrit and Jainology and to publish works of permanent value to scholars. This institute is one of the six research institutes being run by the Government of Bihar. The other five are : (i) Mithila Institute of Post-graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga; (ii) K.P., Jayaswal Research Institute for research in ancient, medieval and modern Indian History at Patna; (iii) Bihar Rastrabhasha Parishad for research and advanced studies in Hindi at Patna; (iv) Nava Nalanda Mahavihara for research and post-graduate studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda and (v) Institute of Post-graduate Studies and Research in Arabic and Persian at Patna.

As part of the programme of rehabilitating and reorienting ancient learning and scholarship, this is the Research Volume no. 91, which is Prabhaavakacharita. The Government of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in the fullness of time.

प्रधान सम्पादकीय

श्री प्रभाचन्द्राचार्य रचित 'प्रभावक-चरित' का हिन्दी भाषानुवाद के साथ संस्थान के प्रकाशनों की श्रृंखला में प्रकाशित यह संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थ में बाईस प्राचीन आचार्यों का चरित वर्णित है इसलिए यह ऐतिहासिक महत्व का ग्रन्थ है। इसका सर्वप्रथम मुद्रण निर्णयसागर प्रेस, मुंबई से 1909 में हुआ था, जिसका सम्पादन ज्ञानरत्न डॉ० हीरानन्द शास्त्री, एम.ए., एम.एल.ओ. डी. लिट्. ने किया था। वे उस समय बड़ौदा के राजकीय पुरातत्त्व विभाग में मुख्य नियामक थे। अतः इस ग्रन्थ के उद्धार का श्रेय श्रद्धेय शास्त्री जी को जाता है। इस प्रथम संस्करण में शेष रह गयी त्रुटियों/कमियों को दूर करने के उद्देश्य से शास्त्री जी ने सन् 1930-31 में इसका पुनः सम्पादन करने के निमित्त पाटण के शास्त्र-भण्डारों से इसकी प्राचीन पाण्डुलिपियाँ मंगवायीं और संशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। प्रायः इसी अवधि में मुनि जिनविजयजी ने सिंधी जैन ग्रन्थमाला का कार्य शुरू किया और प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश आदि ग्रन्थों के उपयोगी संस्करण तैयार करने का संकल्प कर कार्य को आगे बढ़ाया। फलतः मुनि जिनविजयजी के द्वारा प्रभावकचरित का सम्पादनकार्य प्रारंभ किये जाने की सूचना पाकर शास्त्री जी ने अपना कार्य स्थगित करके पाटण भंडार से प्राप्त सभी हस्तप्रतियाँ मुनिजी के पास भेज दीं। इस सदाशयता के लिए मुनि जिनविजयजी ने प्रभावकचरित की प्रस्तावना में डॉ० हीरानन्द शास्त्री का आभार माना है।

इस विशिष्ट ग्रन्थ में प्रायः सहस्राधिक वर्षों की दीर्घ कालावधि में हुए जैन श्वेताम्बर परम्परा के जिन बाईस प्रभावक आचार्यों का जीवन चरित गुंफित है, उनके नाम हैं - 1. श्रीवज्रस्वामी, 2. श्रीआर्यरक्षित, 3. श्रीआर्यनन्दिल, 4. श्रीकालकसूरि, 5. श्रीपादलिप्तसूरि, 6. श्रीविजयसिंहसूरि, 7. श्रीजीवसूरि, 8. श्रीवृद्धवादिसूरि, 9. श्रीहरिभद्रसूरि, 10. श्रीमल्लवादिसूरि, 11. बप्पभट्टिसूरि, 12. श्रीमानतुंगसूरि, 13. श्रीमानदेवसूरि, 14. श्रीसिद्धर्षि, 15. श्रीवीरसूरि, 16. श्रीशान्तिसूरि, 17. श्रीमहेन्द्रसूरि, 18. श्रीसूराचार्य, 19. श्रीअभयदेवसूरि, 20. श्रीवीराचार्य, 21. श्रीवादिदेवसूरि एवं 22. श्रीहेमचन्द्रसूरि। उक्त सभी आचार्यों के चरित जैन इतिहास की बड़ी धरोहर कहे जा सकते हैं।

इन चरितों में विविध प्रसंगों में तत्कालीन प्रभावशाली राजाओं एवं अन्य विशिष्ट जनों के साथ विनोदपूर्ण वातावरण में प्रश्नोत्तर आदि के बहाने से ग्रन्थ को तथा कतिपय चरितों को सुरुचिपूर्ण बनाने का कवि का प्रयोग पूर्णतः सफल रहा है। कवि ने अपनी रचना में देशी और नये शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है। प्रभावकचरित संस्कृतभाषा में रचा गया है, किन्तु बीच-बीच में प्राकृतभाषा के पद्य भी आये हैं, जो प्रायः अन्य ग्रन्थकारों से लिए गये ज्ञात होते हैं। वैसे ग्रन्थकार ने उन सभी पद्यों को अपने मूलग्रन्थ का अंग बनाया है।

नमूने के रूप में पादलिप्तसूरिचरित में आये हुए राजा और पादलिप्तसूरि के मध्य एक महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर को देखिये-

प्रश्न - पालित्तय कहसु फुडं सयलं महिमंडलं भमतेण।

विट्ठो सुओ व कत्थवि चंदणरससीयलो अग्गी।।

अर्थात् हे पादलिप्त! समस्त भूमण्डल का भ्रमण करते हुए आपने कहीं भी चन्दन-रस के समान शीतल अग्नि को देखा या सुना है।

उत्तर - अयसाभिओगसंदूमियस्स पुरिसस्स सुद्धहिययस्स।

होइ वहंतस्स फुडं चंदणरससीयलो अग्गी।

अर्थात् अयश के अभियोग से सन्तप्त शुद्ध हृदयवाले पुरुष के लिए आग छूते ही वह स्पष्टतः चन्दन-रस के समान शीतल हो जाती है।

बप्पभट्टिसूरि का जीवन वृत्त विस्तार के साथ 25 अनुच्छेदों/प्रसंगों में निबद्धकर प्रस्तुत हुआ है। इनकी काव्य-प्रतिभा को दर्शाने के लिए कवि ने विविध समस्यापूर्तियों को माध्यम बनाया है, जो काव्य की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। एक उदाहरण देखिए -

पसु जेम पुलिंदउ पीअइ जलु पंथिउ कमणिहिं कारणिण।

अर्थात् पुलिंद पथिक सीढ़ी रहने के कारण पशु की तरह (मुँह डुबाकर) पानी पी रहा है।

उक्त गाथार्थ को सुनकर बप्पभट्टिसूरि ने तुरन्त उस गाथा का उत्तरार्थ कहा-
करबेवि करंबिय कज्जिलिण मुद्धहि अंसु निवारणिण।।

अर्थात् हाथ में काजल लगे रहने के कारण सिर से आँसू पोंछते हैं।

देव का कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं -

अहन् सर्वार्थवेदी यदुकुलतिलकः केशवः शंकरो वा,

विभ्रद्गौरीं शरीरे दधदनवरतं पद्मजन्माऽक्षसूत्रम्।

बुद्धो चालं कृपालुः प्रकटितभुवनो भास्करः पावको वा,

रागाद्यैर्यो न दोषैः कलुषितहृदयस्तं नमस्यामि देवम्।।

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।

वीतदोषकलुषः व चेद् भवानेक एव भगवान्! नमोऽस्तु ते।।

-बप्पसूच-591-92।।

अर्थात् अहं सर्वार्थ के ज्ञाता हूँ, चाहे वह यदुकुल-तिलक केशव हों या शरीर में हर घड़ी गौरी को धारण करनेवाले शंकर हों, या अक्षसूत्र (रुद्राक्ष की माला) धारण करनेवाले ब्रह्मा हों, या अतिशय कृपालु बुद्ध हों या संसार को प्रकाशित करनेवाले सूर्य या अग्नि हों, राग आदि दोषों से जिसका हृदय कलुषित नहीं है, उस देव को मैं नमस्कार करता हूँ।

हर समय जहाँ-तहाँ, जैसे-तैसे, जिस-तिस नाम से जो हैं, सो हैं, यदि आप दोष और कलुष से रहित हैं, भगवन्! आप एक ही हैं, आपको नमस्कार है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि मद, मान, काम, क्रोध, लोभ और अहंकार से पराजित देवों

के लिए बलपूर्वक दूसरों के साम्राज्य के अपहरण की पीड़ा व्यर्थ ही है। प्रायः जानिए कि भ्रान्त जन मणिनिर्मित तट की भी गिनती नहीं करते, अक्षय निरंजन परमपद को वे आज भी प्राप्त नहीं कर पाते। देवतत्त्व का कथन करने के बाद ग्रन्थकार ने गुरु का स्वरूप अपभ्रंशभाषा में इस प्रकार कहा है -

पंचमहव्ययजुत्तं पंचपरमिदित्तिं भत्तउ।

पंचिदियनिग्गहणु पंचविसय जु विरत्तउ॥

पंचसमिइ निव्वहणु पगुणगुणु आगमसत्थिण।

कुविहि कुगह परिहरइ भविय बोहिय परमत्थिण॥

बालीसदोससुद्धासणिण छव्विह जीवह अभयकरु।

निम्मच्छरु केसरि कहइ फुड तिगुत्तिगुत्तु सो मज्झ गुरु॥ - बभसूच-597॥

अर्थात् गुरु पांच महाव्रत से युक्त होते हैं, पंच परमेष्ठी के भक्त होते हैं, पांचों इन्द्रियों के निग्रह में समर्थ होते हैं और पांचों विषयों से विरक्त होते हैं। गुरु पांच समितियों का निर्वाह करते हैं, निर्दोष गुणों से युक्त होते हैं, आगमशास्त्री होते हैं, कुविधि और कदाग्रह के परित्यागी होते हैं। परमार्थी गुरु भव्यजनों के लिए जलयान-स्वरूप होते हैं, भवसागर से उनका उद्धार करते हैं। अज्ञता-रूप दोष से रहित उनका आसन शुद्ध होता है। छह प्रकार के जीवों को वे भय रहित करते हैं, मत्सर-रहित होते हैं, मन, वचन और कायरूप तीन गुप्तियों से गुप्त होते हैं, केसरी स्पष्ट कहते हैं कि जो ऐसे ही गुणों वाले होते हैं, वही मेरे गुरु हैं। इसी चरित में पढ़ना, लिखना, गणित का सम्यक् ज्ञान, गीत, नृत्य, वाद्य, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा, निरुक्त तथा निघण्टु सहित कात्यायन व्याकरण, पत्रच्छेद्य और नखच्छेद्य कला के साथ रत्न-परीक्षा, आयुध के संचालन का अभ्यास, गजारोहण और घुड़सवारी, इन दोनों में प्रत्येक की अद्भुत शिक्षा, मन्त्रवाद, रसवाद, भूमि-खननवाद, रसायन, विज्ञानवाद, बुद्धिविबोधक तर्कवाद, सिद्धान्त, विष-निग्रह, गारुडी विद्या, शकुनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, आचार्यविद्या, आगमन, प्रासादलक्षण, सामुद्रिक, स्मृति, पुराण, इतिहास, श्रेष्ठ वेदविधि, अनुवाद विद्या, दर्शन, संस्कार, खेचरी कला, अमरीकरण, इन्द्रजाल, पातालसिद्धि, धूर्त-शम्बल, गन्धयुक्ति, वृक्षचिकित्सा, कृत्रिम मणिकर्म, सर्ववस्तुकृति, वंशकर्म, पुष्पकर्म, चित्रकर्म, काष्ठपाषाण-कर्म, लेपकर्म, चर्मकर्म, यन्त्रकर्म, रसशास्त्र, काव्यालंकार, हसित, संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, कपट, देशभाषा, धातुकर्म का प्रयोग, उपाय, केवलीविधि आदि बहतर कलाओं का उल्लेख महत्वपूर्ण है। (बभसूच-62-73)

आकार की दृष्टि से बप्पभट्टिसूरि चरित स्वतंत्र ग्रन्थ के परिमाण के अनुरूप है। इसमें पद्यों की कुल संख्या 772 है। इसी प्रकार श्री हेमचन्द्रसूरि का वृत्तान्त इस रचना का सबसे बड़ा चरित है। इसमें पद्यों की कुल संख्या 853 है।

इस ग्रन्थ की भाषा भी अनेक विशिष्टताओं को अपने आप में समाहित किये हुये है। ग्रन्थकार ने देशी शब्दों का खूब प्रयोग किया है। जो देशी शब्दों के वैशिष्ट्य को प्रकट करता है। इसमें अनेक देशों, नगरों, ग्रामों, पत्तनों, राजाओं, पन्त्रियों, मुनियों, पण्डितों, श्रावक-श्राविकाओं, तीर्थों आदि का उल्लेख हुआ है। अध्यात्म-योगशास्त्र, अलंकृतचूड़ामणि,

आचारांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्रवृत्ति, उपदेशमालावृत्ति, उपमितिभवप्रपंचकथा, ऋषिमण्डल प्रकरण, एकार्थकोश, कलापक (व्याकरण), कल्याणमन्दिर, कितवकथानक पंचक, कुशल्यमाला, गौडवध, छन्दश्चूड़ामणि, तत्त्वोपप्लव, तरंगलोला, तिलकमंजरी, त्रिषष्टिश्लाकापुरुषचरित, देशीनाममाला, दृष्टिवाद, द्वयाश्रयमहाकाव्य, द्विसन्धानकाव्य, नयचक्र, निर्घण्ट, निर्वाणकलिका, न्यायावतार, पद्मचरित, पाणिनी (व्याकरणग्रन्थ), प्रमाणमीमांसा, प्रश्नचूड़ामणि, प्रश्नप्रकाश, महानिशीथ, महाभारत, महामहविजय, याज्ञवल्क्य-स्मृति, युगादिनेमिचरित, योगशास्त्र, योनिप्राभृत, रामायण, ललितविस्तरा, वादमहार्णव, वीतरागस्तव, वीरचरित, विश्रान्तविद्याधर, वीरस्तुति, शिशुपालवध, समरदिनेशवृत्त, समरादित्यचरित, समरार्कचरित्र, सिद्धप्राभृत, सिद्धहेमशब्दानुशासन, सूर्यप्रज्ञप्ति, सूर्यशतक, स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थों के नामों का उल्लेख इस ग्रन्थ में पाया जाता है। अनेक कवियों, सभी परंपराओं के अनेक आचार्यों-मुनियों-विद्वानों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ की विशेषता ही कहा जायेगा। निष्कर्षतः यह ग्रन्थ ऐतिहासिक तथ्यों से ओत-प्रोत है। इसके तटस्थ अध्ययन से इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सहायता मिल सकती है।

वयोवृद्ध विद्वान् विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने प्रभावक-चरित का हिन्दी अनुवाद करके संस्थान को प्रकाशित करने हेतु समर्पित किया, इसके लिए संस्थान की ओर से उनका आभार मानता हूँ और उनके आरोग्यमय दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ।

अपने परोक्ष-अपरोक्ष सभी सहयोगियों का उपकार मानता हूँ, जिनकी सद्भावना के परिणाम-स्वरूप मैं इस कार्य को आकार देने में सफल हो पाया हूँ। आकर्षक मुद्रण के लिए इम्प्रेसन पब्लिकेशन, पटना के संचालक श्री राकेश रंजन को धन्यवाद देता हूँ।

प्रकाश पर्व

13 नवम्बर, 2012

ऋषभचन्द्र जैन

निदेशक

प्रस्तुत अनुवाद के बारे में

विस्तृत जैन इतिहास की रचना के लिए जिन प्राचीन जैन ग्रन्थों से विशिष्ट सामग्री प्राप्य सम्भव है, उनमें 'प्रभावकचरित', 'प्रबन्धचिन्तामणि' 'प्रबन्धकोष' और 'विविधतीर्थकल्प' अपरनाम 'कल्पप्रदीप' ये चार प्रमुख हैं। यथाप्रस्तुत यह कृति 'प्रभावकचरित' के हिन्दी-अनुवाद से सम्बद्ध है।

इसके पूर्व प्राकृत और संस्कृत में निबद्ध 'विविधतीर्थकल्प', यथोक्त अपरनाम 'कल्पप्रदीप' का मेरे द्वारा सम्पन्न हिन्दी अनुवाद मूल सहित प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली द्वारा प्रकाशित हो चुका है। यह 'प्रभावकचरित' दूसरा अनूदित ग्रन्थ है। मूल ग्रन्थ संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है। मूलग्रन्थ-लेखक प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा यथाप्रयुक्त संस्कृत-भाषा में प्रयोग-नवीनता का विशेष आग्रह है। इस अनूदित कृति 'प्रभावकचरित' में सभी बाईस चरितों का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

मुनि जिनविजय जी इस मूल-ग्रन्थ के सम्पादक हैं। प्रस्तुत चरित-ग्रन्थ के सम्बन्ध में विशिष्ट और विस्तृत शोधगर्भ जानकारी के लिए मुनिश्री का 'प्रास्ताविक वक्तव्य' अनुशीलनीय है। मुनिश्री ने वैदुष्यपूर्ण सम्पादन के क्रम में पादटिप्पणी में मूल पाठ का अन्तर भी अन्य चार प्राचीन प्रतियों के आधार पर उपन्यस्त किया है।

मूल 'प्रभावकचरित' का प्रकाशन सिंधी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, चौपाटी रोड, बम्बई-7 (अब मुम्बई) ने किया है। मैंने मूल ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद इसी संस्करण (प्रकाशन-काल: सन् 1940 ई०) से सम्पन्न किया है।

अनुवाद-प्रक्रिया में मैंने प्रायः मूल की यथार्थता का ही अनुसरण किया है। कहीं-कहीं कथावस्तु की स्पष्टता के लिए भाष्यगर्भता को भी मूल्य दिया है। कहावत है- 'विद्वज्जनो विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्' मेरे द्वारा सम्पन्न हिन्दी-अनुवाद की साधुता के लिए विद्वज्जन ही प्रमाण होंगे।

अन्त में प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान के शास्त्रज्ञ निदेशक तथा जैनतत्त्व के मर्मज्ञ डॉ. ऋषभचन्द्र जैन का मैं अन्तःकरण से आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे सारस्वत श्रम को अक्षरित करने की उदारता सुलभ की। किमधिकं विज्ञेय।

पटना

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव
शिवशक्ति नगर, सन्दलपुर,
पटना, बिहार

अनुक्रमणिका

प्रधान सम्पादकीय

v-viii

प्रस्तुत अनुवाव के बारे में

ix

क्र.सं. अध्याय	मूल पाठ	हिन्दी अनुवाव
1. अथ प्रास्ताविकम्	... 1-2	201-202
2. श्रीवज्रस्वामिचरितम्	... 3-8	203-213
3. श्रीआर्यरक्षितचरितम्	... 9-17	214-230
4. श्रीआर्यनन्दिलचरितम्	... 18-20	231-236
5. श्रीकालकसूरिचरितम्	... 21-25	237-246
6. श्रीपादलिप्तसूरिचरितम्	... 26-36	247-268
7. श्रीविजयसिंहसूरिचरितम्	... 37-41	269-277
8. श्रीजीवसूरिचरितम्	... 42-48	278-289
9. श्रीवृद्धवाविसूरिचरितम्	... 49-55	290-300
10. श्रीहरिभद्रसूरिचरितम्	... 56-68	301-317
11. श्रीमल्लवाविसूरिचरितम्	... 69-71	318-322
12. श्रीबप्पभट्टिसूरिचरितम्	... 72-98	323-370
13. श्रीमानतुङ्गसूरिचरितम्	... 99-104	371-381
14. श्रीमानदेवसूरिचरितम्	... 105-107	382-386
15. महाकविश्रीसिद्धर्षिचरितम्	... 108-113	387-396
16. श्रीवीरसूरिचरितम्	... 114-119	397-406
17. वाविवेतालश्रीशान्तिसूरिचरितम्	... 120-124	407-415
18. श्रीमहेन्द्रसूरिचरितम्	... 125-137	416-436
19. श्रीसूराचार्यचरितम्	... 138-146	437-452
20. श्रीअभयदेवसूरिचरितम्	... 147-152	453-463
21. श्रीवीराचार्यचरितम्	... 153-156	464-469
22. श्रीवाविवेवसूरिचरितम्	... 157-167	470-487
23. श्रीहेमचन्द्रसूरिचरितम्	... 168-195	488-537
24. ग्रन्थकारकृता स्वकीया प्रशस्तिः	... 196-198	538-540

श्रीप्रभाचन्द्रसूरि-विरचितं

प्रभावकचरितम्

॥ ॐ नमः श्रुतदेवतायै ॥

अथ प्रास्ताविकम्

अर्हत्तत्त्वं स्तुमो विश्वशासनोन्नतिकारकम्। यत्प्रसादेन पूर्वेऽपि महोदयपदं ययुः ॥1॥
श्रीसर्वमंगलोल्लासी वृषकेतुरनङ्गभित्। शम्भुर्गणपतिस्तीर्थनाथ आद्यः पुनातु वः ॥2॥
हरिणद्धो न-भोगश्रीर्जनतापापहारकः। महाबलः प्रभुः शान्तिः पातु चित्रं ध्रुवस्थितिः ॥3॥
दशावतारो वः पायात् कमनीयाञ्जनद्युतिः। किं श्रीपतिः प्रदीपः किं न तु श्रीपार्श्वतीर्थकृत् ॥4॥
यद् गोब्रजश्चरन् भव्यगोचरे पात्रपूरकः। श्रेयःपीयूषतः पातु वर्द्धमानः स गोपतिः ॥5॥
सा पूर्वागमिता गोदा सुमनोऽर्च्या सरस्वती। बहुपादोदया न्यस्ता येन तं गौतमं स्तुवे ॥6॥
सम्पत्तिः सत्पदार्थानां सत्प्रसादात् प्रजायते। जीवसंजीवनीं नौमि भारतीं च श्रियं च ताम् ॥7॥
यद्दत्तैकार्थरूपस्य वृद्धिः कोटिगुणा भवेत्। श्रीचन्द्रप्रभसूरीणां तेषां स्यामनृणः कथम् ॥8॥
सज्जनः स कथं जिष्णुर्योऽलीकादरतत्परः। परावर्णं गुणीकृत्य दोषोद्योगं दधाति न ॥9॥
असन्तः किमु न स्तुत्याः स्तुत्यां येऽनादृताः परम्। दीपयन्ति कृताभ्यासाः क्षूणवीक्षणतः क्षणे ॥10॥
कलौ युगप्रधानः श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः पुरा। श्रीशलाकानृणां वृत्तं प्रास्तावीन् नृपबोधकृत् ॥11॥
श्रुतकेवलिनं षण्णां दशपूर्वभृतामपि। आवज्जस्वामिवृत्तं च चरितानि व्यधत्त सः ॥12॥
ध्याततन्नाममन्त्रस्य प्रसादात् प्राप्तवासनः। आरोक्ष्यन्निव हेमाद्रिं पादाभ्यां विश्वहास्यभूः ॥13॥
श्रीवज्जानुप्रवृत्तानां शासनोन्नतिकारिणाम्। प्रभावक-मुनीन्द्राणां वृत्तानि कियतामपि ॥14॥
बहुश्रुतमुनीशेभ्यः प्राग्ग्रन्थेभ्यश्च कानिचित्। उपश्रुत्येतिवृत्तानि वर्णयिष्ये कियन्त्यपि ॥15॥ विशेषकम्।
श्रीदेवानन्दशैक्ष श्रीकनकप्रभशिष्यराट्। श्रीप्रद्युम्नप्रभुर्जीयाद् ग्रन्थस्यास्यापि शुद्धिकृत् ॥16॥

श्रीवज्रो रक्षितः श्रीमानार्यनन्दिल इत्यपि।

सूरिः श्रीकालकाचार्य-पादलिप्तप्रभुस्तथा ॥17॥

रुद्रदेवप्रभुः सूरिः श्रमणसिंह इत्यपि।

अथार्यखपुटः सूरिर्महेन्द्रश्च प्रभावकः ॥18॥

सूरिर्विजयसिंहश्च जीवदेवमुनीश्वरः।

वृद्धवादी सिद्धसेनो हरिभद्रप्रभुस्तथा ॥19॥

मल्लवाविप्रभुर्बप्पभट्टिः कोविदवासवः।

श्रीमानतुंगसूरिः श्रीमानदेवो मुनीश्वरः ॥20॥

सूरिश्च सिद्धव्याख्याता श्रीमान् वीरगणिः प्रभुः ।

वाविवेतालविरुदः शान्तिसूरिः प्रभुस्तथा ॥21॥

श्रीमान् महेन्द्रसूरिः श्रीधनपालेन संगतः ।

सूराचार्यप्रभुः श्रीमान् कृतभोजसभाजयः ॥22॥

श्रीमानभयदेवश्च वीराचार्यः कवीश्वरः ।

वेवसूरिर्गुरुः श्रीमान् हेमचन्द्रप्रभुस्तथा ॥23॥- सप्तभिः कुलकम् ।

मादुशोऽल्पमतिः कीदृगेतेषां गुणकीर्तने । कल्लध्वनिं सितास्वादे मूकोऽपि कुरुतेऽथवा ॥24॥

एतच्चरितशाखिभ्यः संमील्य सुमनश्चयम् । तद्वृत्तमालामुद्दामां गुम्फिष्यामि गुरोर्गिरा ॥25॥



वज्रस्वामिचरितम्

1. निधिः सौभाग्यभाग्यस्य नाम यस्यादिमङ्गलम्। वज्रस्वामिविभोः पूर्वं वृत्तं तस्य मयोच्यते॥26॥
 अस्थवन्तीति देशः क्ष्मासरसीसरसीरुहम्। यद्गुणग्रामरङ्गेण बद्धसख्ये रमा-गिरौ॥27॥
 तत्र तुष्यवनो नाम निवेशः क्लेशवर्जितः। अभूवन् यस्य वासाय नाकिनोऽप्यभिलाषुकाः॥28॥
 तत्र श्रेष्ठी धनो नाम कामधुक्-कल्पपादपौ। अमानमानयद्दानजितौ त्रिदिवमाश्रितौ॥29॥
 तस्यार्थिजनदौःस्थित्यमुस्तोच्छेदमहाकिरिः। पुत्रो धनगिरिर्नाम कामप्रतिमविग्रहः॥30॥
 आबाल्यादप्यबाल्याभविर्वेकच्छेकमानसः। नाभिलाषी परिणये प्रणयेषु महात्मनाम्॥31॥
 धनपालाख्यया तत्र व्यवहारी महाधनः। यल्लक्ष्मीवीक्षणात्लक्ष्मीपतिराविक्षदम्बुधिम्॥32॥
 तस्यार्थसमितः पुत्रः सुनन्दा च सुताऽभवत्। तयोः समागमस्तत्र लक्ष्मी-कौस्तुभयोरिव॥33॥
 सुनन्दां यौवनोद्भेदमेदुराङ्गी विलोकयन्। वरं धनगिरिं दध्यौ तत्पिता गुणगौरवात्॥34॥
 तत्सुतः समितो गेहवासेऽपि यतिवद्वसन्। यायावरेषु भोगेषु वैराग्यं परमं दधौ॥35॥
 श्रुतश्रीखण्डमलयगिरेः सिंहगिरेः प्रभोः। स दीक्षामग्रहीत् पार्श्वे पार्श्वे निर्वृतिवेशमनः॥36॥
 अन्यदा धनपालश्च प्रोचे धनगिरिं सुधीः। सागरस्येव रेवाऽस्तु सुनन्दा ते परिग्रहे॥37॥
 स प्राह ज्ञाततत्त्वार्थ-भवतां भवचारके। सुहृदां सहृदां किं स्याद् बन्धनं कर्तुमौचिती॥38॥
 प्रोवाच धनपालोऽपि पुरा श्रीऋषभप्रभुः। ऋणवद्भोगकर्मदं भुक्त्वा मुक्तो भवार्णवात्॥39॥
 न चानुचितमेतत् तन्मानिन्। मानय मदिरम्। मानसेऽतिविरक्तेऽपि मेने तत्प्रश्रयाच्च सः॥40॥
 उदुवाह शुभे लग्ने संलग्ने सततोत्सवैः। अनासक्तः स विषयान् बुभुजे मर्त्यदुर्लभान्॥41॥
 स वैश्रमणजातीयसामानिकसुरोऽन्यदा। अष्टापदादिशृङ्गे यः प्रत्यबोधीन्द्रभूतिना॥42॥
 सुनन्दाकुक्षिकासारेऽवतीर्णः स्वायुषः क्षये। प्राक्प्रेम्णा दत्तसुस्वप्नैरस्वप्नै रहितो दृढम्॥43॥-युगम्।
 ततो धनगिरिर्धन्यमन्योऽवसरलाभतः। अपृच्छत व्रते पत्नीं तुष्ट्या पुत्रावलम्बनात्॥44॥
 जरद्रज्जुमिव प्रेमबन्धं छित्त्वा स सत्वरम्। तत्रायातस्य तत्पुण्यैः पार्श्वे सिंहगिरैर्यौ॥45॥
 व्रतं तत्राददे लोचपूर्वं सामायिकोत्तरम्। दुस्तरं स तपस्तप्यमानोऽप्रीयत चानिशम्॥46॥

2. पूर्णे कालेऽन्यदाऽसूत सुनन्दा सुतमुत्तमम्। तेजोभी रत्नदीपानामपि सापत्यदुःखदम्॥47॥
 निजैः प्रवर्तितस्तत्र पुत्रजन्मोत्सवो मुदा। यदीक्षणादनिमिषा दधुः स्वं नाम सार्धकम्॥48॥
 अजल्पत् तत्र कोऽप्यस्य प्रात्राजिष्यन् चेत् पिता। महोऽधिकतरो हर्षस्ततोऽत्र समपत्यत॥49॥
 प्राच्यदेवभवज्ञानांशेन संज्ञीव नन्दनः। दध्यावहो महापुण्यो मत्पिता संयमग्रहात्॥50॥
 ममापि भवनिस्तारः संभवी संयमाद् यदि। अत्रोपायं व्यमुक्षच्च रोदनं शैशवोचितम्॥51॥
 अनेकोल्लापनस्नानदेहसंवाहनादिभिः। गजाश्वकादिवीक्षाभिरपरैरपि कौतुकैः॥52॥
 भृशं प्रलोभ्यमानोऽपि न तस्थौ स क्षणं सुखम्। कथं वदति यो जाग्रच्छेते कैतवनिद्रया॥53॥

- युगम्।

दध्यौ मातापि सोमश्रीर्वत्स आप्यायको दृशाम्। यदुच्चकैरवक्लेशप्रदस्तद्धि दुनोति माम्॥54॥
 एवं जग्मुश्च षण्मासाः षड्वर्षशतसन्निभाः। तन्निवेशनमागाच्च तदा सिंहगिरिर्गुरुः॥55॥
 तत्र गोचरचर्यायां विशन् धनगिरिर्मुनिः। गुरुणाऽऽदिदिशे पक्षिशब्दज्ञाननिमित्ततः॥56॥
 अद्य यद् द्रव्यमानोपि सचित्ताचित्तमिश्रकम्। ग्राह्यमेव त्वया सर्वं तद्विचारं विना मुनेः॥57॥
 तथेति प्रतिपेदानस्तदार्यसमिपतान्वितः। सुनन्दासदनं पूर्वमेवागच्छदतुच्छधीः॥58॥
 तद्गर्मलाभश्रवणादुपायातः सखीजनः। सुनन्दां प्राह देहि त्वं पुत्रं धनगिरेरिति॥59॥
 साऽपि निर्वेदिता बाढं पुत्रं संगृह्य वक्षसा। नत्वा जगाद पुत्रेण रुदता खेदिताऽस्मि ते॥60॥
 गृहाणैनं ततः स्वस्य पार्श्वे स्थापय चेत् सुखी। भवत्यसौ प्रमोदो मे भवत्वेतावतापि तत्॥61॥
 स्फुटं धनगिरिः प्राह ग्रहाण्ये नन्दनं निजम्। परं स्त्रियो वचः पंगुवन् याति पदात्पदम्॥62॥
 क्रियन्तां साक्षिणस्तत्र विवादहर्तिहेतवे। अद्यप्रभृति पुत्रार्थं न जल्प्यं किमपि त्वया॥63॥
 अतिखिन्ना च साऽवादीदत्राऽऽर्यसमितो मुनिः। साक्षी सख्यश्च साक्षिण्यो भाषे नाऽतः किमप्यहम्॥64॥
 अजातवृजिनाबन्धः पात्रबन्धे नियोज्य तम्। विरतं रोदनात् तुष्टिपुष्टं संदर्श्य तत्पुरः॥65॥
 बहिःकृतान्तरारातिर्बहिर्गत्वा गृहाङ्गणात्। भज्यमानभुजस्तस्य भारादागाद् गुरोः पुरः॥66॥- युग्मम्।
 आयान्तं भुग्नमात्रं तं वीक्ष्य संमुखमाययुः। तद्वाहोः पात्रबन्धं च गुरवः स्वकरे व्यधुः॥67॥
 वज्रोपमं किमानीतं त्वयेदं मम हस्तयोः। भारकृन्मुमुचे हस्तान्मयाऽसौ निजकासने॥68॥
 इत्युक्त्वा च समैक्षन्त गुरवस्तं शशिप्रभम्। साध्वास्यचन्द्रकान्तानां सुधास्वाविबन्धनम्॥69॥
 गुरुश्च वज्र इत्याख्यां तस्य कृत्वा समारपयत्। साध्वीपार्श्वच्छाविकाणां व्यहर्षीदन्यतस्ततः॥70॥
 गुरुभक्त्याथ तद्भाग्यसौभाग्याच्च वशीकृताः। धर्मिनायः क्षीरपाणमुख्यसुश्रूषणैः शिशुम्॥71॥
 प्रावर्धयन्निजापत्याधिकवात्सल्यकेलितः। साध्वीनामाश्रये रात्रौ वस्त्रदोलाशयं मुदा॥72॥-युग्मम्।
 तत्र स्थितो वितन्द्रः सन्नङ्गान्येकादशाप्यसौ। साध्वीभिर्गुण्यमानानि निशम्याधिजगाम सः॥73॥
 ततो विशेषिताकारं तदीयपरिचर्याया। तत्रायाता सुनन्दापि तं निरीक्ष्य दध्यौ स्पृहाम्॥74॥
 प्रार्थयच्चाथ ताः साध्वीः सुतं मे ददतेति सा। ऊंचुस्ता वस्त्रपात्राभा गुरुस्थापनिका ह्यसौ॥75॥
 कथं शक्योऽर्पितुं बालस्तस्माद्रस्थ एव सन्। लाल्यः परं गृहे नेयो न गुर्वनुमतिं विना॥76॥-युग्मम्।

3. अन्यदा गुरवः प्रापुस्तत्पुरं तज्जनन्यपि। नन्दनं प्रार्थयामास गृहिवत् पत्युरन्तिकं॥77॥
 स च प्राह नृपादेश इव सन्मर्त्यवागिव। कन्याप्रदानमिव च महतामेकशो वचः॥78॥
 गृहीतमुक्तं जायेत नो बालपरिधानवत्। एवं विमृश धर्मज्ञे! नो वा सन्त्यत्र साक्षिणः॥79॥
 निर्विचाराग्रहा साऽप्यवलेपं न त्यजेद् यदा। संघप्रधानपुरुषैः पर्यच्छेदि सुभाषितैः॥80॥
 तत्राप्यमानयन्ती सा गता राज्ञः पुरस्तदा। यतयश्च समाहूताः संघेन सह भूभृता॥81॥
 धर्माधिकरणायुक्तैः पृथ्वी पक्षावुभावपि। अंगीकारं तयोः श्रुत्वा विचारे मुमुहुश्च ते॥82॥
 एकत्र दुःप्रतीकारा माता पुत्रं प्रयाचति। अन्यत्र संघः श्रीतीर्थनाथैरपि निषेवितः॥83॥
 विचचार स्वयं राजा स्वरुच्या नन्दने ह्यायम्। यत्पार्श्वे याति तस्यास्तु किं परैर्बहुभाषितैः॥84॥
 ततो माता प्रथमतोऽनुज्ञाता तत्र भूभृता। क्रीडनैर्भक्ष्यभोज्यैश्च मधुरैः सा न्यमंत्रयत्॥85॥
 सुते तद्वास्थिते राज्ञाऽनुज्ञातो जनको मुनिः। रजोहरणमुद्यम्य जगादानपवादागोः॥86॥
 वत्स! त्वं यदि तत्त्वज्ञः संयमाध्यवसायवान्। गृहाण तदिदं कर्मरजोहरणहेतवे॥87॥-युग्मम्।
 उत्प्लुत्य मृगवत् सोऽथ तदीयोत्संगमागतः। अग्राह चमराभं तच्चारित्रधरणीभृतः॥88॥

ततो जयजयारावो मंगलध्वनिपूर्वकम्। समस्ततूर्यनादोर्जिसज्जः समजनि स्फुटः॥१८९॥
संघस्यार्चा तदाऽकार्षीद् राजा तदगुरुवस्ततः। स्वं स्थानं मुदिता जग्मुर्धर्मिन्नातपुरस्कृताः॥१९०॥
दध्यौ सुनन्दा सौदर्य आर्यपुत्रः सुतोऽपि च। मदीया यतयोऽभूवस्तन्ममापीति सांप्रतम्॥१९१॥
त्रिवाषिकोऽपि न स्तन्यं पपौ वज्रो व्रतेच्छया। दीक्षित्वा गुरुभिस्तेन तत्र मुक्तः समातृकः॥१९२॥

4. अथाष्टवार्षिकं वज्रं कृष्ट्वा साध्वीप्रतिश्रयात्। श्रीसिंहगिरयोऽन्यत्र विजहुः सपरिच्छदाः॥१९३॥
तदा चाप्रतिबन्धेन तेषां विहरतां सताम्। पर्वतासन्नमेदिन्यामीर्यासमितिपूर्वकम्॥१९४॥
वज्रप्राग्भवमित्रैश्च तं दृष्ट्वा जम्भकामरैः। वैक्रियाऽऽविष्कृता मेघमाला तस्य परीक्षणे॥१९५॥
कुरंकरस्वरैः केकिकेकारावेण मिश्रितैः। तिलतन्दुलितो नादः श्रुतिस्वाद्यसुधाऽभवत्॥१९६॥
नीरैर्नददिभरुद्धामसंभवदिभर्निरंतरम्। प्लाविता भूस्तदद्वैतघटितेव तदाऽभवत्॥१९७॥
विपुले तस्थिर्वासस्ते गिरेरेकत्र कन्दरे। गुरुवस्तोयजीवानां विराधनमनिच्छतः॥१९८॥
एवं घनाघने घोरे कथंचिद्विरते सति। उपोषिता अपि श्रेयस्तृप्तास्ते मुनयोऽवसन्॥१९९॥
जगज्जीवनमोषेण तदा सूर्योऽपि शंकितः। रसावस्थापनाद् विश्वे बभूव प्रकटोदयः॥२००॥
आनीय वारिधेर्वारि जगतीपरिपूरणात्। अवसन्ने च पर्जन्ये श्रमात् सुप्त इवाध्वनौ॥२०१॥
ततस्तच्चारुवृत्तेन लेखैर्हृल्लेखशालिभिः। वाणिज्यकारकव्याजात् पारणाय न्यमन्त्रि सः॥२०२॥-युग्मम्।
एषणात्रितये चोपयुक्तो भुक्तावनादृतः। तत्र वज्रो ययौ प्राप्य गुरोरनुमतिं ततः॥२०३॥
द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैरुपयोगं ददौ च सः। द्रव्यं कूष्माण्डपाकादि क्षेत्रं देशश्च मालवः॥२०४॥
कालो ग्रीष्मस्तथा भावे विचार्येऽनिमिषा अमी। अस्पृष्टभूक्रमन्यासा अम्लानकुसुमस्रजः॥२०५॥
चारित्रिणां ततो देवपिण्डो नः कल्पते नहि। निषिद्धा उपयोगेन तस्य हर्षं परं ययुः॥२०६॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
तत्र च प्रकटीभूय प्राणमंस्तं मुनिं तदा। वज्रं सद्गततेजोभिर्भास्वरं भास्वदंशुवत्॥२०७॥
अन्यत्र विहरतश्चान्यदा ग्रीष्मर्तुमध्यतः। प्राग्वदेव सुरास्तेऽमुं घृतपूरैर्न्यमंत्रयन्॥२०८॥
वज्रे तत्रापि निर्व्यूढे विद्यां ते व्योमगामिनीम्। दुर्नुं दुर्लभं किञ्चित् सद्भाग्यानां हि तादृशम्॥२०९॥

5. बाह्यभूमौ प्रयातेषु पूज्येष्वथ परेद्यवि। सदेवणोपयुक्तेषु गीतार्थेषु च गोचरम्॥२१०॥
अवकाशं च बाल्यस्य ददच्चापलतस्तदा। सर्वेषामुपधीर्नामग्राहं भूमौ निवेश्य च॥२११॥
वाचनां प्रददौ वज्रः श्रुतस्कन्धव्रजस्य सः। प्रत्येकं गुरुवक्त्रेण कथितस्य महोद्यमात्॥२१२॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
श्रीमान् सिंहगिरिश्चात्रान्तरे वसतिसन्निधौ। आययौ गर्जितौर्जित्यं शब्दं तस्याशृणोच्च सः॥२१३॥
दध्यौ किं यतयः प्राप्ताः स्वाध्यायैः पालयन्ति माम्। निश्चित्यैकस्य वज्रस्य शब्दं ते तोषतो बभुः॥२१४॥
पुनर्दध्यावयं गच्छो धन्यो यत्रेदृशः शिशुः। क्षोभोऽस्य मा भूदित्युच्चैः स्वरं नैवेधिकीं व्यधात्॥२१५॥
वज्रोऽपि तं गुरोर्ध्वान् श्रुत्वा लज्जाभयाकुलः। सनिवेश्य यथास्थानं वेष्टिकाः संमुखोऽभ्यगात्॥२१६॥
प्रतिलेख्य ततः पादौ प्रक्षाल्य प्रासुकाम्भसा। पादोदकं ववन्दे च गुरुणा स मुदेक्षितः॥२१७॥
वैयावृत्यादिषु लघोर्माऽवज्ञाऽस्य भवत्विति। ध्यात्वाऽऽहुर्गुरुवः शिष्यान् विहारं कुर्महे वयम्॥२१८॥
ततस्ते प्रोचुरस्माकं कः प्रदास्यति वाचनाम्। ते प्राहुर्वज्र एवात्र कृतार्थान् वः करिष्यति॥२१९॥
तत् ते तथेति प्रत्यैच्छन् निर्विचारं गुरोर्वचः। ईदृक्स्वगुरुभक्तेभ्यः शिष्येभ्योऽस्तु नमोनमः॥२२०॥
प्रतिलेख्य निषद्यां च तस्यावक्राः प्रवक्रिरे। ततोऽसौ वाचनां दातुमारेभे यतिसंहतेः॥२२१॥

शास्त्राणामिति तात्पर्यमनायासेन सोऽभ्यधात् सुखं यथाऽवगच्छन्ति ते मन्दधिषणा अपि॥122॥
दिनैः कतिपयैरागात् सूरिरभ्युत्थितश्च तैः। तदुदन्तमपृच्छच्च सम्भूयोचुश्च ते ततः॥123॥
पूज्यपादप्रसादेन संजज्ञे वाचनासुखम्। अस्माकं वाचनाचार्यो वज्र एवास्तु तत्सदा॥124॥
श्रुत्वेति गुरवः प्राहुर्मत्वेदं विहृतं मया। अस्य ज्ञापयितुं युष्मान् गुणगौरवमद्भुतम्॥125॥
तपस्याविधिसंशुद्धवाचनापूर्वकं ततः। अधीतवान् मुनिर्वज्रो यावद् गुर्वागमागमम्॥126॥

6. गत्वा दशपुरे वज्रमवन्यां प्रैषुरादृताः। अध्येतुं श्रुतशेषं श्रीभद्रगुप्तस्य सन्निधौ॥127॥
स ययौ तत्र रात्रौ च पूर्बहिर्वासमातनोत्। गुरुश्च स्वप्नमाचख्यौ निजशिष्याग्रतो मुदा॥128॥
पात्रं मे पयसा पूर्णमिति धिः कोऽपि पीतवान्। दशपूर्व्याः समग्रायाः कोऽप्यध्येता समेष्यति॥129॥
इत्येवं वदतस्तस्य वज्र आगात् पुरस्ततः। गुरुश्चाध्यापयामास श्रुतं स्वाधीतमाश्रुतम्॥130॥
श्रीभद्रगुप्तसूरिश्च तमध्याप्य पुनर्गुरोः। प्राहिणोत् सन्निधौ तस्यानुज्ञायै समयस्य सः॥131॥
वज्रप्राग्जन्मसुहृदो ज्ञानाद् विज्ञाय ते सुराः। तस्याचार्यप्रतिष्ठायां चक्रुरुत्सवमद्भुतम्॥132॥
सर्वानुयोगानुज्ञां च प्रददुर्गुरवः शुभे। लग्ने सर्वार्हतां तेजस्तत्त्वं तत्र न्यधुर्मुदा॥133॥

7. गुरौ प्रायाद् दिवं प्राप्ते वज्रस्वामिप्रभुर्ययौ। पुरं पाटलिपुत्राख्यमुद्याने समवासरत्॥134॥
अन्यदा स कुरूपः सन् धर्मं व्याख्यानयद् विभुः। गुणानुरूपं नो रूपमिति तत्र जनोऽवदत्॥135॥
अन्येद्युश्चारुरूपेण धर्माख्याने कृते सति। पुरक्षोभभयात् सूरिः कुरूपोऽभूज्जनोऽब्रवीत्॥136॥
प्रागेव तदुणग्रामगानात् साध्वीभ्य आदृता। धनस्य श्रेष्ठिनः कन्या रुक्मिण्यत्रान्वरज्यत॥137॥
बभाषे जनकं स्वीयं सत्यं मद्भाषितं शृणु। श्रीमद्वज्राय मां यच्छ शरणं मेऽन्यथाऽनलः॥138॥
तदाग्रहात् ततः कोटिशतसंख्यधनैर्युताम्। सुतामादाय निर्ग्रन्थनाथाभ्यर्णं ययौ च सः॥139॥
व्यजिज्ञपच्च नाथं त्वां नाथते मे सुता ह्यसौ। रूपयौवनसम्पन्ना तदेषा प्रतिगृह्यताम्॥140॥
यथेच्छदान-भोगाभ्यामधिकं जीवितावधि। द्रविणं गृह्यतामेतत् पादौ प्रक्षालयामि ते॥141॥
अथ श्रीवज्र आह स्म सरलस्त्वं वणिग्वरः। बद्धमिच्छसि दूरस्थान् स्वयं बद्धः परानपि॥142॥
रेणुना रत्नराशिं त्वं कल्पवृक्षं तृणेन च। गर्ताकोलेन कुम्भीन्द्रं वायसेन सितच्छदम्॥143॥
सौधं निषादगेहेन क्षारनीरेण चामृतम्। कुद्रव्यविषयास्वादात् तपो मे सजिहीर्षसि॥144॥- युग्मम्।
विषयाः कंबलोत्तासं दधत्यविकटोदयाः। सर्वं धनं महाभोगैरन्यूनं चारकोपमम्॥145॥
एषा मय्यनुरक्ता चेच्छायावदनुगामिनी। मयाऽऽदृतं व्रतं धत्तां ज्ञानदर्शनसंयुतम्॥146॥
श्रुत्वेति प्रतिबुद्धा साऽभिलाषगरले हृते। गृहीत्वा संयमं संयमिनीपार्श्वमशिश्रयत्॥147॥
महापरिज्ञाध्ययनाद् आचारांगान्तरस्थितात्। श्रीवज्रेणोद्धृता विद्या तदा गगनगामिनी॥148॥

8. अवृष्टेरन्यदा तत्राभूद् दुर्भिक्षमतिक्षयम्। सचराचरजीवानां कुर्वदुर्वीतलेऽधिकम्॥149॥
सीदन् संघः प्रभोः पार्श्वमाययौ रक्ष रक्ष नः। वदन्निति ततो वज्रप्रभुस्तन्निदधे हृदि॥150॥
पटं विस्तार्य तत्रोपवेश्य संघं तदा मुदा। विद्ययाऽऽकाशगामिन्याऽचलद् व्योना सुपर्णवत्॥151॥
तत्र शय्यातरो दूरं गतस्तृणगवेषणे। अन्वागतो वदन् दीनः सोऽपि न्यस्तारि सूरिणा॥152॥
आययौ सुस्थदेशस्थामचिरेण महापुरीम्। बौद्धशासनपक्षीयनूपलोकैरधिष्ठिताम्॥153॥
सुखं तिष्ठति संघे च सुपिक्षाद् राजसौस्थ्यतः। सर्वपर्वोत्तमं पर्वोऽऽययौ पर्युषणाभिधम्॥154॥

राजा च प्रत्यनीकत्वात् कुसुमानि न्यषेधयत्। संघो व्यजिज्ञपद् वज्रं जिनार्चाचिन्तयार्दितः॥१५५॥
उत्पत्य तत आकाशे काशसंकाशकीर्तिभृत्। माहेश्वर्या उपर्यागान्गर्गाः कोविदार्यमा॥१५६॥
आरामस्थः पितुर्मित्रमारामिकगुणाग्रणीः। वज्रं बकुलसिंहाख्यो वीक्ष्य नत्वा च संजगौ॥१५७॥
किमप्यादिश मे नाथ। कार्यं सूरिरतोऽवदत्। सुमनः सुमनोभिर्मे कार्यमार्य। कुरुष्व तत्॥१५८॥
पूज्यैर्व्यावृत्तिवेलायां ग्राह्याणीति निशम्य सः। ययौ देव्याः श्रियः पार्श्वे तं क्षुद्रहिमवदगिरिम्॥१५९॥
धर्मलाभाशिषाऽऽनन्द्य तां देवीं कार्यमादिशत्। ददौ सहस्रपत्रं सः देवार्चार्थं करस्थितम्॥१६०॥
तदादाय प्रभुर्वज्रः पितुर्मित्रस्य सन्निधौ। आययौ विंशतिर्लक्षाः पुष्पाणां तेन दौकिताः॥१६१॥
विमाने वैक्रिये ताश्चावस्थाप्यागान्निजे पुरे। जृम्भकैः कृतसंगीतोत्सवे गगनमण्डले॥१६२॥
ध्वनत्सु देवतूर्येषु शब्दाद्वैते विजृम्भिते। तं तदूर्ध्वं समायान्तं दृष्ट्वा बौद्धाश्चमत्कृताः॥१६३॥
ऊचुर्धर्मस्य माहात्म्यमहो नः शासने सुराः। आयान्ति पश्यतां तेषां ते ययुर्जिनमन्दिरे॥१६४॥
श्राद्धसंघः प्रमुदितः पूजां कृत्वा जिनेशितुः। तत्र धर्मदिने धर्ममश्रौषीद् वज्रसदुरोः॥१६५॥
प्रातिहार्येण चानेन राजा तुष्टोऽभ्युपागमत्। प्रत्यबोधि च वज्रेण बौद्धाश्चासन्नधोमुखाः॥१६६॥

9. विहरन्नन्यदा स्वामी प्रययौ दक्षिणापथम्। कुत्रचिच्छुद्धभूभागोद्यानेऽसौ समवासरत्॥१६७॥
श्लेष्मरोगापनोदायानाययद् विश्वभेषजम् उपयुक्तावशेषं च श्रवणेऽधारयत् ततः॥१६८॥
प्रत्युपेक्षणकाले तत् तत्रस्थं चापरार्द्धिके। मुखवस्त्रिकया स्वस्यत् कर्णयोः प्रतिलेखने॥१६९॥
दध्यावायुरहो! क्षीणं विस्मृतिर्यन्ममोदिता। पुनर्दुर्भिक्षमाप्तां च प्रागुक्तादधिकं ततः॥१७०॥
वज्रसेनस्तदादिश्य वंशार्थं वज्रसूरिभिः। प्रहितः स शनैः प्रायात् कुंकुणान् वितवच्चवणान्॥१७१॥
अलब्धार्थिक्षान् दुर्भिक्षाद् विद्यापिण्डेन भोजितान्। साधूनाह च भोज्योऽयं नित्यं द्वादशवत्सरीम्॥१७२॥
ग्राह्यं वानशनं ते च श्रुत्वा तत् प्रायमाविशन्। श्रीवज्रः कुत्रचिच्छैले साधुभिः सहितो ययौ॥१७३॥
मार्गे गच्छद्भिरेकत्र ग्रामे प्रालम्बि सूरिभिः। शिष्य एकः स तज्ज्ञात्वा वैराग्यं परमं दधौ॥१७४॥
दध्यौ च प्रोज्झ्य मामेते जग्मुर्जीवत्वसाविति। निःसत्त्वोऽहं कथं दृष्टः प्रभुं नानुब्रजामि तत्॥१७५॥
ध्यात्वेति तप्तपाषाणे पादपोषणं व्यधात्। व्यलीयत मधूच्छिष्टमिव स त्वरितस्तदा॥१७६॥
तद्विपत्तौ महे देवैः क्रियमाणे मुनीश्वरः। यतीनां पुरतोऽवादीच्छिशोः सत्त्वमिदं महत्॥१७७॥
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे परं वैराग्यमादधुः। प्रशान्तविग्रहास्तस्थुः स्थण्डिलेषु पृथक्-पृथक्॥१७८॥
प्रत्यनीका सुरी तत्रोपसर्गायोपतस्थुषी। निशीथे दिवसं कृत्वा दधि तेषामढौकयत्॥१७९॥
विज्ञायाप्रीतिकं तत्रान्यत्रं शृंगेऽथ ते ययुः। मृत्युजीवितयोरेऽनाशंसास्तेषां सुराः किमु॥१८०॥
यथायोगं च ते प्राणान् परित्यज्य सुरालयम्। श्रीवज्रोऽपि जगाम छामध्यामध्यानवैभवः॥१८१॥
शक्रस्तत्राययौ पूर्वभवस्नेहेन तद्व्ययम्। ज्ञात्वा चतुर्दिशं स्वीयरथमावर्तताथ सः॥१८२॥
गहनानि तरूणां च तत्रोन्मूल्य समां भुवम्। कृत्वा तत्र क्षणं तस्थौ सुपर्वश्रेणिसंभृतः॥१८३॥
ततःप्रभृति विख्यातो रथावर्त्ताख्यया गिरिः। असावचलतां याति ख्यातिर्या गुरुभिः कृता॥१८४॥

10. वज्रसेनश्च सोपारं नाम पत्तनमभ्यगात्। जिनदत्तप्रियाऽस्त्यत्रेश्वरीत्याख्या चतुःसुता॥१८५॥
अक्षामगुरुशिक्षाढ्यः स तस्या मन्दिरे ययौ। चिन्तामणिमिवायान्तं दृष्ट्वा तं हर्षमाप सा॥१८६॥
प्राहाथ साहसं साधो! ऽस्माभिरद्य विचिन्तितम्। स्थालीपाकोऽत्र लक्षेण पूरितः कष्टकल्पनात्॥१८७॥

द्रव्यसंपदि सत्यामप्यन्नदौस्थ्यान्मृतिर्ध्रुवम्। ततोऽत्र पायसे पक्वे निक्षेप्यं विषमं विषम्॥१८८॥-युग्मम्।
 तदत्रावसरे पूज्यदर्शनं पुण्यतोऽभवत्। कृतार्था सांप्रतं पारत्रिकं कार्यमिहादधे॥१८९॥
 इत्याकर्ण्य मुनिः प्राह गुरुशिक्षाचमत्कृतः। धर्मशीले! शृणु श्रीमद्वज्रस्वामिनिवेदितम्॥१९०॥
 स्थालीपाके किलैकत्र लक्षमूल्ये समीक्षिते। सुभिक्षं भावि सविषं पाकं मा कुरु तद्वृथा॥१९१॥
 सापि प्राह प्रसादं नः कृत्वैतत् प्रतिगृह्यताम्। इत्युक्त्वा पात्रपूरेण प्रत्यलाभि तया मुनिः॥१९२॥
 एवं जाते च सन्ध्यायां बहित्राणि समाययुः। प्रशस्यशस्यपूर्णानि जलदेशान्तराध्वना॥१९३॥
 सुभिक्षं तत्क्षणं जज्ञे ततः सा सपरिच्छदा। अचिन्तयदहो! मृत्युरभविष्यदरीतितः॥१९४॥
 जीवितव्यफलं किं न गृह्यते संयमग्रहात्। वज्रसेनमुनेः पार्श्वे जैनबीजस्य सदुरोः॥१९५॥
 ध्यात्वैति सा सपुत्राऽथ व्रतं जग्राह साग्रहा। नागेन्द्रो निर्वृतिश्चन्द्रः श्रीमान् विद्याधरस्तथा॥१९६॥
 अभूवन्ते किञ्चिद्दूनदशपूर्वविदस्ततः। चत्वारोऽपि जिनाधीशमतोद्धारधुरंधराः॥१९७॥
 अद्यापि गच्छास्तन्नाम्ना जयिनोऽवनिमण्डले। वर्तन्ते तत्र तीर्थे च मूर्तयोऽद्यापि सार्हणाः॥१९८॥
 इति श्रीमद्वज्रप्रभुचरितमेतद्विषयमपि स्तुत्यं तत्त्वं किमपि जिननाथोपनिषदाम्।
 श्रियां हेतुः सेतुर्भवजलधिनिस्तारविधये प्रदेयादानन्दं जयतु शशिसूर्यावधि यथा॥१९९॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीवज्रवृत्ताभिधः

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शृङ्गोऽगमत् प्राक्तनः॥२००॥

मूर्तिः साष्टापदश्रीर्विमलगिरिरतिस्तारणः श्रीभरोयम्

दुःखार्तानामपापा किल मतिरसतां स्तम्भनश्च प्रभावतः।

चेतः स्यादुज्जयन्तस्थितिकृदनुपमं चारुरूपं यशस्तत्

श्रीमत्प्रद्युम्नसूरे! ऽर्बुदगुणविजयी तीर्थरूपस्त्वमेव॥१॥

॥ इति वज्रस्वामिप्रबंधः ॥



आर्यरक्षितचरितम्

1. अव्यादव्याहतं भव्यान् स श्रीमानार्यरक्षितः। समूलघातमाहन्ति धर्मो यस्यान्तरद्विषः॥1॥
 पीयूषमिव यदूतमनिर्वाच्यं बुधैरपि। वैचक्षण्यविलिप्ती मे मतिः किं नु विमृश्यति॥2॥
 पुनस्तथापि वातापितापनस्य तमोऽम्बुधेः। तस्य वृत्तं स्मृतौ वाचं प्रणये प्रणयावधिः॥3॥
 सदानन्दनबाहुल्यपराभूतद्युसत्पुरम्। पुरं दशपुरं नामावन्तिकान्तैकसप्तकी॥4॥
 उदायनो निशानाथ इव नव्योऽकलंकभूः। अगम्यस्तमसोऽक्षीणकलोऽभूत्तत्र भूपतिः॥5॥
 सौवस्तिकपदप्राप्तप्रतिष्ठोऽतिविशिष्टधीः। वर्णज्येष्ठः कुलश्रेष्ठः क्रियानिष्ठः कलानिधिः॥6॥
 आसीच्छ्रीसोमदेवाख्यः शमितेष्वमितेष्वपि। यन्मन्त्रैः शत्रुवर्गेषु शृंगाराय चमूचयः॥7॥-युग्मम्।
 रुद्रसोमाभिधाऽस्याभूत् प्रिया प्रियवचःक्रमैः। संपूर्णदानैरर्थिभ्यः कृतदारिद्र्यविद्वद्वा॥8॥
 सूर्याश्वयोरिव यमौ तयोः पुत्रौ बभूवतुः। आर्यरक्षित इत्याद्यो द्वितीयः फल्गुरक्षितः॥9॥
 पुरोहितेन तौ तेन सांगान् वेदान् प्रपाठितौ। आत्मजानां विनीतानां स्वामृद्धिं निहृते हि कः॥10॥
 अतृप्तः शास्त्रपीयूषे विद्वानप्यार्यरक्षितः। पिपठीस्तद्विशेषं स प्रययौ पाटलिपुरम्॥11॥
 अचिरेणापि कालेन स्फुरत्कुण्डलिनीबलः। वेदोपनिषदं गोप्यामप्यध्यैष्ट प्रकृष्टधीः॥12॥
 अधोपाध्यायमापृच्छ्य व्यावृत्तं स्वभुवं प्रति। आरूढवद् ययौ सोऽधाययौ परिसरे पुरः॥13॥
 ज्ञातोदन्तेन राज्ञा स पितृविज्ञपनादथ। प्रावेशि गजमारुह्य संमुखागामिना स्वयम्॥14॥
 प्रधानकुलवृद्धाभ्यः सुलब्धाशीर्गृहे गृहे। अपराह्णे निजावासप्राङ्गणं प्रागमस्ततः॥15॥

2. रुद्रसोमा पुनस्तत्र श्रमणोपासिका तदा। विज्ञातजीवाजीवादिनवतत्त्वार्थविस्तरा॥16॥
 कृतसामायिका पुत्रमुत्कण्ठाकुलितं चिरात्। इलातलमिलन्मौलिं वीक्ष्यापि प्रणतं भृशम्॥17॥
 अवर्द्धयत नाशीर्भिः सामायिकभिदाभिया। अतिखिन्नस्ततः प्राह स धीमानार्यरक्षितः॥18॥
 -त्रिभिर्विशेषकम्।

धिग्! ममाधीतशास्त्रौघं बह्वप्यवकरप्रभम्। येन मे जननी नैव परितोषमवापिता॥19॥
 ध्यात्वेत्युवाच किं मातः! परितोषो न तेऽभवत्। साह तुष्याम्यहं केन पाठैस्तैर्दुर्गतिप्रदैः॥20॥
 स प्राह चाविलम्बेन तदलं मे समादिश। येनाधीतेन ते तुष्टिः कार्यैरन्यैस्तु किं मम॥21॥
 रोमाञ्चकञ्चुकोदभेदमेदुराथ जनन्यपि। प्रधानं मन्यमाना स्वं पुत्रिणीनामवोचत॥22॥
 अधीष्व विष्वगुनिद्राभद्रविद्रावणक्षमम्। दृष्टिवादं जिनोपज्ञमन्यैरज्ञातसञ्ज्ञकम्॥23॥
 तमाकर्ण्य सुतो दध्यौ तावन्तामापि सुन्दरम्। दृष्टिवाद इदानीं तदवश्यं कार्यमेव मे॥24॥
 समस्ततीर्थमूर्द्धन्ये मातर! मम समादिश। अध्यापकं तदध्यासे यथाभ्यस्यामि तं द्रुतम्॥25॥
 उवाच रुद्रसोमापि वत्स! ते विनयावने!। अवतारणके यामि सावधानस्ततः शृणु॥26॥
 जैनर्षयो महासत्त्वास्त्यक्ताब्रह्मपरिग्रहाः। परमार्थस्थितस्वान्ताः सज्ज्ञानकुलभूमयः॥27॥
 अस्य ग्रन्थस्य वेत्तारस्तेऽधुना स्वैक्षुवाटके। सन्ति तोसलिपुत्राख्याः सूरयो ज्ञानभूरयः॥28॥
 -त्रिभिर्विशेषकम्।

पठाशठमते! तेषां पार्श्वे ग्रन्थमिमं वरम्। यथा त्वदीयवृत्तेन कुक्षिर्मे शीतलीभवेत्॥29॥
 श्रुत्वेत्यहर्मुखे यामीत्युक्त्वा तद्व्यानतत्परः। निशां निन्ये विनिद्रः सन् निरगाच्च बहिस्ततः॥30॥
 अर्द्धमार्गे पितुमित्रं संमुखोऽस्य द्विजोऽभवत्। इक्षोर्नवलताः सार्द्धाः स्कन्धे तद्धेतवे वहन्॥31॥
 तेनाभिवादयन्नालिलिंगे प्रीत्याऽऽर्यरक्षितः। व्यावृत्त्यागच्छ गेहे त्वमित्युक्तश्चायमब्रवीत्॥32॥
 मात्रादेशेन यात्वाऽहं समायास्यामि शीघ्रतः। पूज्यैर्गन्तव्यमावासे निजबन्धुप्रसत्तये॥33॥
 इत्युक्त्वा सञ्चरन्निक्षुवाटाभिमुखमादृतः। दध्यौ मनस्यहो सम्यगस्माद् दृढनिमित्ततः॥34॥
 अध्याया वा परिच्छेदा नव सार्द्धा मया ध्रुवम्। अस्य ग्रन्थस्य लप्स्यन्ते नाधिकं निश्चितं ह्यदः॥35॥
 प्रातः सन्ध्याक्षणे तत्र मुनिः स्वाध्यायडम्बरैः। शब्दाद्वैतमयं शृण्वन्नाश्रयद्वारमाश्रयत्॥36॥
 किंकर्तव्यजडस्तत्राजानन् जैनपरिश्रम(य?)म्। ढङ्ढरश्रावकं सूरिवन्दकं प्रैक्षदागतम्॥37॥
 तत्पृष्ठस्थो ययौ सोऽपि विदधे वन्दनादिकम्। तद्देव महाप्राज्ञस्तादृशां किं हि दुष्करम्॥38॥
 सर्वसाधुप्रणामानन्तरं श्रावकवन्दना। अशिक्षितत्वान्नाकार्यनाख्यातं बुध्यते कियत्॥39॥
 चिह्नेनानेन विज्ञाय नवं तं सूरयस्तदा! कुतो धर्मस्य संप्राप्तिरिति पप्रच्छुरादरात्॥40॥
 ढङ्ढरं दर्शयन्स्मादेव धार्मिकपुंगवात्। इत्युचिर्वासमेकश्च मुनिर्लक्षयति स्म तम्॥41॥
 आह कल्यदिने राज्ञा प्रावेश्येष महोत्सवात्। पुरोहितसुतः श्राद्धारुद्रसोमांगसंभवः॥42॥
 चतुर्वेदी समस्ताद्यगुणस्थानभृतां वरः। असंभाव्यागमः कस्मादत्राऽऽयज्ज्ञायते न तत्॥43॥
 अथार्यरक्षितः प्राह मातुरुक्तमनातुरः। आकर्ण्येति प्रभुर्दध्यौ तच्चरित्रचमत्कृतः॥44॥
 कुलीन आस्तिको विप्रः कुलानुचितमार्दवः। संभाव्यसुकृताचारो जैनधर्मोचितो ह्ययम्॥45॥
 उपयोगं श्रुते दत्त्वा पूर्वपाठोचितं च तम्। प्रभावकं भाविनं च श्रीमद्वज्रादनन्तरम्॥46॥
 ध्यात्वा सूरयोऽवोचन् जैनप्रव्रज्यया विना। न दीयते दृष्टिवादो विधिः सर्वत्र सुन्दरः॥47॥
 - त्रिभिर्विशेषकम्।

स प्राह प्राच्यसंस्कारा ममासन् न च केशिनः। ततो जैनेन्द्रसंस्कारैरलंकुरुत मे वपुः॥48॥
 परं किञ्चित्त्व विज्ञप्यमास्ते तदवधार्यताम्। मिथ्यामोहेन लोको हि सर्वो मय्यनुरागवान्॥49॥
 राजापि ज्ञातवृत्तान्तो दीक्षामुत्सर्जयेदपि। अबुधस्वजनानां च ममकारो हि दुस्त्यजः॥50॥
 शावरूपे निजे तस्मात् प्रसद्य मयि दीक्षिते। अन्यदेशे विहर्तव्यं मा भच्छासनलाघवम्॥51॥
 - त्रिभिर्विशेषकम्।

ओमित्युक्त्वा गुरुस्तस्य सार्वज्ञपरमाक्षरैः। अभिमन्त्र्याथ तन्मूर्ध्नि वासानक्षेपतोऽक्षिपत्॥52॥
 सामायिकव्रतोच्चारपूर्वं पूर्वाभिलाषिणः। केशान् क्लेशानिवाशेषानपनिन्ये मुनीश्वरः॥53॥
 ईशानकोणे गार्हस्थ्यनेपथ्यं परिहाप्य सः। परिधाप्य सिते वस्त्रे यतिवेषेण योजितः॥54॥
 विहारं तत्क्षणात् ते च विदधुर्नगरान्तरे। व्यधायि पुरतस्त्वार्यरक्षितो नवदीक्षितः॥55॥

3. अध्यापितः समूलांगोपांगदिग्रन्थमण्डलम्। तत्तत्तपस्यया पूर्वाणि च कान्यपि सूरिभिः॥56॥
 अधीतपूर्वी शास्त्राणि बुद्धपूर्वी हिताहितम्। विनीतपूर्वी स्वाचारं ज्ञातपूर्वी व्रतान्यभूत्॥57॥
 गुरवः शोषपूर्वाणां पाठायेज्जयिनीपुरि। तमार्यरक्षितं प्रैषुः श्रीवज्रस्वामिनोऽन्तिके॥58॥- युगम्।
 गीतार्थैर्मुनिभिः सत्रा तत्रागादार्यरक्षितः। श्रीभद्रगुप्तसूरीणामाश्रये प्राविशत् तदा॥59॥
 आश्लिष्य स्नेहतः प्राहुः प्रत्यभिज्ञाय ते च तम्। आर्यरक्षित! कच्चित्ते भद्रं पूर्वाभिलाषुक॥60॥
 अभिसन्धिर्मम प्रायोपवेशनविधौ भवान्। निर्यामो भव तद्वेला कुलीनानामियं यतः॥61॥
 तथेति प्रतिपद्याथ तथा शुश्रूषत प्रभुम्। यथा जानाति नैवासाबुदयास्तमने रवेः॥62॥

समाधौ परमे लीनोऽन्यदा प्रोवाच हर्षतः। क्षुत्तृक्लमं न जानेऽहं वत्स! त्वद्वरिवस्यया॥६३॥
इहलोकेऽपि देवत्वं संप्राप्त इव तद्रसात्। गोप्यं किञ्चिच्छिक्षयिष्ये त्वां ततोऽवहितः शृणु॥६४॥
श्रीवज्रस्वामिपादान्ते त्वया पिपठिषामृता। भोक्तव्यं शयनीयं च नित्यं पृथगुपाश्रये॥६५॥
यतस्तदीयमण्डल्यामेककृत्वोऽपि योऽभुनक्। रात्रौ सुप्तश्च पार्श्वे यत् तस्य तेन सहात्ययः॥६६॥
प्रभावको भवानर्हच्छासनाम्भोधिकौस्तुभः। संघाधारश्च भावी तदुपदेशं करोतु मे॥६७॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
इच्छामीति प्रभोरहो शिरसि प्रणिधाय सः। ओमिति प्रतिपेदेऽतिविनीतानामिव स्थितिः॥६८॥

4. अथ श्रीभद्रगुप्तेऽस्मिन् कालधर्ममुपागते। सौनन्देयप्रभोः पार्श्वे प्रचचालार्यरक्षितः॥६९॥
तदा च ददृशे स्वप्नः श्रीवज्रेणाप्यजल्प्यत। विनेयाग्रेऽद्य संपूर्णः पायसेन पतद्ग्रहः॥७०॥
पारितोऽतिथिनाऽऽगत्य किञ्चिच्छेषमवास्थितम्। तदेतस्य विचारोऽसौ चिन्तान्तर्घटे मम॥७१॥-युग्मम्।
अद्य प्राज्ञोऽतिथिः कश्चिदागत्य मम संनिधौ। श्रुतं ग्रहोष्यतेऽशेषमल्पं स्थास्यति किञ्चन॥७२॥
एवं वदत एवास्य समागादार्यरक्षितः। दृष्टो हि महता स्वप्नोऽवश्यं सद्यः फलेग्रहिः॥७३॥
अपूर्वमतिथिं दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय स्वागतोन्नतः। नमस्कुर्वन्तमेनं च स प्रभुर्व्याहरत् तदा॥७४॥
कौतस्कुतोऽयं भावत्क आगमः?, स ततोऽवदत्। श्रीमत्तोसलिपुत्राणामन्तिकादागमं प्रभो॥७५॥
श्रुत्वेति स प्रभुः प्राह-किं भवानार्यरक्षितः। पूर्वशेषस्य पाठार्थमस्मत्पार्श्वे इहाययौ?॥७६॥
तवोपकरणं कुत्र पात्रसंस्तारकादिकम्। तदानयातिथिर्नस्त्वमद्य मा गोचरं चरेः॥७७॥
भुक्त्वाऽत्रैव ततोऽध्यायं प्रारभस्वेति तद्गिरः। श्रुत्वा स प्राह चाभ्यर्थि मया पृथगुपाश्रयः॥७८॥
स्वापं भुक्तिं च तत्रैव कृत्वाध्येष्ये तवान्तिके। श्रीवज्रः प्राह पार्थक्यस्थितैः कथमधीयते॥७९॥
अथार्यरक्षितोऽवोचद् भद्रगुप्तगुरोर्वचः। इदमित्युदिते वज्र उपयोगं ददौ श्रुते॥८०॥
भुक्तौ स्वापे मया सार्धं दिष्टान्तोऽपि भवेत् सेह। ततः समुचितं प्राहुः प्रभवस्तद्भवत्वित्त्वम्॥८१॥
एनमध्यापयामासुस्ततः श्रीवज्रसूरयः। अर्द्धं दशमपूर्वस्य प्रारंभे घोषितुं च सः॥८२॥
अस्मिन् ग्रन्थे दुरध्येया भंगकैर्दुर्गमैर्गमैः। पर्यायैर्दुर्वचैः शब्दैः सदृशैर्विकावलिः॥८३॥
चतुर्विंशतिसंख्यानि जविकानि च सोऽपठत्। अधीयानस्य चायासोऽभवत् तस्याद्भुतः किल॥८४॥-युग्मम्।

5. ततश्च रुद्रसोमायि तस्य माता व्यचिन्तयत्। अहो ममाविमर्शद्विरनुतापात् फलेग्रहिः॥८५॥
हृदयानन्दनो धीमान् नन्दनः शीलचन्दनः। आर्यरक्षितसंकाशो मयाऽप्रैष्यल्पमेधसा॥८६॥
उद्योतं चिन्तयन्त्या मे तमिस्त्रं जातमद्भुतम्। तस्मादाहूतये तस्य प्रहेयः फल्गुरक्षितः॥८७॥
सोमदेवस्तया पृष्टः श्रोत्रियः सरलोऽवदत्। त्वं यत्कृतप्रमाणा मे ततो यद् भाति तत् कुरु॥८८॥
प्रजिघाय ततः सापि द्वैतीयकं निजांगजम्। वत्स! गच्छ निजभ्रातुर्मम वाक्यं निवेदय॥८९॥
जनन्या बन्धुसंसर्गं मोहं च त्याजितो भवान्। परं वत्सलताबुद्धिर्जिनेन्द्रैरपि मानिता॥९०॥
स्वमातुर्गर्भवासेऽपि श्रीवीरो भक्तिभूर्यतः। शीघ्रतस्तत् समागच्छ निजमास्यं प्रदर्शय॥९१॥-युग्मम्।
तथा ममाप्यसौ मार्गो भवता यः समाश्रितः। तदनु त्वत्पितुः पुत्र-पुत्रीवर्गेऽप्यसौ पुनः॥९२॥
यदि न स्नेहबुद्धिः स्यात् ततोऽप्युपकृतौ मुदा। एककृत्वः समागच्छ कृतार्थत्वं प्रयच्छ मे॥९३॥-युग्मम्।
आख्यायास्त्वमिदं गच्छ पथि देहे च यत्नवान्। त्वदीयस्य शरीरस्य वयं भाग्योपजीविनः॥९४॥
इत्याकर्ण्य वचो मातुर्नग्रांः फल्गुरक्षितः। गत्वोपबन्धु कथयांचकार जननीवचः॥९५॥-षड्भिः कुलकम्।
क ईदृशो भवतुल्यः सोदराम्बासु वत्सलः। भवतातस्तु नहि मामाक्रोशेत् कुललज्जया॥९६॥
अतिस्वच्छं तदागच्छ वत्स! स्वं दर्शयास्यकम्। त्वदर्शनामृतैस्तृप्ता वितृष्णा संभवामि यत्॥९७॥

रुद्रसोमाऽऽत्मनो माता संदिदेशेति मदिरा। तस्मात् प्रसादमासाद्य गम्यतां मातृवत्सलः॥११८॥
-त्रिभिर्विशेषकम्।

बन्धोः श्रुत्वा वचः प्राह वैराग्यादार्यरक्षितः। फल्गुरक्षितः। को मोहः संसारे शाश्वतेतरे॥११९॥
अस्तु बाध्ययनस्यान्तरायं कः कुरुते सुधीः। फल्गुना वल्गुना कोऽपि परित्यक्तुं समीहते॥१२०॥
भवांश्चेन्मयि सस्नेहस्तत्तिष्ठतु ममान्तिकम्। दीक्षां विना न च स्थातुं शक्यं तत् तां गृहाण भोः॥१२१॥
स तथेति वदंस्तेन तत्क्षणं समदीक्ष्यत। श्रेयःकार्येषु को नाम विलम्बायोपतिष्ठते॥१२२॥

6. जविकैर्धूर्णितो बाढं धीमानप्यार्यरक्षितः। श्रीमद्वज्रप्रभुं प्राह किमस्मादवशिष्यते॥१२३॥
अधीष्व पृच्छया किं ते इत्युक्तः पठति स्म सः। कियत्यपि गते काले पुनः पप्रच्छ तद्गुरुम्॥१२४॥
ततः श्रीवज्र आचख्यौ सर्षपः पठितस्त्वया। मेरुरत्रावतिष्ठेत तन्ममैकं वचः शृणु॥१२५॥
काञ्जिकेन कथं क्षीरं कर्पूरं लवणेन च। कुंकुमं च कुसुमेन जातरूपं च गुञ्जया॥१२६॥
उखया वज्रखानिं च चन्दनं कनकद्रुणा। पूर्वाध्ययनमल्पेन स्वमोहेन यदुज्झसि॥१२७॥
ततः पठ श्रुताम्भोधर्मध्यं प्राप्तफलं यथा। सज्ज्ञानशक्तिरत्नौघं लभसे लिप्सया विना॥१२८॥
इत्याकर्ण्य पठन्नुच्चैर्वासराणि कियन्त्यपि। अनुजेन पुनः प्रैरि स्वैरिण्याऽऽह्वानकृद्गिरा॥१२९॥
आपप्रच्छे पुनः सूरिमायासितः पुनर्दृढम्। सम्बन्धिसंगमे स्वामिन्। प्रहिणूत्कण्ठितं जनम्॥१३०॥
पाठाय पुनरायास्ये शीघ्रं तैः सह संगतः। इति श्रुत्वा श्रुते प्रादादुपयोगं पुनः प्रभुः॥१३१॥
अज्ञासीत् पुनरायातो मिलिष्यति न मे पुनः। मदायुषस्तनीयस्त्वादियत्येवास्य योग्यता॥१३२॥
तथा दशमपूर्वं च मध्येव स्थास्यति ध्रुवम्। तत् प्राह वत्स! गच्छ त्वं मिथ्यादुःकृतमस्तु ते॥१३३॥
यदामुष्यायणो मेधानिधिस्त्वं नेदृशोऽपरः। ततोऽभूदादरोऽस्माकमध्यापनविधौ तव॥१३४॥
प्राप्तिरीदृक् क्व ते सन्तु पन्थानः शिवतातयः॥ श्रुत्वेत्यंहो प्रभोर्नत्वा चंचालात्मभुवं प्रति॥१३५॥
-चतुर्भिः कुलकम्।

अखण्डितप्रयाणैः स शुद्धसंयनयात्रया। सञ्चरन्नाययौ बन्धुसहितः पाटलीपुरम्॥१३६॥
श्रीमत्तोसलिपुत्राणां मिलितः परया मुदा। पूर्वाणां नवके सार्द्धं संगृहीती गुणोदधिः॥१३७॥

7. तं च सूरिपदे न्यस्य गुरवोऽगुः परं भवम्। अथार्यरक्षिताचार्यः प्रायाद् वशपुरं पुरम्॥१३८॥
अग्रेभूय निजावासमाययौ फल्गुरक्षितः। वद्धये वद्धये मातर! गुरुस्तत्सुत आगमत्॥१३९॥
आस्याय न्युच्छनेऽगां ते वचनाय बलिः क्रिये। आर्यरक्षितनामा यः कुत्र कुत्र स पुत्रकः॥१४०॥
अस्मि पुण्यवतीदृक्षा किं यद् द्रक्ष्यामि तन्मुखम्। एवं वदन्त्या एवास्याः पुरोऽभूवार्यरक्षितः॥१४१॥
जैनलिंगधरं ते चाऽऽप्रेक्ष्यमाणमथादरात्। रोमाञ्चकञ्चुकोद्भेदमेदुराभिगमाद्भुतम्॥१४२॥
श्रोत्रियः सोमदेवोऽपि तत्रागात् संगमोत्सुकः। दृढमाश्लिष्य च प्राह स्वात्मजस्नेहमोहितः॥१४३॥
शीघ्रमागाः कथं वत्स! त्वं प्रवेशोत्सवं विना। हुं ज्ञातं विरहार्तायाः स्वमातुर्मिलनोत्सुकः॥१४४॥
इदानीमपि गच्छ त्वं बाह्योद्याने यथा नृपम्। विज्ञाप्य नगरोत्साहोत्सवपूर्वं प्रवेशये॥१४५॥
ततः श्रमणवेषं च परित्यज्य पुनर्गृहे। द्वितीयाश्रममव्यग्रः पालयस्व कुतालयः॥१४६॥
यायजूककुलोत्पन्नाऽनुरागस्था कनी प्रया। रूपयौवनसंपन्ना चिन्तिताऽग्रे तवोचिता॥१४७॥
श्रौतेन विधिना तां त्वं विवहस्व महोत्सवैः। यथा त्वज्जननी कौतुकानां स्वादं लभेत च॥१४८॥
द्रविणोपार्जने चिन्ता कापि कार्या त्वया नहि। आसप्तमकुलापूर्णं नृपपूज्यस्य मे धनम्॥१४९॥
अङ्गीकृते गृहोद्गारे भवता भवतःनवम्। दृष्टवन्तो वयं दध्यो वानप्रस्थाश्रमे मनः॥१५०॥

-अष्टभिः कुलकम्।

अथात्मभूर्मुनिः प्राह तात! त्वं मोहवातकी। वाहीक इव शास्त्राणां भारं वहसि दुर्धरम्॥131॥
भवे भवे पिता माता भ्राता जामिः प्रिया सुता। तिरश्चामपि जायन्ते हर्षस्तद्धेतुरत्र कः॥132॥
राजप्रसादतः को हि गर्वो भृत्यतयार्जितात्। द्रव्ये हि पुनरास्था का बहूपद्रवविद्वते॥133॥
दुष्प्रापं मर्त्यजन्मेदं रत्नवद् गृहमोहतः। नश्वरावकरप्रायाद् हारयेत हि कः सुधीः॥134॥
तत् परीक्ष्य तमुत्सृज्य प्रक्रज्याऽऽप्ताऽऽहती मया। मुक्तान् न पुनरादास्ये भोगान् भोगीशभोगवत्॥135॥
दृष्टिवादोऽपि नो पूर्णः पठितस्तत् कथं पितः। अवतिष्ठेऽध्युपगमः सत्यपुंसां हि दुस्त्यजः॥136॥
भवतां मयि चेन्मोहः सर्वाणि प्रव्रजन्तु तत्। भ्रमेणापि सिता भुक्ता पितोपद्रवहारिणी॥137॥
-सप्तभिः कुलकम्।

उवाच सोमदेवोऽपि सांप्रतं मम सांप्रतन्। त्वदीयं स्वकुलीनं वाऽऽचरितुं दुश्चरं तपः॥138॥
त्वन्माता न पुनः पुत्री-जामातु-शिशुपालनैः। मोहवीचिं भवाम्पोधिं कथं तरति मूढधीः॥139॥

8. अथार्यरक्षितो दध्यौ यदि मिथ्यात्वमन्दिरम्। तातः कथंचिद् बुध्येत शुध्येत च तपोभरैः॥140॥
तदम्बा दृढसम्यक्त्ववज्रवज्राकरावनिः। बुद्धैव यत्प्रभावान्मे मोक्षाध्वा प्रकटोऽभवत्॥141॥
रुद्रसोमामथोवाच विचारय वचः पितुः। दुर्बोधां मन्यते यस्त्वां त्वं तु ज्ञानमहानिधिः॥142॥
त्वंदादेशाद् दृष्टिवादं पठतो मे भवोदधेः। निस्तितोर्षा स्थिता चित्ते श्रीवज्रः प्रापि च प्रभुः॥143॥
श्रीसुनन्दा कलौ धन्या या वज्रं सुषुवे सुतम्। त्वां ततोऽप्यधिकां मन्ये मातरं गुणत एकतः॥144॥
ददे तयाऽऽर्जवात् पूर्वं पुत्रो रोदनखिन्नया। पितुर्मुनेः पुनश्चक्रे विवादस्तन्निमित्तकः॥145॥
श्रीमत्तोसलिपुत्राणां पाठायापि त्वया त्वहम्। उत्तितारयिषामन्तर्ध्यात्वा संसारनीरधेः॥146॥
प्राप्तः श्रीवज्रपादान्तमपुण्यैरतिदुर्लभम्। अधीतपूर्वपूर्वांगः पुनरागां त्वदन्तिके॥147॥
सपरीवारया तस्मात् स्वकीयोपक्रमात् त्वया। व्रतान्महांगतः पारं प्राप्यं भवमरोर्धुवम्॥148॥
पुरोहितप्रिया प्राह वदति स्म ऋजुर्द्विजः। आर्या व्यग्रा कुटुम्बस्य नैषा व्रतभरक्षमा॥149॥
शीघ्रं दीक्षस्व मां पूर्वं परिवारोऽपि यो मयि। निबिडस्नेहभूः सोऽपि मामनु प्रव्रजिष्यति॥150॥
अथार्यरक्षितस्तातमाहाम्बाया वचः श्रुतम्। इह लोके भवांस्तीर्थं तत् त्वदुक्तं करोम्यहम्॥151॥
उपतस्थे च दीक्षायामहंपूर्विकया तदा। श्रोत्रियस्य परिवारः स्नेहादेवेतरेतराम्॥152॥
अपनीय ततस्तेषां केशपालीमनालयः। सामायिकं ददौ यौगपद्येन प्रणिधानतः॥153॥

9. वेषः स्थविरकल्पस्य सर्वैस्तैर्निर्विचारतः। जगृहे जीर्णभावातु सोमदेवस्तदाऽवदत्॥154॥
वत्स! कच्छाभिंसंबद्धं ममास्तु परिधानकम्। ननैः शक्यं किमु स्थातुं स्वीयात्मजसुतापुरः॥155॥
इत्याकर्ण्य गुरुर्दध्यौ दुष्करं चिन्त्यमस्त्यदः। अथवाऽस्तु समाचारमादाप्योऽयं शनैःशनैः॥156॥
आहाथ मम तातस्याभिप्रायः परिपूर्णताम्। स च प्राह गुरुस्तेऽहं स्वाभिप्रेतं वदामि तत्॥157॥
उपानहौ मम स्यातां तथा करकपात्रिका। छत्रिकाऽथोपवीतं च यथा कुर्वे तव व्रतम्॥158॥
पादयोः शिरसस्तापस्तथा न स्यात् तथा शुचिः। भवाम्यूढं यदाजन्म तत् त्यक्तुं हि न शक्यते॥159॥
अनिषिद्धानुमत्यानुमेने सूरिस्तदाग्रहम्। स्वाध्यायं तु स्वयं शिक्षयन्ति स्म पितरं स्वकम्॥160॥
श्राद्धानां शावरूपाणि गुरुणां शिक्षयाऽन्यदा। चैत्येषु गच्छतः साधून् प्रणामायोपतस्थिरे॥161॥
सर्वानपि प्रणस्यामो मुक्त्वा छत्रधरं मुनिम्। उपाश्रयागतोऽपृच्छदबन्धः किमहं सुत॥162॥
तात! किमेवं बन्धः स्यान्मुञ्च छत्रं तथापि हि। पटं शिरसि देयास्त्वमुष्णताप उपस्थिते॥163॥

एवं भवत्विति प्राह वृद्धः स्नेहात् सुतप्रभोः। इत्थं स त्याजितो वाग्भिस्तेनानुं पादुके अपि॥164॥
 अनुष्णक्षणबाह्योर्वीगामिन्। मुक्तपरिग्रहः। उपवीतेन किं बाह्यजनप्रत्यायकेन ते॥165॥
 इति को वा न जानाति यद् वयं द्विजसत्तमाः। एवं शनैः स गार्हस्थ्यवेधं संत्याजितस्तदा॥166॥
 पूर्वरीत्याऽन्यदा बालाः परिधानकृतेऽवदन्। स ब्रह्मतेजसाऽऽदीप्तस्तदाह पृथुकान् प्रति॥167॥
 नग्नो न स्यामहं यूयं मा वन्दध्वं सपूर्वजाः। स्वर्गोऽपि सोऽथ मा भूयाद् यो भावी भवदर्चनात्॥168॥
 अन्यदाऽनशनात् साधौ परलोकमुपस्थिते। संज्ञिता मुनयो देहोत्सर्गाय प्रभुणा दृढम्॥169॥
 गीतार्था यतयस्तत्र क्षमाश्रमणपूर्वकम्। अहंप्रथमिकां चक्रुस्तत्तनूद्बहने तदा॥170॥
 कोपाभासाद् गुरुः प्राह पुण्यं युष्माभिरेव तत्। उपार्जनीयमन्यूनं न तु नः स्वजनव्रजैः॥171॥
 श्रुत्वेति जनकः प्राह यदि पुण्यं महद् भवेत्। अहं वहे, प्रभुः प्राह भवत्वेवं पुनः शृणु॥172॥
 उपसर्गा भवन्त्यस्मिन्नुद्दामाने ततो निजम्। किं तातमनुमन्येऽहमस्मिन् दुष्करकर्मणि॥173॥
 उपसर्गैर्यदि क्षुभ्येत् तन्नः स्यादपमंगलम्। विज्ञायेत्युचितं य यत् तद् विधेहि समाधिना॥174॥
 वहिष्णाम्येव किमहं निःसत्त्वो दुर्बलोऽथवा। एतेभ्यो मामकीना तन्न कार्या काप्यनिर्वृतिः॥175॥
 पुरा प्रत्यूहसंधातो वेदमत्रैर्मया हतः। समस्तस्यापि राज्यस्य राष्ट्रस्य नृपतेस्तथा॥176॥
 ततः संवोदुरस्यांशे शबं शबरथस्थितम्। आचकर्षुर्निवसनं शिशवः पूर्वशिक्षिताः॥177॥
 अन्तर्दूनोऽप्यसौ पुत्रप्रत्यूहभयतो न तत्। अमुञ्चत् तत् उत्पूज्य स्थण्डिले ववले रयात्॥178॥
 गुरुणाऽऽप्रच्छि किं नग्नस्तात। सोऽप्युत्तरं ददौ। उपसर्गः समुत्तस्थौ त्वद्वचो ह्यनृतं नहि॥179॥
 स न्यवेधि मया दाढ्यदेवंवादिनि तत्र च। शाटकं पृथुलं दीर्घं गुहाणेत्यथ तेऽवदन्॥180॥
 तदाकर्ण्य पिता प्राह द्रष्टव्यं दृष्टमेव यत्। को नः परिग्रहस्तस्मान् नाग्न्यमेवास्त्वतः परम्॥181॥
 एवं प्रायः प्रपञ्चैश्चावलेपान् पर्यहापयन्। गुरवो न तु भैक्ष्येऽस्य मनः शक्ता नियोजितुम्॥182॥
 एवं त्ववकरं नायं त्यजति प्रभुणापि च। अनेकश उपायैस्तैः सुपरिच्छेदितोऽपि सन्॥183॥
 कदाचिदायुः क्षीयेतास्माकं तन्निस्तरिष्यति। कथं जरन्नसौ तस्माद् भिक्षां ग्राह्यः कथंचन॥184॥
 ध्यात्वेति शिक्षयन्ति स्म रहस्ते मुनिपुंगवान्। मण्डल्यां नास्य दातव्य आहारो भोज्यमेककैः॥185॥
 अरुच्यमपि चित्तस्य तथा ते प्रतिपेदिरे। तेभ्यो गुरुवचः श्रद्धानिष्ठेभ्योऽस्तु नमो नमः॥186॥
 विहारं चक्रुरन्यत्रान्यदा ते गुरवो बर्हिः। मण्डल्यां यतयो न न्यमन्त्रयन्त जरन्मुनिम्॥187॥
 व्याह्वे गुरव आजग्मुरार्यं च समभाषथन्। ततः प्रमन्युराहासौ श्रूयतां सुत! मद्बचः॥188॥
 दिनानि चेद् बहूनि त्वमवास्थास्यो बहिर्भुवि। अकालेऽपि तदा प्राणान् पर्यत्याक्ष्यमहं भुवम्॥189॥
 मुनयोऽमी त्वदादिष्टा अपि वार्तां न मामकाम्। वहन्ति हेतोर्नो वेदि तन्न कस्याप्यहं प्रभो॥190॥
 ततस्ते कृतकक्रोधाद् विनेयानुचिरे चिरम्। तातः कथं भवदिर्भनं भोजनेन निमन्त्रितः॥191॥
 ते प्राहुः पूज्यपादेभ्यो विना नः शून्यचेतसाम्। क्षूणं पतितमेवैतत् क्षन्तव्यं बालचेष्टितम्॥192॥
 श्रुत्वेति तद्वचः प्राहुः सुरयः श्रूयतां पितः॥ न विधेया परस्याशा मूलहेतुः पराभवे॥193॥
 वयं त्वदुचिताहारान्वेषणाय स्वयं ननु। यास्यामः कीदृशोऽमीषां पाटो ब्रीडावहः स्फुटम्॥194॥
 इत्युक्त्वा स्वयमुत्थायादाय चाथ स्वपात्रकम्। चेलुस्तावच्च वर्षीयानाह साहसवद् वचः॥195॥
 अहमेव प्रयास्यामि भिक्षायै किं मयि स्थिते। वत्स! गच्छपतिस्त्वं हि भिक्षुभिक्षां भ्रमिष्यसि॥196॥
 इत्युक्त्वा मंक्षु सोत्साहः प्रतिषिद्धोऽपि सूरिभिः। सपात्रः संचचालासौ प्राप्तश्चेभ्यस्थ मन्दिरम्॥197॥
 अपह्नात् प्रविष्टोऽसौ भिक्षाशिक्षास्वनिष्ठितः। मूलद्वारा कथं नागा गृहिणेत्युदितस्ततः॥198॥
 आयातीह शुभा लक्ष्मीरपह्नात्तस्मात्। श्रुत्वेति स गृही दध्यौ वृद्धस्तत्कालधीरयम्॥199॥
 द्वात्रिंशन्मोदकांस्तेन तुष्टेन प्रतिलाभितः। आगत्योपाश्रये सूरैः पुरश्चालोचयत् ततः॥200॥

गुरुणा प्रथमे लाभे शकुनोऽत्र विचारितः। द्वात्रिंशत्संख्यया शिष्या भविष्यन्ति ममानुतः॥201॥
अपृच्छच्च पुनस्तात! यदा राजकुलाद् धनम्। लब्ध्वा ततो भुक्तशेषं ददध्वं कस्य भावतः॥202॥
आर्योऽप्याह गुणोदग्रश्रोत्रियेभ्यः प्रदीयते। सत्पात्रेभ्यो यतो दत्ता लक्ष्मीः सुकृतभूर्भवेत्॥203॥
प्रधानाः साधवोऽस्मच्च वैयावृत्यादिसद्गुणैः। अमीषां देहि तत् तात! जन्म स्वं सफलं कुरु॥204॥
बालग्लानादिसाधूनामानितं चेन्मयाशनम्। उपकारि भवेदेषां किं न लब्धं मयात्र तत्॥205॥
एवं वदन्नसौ वृद्धौ भिक्षायामादरं वहन्। परमाराध्यतां प्राप्तो गच्छे दानैकशुद्धधीः॥206॥

10. तत्र गच्छे त्रयः पुष्यमित्राः सुत्रामतेजसः। स्वप्रज्ञाज्ञातशास्त्रार्थाः सन्ति सन्तोषभूमयः॥207॥
घृतपूर्वस्तेषु पूर्वा वस्त्रपूर्वा द्वितीयकः। सुधीर्बुद्धिलिकापूर्वः पुष्यमित्रस्तृतीयकः॥208॥
तत्राद्यपुष्यमित्रस्य लब्धिरासीच्चतुर्विधा। द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालतो भावतस्तथा॥209॥
द्रव्यतो घृतमेव स्यात् क्षेत्रतोऽवन्तिमण्डलम्। ज्येष्ठाषाढे कालतस्तु भावतोऽथ निगद्यते॥210॥
दुर्गता ब्राह्मणी षड्भिर्मर्तैः प्रसवधर्मिणी। तद्भर्तेति विमृश्याज्यं भिक्षित्वा संचये दधौ॥211॥
ततः सा प्रसवे चाद्यश्वीने क्षुब्धाधितं द्विजम्। तद् घृतं याचमानं तं रुणद्धयन्निराशया॥212॥
स मुनिश्चेदर्थयेत दत्ते तदपि सा मुदा। यावद्गच्छोपयोग्यं स्यात् तावदाप्नोति भावतः॥213॥
वस्त्रादिपुष्यमित्रस्य प्रेक्ष्यते लक्षणं त्विदम्। द्रव्यतो लभते वस्त्रं क्षेत्रतो मथुरापुरि॥214॥
वर्षा-शिशिरहेमन्ते कालतो भावतस्त्विदम्। तस्य लब्धिविशेषोऽयं क्षयोपशमसंभवः॥215॥
अनाथा महिला कापि कार्पासोच्चयमूल्यतः। तूलं सपिण्ड्य कर्तित्वा वानकर्मकृतां गृहे॥216॥
कर्म कृत्वा वेतनेन पटं तेभ्यः प्रदाययेत्। शाटकं विपटा तेनार्थिता तमपि यच्छति॥217॥
दुर्बलः पुष्यमित्रोऽपि यथालब्धं घृतं घनम्। भुनक्ति स्वेच्छयाऽभीक्ष्णं पाठाभ्यासात् तु दुर्बलः॥218॥
स मनीषाविशेषेण गृहीतनवपूर्वकः। समभ्यस्यत्यहोरात्रं मा विस्मार्शीन्मम श्रुतम्॥219॥
सनाभयो वशपुरे तस्य तिष्ठन्ति विश्रुताः। सौगतोपासकास्ते च सूरिपार्ष्वे समावयुः॥220॥
ऊचुर्वाष्पाकधर्मोऽस्मिन् ध्यानं नास्ति स चावदत्। ध्यानमस्माकमस्तीह यत् तत् तेषां न विद्यते॥221॥
भावत्कः पुष्यमित्रोऽयं ध्यानेनैवास्ति दुर्बलः। ते प्राहुर्मथुराहाराभावः कार्श्याय सव्रते॥222॥
गुरुः प्रोवाच वृद्धानां प्रसादेन घृतप्लुतम्। भुङ्क्ते यथेच्छं सततं गुणनेन त्वयं कृशः॥223॥
कुतो वः स्नेहसंपत्तिरित्युक्ते गुरुस्तरम्। प्रादाद् घृतं पुष्यमित्रः समानयति तद् घनम्॥224॥
अथ न प्रत्ययो वस्तन्नयतामुं निजे गृहे। दिनानि कतिविच्चास्य स्निग्धाहारं प्रयच्छत॥225॥
स्वयं ज्ञास्यथ सदभावं दौर्बल्यहेतुमप्यथ। तैराहृतोऽप्यनुज्ञातो गुरुभिस्तदहं ययौ॥226॥
पोष्यमाणो वराहारैरप्यसौ कृशतां भजेत्। अहर्निशमधीयानो रसास्वादं न बुध्यते॥227॥
स्वजना व्यमृशन्नस्य भुक्तं भस्मनि होमवत्। ददुर्बहुतरं ते च ततोऽप्यस्य न किञ्चन॥228॥
प्रेक्षिरे व्यतिरेकं ते प्रान्ताहारप्रदायिनः। न्यषेधयन्नध्ययने पुरावस्थांगभागभूत्॥229॥
प्रतीतास्तेन संबोधिं प्राप्यत्त स्वजना निजाः। पुनरागाद् गुरुपान्ते शान्ते चेतसि सुस्थितः॥230॥

11. तत्र गच्छे च चत्वारः प्राज्ञा मुनिमतल्लिकाः। दुर्बलः पुष्यमित्रोऽथ विन्ध्याख्यः फल्गुरक्षितः॥231॥
गोष्ठामाहिलनामा च जितौशनसवेतनः। तेषां विन्ध्योऽथ मेधावी गुरुन् विज्ञपयत्यदः॥232॥
महत्यामनुयोगस्य मण्डल्यां पाठघोषतः। स्खलति श्रुतपाठो मे पृथग्मे कथ्यतां ततः॥233॥
-त्रिभिर्विशेषकम्।
सूरिराह स्वयमहं व्याख्यामि भवतः पुरः। व्याख्यानमण्डलीं तूलंघयामि महतीं कथम्॥234॥

तस्मात् ते वाचनाचार्यो दुर्बलः पुष्यमित्रकः। महामतिरुपाध्यायोऽधीष्वा शीघ्रं तदग्रतः॥235॥
 एवं कृते दिनैः कैश्चित्स विन्ध्याध्यापको गुरून्। कृताञ्जलि रहोऽवादीत् प्रभो! शृणुत मद्बचः॥236॥
 अहं वाचनया व्यग्रः स्वाधीतं विस्मरामि यत्। गुणने भंगपातेन तत् खिन्नः किं करोम्यहम्॥237॥
 यदा स्वकगृहे प्रैषि पूज्यैर्गुणनवारणात्। तत्कृतात् स्वलितं किञ्चित् तदाऽधीतं पुरापि यत्॥238॥
 यद्यतः परमेतस्य वाचनां दापयिष्यथ। ततो मे नवमं पूर्वं विस्मरिष्यत्यसंशयम्॥239॥
 श्रुत्वेत्यचिन्तयत् सूरिरोदृग् मेधानिधिर्यदि। विस्मरत्यागमं तर्हि कोऽन्यस्तं धारयिष्यति॥240॥
 ततश्चतुर्विधः कार्योऽनुयोगोऽतः परं मया। ततोऽगोपांग मूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागमः॥241॥
 अयं चरणकरणानुयोगः परिकीर्तितः। उत्तराध्ययनाद्यस्तु सम्यग्धर्मकथापरः॥242॥
 सूर्यप्रज्ञप्तिमुख्यस्तु गणितस्य निगद्यते। द्रव्यस्य दृष्टिबावोऽनुयोगाश्चत्वार इदृशः॥243॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
 विन्ध्याधर्ममिति सूत्रस्य व्यवस्था सूरिभिः कृता। पुरा चैकत्र सूत्रेऽभूदनुयोगचतुष्टयम्॥244॥

12. अन्यदा मथुरापुर्यामार्यरक्षितसूरयः। तस्या भूमेरधिष्ठातुर्व्यन्तरस्याश्रयेऽवसन्॥245॥
 इतश्चास्ति विदेहेषु श्रीसीमधरतीर्थकृत्। तदुपास्त्यै ययौ शक्रोऽश्रीषीद् व्याख्यां च तन्मनाः॥246॥
 निगोदाख्यानामाख्याच्च केवली तस्य तत्त्वतः। इन्द्रः पप्रच्छ भरते कोऽन्यस्तेषां विचारकृत्॥247॥
 अथार्हन् प्राह मथुरानगर्यामार्यरक्षितः। निगोदान् मद्बदाचष्टे ततोऽसौ विस्मयं ययौ॥248॥
 प्रतीतोऽपि च चित्रार्थं वृद्धब्राह्मणरूपभृत्। आययौ गुरुपाश्वे स शीघ्रं हस्तौ च धूनयन्॥249॥
 काशप्रसूनसंकाशकेशो यष्टिश्रितांगकः। सशवासप्रसरो विष्वगलच्चक्षुर्जलप्लवः॥250॥-युग्मम्।
 एवंप्रसूतः स पप्रच्छ निगोदानां विचारणाम्। यथावस्थं गुरुर्व्याख्यत् सोऽथ तेन चमत्कृतः॥251॥
 जिज्ञासुर्ज्ञानमाहात्म्यं पप्रच्छ निजजीवितम्। ततः श्रुतोपयोगेन व्यचिन्तयदिदं गुरुः॥252॥
 तदायुर्दिवसैः पक्षैर्मार्गैः संवत्सरैरपि। तेषां शतैः सहस्रैश्चायुतैरपि न मीयते॥253॥
 लक्षाभिः कोटिभिः पूर्वैः पल्लैः पल्लयुतैरपि। तल्लक्षकोटिभिर्नैव सागरेणापि नान्तभृत्॥254॥-युग्मम्।
 सागरोपमयुग्मे च पूर्णं ज्ञाते तदायुषि। भवान् सौधर्मसुत्रामा परीक्षां किं न ईक्षसे॥255॥
 प्रकाशयथ निजं रूपं मनुष्यप्रेक्षणक्षमम्। यथावृत्ते समाख्याते शक्रः स्थाने निजेऽचलत्॥256॥
 प्रतीक्षणेऽर्धिते किञ्चिद् यावद् यतिसमागमम्। रूपर्द्धिदर्शनैः साधुनिदानेन न्यषेधयत्॥257॥
 तथापि किञ्चिदार्धेहि चिह्नमित्यथ सोऽतनोत्। वेश्म तद्विपरीतद्वाः प्रययौ त्रिदिवं ततः॥258॥
 आयाते मुनिभिर्द्वारिऽनाप्ते गुरुद्वैरयत्। विपरीतपथा याथा जग्मुस्ते चातिविस्मिताः॥259॥
 संप्रमात् किं किमित्यूचिवांस्ते बोधितास्तदा। गुरुभिर्गोत्रभिर्द्वत् याथातथ्यान्निवेदितम्॥260॥
 देवेन्द्रादर्शनात् खिन्ना इव किञ्चित् तदाऽवदन्। मन्दभाग्यैः कथं नाम दृश्यन्ते वासवा नरैः॥261॥

13. अथो विजह्नुन्यत्र प्रभवो मथुरां पुनः। आगतो नास्तिवादी च तं गोष्ठामाहिलोऽजयत्॥262॥
 असौ तत्रैव संघेन चतुर्मासीं व्याधायत। वादलब्धियुतस्तादृक् केनावस्थाप्यते नहि॥263॥
 आर्यरक्षितसूरिश्च व्यमृशत् कः पदोचितः। दुर्बलः पुष्यमित्रोऽयं तद्विचारे समागमत्॥264॥
 सूरिणां निजवर्गीया व्यमृशन् फल्गुरक्षितम्। गच्छाधिपत्ये तं गोष्ठामाहिलं चात्र मोहतः॥265॥
 कुम्भत्रितयमानायि तत्राचार्यैः सुपूरितम्। निष्पावतैलसर्पिर्भरथ तच्च विरेचितम्॥266॥
 वस्लाः सर्वेऽपि निर्यातास्तैलमीषत् पुनः स्थितम्। घृतं च बहुसंलग्नं पश्यतेमामुदाहृतम्॥267॥
 दुर्बलेऽहं मुनौ जज्ञे शतशिम्बिककुम्भवत्। बन्धौ तैलकुटौपम्यो मातुले घृतकुम्भवत्॥268॥
 तन्मत्पदेऽयमेवास्तु प्रतीष्टं तैर्गुरोर्वचः। ततो न्यवेशयन् तत्र परमाक्षरमार्हतम्॥269॥

ततो गुरुभिरादिष्टं दुर्बलस्य नवप्रभोः। मदीयमातुल-भ्रात्रोर्वर्ल मद्धत् पितुश्च मे॥270॥
 यतयोऽन्येऽपि गच्छस्था गुरुभिः पितृसोदरौ। तावशिष्यन्त साध्यश्च वचोभिर्मधुरैस्तदा॥271॥
 यूयं मयीव वर्तध्वं भक्तोऽपि विनयाधिकाः। अस्मिन् यतो व्रताचारे स्मृते वा विस्मृतेऽपि वा॥272॥
 अकृते वा कृते वापि तत्सर्वं ममृषे भया। पुनरेष नवत्वेनाकृतेक्षणमवाप्स्यति॥273॥-युग्मम्।
 ततोऽस्यापतितं वाक्यं कार्यमेव सदोद्यतैः। आमृत्यु पादमूलं च न मोक्तव्यममुष्य भो॥274॥
 एवं गच्छव्यवस्था तैरार्यरक्षितसूरिभिः। विहिता प्रान्तकाले त्वनशनं प्रत्यपादि च॥275॥
 निर्यामिताश्च गोतार्थैर्देवी भुवमुपाययुः। पृथक्करणतः सर्वानुयोगस्यानुवर्तकाः॥276॥-युग्मम्

14. श्रीपुष्यमित्रसूरिश्च गच्छं वर्तयते ततः। गुरुतोऽभ्यधिकां चास्य समाधिमुदपादयत्॥277॥
 स गोष्ठामाहिलस्तत्र यथाविप्रतिपत्तिभूः। निहवः सप्तमो जज्ञे ज्ञेयं शास्त्रान्तराद्धि तत्॥278॥

इत्यार्यरक्षितविभोर्विशदं चरित्रं चित्रं जगत्त्रितयपावनगांगवारि।

विद्वज्जनश्रवणकुण्डलतां प्रयातमापुष्पदन्तरुचि नन्दतु चन्दनीयम्॥279॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ सोमर्षिसूनोः कथा

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशक्तिः शृंगो द्वितीयोऽगमत्॥280॥



श्रीआर्यनन्दिलचरितम्

1. आर्यरक्षितवंशीयः स श्रीमानार्यनन्दिलः। संसारारण्यनिर्वाहसार्थवाहः पुनातु वः॥1॥
 क आर्यनन्दिलस्वामिगुणवर्णन ईशिता। अष्टौ कुलानि नागानां यदाज्ञां शिरसा दधुः॥2॥
 यत्प्रसादेन वैरोद्या क्षमाया उपदेशतः। नागेन्द्रदयिता जज्ञे नाममन्त्राद् विषापहा॥3॥
 किञ्चित् प्रसीमि तद्वत्तं गुरुणा गुरुणादृतः। प्रसादेन मृगांकस्थो मृगः किं नाश्नुते नभः॥4॥
 अस्ति स्वस्तिनिधिः श्रीमत् पद्मिनीखण्डपत्तनम्। मण्डितं सारकासारैः पद्मिनीखण्डमण्डितैः॥5॥
 तत्र वित्रासिताशेषशत्रुपक्षः क्षमापतिः। पद्मप्रभाभिधः पद्मासद्य पद्मनिभाननः॥6॥
 तस्य पद्मावती कान्ता कान्ताशतशिरोमणिः। यया देहश्रिया जिग्ये कान्ता स्वर्गपतेरपि॥7॥
 तत्रामात्रश्रिया पात्रं श्रेष्ठी श्रेष्ठकलानिधिः। अर्थिचातकपाथोदः पद्मवत्तोऽस्ति विश्रुतः॥8॥
 तस्य पद्मयशा नाम वल्लभाऽस्ति रतिप्रभा। पुत्रः सुत्रामपुत्राभरूपः पद्माभिधस्तयोः॥9॥
 कलाकलापसंपूर्णं तं मत्वा सार्थनायकः। वरदत्तः स्वकां पुत्रीं वैरोद्याख्यां व्यवहयत्॥10॥
 अन्यदा वन्यदावाग्निदुस्सहं समुपागते। अन्तप्रतिभुवि न्यक्षपक्षेषु जगतोऽशिवे॥11॥
 युतः स परिवारेण पुण्यनैपुण्यसंक्षयात्। वरदत्तः पुरं प्राप विपापः समवर्तिनः॥12॥-युग्मम्।
 ततः प्रभृति तुच्छत्वात् श्वश्रूः शुश्रूषिताप्यलम्। वैरोद्यामवजानाति तां निष्पितृगृहामिति॥13॥
 रूपं राठा धनं तेजः सौभाग्यं प्रभविष्णुता। प्रभावात् पैतृकादेव नारीणां जायते ध्रुवम्॥14॥
 ततस्तद्वचनैर्दत्ता विनीतानां शिरोमणिः। साऽहोरात्रं भजेत् कार्श्यं कर्मोपालम्भतत्परा॥15॥
 अन्येद्युः साऽथ भोगीन्द्रस्वप्नसंसूचितं तदा। उवाह रत्नगर्भेव रत्नं गर्भं शुभाद्भुतम्॥16॥
 तृतीये मासि पूर्णोऽथ द्रोहदं द्रोहदं द्विषाम्। बभार सारसत्त्वाद्या दृढं पायसभोजने॥17॥

2. अथार्यनन्दिलः सूरिरुद्धाने समवासरत्। साधुवृन्दवृतः सार्द्धनवपूर्वधरः प्रभुः॥18॥
 तस्यामापन्नसत्त्वायामपि श्वश्रुरदक्षिणा। वदन्ती कद्वदा यत्किञ्चिदपि प्रतिकूलति॥19॥
 अस्याः कथं सुतो भावी निर्भाग्यैकशिरोमणेः। सुतैव भाविनी निष्पित्र्याया दारिद्र्यदीर्घिका॥20॥
 इत्थं दुर्वचनैर्दुता साऽथ प्रभुपदान्तिकम्। आयाद् विमृश्य यच्चैत्यगृहं पितृगृहं ननु॥21॥
 अभिवन्धाथ साऽवादीदुदश्रु प्राग्भवे मया। प्रभो! विराधिताम्बा किं यन्मय्यपि विरोधिनी॥22॥
 प्रभुः प्राह पुराकर्मकृते दुःखसुखे जने। तत् किमन्यस्य दोषो हि दीयतेऽत्र विवेकिभिः॥23॥
 मानुष्ये दुर्लभे लब्धे सुखदा श्लाघ्यते क्षमा। यदस्यामादृतायां ते सर्वं भावि शुभं शनैः॥24॥
 ज्ञानाज्ञातो मया वत्से! दोहदस्तव पायसे। अवतीर्णः सुपुण्येन सोऽपि संपूरयिष्यते॥25॥
 इति वागमृतैस्तस्या विध्यायन्मन्युपावकः। शीतीभूता ययौ गेहे स्मरन्ती तद्वचो हृदि॥26॥
 पुण्डरीकतपश्चैत्रपौर्णिमास्यामुपोषिता। व्यधात् पद्मयशास्तस्योद्यापनं च प्रचक्रमे॥27॥
 तद्दिने पायसापूर्णः प्रदीयेत पतद्ग्रहः। गुरुणां समधर्माणां वात्सल्यं क्रियतेऽथ सा॥28॥
 तस्मिन् कृते समस्तेऽपि कदर्यान् ददे तदा। श्वश्र्वावज्ञावशाद् वध्वा धिग् दर्पं गुणदूषकम्॥29॥

वधूदौहदमाहात्म्यात् किञ्चिच्छेषं च पायसम्। वस्त्रे बद्ध्वा घटे क्षिप्त्वा जलाय च बहिर्ययौ॥30॥
कुम्भं मुक्त्वा तरोर्मूले यावद् याति जलाश्रये। अहिशौचाय सद्गुता क्षैरेयोस्वादतन्मनाः॥31॥
ततोऽलिञ्जरनागेन्द्रकान्ताप्यागाद् रसातलात्। भ्रमन्ती पायसे लुब्धा तदैक्षिष्ट घटे च सा॥32॥
यस्त्रखण्डात् समाकृष्य बुभुजे चाथ तत्तया। पुनर्यथागतं प्रायात् पातालं नागवल्लभा॥33॥
प्रत्यावृत्ता च वैरोद्या तदप्रेक्ष्य घटान्तरा। न शुशोच न चाकुप्यत् सा सती कित्तिदं जगौ॥34॥
येनेदं भक्षितं भक्ष्यं पूर्यतां तन्मनोरथः। यादृग्ममेति शान्तान्तः करणेत्याशिषं ददौ॥35॥

3. इतश्च पन्नगेन्द्रस्य कान्तया पत्युरग्रतः। निवेदितेऽवधेर्ज्ञात्वा सर्वं तां स विगीतवान्॥36॥
सानुतापा ततः सापि तदुपघ्नगृहस्थितेः। स्त्रियः स्वप्नं ददौ तस्याः क्षमया रञ्जिता सती॥37॥
यदलिञ्जरनागस्य प्रियाऽहं तनया च मे। वैरोद्या पायसं दद्या अस्या दोहदपूरकम्॥38॥
तथा च मद्गच्छः कथ्यं तवाहं यत्पितुर्गृहम्। ध्रुवं निवारयिष्यामि श्वश्रूभवपराभवम्॥39॥
भोजिता पायसं भक्त्या तया सा पुण्यवर्णिनी। संपूर्णदोहदा प्रीताऽजीजनत् सुतमद्भुतम्॥40॥
नागकान्तापि सूते स्म नागानां शतमुत्तमम्। वर्द्धन्ते तेजसा तेऽपि तेजः प्रतिनिभप्रभाः॥41॥
वैरोद्या नागिनीं दध्यौ नामारोपणपर्वणि। नन्दनस्य ततोऽम्बाया आदेशात् पन्नगोत्तमैः॥42॥
वयं पितृगृहं तस्याः प्रतिश्रुत्येति मानुषे। लोके तैरेत्य तद्देहमलञ्चक्रे ससमदैः॥43॥-युग्मम्।
केचिन्मतंगजारूढा अश्वारूढाश्च केचन। सुखासनगताः केचित् केचिन्नरविमानगाः॥44॥
वैक्रियातिशयाद् रूपशतभाजः सुरा अथा तद्वेश्म संकटं चक्रुः पाटकं चापि पतनम्॥45॥
केऽपि बाला घटे क्षिप्त्वा अपिधानावृतास्यके। रक्षार्थमंबया सर्पा वैरोद्यायाः समर्पिताः॥46॥
वधूपितृकुले तस्मिन्नायाते श्रीकलाद्भुते। श्वश्रूः स्नानादिभिस्तेषां सत्कर्तुमुपचक्रमे॥47॥
अहो! लक्ष्मीवतामेव पक्षः श्रेयान् जयी जने। यज्जातेयं विगीता सा तन्निजा गौरवास्पदम्॥48॥
कयापि कर्मकर्याऽथ पर्वकर्मविहस्तया। अश्मन्तकस्थितस्थालीमुखे नागघटो ददे॥49॥
दृष्ट्वा व्याकुलया वैरोद्याया चोत्तारितो घटः। स्नातया जननीवाक्यात् केशादिभः सोऽभ्यषिच्यत॥50॥
ते तत्प्रभावतः स्वस्थास्तस्थुरेकः पुनः शिशुः। अस्पर्शज्जलबिन्दूनां विपुच्छोऽजायत क्षणात्॥51॥
स्खलिते यत्र तत्रापि क्षुतादौ वदति स्म सा। बण्डो जीवत्विमां वाचं तस्य स्नेहेन मोहिता॥52॥
बन्धवो नागरूपास्ते सर्वेभ्यो ददुरद्भुतम्। क्षौमसौवर्णरत्नौघमुक्ताभरणमण्डलम्॥53॥
तत्र पर्वणि संपूर्णे यथास्थानं च ते ययुः। नागास्तेन प्रभावेण गौरव्या साऽभवद् गृहे॥54॥
अन्यदालिञ्जरः पुत्रान् नागराजो निभालयन्। बण्डं ददर्श कोपश्च चक्रेऽवयवखण्डनात्॥55॥
तज्ज्ञात्वाऽवधिना गेहे वैरोद्यायाः समाययौ। दंशमस्या विधास्यामि ध्रुवं मन्नन्दनद्रुहः॥56॥
इति संश्रवमाकर्ण्य पत्युस्तद्रक्षणोद्यता। समागान्नागिनी भक्ता वैरोद्येति प्रवादिनी॥57॥
गिरेति श्रुतया पत्न्याः किञ्चिच्छान्तः परीक्षितुम्। अन्तर्गृहं कपाटस्य पश्चाद्गूढतनुः स्थितः॥58॥
प्रदोषतामसात् किञ्चिदरिं स्थितमग्रतः। अदृष्ट्वा रभसा यान्ती सा गुल्फे पीडिता भृशम्॥59॥
बण्डो जीवत्त्विति ततो वादिनी फणभृत्यतिम्। सद्यः सन्तोषयामास तुष्टोऽसौ नूपुरे ददौ॥60॥
यातायतं चानुजज्ञे तस्याः पातालवेश्मसु। तेन नागाश्च तद्देहमायान्त्यपि यथा तथा॥61॥
ततो बालाबलामुख्योऽभवत्ल्लोको भयभ्रमि। इति ख्यातं च तद्देहं दुर्गमं नागमन्दिरम्॥62॥
विज्ञप्तं पञ्चवत्सेन गुरुणां तद् यथातथम्। जगदुस्ते च नागानां स्ववध्वा ख्यापयेरिदम्॥63॥
अस्मद्देहे न वस्तव्यं जनानुग्रहकाम्यया। वस्तव्यं वा न दष्टव्यमिति कृत्यं मदाज्ञया॥64॥
वैरोद्यायाः समादिष्टं त्वं गच्छाशीविषाश्रये। वक्तव्या नागिनीपुत्रा उत्लङ्घ्याऽऽज्ञा हि मे नहि॥65॥

तया गत्वा च पाताले ज्ञापिताः फणभृद्गराः। आज्ञां प्रभोस्ततो सान्याऽमीषामाख्येयमद्भुता॥६६॥
 जीवतान्नागिनी नागशतं चास्यास्तथा पिता। अलिञ्जरश्च नागेन्द्रो विषज्वालाप्लुताम्बरः॥६७॥
 अनाथाऽहं च सन्नाथा कृता येन सन्पुत्रौ। चरणौ रचितावित्याशिषं प्रादात् सुधोर्मिभाम्॥६८॥
 छत्रध्वजावृत्तिध्यानाद् देवदेवजिनेशितुः। पन्नग-प्रेत-भूताग्नि-चौर-व्यालभयं नहि॥६९॥
 डाकिनी-शाकिनीवृन्दं योगिन्यश्च निरन्तरम्। न विद्रवन्ति जैनाज्ञा यस्य मूर्धनि शेखरः॥७०॥
 यश्च तस्य गुरोराज्ञां वैरोद्यायास्तथा स्तवम्। नित्यं ध्यायति तस्य स्यान्नैव क्षुद्रभवं भयम्॥७१॥
 गुडान्यपायसैः स्वाद्यं बलिं ढौकयते च यः। जिनस्य जैनासाधोश्च दत्ते सा तं च रक्षति॥७२॥
 उपदेशं प्रभोरेनमाकर्ण्यान्येऽपि भोगिनः। उपशान्तास्तथा पूज्या वैरोद्याख्याऽभवत् सती॥७३॥
 नागवत्तश्च तत्पुत्रो भाग्यसौभाग्यरंगभूः। तत्कुलोन्नतिमाघत धर्मकर्मणि कर्मठः॥७४॥
 संसारानित्यतामन्यदिने सद्गुरुगोभंरात्। संभाव्य नागदत्तं स्वे पदे न्यास्थद् गुणोज्ज्वलम्॥७५॥
 पद्मदत्तः प्रियापुत्रसहितो जगृहे व्रतम्। उग्रं ततस्तपस्तप्त्वा सौधर्मे ससुतो ययौ॥७६॥
 तथा पद्मयशाः पूज्यादेशाद् वध्वा तया सह। मिथ्यादुष्कृतमाधाय देवी तत्रैव साभवत्॥७७॥
 वैरोद्याऽपि फणीन्द्राणां ध्यानाद् धर्मोद्यता सती। मृत्वाऽभूद् धरणेन्द्रस्य देवी श्रीपार्श्वसेवितुः॥७८॥
 सापि प्रभौ भक्तिमतां चक्रे साहाय्यमद्भुतम्। विषवह्न्यादिभीतानां दधात्युपशमं ध्रुवम्॥७९॥
 श्रीआर्यनन्दिलः स्वामी वैरोद्यायाः स्तवं तदा। 'नमिऊण जिणं पास' मिति मंत्रान्वितं व्यधात्॥८०॥
 एकचित्तः पठेन्नित्यं त्रिसन्ध्यं य इमं स्तवम्। विषाद्युपद्रवाः सर्वे तस्य न स्युः कदाचन॥८१॥

ये वैरोद्याख्यानमेतत् पवित्रम् क्षान्त्यक्षीणश्रेयसां मूलशाला।

श्रुत्वा मर्त्या ये क्षमामादियेरन् तेषां स्वर्गो नापि मोक्षो दुरापः॥८२॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीनन्दिलाख्यानकं

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशादितः शृंगस्तृतीयोऽजनि॥८३॥

प्रभो श्रीप्रद्युम्नाभिधनरसधाराधर! विना

भवन्तं सद्गुरुक्षरविषयतृष्णातरलितम्।

सुलम्भान्यश्रीमद्भुवननिरपेक्षं विशदयै-

गिरासारैः शिष्यं ननु धिनु निजं चातक शिशुम्॥८४॥

॥ इति श्रीनन्दिलाचार्यप्रबन्धः तृतीयः ॥



श्रीकालकसूरिचरितम्

1. श्रीसीमंधरतीर्थशविदितोऽनणुतो गुणात्। कुतश्चिदपि सोऽव्याहः कालकः सूरिकुञ्जरः॥१॥
 प्राच्यैर्बहुश्रुतैर्वृत्तं यस्य चर्युषणाश्रयम्। आदृतं कीर्त्यते किं न शकटी शकटानुगा॥२॥
 श्रीधरावासमित्यस्ति नगरं न गरो जयी। द्विजिह्वास्यसमुदीर्णो यत्र साधुवचोऽमृतैः॥३॥
 आशाकम्बावलंबाद्या महाबलभरोच्छ्रिता। कीर्ति-पताकिका यस्याक्रान्तव्योमा गुणाश्रया॥४॥-युगम्।
 श्रीवैरिसिंह इत्यस्ति राजा विक्रमराजितः। यत्प्रतापो रिपुस्त्रीणां पत्रवल्लीरशोषयत्॥५॥
 तस्य श्रीशेषकान्तेव कान्ताऽस्ति सुरसुन्दरी। उत्पत्तिभूमिर्भद्रस्य महाभोगविराजिनः॥६॥
 जयन्त इव शक्रस्य शशांक इव वारिधेः। कालको कालकोदण्डखण्डितारिः सुतोऽभवत्॥७॥
 सुता सरस्वती नाम्ना ब्रह्मभूर्विश्वपावना। यदागमात् समुद्रोऽपि गुरुः सर्वाश्रयोऽभवत्॥८॥
 कालकोऽश्वकलाकेलिकलनायान्यदा बहिः। पुरस्य भुवमायासीदनायासी हयश्रमे॥९॥
 तत्र धौरितकात् प्लुत्या वल्लितेनापि वाहयन्। उत्तेजिताल्लसद्गत्या हयानुत्तेरितादपि॥१०॥
 श्रान्तस्तिमितगन्धर्वो गन्धर्व इव रूपतः। अशृणोन्मसृणोदारं स्वरमाराममध्यतः॥११॥
 अथाह मंत्रिणं राजपुत्रः कीदृक् स्वरो ह्यसौ। मेघगर्जितगम्भीरः कस्य वा ज्ञायतां ततः॥१२॥
 व्यजिज्ञपत् स विज्ञाय नाथ। सूरिगुणाकरः। प्रशान्तपावनीं मूर्तिं बिभ्रद् धर्मं दिशत्यसौ॥१३॥
 विश्राम्यद्दिमर्नूपारामे श्रूयतेऽस्य वचोऽमृतम्। अस्त्वेवमिति सर्वानुज्ञाते तत्राप्यगादसौ॥१४॥
 गुरुं नत्वोपविष्टे च विशेषादुपचक्रमे। धर्माख्यां योग्यतां ज्ञात्वा तस्य ज्ञानोपयोगतः॥१५॥
 धर्माहं द-गुरुतत्त्वानि सम्यग् विज्ञाय संश्रय। ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरत्नत्रयविचारकः॥१६॥
 धर्मो जीवदयामूलः सर्वविद् देवता जिनः। ब्रह्मचारी गुरुः संगभंगभू रागभंगभित्॥१७॥
 व्रतपञ्चकसंवीतो यतीनां संयमाश्रितः। दशप्रकारसंस्कारो धर्मः कर्मच्छिदाकरः॥१८॥
 य एकदिनमप्येकचित् आराधयेदमुम्। मोक्षं वैमानिकत्वं वा स प्राप्नोति न संशयः॥१९॥
 अथो गृहस्थधर्मश्च व्रतद्वादशकान्वितः। दानशीलतपोभावभंगीभिरभितः शुभः॥२०॥
 स सम्यक्पाल्यमानश्च शनैर्मोक्षप्रदो नृणाम्। जैनोपदेश एकोऽपि संसाराम्भोनिधेस्तरी॥२१॥
 श्रुत्वेत्याह कुमारोऽपि मणिनीमणिनीं दिश। दीक्षां मोक्षं यथाज्ञानवेलाकूलं लभे लघु॥२२॥
 पितरौ स्वावनुज्ञाप्यागच्छ तत् तेऽस्तु चिन्तितम्। अत्यादरेण तत् कृत्वागज्जाम्या सहितस्ततः॥२३॥
 प्रव्रज्याऽदायि तैस्तस्य तया युक्तस्य च स्वयम्। अधीतो सर्वशास्त्राणि स प्रज्ञातिशयादभूत्॥२४॥
 स्वपदटे कालकं योग्यं प्रतिष्ठाप्य गुरुस्ततः। श्रीमान् गुणाकरः सूरिः प्रेत्यकार्याण्यसाधयत्॥२५॥

2. अथ श्रीकालकाचार्यो विहरन्नन्यदा ययौ। पुरीमुज्जयिनीं बाह्यारामेऽस्याः समवासरत्॥२६॥
 मोहान्धतमसे तत्र मग्नानां भव्यजन्मिनाम्। सम्यगर्थप्रकाशोऽभूत् प्रभूष्णुर्मणिदीपवत्॥२७॥
 तत्र श्रीगर्दभिल्लाख्यः पुर्या राजा महाबलः। कदाचित् पुरबाह्योर्व्यां कुर्वाणो राजपाटिकाम्॥२८॥
 कर्मसंयोगतस्तत्र व्रजन्तीमैक्षत स्वयम्। जामिं कालकसूरीणां काको दधिघटीमिव॥२९॥-युगम्।

हा रक्ष रक्ष सोदर्य! क्रन्दन्तीं करुणस्वरम्। अपाजीहरदत्युग्रकर्मभिः पुरुषैः स ताम्॥130॥
 साध्वीभ्यस्तत् परिज्ञाय कालकप्रभुरप्यथ। स्वयं राजसमज्यायां गत्वावादीत् तदग्रतः॥131॥
 वृत्तिर्विधीयते कच्छे रक्षायै फलसंपदः। फलानि भक्षयेत् सैवाख्येयं कस्याग्रतस्तदा॥132॥
 राजन्! समग्रवर्णानां दर्शनानां च रक्षकः। त्वमेव तन्न ते युक्तं दर्शनव्रतलोपनम्॥133॥
 उन्मत्तकभ्रमोन्मत्तवदुन्मत्तो नृपाधमः। न मानयति गामस्य भ्लेच्छवद् ध्वंसते तथा॥134॥
 संधेन मन्त्रिभिः पौरैरपि विज्ञापितो दृढम्। अवाजीगणदारूढो मिथ्यामोहे गलन्मतिः॥135॥
 प्राक्क्षात्रतेज आचार्य उन्निद्रमभजत् ततः। प्रतिज्ञां विदधे घोरां तदा कातरतापनीम्॥136॥
 जैनापभ्राजिनां ब्रह्मबालप्रमुखधातिनाम्। अर्हद्विम्बविहन्तुणां लिप्येऽहं पाप्मना स्फुटम्॥137॥
 न चेदुच्छेदये. शीघ्रं सपुत्रपशुबान्धवम्। अन्यायकदमक्रोडं विब्रुवन्तं नृपब्रुवम्॥138॥-युग्मम्।
 असंभाव्यमिदं तत्र सामान्यजनदुष्करम्। उक्त्वा निष्क्रम्य दम्भेनोन्मत्तवेषं चकार सः॥139॥
 एकाकी भ्रमति स्मायं चतुष्के चत्वरि त्रिके। असम्बद्धं वदन् द्वित्रिश्चेतनाशून्यवत् तदा॥140॥
 गर्दभिल्लो नरेन्द्रश्चेत् ततस्तु किमतः परम्। यदि देशः समृद्धोऽस्ति ततस्तु किमतः परम्॥141॥
 वदन्तमिति तं श्रुत्वा जनाः प्राहुः कृपाभरात्। स्वसुर्विरहितः सूरिस्तादृगग्रहिलतां गतः॥142॥-युग्मम्।
 दिनैः कतिपयैस्तस्मान्निर्ययावेक एव सः। पश्चिमां दिशमाश्रित्य सिन्धुतीरमगाच्छनैः॥143॥

3. शाखिदेशश्च तत्रास्ति राजानस्तत्र शाखयः। शकापराभिधाः सन्ति नवतिः षड्भिर्गर्गलाः॥144॥
 तेषामेकोऽधिराजोऽस्ति सप्तलक्षतुरंगमः। तुरंगायुतमानाश्चापरेऽपि स्युर्नरेश्वराः॥145॥
 एको भाण्डलिकस्तेषां प्रैक्ष कालकसूरिणा। अनेककौतुकप्रेक्षाहृतचित्तः कृतोऽथ सः॥146॥
 असौ विश्वासतस्तस्य वयस्यति तथा नृपः। तं विना न रतिस्तस्य तं बहुक्तैर्यथा क्षणम्॥147॥
 सभायामुपविष्टस्य मण्डलेशस्य सूरिणा। सुखेन तिष्ठतो गोष्ठ्यां राजदूतः समाययौ॥148॥
 प्रवेशितश्च विज्ञप्ते प्रतीहारेण सोऽवदत्। प्राचीनरूढितो भक्त्या गृह्यतां राजशासनम्॥149॥
 असिधेनुं च भूपोऽथ तदृहीत्वाशु मस्तके। उद्धूर्वाभूयाथ संयोज्य वाचयामास च स्वयम्॥150॥
 इति कृत्वा विवर्णास्यो वक्तुमप्यक्षमो नृपः। विलीनचित्तः श्यामांगो निःशब्दापादमेघवत्॥151॥
 पृष्ठश्चित्रान्मुनीन्द्रेण प्रसादे स्वामिनः स्फुटे। आयाते प्राभृते हर्षस्थाने किं विपरीतता॥152॥
 तेनोचे मित्र! कोपोऽयं न प्रसादः प्रभोर्ननु। प्रेष्यं मया शिरश्छित्त्वा स्वीयं शस्त्रिकयानया॥153॥
 एवं कृते च वंशे नः प्रभुत्वमवतिष्ठते। नो चेद् राज्यस्य राष्ट्रस्य विनाशः समुपस्थितः॥154॥
 शस्त्रिकायामधैतस्यां षण्णवत्यंकदर्शनात्। मन्ये षण्णवतेः सामन्तानां क्रुद्धो धराधिपः॥155॥

4. सर्वेऽपि गुप्तमाह्वय्य सूरिभिस्तत्र मेलिताः। तरीभिः सिन्धुमुत्तीय सुराष्ट्रां ते समाययुः॥156॥
 घनागमे समयाते तेषां गतिविलम्बके। विभज्य षण्णवत्यंशैस्तं देशं तेऽवतस्थिरे॥157॥
 राजानस्ते तथा सूरौ वाहिनीव्यूहवृद्धिना। राजहंसद्रुहा भूयस्तरवारितरंगिणा॥158॥
 बलभिद्धनुरुल्लासवता चाशुगभीभृतां। समारुध्यन्त मेघेन बलिष्ठेनैव शत्रुणा॥159॥
 निर्गमय्यासनाद्युग्रमुपसर्गमुपस्थितम्। प्रापुर्धनात्ययं मित्रमिवाब्जास्यविकाशकम्॥160॥
 परिपक्वमवाक्शालिः प्रसीदत्सर्वतोमुखः। अभूच्छरदृत्तुस्तेषामानन्दाय सुधीरिव॥161॥
 सूरिनाथ सुहृद्राजा प्रयागेऽजलप्यत स्फुटम्। स प्राह शंभवं नास्ति येन नो भवि शं बलम्॥162॥
 श्रुत्वेति कुम्भकारस्य गृह एकत्र जग्मिवान्। वह्निना पच्यमानं चेष्टकापाकं ददर्श च॥163॥
 कनिष्ठिकानखं पूर्णं चूर्णयोगस्य कस्यचित्। आक्षेपात् तत्र चिक्षेपाक्षेप्यशक्तिस्तदा गुरुः॥164॥

विध्यातेऽत्र ययावग्रे राज्ञः प्रोवाच यत्सखे! विभज्य हेम गृहीत यात्रासंवाहहेतवे॥१६५॥
तथेत्यादेशमाधाय तेऽकुर्वन् पर्व सर्वतः। प्रास्थानिकं गजाशवादिसैन्यपूजनपूर्वकम्॥१६६॥
पंचाल-लाटराष्ट्रेश भूपान् जित्वाऽथ सर्वतः। शका मालवसन्धिं ते प्रापुराक्रान्तविद्विषः॥१६७॥
श्रुत्वाऽपि बलमागच्छद् विद्यासामर्थ्यगर्वितः। गर्दभिल्लनरेन्द्रो न पुरीदुर्गमसज्जयत्॥१६८॥
अथाप शाखिसैन्यं च विशालातलमेदिनीम्। पतंगसैन्यवत् सर्वप्राणिवर्गभयंकरम्॥१६९॥
मध्यस्थो भूपतिः सोऽथ गर्दभीविद्यया बले। नादर्युन्मादरीतिस्थः सैन्यं सज्जयति स्म न॥१७०॥
कपिशौर्षेषु नो ढिंबा कोट्टकोणेषु न भ्रसाः। विद्याधरीषु नो काण्डपूरणं चूरणं द्विषाम्॥१७१॥
न वा भटकपाटानि पूःप्रतोलीष्वसज्जयत्। इति चारैः परिज्ञाय सुहृद्भूषं जगौ गुरुः॥१७२॥
अनावृतं समीक्ष्येदं दुर्गं मा भूरनुद्यमः। यदष्टमी-चतुर्दशयोरर्चयस्तेषु गर्दभीम्॥१७३॥
अष्टोत्तरसहस्रं च जपत्येकाग्रमानसः। शब्दं करोति जापान्ते विद्या सा रासभीनिभम्॥१७४॥
तं ब्रूतारस्वरं घोरं द्विपदो वा चतुष्पदः। यः शृणोति स वक्रेण फेनं मुञ्चन् विपद्यते॥१७५॥
अर्द्धतृतीयगव्यूतमध्ये स्थेयं न केनचित्। आवासान् विरलान् दत्त्वा स्थातव्यं सबलैर्नृपैः॥१७६॥
इत्यांकर्ण्य कृते तत्र देशे कालकसदुरुः। सुभटानां शतं साष्टं प्रार्थयच्छब्दवेधिनाम्॥१७७॥
स्थापिताः स्वसमीपे ते लब्धलक्षाः सुशिक्षिताः। स्वरकाले मुखं तस्या बभ्रुर्बाणैर्निर्बन्धवत्॥१७८॥
सा भूर्ध्नि गर्दभिल्लस्य कृत्वा विण्मूत्रमीर्ष्या। हत्वा च पादघातेन रोषेणान्तर्दधे खरी॥१७९॥
अबलोऽयमिति ख्यापयित्वा तेषां पुरो गुरुः। समग्रसैन्यमानीय मानी तं दुर्गमाविशत्॥१८०॥
पातयित्वा धृतो बद्ध्वा प्रपात्य च गुरोः पुरः। गर्दभिल्लो भटैर्मुक्तः प्राह तं कालकप्रभुः॥१८१॥
साध्वी साध्वी त्वया पाप! श्येनेन चटकेव यत्। नीता गुरुविनीताऽपि तत्कर्मकुसुमं हृदः॥१८२॥
फलं तु नरकः प्रेत्य तद् विबुध्याधुनापि हि। उपशान्तः समादत्स्व प्रायश्चित्तं शुभावहम्॥१८३॥
आराधकः परं लोकं भविता रुचितं निजम्। विधेहीति श्रुतेर्दूनस्त्यक्तोऽरण्ये ततोऽभ्रमत्॥१८४॥
व्याघ्रेण भक्षितो भ्राम्यन् दुर्गतो दुर्गतिं गतः। तादृक्साधुद्गुहामीदृक् गतिरत्यल्पकं फलम्॥१८५॥
सूरेरादेशतो मित्रं भूपः स्वामी ततोऽभवत्। विभज्य देशमन्येऽपि तस्थुः शाखिनराधिपाः॥१८६॥
आरोपिता व्रते साध्वी गुरुणाऽथ सरस्वती। आलोचितप्रतिक्रान्ता गुणश्रेणिमवाप च॥१८७॥
विद्यादेव्यो यतः सर्वा अनिच्छुस्त्रीव्रतच्छिदः। कुप्यन्ति रावणोऽपीदुग् सीतायां न दधौ हठम्॥१८८॥
एतादृक् शासनोनत्या जैनतीर्थं प्रभावयन्। बोधयन् शाखिराजांश्च कालकः सूरिराट् बभौ॥१८९॥

5. शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि हि। राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत्॥१९०॥
स चोन्नतमहासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात्। मेदिनीमनूणां कृत्वाऽचीकरद् वत्सरं निजम्॥१९१॥
ततो वर्षशते पञ्चत्रिंशता साधिके पुनः। तस्य राज्ञोऽन्वयं हत्वा वत्सरः स्थापितः शकैः॥१९२॥
इति प्रसंगतोऽजल्पिः प्रस्तुतं प्रोच्यते हृदः। श्रीकालकप्रभुर्देशे विजहे राजपूजितः॥१९३॥

6. इतरचास्ति पुरं लाटललाटतिलकप्रभम्। भृगुकच्छं नृपस्तत्र बलमित्रोऽभिधानतः॥१९४॥
भानुमित्राग्रजन्मासीत् स्वस्तीयः कालकप्रभोः। स्वसः तयोश्च भानुश्रीः, बलभानुश्च तत्सुतः॥१९५॥

-सुग्मम्।

अन्यदा कालकाचार्यवृत्तं तैल्लोकतः श्रुतम्। तोषादाहृतये मंत्री तैर्निजः प्रैष्यत प्रभोः॥१९६॥
विहरन्तस्ततस्ते चाप्रतिबद्धं विबुद्धये। आययुर्नगरे तत्र बहिश्च समवासरन्॥१९७॥
राजा श्रीबलमित्रोऽपि ज्ञात्वाभिमुखमभ्यगात्। उत्सवातिशयात् सूरि प्रवेशं विदधे मुदा॥१९८॥

उपदेशामृतैस्तत्र सिञ्चन् भव्यानसौ प्रभुः। पुष्करावर्तवतेषां विश्वं तापमनीनशत्॥१११॥
 श्रीमच्छकुनिकातीर्थस्थितं श्रीमुनिसुव्रतम्। प्रणम्य तच्चरित्राख्यादिभिर्नुपमबोधयत्॥११०॥
 अन्येद्युस्तत्पुरोधसच मिथ्यात्वग्रहसदग्रहः। कुविकल्पवितण्डाभिर्वदन् वादे जितः स तैः॥१०१॥
 ततोऽनुकूलवृत्त्याथ तं सूरिमुपसर्गयन्। उवाच दम्भभक्त्या स राजानमृजुचेतसम्॥१०२॥
 नाथामी गुरवो देवा इव पूज्या जगत्यपि। एतेषां पादुका पुण्या जनैर्धार्या स्वमूर्धनि॥१०३॥
 किञ्चिद् विज्ञप्यते लोकभूपालानां हितं मया। अवधारय तच्चित्ते भक्तिश्चेत् मातुले गुरौ॥१०४॥
 विशातं नगरान्तर्यन्वरेणा बिम्बिताः पथि। उल्लङ्घ्यन्ते जनैरन्यैः सामान्यैस्तदघं बहु॥१०५॥
 धर्माज्जनं तनीयोऽत्रापरं कुरु महामते। प्रतीत आर्जवाद् राजा प्राहास्ते संकटं महत्॥१०६॥
 विद्वांसो मातुलास्तीर्थरूपाः सर्वावर्त्ता इमे। तथा वर्षा अवस्थाप्य पार्यन्ते प्रेषितुं किमु॥१०७॥
 द्विजः प्राह महीनाथ। मंत्रये ते हितं सुखम्। तव धर्मो यशस्ते च प्रयास्यन्ति स्वयं सुखात्॥१०८॥
 नगरे डिण्डिमो वाद्यः सर्वत्र स्वामिपूजिताः। प्रतिलाभ्या वराहारैर्गुरवो राजशासनात्॥१०९॥
 आहारमाधाकर्मदि दृष्ट्वानेषणयान्वितम्। स्वयं ते निर्गमिष्यन्ति काप्यश्लाघा न ते पुनः॥११०॥
 अस्त्वेवमिति राजोक्ते स तथेति व्यधात् पुरे। अनेषणां च ते दृष्ट्वा यतयो गुरुमभ्यधुः॥१११॥
 प्रभो! सर्वत्र मिष्टान्नाहारः संप्राप्यतेतराम्। गुरुराहोपसर्गोऽयं प्रत्यनीकादुपस्थितः॥११२॥
 गन्तव्यं तत् प्रतिष्ठानपुरे संयमयात्रया। श्रीसातवाहनो राजा तत्र जैनो दृढव्रतः॥११३॥

7. ततो यतिद्वयं तत्र प्रैषि संचाय सूरिभिः। प्राप्तेष्वस्मासु कर्तव्यं पर्वपर्युषणं ध्रुवम्॥११४॥
 तौ तत्र संगतौ संघमानितौ वाचिकं गुरोः। तत्राकथयतां मेने तेनैतत् परंया मुदा॥११५॥
 श्रीकालकप्रभुः प्राप शनैस्तन्नगरं ततः। श्रीसातवाहनस्तस्य प्रवेशोत्सवमातनोत्॥११६॥
 उपपर्युषणं तत्र राजा व्यज्रपदं गुरुम्। अत्र देशे प्रभो! भावी शक्रध्वजमहोत्सवः॥११७॥
 नभस्यशुक्लपञ्चम्यां ततः षष्ठ्यां विधीयताम्। स्वं पर्व नैकचित्तत्वं धर्मं नो लोकपर्वणि॥११८॥
 प्रभुराह प्रजापाल! पुरार्हद्वेषणभूद्वेषणः। पंचमीं नात्यगादेतत् पर्वस्मद्गुरुगीरिति॥११९॥
 कम्पते मेरुचूलापि रविर्वा पश्चिमोदयः। नातिक्रमति पर्वदं पञ्चमीरजनीं ध्रुवम्॥१२०॥
 राजाऽवदच्चतुर्थ्यां तत् पर्व पर्युषणं ततः। इत्थमस्तु गुरुः प्राह पूर्वैरप्यादृतं हृदः॥१२१॥
 अर्वांगपि यतः पर्युषणं कार्यमिति श्रुतिः। महीनाथस्ततः प्राह हर्षदेतत् प्रियं प्रियम्॥१२२॥
 यतः कुहूदिने पर्वोपवासे पौषधस्थिताः। अन्तःपुरपुरन्ध्रयो मे पक्षादौ पारणाकृतः॥१२३॥
 तत्राष्टमं विधातृणां निर्ग्रन्थानां महात्मनाम्। भवतु प्राशुकाहारैः श्रेष्ठमुत्तरपारणम्॥१२४॥
 उवाच प्रभुरप्येतन्महादानानि पञ्च यत्। निस्तारयन्ति दत्तानि जीवं दुष्कर्मसागरात्॥१२५॥
 पथश्रान्ते तथाग्लाने कृतलोचे बहुश्रुते। दानं महाफलं दत्तं तथा चोत्तरपारणे॥१२६॥
 ततः प्रभृति पञ्चम्याश्चतुर्थ्यामागतं हृदः। कषायोपशमे हेतुः पर्व सांवत्सरं महत्॥१२७॥
 श्रीमत्कालकसूरीणामेवं कथपि वासराः। जग्मुः परमया तुष्ट्या कुर्वतां शासनोन्नतिम्॥१२८॥

8. अन्येद्युः कर्मदोषेण सूरीणां तादृशामपि। असन्नऽतिनयाः शिष्या दुर्गतौ दोहदप्रदाः॥१२९॥
 अथ शय्यातरं प्राहुः सूरयोऽवितथं वचः। कर्मबन्धनिषेधाय यास्यामो वयमन्यतः॥१३०॥
 त्वया कथ्यममीषां च प्रियकर्कशवाग्भरैः। शिक्षयित्वा विशालायां प्रशिष्यान्ते ययौ गुरुः॥१३१॥
 इत्युक्त्वाऽगात् प्रभुस्तत्र तद्दिनेयाः प्रगे ततः। अपश्यन्तो गुरुनूनुः परम्परमवाङ्मुखाः॥१३२॥
 एष शय्यातरः पूज्यशुद्धिं जानाति निश्चितम्। एष दुर्विनयोऽस्माकं शाखाभिर्विस्तृतोऽधुना॥१३३॥

पृष्टस्तैः स यथौचित्यमुक्त्वोवाच प्रभुस्थितिम्। ततस्ते संचरन्ति स्मोज्जयिनीं प्रति वेगतः॥134॥
 गच्छन्तोऽध्वनि लोकैश्चानुयुक्ता अवदन् मृषा। पश्चादग्रस्थिता अग्रे पश्चात्स्थाः प्रभवो ननु॥135॥
 यान्तस्तन्नामशृङ्गारात् पथि लोकेन पूजिताः। नारी-सेवक-शिष्याणामवज्ञा स्वामिनं विना॥136॥
 इतः श्रीकालकः सूरिर्वस्त्रवेष्टितरत्नवत्। यत्याश्रये विशालायां प्राविशच्छन्नदीधितिः॥137॥
 प्रशिष्यः सागरः सूरिस्तत्र व्याख्याति चागमम्। तेन नो विनयः सूरैरभ्युत्थानादिको दधे॥138॥
 तत ईर्यां प्रतिक्रम्य कोणे कुत्रापि निर्जने। परमेष्ठिपरावर्तं कुर्वन्तस्थावसंगधीः॥139॥
 देशनानन्तरं धाम्यस्तत्रत्यः सूरिराह च। किञ्चित्तपोनिधे जीर्ण! पृच्छ सन्देहमादृतः॥140॥
 अकिञ्चिज्ज्ञो जरत्त्वेन नावगच्छामि ते वचः। तथापि पृच्छ येनाहं संशयापगमक्षमः॥141॥
 अष्टपुष्पीमथो पृष्टो दुर्गमां सुगमामिव। गर्वाद् यत्किञ्चन व्याख्यादनादरपरायणः॥142॥
 दिनैः कैश्चित्ततो गच्छ आगच्छत् तदुपाश्रयम्। सूरिणाऽभ्युत्थितोऽवादीद् गुरवोऽग्रे समाययुः॥143॥
 वास्तव्या अवदन् वृद्धं विनैकं कोऽपि नाययौ। तेष्वगच्छत्सु गच्छोऽभ्युदस्थात् सूरिश्च सत्रपः॥144॥
 गुरूनक्षमयद् गच्छः पल्लानः सूरिरप्यमून्। तं च तं चानुशिष्यैते सूरिमित्थमबोधयन्॥145॥
 सिकतासंभृतः प्रस्थः स्थाने स्थाने विरेचितः। रिक्ते तत्रावदद् वत्स! दृष्टान्तं विद्धयमूदुशम्॥146॥
 श्रीसुधर्मा ततो जम्बूः श्रुतकेवलिनस्ततः। षट्स्थाने पतितास्ते च श्रुते न्यूनत्वमाययुः॥147॥
 ततोऽप्यनुप्रवृत्तेषु न्यूनं न्यूनतरं श्रुतम्। अस्मद्गुरुषु यादृक्षं तादृग् न मयि निष्प्रभे॥148॥
 यादृग्मे त्वद्गुरोस्तन्न यादृक् तस्य न तेऽस्ति तत्। सर्वथा मा कृथा वत्स! गर्वं सर्वकषं ततः॥149॥
 अष्टपुष्पीं च तत्पृष्टः प्रभुर्व्याख्यानयत् तदा। अहिंसासूनुतास्तेयब्रह्माकिञ्चनता तथा॥150॥
 रागद्वेषपरीहारो धर्मध्यानं च सप्तमम्। शुक्लध्यानमष्टमं च पुष्पैरात्मार्वनाच्छिवम्॥151॥
 एवं च शिक्षयित्वा तं मार्दवातिशये स्थितम्। आपृच्छ्य व्यचरत् संगहीनोऽन्यत्र पवित्रधीः॥152॥
 श्रीसीमंधरतीर्थेशनिगोदाख्यानपूर्वतः। इन्द्रप्रश्नादिकं ज्ञेयमार्यरक्षितकक्षया॥153॥
 श्रीजैनशासनक्षोणीसमुद्धारादिकच्छपः। श्रीकालकप्रभुः प्रायात् प्रायादेवभुवं शमी॥154॥

श्रीमत्कालकसूरिसंयमनिधेर्वृत्तं प्रवृत्तं श्रुतात्

श्रुत्वात्मीयगुरोर्मुखादवितथख्यातप्रभावोदयम्।

संदृढ्यं मयका तमस्ततिहरं श्रेयःश्रिये जायताम्

श्रीसंघस्य पठन्तु तच्च विबुधा नन्द्याच्च कोटीः समाः॥155॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा॥

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीकालकाख्यानकं

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शृंगश्चतुर्थोऽभवत्॥156॥

॥ इति श्रीकालकाचार्यप्रबंधः ॥



श्रीपावल्लिप्तसूरचरितम्

1. जयन्ति पादलिप्तस्य प्रभोश्चरणरेणवः। श्रियः संवनं वश्यचूर्णं तत्प्रणतांगिनाम्॥१॥
 गुणैकदेशमप्यस्य किमहं वर्णितुं क्षमः। जडस्तथापि तद्भक्तिलोकयुग्मोपकारिणी॥२॥
 विमृश्यैवं भणिष्यामि पूज्यैर्मस्तकहस्तितः। खण्डखण्डश्रुतं वृत्तं चित्रं शृणुत कौतुकात्॥३॥
 सरयू-जाह्नवीवारिसेवाहेवाकिमानवा। अस्ति विस्तारकुशला कोशला नामतः पुरी॥४॥
 तत्रासीद् हास्तिकाश्वीया पहस्तितरिपुत्रजः। विजयब्रह्म इत्याख्याविख्यातः क्षितिनायकः॥५॥
 संफुल्लमल्लिकावल्लीकुसुमप्रोल्लसद्यशाः। फुल्लाख्यः फुल्ललक्ष्मीकः श्रेष्ठी श्रेष्ठगुणावनिः॥६॥
 रूपेणाप्रतिमा तस्य प्रतिमाख्याऽतिवल्लभा। सुधा मुधाकृता यस्या गिरयाऽगाद् रसातलम्॥७॥
 अपत्यीयितचित्तायास्तस्या हस्तनिरीक्षणम्। होराविद्यामहामंत्रावन्ध्यागर्भकारण्यपि॥८॥
 औषधानि प्रयुक्तानि क्षेत्रप्रदादिदेवताः। उपयाचितलक्षैश्चाराद्धा आसंश्च निष्कलाः॥९॥-युग्मम्।
 तीर्थस्नानप्रयोगाश्च यथाकथनतः कृताः। अपत्यार्थमहो! मोहः स्त्रीणां सौहृत्यवज्जने॥१०॥
 अस्ति श्रीपार्श्वनाथस्य चैत्ये शासनदेवता। वैरोद्या तामटाद्या या निर्विण्णा सा समाश्रयत्॥११॥
 कर्पूरमृगनाभ्यादिभोगैः संपूज्य तामसौ। उपवासैर्व्यधादष्टाद्विकामेकाग्रमानसा॥१२॥
 अष्टमेऽहनि तुष्टा सा प्रत्यक्षीभूय तां जगौ। वरं वृणु तया पुत्रो ययाचे कुलदीपकः॥१३॥
 अथो फणीन्द्रकान्ताऽसावादिदेश सुते। शृणु। पुरा नमि-विनय्याख्यविद्याधरवरान्वये॥१४॥
 आसीत् कालिकसूरिः श्रीश्रुताम्भोनिधिपारगः। गच्छे विद्याधराख्यस्यार्चनागहस्तिसूरयः॥१५॥
 खेलादिलब्धिसम्पन्नाः सन्ति त्रिभुवनाचिताः। पुत्रमिच्छसि चेत्तेषां पादशौचजलं पिबेः॥१६॥
 -त्रिभिर्विशेषकम्।

श्रुत्वेति चैत्यतः प्रातस्तेषामागादुपाश्रये। प्रविशन्ती च साऽपश्यत् साधुमेकं तदस्थितम्॥१७॥
 करस्थप्रभुपादाब्जक्षालनोदकपात्रकम्। तत्पार्श्वे प्रार्थनापूर्वं तत्पयः साऽपिबन्मुदा॥१८॥-युग्मम्।
 अथ तत्रागतो गत्वा नमश्चक्रे प्रभोः पदौ। धर्मलाभाशिषं दत्वा निमित्तं चाह सद्गुरुः॥१९॥
 अस्मत्तो दशभिर्हस्तैर्दूरे पीतं त्वयोदकम्। दशभिर्योजनैरन्तरितो वर्धिष्यते सुतः॥२०॥
 यमुनापरतीरेऽत्र मथुरायां प्रभावभूः। भविष्यन्ति तथान्ये ते नवपुत्रा महाद्युतः॥२१॥
 साहाय प्रथमः पुत्रो भवतामर्पितो मया। अस्तु श्रीपूज्यपार्श्वस्थो दूरस्थस्यास्य को गुणः॥२२॥
 श्रुत्वेत्याह प्रभुः संचानन्तोद्गारादिशूकरः। स भविष्यति ते पुत्रः सुत्रामसचिवो धिया॥२३॥
 इत्यादाय प्रभोर्वक्त्रं शकुनग्रन्थिबन्धिनी। गृहं ययौ गृहेशस्य तुष्टा वृत्तं न्यवेदयत्॥२४॥
 गर्भोऽभूत् तद्दिनेऽमुष्या नागेन्द्रस्वप्नसूचितः। तदौचित्यकृतश्चास्या वृद्धः सार्धं मनोरथैः॥२५॥
 दिनेषु परिपूर्णेषु सुतो जज्ञे सुलक्षणः। रूपेणातिस्मरः श्रीमांस्तेजसा चातिभानुमान्॥२६॥
 वैरोद्यायास्ततः पूजां कृत्वा तत्पादयोः पुरः। न्यस्यातो गुरुपादान्ते मुक्तस्तेषां तथापितः॥२७॥
 वर्द्धतामस्मदायत्त इति प्रत्यर्पितः स तैः। प्रवर्धितोऽतिवात्सल्यात् तथा तद्गुरौरवात्॥२८॥
 नागेन्द्राख्यां ददौ तस्मै फुल्ल उत्फुल्ललोचनः। आतो गुरुभिरागत्य स गर्भाष्टमवार्षिकः॥२९॥

तद्वरुभ्रातरः सन्ति संगमसिंहसूरयः। आदेशं प्रददुस्तेषां प्रभवः शुभमायतौ॥30॥
प्रवज्यां प्रददुस्तस्य शुभे लग्ने स्वरोदये। उपादानं गुरोर्हस्तं शिष्यस्य प्राभवेन तु॥31॥
गणिश्च मण्डनो नाम तदीयगगमण्डनः। आदिष्टः प्रभुभिस्तस्य शुश्रूषाध्यापनादिषु॥32॥
वैदग्ध्यातिशयादन्यपाठकानां पुरोऽपि यत्। ख्यातं तदपि गृह्णाति स्वपाठ्येषु तु का कथा॥33॥
लसल्लक्षण-साहित्य-प्रमाण-समयादिभिः। शास्त्रैरनुपमो जज्ञे विज्ञेशो वर्षमध्यतः॥34॥
गुणैरुत्तमतां प्राप्य नृषु प्रथमरेखया। धूनन्नवनवाविश्वलक्षणेभ्योऽधिकस्ततः॥35॥

2. अन्येद्युरारनालाय प्रहितो गुरुभिस्तदा। विधिना तत् समादायोपाश्रये पुनराययौ॥36॥
तदीयापथिकीपूर्वमालोचयदनाकुलः। गाथया कोविदश्रेणीहृदयोन्माथया ततः॥37॥

तथा हि-

अंबं तंबच्छीए अपुष्कियं पुष्कवंतंपतीए।

नवसालिकंजियं नववहूइ कुडएण मे विन्नं॥38॥

श्रुत्वेतिगुरुभिः प्राक्तः शब्देन प्राकृतेन सः। पलित्तो इति शृंगाराग्निप्रदीप्ताभिधायिना॥39॥
स च व्यजिज्ञपत् पूज्यैः शिष्यः कर्णात्प्रसाद्यताम्। श्रुत्वेति प्रज्ञया तस्य तुतुषुर्गुर्वो भृशम्॥40॥
विमृश्येत्यतिहृल्लासपूरितास्ते तदग्रतः। पावलित्तो भवान् व्योमयानसिद्धया विभूषितः॥41॥
इत्यसौ दशमे वर्षे गुरुभिर्गुरुगौरवात्। प्रत्यष्टाप्यत पट्टे स्वे कषपट्टे प्रभावताम्॥42॥
मथुरायां गुरुः प्रौढीदसंख्यातिशयाश्रयम्। तेजोविस्तारसंधोपकारहेतोस्तमन्यदा॥43॥

3. दिनानि कतिचित् तत्र स्थित्वाऽसौ पाटलीपुरे। जगाम तत्र राजास्ति मुरण्डो नाम विश्रुतः॥44॥
केनापि तस्य चित्रायसूत्रग्रथितवृत्तकः। गूढवक्त्रमिलित्तन्तुचयाज्ञातावसानकः॥45॥
दौकितः कन्दुकः पादलिप्तस्य च गुरोः पुरः। राज्ञा प्राहीयत प्रज्ञापरीक्षावीक्षणोद्यमात्॥46॥-युग्मम्।
अथोत्पन्नधिया सूरिर्विलाल्योष्णोदकाप्लवैः। सिक्ककं निपुणं प्रेक्ष्य तत्तन्तुप्रान्तमाप सः॥47॥
उन्मोच्य प्रहितो राज्ञे तदबुद्ध्यासौ चमत्कृतः। प्रज्ञाविज्ञाततत्त्वाभिः कलाभिः को न गृह्यते॥48॥
तथा गंगातरोर्यष्टिः समा श्लक्ष्णा समर्पिता। तन्मूलाग्रपरिज्ञानहेतवे स्वामिना भुवः॥49॥
तारयित्वा जले मूले गुरुत्वात् तन्निभज्जनात्। अग्र-मूले परिज्ञायाचख्यौ राज्ञः पुरस्ततः॥50॥
तथा समुद्रकोऽनीक्ष्यसन्धिः सूरैः प्रदर्शितः। उष्णोदकात् समुद्घादय तच्चित्रं प्रकटीकृतम्॥51॥
श्रीपादलिप्ताचार्येण तन्तुग्रथिततुम्बकम्। पेशीकोशायितं वृत्तं प्रहितं राजपर्षदि॥52॥
उन्मोचितं न तत् तत्र केनापि मुमुचे ततः। तद्गुप्तं तेन मोच्येत नान्यैरित्यभिभाषिभिः॥53॥
भूपाहतः स आगत्योज्जग्रन्थ च यतीश्वरः। मुरण्डनृपतिस्तत्राक्षिप्तश्चिन्तयते तदा॥54॥
बालाचार्योऽयमीदृक्षैः खेलनीयः कुहेतुभिः। दध्यावहमयं किंत्वधृष्यः केसरिवच्छिशुः॥55॥
'वयस्तेजसि नो हेतु' रिति सत्यं पुरा वचः। को हि सिंहार्भकं सत्रेऽणुरूपमपि लंघरेत्॥56॥
शिरोवेदनयाक्रान्तः सोऽन्यदा भूपतिः प्रभुम्। व्यजिज्ञपत् प्रधानेभ्यः क्षुते नष्टे स्मृती रवेः॥57॥
तर्जनीं प्रभुरप्येष त्रिः स्वजानावचालयत्। भूपतेर्वेदना शान्ता तस्य किं दुष्करं प्रभोः॥58॥

तथा हि-

जह जह पएसिणिं जाणुयंमि पालित्तउ भमाडेइ।

तह तह से सिरविथणा पणस्तई मुरण्डरायस्स॥59॥

मंत्ररूपाभिमां गाथां पठन् यस्य शिरः स्पृशेत्। शाम्येत वेदना तस्याद्यापि मूर्ध्नोऽतिदुर्धरा॥60॥
स तत्कालोपकारेण हतान्तःकरणो नृपः। सूरैर्बालस्य पादानां प्रणामेच्छू रवेरिव॥61॥
समाययौ ययौ श्रेष्ठे द्रागारुह्य तदाश्रयम्। सकर्णः को न गृह्येत गुणैः सत्यैर्लघोरपि॥62॥-युग्मम्।

4. प्रभोरुपान्तमासीनो रहः पप्रच्छ भूपतिः। भृत्याः कृत्यानि नः कुर्युर्वेतनस्यानुसारतः॥63॥
तद्विनामी विनेयाश्च युष्माकं तु कथं विभो॥ भिक्षैकवृत्तिमात्राणां ते कार्यकरणोद्यताः॥64॥-युग्मम्।
सूरयः प्राहुरस्माकं विना दानं सदोद्यताः। कार्याणि भूपः कुर्वन्ति लोकद्वयहितेच्छया॥65॥
भूपः प्राह न मन्येऽहं द्रव्यस्था हि जनस्थितिः। निःस्वस्त्याज्यः पुमाल्लोकेऽरण्यं दग्धं मृगैरिव॥66॥
अथाह सूरिरुर्वीशः। त्वद्भृत्या बहुवृत्तयः। तादृगुक्तं न कुर्वन्ति यादृङ् मे दानमन्तरा॥67॥
इहार्थं प्रत्ययो भूपः। कौतुकादवलोक्यताम्। दक्षः शुचिर्गुणी कश्चित् प्रतिष्ठां प्रापितः सदा॥68॥
ताम्बूलाभरणक्षौभैरात्मतुल्यः सदेक्षितः। विश्वासस्य परा भूमिर्मृत्यन्तरमिवापरम्॥69॥
आहूयतां पुमान् पृष्ठः सौष्ठवी कोऽपि भृत्यराट्। यथा प्रतीतिसम्पत्तिर्महाक्यस्य भवेत्ततः॥70॥

-त्रिभिर्विशेषकम्॥

क्षत्राक्षत्रपतिस्तत्राहृतवान् प्राग्गुणान्वितम्। प्रधानमाजगामाय मूर्धन्यस्तकरद्वयः॥71॥
स प्रोवाच प्रसादं मे स्वामिन्। आदेशतः कुरु। सुदुष्करतरेऽप्यर्थे भृत्यलेशे निजे मयि॥72॥
राजा प्राह-'सखे। गंगा वहतीह कुतोमुखी?' इत्युक्तेऽन्तःस्मितः सोपहासं चिन्तयति स्म सः॥73॥
अहो! बालर्षिसंसर्गाद् राज्ञः शैशवमागतम्। 'गंगा कुतोमुखी?' बालांगनाख्यातमिदं वचः॥74॥
ततः प्रमाणमादेश इत्युक्त्वा स ययौ बहिः। ऐश्वर्यग्रहिलो राजा नाहमप्यस्मि तादृशः॥75॥
फल्गुवाग्भिस्ततः स्वीयं सुखं परिहरामि किम्। ध्यात्वेति व्यसनी तत्र प्रायः प्रायाद् दुरोदरे॥76॥
खेलन्निर्वाह्यं तत्रासौ चतस्रः पञ्च नाडिकाः। गत्वा स्वामिपुरः 'पूर्वामुखी' त्युत्तरमाह सः॥77॥
अपसर्प्यैः प्रसर्प्यदिभस्तद्वृत्तं भूपतेः पुरः। न्यवेद्यथ यतिस्वामी स्मितं कृत्वाऽप्यधादिति॥78॥
भूपाल! चेष्टितं दृष्टं धनमानातिशायिनः। निजप्रसादवित्तस्यापरेषां तु कथापि का॥79॥
अद्यश्वीनविनेयस्याशिक्षितस्य व्यवस्थितिम्। पश्य नश्यन्मदस्येह चित्तान्तश्चित्रकारिणीम्॥80॥
आगच्छाभिनवक्षुल्ल! व्याहृते चेति सूरिभिः। इच्छामीति वदन् शीघ्रमुत्तस्थौ सरजोद्धतिः॥81॥
विनयानम्रमौलिश्च मेदिनीं प्रतिलेखयन्। पुर आगाद् गुरोर्जानू भुव्यास्ये न्यस्य पोतिकां॥82॥
प्रभो! ऽनुशास्तिमिच्छामीत्युक्ते तेनावदत् प्रभुः। 'गंगा कुतोमुखी वत्स! वहत्या' ख्याहि निर्णयम्॥83॥
तदा चावश्यकीपूर्व निर्गच्छन्नाश्रयाद् बहिः। विन्यस्य कम्बलं स्कन्धे कृत्वा दण्डं करे निरैत्॥84॥
प्रश्नानुविततां जानन् बालवृद्धयुवस्त्रियाम्। अपृच्छन् मध्यवयसं प्रवीणं पुरुषं ततः॥85॥
'गंगा कुतोमुखी?' 'पूर्वामुखी' ति प्रापितोत्तरः। तेनेति त्रिःकृते प्रश्ने सर्वत्रासीत् समोत्तरः॥86॥
तथापि निश्चिकीर्षुः स स्वर्धुनीजलसन्निधौ। प्रत्युपेक्ष्य ततो दण्डं करस्थितं तदग्रकः॥87॥
जलान्तरेऽमुचत् तं च श्रोतसाऽतिरयात् ततः। प्राग्वाहिते करे दण्डसहिते प्रत्ययं ययौ॥88॥-युग्मम्।
आगत्याश्रयमत्रेर्यापथिकीपूर्वकं ततः। आलोचयद् यथावृत्तं प्रवृत्तश्च स्वकर्मणि॥89॥
उक्तं च 'श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणभाष्यकारेण-

निवपुच्छिण भणिओ गुरुणा गंगा कुओमुही वहइ।

संपाडयवं सीसो जह तह सव्वत्थ कायव्वं॥90॥

प्राग्वच्चारैर्यथाख्याते सत्य एव निवेदिते। प्रतीतः प्राह भूपालस्त्वद्भुतं हि कथातिगम्॥91॥
इति प्रभुकृतैश्चित्रैः सर्वलोकोपकारकैः। नृपो बिभ्रच्चमत्कारं कालं यान्तं न बुध्यते॥92॥
अन्यदा मथुरायां स सूरिर्गत्वा महायशाः। श्रीसुपार्श्वजिनस्तूपेऽनमत् श्रीपार्श्वमञ्जसा॥93॥

5. ततोऽसौ लाट्देशान्तश्चोकाराख्यपुरे प्रभुः। आगतः स्वागतान्यस्य तत्राधाद् भीमभूपतिः॥94॥
शरीरस्थस्य बाल्यस्य माहात्म्यं वितरन्निव। स क्रीडत्यन्यदा डिम्भैर्विजने विश्ववत्सलः॥95॥

भरेण रमते यावत् श्रावकास्तावदाययुः। देशान्तराद् तदाकुण्ठोत्कण्ठास्तद्वन्दनोत्सुकाः॥११६॥
 कलौ युगप्रधानस्य पादलिप्तप्रभोः कुतः। उपाश्रयोऽस्ति शिष्याभं पप्रच्छश्च तमेव ते॥११७॥
 तत्रोत्पन्नमतिः सूरिदूरधमणहेतुभिः। प्रकटैस्तदधिज्ञानैस्तेषामकथयत् तदा॥११८॥
 स्वयं पटीं च प्रावृत्य संवृत्याकारमात्मनः। आचार्यासन्नुपाविक्ष(श)द् दक्षः स क्षिप्रमुन्नेत॥११९॥
 श्राद्धाश्च तावदाजगमुः प्रणेमुस्तिभक्तितः। क्रीडन् दृष्टः स एवायं तैरुपालक्षि दाक्षयतः॥१२०॥
 विद्या-श्रुत-वयोवृद्धसदृशीं धर्मदेशनाम्। विधाय तत्पुरोऽवादीत् तद्विकल्पापलापकृत्॥१२१॥
 अवकाशः शिशुत्वस्य दातव्यश्चिरसंगतेः। इति सत्यवचोभंग्या जहृषुस्ते शिशुप्रभोः॥१२२॥
 गते विहर्तुमन्येद्युः प्रौढसाधुकदम्बकैः। विजने स ययौ रथ्यां गच्छत्सु शकटेषु च॥१२३॥
 कुर्वन् मक्कटकीक्रीडां पृष्टः पूर्ववदाश्रयम्। परप्रवादिभिर्दूरदेशेनैषामुदाहरत्॥१२४॥
 चिरेणायान्ति यावत् ते सम्पन्नातिभ्रमश्रमाः। गुरुः सिंहासने तावत् सुष्यापासौ पटीवृत्तः॥१२५॥
 ताम्रचूडस्वरश्चक्रे तैः प्रातः क्षणशंसकः। ओतुस्वरं ततोऽधासीत् सूरिस्तत्परिपन्थिनम्॥१२६॥
 तेषां द्वारमपावृत्य तस्थौ सिंहासने प्रभुः। तस्य ते विस्मयस्मेरा ददृशुर्मूर्तिमद्भुताम्॥१२७॥
 तर्कोक्तिभिर्जितास्ते च प्रश्नमेकं च गाथया। एतज्जिगीषवः सन्तो विदधुर्दुर्घटं तदा॥१२८॥

तथा हि-

पालितय! कहसु फुडु सयलं महिमंडलं भमतेण।

विदो सुओ य कथ वि चवणरससीयलो अग्गी॥१२९॥

सूरिः श्रीपादलिप्तोऽपि तत्क्षणं प्राह गाथया। उत्तरं द्राग् विलम्बो हि प्रज्ञा-बलवतां कुतः॥१३०॥

सा च-

अयसाभिओग संवुभियस्स पुरिसस्स सुद्धहिययस्स।

होइ वहन्तस्स फुडं चवणरससीअलो अग्गी॥१३१॥

इत्युत्तरेण ते सूरैर्मुदमापुर्जिता अपि। पराजयोऽपि सत्पात्रैः कृतो महिमभूर्भवेत्॥१३२॥
 ततः संघेन विज्ञप्ते सद्गुणेषु प्रमोदिना। शत्रुजयगिरौ यात्रां पादलिप्तप्रभुर्व्यधात्॥१३३॥

6. मानखेटपुरं प्राप्ताः कृष्णभूपालरक्षितम्। प्रभवः पादलिप्ताख्या राजाभ्यर्च्यत भक्तितः॥१३४॥
 तत्र पांशुपुरात् प्राप्ताः श्रीरुद्रदेवसूरयः। ते चावबुद्धतत्त्वार्थाः श्रीयोनिप्राभृते श्रुते॥१३५॥
 अन्येद्युर्निजशिष्याणां पुरस्तस्माच्च शास्त्रतः। व्याख्याता शफरोत्पत्तिः पापसन्तापसाधिका॥१३६॥
 सा कैवर्तेन कुड्यान्तरितेन प्रकटं श्रुता। अनावृष्टिस्तदा चासीत् विश्वलोकभयंकरी॥१३७॥
 मीनानुत्पत्तिरत्रासीत् तत्र श्रौतप्रयोगतः। मत्स्यान् कृत्वा बहूनेषोऽजीवयद् बन्धुमण्डलम्॥१३८॥
 कदापि हर्षतस्तत्र प्रभूपकृतिरिज्जितः। आययौ धीवरो भक्त्या नत्वा च प्रोचिवानिति॥१३९॥
 युष्मत्कथितयोगेनादानो मीनान् व्यधामहम्। स्वादित्वा तांश्च दुर्भिक्षे कुटुम्बं निरवाहयम्॥१४०॥
 श्रुत्वेति सूरयः पश्चादतप्यन्त कृतं हि किम्। यतो वधोपदेशेनास्माभिः कल्मषमर्जितम्॥१४१॥
 जीवन् जीववधात् पापमयं बह्वर्जयिष्यति। तस्मात् किमपि तत्कार्यं येनाधत्ते न स स्वयम्॥१४२॥
 इति ध्यात्वोचिवान् सूरिर्निष्पत्तौ रत्नसन्ततेः। प्रयोगं शृणु दारिद्र्यं कदापि न भवेद् यथा॥१४३॥
 स च स्फुरति नो मांसाशन-जीवविघातयोः। विधीयमानयोस्तत् त्वममू वर्जयसे यदि॥१४४॥
 कथयामि तदा तत् ते श्रुत्वेत्याहेदमप्यहम्। जाने जीववधात् पापं कुटुम्बं तु न वर्तते॥१४५॥
 नाथ! प्रसादतश्चेत् ते विना पापं धनं भवेत्। सदतिः प्रेत्य तन्मे स्यात् प्रमाणं पूज्यवाक् ततः॥१४६॥
 अतःपरं गृहे गोत्रे न मे पिशितभक्षणम्। इत्युक्ते रत्नयोगस्तैरुक्तः सोऽभूच्च धार्मिकः॥१४७॥

तथा केचिदिति वदन्ति-

7. शिक्षितः सिंहयोगं च चक्रे तं तेन भक्षितः। यतोऽल्पदोषतः पुण्यं बहु किं न समर्ज्यते॥१४८॥

तथा-

विलासनगरे पूर्वं प्रजापतिरभूत् ततः। तत्र श्रमणसिंहाख्याः सूरयश्च समाययुः॥129॥
तानाहूय नृपाः प्राह चित्रं किमपि दर्शयताम्। सूरयः सप्राहुरकस्य कोऽपि वेत्तीह संक्रमम्॥130॥
भूपतिः सिद्धदैवज्ञानाहूय वदति स्म सः। रविसंक्रातिसमयमाख्यातास्मत्पुरःसरम्॥131॥
नाडिकापलसङ्ख्याभिस्तं स्फुटं वीक्ष्य तेऽब्रुवन्। आचार्याः स्माहुरेकोऽश्मा ससूरिनः समर्प्यताम्॥132॥
सांवत्सरस्य च ततो नृपस्तदकरोदरम्। सूरिस्तं समयं सूक्ष्मं ज्ञात्वाऽश्मन्यक्षिपच्च ताम्॥133॥
उवाच सूचिकामेनां मौहूर्तिक! विनिःकषः। संक्रान्तिसमये यस्मात् सर्वं जलमयं भवेत्॥134॥
गणकोऽपि ततः प्राह ज्ञानं मे नेयतीदृशम्। प्राप्तं तत्सूरिविज्ञानं दृष्ट्वा भूपो विसिष्ण्वि॥135॥
एकदा सूरयो राज्ञा पृष्टा वृष्टिविधौ पुनः। विचिन्त्य कथयिष्यामः प्रोच्येति स्वाश्रये ययुः॥136॥
तैर्देवेन्द्राभिधः शिष्यः प्रैक्ष्यत क्षितिपाग्रतः। कथ्यं किञ्चिद् विसंवादि यथासौ स्यादनादरः॥137॥
इति तच्छिक्षितः प्राज्ञो ययौ तत्र जगौ च सः। उत्तरस्या दिशो वृष्टिरमुतः पञ्चमेऽहनि॥138॥
संजज्ञे वर्धणं पूर्वदिशस्तत्र दिने स्फुटम्। दिग्विसंवादतो राजा किञ्चिन्मन्दादरोऽभवत्॥139॥
कर्मबन्धनिषेधाय तदुपेत्य कृतं च तैः। अभीक्ष्णं राजकार्याणां कथनं कल्मषावहम्॥140॥
मानखेटपुरं प्रापुस्तेऽथ कालेन केनचित्। निमित्तग्रन्थनिष्णाता राज्ञा ज्ञाताः कलावशात्॥141॥

8. अथार्यखपुटाः सन्ति विद्याप्राभृतसंभृताः। तद्वत्तमिह जैनेन्द्रमतोल्लासि प्रतन्यते॥142॥

तद्यथा-

विन्ध्योदधिकृताघाटलाटदेशललाटिका। पुरं श्रीभृगुकच्छाख्यमस्ति रेवापवित्रितम्॥143॥
यानपात्रं भवाम्भोधौ यत्र श्रीमुनिसुव्रतः। पातकातंकतः पाति स्वर्भुवोभूर्भवं जनम्॥144॥
तत्रास्ति बलमिश्राख्यो राजा बलभिदा समः। कालिकाचार्यजामेयः स्थेयः श्रेयधियां निधिः॥145॥
भवाम्भोनीनभव्यानां सन्ति विश्रामभूमयः। तत्रार्यखपुटा नाम सूरयो विद्ययोदिताः॥146॥
तेषां च भागिनेयोऽस्ति विनेयो भुवनाभिधः। कर्णश्रुत्याप्यसौ प्राज्ञो विद्या जग्राह सर्वतः॥147॥
बौद्धान् वादे पराजित्य यैस्तीर्थं संघसाक्षिकम्। तद्ग्रहध्वान्ततो भानुप्रतिरूपैरमोच्यत॥148॥
तदा च सौगताचार्य एको बड्डकराभिधः। गुडशस्त्रपुरात् प्राप्तो जिगीषुर्जैनशासनम्॥149॥
गुडपिण्डैः पुरा तत्र शत्रुसैन्यमभ्यजत। गुडशस्त्रमिति ख्यातिरतोऽस्याजनि विश्रुता॥150॥
सर्वानित्यप्रवादी स चतुरंगसभापुरः। जैनाचार्यस्य शिष्येण जितः स्याद्वादवादिना॥151॥
कांदिशीकस्ततो मन्युपूरपूरितमानसः। कोपादनशनं कृत्वा मृत्वा यक्षो बभूव सः॥152॥
निजस्थानेऽवतीर्यासौ सकोपः श्वेतभिक्षुषु। अवजानाति तांस्तेषामुपसर्गान् दधाति च॥153॥
तत्पुरस्थेन संघेन तदार्यखपुटप्रभुः। तत्र वतिद्वयं प्रेष्य ज्ञापितस्तत्पराभवम्॥154॥
एषा कपलिका वत्स! नोन्मोच्या कौतुकादपि। कदापि शिक्षयित्वेति जामेयमचलत् ततः॥155॥
पुरे तत्र गतस्तस्य यक्षस्यायतनेऽवसत्। उपानहौ निधायास्य कर्णयोः शयनं व्यधात्॥156॥
यक्षार्चकः समायातस्तं तथा वीक्ष्य भूपतेः। व्यजिज्ञपदथो तस्मै कुपितः कुपतिस्ततः॥157॥
समेत्य शयितं बाढं पटं प्रावृत्य सर्वतः। निजैरुत्थापयामास तेऽद्राक्षुः परितः पुतौ॥158॥
तैराख्याते पुनः क्रुद्धो नृपस्तं लेष्टुयष्टिभिः। अघातयत् स घातानां प्रवृत्तिमपि वेत्ति न॥159॥
क्षणेन तुमुलो जज्ञे पुरेऽप्यन्तःपुरेऽपि च। पूत्कुर्वन्तः समाजग्मुः सौविदा अवदन्तथा॥160॥
रक्ष रक्ष प्रभो! न्यक्षः शुद्धान्तो लेष्टुयष्टिभिः। अदृष्टविहितैः कैश्चित् प्रहारैर्जर्जरीकृतः॥161॥
तदाकर्ण्य नृपो दध्यौ विद्यासिद्धोऽसकौ ध्रुवम्। संचारयति शुद्धान्ते प्रहारान् स्वं तु रक्षति॥162॥

तदयं माननीयो मे ध्यात्वेति तमसान्वयत्। चटुभिः पटुभिर्भूपः साधिष्ठायकदेववत्॥163॥
अथार्यखपुटाचार्यः कृत्वा कपटनाटकम्। उत्थितः प्रणतो भूमिभुजा भूयस्तमस्तकम्॥164॥
यक्षं प्रोचे मया सार्द्धं चलेति स ततोऽचलत्। तमनुप्राचलन् देवरूपकाण्यपराण्यपि॥165॥
चाल्यं नरसहस्रेण तत्र द्रोणीद्वयं तथा। चालितं कौतुकेनेत्थं तत्प्रवेशोत्सवोऽभवत्॥166॥
तत्प्रभावाद्भुतं वीक्ष्य जनेशोऽपि जनोऽपि च। जिनशासनभक्तोऽभून्महिमानं च निर्ममे॥167॥
सूरिर्नृपेण विज्ञप्तो यक्षं स्थाने न्ययोजयत्। स शान्तो द्रोणियुगलं तत्रैव स्थापितं पुनः॥168॥

9. इतश्च श्रीभृगुक्षेत्रात् यतिद्वितयमागमत्। तेन प्रोचे प्रभो! प्रैषीत् संघो नौ भवदन्तिके॥169॥
स्वस्त्रीयः स विनेयो वः बलात् कपलिकां ततः। उन्मोच्य पत्रमेकं सोऽवाचयद्वारितप्रियः॥170॥
तत्राकृष्टिर्महाविद्या पाठसिद्धाऽस्य संगता। तत्प्रभावाद् वराहारमानीय स्वादतेतराम्॥171॥
स्थविरैः शिक्षितः कोपात् सौगतान्तः स्वयं गतः। अतीव भोजने गृद्धः स्वविद्यागर्वनिर्भरः॥172॥
तत्प्रभावेण पात्राणि गतानि गगनाध्वना। भोज्यपूर्वान्युपायान्ति बौद्धोपासकवेश्मतः॥173॥
पात्राणां पुरतः श्राद्धगृहे याति पतद्गृहः। स प्रधानासने न्यस्य ध्रियते सह पात्रकैः॥174॥
प्रातिहार्यमिदं दृष्ट्वा श्राद्धा अपि तदादृताः। ततोऽपभ्राजनामेतां हरताण्य वेगतः॥175॥
गुडशस्त्रपुरात् ते च भृगुकच्छं समाग्रयुः। भुवनेन च पात्राणि प्रैष्यन्त श्राद्धवेश्मनि॥176॥
पूर्णानि तानि भोज्यानामायान्ति गगनाध्वना। गुरुभिः कृतयाऽदृश्यशिलया व्योम्नि पुष्कुटुः॥177॥
स प्रभूनागतान् ज्ञात्वा चिह्नेनानेन भीतिभृत्। प्राणेशदथ पूज्याश्च बौद्धानामालये ययुः॥178॥
बौद्धेर्बुद्धनतावुक्तैः सूरिभिर्जल्पितं तथा। वत्स शुद्धोदनसुत! वन्दस्वाभ्यागतं हि माम्॥179॥
प्रतिमास्थस्ततो बुद्ध आगत्याहिपुरोऽपतत्। तद्द्वारे चास्ति बुद्धाङ्गः प्रोक्तस्तैः स पदोः पतत्॥180॥
समेत्य प्रणतः सोऽपि प्रभुपादाम्बुजद्वये। उत्तिष्ठेति गिरा सूरेशोऽर्द्धावनतः स्थितः॥181॥
अद्यापि स तथैवास्ति 'निर्ग्रन्थनमिता'भिधः। बुद्धस्थाने तदादेशादेकपार्श्वेन तु स्थितः॥182॥

10. अथो महेन्द्रनामाऽस्ति शिष्यस्तेषां प्रभावभूः। सिद्धप्राभृतनिष्णातस्तद्वत् प्रस्तुवीमहि॥183॥
नगरो पाटलीपुत्रं वृत्रारिपुरसप्रभम्। वाहडो नाम राजाऽत्र मिथ्यादृष्टिर्निकृष्टधीः॥184॥
दर्शनव्यवहाराणां विलोपेन वहन्मुदम्। बौद्धानां नग्नतां शैवव्रजे निर्जटतां च सः॥185॥
वैष्णवानां विष्णुपूजात्याजनं कौलदर्शने। धम्मिल्लं मस्तके नास्तिकानामास्तिकतां तथा॥186॥
ब्राह्मणेभ्यः प्रणामं च जैनर्षीणां स पापभूः। तेषां च मंदिरापानमविच्छन् धर्मनिहवी॥187॥
आज्ञां ददौ च सर्वेषामाज्ञाभंगे स चादिशत्। तेषां प्राणहरं दण्डमत्र प्रतिविधिर्हि कः॥188॥
नगरस्थितसंघाय समादिष्टं च भूभुजा। प्रणम्या ब्राह्मणाः पुण्या भवद्भिर्वाऽन्यथा वधः॥189॥
धन-प्राणादिलोभेन मेने तद्वचनं परैः। निष्किंचनाः पुनर्जैनाः पर्यालोचं प्रपेदिरे॥190॥
देहत्यागान्न नो दुःखं शासनस्याप्रभावना। तत् पीडयाते को मोहो देहे यायावरे पुनः॥191॥
विमृश्य गुरुभिः प्रोचे श्रीआर्यखपुटप्रभोः। शिष्याग्रणीर्महेन्द्रोऽस्ति सिद्धप्राभृतसंभृतः॥192॥
भृगुक्षेत्रे ततः संघो गीतार्थं स्थविरद्वयम्। ग्रहिणोतु स चामुष्मिन्नर्थे प्रतिविधास्यति॥193॥
तथाकृते च संघेन तत्पूज्यैः प्रहितोऽथ सः। अभिमंत्रितमानैषीत् करवीरलताद्वयम्॥194॥
उवाच च नृपादेशः प्रमाणं गणकैः पुनः। वीक्षणीयो मुहूर्तोऽसौ च आयतिशुभावहः॥195॥
इति स ज्ञापयामांस भूपालाय कृतीश्वरः। स चोत्सेकं दधौ शक्तिरपूर्वकरणे मम॥196॥
दैवज्ञैश्चर्चिते लग्ने स्वीयप्राणानुमानतः। महेन्द्राधिष्ठिता जग्मुः सूरयस्तनरैः सदः॥197॥

याज्ञिका दीक्षिता वेदोपाध्याया होमशालिनः। सायंप्रातर्व्रता आवसथीयाः स्मार्तऋत्विजः॥198॥
 गांगमृच्चन्दनालेपतिलकौघपवित्रिताः। काषायधौतपोताह्याः सोपवीतपवित्रिकाः॥199॥
 सिंहासनेषु चित्रेषु गब्दिकाद्यास्तुतेषु ते। उपविष्टास्तदा दृष्टा महेन्द्रेण मनीषिणा॥200॥-विशेषकम्।
 ऊचे तेन क्षितेर्नाथ। यदपूर्वमिदं हि नः। पूर्वं पूर्वामुखान् किं वा नमामः पश्चिमांमुखान्॥201॥
 जल्पन्निति करेणासौ करवीरलतां किला। संमुखीनां परावृत्य पृष्टे चाभ्रामयत् ततः॥202॥-युगम्।
 आसन् लुठितशीर्षास्ते निश्चेष्टः मृतसन्निभाः। अभूच्च भूपतेर्वक्त्रं विच्छाद्यं शशिवद्दिने॥203॥
 सम्पन्नाश्च तथा सम्बन्धिनस्तेषां कृपाभुवः। जल्पयन्त्यभिधाग्राहं को हि जल्पत्यचेतनः॥204॥
 क्रन्दन्ति स्वजनाः सर्वे विकर्म फलितं हि नः। अदृष्टश्रुतपूर्वा हि जैनर्षीणां नतिः परे॥205॥
 भूपरूपेण कालोऽयं दर्शनानामुपस्थितः। पुस्तकस्थपुराणेषु कथापीदृग् नहि श्रुता॥206॥
 उत्थायाथासनाद्भूपः पश्चात्तापमुपागतः। महेन्द्रस्य महेन्द्रस्य धीरेषु न्यपतत् पदोः॥207॥
 रक्ष रक्ष महाविद्या! प्रसीद त्वं ममोपरि। क्षमस्वैकं व्यलीकं मे सन्तो हि नतवत्सलाः॥208॥
 संजीवय द्विजानेतान् रुदत्संबन्धियोषितः। कस्ते माहात्म्यसात्म्यस्य पारं प्राप्तः सुधीरपि॥209॥
 इत्याकर्ण्य गिरं प्राह महेन्द्रः शमिनां पतिः। अनात्मज्ञ धराधीश! कस्ते मिथ्याग्रहोऽलगतः॥210॥
 निर्वाणमधितस्थश्चैज्जिना आनन्दचिन्मयाः। तदधिष्ठायकाः सन्ति प्रत्ययाद्यास्तथाप्यहो॥211॥
 एवं मृष्यति को नाम प्राकृतोऽपि विडम्बनम्। ब्राह्मणानां गृहस्थानां प्रणामो यद् व्रतस्थितैः॥212॥
 दैवतैः शिक्षिता एते त्वदन्यायप्रकोपिभिः। न मे कश्चित् प्रकोपोऽस्ति मादृशां मण्डनं शमः॥213॥
 पुनर्बाढं नृपः प्राह त्वमेव शरणं मम। देवो गुरुः पिता माता किमन्यैर्ललितभाषितैः॥214॥
 अमून् जीवय जीवातो! जीवानां करुणां कुरु। अथावोचत् कृती देवान् सान्त्वयिष्ये प्रकोपिनः॥215॥
 विद्यादेव्यः षोडशापि चतुर्विंशतिसंख्यया। जैना यक्षास्तथा यक्षिण्यश्च वोऽभिदधाम्यहम्॥216॥
 अज्ञानादस्य भूपस्यापराद्धं जिनशासने। द्विजैरमीभिस्तत् क्षम्यं मानवाः स्युः कियद्दुःशः॥217॥
 इत्युक्ते तेन दैवी वाक् प्रादुरासीद् दुरासदा। एषां प्रव्रज्यया मोक्षोऽन्यथा नास्त्यपि जीवितम्॥218॥
 अभिषेकेण तेषां गोमूर्तकला च व्यधीयत। पृष्टा अंगीकृतं तैश्च को हि प्राणान् न वाञ्छति॥219॥
 उत्तिष्ठतेति तेनोक्त्वाऽभ्राम्यताथापरा लता। सज्जीबभूवुः प्रागवत् ते जैना ह्यमितशक्तयः॥220॥
 संघेन सह रोमाञ्चांकुरकन्दलितात्मना। राज्ञा कृतोत्सवेनाथ स्वं विवेशाश्रयं मुनिः॥221॥
 प्रव्रज्योत्सवमाधास्यन् संघस्तेन द्विजन्मनाम्। व्यंशेध्यतार्यखपुटप्रभुः कर्तति जल्पता॥222॥
 एवं प्रभावभूमेस्ते कीदृगस्ति गुरुः प्रभो!। इत्युक्तः श्रीमहेन्द्रोऽसौ प्राहकोऽहनदग्रतः॥223॥
 माजरिभ्य इव क्षीरं सौगतेभ्यो व्यमोच्यत। अश्वावबोधतीर्थं श्रीभृगुकच्छपुरे हि यैः॥224॥
 श्रीआर्यखपुटाख्यानां प्रभूणां महिमाद्भुतम्। तेषां स्तोतुमलं कः स्याद् वादिद्विपहरिश्रियाम्॥225॥-युगम्।

चारित्राश्मनि संप्रपीष्य मदनं पात्रे वरिष्ठात्मके

वृद्धस्नेहभरे तपोऽनलमिलज्वाले विपक्वः स्फुटम्।

रोदःकुञ्जरकुण्डके सितरुचिज्योत्स्नाम्लके यद्यशो-

राशिः स्यादवसेकिमोऽप्रविवरः स्वाद्यः सतां सोऽवतात्॥226॥

अथासौ ब्राह्मणैः सार्द्धं संघेनानुमतो ययौ। उपपूज्यं दीक्षिताश्च वाङ्मवाः प्रभुभिस्ततः॥227॥

इत्यार्यखपुटश्चक्रे शासनस्य प्रभावनाम्। उपाध्यायो महेन्द्रश्च प्रसिद्धिं प्रापुरद्भुताम्॥228॥

अश्वावबोधतीर्थं च प्रभावकपरम्परा। अद्यापि विद्यते यस्य सन्ताने सूरिमण्डली॥229॥

11. सूरिः श्रीपावलिप्तः प्रागाख्यातगुरुसन्निधौ। प्रतीतप्रातिहार्याणि तानि शास्त्राण्यधीतवान्॥230॥

पावलिप्ताख्यभाषा च विद्वत्संकेतसंस्कृता। कृता तैरपरिज्ञेयोऽन्येषां यत्रार्थ इष्यते॥231॥
 आवर्जितश्च भूपालः कृष्णाख्यः संसदा सह। न ददात्यन्यतो गन्तुं गुणगृहो मुनीशितुः॥232॥
 आचार्यखपुटः सूरिः कृतभूरिप्रभावनः। अन्तेऽनशनमाधाय दैवीभुवमशिश्नयत्॥233॥
 श्रीमहेन्द्रस्ततस्तेषां पट्टे सूरिपदेऽभवत्। तीर्थयात्रां प्रचक्राम शनैः संयमयात्रया॥234॥
 पुरा ये पाटलीपुत्रे द्विजाः प्रव्रजिता बलात्। जातिवैरेण तेनात्र ते मत्सरमधारयन्॥235॥
 संघेन पादलिप्तस्य विज्ञैर्विज्ञापितं नरैः। ततस्तेषां समादिक्षत् स विमृश्य प्रभुस्तदा॥236॥
 कार्त्तिक्यामहमेष्वामीत्युक्त्वा तान् स व्यसर्जयत्। ततो राजानमापृच्छ्य भृगुकच्छं समाययौ॥237॥
 पूर्वाह्णे व्योममार्गेण रत्नवद्भास्वराकृतिः। अवतीर्णो विशीर्णेनाः श्रीसुव्रतजिनालये॥238॥
 तत्रागतं समुत्प्रेक्ष्य भास्वन्तमिव भूगतम्। लोकः कोक इवानन्दं प्राप दुष्प्रापदर्शनम्॥239॥
 चित्रात् तत्रागमद् राजा नमश्चक्रे च तं गुरुम्। महादानं ददौ तत्र भक्त्या संघसमन्वितः॥240॥
 तत् प्रदापितमर्थिभ्यो द्रव्यं गुरुभिरद्भुतम्। द्विजा व्योमाध्वगं तं च दृष्ट्वाऽतिभयतोऽनशन्॥241॥
 राजाह सुकृती कृष्णः पूज्यैर्यो न विमुच्यते। दर्शनस्यापि नार्हाः स्मो मूले जाता वयं कथम्?॥242॥
 कियन्त्यपि दिनान्यत्रावतिष्ठन् सुखाय नः। प्राहुः पूज्याश्च युक्तैवावस्थितिर्भवदन्तिके॥243॥
 संघादेशो ह्यनुल्लङ्घ्यः स्नेहश्च नृपतेरपि। पुरस्तस्यापराह्णे चागमनं प्रतिशुश्रुवे॥244॥
 ततः शशुञ्जये रैवतके संयेतपर्वते। अष्टापदे च कर्तव्या तीर्थयात्रा ममाधुना॥245॥
 आपृष्टोऽपि महाराज! तज्जैने भव भक्तिमान्। इत्युक्त्वाऽऽकाशमार्गेण यथारुचि ययौ प्रभुः॥246॥

12. तीर्थयात्रां प्रकुर्वाणः पादचारेण सोऽन्यदा। सुराष्ट्राविषयं प्रापदपारश्रुतपारगः॥247॥
 तत्रास्ति विगतातंका ढंकानाम महापुरी। श्रीपादलिप्तस्तत्रायाद् विहरन् व्रतलीलया॥248॥
 तत्र नागार्जुनो नाम रससिद्धिविदां वरः। भाविशिष्यो गुरोस्तस्य तद्भुतमपि कथ्यते॥249॥
 अस्ति क्षत्रियमूर्धन्यो धन्यः समरकर्मसु। संग्रामनामा विख्यातस्तस्य भार्याऽस्ति सुव्रता॥250॥
 सहस्रफणशेषाहिस्वप्नसंसूचितस्थितिः। कृतनागार्जुनाभिख्यस्तयोः पुत्रोऽस्ति पुण्यभूः॥251॥
 स वर्षत्रयदेशीयोऽन्यदा क्रीडन् शिशुव्रजैः। सिंहाभक्तं विदार्यागात् तस्मात् किञ्चित् पक्षयन्॥252॥
 पित्रा निवारितः क्षात्रे कुले भक्ष्यो नखी नहि। तदागतेन चैकेन सिद्धपुंसेति वर्णितम्॥253॥
 मा विषीद स्वपुत्रस्य विहितेन नरोत्तमम्। अशक्यास्वादतस्तस्यास्वादं प्राप्यत्यसौ सुतः॥254॥
 विनिद्र उद्यमी भास्वानावात्स्यादपि तेजसा। प्रवृद्धपुरुषैः संगमंगीचक्रे कलाद्भुतैः॥255॥
 गिरयः सरितो यस्य गृहाङ्गणमिवाभवन्। दूरदेशान्तरं गेहान्तरं भूरिकलादरात्॥256॥
 नाग-वंगीकृताभ्यासस्तारंगस्य रंगभूः। संग्रही चौषधीनां यो रससिद्धिकृतामिह॥257॥
 यः सत्त्वं तालके पिष्टं गन्धके द्रावमग्नके। जारणं मारणं सूते वेत्ता छेत्ता सुदुःस्थितेः॥258॥
 सहस्रलक्षकोट्यंशधूमवेधान् रसायनम्। पिण्डबद्धान् चकाराथ नदीष्णो रससाधने॥259॥
 स महीमण्डलं भ्रान्त्वाऽन्यदा स्वपुरमासदत्। पादलिप्तं च तत्रस्थं जज्ञे निःसंख्यसिद्धिकम्॥260॥
 पर्वताश्रितभूमौ च कृतावासः स्वशिष्यतः। अकाशीत् पादलेपार्थी ज्ञापनं गणभृत्यतः॥261॥
 तृणरत्नमये पात्रे सिद्धं रसमढौकयत्। छात्रो नागार्जुनस्य श्रीपादलिप्तप्रभोः पुरः॥262॥
 स ग्राह रससिद्धोऽयं ढौकने कृतवान् रसम्। स्वान्तर्द्धनमहो स्नेहस्तस्येत्येवं स्मितोऽभ्यधात्॥263॥
 पात्रं हस्ते गृहीत्वा च भित्तावास्फाल्य खण्डशः। चक्रे च तन्नरो दृष्ट्वा व्यषीदद् वक्रवक्त्रभृत्॥264॥
 मा विषीद तव श्राद्धपाश्वर्ते भोजनं वरम्। प्रदापयिष्यते चैवमुक्त्वा संमान्य भोजितः॥265॥
 तस्मै चापृच्छ्यमानाय काचामत्रं प्रपूर्य सः। प्रश्रावस्य ददौ तस्मै प्राभृतं रसवादिने॥266॥

नूनमस्मदुरुर्मुखो योऽनेन स्नेहमिच्छति। विमृशन्निति स स्वामिसमीपं जग्मिवांस्ततः॥267॥
 पूज्यैः सहाद्भुता मैत्री तस्येति स्मितपूर्वकम्। सम्यग् विज्ञप्य वृत्तान्तं तदमत्रं समारपयत्॥268॥
 द्वारमुन्मुदय यावत् स सन्निधत्ते दृशोः पुरः। आजिघ्रति ततः क्षारविश्रगन्धं स बुद्धवान्॥269॥
 अहो निर्लाभतामेष मूढतां चास्पृशेदथ। विमृश्येति विषादेन बभञ्जाशमनि सोऽपि तत्॥270॥
 दैवसंयोगतस्तत्रैकेन वह्निः प्रदीपितः। भक्ष्यपाकनिमित्तं च क्षुत् सिद्धस्यापि दुःसहा॥271॥
 पक्तां नृजलवेधेन वह्नियोगे सुवर्णकम्। सुवर्णं सिद्धमुत्प्रेक्ष्य सिद्धशिष्यो विसिष्मिये॥272॥
 व्यजिज्ञपद् गुरुं सिद्धं सिद्धिस्तस्याद्भुता प्रभो॥ ग्रावा हेमी भवेद् यस्य मलमूत्रादिसंगमे॥273॥
 ततो नागार्जुनः सिद्धो विस्मयस्मेरमानसः। दध्यौ स मम का सिद्धिर्दारिद्र्यं कुर्वतः सदा॥274॥
 क्वास्तेऽत्र चित्रको रक्तः कृष्णमुण्डो च कुत्र सा। शाकम्भर्याश्च लवणं वज्रकन्दश्च कुत्र सा॥275॥
 इत्येवं दूरदेशस्थौषधपिण्डान् प्रपिण्डयन्। भिक्षाभोजनतो म्लानदेहोऽहं सर्वदाऽभवम्॥276॥-युग्मम्।
 आचार्योऽयं शिशुत्वाद्यारभ्य प्राप्तपूजनः। सुखी विहायोगामिन्या सिद्ध्या साध्यानि साधयन्॥277॥
 तथा यदेहमध्यस्था मलमूत्रादयो वसु। साधयन्ति मृदश्मादिद्वयैस्तस्यास्तु का कथा॥278॥
 रसोपकरणं मुक्त्वा ततोऽसौ प्रभुसन्निधौ। जगाम विनयानम्रमौलिर्मदभरोज्झितः॥279॥
 प्रणम्य चावदन्नाथ! सिद्धिर्गर्वः स सर्वतः। समागतत् प्रभौ दृष्टे देहसिद्धे जितस्मृहे॥280॥
 ततः प्रभुपदाम्भोजं सदाप्यवलगाम्यहम्। मिष्टान्तं लभमानस्य कदन्तं कस्य रोचते॥281॥
 इति श्रीपादलिप्तास्य चरणक्षालनादिकम्। देहशुश्रूषणं नित्यं विदधाति प्रशान्तगीः॥282॥
 सूर्यश्च मुनिव्राते गते विचरितुं तदा। प्रागुक्तपञ्चतोर्ध्वं ते गत्वा व्योम्ना प्रणम्य च॥283॥
 समायाति मुहूर्तस्य मध्ये नियमपूर्वकम्। विद्याचारणलब्धीनां समानास्ते कलौ युगे॥284॥
 आयातानामथैतेषां चरणक्षालनं ध्रुवम्। जिज्ञासुरौषधानीह निर्विकारश्चकार सः॥285॥
 स जिघ्रन् विमृशन् पश्यन् स्वादयन् संस्पृशन्नपि। प्रज्ञाबलादौषधानां जज्ञे सप्ताधिकं शतम्॥286॥
 विधायौषधसंयोगं ततः कल्कं चकार सः। पादमालेपयत् तेनोच्छलितो गगनं प्रति॥287॥
 स ताम्रचूडसंपातं कृत्वा च न्यपतद् गुणो। उच्चैःप्रदेशात् पातेन जानौ गुल्फे च पीडितः॥288॥
 रक्ताभ्यक्तव्रणविलन्नजंघो दृष्टः शमीश्वरैः। उक्तं च किमहो! पादलेपः सिद्धो गुरुं विना?॥289॥
 सोऽब्रवीच्च स्मितं कृत्वा नास्ति सिद्धिर्गुरुं विना। निजप्रज्ञाबले किंतु परीक्षां चक्रिवानहम्॥290॥
 प्राह श्रीपादलिप्तोऽपि प्रसन्नस्तस्य सत्यतः। शृणु नाहं नतेस्तुष्टो रससिद्ध्या न तेऽनया॥291॥
 शुश्रूषयानया नापि; परं प्रज्ञाबलेन ते। तोषोहिक्षालनात् को हि वस्तुनामानि बुध्यते॥292॥
 ततो दास्यामि ते विद्यां परं मे गुरुदक्षिणाम्। कां दास्यसि स चोवाच यामादिशसि मे प्रभो॥293॥
 ऊचे च गुरुण! सिद्ध! त्वयि स्निग्धं मनो मम। उपदेक्ष्यामि ते पथ्यं तथ्यं गाथां ततः शृणु॥294॥

सा च-

दीहरफणिंवनाले महिहरकेसरविसाहबहुवलिल्ले।

ओपियइ कालभमरो जणमयरन्वं पुहइपउमे॥295॥

ततो विश्वहितं धर्ममाद्रियस्व जिनाश्रयम् तथेति प्रतिपन्ने च तेन तद् गुरुरादिशत्॥296॥
 आरनालविनिर्द्धीततन्दुलामलवारिणा। पिष्टवौषधानि पादौ च लिप्त्वा व्योमाध्वगो भव॥297॥
 तथैव विहितेऽसौ च जगाम गगनाध्वना। पक्षिराजवदुड्डीय यथाभिलषितां भुवम्॥298॥
 कृतज्ञेन ततस्तेन विमलाद्रेरुपत्यकाम्। गत्वा समृद्धिभाक् चक्रे पादलिप्ताभिधं पुरम्॥299॥
 अधित्यकायां श्रीवीरप्रतिमाधिष्ठितं पुरा। चैत्यं विधापयामास स सिद्धः साहस्रीश्वरः॥300॥
 गुरुमूर्तिं च तत्रैवास्थापयत् तत्र च प्रभुम्। प्रत्यष्टापयदाहूयार्हद्विम्बान्यपराण्यपि॥301॥
 श्रीपादलिप्तसुरिश्च श्रीवीरपुरतः स्थितः। स्तवं चक्रे वरं 'गाहाजुअलेणे'ति सज्जितम्॥302॥

गाथाभिश्चेति सौवर्ण-व्योमसिद्धी सुगोपिते। प्रभुर्जलप नाभाग्याः प्रबुध्यन्तेऽधुनातनाः॥३०३॥
तथा रैवतकक्षमाभूदधो दुर्गसमीपतः। श्रीनेमिचरितं श्रुत्वा तादृशाप्तप्रभोमुखात्॥३०४॥
कौतुकात् तादृशं सर्वमावासादि व्यधादसौ। दशार्हमण्डपं श्रीमदुग्रसेननृपालयम्॥३०५॥
विवाहादिव्यवस्थां च वेदिकायां व्यधात् तदा। अद्यापि धार्मिकैस्तत्र गतैस्तत् प्रेक्ष्यतेऽखिलम्॥३०६॥

13. इतः पृथ्वीप्रतिष्ठाने नगरे सातवाहनः। सार्वभौमोपमः श्रीमान् भूप आसीद् गुणावनिः॥३०७॥
तथा श्रीकालकाचार्यस्वस्त्रीयः श्रीयशोनिधिः। भृगुकच्छपुरं पाति बलमित्राभिधो नृपः॥३०८॥
अन्येद्युः पुरमेतच्च रुरुधे सातवाहनः। द्वादशाब्दानि तत्रास्थाद् बहिर्न व्याहतं तु तत्॥३०९॥
अथाशक्यग्रहे दुर्गं निर्विण्णश्चिरकालतः। श्रीपादलिप्तशिष्यस्तन्मन्त्री नाथं व्यजिज्ञपत्॥३१०॥
ग्राहयिष्याम्यहो दुर्गं भेदात् तत् प्रेषयस्व माम्। एवमस्त्विति तेनोक्ते निर्ययौ शिबिरात्ततः॥३११॥
स भागवतवेषेण प्राविशान्नगरान्तरा। भूपालमन्दिरे गत्वा तन्नाथं च व्यलोकयत्॥३१२॥
जीर्णदेवगृहोद्धारो महादानानि सत्क्रिया। पुण्याय स्युर्यतो दुर्गरोधाद्यापन्निवर्तते॥३१३॥
सोऽपि संरोधनिर्विण्णस्तदाक्षिप्तो व्यधाददः। धर्मोपदेश आपत्सु कार्यपक्षे हि जायते॥३१४॥
धर्मस्थानानि भज्यन्ते बहिर्यत्राश्रमगोलकैः। समारचयते राजा तस्य धर्मोपदेशतः॥३१५॥
पौनःपुन्येन भज्यन्ते निष्पाद्यन्ते पुनः पुनः। एवं च बलमित्रस्य सर्वस्वं निष्ठितं तदा॥३१६॥
श्रीसातवाहनो दुर्गं मन्त्रिबुद्ध्या ततोऽग्रहीत्। तन्निगृह्य महीपालं नगरं स्वं ययौ मुदा॥३१७॥

14. अन्यदा तस्य राजेन्दो राज्यं विदधतः सतः। चत्वारः शास्त्रसंक्षेपकवयो द्वारमभ्ययुः॥३१८॥
प्रतीहारेण ते राज्ञो विज्ञप्य भवनान्तरा। मुक्ता एकैकपादं च श्लोकस्याहुर्नृपाग्रतः॥३१९॥
तथा हि- जीर्णं भोजनमात्रेयः, कपिलः प्राणिनां वया।

बृहस्पतिरविश्वासः, पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्॥३२०॥

पूर्वं प्रशस्य तेषां स महादानं ददौ प्रभुः। परिवारो न किं स्तौतीत्युक्ते तैराह भूपतिः॥३२१॥
भोगवत्यभिधां वारवनितां त्वं स्तुतिं कुरु। पादलिप्तं विना नान्यः स्तोतव्यो मम साऽब्रवीत्॥३२२॥
आकाशमार्गजंघालो विद्यासिद्धो महाक्रियः। पादलिप्ताद् ऋते कोऽन्य एवविधगुणावनिः॥३२३॥
साधिविग्रहिको राज्ञः शंकरो नाम मत्सरी। असहिष्णुः स्तुतिं तस्यावादीदादीनवस्थितिः॥३२४॥
मृतो जीवति यस्तस्य पाण्डित्यं प्रकटं वयम्। मन्दामहेऽपि ते कीरा विद्वांसो गगनेचराः॥३२५॥
भोगवत्याह तत्रेदमपि संभाव्यते ध्रुवम्। अतुल्यप्रभावा जैना देवा इव महर्षयः॥३२६॥
मानखेटपुरात् कृष्णमापृच्छय्य स भूपतिः। श्रीपादलिप्तमाह्वासीदेतस्मादेव कौतुकात्॥३२७॥
आययौ नगराद्बाह्योद्याने जैनो मुनीश्वरः। विद्वान् बृहस्पतिर्ज्ञात्वा परीक्षामस्य चक्रिवान्॥३२८॥
विलीनसर्पिषा पूर्णं रौप्यकच्छोलकं ततः। प्रेषिवान् निपुणेनैष स प्रभोस्तददर्शयत्॥३२९॥
धारिणीविद्यया सूचीमवस्थाप्योद्ध्वंसस्थितिं। प्रेषयत् तेन तद् दृष्टं विषण्णोऽथ बृहस्पतिः॥३३०॥
अथाभ्यागत्य भूपालः प्रवेशोत्सवमादधे। गुरोरुपाश्रयस्तस्य महार्हश्च प्रदर्शितः॥३३१॥
कथा तरंगलोलाख्या व्याख्याताऽभिनवा पुनः। भूपस्य तत्र पाञ्चालः कविर्भृशमसूयितः॥३३२॥
प्रशंसति कथां नैव दूषयेत् प्रत्युताधिकम्। रासभस्य मुखात् किं स्यात् शान्तिपानीयनिर्गमः॥३३३॥
मद्ग्रंथेभ्यो मुषित्वार्थबिन्दुं कन्धेयमग्रथि। बालगोपांगनारंगसंगि ह्येतद्वचः सदा॥३३४॥
विदुषां चित्तरंग नोत्पादयेत् प्राकृतं हि तत्। स्तौति भोगवती ह्येतत् तादृशां तादृगौचिती॥३३५॥

15. अन्यदा कपटात् स्वस्य मृत्युमैक्षयत् प्रभुः। हाहा! पूत्कारपूर्वं च जनस्तत्रामिलद् घनः॥336॥
शिबिकान्तस्तनुः साधूत्क्षिप्ता यावत्समाययौ। वादित्रैर्वाद्यमानैश्च पञ्चालभवनप्रातः॥337॥
तावद् मेहाद् विनिष्क्रामन् जज्ञेऽसौ शोकपूरितः। आह हाहा! महासिद्धिपात्रं सूरिर्ययौ दिवम्॥338॥
मादृशोऽसूययाक्रान्तः सत्पात्रे सूनृतव्रते। अकुर्वत् दृशो रक्ता मोक्षो नास्ति तदेनसः॥339॥

यत् उक्तम्-

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः।

गुणैर्न परितुष्ट्यामो यस्य मत्सरिणो वयम्॥340॥

तथा-

सीसं कहवि न फुट्त्वं जयस्स पालित्तयं हरतस्स।

जस्स मुहनिञ्जराओ तरंगलोला नईं वूढा॥341॥

पञ्चालसत्यवचनाज्जीवितोऽहमिति ब्रुवन्। उत्तस्थौ जनताहर्षारवेण सह सूरिराद्॥342॥
जनैराक्रुश्यमानश्च ततोऽसौ गुणिमत्सरी। निर्वस्यमानो न्यक्कारपूर्वमुर्वपतेर्गिरा॥343॥
रक्षितो मानितश्चाथ बन्धुबन्धुरसौहृदैः। श्रीपादलिप्तगुरुभिर्गुरुविद्यामबोऽग्नितैः॥344॥
श्रावकाणां यतीनां च प्रतिष्ठा दीक्षया सह। उत्थापना प्रतिष्ठाहर्द्बिम्बानां ह्युसदामपि॥345॥
यदुक्तविधितो बुद्ध्वा विधीयेतात्र सूरिभिः। निर्वाणकलिकाशास्त्रं प्रभुश्चक्रे कृपावशात्॥346॥
प्रश्नप्रकाश इत्याख्यं ज्योतिःशास्त्रं च निर्ममे। लाभालाभादिपृच्छासु सिद्धादेशः प्रवर्तते॥347॥
अन्यदायुः परिज्ञाय सह नागार्जुनेन ते। विमलाग्निभूपाजग्मुः श्रीनाभेयं चर्वदरे॥348॥
सिद्धिक्षेत्रशिरःसारशिलां सिद्धिशिलातुलाम्। शमसर्वगनिधय एकामासेदुरादरात्॥349॥
प्रायोपवेशनं सद्य आस्थाय शशिरोचिषा। धर्मध्यानममसा विध्यापितरागादिवह्वयः॥350॥
मनोवचनकायानां चेष्टाः संहृत्य सर्वतः। शुक्लध्यानसमानान्तःकरणावस्थितिस्थिराः॥351॥
द्वात्रिंशद्वासरान् सम्यग् लयलीनमनःक्रमाः। देहं जीर्णकुटीतुल्यमुज्जित्वा प्रकटप्रभाः॥352॥
द्वितीयकल्पे देवेन्द्रसामानिकतनूतः। अभूवन्नर्विता भूपैः श्रीपादलिप्तसूरयः॥353॥-चतुर्थिः कलापकम्।

उत्पत्तिसिद्धिपटुरत्र स रुद्रदेवसूरिर्गुरुः श्रमणसिंहनिमित्तसिद्धः।

विद्याभूदार्यखपुटप्रभुरेव सिद्धोपाध्याय इत्यतिशयप्रकटो महेन्द्रः॥354॥

चत्वार इत्यनवधिप्रभसिद्धविद्याः श्रीपादलिप्तसहिता विनुता मयैते।

यत्किञ्चिदत्र गदितं न चरित्रशेषमज्ञानतस्तदिह वृत्तविदः क्षमन्ताम्॥355॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्धचरित्ररोहणगिरौ श्रीपादलिप्ताख्यया

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शृंगोऽगमत् पञ्चमः॥356॥

पूर्वमुनिवृत्तवीते यम गौश्चरितातितुष्टितो मत्ता।

कूटपथे गच्छन्ती वशिता प्रद्युम्नगोपतिना॥357॥

॥ इति श्रीपादलिप्ताचार्यप्रबन्धः पञ्चमः ॥



श्रीविजयसिंहसूरिचरितम्

1. श्रीविजयसिंहसूरिगुटिकासिद्धः कथं पथि गिरं स्यात्। तुष्य दर्शनमात्राद् यस्याम्बाऽदात् सुरी गुटिकाः॥1॥
 अष्टमहासिद्धिनिधेस्तस्य वदिष्यामि कमपि वृत्तलवम्। वृद्धकृतिवचःश्रवणप्रवणप्रणिधानपरतन्त्रः॥2॥
 तीर्थमश्वावबोधं श्रीमेकलकन्यकातटे जयति। तत्र गुरुरसौ समभूत् तद्गतान्तोऽपि वक्तव्यः॥3॥
 कनकगिरिशिखरसोदरतुङ्गप्राकारवलयपरिकलितम्। श्रीपुरमिति नाम्नासीत् पुरं सकलपुरमुकुटः॥4॥
 तस्य व बहिरुद्याने समवासाधौ द्वितीयजिननाथः। श्रीमानजितस्वामी तत्तीर्थं पूर्वमिति विदितम्॥5॥
 पश्चात्पुष्कलकालेऽतीते चन्द्रप्रभः प्रभुरवात्सीत्। उद्यान एतदीये नाम्ना च सरस्वतीपीठे॥6॥
 पुनरपि बहुकालेन क्षीणं तद् भृगुरिति प्रथितनामा। उद्भूते च महर्षिर्भृगुपुरमभवत् ततःप्रभृति॥7॥
 वंशे मेरुगिरीन्द्रे चन्द्रार्यमकिरणरज्जुविस्तारे। यत्कोर्तिवंशनटी नृत्यति विश्वेषु सभ्येषु॥8॥
 स नृपतिरिह जितशत्रुः शत्रुश्रेणीपतङ्गगणदीपः। कलिकालकलुषतामसविघटनपदुरात्मविषयोऽभूत्॥9॥
 - युग्मम्।

छागानां शतषट्कं त्रिन्यूनं सोऽन्यदा महीनाथः। विप्रोपदेशमासाद्य यज्ञविधये जुहाव भृशम्॥10॥
 अन्ये दिने द्विजैस्तैरानाय्यत होतुमत्र पट्टाश्वः। रेखादर्शनतोऽस्य च पूर्वभवतः स्मृतिपथं प्राप्तः॥11॥
 अथ मुनिमुव्रतनाथस्तं सपतिं पूर्वजन्मसुहृदम्। ज्ञात्वा निश्चयेकस्यामतीत्य गव्यूतिविंशशतम्॥12॥
 तस्य प्रबोधनार्थं तदा प्रतिष्ठानं नामतो नगरात्। सिद्धपुरे विश्रम्य क्षणमेकमुपाजगामात्र॥13॥
 कोरिंटकाभिधाने परिकरितस्त्रिंशता मुनिसहस्रैः। बाह्योद्याने समवासाधौ च्चूतदुमस्याधः॥14॥
 - त्रिभिर्विशेषकम्।

सर्वज्ञं तं मत्वा सम्प्राप्तस्तेन वाजिना सहितः। राजा गत्वा नत्वा यज्ञफलं तदनु पप्रच्छ॥15॥
 अवदच्च जिनाधीशः प्राणिवधात् ते भवन्ति नरकफलाः। अश्वश्च साश्रुनेत्रः प्रभुदर्शनतस्तदा जज्ञे॥16॥
 जिनपतिरबोधयदभुं नृपतिसमक्षं यथा शृणु तुरङ्गम्॥ स्वं पूर्वभवं धीमन्नवधानपरश्च बुध्यस्व॥17॥

2. प्रागत्र पुरेऽवात्सीत् समुद्रवत्ताण्डया वणिग् जैनः। तस्य च सागरपोतो मिथ्यादृष्टिः सुहृत् समभूत्॥18॥
 जीवाहिंसामुख्ये समुद्रदत्तेन बोधितो धर्मे। स द्वादशव्रतधरः शनैश्च सुकृतीश्वरः समभूत्॥19॥
 तस्य प्राक्कर्मवशात् क्षयनामा चान्यदाऽभवद् रोगः निजधर्मत्यागादयमस्याभूत् तन्निजाः प्राहुः॥20॥
 तस्यापि भावहानिर्व्याधिग्रस्तस्य संबभूव तदा। स्वकजनवचनैः को विप्रलभ्यते न चतुपदुभिर्वा॥21॥
 पर्वण्युदगयनाख्ये क्रियमाणे लिङ्गपूरणमहं च। आह्वयमाणेषु तथा प्राज्येष्व्याज्येषु कुतपेभ्यः॥22॥
 अध्वन्युज्झिततल्लेशसंगताः किल घृतेलिमा अमिताः। किंकरपादाघातैः क्षुण्णाः स ददर्श सवृणमनाः॥23॥
 प्रत्यावृत्तः सागरपोतः सदयो निनिन्द तं धर्मम्। निःशूकैस्तैश्च तदा स यष्टिमुष्ट्यादिभिः प्रहतः॥24॥
 आर्तध्यानान्मृत्वा तिर्यग्गतिभवशतेषु विभ्रम्य। अश्वः समभूत्त्व भवानथ मे शृणु भवमहो पूर्वम्॥25॥
 अर्जुन पुरा चन्द्रपुरे श्रीवर्मा नरपतिः प्रथितकीर्तिः। आबोधिबीजलाभदहं भवे सप्तमे श्रीमान्॥26॥

उक्तं चागमे -

सिखकेऊ सोहम्मे कुबेरवत्तो सणकुमारम्मि।
सिरिवज्जकुडलो बभलोयकण्णमि सिरिवम्मो॥27
पाणयकण्णे मुणिसुख्खओं य तित्थाहिवो भवे नवमे।
इय सखेवो भणिओ वित्थरमेयं अओ वुच्छं॥28॥

व्यवहारो च भृगुपुरात् समुद्रवत्ताख्य आययौ तत्र। निःसंख्यपण्यपूरितयानं स्थानं समस्तलक्ष्मीनां (णा)म्॥29॥
नृपतिस्तेन समैक्ष्यत तदर्पितप्राभृतैर्मुदितचित्तः। दानगुणादिस्वागतकरणादेशोऽपि तमनुजग्राह॥30॥
राक्षः प्रसादवृद्ध्या साधोस्तदुचितविधानतश्चापि। सख्यमभूज्जिनधर्मे बोधश्चास्मादवनिपस्य॥31॥
सागरपोतेनापि च तत्रायातेन तद्वयस्येन। मैत्री राज्ञः समजनि तदबोधसमानधर्मत्वात्॥32॥
अन्ते समाधिमरणात् प्राणतकल्पे नृपोऽभवद् देवः। सोऽहं तस्माच्च्युत्वा भरतक्षेत्रे नृपो जज्ञे॥33॥
इत्याकर्ण्य तुरङ्गः प्रभुधर्मकथां नृपेण सोऽनुमतः। सप्तदिनान्यनशनभृत् समाहितोऽगात् सहस्रारम्॥34॥
तत्र पुरन्दरसामानिकतां सप्तदशसागरायुरसौ। भुञ्जानोऽवधिना प्राग्भवमस्मार्षीच्च तत्रस्थः॥35॥
सार्धद्वादशकोट्यस्तेन सुवर्णस्य ववृषिरे तत्र। राजा पुरलोकश्च प्रबोधितो जैनवरधर्म्मे॥36॥
चामीकररत्नमयं श्रीमुनिसुव्रतविभोस्तदा चैत्यम्। माघस्य पूर्णिमास्यां सुकृती स स्थापयामास॥37॥
माघस्य सितप्रतिपदि विभुरायादश्वरत्नबोधाय। तस्यैव सिताष्टम्यां तुरङ्गः सुरलोकमायासीत्॥38॥
इति नर्मदातटेऽभूत् भृगुकच्छेऽश्वबोध इति नाम्ना। तीर्थं समस्ततीर्थातिशायि पुण्यं प्रवृत्तमदः॥39॥
श्रीसुव्रतनिर्वाणात् द्वादशसु ततः समासहस्रेषु। अधिकेषु द्वादशभिः पञ्चचकीदमुद्धे॥40॥
हरिषेणचक्रवर्ती पुनरुद्धारं चकार दशमोऽस्य। एवं च वर्षलक्षा एकादश जग्मुरभ्यधिकाः॥41॥
घण्णवतिसहस्राब्दैरुद्धारशते च तत्र जातेऽस्य। सुवर्शनाभ्युद्धारः प्रकीर्त्यते तदुत्पत्तिरथ॥42॥

3. वैताण्ड्यपर्वतोपरि रथनूपुरचक्रवालनाम्नि पुरे। राजा विजयरथोऽभूत् तत्कान्ता विजयमालेति॥43॥
विजयराथो तदुहिता तीर्थानां प्रणमनाथ किल यान्ती। कुक्कुटसर्पं पुरतोऽवतीर्णमालोकयामास॥44॥
अशकुन इति पत्तिजनैरुपेक्षितवती प्रहण्यमानं सा। श्रीशान्तिनाथतीर्थं गत्वा च ननाम सा भावात्॥45॥
तत्र च विद्याचारणयतिनीयतनैकनिष्ठचारित्राः। नत्वा जीववधस्योपेक्षायां सानुतापाभूत्॥46॥
तत्कर्म तनूचक्रे किञ्चिदधान्ते स्वजीवितव्यस्य। निजगृहधनमोहार्तध्यानान्मृत्वाभवच्छकुनिः॥47॥
स व्यालो व्याधोऽभूत् ततोऽन्यदा मासि भाद्रपदसंज्ञे। बहुदिनवर्षोपशमे वटवृक्षस्था च सा क्षुधिता॥48॥
सप्तापत्यनिमित्तं स्वार्थं चाहारवौक्षिका शकुनिः। व्याधस्य तस्य गेहे चञ्च्वा जगृहे पललखण्डम्॥49॥-युग्मम्।
उड्डीय चान्तरिक्षे गच्छन्ती प्रणिहितेषुणा तेन। श्रीसुव्रतचैत्यपुरः पतिता कण्ठागतप्राणा॥50॥
तत्पुण्यतोऽथ भानुभूषण इति यतियुगं च तत्रगात्। कृपया ताभ्यामाश्वसिता च पानीयसंसेकात्॥51॥
पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रं साऽश्राव्यत तत्र यामयुगलाभ्याम्। तत्तीर्थध्यानपरा परलोकं सा ततः समगात्॥52॥
अस्ति च सागरतीरे दक्षिणखण्डेऽथ सिंहलद्वीपः। राजाऽत्र चन्द्रशेखरनामा कामाकृतिर्जज्ञे॥53॥
तस्यास्ति चन्द्रकान्ता कान्ता रूपेण जितरतिप्रीतिः। शकुनिस्तदुहिताऽभूत् सुवर्शनेत्याख्यया विदिता॥54॥
अथ च जिनवासनाभाभृगुपुरसार्थेश्वरः प्रवहणेन। तत्रायासीद् भूपतिरथ तेन प्राभृतैर्ददृशे॥55॥
आयुर्वेदी च तदा नृपतेः श्लेष्मोपशामकं चूर्णम्। प्रददे तीव्रत्रिकटुकयुक्तं तल्लेश उत्पतितः॥56॥
तेन घ्राणगतेन क्षुतमायातं बलाच्च घणिजोऽस्य। पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रः प्रोक्तोऽनेन प्रभाजनिधिः॥57॥
राजसुता तं श्रुत्वा मूर्च्छां प्राप्ता पुरातनं जन्म। सस्मार जनकपृष्टा प्राच्यं निजगाद् निजचरितम्॥58॥
अत्याग्रहेण पितरं तत्तीर्थोत्कण्ठिता तदाऽपृच्छत्। अप्रेषयति गुरौ सा प्रतिशुश्रावानशनमेव॥59॥

अतिवल्लभापि दुहिता प्रहिता जिनवाससार्थवाहेन। आलिभिरष्टादशभिः पदातिभिः षोडशसहस्रैः॥६०॥
अष्टादशभिर्यनैः मणिकाञ्चनरजतमौक्तिकापूर्णैः। अष्टाभिः कञ्चुकिभिस्तथाङ्गरक्षैश्च तत्संख्यैः॥६१॥
सहसा सह साऽचालीदशेषपरिवारपरिवृताथ ततः। सा प्राप राजपुत्री मासेनोपोषिता तीर्थम्॥६२॥ -
त्रिभिर्विशेषकम्।

श्रीमुनिसुव्रतनाथं प्रणम्य तत्रोत्सवं च विदधेऽसौ। तौ भानु-भूषणमुनी प्रणनाम च सुकृतिमुकुटमणिः॥६३॥
धनमानीतं सर्वं ताभ्यां ढौकितवती कृतज्ञतया। निस्सङ्गत्वादाभ्यां निषेधिता भवविरक्ताऽभूत्॥६४॥
उद्ध्रे सा चैत्यं जीर्णं तीर्थस्य कनकरत्नदलैः। श्रीशकुनिकाविहारः प्रसिद्धमिति नाम तस्याभूत्॥६५॥
द्वादशवर्षाणि ततस्तप्त्वा दुस्तपतपोभरं प्राप्ते। विहितानशना मृत्वा सुदर्शननाख्या सुरी समभूत्॥६६॥
देवीलक्षपरिवृता विद्यादेवीसखीत्वमापन्ना। सा पूर्वभवं स्मृत्वा सुरकुसुमैरर्चति स्म जिनम्॥६७॥
अष्टादशवरसख्यस्तस्या दुर्गात्वमापुरत्र पुरे। जम्बूद्वीपसमानावासा भुवनेषु निवसन्त्यः॥६८॥
अथ सा विवेहनन्दीश्वरादितीर्थेषु वन्दते प्रतिमाः। तीर्थकृतां श्रीसुव्रतपदकमलध्यानलयलीना॥६९॥
श्रीवीरजिनस्य पुरः साऽन्येद्युर्नाट्यमुत्तमं विदधे। तत्र सुधर्मधीशः पप्रच्छ जिनं किमेतदिति॥७०॥
तत्पूर्वभवं सर्वं सर्वज्ञः प्रथयति स्म तत्पुरतः। अस्मात् तृतीयजन्मन्येषा निर्वाणमेष्यति च॥७१॥
एतत्सामर्थ्यवशाद् भृगुपुरमेतन्न भङ्गमाप्नोति। अतिसुरभिपुष्पफलरम्यमेतदिह विजितपरनगरम्॥७२॥
सकलकुसुमावचयं विचिन्वती प्रतिदिनं जिनाचार्यैः। परसुरपूजनविघ्नं विदधे संतापदं लोके॥७३॥
श्रीसंघप्रार्थनया श्रीमत्कलहंससूर्यस्तां च। आर्य्यसुहस्तिविनेयाः संस्तभ्य निवारयामासुः॥७४॥
सम्प्रतिराजा च पुनर्जीर्णोद्धारं चकार तीर्थेऽस्मिन्। मिथ्यादृष्टिव्यन्तरवृन्दः तत्रोपससृजे च॥७५॥
श्रीगुणसुन्दरशिष्यैर्निवारितास्ते च कालिकाचार्यैः। पञ्चाधिकविंशतियोजनान्तरा स्वप्रभावेन॥७६॥
श्रीसिद्धसेनसूरेर्दिवाकराद् बोधमाप्य तीर्थेऽस्मिन्। उद्धारं ननु विदधे राजा श्रीविक्रमावित्यः॥७७॥
कालिकसूरिः प्रतिमां सुदर्शनाया व्यधापयद् यां प्राक्। साऽऽकाशे गच्छन्ती निषेधिता सिद्धसेनेन॥७८॥

श्रीवीरमुक्तितः शतचतुष्टये चतुरशीतिसंयुक्ते।

वर्षाणां समजायत श्रीमानाचार्यखपुटगुरुः॥७९॥

मिथ्यादृष्टिसुरेभ्यो येन तदा सुव्रतप्रभोस्तीर्थम्।

मोचितमिह ताथागतमतस्थितेभ्यश्च वाविध्यः॥८०॥

श्रीवर्धमानसंवत्सरतो वत्सरशताष्टकेऽतिगते।

पञ्चाधिकचत्वारिंशताधिके समजनि बलभ्याः॥८१॥

भङ्गस्तुरष्कविहितस्तस्मात् ते भृगुपुरं विनाशयितुम्।

आगच्छन्तो देव्या निवारिताः श्रीसुदर्शनया॥८२॥

श्रीवीरवत्सरावथ शताष्टकं चतुरशीतिसंयुक्ते।

जिग्ये स मल्लवावी बौद्धास्तद्व्यन्तरांश्चापि॥८३॥

श्रीसातवाहनाख्यो भूप इदं तीर्थमुद्धार पुनः। श्रीपावलप्लितसूरिर्ध्वजप्रतिष्ठां व्यधात् तत्र॥८४॥
प्रत्यक्षीभूय तयोः पुरतो नाटयं सुदर्शना विदधे। विंशतितमतीर्थेश्वरनिरवधि बहुमानशृङ्गारा॥८५॥

4. श्रीआर्यखपुटवंशे सूरिः श्रीविजयसिंह इत्यासीत्। शमदमनियमतपस्याकमलाकमलोपमाकलितः॥८६॥
अन्येद्युः शत्रुञ्जय-रैवतकप्रभृतितीर्थमुख्येषु। तीर्थाभिपान् प्रणन्तुं व्यवहरत् कृतसंयमोद्धारः॥८७॥
समगंस्त सुराष्ट्रायां शनैस्ततः प्राप रैवतकशैले। तं चारुरोह तीर्थस्वामिध्यानैकलीनमनाः॥८८॥
श्रीनेमिनाथतीर्थे शासनरक्षाविचक्षणा देवी। श्रीमत्यम्बाभिधया प्रस्तावात् कथ्यते तदाख्यानम्॥८९॥

तत्त्वं -

5. काश्यपरोपितनगरे कासह्वाख्यं समस्ति भूदेवः। श्रीसर्वदेवनामा वेदचतुष्कस्य पारगतः॥१९०॥
तस्यास्ति सत्यदेवीत्याख्या वरवल्लभा सतीरत्नम्। पुत्री च तयोर्म्बादेवीनाम्नी सुकृतिमौलिः॥१९१॥
यौवनसंप्राप्तां तामवृणोदतिथिश्च कोटिनगरीयः। कुलशीलरूपचारुः स सोमभट्टाख्यया विदितः॥१९२॥
उद्वाह्य च स्वनगरे जगाम रामाजनाभिगमां ताम्। उत्सवतो निजगेहं प्राविक्षत् परिहृतक्लेशः॥१९३॥
एवं गच्छति काले पुत्रद्वयमजनि वृजिनमुक्तायाः। पूर्वं विभाकराख्यः शुभंकरो नामतोऽन्यश्च॥१९४॥
तत्र श्रीनेमिजिनान्तेवासि श्रीसुधर्मसूरीणाम्। मुनियुगलं तद्वेश्मनि भिक्षायैः विशदवृत्तमगात्॥१९५॥
अम्बादेव्यपि निर्मलमनसा सिद्धं समस्तमप्यन्नम्। दानविधिविहितहर्षं व्यजीहरद् वासनैकविधिः॥१९६॥
प्रहितौ प्रणम्य साधू तावत् प्रायान्न सोमभट्टश्च। कृतवैश्वदेवकृत्यं विना कथं रसवती स्पृष्टा॥१९७॥
इत्यपराधोद्भावनपूर्वं दुर्वचनसंहतिमवादीत्। ताममुखविकारां च प्रजहार मुखं चपेटाभिः॥१९८॥
गृहमानुषैश्च सा मोचिताऽनुकम्पावशात् ततो वनिता। अपमानाग्निरगच्छत् पुत्रावादाय सा गेहात्॥१९९॥
आरोहयदथ कट्यां लघुं तथा चाङ्गुलिं प्रसह्य गुरुम्। व्यमृशज्जिनमुनिदाने वरयित्राऽहं पराभूता॥२००॥
तस्मात् स एव मार्गः शरणं मे भवतु जैनविधिविशदः। श्रीरैवतगिरिमभि सा मानारूढा ययौ त्वरितम्॥२०१॥
क्षुधिता तृषिता श्रान्ता पुनरुच्छ्रितमारुरोह गिरिराजम्। ध्यात्वेति सुकृतकामा प्रणनामारिष्टनेमिजिनम्॥२०२॥
चैत्यान्निर्गत्य ततो विश्रान्ता चूततरुतले तनुजः। परिपक्विमफललुब्धो क्षुधातुरः प्रार्थयामास॥२०३॥
तामस्य चार्पयित्वा श्रीनेमिस्मरणमथ विधायैषा। झम्पापातं चक्रे तस्माच्छिखरात् सपुत्रापि॥२०४॥
श्रीनेमितीर्थनाथस्मृतिवशतो दैवतर्द्धिमाप तदा। विस्मृतकोपाटोपो विप्रोऽपि प्रापदनुतापम्॥२०५॥
अकथितवार्तां निलये सोऽप्यस्या आनुपदिकतां प्राप्य। आरूढो रैवतके सहकारं भैरवं चाप॥२०६॥
तन्त्रितयमृतिं मत्वा हत्यादोषी कथं नु जीवामि। आकूणितगन्धज्ञं प्रदर्शयमानोऽङ्गुलीभिरहम्॥२०७॥
तस्मान्ममापि मृत्युः श्लाघ्योऽत्रैवाहता पवित्रेऽद्वौ। याऽमीषां सा मे स्याद् गतिरपरैः प्रलपितैः किं नु॥२०८॥
एवं विचिन्त्य पते तत्रैवानेन भैरवे भयदे। लेभे तद्वाहनता सिंहतया व्यन्तरीभूय॥२०९॥
साऽम्बादेवी श्रीनेमिनाथतीर्थेऽत्र भक्तियुक्तानाम्। साहाय्यं कुर्वाणा तत्र गिरौ विद्यतेऽद्यापि॥२१०॥

6. अथ विजयसिंहसूरिस्तत्राष्टाङ्गप्रणाममाधाय। विहिततीर्थोपवासस्तीर्थेषां तुष्टुवे सुष्टु॥१११॥
निरुपमचारित्रनिधिं तत्र प्रेक्ष्यामुमम्बिका देवी। क्षणदायां प्रत्यक्षा भूत्वा प्रणनाम तत्पादौ॥११२॥
अम्बा त्वं द्विजपत्नी पतिपरिभूता जिनाङ्घ्रिसरसिरहम्।

स्मृत्वा सुरत्वमाप्ता त्वामनु पतिरपि च तादृगभूत्॥११३॥

तस्येति वचः श्रुत्वा हृष्टाऽवादीत् समादिशत किञ्चित्।

ते प्राहुरनीहानां कार्यं नः किमपि नास्ति शुभे॥११४॥

सा निःस्पृहत्वतुष्टा विशेषतस्तानुवाच बहुमानात्।

गुटिकां गृह्णीत विभो ! चिन्तितकार्यस्य सिद्धिकरीम्॥११५॥

चक्षुरदृश्यो गगनेचरश्च रूपान्तराणि कर्ता च। कवितालम्बिप्रकटो विषहृद् बद्धस्य मोक्षकरः॥११६॥
भवति जनो गुरुलघुतां प्रपद्यते स्वेच्छया तथावश्यम्।

अनया मुखे निहितया विकृष्टया तदनु सहजतनुः॥११७॥

सुगुरोरनिच्छतोऽपि हि हस्ते मुक्त्वा तिरोदधे च सुरी। वदने तां न्यस्य प्राक् श्रीनेमिस्तवममुं चक्रे॥११८॥
'नेमिः समाहितधिया' मित्यादिभिरमरवाक्यसंकाशैः।

काव्यैरस्तौत् श्रीनन्नेमिम्ः स्तुतिरस्ति साऽद्यापि॥११९॥

सूरिरथ तीर्थयात्रां विधाय चायात् तदा भृगुक्षेत्रे। संघप्रवेशमुख्यैर्महोत्सवैस्तं समर्चयत्॥120॥

7. अन्येद्युरंकुलेश्वरनगरात् प्रबलेन पवनवेगेन। जाज्वल्यमान उच्चैर्वशकटः प्राप तन्नगरे॥121॥
अर्चिर्वलयपरिप्लुतसदनापणहर्म्यचैत्यकोटीषु। अनलः प्रससार तदा सागर इव मुक्तमर्यादः॥122॥
प्रथमकवले तृणावृतगृहाणि कावेल्लुकावृतानि तथा। मध्याहारे किल कुट्टिमानी तृप्त्यर्थमस्यासन्॥123॥
दंदह्यमानमानुषपशुखचराक्रन्दभैरवारावम्। शारदगर्जिरिवोऽसौ बधिरितवियदनल उत्पेदे॥124॥
भस्मीकृतं समस्तं नगरं तेनेह दहनरूपेण। समवर्तिना सगोपुरदुर्गारियन्त्रपरिकरितम्॥125॥
उपशान्ते नियतिवशादनुपक्रमसाध्य ईदृगुपसर्गे। श्रीमुनिसुव्रतचैत्यं काष्ठमयं भस्मसात् तदभूत्॥126॥
पाषाण-पित्तलामयदेवप्रतिमा विशीर्णसर्वाङ्गाः। अभवन् सुव्रतबिम्बं तस्थावेकं तु सदवयवम्॥127॥
विश्वप्रकाशरूपा दाहनेरस्य ननु नवा मृत्स्ना। समराङ्गण इव मर्दितवीरे स्थैर्यस्थिते पुंस्ति॥128॥
अथ विजयसिंहसूरिर्गुटिकां वदने निधाय सत्पात्रम्। हस्ते कृत्वा तीर्थोद्धारय स गोचरं व्यचरत्॥129॥
इभ्यब्राह्मणवेश्मसु पूर्वमगाद् धर्मलाभवक्ताऽसौ। श्रीमुनिसुव्रतचैत्योद्गारे भिक्षां प्रयाचे च॥130॥
पञ्चाशत् कोऽपि शतं द्विशतौ वा कोऽपि जातरूपस्य। प्रददौ तस्य महर्षेः पञ्चसहस्रास्तदाऽभूवन्॥131॥
अष्टमहासिद्धिभूतस्तस्यासाध्यो धनागमो नैव। चारित्रधनं रक्षन् नादत्तादतमिह भगवान्॥132॥
पुनरुददीधरदाशु प्रधानदारुव्रजेन सूत्रभृता। वर्द्धकिरत्नेन तदा चक्रीवाह्वाय जिनसन्ना॥133॥
तत्करवासप्रभवप्रभावतस्तत्र समदहद् वह्निः। अमृतनिधौ तन्मन्त्रे न प्रभवति किन्तु विध्याति॥134॥
एकादशसु समानां लक्षेषु गतेषु विंशजिनसिद्धेः। पश्चाशीतिसहस्रीषट्शतषडशीतिसहितेषु॥135॥
जीर्णमुपजिहिकाभिर्जर्जरकाष्ठं चिरेण तज्जज्ञे। पुनरुदध्रे ग्रावभिरंबड इह राणकः श्रीमान्॥136॥
श्रीविजयसिंहसूरिर्जिनसमयद्रोणिकर्णधारकलः। आयुःप्रान्तेऽनशनं प्रगृह्य दैवीं भुवं प्राप॥137॥
अद्यापि तस्य वंशे प्रभावकाः सूरयः समुदयन्ते। यत्तेजःप्रसरेण प्रसर्पता शासनं जयति॥138॥

इत्थं प्रभोर्विजयसिंहमुनीश्वरस्य वृत्तं पवित्रमतिदुष्करमल्पसत्त्वैः।

अश्वाद्यबोधवरतीर्थचरित्ररम्यं वृत्तेन चातिशयचारु सुदर्शनायाः॥139॥

अम्बासुरीवरचरित्रपवित्रमत्र संघस्य पुष्टिकरमद्भुतमुन्नतायाः।

अध्यस्यमानमतुलं प्रकटप्रभावं भूयात् समस्तजिनशासनवैभवाय॥140॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ प्रद्युम्नसूरीक्षितः

शृङ्गोऽजायत षष्ठ एष गुटिकासिद्धस्य वृत्तं प्रभोः॥141॥

॥ इति श्रीविजयसिंहसूरिप्रबन्धः ॥



श्रीजीवसूरिचरितम्

1. अर्हद्ब्रह्मस्थगोः प्राणोल्लासेन चरणोदयम्। विदधे स ददातु श्रीजीवदेवप्रभुः श्रियः॥1॥
 निजप्राणैः परप्राणान् पूर्वोऽपि स्वाङ्गदा दधुः। अक्षतो जीवजीवातुर्नापरो जीवदेववत्॥2॥
 अद्यप्रातीन (?) कालीयो मादृक्षस्तस्य वर्णने। परं मां मुखरं कर्तुं तदभक्तेर्नापरः प्रभुः॥3॥
 लचित्रं जाड्यकक्षस्य वहित्रं पापवारिधेः। धवित्रं दुःखधर्मस्य चरित्रं तस्य कीर्त्यते॥4॥
 जगत्प्राणः पुरा देवो जगत्प्राणप्रदायकः। स्वयं सदाऽनवस्थानः स्थानमिच्छन् जगत्यसौ॥5॥
 वायटाख्यं महास्थानं गूर्जरावनिमण्डनम्। ददौ श्रीभूमिदेवेभ्यो ब्रह्माभ्य इव मूर्तिभिः॥6॥ - युगम्।
 शालातालकसम्बन्धनिवेशेन तदा मरुत्। निदधे ब्रह्मशालायां चैत्ये च परमेष्ठिनम्॥7॥
 मलयाद्रौ यथा सर्वे चन्दनन्ति महीरुहः। ब्राह्मणा वणिजश्चात्र तथासन् वायटाख्यया॥8॥
 अभूज्जातिः स्फुरज्जातिपुष्पसौरभनिर्भरा। सरसालिभिराराध्या तन्नाम्ना सर्वमूर्द्धगा॥9॥
 धर्मदेवः श्रियां धाम श्रेष्ठी तत्रास्ति विश्रुतः। साक्षाद्धर्म इव न्यायार्जितद्रव्यप्रदानतः॥10॥
 शीलभूस्तस्य कान्तास्ति नाम्ना शीलवती यया। आनन्दिवचसा नित्यं जीयन्ते चन्द्रचन्दनाः॥11॥
 तयोः पुत्रावुभावास्तां श्रेयःकर्मसु कर्मतौ। महीधरो महीपालोऽभिधाभ्यां विश्रुताविति॥12॥
 महीपालोऽप्यभूत् कर्मदोषाद् देशान्तरभ्रमी। महीधरश्च सौभ्रात्रस्नेहाद् वैराग्यवानभूत्॥13॥
 तत्रास्ति जंगमं तीर्थं जिनवत्तः प्रभुः पुरा। संसारवारिधेः सेतुः केतुः कामाद्यरिब्रजे॥14॥
 संप्राप्य सूत्रधारं यं सत्काष्ठोत्कर्षसंघटम्। संपूर्णसिद्धिसौधस्य मध्यमाध्यासताश्रिताः॥15॥
 अन्यदा तं प्रभुं नत्वा भवेद्विनो महीधरः। बन्धोर्विरहवैराग्यात् प्रार्थयज्जैनसङ्गमम्॥16॥
 योग्यं विज्ञाय तं तस्य पितरौ परिपृच्छय च। प्रब्रज्यां प्रददौ सूरिरभाग्यालभ्यसेवनः॥17॥
 गुरुशिक्षां द्विधादायानेकविद्याब्धिपारगः। अतिप्रज्ञाबलात् सोऽभूदभूमिः परवादिनाम्॥18॥
 भववारिधिनिस्तारपोताभं भविनां भुवि। तं शिष्यं स्वपदे न्यस्य गुरुः प्रेत्यश्रियोऽभजत्॥19॥
 शाखानुगतनाम्नाऽसौ श्रीराशिलगुरुस्ततः। विद्याविनोदतः कालं गच्छन्तमपि वेद न॥20॥

2. महीपालस्तथा तस्य बन्धू राजगृहे पुरे। प्रापद् दिगम्बराचार्यं श्रुतकीर्तिमिति श्रुतम्॥21॥
 प्रतिबोध्य व्रतं तस्य ददौ नाम च स प्रभुः। सुवर्णकीर्तिरिति तं निजां चाशिक्षयत् क्रियाम्॥22॥
 श्रुतकीर्तिगुरुस्तस्यान्यदा निजं पदं ददौ। श्रीमदप्रतिचक्राया विद्यां च धरणार्चिताम्॥23॥
 परकायप्रवेशस्य कलां चासुलभां कलौ। भाग्यसिद्धां प्रभुः प्रादात् तादृग्योग्या हि तादृशः॥24॥
 तत्पुरागतवाणिज्यकृद्भ्यो ज्ञात्वा जनन्यथ। जगाम मिलनायास्य भर्तरि त्रिदिवं गते॥25॥
 मिलिता तस्य तद्गृह्यैर्मनितः मान्यतानिधिः। जननीदृग् गुरो रत्नखनिवत् कस्य नार्हिता॥26॥
 तीर्थकृद्धर्मतत्त्वानामविवादेऽपि काञ्चन। समाचारभिदां दृष्ट्वा निज एव सुतद्वये॥27॥
 अवदत् शङ्किता वत्स! जैने धर्मोऽपि वोऽन्तरम्। श्वेताम्बरोऽतिनिष्ठाभूर्दृष्टोऽयं निःपरिग्रहः॥28॥

किञ्चिद्भवान् सुखी पूजालोलो बहुपरिग्रहः। तन्मे शंस कथं सिद्धिः प्राप्यते व्यापृतैर्जनैः॥२९॥
ततस्त्वं पूर्वजस्थाने समागच्छ मया सह। यथोभौ भ्रातरौ धर्मं संविचार्यसम्मतम्॥३०॥
शास्त्रैः प्रमाणसिद्धान्तैर्बुद्धेयमितरेतराम्। तदेकमतिकौ भूत्वा धर्मं स्थापयतं हि माम्॥३१॥
स मातुरुपरोधेन विजह्ये त्रायटे पुरे। नाशिक्याविव तौ तत्राभिन्नरूपौ च संगतौ॥३२॥
आचार्यौ किल सोदर्यौ श्वेताम्बर-दिगम्बरौ। स्वस्वाचारं तथा तत्त्वविचारं प्रोचतः स्फुटम्॥३३॥
दिग्वासा निर्म्ममाभासः सद्व्रतः श्वेतवाससा। अपि प्रौढवचःशक्तिर्बोधितः शोधिताहसा॥३४॥
तावन्यदा सवित्र्या च भिक्षावृत्तै निमग्नितौ। महाभक्त्या तदाधारदर्शनार्थं च किञ्चन॥३५॥
एकः शुश्रूषितस्थालीवन्दे भोज्यविधिः कृतः। सामान्यो मध्यमस्थानेष्वपरः प्रवरः पुनः॥३६॥
दिग्वासाः पूर्वमायातो द्वेधाप्यस्याथ दर्शितः। अमत्रनिकरो रम्यभाण्डस्थस्तेन चादृतः॥३७॥
यावददृष्टः कदर्योऽसौ शीतो दग्धो विसंस्कृतिः। सविकारं मुखं बिभ्रदपश्यन् मातरं तदा॥३८॥
तथा द्वितीयपुत्रस्य साधुयुग्मं समागतम्। प्रदर्श्य भोज्ययुग्मं च जननी प्राह हर्षतः॥३९॥
अनयोरुचितं यद् वस्तद् गृह्णीतेति जल्पिते। विमृश्य प्राहतुः साधु ग्राह्यं नः शुद्धमेव तत्॥४०॥
आधाकर्मिकदोषे च सदित्थे कल्पते न तत्॥ अपि द्वयमनादायागातां तौ मुनिसत्तमौ॥४१॥
अथ प्राह सवित्री च सवित्री धर्मकर्मणः। सुतं दिगम्बराचार्यं 'दृष्टं भ्रातृव्रतं त्वया?'॥४२॥
बहौ रम्ये शुभाभासे रक्तानामल्पकं फलम्। आहार इव धर्मेऽपि ध्यात्वेति स्वरुचिं कुरु॥४३॥
प्रतिबुद्धो जनन्या स वाग्भिर्बन्धोश्च सन्मतिः। भास्वान् प्रपद्यते स्मैष महसे निर्मलाम्बरम्॥४४॥
श्रीराशिलप्रभोः पार्श्वे दीक्षा-शिक्षाक्रमादयः। जैनागमरहस्यानि जानन् गीतार्थतां ययौ॥४५॥
अन्यदा सद्गुरुर्योग्यं बन्धु पट्टेन्यवीविशित्। श्रीजीवदेव इत्याख्याविख्यातः सद्गुरुर्बभौ॥४६॥

3. यतिपञ्चशतीरूपपरिवारविराजितः। आन्तरद्वेषिनिष्पेषनिशिंशः सदयोऽपि सन्॥४७॥
व्याख्यां कुर्वन्नुदग्रशीः श्रीवीरभवेनऽन्यदा। योगिना भोगिना दृष्टिविषेणेवंक्षितो गुरुः॥४८॥ -युग्मम्।
दध्यौ च स महातेजाः सकलो धवलाम्बरः। सार्वभौम इवाभाति जनेऽस्मिन् विस्मयं दधन्॥४९॥
प्राकृतोपद्रवे शक्तिर्या सा का येऽस्य चेदिह। विदधे किमपि क्षुण्णमक्षुण्णं तदहं पुमान्॥५०॥
विमृश्येति सभामध्यमध्यासीनः स्वलोलया। लोलयाबध्य पर्यङ्कमुपाविशदिलातले॥५१॥
वाचकस्य रसज्ञां चास्तम्भयन् मौनवान् स च। अभूत् तद् (दि) द्वितैर्ज्ञातं गुरुणा योगिकर्म तत्॥५२॥
स्वशक्त्या वाचने शक्तं स्वं विनेयं विधाय च। अमुञ्चत् समये व्याख्यामव्याकुलमनाः प्रभुः॥५३॥
तस्य पर्यस्तिकाभूमावासनं वज्रलेपवत्। तस्थौ यथा तथा तस्य प्रस्तरेणेव निर्मितम्॥५४॥
ततोऽवददसौ कृत्वा करसम्पुटयोजनम्। अलीकप्रणिपातेन महाशक्तो! विमुञ्च माम्॥५५॥
अपि श्रद्धालुभिः कैश्चिद् विज्ञप्तः कृपया प्रभुः। मुक्तोऽगात् तेन कः शक्तः कुञ्जरेणेषुभक्षणे॥५६॥
प्रभुर्यथेधयत् तत्र साधुसाध्वीकदम्बकम्। उदीच्यां दिशि गच्छन्तं स्वीकृतायां कुयोगिना॥५७॥
धर्मकर्मनियोगेन साध्वीयुगमगात् ततः। तत्र कासारसेतौ च तिष्ठन् योगी ददर्श तत्॥५८॥
अथ सन्मुखमागत्य लाघवाल्लाघवाश्रयः। एकस्या मूर्ध्नि चूर्णं च किञ्चित्क्षेप निष्कृपः॥५९॥
तस्य सा पृष्ठतो गत्वा पार्श्वे निविविशे ततः। वृद्धयोक्ता न चायाति धिक्कृष्टं पूज्यलंघनम्॥६०॥
साश्रुरागत्य सूरिणां सा तद्भुक्तं व्यजिज्ञपत्। मा विषीद भलिष्यामः कार्येऽत्रेति प्रभुर्जगौ॥६१॥
ततः कुशमयं तत्र पुत्रकं ते समर्पयन्। चतुर्णां श्रावकाणां च शिक्षित्वा तेऽप्यथो ययुः॥६२॥

निर्गत्य च बहिर्श्चैत्याच्छित्त्वा तस्य कनिष्ठिकाम्। तत्पार्श्वगाः करं तस्य ददृशुस्ते निरङ्कुलिम्॥६३॥
 पृष्टः कस्मादिदं जातमकस्मादिति सोऽवदत्। ऊचे तैर्मुच्यतां साध्वी बहुप्रत्यूहकारिणी॥६४॥
 अमानयति तां वाचं तत्र ते पुत्रकाङ्क्षुलिम्। द्वितीयां पश्यतस्तस्याछिन्दन् साऽप्यनुदद् द्रुतम्॥६५॥
 अथाभ्यधुर्दण्डसाध्या नीचास्तत्कृपयाऽङ्गुली। तव छिन्ना शिरश्चैवं छिनद्वाश्चेत् त्वकं कुतः॥६६॥
 मुञ्च साध्वी न चेत् पापं छेत्यामस्तव मस्तकम्। न जानासि परे स्वे वा शक्त्यन्तरमचेतन॥६७॥
 सम्यग् भीतस्ततः सोऽपि प्राह नीरेण सिच्यताम्। अस्याः शिरस्ततो यातु निजं स्थानमनाकुला॥६८॥
 तथा कृते च तैः साध्वी तत्र साऽभूत् सचेतना। आगत्य च निजं स्थानं सा बालाऽऽलोचनां ललौ॥६९॥
 भीतभीतः पलाय्यासौ योगी देशान्तरं ययौ। तादृशां किं वराकाणां गम्या गुरव ईदृशाः॥७०॥

4. इतः श्रीविक्रमादित्यः शास्त्यवन्तीं नराधिपः । अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम्॥७१॥
 वायटे प्रेषितोऽमात्यो लिम्बाख्यस्तेन भूभुजा। जनानृण्याय जीर्णं चापश्यच्छ्रीवीरधाम तत्॥७२॥
 उद्धधार स्ववंशेन निजेन सह मन्दिरम्। अर्हतस्तत्र सौवर्णकुम्भदण्डध्वजालिभूत्॥७३॥
 संवत्सरे प्रवृत्ते सषट्सु वर्षेषु पूर्वतः। गतेषु सप्तमस्यान्तः प्रतिष्ठां ध्वज-कुम्भयोः॥७४॥
 श्रीजीववेवसूरिभ्यस्तेभ्यस्तत्र व्यधापयत् । अद्याप्यभङ्गं तत्तीर्थममूदुरिभः प्रतिष्ठितम्॥७५॥

5. इतश्चास्ति महास्थाने प्रधानो नैगमव्रजे । दारिद्र्यारिजये मल्लः श्रेष्ठी लल्लः कलानिधिः॥७६॥
 महामाहेश्वरः कोटिसंख्यद्रव्येण भास्वरः । महादानं मुदा सोऽदात् सूर्यग्रहणपर्वणि॥७७॥
 तथा होमं समारब्धवता तेन द्विजोत्तमाः । ऋत्विजो यायजूकक्षाहूता अध्वरदीक्षिताः॥७८॥
 तानभ्यर्च्य महाभक्त्या वेदविद्याविशारदान् । प्रावर्त्यत ततो होमः प्रौढमन्त्रस्वरोर्जितः॥७९॥
 तत्र कुण्डोपकण्ठेऽहिस्तदूर्ध्वस्थाभ्लिकाद्रुमात् । धूमाकुलाक्षियुगोऽसौ फटत्फटिति चापतत्॥८०॥
 आदातुमेष भोगीन्द्रः स्वयमागत आहुतीः । वाचालेषु द्विजेष्वेवं कोऽपि वह्नौ तमक्षिपत्॥८१॥
 जाज्वल्यमानमुद्वीक्ष्य यजमानः सुधीश्च तम्। कृपया कम्पमानाङ्गः प्राह किं दुष्कृतं कृतम्॥८२॥
 जीवन् पञ्चेन्द्रियो जीवः स्फुटं दृश्यः सचेतनः । सहसैव ज्वलद्बह्नौ क्षिप्यते धर्म एष कः॥८३॥
 अध्वर्युराह च श्रेष्ठिन्! नहि दोषोऽस्ति कश्चन। सुमन्त्रसंस्कृते वह्नौ पतितः पुण्यवानहिः॥८४॥
 यातेऽत्र ज्वलने मृत्वा हिंस्रजीवा महाहंसः । प्राप्नुयुर्देवभूयं ते सुमानुष्यमथ ध्रुवम्॥८५॥
 तत् प्रत्युतोपकारोऽयं विदधे बटुनाऽमुना । अतोऽल्पमपि नैव त्वं सन्तापं कर्तुमर्हसि॥८६॥
 कृपालुरास्तिक श्वेत् त्वं प्रायश्चित्तं ततः कुरु । सौवर्णं द्विगुणं तस्मादहिं देहि द्विजव्रजे॥८७॥
 तदादेशादसौ सर्पं क्षिप्रं हैममचकीरत् । मन्त्रैस्तं संस्कृतं दृष्ट्वा छेदकाले तमब्रवीत्॥८८॥
 पूर्वस्य फणिनो हिंसापापेऽसौ कारितो भया । एतद्वधेऽपरः कार्योऽनवस्थाऽऽपद्यतात्र तत्॥८९॥
 ततोऽहं नावगच्छामि धर्ममेनं कथं मृषा । विप्लावयत मां तस्माद् विसृष्टं सकलं मया॥९०॥
 वह्निर्विध्यापितः कुण्डमुद्धतं प्रेषिता द्विजाः । शान्ते मैरेयमाहात्म्ये न कोऽप्यसदृशं चरेत्॥९१॥
 ततः प्रभृत्यसौ धर्मे दर्शनानि समीक्षते । भिक्षायै तद्गृहे प्राप्तं श्वेताम्बरमुनिद्वयम्॥९२॥
 अत्र संस्कृत्य चारित्रपात्राणां यच्छत ध्रुवम् । अमीषां ते ततः प्रोचुर्नास्माकं कल्पते हि तत्॥९३॥
 पृथिव्यापस्तथा वह्निर्वायुः सर्वो वनस्पतिः । त्रसाश्च यत्र हन्यन्ते कार्ये नस्तन्न गृह्यते॥९४॥
 अथ चिन्तयति श्रेष्ठी वितृष्णत्वादहो ! अमी । निर्ममा निरहङ्काराः सदा शीतलचेतसः ॥९५॥

ततोऽवददसौ धर्मं निवेदयत मे स्फुटम् । ऊचतुस्तौ प्रभुश्चैत्ये स्थितस्तं कथयिष्यति॥११६॥
 इत्युक्त्वा गतयोः स्थानं स्वं तयोरपरेऽहनि । ययौ लङ्गः प्रभोः पार्श्वे चक्रे धर्मानुयोजनम्॥११७॥
 ते च प्राहुर्दया धर्मः सर्वज्ञो देवता जिनः । महाव्रतधरो धीरो गुरुध्वस्तान्तरद्विषन्॥११८॥
 रागाद्यङ्काश्रयो देवो गुरुश्च सपरिग्रहः । धर्मश्च पशुहिंसाभिरेष मिथ्याभ्रमो महान्॥११९॥
 तस्मात् परीक्षया धर्मं प्रतिपद्यस्व धार्मिकः । परीक्षापूर्वकं टंकाद्यपि युष्माभिरिष्यते॥१२०॥
 श्रुत्वेति स प्रपेदेऽथ ससम्यक्त्वां व्रतावलीम् । धर्मं चतुर्विधं ज्ञात्वा समाचरदहर्निशम्॥१२१॥
 आह चैष प्रभो ! किञ्चिदवधारयताधुना । द्रव्यलक्षस्य सङ्कल्पो विहितः सूर्यपर्वणि॥१२२॥
 तदर्थं व्ययितं धर्माभासे वेद-स्मृतीक्षिते । कथमर्द्धं मया शेषं व्ययनीयं तदादिश॥१२३॥
 मम चेतसि पूज्यानां दत्तं बहुफलं भवेत् । तद् गृह्णीत प्रभो यूयं यथेच्छं दत्तमादरात्॥१२४॥
 अथाहुर्गुरुवो निष्किञ्चनानां नो धनादिके । स्पर्शोऽपि नोचितो यस्माद् वक्तव्यं किं नु संग्रहे॥१२५॥
 चिन्तां भवांस्तु मा कार्षीत् श्वः सन्ध्यासमये तव । प्रक्षालितैकपादस्य प्राप्तं यत् प्रद्वौकते॥१२६॥
 समीपे नस्तदानेयं कथयिष्यामहे ततः । श्रुत्वेति सदनं सोऽगाद् विमृशन् स्वगुरोर्वचः॥१२७॥
 परेऽहिं चोक्तवेलायां कश्चिद् वर्द्धकिरानयत् । तां शय्यापालिकां नो या भूपस्यापि परिग्रहे॥१२८॥
 स्मरन् गुरुवचः श्रेष्ठी तेन सार्द्धमुपाश्रये । गत्वा व्यजिज्ञपत् पूज्यपुरतो विस्मयोन्मुखः॥१२९॥
 प्रभवः पुनरागत्य वासान् निक्षिप्य धूर्वहौ । तदाधिवासयामासुरादिशङ्केति तं स्फुटम्॥१३०॥
 धुरंधराविमौ यत्र प्रयान्तौ तिष्ठतः स्वयम् । तत्र जैनालयं रम्यं द्रव्येणानेन कारय॥१३१॥
 ओमिति प्रतिपद्याथ धौरेयौ मुञ्चति स्म सः । मुत्कलौ जग्मतुर्ग्रामे पिप्पलानकनामनि॥१३२॥
 तत्रावकरदेशे च स्थितौ न चलतस्ततः । ग्रामाधिपतिरेतस्य गौरवाद् भूमिमारपयत्॥१३३॥
 तत्र कर्मान्तरे सूत्रधारैर्द्राग् विहिते सति । शिखरं मण्डपप्रासादस्य संपूर्णतामगात्॥१३४॥
 अवधूतः पुमान् कश्चिदपरेद्युः समाययौ । दृष्ट्वा प्रासादमाधत्त प्रशंसां घ्राणकूणकः॥१३५॥
 जनैस्तद्दूषणं पृष्टो जगाद प्रकटं स च । स्त्रियोऽस्थिशल्यमत्रस्ति विश्वदूषणशेखरः॥१३६॥
 विज्ञापिते च पूज्यानां मानयित्वा च तेऽदिशन् । उत्कील्य शल्यमाधाय चैत्यमारभ्यतां पुनः॥१३७॥
 द्रव्याभावोद्भवा चिन्ता कार्या लङ्गा नहि त्वया । द्रव्यं ते तदधिष्ठात्र्यः पूरयिष्यन्ति पुष्कलम्॥१३८॥
 उत्कीलने समारब्धे निशि शुश्रुविरे स्वराः । नोत्कील्यमित्यवज्ञाते निपतन्त्यत्र लोष्टकाः॥१३९॥
 पुनराख्यापिते बन्धपादा ध्यानमपूरयन् । देवाह्वाने कृते तत्र देवी साक्षादथाह तान्॥१४०॥
 कन्यकुब्जमहीभर्तुर्महिता दुहिता ब्रह्मम् । स्वीये सुखादिकादेशे तिष्ठन्ती गूर्जराभिधे॥१४१॥
 म्लेच्छभङ्गभयादत्र कूपेऽहं न्यपतं तदा । अभूवं भूम्यधिष्ठात्री मृत्वा स्वं चास्ति मे बहु॥१४२॥
 ततः स्वाङ्गास्थिशल्यानि नानुमन्ये विकर्षितुम् । ममानुमतौ कोऽपि किञ्चित् कर्तुं नहि प्रभुः॥१४३॥
 धर्मस्थानेषु पूज्यत्वं वारये प्रभवस्ततः । एनामन्वनयन् शान्ता ततोऽमीषां वचोऽमृतैः॥१४४॥
 अवोचद् यदि मामत्राधिष्ठात्रीं कुरुताधुना । तद्द्रव्यसहिताभूमिधर्मस्थानाय गृह्यताम्॥१४५॥
 गुरुभिः प्रतिपन्ने च चैत्ये निर्वर्त्तिते वरे । ते देवकुलिकां तस्या योग्यां पृथगचीकरन्॥१४६॥
 आख्या भवनदेवीति कृता तस्यास्तदत्र च । अविन्त्यशक्तिरद्यापि पूजां प्राप्नोति धार्मिकैः॥१४७॥

6. अथ लङ्गं द्विजा दृष्ट्वा जिनधर्म्मैकसादरम् । स्वभावं स्वमजानाना दधुजैनेषु मत्सरम्॥१४८॥
 ततः संचरतां मार्गे साधूनां गोचरादिके । उद्वेगं ते प्रकुर्वन्ति गिरीणां वारणा इव॥१४९॥

इत्थमालोचिते तैश्च गुरुः प्राह क्षमावशात् । उपसर्गा विलीयन्ते रहस्यमिदमेव नः॥130॥
 अन्यदा बटवः पापपटवः कटवो गिरा । आलोच्य सुरभिं कांचिदचन्मृत्युदशास्थिताम्॥131॥
 उत्पाट्योत्पाट्य चरणान् निशायां तां भृशं कृशाम् । श्रीमहावीरचैत्यान्तस्तदा प्रावेशयन् हठात्॥132॥
 --युगम्।

गतप्राणां च तां मत्वा बहिः स्थित्वाऽतिहर्षतः । ते प्राहुरत्र विज्ञेयं जैनानां वैभवं महत्॥133॥
 वीक्ष्यः प्रातर्विनोदोऽयं श्वेताम्बरविडम्बकः । इत्थं च कौतुकाविष्टास्तस्थुर्देवकुलादिके॥134॥
 ब्राह्मे मुहूर्तं उत्थाय यतयो यावदङ्गणे । पश्यन्ति तां मृतां चेतस्यकस्माद् विस्मयावहाम्॥135॥
 निवेदिते गुरूणां च चित्रेऽस्मिन्नरतिप्रदे । अचिन्त्यशक्तयस्ते च नाक्षुभ्यन् सिंहसन्निभाः॥136॥
 मुनीन् मुक्त्वाऽङ्गरक्षार्थं मठान्तः पट्टसन्निधौ । अमानुषप्रचारेऽत्र ध्यानं भेजुः स्वयं शुभम्॥137॥
 अन्तर्मुहूर्तमात्रेण सा धेनुः स्वयमुत्थिता । चेतनाकेतनाचित्रहेतुश्चैत्याद् बहिर्ययौ॥138॥
 पश्यन्तस्तां च गच्छन्तीं प्रवीणब्राह्मणास्तदा । दध्युरध्युषिता रात्रौ मृता चैत्यात् कथं निरैत्॥139॥
 नाणुकारणमत्रास्ति व्यसनं दृश्यते महत् । अबद्धा विप्रजातिर्यद् दुर्गहा बटुमंडली॥140॥
 एवं विमृशतां तेषां गौर्ब्रह्मभवानोन्मुखी । प्रेक्षत्पदोदया पित्र्यस्त्रेहेनेव द्रुतं ययौ॥141॥
 यावत् तत्पूजकः प्रातर्द्वारमुदघाटयत्यसौ । उत्सुका सुरभिर्ब्रह्मभवने तावदाविशत्॥142॥
 खेटयन्तं बहिः शृङ्गयुगेनामुं प्रपात्य च । गर्भागारे प्रविश्यासौ ब्रह्ममूर्तेः पुरोऽपतत्॥143॥
 तद्भुजानं पारयामास जीवदेवप्रभुस्ततः । पूजको झल्लरीनादान्महास्थानममेलयत्॥144॥
 विस्मिता ब्राह्मणाः सर्वे मतिमूढास्ततोऽवदन् । तदा दध्युरयं स्वप्नः सर्वेषां वा मतिभ्रमः॥145॥
 समकालमभूत् तत्किं गौर्मृता चलिताऽपि च । तदप्यस्तु कथं ब्रह्मशालामाजगुषी स्वयम्॥146॥
 दैवदुर्घटितस्यास्य शक्या नहि विचारणा । ज्योतिर्विदामपि ज्ञानादतीतं कार्यमागतम्॥147॥
 - त्रिभिर्विशेषकम्।

अन्ये प्रोचुर्विचारः को बटूनां दुर्नयाम्बुधिः । भृशमुल्लङ्घ्य मर्यादां स्थानमुत्पातयिष्यति॥148॥
 अन्यत्र स्थानमाधत्त स्थानवासिद्विजब्रजाः । वायुनैव गता वायोः कीर्तिः स्थानादतो ध्रुवम्॥149॥
 अपरे प्राहुरेको न उपायो व्यसने गुरौ । भृगेन्द्रविक्रमं श्वेताम्बरं चैत्यान्तरस्थितम्॥150॥
 प्रणिपत्य प्रपद्यन्तां तं तथ्यं पुरुषं रयात् । अपारोऽयं हि चिन्ताब्धिस्तेन प्रोतेन तीर्यते॥151॥ -युगम्।
 अन्ये प्राहुः स्फुरद्भूमैर्युष्मद्विडम्भैर्विराधितः । अहर्निशं प्रसत्तिं स भवतां भजतां कथम्॥152॥
 कृतानुपद्रवानित्थं प्राकृतोऽपि न मृष्यति । किममानुषसामर्थ्यो जैनर्षिर्मूर्तिमान् विधिः॥153॥
 एकेऽवोचन् तथाप्यस्योपरोधः क्रियतेऽधुना । उत्तमप्रकृतिर्यस्मात् प्रणामाद् वैरमुज्झति॥154॥
 एवमेकमतीभूय द्वेधा श्रीवीरमन्दिरे । भूमिदेवा ययुः पूज्यास्थानं धार्मिकमण्डितम्॥155॥
 योजयित्वाऽथ ते प्रोचुर्ललाटे करसम्पुटम् । अवधारय वाचं नो मग्नानामार्तिपञ्जरे॥156॥
 वायुर्नाम सुरः पूर्वं स्थानमेतन्ववीविशत् । तत्तुल्यजीवदेवाख्यावशातः सारतस्तव ॥157॥
 ततोऽस्य व्यसने प्राप्ते बटुकूटापराधतः । प्रतिकर्तुं तवैवास्य बलो नान्यस्य भूतले॥158॥
 ततस्तदवतारस्त्वं पालयापालय प्रभो ! । स्थानं स्वयशसः स्थानं जीवदानं ददज्जने ॥159॥
 स्वस्य नामान्तरस्थस्य प्रतिभू त्वं यदीच्छसि । तद्रक्ष तेऽन्यधाभावि स्थिरमस्थैर्यदुर्यशः॥160॥
 सूरौ श्रुत्वेति तूष्णीके लल्लः फुल्लयशा जगौ । मद्विज्ञप्तिं द्विजा यूयमेकां शृणुत सूनुताम्॥161॥
 विरक्तोऽहं भवद्भर्माद् दृष्ट्वा जीववधं ततः । अस्मिन् धर्मे दयामूले लग्नो ज्ञातात् स्वकात्रनु॥162॥
 जैनेष्वसूयया यूयमुपद्रवपरंपराम् । विधत्थ प्रतिमल्लः कस्तत्र वः स्वल्पशत्रवः॥163॥

मर्यादामिह कांचिच्चेत् यूयं दर्शयत स्थिराम् । तदहं पूज्यपादेभ्यः किञ्चित् प्रतिविधापये॥164॥
 अथ प्रोचुः प्रधानास्तं त्वं युक्तं प्रोक्तवानसि । कः समः क्षमयाऽमीषां दुर्वरिऽस्मदुपद्रवे॥165॥
 स्वरुच्या सांप्रतं जैनधर्मे सततमुत्सवान् । कुर्वतां धार्मिकाणां न कोऽपि विघ्नान् करिष्यति॥166॥
 अस्तु च प्रथमो बंटः श्रीवीरव्रतिनां तथा । सदाऽन्तरं न कर्तव्यं भूमिदेवैरतः परम्॥167॥
 प्रतिष्ठितो नवाचार्य्यः सौवर्णमुपवीतकम् । परिधाप्याभिषेक्तव्यो ब्राह्मणैर्ब्रह्ममन्दिरे॥168॥
 इत्यभ्युपगते तैश्च लल्लः सदगुरुपादयोः । निवेश्य मौलिमाचख्यौ महास्थानं समुद्धर॥169॥
 श्रीजीवदेवसूरिश्च प्राहोपशमवर्मितः । कालत्रयेऽपि नास्माकं रोष-तोषौ जनद्विषौ॥170॥
 प्रत्यूहव्यूहघातिन्यः परं शासनदेवताः । इदानीमपि ता एव भलिष्यन्ति मम स्मृतौ॥171॥
 इत्युक्त्वाऽन्तर्मठं ध्यानासने संस्थाय सूरयः । निगृह्य रेचकं कुम्भकेन नासाग्रदृष्टयः॥172॥
 तस्थुर्मुहूर्तमात्रेण तावद् गौर्ब्रह्मवेशमतः । उत्थाय चरणप्राणं कुर्वती निर्जंगाम सा ॥173॥
 कौतुकाद् दृश्यमानाऽसौ हर्षोत्तालद्विजव्रजैः । पुरो बाह्यप्रदेशोर्व्या निरालम्बाऽपतद् द्रुतम्॥174॥
 आस्थानं पुनराजमुर्गुरवो गुरवो गुणैः । वेदोदिताभिराशीर्भिर्विप्रैश्चक्रे जयध्वनिः॥175॥
 ततः प्रभृति सौदर्यसम्बन्धादिव वायटे । स्थापितस्तैरिह स्नेहो जैनैरद्यापि वर्तते॥176॥

7. विजह्मुरन्यतः पूज्या ज्ञात्वा कालं तु ते पुनः । स्वस्थानमागमन् योग्यं शिष्यं पट्टे न्यवीकितम्॥177॥
 स्वयं सर्वपरित्यागं कृत्वा धृत्वाऽऽर्जवे मनः । ददुः शिक्षां गणस्याथ नवसुरैश्च सूरयः॥178॥
 गच्छप्रवर्तकस्याथादेशं राहस्यिकं ददुः । योगी प्रतिहतोऽस्माभिर्यः पुरा सिद्ध एव सः॥179॥
 अनेकसिद्धिसंयुक्त एकखंडकपालवान् । अस्माकं निधनं ज्ञात्वा स चांगन्तात्र निश्चितम्॥180॥
 अप्यस्माकं कपालं चेत् सैष प्राप्स्यत्यधर्मधीः । शासनस्योपसर्गास्तद् विधास्यति तथाविधान्॥181॥
 ततः स्नेहं परित्यज्य निर्जीवेऽस्मत्कलेवरे । कपालं चूर्णयध्वं चेत् तत्र स्थान्त्रिरुपद्रवम्॥182॥
 इहार्थं मामकीनांज्ञापालनं ते कुलीनता । एतत्कार्यं ध्रुवं कार्यं जैनशासनरक्षणे॥183॥
 इति शिक्षां प्रदायास्मै प्रत्याख्यानविधिं व्यधुः । विधायाराधनां दधुः परमेष्ठिनमस्कृतीः॥184॥
 निरुध्य पवनं मूर्ध्ना मुक्त्वा प्राणान् गुणाब्धयः । वैमानिकसुरावासं तेऽतिश्रियमशिश्रियन्॥185॥
 लब्धलक्षस्ततो दण्डमुद्दण्डं परिगृह्य सः । कपालं चूर्णयामास यथाऽऽकारोऽपि नैक्ष्यते॥186॥
 लोकशोकोत्सवोन्मुद्रशब्दाद्वैते भवत्यथ । शिबिकास्थं गुरुवपुर्गीतार्था अवहन्त तत्॥187॥
 योगी डमरुकध्वानभैरवस्तत्र चाययौ । क एष पुरुषोऽतीत इत्यपृच्छच्च तं जनम्॥188॥
 प्रधानब्राह्मणश्चैकः पुरस्तस्येतथावदत् । क्लिन्नशमश्रूणि सोऽश्रूणि विमुञ्चन् गद्गदस्वरम्॥189॥
 वायोरिवापरा मूर्तिर्जीवदेवो मुनीश्वरः । महास्थानधरोद्धारवरारो दिवमीयिवान्॥190॥
 श्रुत्वा स कपटात् शोकं विप्रद् वक्षो विघातयन् । विधायोर्जितपूत्कारं रोदनं भृशमब्रवीत्॥191॥
 एकदा भो ! मदीशस्य वक्त्रं दर्शयताधुना । अन्यथा स्वशिरोघातं कृत्वा त्यक्षाम्यसून् ध्रुवम्॥192॥
 तत्र प्रवर्तकोऽवोचन्मुच्यतां शिबिकां भुवि । प्रभोर्मित्रमसौ योगी दृष्ट्वास्यं जीवताद् घनम्॥193॥
 विमुक्ते याप्ययाने च प्रकाशे तन्मुखे कृते । चूर्णितं तच्च दृष्ट्वासौ हस्तौ घृष्ट्वाऽब्रवीदिदम्॥194॥
 एकखंडं कपालं श्रीविक्रमादित्यभूपतेः । ममाचार्यस्य चास्य स्यात् पुण्यपुरुषलक्षणम्॥195॥
 करे मेऽस्य कपालं चेदरोक्ष्यन्मे मनोरथाः । अपूरिष्यन्त किं कुर्मो नाभान्यैः प्राप्यमीदृशम्॥196॥
 जीवता च मृतेनापि सख्याहं घृष्ट एव यत् । मर्त्येषु स पुमानेको येनाहं स्वमतेर्जितः॥197॥

परं तथापि लोकोऽस्य संस्कारे मां दिशत्वसौ । ममाप्यद्य विभागोऽस्तु पुण्यस्यागण्यसौहृदात्॥198॥

एवं कृते च स व्योम्नाऽत्रानयन् मलयावलात् । श्रीखंडागुरुकाष्ठानि विदधेऽङ्गं च भस्मसात्॥199॥

अद्यापि तत्प्रभावेण तस्य वंशे कलानिधिः । भवेत् प्रभावकः सूरिरमराधः स्वतेजसा॥200॥

इत्थां चरित्रमधिगम्य महाप्रभावं श्रीजीवदेवसुगुरोर्दुरितापहारि।

नित्यं स्मरन्तु विदुधा अवधानधीरा नन्वाच्च सूरिगरिमस्फुरणैकहेतुः॥201॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीधुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ शुद्धोऽगमत् सप्तमः

प्रद्युम्नप्रभुशोधितः सुचरितं श्रीजीवदेवप्रभोः॥202॥

वाग्दारिद्र्यप्रमथननन्दमनोरतिलतावृद्धाधारः।

सुभनःप्रसरोत्प्लसः श्रीमत्प्रद्युम्नकल्पतरोः॥203॥

॥ इति श्रीजीवसूरिप्रबंधः सप्तमः॥



श्रीवृद्धवादिसूरिचरितम्

1. सारसारस्वतश्रोतः पारावारसमश्रिये । वृद्धवादिमुनीन्द्राय नमः शमदमोर्मये॥1॥
 सिद्धसेनोऽवतु स्वामी विश्वनिस्तारकत्वकृत् । ईशहृद्भेदकं दध्ने योऽहृद्ब्रह्ममयं महः॥2॥
 कलिकालाचलप्लोषदम्भोलिकलयोस्तयोः । चरित्रं चित्रचारित्रामत्र प्रस्तावयाम्यहम्॥3॥
 पारिजातोऽपारिजातो जैनशासननन्दने । सर्वश्रुतानुयोगदुकन्दकन्दलानाम्बुदः॥4॥
 विद्याधरवराम्नाये चिन्तामणिरिवेष्टदः । आसीच्छीस्कन्दिलाचार्यः पादलिप्तप्रभोः कुले॥5॥ - युग्मम्॥
 असंख्यशिष्यमाणिक्यरोहणाचलचूलिका । अन्यदा गौडवेशेषु विजहे स मुनीश्वरः॥6॥
 तत्रास्ति कोशलाग्रामसंवासी विप्रपुंगवः । मुकुन्दाभिधया साक्षान्मुकुन्द इस सत्त्वतः॥7॥
 प्रसङ्गादमिलत् तेषां बाह्यावनिविहारिणाम् । सर्वस्य सर्वकार्येषु जागर्ति भवितव्यता॥8॥
 तेभ्यश्च शृश्रुवे धर्मः शर्मदः प्राणिनां दया । सुकरः संयमारूढैरतिवैराग्यरङ्गितैः॥9॥
 स प्राह कारिताकार्यैरनावैर्दुर्जनैरिव । चित्रैरिव भ्रमिभ्राग्भिर्विषयैर्मुषितोऽस्म्यहम्॥10॥
 तेभ्यस्त्रायस्व निःसङ्गस्वामिन् विध्वस्तशात्रव ! । पलायनेऽपि मां क्लीबं विश्रसावैशसद्गतम्॥11॥
 इत्युचिवांसमेनं तेऽन्वगृह्णन् जैनदीक्षया । त्वरैव श्रेयसि श्रेष्ठा विलम्बो विघ्नकृद् भुवम्॥12॥ - त्रिभिर्विशेषकम्॥
 अपरेद्युर्विहारेण लाटमण्डलमण्डनम् । प्रापुः श्रीभृगुकच्छं ते रेवासेवापवित्रितम्॥13॥
 श्रुतपाठमहाघोषैरम्बरं प्रतिशब्दयन् । मुकुन्दार्थिः समुद्रोर्मिध्यानसापत्न्यदुःखदः॥14॥
 भृशं स्वाध्यायमभ्यस्यन्नयं निद्राप्रमादिनः । विनिद्रयति वृद्धत्वादाग्रही सन्नहर्निशम्॥15॥ - युग्मम्॥
 यतिरेको युवा तस्मै शिक्षामक्षामधीर्ददौ । मुने ! विनिद्रिता हिंस्रजीवा भूतद्रुहो यतः॥16॥
 तस्माद्भयानमयं साधु विधेह्याभ्यन्तरं तपः । अहं संकोचितुं साधोर्वाग्योगो निर्ध्वनिक्षणे॥17॥
 इति श्रुत्वाऽपि जीर्णत्वोदितजाड्यचयान्वितः । नावधारयते शिक्षां तथैवावेषति स्फुटम्॥18॥ - त्रिभिर्विशेषकम्॥
 तारुण्योचितया सूक्ताकरणासूयया ततः । अनगारः खरां वाचमाददे नादरादितः॥19॥
 अजानन् वयसोऽन्तं यदुग्रपाठादरादितः । फुल्लयिष्यसि तन्मल्लीवल्लीवन् मुशलं कथम्॥20॥
 इति श्रुत्वा विषेदेऽसौ जरच्चारित्रकुञ्जरः । दध्यौ च मे धिगुत्पत्तिं ज्ञानावरणदूषिताम्॥21॥
 तत आराधयिष्यामि भारतीं देवतामहम् । अधोग्रतपसा सत्यं यथासूयावचो भवेत्॥22॥
 इति ध्यात्वा नालिकेरवसत्याख्यजिनालये । सकलां भारतीं देवीमाराद्धमुपचक्रमे॥23॥
 चतुर्धाहारमाधारं शरीरस्य दृढव्रतः । प्रत्याख्याय स्फुरद्भयानवह्निनिहुतजाड्यभीः॥24॥
 गलद्विकल्पकालुष्यशुद्धधीः समताश्रयः । निष्प्रकम्पतनुर्न्यस्तदृष्टिमूर्तिपदाम्बुजे॥25॥
 मुहूर्तमिव तत्रास्याद् दिनानामेकविंशतिम् । सत्त्वतोष्टा ततः साक्षाद्भुक्त्वा देवी तमब्रवीत्॥26॥ - त्रिभिर्विशेषकम्॥
 समुत्तिष्ठ ! प्रसन्नास्मि पूर्यन्तां ते मनोरथाः । स्थलना न तवेच्छासु तद्विधेहि निजे हितम्॥27॥
 इत्याकर्ण्य समुत्तस्थौ देवताया गिरं गिरः । ददर्श मुशलं प्राप्तः कस्यापि गृहिणो गृहे॥28॥
 पूर्वोक्तयतिसोत्प्रासवाक्यश्रुत्यपमानतः । प्राह श्लोकं श्रुतश्लोकप्रतिज्ञापरिपूर्तये॥29॥

स चार्य-

अस्मादृशा अपि यदा भारति ! त्वत्प्रसादतः । भवेयुर्विदिनः प्राज्ञा मुशलं पुष्यतां ततः॥30॥

इत्युक्त्वा प्रासुकैर्नरैः सिषेच मुशलं मुनिः । सद्यः पल्लवितं पुष्पैर्युक्तं तारैर्यथा नभः॥३१॥
तथा -

मद्भोः शृङ्गं शक्रयष्टिप्रमाणं शीतो वह्निर्मारुतो निष्प्रकम्पः।

यद्वा यस्मै रोचते तन्न किञ्चित् वृद्धो वावी भाषते कः किमाह॥३२॥

इति प्रतिज्ञयैवास्य तदाकालीयवादिनः । हताः पराहतप्रज्ञाः कादिशीका इवाभवन्॥३३॥
ततः सूरिपदे चक्रे गुरुभिर्गुरुवत्सलैः । वर्द्धिष्णवो गुणा अर्था इव पात्रे नियोजिताः॥३४॥
प्रवया वादमुद्राभृद् यतः ख्याता जगत्यपि । सान्वया वृद्धवादीति प्रसिद्धिं प्राप स प्रभुः॥३५॥
श्रीजैनशासनाम्भोजवनभासनभास्करः। अस्तं श्रीस्वकन्विलाचार्यः प्राप प्रायोपवेशनात्॥३६॥

2. वृद्धवादिप्रभुर्गच्छाचलोद्गारादिकच्छपः । विजहार विशालायां शालायां गुणसन्ततेः॥३७॥
तदा श्रीविक्रमादित्यभूपालः पालितावनिः । दारिद्र्यान्धतमो भारसंभारेऽभवदंशुमान्॥३८॥
श्रीकात्यायनगोत्रीयो देवर्षिर्ब्राह्मणाङ्गजः । देवश्रीकुक्षिभूर्विद्वान् सिद्धसेन इति श्रुतः॥३९॥
तत्रायात् सर्वशास्त्रार्थपारंगममतिस्थितिः । अन्येद्युर्मिलितः श्रीमद्वृद्धवादिप्रभोः स च॥४०॥
अद्य श्वो वृद्धवादीह विद्यते पुरि नाथवा । इति पृष्टः स एवाह सोऽहमेवास्मि लक्ष्य॥४१॥
विद्वद्गोष्ठीमहं प्रेम्पुरित्यतोऽत्रैव जल्प्यते । संकल्पो मे चिरस्थायी सखे संपूर्यते यथा॥४२॥
न गम्यते कथं विद्वत्पर्वदि स्वान्तुष्टये । संप्राप्तौ शातकुम्भस्य पित्तलां को जिघृक्षति॥४३॥
इत्युक्तेऽपि यदात्रैव स नौज्झद् विग्रहाग्रहम् । ओमित्युक्त्वा तदा सूरिगोपान् सभ्यान् व्यधात् तदा॥४४॥
सिद्धसेनः प्रागवादीत्- 'सर्वज्ञो नास्ति निश्चितम् । यः प्रत्यक्षानुमानाद्यैः प्रमाणैर्नोपलभ्यते॥४५॥
नभः कुसुमदृष्टान्तादित्युक्त्वा व्यरमच्च सः । उवाच वृद्धवादी च गोपान् सान्त्वनपूर्वकम्॥४६॥
भवदिभरेतदुक्तं भो! किमप्यधिगतं नवा ? । ते प्राहुः पारसीकाभमव्यक्तं बुद्ध्यते कथम्॥४७॥
वृद्धवाद्याह-भो गोपा! ज्ञातमेतद्वचो मया । जिने नास्तीत्यसौ जल्पे, तत् सत्यं ? , वदतात्र भोः॥४८॥
भवद्ग्रामे वीतरागः सर्वज्ञोऽस्ति नवा ? ततः, । आहुस्तेऽस्य वचो मिथ्या जैनचैत्ये जिने सति॥४९॥
न चानवगतेष्वन्नादरो द्विजवचस्सु नः । सूरिराह पुनर्विप्र ! तथ्यां शृणु गिरं मम॥५०॥
मनीषातिशयस्तारतम्यं विश्राम्यति क्वचित् । अस्ति चातिशयेयत्ता परिमाणेष्विव स्फुटम्॥५१॥
लघौ गुरुतरे वापि परमाणौ वियत्यपि । प्रज्ञाया अवधिज्ञानं केवलं सिद्धमेव तत्॥५२॥
ज्ञानं गुणस्तदाधारो द्रव्यं किञ्चिद् विचिन्त्यताम् । योऽसौ स एव सर्वज्ञ एषाऽभूत् सिद्धिरस्य च॥५३॥
ईदृग्वाचां प्रपञ्चेन जिग्येऽसौ वृद्धवाविना । ब्राह्मणः पण्डितमन्यस्तस्य कास्था ह्रमुदृशाम्॥५४॥
हर्षाश्रुप्लुतनेत्रश्च सिद्धसेनोऽप्यभाषत । प्रभो ! त्वमेव सर्वज्ञः पूर्वः सत्यो जिनस्त्वया॥५५॥
शिष्यत्वेनानुमन्यस्व मां प्रतिज्ञातपूर्विणम् । समर्थो नोत्तरं दातुं यस्य तस्यास्मि शैक्षकः॥५६॥
अदीक्षयत जैनेन विधिना तमुपस्थितम् । नाभ्ना कुमुदचन्द्रश्च स चक्रे वृद्धवादिना॥५७॥
आशु चाशुगवत्तीक्ष्णप्रवरप्रतिभाभरात् । पारदु श्वा तदाकालसिद्धान्तस्य स चाभवत्॥५८॥
तृतीयपरमेष्ठित्वे गुरुभिर्विदधे मुदा । पुरा ख्याताऽभिधैवास्य तदा च प्रकटीकृता॥५९॥
तन्निधाय गणाधारे विजह्ने स्वयमन्यतः । शिष्यप्रभावो दूरस्थैर्गुरुभिर्वीक्ष्यते यतः॥६०॥

3. श्रीसिद्धसेनसुरिक्षान्यदा बाह्यभुवि व्रजन् । दृष्टः श्रीविक्रमार्केण राज्ञा राजाध्वगेन सः॥६१॥
अलक्ष्यं भूप्रणामं स भूपस्तास्मै च चक्रिवान् । तं धर्मं लाभयामास गुरुचरितस्वरः॥६२॥
तस्य दक्षतया तुष्टः प्रीतिदाने ददौ नृपः । कोटिं हाटकटंकानां लेखकं पत्रकेऽलिखत्॥६३॥

तद्यथा -

धर्मलाभ इति प्रोक्ते दूराबुद्धतपाणये । सूरये सिद्धसेनाय वदौ कोटिं नराधिपः॥६४॥
[नृपेण सिद्धमाकार्यं गृहीष्यामि (?) धनं त्वया । उवाच सिद्धो नोऽस्माकं यथारुचि तथा कुरु॥]
तेन द्रव्येण चक्रेऽसौ साधारणसमुद्रकम् । दुःस्थसाधर्मिकस्तोम-चैत्योद्वारादिहेतवे॥६५॥
अन्यदा चित्रकूटादौ विजहार मुनीश्वरः । गिरेर्नितम्ब एकत्र स्तम्भमेकं ददर्श च॥६६॥
नैव काष्ठमयो ग्रावमयो न न च मृण्मयः । विमृशन्नौषधक्षोदमयं निरचिनोच्च तम्॥६७॥
तद्रस-स्पर्श-गन्धादिनिरीक्षाभिर्मतेर्बलात् । औषधानि परिज्ञाय तत्प्रत्यर्थीन्यमीमिलत्॥६८॥
पुनः पुनर्निघृष्याथ स स्तम्भे छिद्रमातनोत् । पुस्तकानां सहस्राणि तन्मध्ये च समैक्षत॥६९॥
एकं पुस्तकमादाय पत्रमेकं ततः प्रभुः । विवृत्य वाचयामास तदीयामोलिमेककाम्॥७०॥
सुवर्णसिद्धियोगं स तत्र प्रैक्षत विस्मितः । सर्षपैः सुभटानां च निष्पत्तिं श्लोक एकके॥७१॥
सावधानः पुरो यावद् वाचयत्येष हर्षभूः । तत्पत्रं पुस्तकं चाथ जहे श्रीशासनामरी॥७२॥
तादृक्पूर्वगतग्रन्थवाचने नास्ति योग्यता । सत्त्वहानिर्यतः कालदौस्थ्यदेतादृशामपि॥७३॥

4. स पूर्वदेशपर्यन्ते व्यहार्षोच्च परेद्यवि । कर्मारनगरं प्राप विद्यायुगयुतः सुधीः॥७४॥
देवपालनरेन्द्रोऽस्ति तत्र विख्यातविक्रमः । श्रीसिद्धसेनसूरिं स नन्तुमभ्यावयौ रयात्॥७५॥
आक्षेपण्यादिधर्माख्याचतुष्टयवशात् प्रभुः । तं प्रत्यबोधयत् सख्ये चास्थापयदिलापतिम्॥७६॥
श्रीकामरूपभूपालः संरुद्धो तमन्यदा । नाम्ना विजयवर्मेति धर्मेतरमतिस्थितिः॥७७॥
स आटविकनासीरैरसंख्यैर्विद्रुतोऽधिकम् । देवपालो महीपालः प्रभुं विज्ञापयत् ततः॥७८॥
अमुष्य शलभश्रेणि सन्निभैरद्भुतैर्बलैः । विद्रावयिष्यते सैन्यमल्पकोशबलस्य मे॥७९॥
अत्र त्वं शरणं स्वामिन्निदमाकर्ण्य स प्रभुः । प्रायः प्रतिविधास्यामि मा भैषीरत्र सङ्कटे॥८०॥
सुवर्णसिद्धियोगेनासंख्यद्रव्यं विधाय सः । तथा सर्षपयोगेन सुभटानकरोद् बहून्॥८१॥
युद्धवा पराजितः शत्रुर्वैवपालेन भूभुता । प्रभोः प्रसादतः किं हि न स्यात् तादृगुपासनात्॥८२॥
राजाह शत्रुभीत्यन्धतमसेऽहं निषेतिवान् । उद्वेगे भास्वता नाथ भवता भवतारक॥८३॥
ततो दिवाकर इति ख्याताख्या भवतु प्रभोः । ततः प्रभृति गीतः श्रीसिद्धसेनविवाकरः॥८४॥

5. तस्य राज्ञो दृढं मान्यः सुखासनगजादिषु । बलादारोपितो भक्त्या गच्छति क्षितिपालयम्॥८५॥
इति ज्ञात्वा गुरुर्वृद्धवादी सूरिर्जनश्रुतेः । शिष्यस्य राजसत्कारदर्पभ्रान्तमतिस्थितेः॥८६॥
शिक्षणेन क्षणेनैवापासितुं दुर्ग्रहाग्रहम् । समाजगाम कर्मारपुरे रूपापलापतः॥८७॥ - युग्मम्॥
ततः सुखासनासीनमपश्यत् तं प्रभुस्तदा । राजानमिव राजाध्वान्तरे बहुजनावृतम्॥८८॥
प्राह च प्राप्तरूप! त्वं संदेहं मे निवर्तय । आयातस्य तव ख्यातिश्रुतेर्दूरदिगन्तरात्॥८९॥
पृच्छेति सिद्धसेनेन सूरिणोक्ते जगाद सः । तारस्वरं समीपस्थविदुषां विस्मयावहम्॥९०॥

तद्यथा -

अणुहुल्लेय फुल्ल म तोडहु मन आरामा म मोडहु।

मण कुसुमहिं अच्चि निरञ्जणु हिण्डह काइं वणेण वणु॥९१॥*

अज्ञातेऽत्र विमृश्यापि कदुत्तरमसौ ददौ । अन्यत् पृच्छेति स प्राहैतदेव हि विचारय॥९२॥

* मूलपुस्तके अस्या गाथायाः टीकारूपेणा र्थत्रयमुपन्यस्तमस्ति। अत्रानुवादे हि मूलानुकरणं नैवावश्यकम्। एतद्विनाऽऽपि कथाक्रमावबोधने न हि काचिद्बाधा स्यात्। - अनुवादकः

अनादरादसम्बद्धं यत्किञ्चित् तेन चाकथि । अमानितेऽत्र तर्हि त्वं कथयेति जगाद सः॥१३॥
 वृद्धवादिप्रभुः प्राह कर्णयावहितो भवः । अस्य तत्त्वं यथामार्गघ्नष्टोऽपि लभसे पुनः॥१४॥
 इत्यादयो ह्यनेकार्था* व्याख्याता वृद्धवादिना। मतिप्रतिविधानं तु वयं विदमस्तु किं जडाः॥१५॥
 इति तज्जल्पपर्वजं न्यगर्जिवर्षणडम्बरैः । बोधेनाङ्कुरिता सिद्धसेनमानसमेदिनी॥१६॥
 ईदृक् शक्तिर्हि नान्यस्य मद्धर्माचार्यमन्तरा। स ध्यात्वेति समुत्तीर्य तस्यांही प्राणमद् गुरोः॥१७॥
 प्राह चान्तरविद्वेषिजितेन मयका भृशम् । आशातिताः प्रभोः पादाः क्षम्यतां तन्महाशयैः॥१८॥
 श्रुत्वेति गुरुराह स्म क्षृणु वत्स! न ते क्षणम् । प्राणिनां दुष्पमाकालः शत्रुः सद्गतिनाशनः॥१९॥
 कणेहत्य मया जैनसिद्धान्तात्तर्पितो भवान् । तवापि यन्न जीर्येत मन्दाग्नेः स्निग्धभोज्यवत्॥२०॥
 अन्येषां जडतावातपीनसा श्लेष्मवद्बुद्धाम् । का कथात्यल्पसत्त्वाग्निभृतां विद्यात्रजारणे॥२१॥
 सन्तोषौषधसंवृद्धसद्गयान्तरवह्निना। श्रुतं स्वाद्यं हि जीर्यस्व भक्ष्यमशनायितः॥२२॥
 स्तम्भापुस्तकं पत्रं जह्ये शासनदेवता। सांप्रतं सांप्रतीनाः किं तादृक्शक्तिव्रजोचिताः॥२३॥
 इत्याकर्ण्य गुरोर्वाचं वाचंयमशिरोमणिः । प्राह चेद् दुःकृतं नैव कुर्युः शिष्या भ्रमोदयात्॥२४॥
 तत्प्राप्यश्चत्तशास्त्राणि चरितार्थानि नाथ! किम् । भवेयुरविनीतं मां प्राप्यश्चित्तैः प्रशोध्यत॥२५॥
 वृद्धवादी विमृश्यादादस्य चालोचनातपः । स्वस्थाने न्यस्य च प्रायं स्वयं लात्वा दिवं ययौ॥२६॥
 मुनीन्द्रः सिद्धसेनोऽपि शासनस्य प्रभावनाम्॥ विदधद् वसुधाधीशस्तुतो व्यहरतावनौ॥२७॥

6. अन्यदा लोकवाक्येन जातिप्रत्ययतस्तथा । आबाल्यात् संस्कृताभ्यासी कर्मदोषात् प्रबोधितः॥२८॥
 सिद्धान्तं संस्कृतं कर्तुमिच्छन् संघं व्यजिज्ञपत् । प्राकृते केवलज्ञानिभाषितेऽपि निरादरः॥२९॥
 तत्प्रभावगरीयस्त्वानभिज्ञस्तत्र मोहितः । संघप्रधानैरूचे च चेतःकालुष्यकर्करैः॥३०॥
 युगप्रधानसूरीणामलंकरणधारिणाम्॥ अद्य श्वीनयतिवातशिरोरत्नप्रभाभूताम्॥३१॥
 पूज्यानामपि चेच्चित्तवृत्तावज्ञानशात्रवः । अवस्कन्दं ददात्यद्य का कथाऽस्मादृशां ततः॥३२॥
 यदिति श्रुतमस्माभिः पूर्वेषां सम्प्रदायतः । चतुर्दशापि पूर्वाणि संस्कृतानि पुराऽभवन्॥३३॥
 प्रज्ञातिशयसाध्यानि तान्युच्छिन्नानि कालतः । अधुनैकादशांग्यस्ति सुधर्मस्वामिभाषिता॥३४॥
 बाल-स्त्री-मूढ-मूर्खादिजनानुग्रहणाय सः । प्राकृतां तामिहाकार्षीदनास्थाऽत्र कथं हि वः॥३५॥
 पुन्यैर्वचनदोषेण भूरि कल्मषमर्जितम् । श्रुतेन स्थविरा अत्र प्रायश्चित्तं प्रजानते॥३६॥
 तैरूचे द्वादशाब्दानि गच्छत्यागं विधाय यः । निगूढजैनलिङ्गः सन् तप्यते दुस्तपं तपः॥३७॥
 इति पाराचिकाभिख्यात् प्रायश्चित्तात्महांसः । अस्य शुद्धिर्जिनाज्ञाया अन्यथा स्यात् तिरस्कृतिः॥३८॥
 जैनप्रभावनां काविदद्भुतां विदधाति चेत् । तदुक्तावधिमध्येऽपि लभते स्वं पदं भवान्॥३९॥
 ततः श्रीसंघमापृच्छ्य स सात्त्विकशिरोमणिः । स्वव्रतं बिभ्रदव्यक्तं सिद्धसेनो गणं व्यहात्॥४०॥
 इत्थं च भ्राम्यतस्तस्य बभूवुः सप्त वत्सराः । अन्येद्युर्विहरन्नुज्ज्वल्य यि न्यां पुरि समागमत्॥४१॥
 स भूपमन्दिरद्वारि गत्वा क्षत्तरामभ्यधात् । स्वं विज्ञापय राजानं मद्वाचा विश्वविश्रुतम्॥४२॥
 तथा हि -

विद्वक्षुर्भिक्षुरायातो द्वारि तिष्ठति वारितः।

हस्तन्यस्तवतुः श्लोकः किमागच्छतु गच्छतु॥४३॥

ततो राज्ञा समाहूतो गुणवत्पक्षपाततः । स्वामिनाऽनुमते पीठे विनीविश्यान्नवीदिति॥४४॥

*इत्यादयो ह्यनेकार्थाः यथाप्रयुक्तेनानेन वाक्येनावगम्यते यदस्या गाथाया हार्थवैविध्यमुद्दीकितमस्ति।-अनुवादक

तद्यथा -

अपूर्वैयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः।
मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति विगन्तरम्॥125॥
अमी पानकरंकाभाः सप्तापि जलराशयः।
यद्यशोराजहंसस्य पञ्जरं भुवनत्रयम्॥126॥
सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बूधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः॥127॥
भयमेकमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो विधिवत्सदा।
ववासि तच्च ते नास्ति राजन् चित्रमिव महत्॥128॥

इति श्लोकैर्गुरुश्लोकः स्तुतो राजा तमब्रवीत् । यत्र त्वं सा सभा धन्याऽवस्थेयं तन्ममान्तिके॥129॥
इति राजा ससन्मानमुक्तोऽभ्यर्णं स्थितो यदा । तेन साकं ययौ दक्षः स कुङ्गेश्वरे कृती॥130॥
व्यावृत्य द्वारतस्तस्य पश्चादागच्छतः सतः । प्रश्नः कृतोऽन्यदा राजा देवेऽवज्ञां करोषि किम्॥131॥
नतिं किं न विधत्से च सोऽवादीद् भूपते ! शृणु । महापुण्यस्य पुंसस्ते पुर एवोच्यते मया॥132॥
जल्पितात् प्राकृतैः सार्द्धं कः शोषयति थूकृतम् । असहिष्णुः प्रणामं मेऽसकौ कुर्वे ततः कथम्॥133॥
ये मत्प्रणामसोढारस्ते देवा अपरे ननु । किं भावि ? प्रणम त्वं द्राक्, प्राह राजेति कौतुकी॥134॥
देवान्निजप्रणम्यांश्च दर्शय त्वं वदन्निति । भूपतिर्जल्पितस्तेनोत्पाते दोषो न मे नृप !॥135॥
राजाह देशान्तरिणो भवन्त्यद्भुतवादिनः । देवाः किं धातुभृद्देहिप्रणामेऽप्यक्षमा ऋषे !॥136॥
श्रुत्वेति पुनरासीनः शिवलिङ्गस्य स प्रभुः । उदाजहे स्तुतिश्लोकान् तारस्वरकरस्तदा॥137॥

तथाहि -

प्रकाशितं त्वयैकेन यथा सम्यग्जगत्त्रयम्।
समस्तैरपि नो नाथ वरतीर्थाधिपैस्तथा॥138॥
विद्योतयति वा लोकं यथैकोऽपि निशाकरः।
समुद्र तः समग्रेऽपि तथा किं तारकागणः॥139॥
त्वद्वाक्यतोऽपि केसांचिवबोधइतिमेऽवभुतम्।
भानोर्मरीचयः कस्य नाम नालोकहेतवः॥140॥
नो वावभुतमुलूकस्य प्रकृत्या क्लिष्टचेसः।
स्वच्छा अपि तमस्त्वेन भासन्ते भास्वतः कराः॥141॥ - इत्यादि।

तथा -

न्यायावतारसूत्रं च श्रीवीरस्तुतिमप्यथ । द्वात्रिंशच्छ्लोकमानाश्च त्रिंशदन्याः स्तुतीरपि॥142॥
ततश्चतुश्चत्वारिंशद्भूतां स्तुतिमसौ जगौ । 'कल्याणमन्दिरे'त्यादिविख्यातां जिनशासने॥143॥
अस्य चैकादशं वृत्तं पठतोऽस्य समाययौ । धरणेंद्रो दृढा भक्तिर्न साध्यं तादृशां किमु॥144॥
शिवलिङ्गात् ततो धूमस्तत्प्रभावेण निर्ययौ । यथान्धतमसस्तोमैर्मध्याह्नेऽपि निशाऽभवत्॥145॥
यथा विह्वलितो लोको नष्टुमिच्छन् दिशो नहि । अज्ञासीदाश्मनस्तम्भभित्तिष्वास्फालितो भृशम्॥146॥
ततस्तत्कृपयेवास्माद् ज्वालमाला विनिर्ययौ । मध्येसमुद्रमावर्तावृत्तिसंवर्तकोपमा॥147॥
ततश्च कौस्तुभस्येव पुरुषोत्तमहृत्स्थितेः । ब्रह्मोः श्रीपार्श्वनाथस्य प्रतिमा प्रकटाऽभवत्॥148॥
ततः परमया भक्त्या स्तुत्वा नाथं प्रणम्य च । मुक्तात्मानो ह्यमी देवा मत्प्रणामं सहिष्णवः॥149॥
प्रतिबोध्येति तं भूपं शासनस्य प्रभावना । व्यधीयत विशालायां प्रवेशाद्युत्सवात् पुरि॥150॥ - युग्मम्।

वत्सराणि ततः पंच संघोऽमुष्य मुमोच च । चक्रे च प्रकटं श्रीमत्सिद्धसेनविवाकरम्॥151॥
शिवलिङ्गादुदैच्चात्र कियत्कालं फणावलिः । लोकाऽघर्षच्च तां पश्चान्मिथ्यात्वदृढरङ्गभूः॥152॥
एकदाऽपृच्छ्य राजानं बलादप्रतिबद्धधीः । विजहार प्रभुस्तस्मात् संघकासारवारिजम्॥153॥

7. गीतार्थैर्यतिभिः साङ्गं दक्षिणस्यां स सञ्चरन् । भृगुकच्छपुरोपान्ते प्रदेशभुवमाप सः॥154॥
तत्रासन्नतरग्रामगोत्रजारक्षकास्तदा । सूरैः सम्मिलितास्तत्र धर्मश्रवणसस्पृहाः॥155॥
कुत्राप्यवस्थितानस्मान् यूयं प्रश्नयत स्थिरम् । मार्गभ्रमश्रमायस्ताः किं ब्रूमः कल्मषापहम्॥156॥
ते प्रोचुराग्रहादत्र तरुच्छायासु विश्रमम् । विधाय धर्मं व्याख्यात दास्यामो गोरसानि वः॥157॥
सूरयस्तत्सदभ्यस्तगीतहुंबडकैस्तदा । भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा ददानाश्च तालमेलेन तालिकाः॥158॥
प्राकृतोपनिबन्धेन सद्यः सम्पाद्य रासकम् । ऊचुस्तत्प्रतिबोधार्थं तादृशामीदृशौचिति॥159॥
तथाहि -

नवि मारिअइ नवि चोरिअइ पर-वारह अत्थु निवारिअइ।

थोवाह वि थोवं वाइअइ तउ सगिग दुगुददुगु जाइयइ॥160॥

तद्वाग्भिः प्रतिबुद्धास्ते तत्र ग्रामं न्यवेशयन् । धनधान्यादिसम्पूर्णं तत् तालारासकामिधम्॥161॥
अस्थापयञ्च तत्र श्रीनाभेयप्रतिमान्वितम् । अभ्रलिहं जिनाधीशमन्दिरं सूरयस्तदा॥162॥
अचलस्थापनं तच्च तत्राद्यापि प्रणम्यते । भव्यैस्तादृक् प्रतिष्ठा हि शक्रेणापि न चाल्यते॥163॥

8. एवं प्रभावनां तत्र कृत्वा भृगुपुरं ययुः । तत्र श्रीबलमित्रस्य पुत्रो राजा धनंजयः॥164॥
भक्त्या चाभ्यर्हितास्तेनान्यदासावरिभिर्दुतः । अवेष्टयत पुरं चैभिरमर्यादाम्बुधिप्रभैः॥165॥
भीतः स चाल्पसैन्यत्वात् प्रभुं शरणमाश्रयत् । तैलकूपेऽभिमन्त्र्यासौ सर्षपप्रस्थमक्षिपत्॥166॥
ते सर्षपा भटीभूयासंख्याः कूपाद् विनिर्ययुः । तैः शत्रूणां बले भग्ने हतास्ते परिपन्थिनः॥167॥
सिद्धसेन इति श्रेष्ठा तस्यासीत् सान्वयाऽभिधा । राजा तु तत्र वैराग्यात् तत्पार्श्वं व्रतमग्रहीत्॥168॥
एवं प्रभावनास्तत्र कुर्वन्तो दक्षिणापथे । प्रतिष्ठानपुरं प्रापुः प्राप्तरेखाः कविब्रजे॥169॥
आयुःक्षयं परिज्ञाय तत्र प्रायोपवेशनात् । योग्यं शिष्यं पदे न्यस्य सिद्धसेनविवाकरः॥170॥
दिवं जगाम संघस्य ददानोऽनाथताव्यथाम् । तादृशां विरहे को न दुःखी यदि सचेतनः॥171॥
वैतालिको विशालायां ययौ कश्चित्ततः पुरात् । सिद्धश्रीत्यभिधानाया मिलितोऽसौ प्रभुस्वसुः॥172॥
तत्राह स निरानन्दं पदद्वयमनुष्टुभः । उत्तरार्धं च सावादीत् स्वमतेरनुमानतः॥173॥

स्फुरन्ति वादिखद्योताः साम्प्रतं दक्षिणापथे।

नूनमस्तंगतो वादी सिद्धसेनो विवाकरः॥174॥

सापि सापायतां काये विमृश्यानशनं व्यधात् । गीतार्थविहिताराधनयासौ सद्गतिं ययौ॥175॥
प्रभोः श्रीपावलिप्तस्य वृद्धवाविगुरोस्तथा । श्रीविद्याधरवश्यत्वनिर्यामकमिहोच्यते॥176॥
संवत्सरशते पञ्चाशता श्रीविक्रमार्कतः । साग्रे जाकुटिनोद्गारे श्राद्धेन विहिते सति॥177॥
श्रीरैवताद्रिमूर्धन्यश्रीनेमिभवनस्य च । वर्षासस्तमठात् तत्र प्रशस्तेरिदमुद्धतम्॥178॥
इत्थं पुराणकविनिर्मितशास्त्रमध्यादाकर्ण्य किञ्चिदुभयोरनयोश्चरित्रम्।

श्रीवृद्धवादि-कविवासवसिद्धसेनवादीन्द्रयोरुदितमस्तु धिये भुदे वः ॥179॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन जेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ प्रद्युम्नसूरीक्षितः।

शृङ्गेऽभूदमलोऽष्टमः सुचरितं श्रीवृद्ध-सिद्धाश्रितम्॥180॥

॥ इति श्रीवृद्धादिसूरिप्रबन्धः ॥



श्रीहरिभद्रसूरिचरितम्

1. स जयति हरिभद्रसूरिरुद्यन्मतिमदतारकभेदबद्धलक्षः।
 शरभव इव शक्तिधिकृतारिर्गुरुबहुलोदयदङ्गसङ्गतश्रीः॥1॥
 कुसुमविशिखमोहशानुपाधोनिधिनिधनाश्रयविश्रुतः प्रकामम्।
 स्थिरपरिचयगाढरूढमिथ्याग्रहजलबालशैलवृद्धिविघ्नः॥2॥
 जिनभटमुनिराजराजराजत्कलशभवो हरिभद्रसूरिरुच्चैः।
 वरचरितमुदीरयेऽस्य बाल्यादविगणयन्मतितानवं स्वकीयम्॥3॥ - युग्मम्
 इह निखिलकुहूकृतोपकारादहिमरुचिः शशिना निमन्त्रितो नु।
 रुचिरतररुचिप्रकाशिताशः प्रभवति यत्र निशासु रत्नराशिः॥4॥
 जगदुपकृतिकारिणोर्बहिष्कृद्रवि-शशिनोः शिथिलः समैक्षि मेरुः।
 शिरसि वसतिदस्तु शिश्रिये यस्त्रिदिविभिरस्ति स चित्रकूटशैलः॥5॥
 बहुतरपुरुषोत्तमेशलीलाभवनमलं गुरुसात्त्विकाश्रयोऽतः।
 त्रिदिवमपि तुणाय मन्यते यन्नगरवरं तदिहास्ति चित्रकूटम्॥6॥
 हरिरपरवपुर्विधाय यं स्वं क्षितितलरक्षणदक्षमक्षताख्यम्।
 असुरपरिवृढव्रजं विभिन्ते स नृपतिरत्र बभौ जितारिनामा॥7॥
 चतुरधिकदशप्रकारविद्यास्थितिपठनोन्नतिरग्निहोत्रशाली।
 अतितरलमतिः पुरोहितोऽभून्नृपविदितो हरिभद्रनामवित्तः॥8॥
 परिभवनमतिर्महावलेपात् क्षितिसलिलाम्बरवासिनां बुधानाम्।
 अवदारणजालकाधिरौहण्यपि स दधौ त्रितयं जयाभिलाषी॥9॥
 स्फुटति जठरमत्र शास्त्रपूरादिति स दधामुदरे सुवर्णपट्टम्।
 मम सममतिरस्ति नैव जम्बूक्षितिबलये वहते लतां च जम्बूवाः॥10॥
 अथ यदुदितमत्र नावगच्छाम्यहमिह तस्य विनेयतामुपैमि।
 इति कृतकृतदुस्तरप्रतिज्ञः कलिसकलज्ञतया स मन्यते स्वम्॥1१॥ - त्रिभिर्विशेषकम्।

2. अथ पथि स चरन् सुखासनस्थो बहुतरपाठकवर्णिवर्णकीर्णः।
 अलिकुलकलितं कपोलपाल्यां मदजलकर्दमदुर्गमीकृतक्षमाम्॥12॥
 विपणिगृहसमूहभङ्गभीतभ्रमदतिशोकविहस्तलोकदृश्यम्।
 कुमरणभयभीतमंक्षुनश्यद्विपदचतुष्पदहीनमार्गहेतुम्॥13॥
 विधुरविरुतिसन्निपातपूरैरतिपरिखेदितगेहिवासमर्त्यम्।
 गजपरिवृढमैक्षतोत्तमाङ्गत्वरितविधूननधूतसादिवृन्दम्॥14॥ - त्रिभिर्विशेषकम्।
 प्लवग इव यथा तरूच्चशृङ्गात् कुसुमगणं प्रविचित्य तिग्ममानुम्।

प्रतिविभुजति चञ्चलस्वभावाज्जिनगृहमेष तथा द्विजोऽध्यरोहत्॥15॥
बलजवलयदर्शनोर्ध्वदृष्टिः कथमपि तीर्थपतिं ददर्श सोऽथ।
अवददविदितोत्तमार्थतत्त्वो भुवनगुरावपि सोपहासवाक्यम्॥16॥

तथाहि -

वपुरेव तवाचष्टे स्पष्टमिष्टान्नभोजनम्।

न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वलः॥17॥

गजमिह पररथ्यया प्रबुध्य व्यवहितमत्र बटुव्रजैर्भ्रमद्भिः।

निजमथ निलयं ययौ पुरोधास्तृणमिव सर्वमपीह मन्यमानः॥18॥

परतरदिवसे च राजसौधादवसितमंत्रविधेयकार्यजातः।

प्रति निजनिलयं प्रयाजिशीथे स्वरमशृणोन्मधुरं स्त्रियो जरत्याः॥19॥

प्रकटतरमतिः स्थिरप्रतिज्ञो ध्वनिरहितावसरेऽवधारयन् सः।

व्यमृशदथ नचाधिगच्छति स्म श्रुतिविषमार्थकदर्थतः स गाथाम्॥20॥

सा चेत्यम् -

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की।

केसव चक्की केसव दुचक्की केसी य चक्की य॥21॥

अवददिति यदम्ब ! चाकचिक्यं बहुतरमत्र विधापितं भक्त्या।

इह समुचितमुत्तरं ददौ सा शृणु ननु पुत्रक ! गामयाद्रलितम्॥22॥

इति विहितसदुसरेण सम्यक् स च वदति स्म चमत्कृतिं दधानः।

निजपठितविचारणं विधेहि त्वमहि सवित्रि ! न वेदम्यहं त्वदर्थम्॥23॥

अवददथ च सा यथा गुरोर्नोऽनुमतिरधीतिविधौ जिनागमानाम्।

न विवृतिकरणे विचारमिच्छुर्यदि हि तदा प्रभुसनिधौ प्रयाहि॥24॥

वचनमिति निशम्य सोऽपि दध्यौ परिहृतदर्पभरः पुरोहितेशः।

अपिगुरुपुरुषैर्दुरापमध्ये परिकलना न समस्ति वाङ्मयेऽस्मिन्॥25॥

जिनमतगृहिगेहचन्द्रशालां यदियमुपैति ततो हि जैनसाध्वी।

जिनपतिमुनयो गुरुत्वमस्या विदधति तन्मम तेऽपि बन्दनीयाः॥26॥

सकलपरिहृतिर्ममागत्यैव दुरतिगमा वचनस्य यत् प्रतिष्ठा।

व्यमृशदथ स गेहमागतः स्वं तदनु विनिद्रतया निशां च निन्ये॥27॥

3. अथ दिवसमुखे तदेकचित्तोऽगमदिह वेशमनि तीर्थनायकस्य।

हृदयवसतिवीतरागबिम्बं बहिरपि वीक्ष्य मुदा स्तुतिं प्रतेने॥28॥

तथाहि -

वपुरेव तवाचष्टे भगवन् ! वीतरागताम्।

न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वलः॥29॥

दिवसगणमनर्थकं स पूर्वं स्वकमभिमानकदर्थ्यमानमूर्तिः।

अमनुत स ततश्च मण्डपस्थं जिनभटसूरिमुनीश्वरं ददर्श॥30॥

हरिमिव विबुधेशवृन्दबन्धं शमनिधिसाधुविधीयमानसेवम्।

तमिह गुरुमुदीक्ष्य तोषपोषात् समजनि जनितकुवासनावसानः॥31॥

हतहृदय इव क्षणं स तस्थौ तदनु गुरुर्व्यमृशत् स एव विप्रः।
 य इह तु विदितः स्वशास्त्रमन्त्रप्रकटमतिर्नृपपूजितो यशस्वी॥३२॥
 मदकलगजरुद्धराजवर्त्मभ्रमवशतो जिनमन्दिरान्तरस्थम्।
 जिनपतिमपि वीक्ष्य सोपहासं वचनमुवाच मदावगीतचित्तः॥३३॥ - युग्मम्।
 इह पुनरधुना यथावकस्माज्जिनपतिबिम्बमथादरात् स वीक्ष्य।
 अतिशयितरचित्तरङ्गसङ्गी स्तवनमुवाच पुराणमन्यथैव॥३४॥
 भवतु ननु विलोक्यमेतदग्रे तदनु जगाद मुनीश्वरो द्विजेशम्।
 निरुपमधिषणानिधे ! शुभं ते ?, कथय किमागमने निमित्तमत्र॥३५॥
 न्यगददथ पुरोहितो विनीतं किमनुपमप्रतिभोऽहमस्मि पूज्याः।
 जिनमतजरतीवचो मयैकं श्रुतमपि नो विवरीतुमत्र शक्यम्॥३६॥
 अपरसमयवित्तशास्त्रराशिं व्यमृशमहं तु न चक्रिकेशवानाम्।
 क्रमममुमुदितं तथा प्रबुध्ये तदिह निवेदयत प्रसद्य मेऽर्थम्॥३७॥
 अथ गुरुरपि जल्पति स्म साधो ! जिनसमयस्य विचारणव्यवस्थाम्।
 शृणु सुकृतमते प्रगृह्य दीक्षां तदनुगता च विधीयते तपस्या॥३८॥
 विहितविनयकर्मणा च लभ्यो मिलदचलातलमौलिनानुयोगः।
 इति तदवगमोऽन्यथा तु न स्याद् यदुचितमाचर मा त्वरां विधास्त्वम्॥३९॥
 अथ स किल समस्तसङ्ग्रहानि सकलपरिग्रहसाक्षिकं विधाय।
 गुरुपुरत उपादे चरित्रं परिहृतमन्दिरवेषे इष्टलोचः॥४०॥
 गुरुवददध्यागमप्रवीणा यमि-यतिनीजनमौलिशेखरश्रीः।
 मम गुरुभगिनी महत्तरेयं जयति च विश्रुतजाकिनीति नाम्नी॥४१॥
 अभणदथ पुरोहितोऽनयाहं भवभवशास्त्रविशारदोऽपि मूर्खः।
 अतिसुकृतवशेन धर्ममात्रा जिनकुलदेवतयेव बोधितोऽस्मि॥४२॥
 अयमवगतसाधुधर्मसारः सकलमहाव्रतधूर्धुरंधरश्रीः।
 गुरुभगददथ प्रवर्तमानागमगणसारविचारपारदृक्षा॥४३॥
 अधिकरणिकशास्त्रसुप्रसन्नानुगतिविलोल इयद्दिनानि जज्ञे।
 त्वदपरिचयमूर्च्छितो मुनीश ! प्रचिकटिषुर्निजमासुतीबलत्वम्॥४४॥
 धृतधृतिरधुना शुभानुभावात् श्रुतभरसागरमध्यलीनचित्तः।
 अनधिगतविमुक्तपद्मवासाप्रियविरहप्रभृतिव्यथस्त्वभूवम्॥४५॥
 गुरुरिदमवधार्य धर्मशास्त्राध्ययनसुपाठनकर्मलब्धरेखम्।
 सुरचितसुकृतोपदेशलीलं निजपदमण्डनमादधौ सुलग्ने॥४६॥
 अनुचरितपुराणपादलिप्तप्रमुखसमो हरिभद्रसूरिरेषः।
 कलिसमययुगप्रधानरूपो विमलयति क्षितिमोहिसंक्रमेण॥४७॥
 अपरदिवि निजौ स जामिपुत्रौ पितृकुलकर्कशवाक्यतो विरक्तौ।
 प्रहरणशतयोधिनौ कुमारौ बहिरवनावुदपश्यदात्तचिन्तौ॥४८॥
 अथ चरणयुगं गुरोः प्रणम्य प्रबभणतुर्गृहतो विरागमेतौ।
 तदनु गुरुवाच वासना चेन् मम सविधे व्रतभारमुद्धेत्याम्॥४९॥

तदनुमतिमवाप्य चैष हंसं सपरमहंसमदीक्षयत् ततोऽथा।
व्यरचयत् स तौ प्रमाणशास्त्रौपनिषदिकश्रुतपाठशुद्धबुद्धौ॥50॥

4. अथ च सुगततर्कशास्त्रतत्त्वाधिगममहेच्छतया गुरुक्रमेभ्यः।
अवनितलमिलललाटपट्टौ सुललितविज्ञपनां वितेनतुस्तौ॥51॥
दुरधिगमतथागतागमानामधिगमनाय सदाहितोद्यमौ तौ।
प्रदिशत् नगरं यथा तदीयं प्रति निजबुद्धिपरीक्षणाय यावः॥52॥
गुरुरपि हृदये निमित्तशास्त्रादधिगतमुत्तरकालामाकलय्य।
अवददति शुभं न तत्र वीक्षेऽभ्युपगममेनमतो हि माद्रियेथाः॥53॥
ननु पठतमिहैव देशमध्ये गुणियतिनायकसन्निधौ तु वत्सौ।
मतिरतिशयभासुराऽपि केषांचिदपि परागमवेदिनी समस्ति॥54॥
गुरुमिह विरह्य कः कुलीनः पथि निरपायतमेऽपि बभ्रमीति।
कथमवगतदुर्निमित्तभावे तदिह न नोऽनुमतिर्दुरन्तकार्ये॥55॥
अवददथ विहस्य हंसनामा गुरुजनयुक्तमिदं तु वत्सलत्वम्।
भवदनुचरणात् प्रभाववन्तौ किमु शिशुकौ परिपालितौ न पूज्यैः॥56॥
अपशकुनगणः करोतु किंवाऽध्वनि परपुर्यपि चेतनायुतानाम्।
अविरतमभिरक्षति क्षतात्रौ चिरजपितो भवदीयनाममन्त्रः॥57॥
दुरधिगमदविष्टदेश्यशास्त्राधिगमकृते गमनादथागमाच्च।
क इव नु विगुणः कृतज्ञतायाः क्षतिकरणस्तदिदं विधेयमेव॥58॥
अवददथ गुरुर्विनेययुग्मं हितकथने हि न औचित्यं भविष्यत्।
भवति खलु ततो यथेहितं वा विदधतमुत्तममद्य निन्दितं वा॥59॥
अथ सुगतपुरं प्रतस्थतुस्तावगणितसद्गुरुगौरवोपदेशौ।
अतिशयपरिगुप्तजैनलिङ्गौ न चलति खलु भवितव्यतानियोगः॥60॥
कतिपयदिवसैरवापतुस्तां सुगतमतप्रतिबद्धराजधानीम्।
परिकलितकलावधूतवेषावतिपठनार्थितया मठं तमाप्तौ॥61॥
पठनविधिकृते विहारमाला विपुलतराऽस्ति च तत्र दानशाला।
सुगतमुनिपतिश्च तत्र शिष्याननवरतं किल पाठयेद् यथेच्छम्॥62॥
अतिसुखकृतभुक्तितः पठन्तौ सुविषमसौगतशास्त्रजातमत्र।
परबुधजनदुर्गमार्थतत्त्वं कुशलतया सुखतोऽधिगम्यतुस्तौ॥63॥
जिनपतिमतसंस्थिताभिसन्धिं प्रति विहितानि च यानि दूषणानि।
निहतमतितया यतेर्निरीक्षातिशयवशेन निजागमप्रमाणैः॥64॥
दृढमिह परिहृत्य तानि हेतून् विशदतरान् जिनतर्ककौशलेन।
सुगतमत निषेधदार्ढ्ययुक्तान् समलिखतामपरेषु पत्रकेषु॥65॥
इति रहसि च यावदाददाते गुरुपवमानविलोडितं हि तावत्।
अपगतममुतः परैश्च लब्धं गुरुपुरतः समनायि पत्रयुग्मम्॥66॥
अवलोकयतोऽस्य हेतुदार्ढ्यं प्रति निजतर्कमुदग्रदूषणेषु।
जिनपतिमतभूषणेषु पक्षेष्वजयमभून्मनसि भ्रमो महोयान्॥67॥

अभणदथ स विस्मयातिरेकात् पिपठिषुर्हृदुपासकोऽस्ति कश्चित्।
 अपर इह मदीयदूषितं कः पुनरपि भूषयितुं समर्थबुद्धिः॥68॥
 स्फुरति च क उपाय ईदृशस्याधिगमविधाविति चिन्तयन् स तस्थौ।
 क्वचिदमलधियामपि स्खलन्ति प्रतिपद्य ईदृशि कुत्रचिद् विधेये॥69॥
 उदमिषदथ बुद्धिरस्य मिथ्याऽग्रहमकराकरपूर्णचन्द्रोचिः।
 अवददथ निजान् जिनेशबिम्बं बलजपुरो निदधध्वमध्वनीह॥70॥
 तदनु शिरसि तस्य भो! निधाय कमणयुगं हि समागमो विधेयः।
 इदमिह न करिष्यति प्रमाणं मम पुरतोऽध्ययनं स मा विधत्ताम्॥71॥
 गुरुवचनमिदं तथैव बौद्धैः कृतमखिलैरपशुंखलैः खलैस्तैः।
 अथ मनसि महार्तिसंगतौ तौ विममृशतुः प्रकटं हि संकटं नः॥72॥
 न विदधिव यदिह क्रमौ सशूकौ प्रतिकृतिमूर्धनि लक्षितौ तदानीम्।
 नहि पुनरपि जीविते किलाशा विकरुणमानसपाठकादमुष्मात्॥73॥
 बलिमिह पदयोः क्रियावहे सद्गुरुहरिभद्रमुनीश्वरस्य तस्या।
 अतिदुरितमनागतं विचार्य ब्रजनविधिं प्रतिषेधति स्म यः प्राक्॥74॥
 अविनयफलमावयोस्तदुग्रं समुदितमत्र विनिश्चितं तथैतत्।
 न चलति नियमेन दैवदृष्टं निजजनने सकलङ्कता मृतिर्वा॥75॥
 नरकफलमिदं न कुर्वहे श्रीजिनपतिमूर्द्धनि पादयोर्निवेशः।
 परिश्रितितरौ वरं विधित्रौ निजचरणौ नतु जैनदेहलग्नौ॥76॥
 निधनमुपगतं यथा तथा वा तदिह च साहसमेव संप्रार्थयम्।
 इति दृढतर आवयोर्निबन्धः प्रतिकृतमत्र कृते विधेयमेव॥77॥
 तदनु च खटिनीकृतोपवीतौ जिनपतिबिम्बहृदि प्रकाशसत्त्वौ।
 शिरसि च चरणौ निधाय यातौ प्रयततमैरुपलक्षितौ च बौद्धैः॥78॥
 प्रतिघवशकडारकेकराक्षैरतिकुशलैरवलोकितौ च तैस्तैः।
 गुरुवददहो पुनः परीक्षामपरतरां सुगतद्विषोर्विधास्ये॥79॥
 स्थिरतरमनसस्तदाध्वमद्य प्रतिविधये हि न चादरो विधेयः।
 सुरशिरसि च पादपातमुख्यं न हि समधीनिधयोऽपि संविदध्युः॥80॥
 अथ च कृतमिहोपवीतमेतत् प्रतिकृतमत्र कृते दृढत्वचिह्नम्।
 दृढमतिरपरोऽपि कश्चिदीदृग् नहि विदधाति यथा विकर्मभीतः॥81॥
 परनगरसमागताश्च विद्यार्थिन इह नैव मया कदर्थनीयाः।
 भवति च कुशलोभरस्तदत्र प्रतिकरणं कुपरीक्षितं न कार्यम्॥82॥
 इति वचनमुष्य ते निशम्य स्थितिमभजन् गुरुणा जना निरुद्धाः।
 शयनभुवि गृहोपरिस्थितानां प्रतिदिशि यामिक एक एव चक्रे॥83॥
 जिनगुरुशरणं विधाय रात्राविह शयितौ परमेष्ठिनः स्मरन्तौ।
 समगतं च तयोरनिच्छतोऽप्यसुखभरे सुलभा तदा प्रमीला॥84॥
 प्रतततमाघटावली तदोद्धर्वावनितलतः स विमोचयांबभूव।
 खड्गखड्गखडिति स्वरेण शय्यां विजहुरमी विरसं तदा रटन्तः॥85॥

निजनिजकुलदेवताभिधास्तेऽभिदधुरिहाद्भुतसम्भ्रमेण तौ च।
जगृहतुरथ जैननाम तेषां नरयुगलं मतमित्यभूच्च शब्दः॥१८६॥
अथ निधनभयेन साहसिक्याद् वरतरमौपयिकं तु लब्धवन्तौ।
अनवरतमहातपत्रवृन्दात् तत उदबध्यत तद्युगं स्वदेहे॥१८७॥
तनुरुहयुगवत् ततः पृथिव्यां मुमुचतुरंगमथोर्ध्वभूमितस्तौ।
मृदुशयनतलादिवोत्थितौ चाग्रहततनू कुशलावुदग्रबुद्ध्या॥१८८॥
लघुतरचरणप्रचारवृत्त्या द्रुतमपचक्रमतुः पुरात् तदीयात्।
मतिविभववशाद्बुद्धयानौ छलयति कं न मतिर्हि सुप्रयुक्ता॥१८९॥ - त्रिभिर्विशेषकम्।
हत हत परिभाषिणस्तयोस्तेऽनुपदमिमे प्रययुर्मटास्तदीयाः।
अतिसविधमुपागतेषु हंसोऽवदिति तत्र कनिष्ठमात्मबन्धुम्॥१९०॥
ब्रज झगिति गुरोः प्रणामपूर्वं प्रकथय मामकदुष्कृतं हि मिथ्या।
अभणितकरणात्ममापराधः कुविनयतो विहितः समर्षणीयः॥१९१॥
इह निवसति सूरपालनामा शरणसमागतवत्सलः क्षितीशः।
नगरमिदमिहास्य चक्षुरीक्ष्यं निकटतरं ब्रज सन्निधौ ततोऽस्य॥१९२॥
इति सपदि विसर्जितोऽपि तस्थौ क्षणमेकं स तु तैः सहस्रयोधैः।
गततनुममतस्त्वयुद्धयतैतैः हठहृतधन्वशरावलीभिर्हंसः॥१९३॥
अतिविपुलतया शिलीमुखानां तितठरिवाजनि तस्य विग्रहश्च।
अपतदथ स वंद्यरक्त उर्व्यामहितनरैरभवत् ततः परासुः॥१९४॥
अवरज इह मोहतो ह्यमुञ्चन् सविधममुष्य कृपार्द्रमर्त्यवाक्यात्।
त्वरिततरपदप्रचारवृत्त्याऽगमदवनीपतिसूरपालपार्श्वम्॥१९५॥
शरणमिह ययौ च तस्य धीमान् तदनुपदं रिपवः परः सहस्राः।
अवनिपतिमवाप्य चैनमूचुः प्रवितर नः प्रतिपन्थिनं समेतम्॥१९६॥
अवददथ स को बलेन नेता मम भुजपञ्जरवर्तिनं किलैनम्।
अनयिनमपि नार्पयाम्यमुं तत् किमुत कलाकलितं नयैकनिष्ठम्॥१९७॥
सुगतमतभटास्तथाऽप्यधुस्तं परतरदेशनरस्य हेतवे त्वम्।
धनकनकसमृद्धराज्यराष्ट्रं गमयसि हास्मदधीशकोपनात् किम्॥१९८॥
अवददिह स चोत्तरं गरीयः पुरुषगणैर्मम यद्व्रतं व्यधायि।
मरणमथ च जीवितं हि भूयात् नहि शरणागतरक्षणं त्यजामि॥१९९॥
इतरदिह दधामि चैकमेष प्रकटमतिर्विदितप्रमाणशास्त्रः।
तत इममभिभूय वादरीत्योचितमिह धत्त पराजये जये वा॥२००॥
अथ वचनविचक्षणः स तेषामधिपतिराह वचस्त्विदं प्रियं नः।
परमिह वदनं न दृश्यमस्य क्रमयुगलं सुगतस्य मूर्ध्नि योऽदात्॥२०१॥
तदनु च यदि शक्तिरस्ति तस्यान्तरिततरः प्रतिसीरयाशु हेतून्।
यदि जयति स यातु कौशलात् तन्नियतमसौ विजितस्तु वध्य एव॥२०२॥
अथ घटमुखवादिनी रहःस्था वदति तथागतशासनाधिदेवी।
स्वयमिह हरिभद्रसूरिशिष्यः पुनरनयो न बभूव दृष्टिमेलः॥२०३॥

व्यमृशदथ स च च्छलैकनिष्ठाः सुगतमते प्रभवन्ति सूरयोऽपि।
 अवितथमिह नो घटेत चैतत् त्रुटति वचो न ममापि यत्पुरस्तात्॥104॥
 अथ बहुदिनवादतो विषण्णः स परमहंसकृती विषादमाधात्।
 विभवति गुरुसंकटे विचिंत्या निजगणशासनदेवता किलाम्बा॥105॥
 स्मृतिवशत इयं तदा समायोज्जिनमतरक्षणनित्यलब्धलक्षा।
 वदति च शृणु वत्स ! मुक्तिमस्माद्दुरितभराद् गुरुसत्त्वमूलधूमे ! ॥106॥
 सुगतमतसुरी समस्ति तारा वदति निरन्तरमत्रुटद्भुजः सा।
 मनुज इह सुरैः समं विवादी क इव भवन्तभूते समृद्धसत्त्वम्॥107॥
 प्रतिवद च तमद्य दंभवादिब्रुवमसमानकृतप्रतिश्रवं त्वम्।
 अनुवदनपुरःसरं प्रजल्प्यं भवति कथं तदृते हि वादमुद्रा॥108॥
 छलमिदमधुनैव तद्विना स्यात् प्रकटतरं तदतो जयस्तवैव।
 अवददथ स मेऽत्र कोऽन्य एवं जननि ! विना भवतीं करोति सारां॥109॥
 इति समुचितभुत्तरं विधायापरदिवसे विदधौ सुरीनिदेशम्।
 प्रतिवदितरि सश्रिते च मौनं स जवनिकांचलमूर्ध्वमाततान॥110॥
 कलशमथ चकार पादपातैर्विशकलमाश्रितवैपरीत्यमेषः।
 अवददथ सदम्भवादमुद्राब्रुवमिह कृष्टिजनाधमा भवन्तः॥111॥
 वधकृतमतयोऽस्य ते ह्यमित्राः समभिहिता ननु तेन भूमिपेन।
 नयविजयमयः पराद्धर्ष (ध्वं?) वृत्तः किमु वधमर्हति साधुलब्धवर्णः॥112॥
 अथ कुनयमपीममातनुध्वं यदि न सहेऽहमिदं निशम्यतां तत्।
 रणभुवि परिभूय मां ग्रहीता खलु य इमं स तु लात्वपातुकश्रीः॥113॥
 तदनु नयनसंज्ञयाऽथ विद्वान् ननु समकेति पलायनाय तेन।
 लघु लघु स पलायनं च चक्रे क इव न नश्यति मृत्युभीविहस्तः॥114॥
 द्रुतचरणगतैर्बाहिः प्रगच्छन् स च निर्णेजकमेकमालुलोकं।
 तुरगिषु सविधागतेष्ववादीत् तमिह व्रज त्वमिहाययौ प्रपातः॥115॥
 स्वमतिविभवतः प्रणाशितेऽस्मिन् वसनविशोधनमादधत् तथासौ।
 तरलतुरगिणा च जल्पितो यन्मनुजोऽनेन पथा जगाम नैकः॥116॥
 रजक इह स तेन दर्शितोऽस्य त्वरिततरः स च शीघ्रमेव तेन।
 निजभटनिवहे समार्पि धृत्वा प्रतिवदले च बलं तदीयवाक्यात्॥117॥
 निजमतिबलतस्ततः प्रकाशं विभयमनाश्वलितोऽभिचित्रकूटम्।
 अभिसमगत तद्विनैः कियदिभगुरुचरणाम्बुरुहं समागमोत्कः॥118॥
 इतर इति निजेशकार्य्यसिद्ध्या नृपतिममुं किल सांत्वयांबभूवुः।
 अणुतरविषये दृढं सहायं परिहरते हि क उग्रपौरुषोऽपि॥119॥
 अथ निजगुरुसंगमामृतेन प्लुतकरणः शिरसा प्रणम्य पादौ।
 दृढतरपरिबन्ध एष तैश्च प्रविगलदश्रुजलो जगाद सद्यः॥120॥
 गुरुजनवचसां स्मरामि तेषां परतरदेशगतौ हि यैर्निषिद्धौ।
 निशमयत विभो ! प्रबन्धमेनं कुविनयशिष्यजनास्यतः प्रवृत्तम्॥121॥

इति चरितमसौ जगाद यावन्निजगुरुबन्धुपरासुतावसानम्।
अथ निगदत एव हृद्विभेदः समजनि जीवहरो बली हि मोहः॥122॥

5. विमृशति हरिभद्रसूरिरीदृक् किमु मम संकटमद्भुतं प्रवृत्तम्।
निरुपचरितवीतरागभक्तेरुदितमिदं निरपत्यतामनस्यम्॥123॥
विमलतरकुलाद्भवौ विनीतौ यमनियमोद्यमसंगतौ प्रवीणौ।
परमतविजयप्रकाशपंडापरिमलशोभितविद्वदचिंतांही॥124॥
अपि परतरदेशसंस्थशास्त्राधिगमरसेन गतौ च विप्रकृष्टम्।
मदसुकृतवशेन जीवितान्तं ययतुरुभावपि कर्म धिक् दुरन्तम् ! ॥125॥
विनयमथ शमं स्मरामि किं वा गुरुपदसेवनमद्भुतं किमत्र।
नहि मम सदृशैस्तु मन्दभाग्यैः परिचरणं ननु तादृशां विलोक्यम्॥126॥
मुखकृतकवलैर्विवृद्धदेहौ चटकशिशू इव यावजातपक्षौ।
अवसर इह तौ सपक्षताया भृशमतिगम्य दृशोः पथं व्यतीतौ॥127॥
कलुषकुलनिवास एष देहः सुचरितकक्षदवानलार्चिरुग्रः।
इह हि किमधुना प्रधार्यतेऽसौ विरहभरेऽपि सुशिक्षयोरवाप्ते॥128॥
विनिहततमनिर्वृतिप्रकारां कमिव विशेषमवाप्तुमत्र धार्याः।
सुललितवचनौ विनेयवर्यावसव इमौ हि विना कदर्यधुर्याः॥129॥
इति विमृशत एव सौगतानामुपरि महः समुदैन्निजान्वयस्थम्।
सुविहितपरिकर्मणाऽपि साध्यं न सहजमाभिजनं महत्तमेऽपि॥130॥
अवददथ स सौगताः कृतास्ते परिभवपूर्णहृदो गृहस्थितेन।
अतिविनयविनेयहिंसनेनाद्भुतहृत्चित्तनिवृत्तिसापराधाः॥131॥
श्रुतविहितनयेऽपि युक्तमुक्तं सकलबलेन निवारणं रिपूणाम्।
परभवगतिरस्य निर्मला नो य इह सशल्यमना लभेत मृत्युम्॥132॥
इति जिनपतिशासनेऽपि सूक्तं गुरुतरदोषमनुद्धृतं हि शल्यम्।
सुगतमतभृतो निबर्हणीयाः स्वमुसुतनिर्मथनोत्थरोषपोपात्॥133॥ - विशेषकम्
इति मतिमति चेतसि प्रकामं गुरुमभिपृच्छ्य ययौ विना सहायम्।
हृदि विगलितसंयमानुकम्पो नगरमवाप च भूमिपस्य तस्य॥134॥
द्रुततरमधिगम्य पार्श्वमस्य प्रकटतरीकृतजैनलिङ्गरूपः।
वदति च हरिभद्रसूरिरेवं जिनसमयप्रवराशिषाभिनन्द्य॥135॥
शरणसमितवज्रपञ्जर ! त्वं शृणु मम वाक्यमशक्यसत्त्वभङ्ग !
इह हि मम विनेय उज्जिजीवे स परमहंस इति त्वया प्रसिद्धः॥136॥
किमिव न तव साहसं प्रशस्यं क्षितिप ! शरण्यकृते हि लक्ष्य(क्ष)संख्यम्।
बलमवगणितं तदेतदभ्युन्नतिकरमूर्जितमस्ति नापरस्य॥137॥
निरगममिह सायुगीनवृत्तिः कृतिजनरीतित उन्नतप्रमाणः।
अतिशयनिभनिष्टवाक्प्रबन्धान् सुगतमतस्थितकोविदान् जिगीषुः॥138॥
अवददथ स सूरपालभूपो मम तव चापि विजेयतापदे ते।
छलविवदननिष्ठिता अजेयाः शलभगणा इव ते ह्यमी बहुत्वात्॥139॥

परमिह कमपि प्रपञ्चमग्र्यं ननु विदधामि यथा भवद्विपक्षः।
 स्वयमपि विलयं प्रयाति येन प्रतिकूलं वचनं तु मे न गण्यम्॥140॥
 अवहितिपर वाचमेककां मे शृणु तव काचिदजेयशक्तिरस्ति।
 अवददथ च को हि मां विजेता वहति सुरी यदुदन्तमम्बिकाख्या॥141॥
 वचनमिति निशम्य तस्य भूपः सुगतपुरे प्रजिघाथ दूतमेव।
 अपि स लघु जगाम तत्र दूतो वचनविचक्षण आदृतप्रपञ्चः॥142॥
 सुगतगुरुमथ प्रणम्य तत्रावददिति भूमिपतिः स भूरपालः।
 स्फुरिततनुमिवेह भारती त्वामिति किल विज्ञपयत्यनल्पभक्तिः॥143॥
 इह मम पुरमाजगाम चैको बुध इह बुद्धमताभिजातिरूपः।
 भवति च भुवनत्रयप्रसिद्धं प्रतपति किं नु स एष वादिशब्दः॥144॥
 इदमिह महते त्रपाभराय प्रभवति तत् क्रियते तथा यथा सः।
 निधनभविजयः स्वयं स यायात् कुरुतेऽन्योऽपि यथा न कश्चिदित्यम्॥145॥
 दशबलमतनायकः स मानप्रतिघवशो वदति स्म तं प्रमोदात्।
 इह जगति समस्तदेशानाविबुधगणस्तमहं तिस्त्वकारः॥146॥
 जिनसमयविशारदोऽपि कश्चिन्नवपठितो भविताऽत्र वावदूकः।
 वचनमदमहं ततो विनेष्ये गहनविकल्पसमूहकल्पनाभिः॥147॥
 स्वयमिह निधने कृतप्रतिज्ञः स किमु भविष्यति तद्वद त्वमेव।
 पटुवच इति जल्पति स्म दूतः प्रभुपुरतो मम गीः प्रवर्तते किम्॥148॥
 तव पदमलप्रसादतो वा किमिव न मे शुभमदभुतं भविष्यत्।
 मतिरिति तु मम प्रकाशतेऽसौ परमिह सुप्रभुणा विचार्य कार्यम्॥149॥
 लिखत वच इदं पणे जितो यः स विशतु तप्तवरिष्ठतैलकुण्डे।
 इति भवतु स्ववीप्सया प्रशंसामिह विदधेऽस्य गुरुर्विचारहृष्टः॥150॥
 विपुलमतिरथ प्रगल्भदूतः पुनरपि वाचमुवाच दाढ्यहेतोः।
 प्रभुचरणयुगं तथापि धार्ष्ट्यात् पुनरपि विज्ञपयामि किञ्चिदत्र॥151॥
 शृणुत वसुमती रत्नगर्भा भवति कदाचन कोऽपि तत्र विद्वान्।
 अतिशयितमतिर्यतो जिनानां ननु भवतामवमानना हि माऽभूत्॥152॥
 असदिह परिकल्पनं ममैतद् गगनतले कुसुमोद्गमेन तुल्यम्।
 जयिषु किल भवत्सु यत्सनाथा वयमिह तत्तु दृढं विचारणीयम्॥153॥
 गुरुरवददसौ भयं किमेतद् भवति तथा भ्रम एव कश्च फल्गुः।
 अपि मयि चिरसेवितेऽपि यद्वः स्फुरति परेण विजेयताभिः॥154॥
 क इव मम पुरः स कोऽपि विद्वानमधिगतस्वपरप्रमाणभूमिः।
 मदादमवमोचये न चेत्तं तदहमहो न निजं वहामि नाम॥155॥
 स्वनूपतिपुरतः प्रशाधि वाचं मम विनियन्त्रितवादिपौरुषस्य।
 वयमिह परवादिलाभतुष्टा अनुपदमेव समाजमाम ते यत्॥156॥
 वचनमिति निशम्य तस्य दूतो मुदितमनाः पुरमाययौ निजं सः।
 इति सुविहितबौद्धविप्रलम्भान्नृपतिमवद्व्यदत्र सूरपालम्॥157॥

त्रिचतुरदिवसान्तरेण सोऽपि प्रभुरिह बौद्धमतस्य तत्र चायात्।
 अतिपरिवृढस्यैवपादपद्मे व्यधित स पूर्वपणेन वादमुद्राम्॥158॥
 विबुधपतिरचिन्तयत् तथा चासौ कथमहमस्य कृते स्मरामि ताराम्।
 अथ च किमनया स्मृताऽपि याऽसौ जितमदरिव्रजचातिनी न सद्यः॥159॥
 इति स च परिचिन्त्य वादसंसद्युपहरिभद्रविशारदं समेत्य।
 अवददिदमनित्यमेव सर्वं सदिति वचः परिसंस्कृतं यदेतत्॥160॥
 इह भवति च पक्ष एव हेतुर्जलधरवन्ननु सन्ति चात्र भावाः।
 निदित इति मूलपक्षजाते, वदति ततः प्रतिवाधनूद्य सम्यक्॥161॥
 यदि सकलमिदं विन्ध्वरं तत् स्मरणविचारणचारिमा कथं स्यात्।
 तदिदमिह पुरावलोकितं यत् कथमियमित्यनुसंहतिर्घटेत॥162॥
 वदति स मतिसन्ततिः स्म तुल्या भवति सदैव सनातना मते नः।
 बलमिदमनुसंहतेष्व तस्या व्यवहरणं च तथैव वर्तते नः॥163॥
 अनुवदति मुदा स्म जैनविद्वानिह मतिसन्ततिरप्रणाशिनी चेत्।
 सदिति सुविदितैव तत् ध्रुवत्वानुमतिरिदं तव चात्मवाग्विरुद्धम्॥164॥
 न विबुधकमनीयमेतदुच्चैः स्वसमयमूढमतिर्भवान् यदिच्छुः।
 ननु सकलविन्ध्वरत्वसन्धां परिहर तच्चिरकालतो विलग्नम्॥165॥
 इति वचननिरुत्तरीकृतोऽसौ सुगतमतप्रभुरावचार मौनम्।
 जित इति विदिते जनैर्निपेते द्रुततरमेष सुतप्ततैलकुण्डे॥166॥
 अथ कलकल उद्बभूव तेषां दशबलविद्वदरीतिमृत्युभावात्।
 इति भवदपमानभारभुग्ना भयतरला अनशत्रमी निरीशाः॥167॥
 अथ विशदविशारदस्तदीयो वचनमतिः किल तद्वदेक एकः।
 समगत च तथैव पञ्चाषास्ते निधनमवापुरनेन निर्जिताश्च॥168॥
 दशबलमतशासनाधिदेवी खरवचनैरुपलम्बिताऽथ सा तैः।
 प्रतिघवशविसर्पिर्दपभङ्गै रणकदिनेषु सुरस्मृतेर्हि कालः॥169॥
 ननु शृणु कटपूतनेऽत्र यस्त्वामविरतमर्चयिता सुधी नरेन्द्रः।
 कुमारणविधिना मृतोऽधुना तत्रनु भवती क्व गतासि हन्त तारे! ॥170॥
 मलयजघनसारकुङ्कुमादि-प्रकृतिविलेपनधूपसारभोगैः।
 सुरभिकुसुमदामभिश्च सम्यग् ननु तव दृषद इव व्यधायि पूजा॥171॥
 दृढतरपरिपूजिता भवादृग् विधुरतरावसरेऽपि सन्निधानम्।
 यदि न वितनुते ततः स्वदेहे स किमु नहि क्रियते सुवस्तुभोगः॥172॥
 सविधतरभुवि स्थिता च तारा सुकरुणमानसवासना ह्यमीषु।
 अनुचितमपि जल्पतो निशम्याप्रतिघमना मृदुवागिदं जगाद॥173॥
 अतिशयशुचि (च?) माप्य यद्वराका असदृशमप्यनुवादिनो भवन्तः।
 कुवचनमपि नो मयाऽत्र गण्यं मम वच एकमिदं निशम्यतां च॥174॥
 अतिपरतरदेशतः समेतौ परसमयाधिगमाय सङ्गतौ च।
 जिनशिरसि पदप्रदानपापाभ्युपगमरूपनिधेऽप्यमुक्तसत्त्वौ॥175॥

प्रतिकृतमिह तत्कृते दधानौ झटिति च तेन हतौ पलायमानौ।
 नयपथपथिकौ महामुनी यत्तत्प्रतिकृतिरस्ति तस्य दुष्कृतस्य॥१७६॥
 तत इति समुपेक्षितो मया यद्विलयमवाप निजैनसैव तस्मात्।
 विदधति ननु येऽस्य पक्षमुच्चैर्ननु मम तेऽपि सदा ह्युपेक्षणीयाः॥१७७॥
 इति शुक्लपहाय यूयमेते निजनिजभूमिषु गच्छताद्य धीराः।
 दुरितभरमहं हि वो हरिष्ये निजसन्तानसमेषु को हि मन्युः॥१७८॥
 इति वचनमुदीर्य सा तिरोधात् निजनिजदेशगणं ययुश्च तेऽथ।
 अपरतरपुरेषु बौद्धवृद्धा उपशममापुरितिश्रुतप्रवृत्त्या॥१७९॥
 इह किल कथयन्ति केचिदित्थं गुरुतरमन्त्रजपप्रभावतोऽत्र।
 सुगतमतबुधान् विकृष्य तप्ते ननु हरिभद्रविभुर्जुहाव तैले॥१८०॥

6. अथ जिनभटसूरिरत्र कोपाद्भुतमिह शिष्यजने निजे निशम्य।
 उपशमनविधौ प्रवृत्तिमाधादिह हरिभद्रमुनीश्वरस्य तस्य॥१८१॥
 मृदुवचनविधिं च शिक्षयित्वा यतियुगलं प्रजिघाय तत्करे च।
 क्रुध उपशमनाय तस्य गाथात्रयमिह समरविनेशवृत्तबीजम्॥१८२॥
 प्रययतुरथ तेऽपि (तौ हि) तस्य राज्ञो नगरमिदं मिलितौ च तस्य सूरैः।
 वच इह कथयाबभूवतुस्तद् गुरुभिरमुं प्रति यन्निदिष्टमिष्टम्॥१८३॥
 प्रतिघगुरुतरोर्भवान् फलोदाहरणमिमा अवधारयस्व गाथाः।
 इति किल वदतोस्तयोः स भक्त्या गुरुलिखिताः समवाचयत् ततस्ताः॥१८४॥
 तथा हि -

गुणसेण-अगिसम्मा सीहाणंदा य तह पिआपुत्ता।
 सिहि-जालिणि माङ्ग-सुआ धण-धणसिरिमो य पङ्ग-भग्जा॥१८५॥
 जय-विजया य सहोअर धरणो लच्छी अ तह पई भग्जा।
 सेण-विसेणा पित्तिय उत्ता जम्माप्पि सत्तमए॥१८६॥
 गुणचन्द-वाणमन्तर समराहच्च-गिरिसेण पाणो अ।
 एगस्स तओ भोक्खोऽणन्तो अन्नस्स संसारो॥१८७॥
 इति चतुरमतिर्व्यमृक्षदेवं हृदि हरिभद्रतिभुस्तदेतदीदृक्।
 अपि वनमुनिपारणस्य भङ्गे भवनवकेऽप्यनुवर्तते स्म चैरम्॥१८८॥
 पुनरिह मयका तु कोपदावानलबहलार्चिरुदस्तचेतनेन।
 दशबलमतसङ्गिनः प्रपञ्चं विरत्तयता विनिबर्हितश्च भूम्नः॥१८९॥
 अतिविरतचिरप्ररूढमिथ्याग्रहसमयैरिव विप्रलब्धचेताः।
 अपि जिनमतबोधमाकलय्यासुकृतवशेन तमःप्रवेशमाधाम्॥१९०॥
 नरकगमनदौहृदं हि जीव ! त्यज ननु दौहृदमायतौ दुरन्तम्।
 निजमिह परिबोध्य जीवमित्थं प्रकटमुवाच तपोधनाग्रतोऽसौ॥१९१॥
 इह गुरुजनवत्सलत्वबुद्धेरनृषविधिः किमवाप्यते कथञ्चित्।
 नरकगतिसमीपगामिनं मां प्रति वदते भृशमुद्दिधीर्यया यः॥१९२॥

विविधमथ विरोधमौद्ध्य सूरिर्भृशमभिपृच्छ्य च तं नृपं महेच्छः।
निरगमदबिलम्बितप्रयाणैः समगत शीघ्रमसौ गुरुक्रमाणाम्॥193॥
शिरसि च विनिधाय तान् नतास्योऽगददध गद्गदगीर्भरः स तत्र।
गुणविशदविनेयमोहतोऽहम् प्रभुचरणाम्बुजसेवया वियुक्तः॥194॥
श्रुतविहिततपः प्रदाय बाढं मम कलुषं परिशोधयध्वमाशु।
अविनयसदने विनेयपाशे प्रगुणतरां मतिमातनुध्वमुच्चैः॥195॥
गुरुरिह परिरभ्य गाढमेनं कृतवृजिनार्हतपः प्रदाय चावक्।
कलुष-सुकृतयोर्विधौ समर्था ननु हरिभद्रसमाः क्व सन्ति शिष्याः॥196॥
खरतरतपसा विशेषयन्तं तनुमतनुः स विनेययोर्वियोगः।
परिदहति भृशं मनस्तदीयं जलनिधिमीर्व इव प्रकाशकीलः॥197॥
अतिशयपरिदूनमेवमम्बा धृतिविधये सुतरामुवाच वाचम्।
क इव स विरहस्तवार्दनेऽसौ गृहधननन्दनसङ्गवर्जितस्य॥198॥
जिनसमयविचित्रशास्त्रसेवानिपुण ! विशुद्धमते ! स्वकर्मपाकः।
फलवितरणकत्रिजः परो वा तदिति विडम्बकमेव कोविदानाम्॥199॥
गुरुपदवरिवस्थ्याभिरामः सफल्य शुद्धतपस्यया स्वजन्म।
शरदि घन इव प्रलीनमेतद् भवति विकर्मं यथा तनु त्वदीयम्॥200॥
अवगथ हरिभद्रसूरिर्मवे ! जडमतिमादृशशिष्यकावलम्बे !
न किमपि मम चेतसो व्यथाकृद् विशदविधेयविनेयमृत्युमुख्यम्॥201॥
दृढमिह निरपत्यता हि दुःखं गुरुकुलमप्यमलं मयि क्षतं किम्।
इति गदति जगाद् तत्र देवी शृणु वचनं मम सूनृतं त्वमेकम्॥202॥
नहि तव कुलवृद्धिपुण्यमास्ते ननु त(भ)व शास्त्रसमूहसन्ततिस्त्वम्।
इति गदितवती तिरोदधे सा श्रमणपतिः स च शोकमुत्ससर्ज॥203॥
मनसि गुरुविरोधवर्द्धिगाथात्रितयमिदं गुरुभिर्गुरुप्रसादात्।
प्रहितमभिसमीक्ष्य सैष पूर्व स च समरार्कचरित्रमाततान्॥204॥
पुनरिह च शतानमुग्रधीमान् प्रकरणसार्द्धसहस्रमेष चक्रे।
जिनसमयवरोपदेशरम्यं ध्रुवमिति सन्ततिमेष तां च मेने॥205॥
अतिशयहृदयाभिरामशिष्यविरहोर्मिभरेण तप्तदेहः।
निजकृतिमिह संव्यधात् समस्तां विरहपदेन युतां सतां स मुख्यः॥206॥

7. प्रकरणनिकरस्य विस्तरार्थं हृदयविबाधक चिन्तयाभिचान्तः।
अणुतरजिनवासनं स कार्पासिक इति नामकमैक्षताथ भव्यम्॥207॥
शुभशकुनवशात् स्वकीयशास्त्रप्रसरणकारणमेष तं व्यमृक्षत्।
तत इह विरलं च भारतादिश्रवणसतृष्णमुवाच हृद्यविद्यः॥208॥
तथा हि -

एयं लोड्यकव्वं गद्धहलिंडं व बाहिरे मट्ठं।
अन्तो फोडिज्जंतं तुसब्बुसभुसमीसियं सव्वं॥209॥

अवददथ वणिग् विवेचयस्व प्रकटमिदं स ततो जगाद सूरिः।
 अनृतभरभृतेष्वहो जनानामितिहासेषु यथा-तथा प्रतीतिः (?)॥210॥
 इति विशकलनाय मूढतायाः कितवकथानकपञ्चकं तदुक्तम्।
 विषधरवति मंत्रवत् कुमिथ्याग्रहविषविस्तरसंहतिप्रवीणम्॥211॥
 श्रवणत इह तस्य जैनधर्मे प्रकटमतिर्वुबुधे ततो जगाद।
 वितरणमुख एष जैनधर्मो द्रविणमृते स विधीयते कथं नु॥212॥
 गुरुरथ समुवाच धर्मकृत्याद् द्रविणभरो भविता तव प्रभूतः।
 अवददथ स चेदिदं तदाऽहं सपरिजनः प्रभुगोर्विधायकः स्याम्॥213॥
 वदति गुरुरथ त्वमेकचित्तः शृणु बहिरद्यदिनात् तृतीयघस्त्रे।
 परविषयवणिज्यकारकौघः स्फुटमिह वस्तुनिधानमेष्यतीति॥214॥
 तदुप तव गतस्य वस्तुजातं तदथ समोद्धतितः समर्घमाप्यम्।
 गुरुतरममुतो धनं च भावि व्यवहरणात् सुकृतोदयेन भूम्ना॥215॥
 विहितमिह मया हि शास्त्रवृन्दं ननु भवता भुवि पुस्तकेषु लेख्यम्।
 तदनु यतिजनस्य ङौकनीयं प्रसरति सर्वजने यथा तदुच्चैः॥216॥
 सुकृतिजनशिरोमणिस्ततोऽसाविति वचनं विदधे गुरोरलङ्घ्यम्।
 तदनु च तदिदं भवार्णवस्य प्रतरणहेतुतरीसमं प्रवृत्तम्॥217॥
 अथ च चतुरशीतिमेकपीठे जिनसदनानि महालयानि तत्र।
 अपरजनमपि प्रबोध्य सूरिः सुमतिरचीकरदुच्चतोरणानि॥218॥
 चिरलिखितविशीर्णवर्णभग्नप्रविवरपत्रसमूहपुस्तकस्थम्।
 कुशलमतिरिहोद्धार जैनोपनिषदिकं स महानिशीथशास्त्रम्॥219॥
 श्रुतपरिचयतो निजायुरन्तं सुपरिकलय्य गुरुक्रमागतोऽसौ।
 गणविषयनिराशतोत्थचेतः कदनविरागविशेषसंभृताङ्गः॥220॥
 अनशनमनघं विधाय निर्यामकवरविस्मृतहार्दभूरिबाधः।
 त्रिदशवन इव स्थितः समाधौ त्रिदिवससौ समवापदायुरन्ते॥221॥

इत्थं श्रीहरिभद्रसूरिसुगुरोर् श्रुत्वा चरित्रावभूतम्

स्मृत्वा विस्मयकारणं पटुतरप्रज्ञालहृद्यं बुधाः।

मावक्प्राथमकल्पिकावलिधियां जीवातुपाथेयवत्।

शृण्वन्तु प्रकटं पठन्तु जयताच्छाचन्त्रसूर्यस्थिति॥222॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वार्धचरित्ररोहणगिरौ श्रीहारिभद्री कथा

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्वुना विशदितः शृङ्गोऽयमष्टाधिकः॥223॥

पुरुषोत्तम परमेष्ठिन् गिरीश गणनाथ विबुधवृन्वपते।

प्रद्युम्न ब्रह्मरते सुमनोमय किमसि नहि तपनः॥224॥

॥ इति हरिभद्रसूरिप्रबन्धः ॥



श्रीमल्लवादिसूरिचरितम्

1. संसारवाद्धिविस्ताराविस्तारयतु दुस्तरात् । श्रीमल्लवादिसूरिर्वो यानपात्रप्रभः प्रभुः॥1॥
 गौः सत्तारघना यस्य पक्षाक्षीणलसद्भुवि। अवक्त्रा लक्षभेत्री च जीवामुक्ता सुपर्वभृत्॥2॥
 जडानां निबिडाध्यायप्रवृत्तौ वृत्तमद्भुतम्। प्रमाणाभ्यासतः ख्याते दृष्टान्तः किञ्चिदुच्यते॥3॥
 रेणप्राकारतुङ्गत्वाद् रथेनागच्छतो रवेः। रथाङ्गमिव संलग्नं शकुनीतीर्थनाभिभृत्॥4॥
 हर्म्यारनिकरैर्युक्तं वप्रनेमिविराजितम्। पुरं श्रीभृगुकच्छाख्यमस्ति स्वस्तिकेतनम्॥5॥
 चारुचारित्रपाथोधिशमकल्लोलकेलितः। सदानन्दो जिनानन्दः सूरिस्तत्राच्युतः श्रिया॥6॥
 अन्यदा धनदानाप्तिमत्तश्चित्ते छलं वहन्। चतुरङ्गसभावज्ञामज्ञातमदविभ्रमः॥7॥
 चैत्ययात्रासमायातं जिनानन्दमुनीश्वरम्॥ जिग्ये वितंडया बुद्ध्या नन्दाख्यः सौगतो मुनिः॥8॥ - युग्मम्।
 पराभवात् पुरं त्यक्त्वा जगाम वलभीं प्रभुः। प्राकृतोऽपि जितोऽन्येन कस्तिष्ठेत् तत्पुरांतरा॥9॥
 तत्र दुर्लभदेवीति गुरोरस्ति सहोदरी। तस्याः पुत्रास्त्रयः सन्ति ज्येष्ठोऽजितयशोऽभिधः॥10॥
 द्वितीयो यक्षनामाभून् मल्लनामा तृतीयकः। संसारासारता चैषां मातुलैः प्रतिपादिता॥11॥
 जनन्या सह ते सर्वे बुद्ध्वा दीक्षामथादधुः। संप्राप्ते हि तरण्डे कः पाथोधिं न विलम्बयेत्॥12॥
 लक्षणादिमहाशास्त्राभ्यासात् ते कोविदाधिपाः। अभूवन् भूपरिख्याताः प्रज्ञायाः किं हि दुष्करम्॥13॥
 पूर्वार्षिभिस्तथा ज्ञानप्रवादाभिधपञ्चमात्। नयचक्रमहाग्रन्थः पूर्वाच्चक्रे तमोहरः॥14॥
 विश्रामरूपास्तिष्ठन्ति तत्रापि द्वादशारकाः। तेषामारम्भपर्यन्ते क्रियते चैत्यपूजनम्॥15॥
 किञ्चित्पूर्वगतत्वाच्च नयचक्रं विनाऽपरम्। पाठिता गुरुभिः सर्वे कल्याणीमतयोऽभवत् (न)॥16॥
 - त्रिभिर्विशेषकम्

एष मल्लो महाप्राज्ञस्तेजसा हीरकोपमः। उन्मोच्य पुस्तकं बाल्यात् स स्वयं वाचयिष्यति॥17॥
 तत्तस्योपद्रवेऽस्माकमनुतापोऽतिदुस्तरः। प्रत्यक्षं तज्जनन्यास्तज्जगदे गुरुणा च सः॥18॥
 वत्सेदं पुस्तकं पूर्वं निषिद्धं मा विमोचयेः। निषिध्येति विजह्वस्ते तीर्थयात्रां चिकीर्षवः॥19॥
 मातुरप्यसमक्षं स पुस्तकं वारितद्विषन्। उन्मोच्य प्रथमे पत्रे आर्यामेनामवाचयत्॥20॥

तथा हि :-

विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकमवोचत्।

जैनादन्यच्छासनमनुतं भवतीति वैधर्म्यम्॥21॥

अर्थं चिन्तयतोऽस्याश्च पुस्तकं श्रुतदेवता । पत्रं चाच्छेदयामास दुरन्ता गुरुगीःक्षतिः॥22॥
 इतिकर्तव्यतामूढो मल्लश्चल्लत्वमासजत्। अरोदीच्छैशवस्थित्या किं बलं देवतैः सह॥23॥
 पृष्टः किमिति मात्राह महुतात् पुस्तकं ययौ। संघो विषादमापेदे ज्ञात्वा तत्तेन निर्मितम्॥24॥
 आत्मनः स्खलितं साधु समारचयते स्वयम्। विचार्येति सुधीर्मल्ल आराध्नोत् श्रुतदेवताम्॥25॥
 गिरिखण्डलनामास्ति पर्वतस्तद्गुहान्तरे। रूक्षनिष्पावभोक्ता स षष्ठपारणकोऽभवत्॥26॥
 एवमप्यर्दितः संघो वात्सल्याज्जननीयुतः। ईदृक् श्रुतस्य पात्रं हि दुःप्रापं मा विशीर्यताम्॥27॥

विकृतिं ग्राहितस्तेन चतुर्मासिकपारणे। साधवस्तत्र गत्वाऽस्य प्रायच्छन् भोजनं मुनेः॥28॥
 श्रुतदेवतया संघसमाराधितया ततः। ऊचेऽन्यदा परीक्षार्थं 'के मिष्टा' इति भारती॥29॥
 'वल्ला' इत्युत्तरं प्रादान् मल्लः फुल्लतपोनिधिः। षण्मासान्ते पुनः प्राह्वाचं 'केनेति' तत्पुरः॥30॥
 उक्ते 'गुड-घृतेनेति' धारणातस्तुतोष सा। वरं वृण्विति च प्राह तेनोक्तं यच्छ पुस्तकम्॥31॥
 श्रुताधिष्ठायिनी प्रोचेऽवहितो मद्भचः शुणुः ग्रन्थेऽत्र प्रकटे कुर्युर्द्वेषिदेवा उपद्रवम्॥32॥
 श्लोकेनैकेन शास्त्रस्य सर्वमर्थं ग्राहीष्यसिः इत्युक्त्वा सा तिरोधत्त गच्छं मल्लश्च सङ्गतः॥33॥
 नयचक्रं नवं तेन श्लोकायुतमितं कृतम्। प्राग्रन्थार्थप्रकाशेन सर्वोपादेयतां ययौ॥34॥
 शास्त्रस्यास्य प्रवेशं च संघश्चक्रे महोत्सवात्। हस्तिस्कन्धाधिरूढस्य प्रौढस्येव महोशितुः॥35॥

2. अन्यदा श्रीजिनानन्दप्रभुस्तत्रागमच्चिरात्। सूरित्वे स्थापितो मल्लः श्राद्धैरभ्यर्थ्य सद्गुरुम्॥36॥
 तथाऽजितयशोनामा प्रमाणग्रन्थमादधे। अल्लभूपसभेवादिश्रीनन्दकगुरोर्गिरा॥37॥
 शब्दशास्त्रे च विश्रान्तविद्याधरवराभिधे। न्यासं चक्रेऽल्पधीवृन्दबोधनाय स्फुटार्थकम्॥38॥
 यक्षेण सहिता चक्रे निमित्ताष्टाङ्गबोधनी। सर्वान् प्रकाशयत्यर्थान् या दीपकलिका यथा॥39॥
 मल्लः समुल्लसन्मल्लीफुल्लवेल्लद्यशोनिधिः। शुश्राव स्थविराख्यानात् न्यङ्कारं बौद्धतो गुरोः॥40॥
 अप्रमाणैः प्रयाणैः स भृगुकच्छं समागमत्। संघः प्रभावनां चक्रे प्रवेशादिमहोत्सवैः॥41॥
 बुद्धानन्दस्ततो बौद्धानन्दमद्भुतमाचरत्। श्वेताम्बरो मया वादे जिन्ये दर्पं वहन्नमुम्॥42॥
 यस्योन्नमत्यपि भूर्नावलेपभरभारिता। जगद्भ्रष्टं कृपापात्रं मन्यते स धरातलम्॥43॥
 जैनर्षीनागतान् श्रुत्वा विशेषादुपसर्गकृत्। संघस्याथ महाकेशो विशां वृन्दैरवीवदत्॥44॥
 पूर्वजः श्वेतभिष्कुणां वादमुद्राजयोद्धुरः। स्याद्वादमुद्रया सम्यगजेयः परवादिभिः॥45॥
 परं सोऽपि मयात्मीयसिद्धान्तैः प्रकटीकृतैः। कलितक्षुलुके कुम्भोद्भवेनैव पयोनिधिः॥46॥ - युग्मम्।
 किं करिष्यति बालोऽसावनालोकितकोविदः। गेहेनर्दी सारमेय इवासारपराक्रमः॥47॥
 काचित्तस्यापि चेच्छक्तिस्ततो भूपसभापुरः। स्वं दर्शयतु येनैणं वृकवद् ग्रामानये॥48॥
 मल्लचार्य इति श्रुत्वा लीलया सिंहवत् स्थिरः। गम्भीरगीर्धरं प्राह ध्वस्तगर्वोऽद्विषवृणाम्॥49॥
 जैनो मुनिः शमी कश्चिद्विवादावदातधीः। जितो जित इति स्वेच्छावादोऽयं किं घटापटुः॥50॥
 अथवास्तु मुधा चित्तावलेपं शल्यवद् दृढम्। अलमुद्धर्तुमेतस्य सज्जोऽस्मि विलसज्जयः॥51॥
 सज्जनो मे मुहृच्चापि ज्ञास्ये स्थास्यति चेत्पुरः। तिष्ठन् स्वकीयमेहान्तर्जना भूपेऽपि कट्टदः॥52॥
 प्रत्यक्षं प्राश्निकानां तन्मध्येभूपसभं भृशम्। अनूद्यतां यथा प्रज्ञाप्रामाण्यं लभ्यते भुवम्॥53॥
 वृत्ताकर्ण्य वचः स्मित्वा बुद्धानन्दोऽप्युवाच च। वावदूकः शिशुप्रायः कस्तेन सह संगरः॥54॥
 अस्तु वासौ निराकृत्य एव मे द्विषदन्वयी। ऋणस्तोकमिवासाध्यः कालेनासौ हि दुर्जयः॥55॥
 ततः क्रूरे मुहूर्ते च तौ वादि-प्रतिवादिनौ। संसद्याजग्मतुः सभ्यः पूर्ववादं लघोर्दुः॥56॥
 मल्लचार्यः स षण्मासी यावत् प्राज्ञार्यमावदत्। नयचक्रमहाग्रन्थाभिप्रायेणावुट्टद्ववाः॥57॥
 नावधारयितुं शक्तः सौगतोऽसौ गतो गृहम्। मल्लेनाप्रतिमल्लेन जितमित्यभवनं गिरः॥58॥
 मल्लचार्ये दधौ पुष्पपृष्टिं श्रीशासनामरो। महोत्सवेन भूपालः स्वाश्रये तं न्यवेशयत्॥59॥
 बुद्धानन्दपरीवारमप्राजनया ततः। राजा निर्वासयन्नत्र वारितोऽर्थनपूर्वकम्॥60॥
 विरुदं तत्र 'वादी'ति ददौ भूपो मुनिप्रभोः। मल्लवादी ततो जातः सूरिभूरिकलानिधिः॥61॥
 बुद्धानन्दो निरानन्दः शुचा निष्प्रतिभो भृशम्। रात्रौ प्रदीपमादाय प्रारेभे लिखितुं ततः॥62॥
 तत्रापि विस्मृतिं याते पक्षहेतुकदम्बकं। अनुत्तरे भयाल्लज्जवैशसात् स्फुटिते हृदि॥63॥

मृत्युं प्राप खटीहस्तो राज्ञा प्रातर्व्यलोक्यत। मल्लेन च ततोऽशोचि वाद्यसौ हा दिवं गतः॥६४॥
 कस्य प्राणादसौ प्रज्ञां प्रगल्भां स्वां प्रबुद्धवान्। अवज्ञाता शिशुत्वान् नः स्वयमीदृक् च कातरः॥६५॥
 बलभ्याः श्रीजिनानन्दः प्रभुरानायितस्तदा। संघमभ्यर्थ्य पूज्यः स्वः सूरिणा मल्लवादिना॥६६॥
 माता दुर्लभदेवीति तुष्टा चारित्रधारिणी। बन्धुना गुरुणाऽथापि त्वं स्थिता पुत्रिणीधुरि॥६७॥
 गुरुणा गच्छभारश्च योग्ये शिष्ये निवेशितः। मल्लवादिप्रभौ को हि स्वौचित्यं प्रविलङ्घयेत्॥६८॥
 नयचक्रमहाग्रन्थः शिष्याणां पुरतस्तदा। व्याख्यातः परवादीभक्तुम्भेदनकेसरी॥६९॥
 श्रीपद्मचरितं नाम रामायणमुदाहरत्॥ चतुर्विंशतिरेतस्य सहस्रा ग्रन्थमानतः॥७०॥
 तीर्थं प्रभाव्य वादीन्द्रान् शिष्यान् निष्पाद्य चामलान्। गुरु-शिष्यौ गुरुप्रेमबन्धनेवेयतुर्दिवम्॥७१॥
 बुद्धानन्दस्तदा मृत्वा विपक्षव्यन्तरोऽजनि। जिनशासनविद्वेषिप्रान्तकालमतेरसौ॥७२॥
 तेन प्राग्वैरतस्तस्य ग्रन्थद्वयमधिष्ठितम्। विद्यते पुस्तकस्थं तत् वाचितुं स न यच्छति॥७३॥

श्रीमल्लवादिप्रभुवृत्तमेतन् मच्चेतनावल्लिनवाम्बुदाभम्।

व्याख्यान्तु शृण्वन्तु कविप्रधानाः प्रसन्नदृष्ट्या च विलोकयन्तु॥७४॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीमल्लवाद्यद्भुतं

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शृङ्गो नवाग्रोऽभवत्॥७५॥

[अत्र निम्नगतमेकमधिकं पद्यं लिखितमुपलभ्यते-]

श्रीनागेन्द्रकुलैकमस्तकमणि [:] प्रामाणिकग्रामणी-

रासीदप्रतिमल्ल एव भुवने श्रीमल्लवादी गुरुः।

प्रोद्यत्प्रातिभवैभवोद्भवमुदः श्रीशारदा सूनवे

यस्यै तं निजहस्तपुस्तकमदाज्जैत्रं त्रिलोक्या अपि॥ - ऋषिमण्डलात्।

॥ इति मल्लवादिमूर्तिचरितम् ॥



श्रीबप्पभट्टिसूरिचरितम्

1. **बप्पभट्टिः** श्रिये श्रीमान् यद्वृत्तगगनाङ्गणे। खेलति स्म गतायातै राजा सूरः कविर्बुधः।
 पीत्वा यद्गोरसं तृप्ता दृप्यन्तः कवितर्णकाः। विभ्राणाः शृंगितां विज्ञगोपालैरपि दुर्दमाः॥12॥
 तस्यैव चरितं किञ्चित् कीर्तयिष्ये यथाश्रुतम्। मत्प्रज्ञामुकुरो (रो?) द्योति साधुशृङ्गारभूषणम्॥13॥
 अस्ति स्वस्तिनिधिः श्रीमान् देशो गूर्जरसंज्ञया। अनुत्सेकविवेकाढ्यलोकः शोकाचलस्वरुः॥14॥
 यदेकांशप्रतिच्छन्दस्वरभ्रमुकुरस्थितम्। गौरीशमुनिबाहुल्यात् तत्पुरं पाटलाभिधम्॥15॥
 जितशत्रुर्महीनाथः पाथःपतिगभीरिमा। तत्रास्ति त्रासिताशेषबाह्यान्तररिपुव्रजः॥16॥
 चित्रशास्त्ररहस्यालिकन्दकन्दलनाम्बुदः। आश्लिष्टपरमब्रह्मामन्दपीयूषसागरः॥17॥
मोढाख्यप्रौढगच्छश्रीविवोढानूढमूढतः। **श्रीसिद्धसेन** इत्यासीन्मुनीन्द्रस्तत्र विश्रुतः॥18॥ - युग्मम्।
 विश्वविद्यावदातश्रीमान्यः क्षितिभूतामपि। **मोढेरे** श्रीमहावीरं प्रणन्तुं सोऽन्यदाययौ॥19॥
 प्रणम्य विधिवत् तीर्थं पृथगाश्रयसंश्रितः। निशायां योगनिद्राभृद् ददर्श स्वप्नमोदृशम्॥20॥
 उन्मीलल्लीलया नेत्रे यत्केसरकिशोरकः। आरूढश्चैत्य शृङ्गाग्रमुत्कालः सत्त्वशालिनः॥21॥
 इति दृष्ट्वा जजागारानगरपतिरद्भुतम्। प्रीतश्च श्रावयामास प्रातर्मुनिमतल्लिकाः॥22॥
 कल्याणानामुपादानं हेतुत्वं विनयस्य तैः। ख्यापयदिभर्तैः पृष्ट आख्यादर्थं च तत्पुरः॥23॥
 शिष्योऽन्यवादिकुम्भीन्द्रकुम्भनिर्भेदिनोद्यमः। भाग्यैः संघस्य कोऽप्यद्य समेष्यति महामतिः॥24॥
 भाविप्रभावसंसूचिस्वप्नानन्दाभिनिन्दितैः। तैः समं सूरिरागच्छज्जैनालयमनालयः॥25॥
 त्रिः प्रदक्षिणयित्वा च यावन्नार्थं विवर्दिषुः। तावत्पड्वार्धिको बाल एकस्तत्पुर आगमत्॥26॥
 कस्कः कौतस्कुतस्त्वं भो ! असौ पृष्टस्तदाऽवदत्। **पञ्जालवेश्य-बप्पाख्य**पुत्रोऽहं भट्टिदेहभूः॥27॥
सूरपालाख्यया शत्रून् निघ्नन् पित्रा निवारितः। अजानतेति वात्सल्यादहेतुर्विक्रमे वयः॥28॥
 एकोऽम्बामप्यनापृच्छयानुशयातिशयात्ततः। आगमं प्रभुपादान्ते प्रान्ते स्वस्नेहतः स्थितः॥29॥
 अस्यामानुष्यकं तेजो ध्यात्वेति गुरुभिस्ततः। किं त्वं नोऽन्तेऽवतिष्ठसुरित्यजल्यत हर्षतः॥30॥
 मन्भाग्यैः फलितं पूज्या इत्युक्त्वा सोऽप्यवस्थितः। अलिः किं नाम नो तिष्ठेद् विकाशिनि सरोरुहे॥31॥
 एकशः श्रुतमात्रेणावधारयति निश्चलम्। अनुष्टुभां सहस्रं तु प्रज्ञायां तस्य का कथा॥32॥
 जडदुस्तर्कसंश्लिष्टा देवीवागधिदैवतम्। दुर्बोधशास्त्रहृद्भेदि सुहृत्त्वं यस्य वाञ्छति॥33॥
 प्रेक्षाभियोगसन्तुष्टाः प्रभवस्तस्य पैतृके। गत्वा डुंवाउधीग्रामे पितरौ प्रार्थयन्त ते॥34॥
 स प्राह यातयामोऽहमेतदब्रैकपुत्रका। आशाधारोऽयमावाध्यां कथं मोक्तुं हि शक्यते॥35॥
 निर्बन्धो यदि पूज्यानां तदा नावभिधां यदि। विश्रुतां **बप्पभट्टी**ति कुरुष्वे तत्सुतोऽस्तु वः॥36॥
 ओमित्युक्ते जगत्पूज्यैः श्रद्धालुनिवहस्तयोः। आजन्मकसि(शि)पु प्रादान्महदास्था न निष्फला॥37॥
 शताष्टके च वर्षाणां गते विक्रमकालतः। सप्ताधिके राघशुक्लतृतीयादिवसे गुरौ॥38॥
 मोढेरे ते विहृत्यामुं दीक्षित्वा नाम चादधुः। स्वाख्या त्रिकैकादशकाद् **भन्नकीर्तिरिति** श्रुतम्॥39॥
 तत्पित्रोः प्रतिपत्रेन पूर्वाख्या तु प्रसिद्धिभूः। शिष्यमौलिमणेरस्य कलासङ्केतवेश्मनः॥40॥

संध्यं तदगुणग्रामरामणीयकरज्जितः। विदधेऽभ्यर्थनां तेषामत्रावस्थानहेतवे॥31॥
योग्यतातिशयं चास्य ज्ञात्वा सदगुरवस्ततः। सारस्वतं महामन्त्रं तत्रस्थास्तस्य ते ददुः॥32॥
परावर्तयतस्तस्य निशीथे तं सरस्वती। स्वर्गङ्गास्रोतसि स्नान्यनावृतासीद् रहोभुवि॥33॥
तन्मन्त्रजापमाहात्म्यात् तादृशरूपा समाययौ। ईषद्वष्ट्वा च तां वक्रं परावर्तयति स्म सः॥34॥
स्वं रूपं विस्मरन्ती च प्राह वत्स! कथं मुखम्। विवर्त्तसे भवन्मन्त्रजापात् तुष्टाहमागता॥35॥
वरं वृण्वति तत्प्रोक्तो बष्पभट्टिरुवाच च। मातर! विसदृशं रूपं कथं वीक्षे तवेदृशम्॥36॥
स्वां तनुं पश्य निर्वस्त्रामित्युक्ते स्वं ददर्श सा। अहो निबिडमेतस्य ब्रह्मव्रतमिति स्फुटम्॥37॥
उच्चैश्च मन्त्रमाहात्म्यं येनाहं गतचेतना। ध्यायन्ती दृढतोषेण त्वत्पुरः समुपस्थिता॥38॥
वरेऽपि निस्पृहे त्वत्र दृढं चित्रातिरेकतः। गत्यागत्योर्मम स्वेच्छा त्वदीया निर्वृतो भव॥39॥

2. अन्यदा तत्र संस्थानां (नो?) भद्रकीर्तिर्बहिर्गतः। वृष्टौ देवकुलं श्रित्वा तस्यैव स स्वैर्यसुस्थितः॥40॥
तत्रस्थस्य पुमानेको नाकिपाकविडम्बकः। समगस्त प्रशस्तश्रीर्वृष्टिव्याकुलितस्तदा॥41॥
श्यामाशमोक्तोर्णवर्णोघा सहारहदिवाङ्गना। स्वस्तिप्रशस्तिरत्रास्ति विहस्तिजडस्थितिः॥42॥
काव्यानि वाचयामास महार्थानि सुधीरसौ। सख्याद् व्याख्यापयामास प्रत्यग्राद् बष्पभट्टितः॥43॥
तदाख्यारजितस्वान्तः शान्ते वर्षेऽतिहर्षतः। ययौ सहैव वसतौ वसतौ तत्र च स्थितः॥44॥
ततो गुरुभिराशीर्भिरानन्द्य समपृच्छयत। आमुष्यायणतां स्वस्याचख्यौ ब्रीडावशानतः॥45॥
वर्यमौर्यमहागोत्रसंभूतस्य महाद्युतेः। श्रीचन्द्रगुप्तभूपालवंशमुक्तमणिश्रियः॥46॥
कान्यकुब्जयशोवर्मभूपतेः सुयशोऽङ्गभूः। पित्रा शिक्षावशात् किञ्चिदुक्तः कोपादिहागमम्॥47॥
अलेखीद् आमनाम स्वं क्षितौ खटिकया ततः। स्वनामाग्रहणेनास्य विवेकात् ते चमत्कृताः॥48॥
व्यमृशन् सूरयस्तत्र नखच्छोटनपूर्वकम्। पूर्वं श्रीरामसैन्येऽसौ दृष्टः षाण्मासिकः किल॥49॥
पीलुवृक्षमहाजाल्यां वस्त्रान्दोलकसंस्थितः। अचलच्छाययाऽस्माभिर्विज्ञातः पुण्यपूरुषः॥50॥
ततस्तज्जननी वन्यफलवर्गं विचिन्वती। अस्माभिर्गदिता वत्से! का त्वं किं वा भवत्कुलम्॥51॥
कथमीदृगवस्था च सर्वमाख्याहि नः पुरः। विस्वस्ता यद्वयं त्यक्तसंगा मुक्तपरिग्राहाः॥52॥
साऽवादीत्! तातपादानां किमकथ्यं ततः प्रभो!। श्रीकन्यकुब्जभूपालयशोवर्मकुटुम्बिनी॥53॥
अहं सुतेऽत्र गर्भस्थे सपत्न्या मत्सरोदयात्। पुरा लभ्यवरं प्रार्थ्य नृपान्निर्वासितास्म्यहम्॥54॥
ततोऽनुशयतो हित्वा पितृ-श्वशुरमन्दिरे। स्थाने व आगमं वन्यवृत्त्या वर्त्ते प्रभोऽधुना॥55॥
श्रुत्वेति सान्त्विताऽस्माभिश्चैत्यशुश्रूषया स्थिरा। तिष्ठ बालं प्रवर्द्धस्व जनकस्येव वेश्मनि॥56॥
तत्सपत्नी च केनापि कालेन व्यनशत् स्वयम्। सा च राज्ञा चरैः शोधयित्वा पश्चादनीयता॥57॥
प्राच्यासंख्यगुणेनाथ मानेन बहुमानिता। वयं चात्र ततो देशाद् भूमावस्यां विजहिमः॥58॥
इति श्रुतश्च वृत्तान्तस्तद्देश्यपुरुषब्रजात्। अनेन सांप्रतं भाव्यं तत्पुत्रेणैव धीमता॥59॥
यदाकृतिः शरीरस्य लक्षणानीदृशानि च। नर्ते नृपसुतं पूज्या इति ध्यात्वाम्यधुस्ततः॥60॥
तत्रास्व वत्स! निश्चिन्तो निजेन सुहृदा समम्। शीघ्रं गृहाण शास्त्रणि संगृहाणामलाः कलाः॥61॥

ताक्षेमाः-

पठितं लिखितं सम्यगगणितं गीत-नर्तने। वाद्यं व्याकरणं छन्दो ज्योतिषं शिक्षया सह॥62॥
निरुक्तं च तथा कात्यायनं च सनिघट्टकम्। पत्रच्छेद्यं नखच्छेद्यं सह रत्नपरीक्षया॥63॥
आयुधाभ्यासयोगश्च गजारोहणमेव च। तुरंगारोहणं शिक्षा तयोः प्रत्येकमदभुता॥64॥
मन्त्रवादो रसवादः खन्यवादस्तथैव च। रसायनं च विज्ञानवादो मतिविबोधकः॥65॥

तर्कवादश्च सिद्धान्तो विषयनिग्रह-गारुडे। शाकुने वैद्यकं चैवाचार्यविद्या तथागमः॥६६॥
 प्रासादलक्षणं चैवं सामुद्रिकमथ स्मृतिः। पुराणं इतिहासश्च तथा वेदविधिर्वरः॥६७॥
 विद्यानुवाद-दर्शनसंस्कारौ खेचरी कला। अमरीकरणं चेन्द्रजालं पातालसिद्धिभृत्॥६८॥
 भूर्तानां शंभलं गन्धयुक्तिः वृक्षचिकित्सया। कृत्रिममणिकर्माणि सर्ववस्तुकृतिस्तथा॥६९॥
 वंशकर्म पुष्पकर्म चित्रकर्म कलाद्भुतम्। काष्ठ-पाषाणयोः कर्म लेपकर्म तथापि च॥७०॥
 चर्मकर्म यंत्रकर्म तथा रसवतीविधिः। काव्यालंकार-हसिते संस्कृत-प्राकृते तथा॥७१॥
 पैशाचिकं अपभ्रंशः कपटं देशभाषया। धातुकर्म प्रयोगाणामुपायाः केवलीविधिः॥७२॥
 एवंविधकलानां च द्वासप्ततिमधीतवान्। अनन्यसदृशः कोविदानां पर्षदि सोऽभवत्॥७३॥
 तथा चाभ्यस्यतस्तस्य प्रज्ञादर्पणबिम्बितः। ययौ लक्षणतर्कादिशास्त्रत्रातः स्ववश्यताम्॥७४॥
 सब्रह्मचारितासख्याद् राजपुत्रः प्रपन्नवान्। बप्पभट्टे! प्रदास्यामि प्राप्तं राज्यं तव ध्रुवम्॥७५॥
 कालेन केनचित् तस्यातकिना जनकेन च। प्रधानाः प्रेषिताः पट्टाभिषेककृतिहेतवः (वे?)॥७६॥
 कृच्छादापृच्छ्य तं प्राप्तपुरं राज्येऽभ्यषिच्यत। पित्रा स स्वर्गतेरस्य कृतवानौर्ध्वदेहिकम्॥७७॥
 लक्षद्वितयमश्वानां चतुर्दशशतानि च। रथानां हस्तिनां पत्तिकोटौ राज्यमसाधयत्॥७८॥

3. स्वकीयसुहृदः प्रैषीदाह्वनाय नरानथ। आम्रनामा नृपः श्रीमानतिमानवविक्रमः॥७९॥
 तेषां चात्यादरात् संधानुमत्या गुरुवस्ततः। प्राहिण्वन् बप्पभट्टिं तं गीतार्थैः परिवारितम्॥८०॥
 तीर्थप्रभावान्नोन्नतैः शनैः संयमयात्रया। जगामाध्यामधामाश्रि पुरमाममहीशितुः॥८१॥
 तदागमलसदृशकण्ठनानादण्डो यथा। द्विजराजसमुद्योतादुद्वेलः स तदाऽभवत्॥८२॥
 भूपः समग्रसामग्र्या संमुखीनस्ततोऽगमत्। कुञ्जरारोहणे विद्वत्कुञ्जरस्यार्थनां व्यधात्॥८३॥
 बप्पभट्टिरुवाचाथ भूपं शमवतां पतिः। सर्वसङ्गमुचां नोऽत्र प्रतिज्ञा हीयतेतमाम्॥८४॥
 राजोचे वः पुरा पूर्वं यन्मया प्रतिशुश्रुवे। राज्यमाप्तं प्रदास्यामि तल्लक्ष्म वरवारणः॥८५॥
 काममेवामुमाधत्त चेद् युथं तन्मम प्रभो॥ उक्तदोषार्तिदानेनासुखं कर्तुं न साम्प्रतम्॥८६॥
 इत्यारोप्य बलात् पट्टकुञ्जरे धरणीधरः। जितक्रोधाद्यभिज्ञानधृतच्छत्रचतुष्टयम्॥८७॥
 विश्वस्य दर्शयन्तं सच्चामरैर्वीजितं प्रभुम्। प्रावेशयत् शमिश्रेणीश्वरमत्युत्सवात् पुरम्॥८८॥-युग्मम्।
 राज्यचिह्नमिदं धुर्यमिति सिंहासनासनम्। सौधान्तरमनुत्वाहं भूपं मुनिरथावदत्॥८९॥
 जाते सूरिपदेऽस्माकं कल्प्यं सिंहासनासनम्। इति तस्य वचः श्रुत्वा खिन्नोऽन्यासन्वीविशत्॥९०॥
 दिनानि कतिचित्तत्रावस्थाप्य गुरुसन्निधौ। प्राजीहयत् प्रधानौघैः समं मुनिपतिं नृपः॥९१॥
 मोढेरकस्थितं श्रीमत्सिद्धसेनमुनीश्वरम्। प्रणम्य प्रह्ववाणीभिरथ व्यज्ञपयन्नमी॥९२॥
 चकोरवदचन्द्रेऽश्रे मराल इव पल्लवे। वने मृगवदेकाकी स्तोकाभ्यासि च मीनवत्॥९३॥
 मयूर इव धर्मतै वर्षासु जलधिर्यथा। संग्रामे कातरो यद्वद् विद्वान् वैधेयमण्डले॥९४॥
 चन्द्रवत् कृष्णपक्षान्तः क्षीयते विरहातुरः। स्वामी नः प्रत्यहं पूज्या! अनेन सुहृदा विना॥९५॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
 आचार्यत्वे प्रतिष्ठाप्य निष्ठाधिष्ठातृवैतम्। अमुं प्रेषयतास्माभिः सह नः स्वामिनो मुदे॥९६॥
 अस्योपदेशतो जैनमन्दिर-प्रतिमादिभिः। निर्मितैः सुकृतै राजा भवाब्धि लङ्घयेद् यथा॥९७॥
 श्रुत्वेति तत्पुरोऽवोचद् वाचंयमपतिस्तदा। चारित्राचारधौरेयः सुधामधुरया गिरा॥९८॥
 रत्नदीपो यथागारे बाह्यान्तरतमोपहः। तेजस्वी निश्चलस्थेमा तथा बालर्षि नः॥९९॥
 भानुनाम्भोरुहं यद्वत् शशिनेव विभावरी। शिखण्डीव पयोदेन मन्त्री मुद्रां विना यथा॥१००॥
 स्तम्भेनैवोद्भिज्जितं गेहं देहं च प्राणधारिणाम्। म्लायत्येव मनोवृत्तिस्तथास्माकममुं विना॥१०१॥-युग्मम्।

इत्याकर्ण्य प्रभोर्वाचं प्राहुः कृतधियोऽथ ते। सन्तः परोपकारार्थं नात्मारतिं गणयन्ति यत्॥१०२॥
 तरवस्तरणेस्तापं स चाभ्रोल्लङ्घनक्लमम्। पाथेधिनैश्रमं सोढा वोढा कूर्मः क्षितेधुरम्॥१०३॥
 वारिदो वर्षणक्लेशं क्षितिर्विश्वासुमत्क्लमम्। उपकाराद् ऋतेऽमीषां न फलं किञ्चिदीक्ष्यते॥१०४॥-युग्मम्॥
 ततः प्रसादप्रावीण्यात् प्रेषयध्वं कृतीश्वरम्। एवं कृत्वा प्रभुत्वेऽस्मत्स्वामिबाधागिरेः पविम्॥१०५॥
 तेषां निर्बन्धसम्बन्धादित्यभ्युपगते गुरुः। श्रीमन्तं संघमाहूय तत्प्रतिष्ठार्थमादिशत्॥१०६॥
 अथोत्सवेच्छुभिः स्वच्छैः श्रावकैर्गच्छवत्सलैः। सद्यः समग्रसामग्र्यां विहितायां जिनालये॥१०७॥
 लग्नेऽथ सौम्यषड्वर्गाधिष्ठिते परमाक्षरम्। सप्तग्रहबलोपेते श्रुतोक्तविधिपूर्वकम्॥१०८॥
 शिष्यस्य विश्वशिष्यस्य कर्णे चन्दनचर्चिते। गर्जत्सु तुर्यसंघातेष्वर्हतत्त्वं न्यवीविशत्॥१०९॥-त्रिभिर्विशेषकम्॥
बप्पभट्टिस्ततः श्रीमानाचार्यः कोविदार्यमा। दुर्वादिसिंहशरभोऽभवद् विश्वस्य विश्रुतः॥११०॥
 अधानुशिष्टो विधिवद् गुरुभिर्ब्रह्मरक्षणे। तारुण्यं राजपूजा च वत्सानर्थद्वयं ह्यदः॥१११॥
 आत्मरक्षा तथा कार्या यथा न च्छल्यते भवान्। वामकामपिशाचेन यत्नं तत्र पुनःपुनः॥११२॥
 भक्तं भक्तस्य लोकस्य विकृतीश्चाखिला अपि। आजन्म नैव भोक्ष्येऽहममुं नियममग्रहीत्॥११३॥
 तङ्कचुर्यध्वनिः श्राद्धाङ्गनासङ्गीतमङ्गलः। गौरवाभ्यर्थितः संघेनाथ प्रायादुपाश्रये॥११४॥
एकादशाधिके तत्र जाते वर्षाशताष्टके (४११)। विक्रमात् सोऽभवत्सूरिः कृष्णचैत्राष्टमीदिने॥११५॥

4. श्रीमदाममहाभूपश्रेष्ठामात्योपरोधतः। अनिच्छतोऽपि संघस्य प्रैषीत् तैः सह तं गुरुः॥११६॥
 प्रयाणैः प्रवणैः प्राप कन्यकुब्जपुरं ततः। प्रासुके बहिरुद्देशेऽवतस्थे स वनाश्रिते॥११७॥
 उद्यानपालविज्ञप्तेः परिज्ञाय समागतम्। मुनीशमवनीशोऽभूद् बद्धरोमाञ्चकञ्चुकः॥११८॥
 ततः प्रत्यापणं हट्टशोभाशोभितरथ्यकम्। प्रतिगेहं प्रतिद्वारं बद्धवन्दनमालिकम्॥११९॥
 उद्यद्भूपघटीधूमस्तोमैः कृष्णाभविभ्रमम्। कुर्वाणमाहितोल्लोचैरेकच्छायं महीतलम्॥१२०॥
 कश्मीरजद्रवैः सितधरं काश्मीरभूमिवत्। नगरं नगधिद्रङ्गतुल्यं भूपतिरातनोत्॥१२१॥-त्रिभिर्विशेषकम्॥
 प्ररूढप्रौढसौहार्दवसुधाधीशसंस्तुतः। पुरं पौरपुरन्ध्रीभिराकुलाट्टालकं ततः॥१२२॥
 प्रविवेश विशामीश इव सच्छत्रचामरः। अभ्रलिहद्विपारूढो विजोढोपशमश्रियः॥१२३॥-युग्मम्॥
 सौधे राजा ततः सिंहासने गब्दिका(कया?)स्तुते। उपावेशयदानन्दात् सुहृदं मुनिनायकम्॥१२४॥
 प्रांशुप्रभावोद्भूतरङ्गः संघः प्रभोरथ। परिचर्यां परां चक्रे वक्रेतरमनाः सदा॥१२५॥
 शश्वद्राजसभावाप्तावपि निर्धूतकल्मषः। **बप्पभट्टिः** प्रभुः श्रीमान् भूपाग्रे सुकृतं जगौ॥१२६॥
 कल्याणपादपारामजलवाहजलप्लवः। धर्म एवं निराधाराधारः परपदप्रदः॥१२७॥
 तस्यादौ प्रथितं दानं तच्च क्षेत्रेषु सप्तसु। तेषु च प्रथमं विद्धि सिद्धिकृज्जिनमन्दिरम्॥१२८॥
 अपरं बिम्बनिर्माणमथ सिद्धान्तलेखनम्। चातुर्वर्णस्य संघस्याभ्यर्चैतानि किल क्रमात्॥१२९॥
 तदन्तरा च सर्वेषामाधारो जैनमन्दिरम्। जिनाः श्रुतधराश्चात्र स्थिताः संघप्रबोधकाः॥१३०॥
 श्रीमतां सति सामर्थ्ये विधेयं विधिवच्च तत्। बहवो यत्प्रभावेन भव्याः सद्गतिमाप्नुयुः॥१३१॥
 इति तद्वाक्यमाकर्ण्य प्रकर्णानां शिरोमणिः। अवोचदामभूपालः प्रालेयांशुस्फुरद्यशाः॥१३२॥
 पृथ्वी देशः पुरं हर्म्यं तिथिर्मास ऋतुः समाः। धन्यान्येतानि भास्यन्ते यानि त्वद्देशानांशुभिः॥१३३॥
 इत्युक्त्वाऽदात् तदादेशं भूमिलक्षणवेदिनाम्। कोशकर्मनराध्यक्षपुंसां च श्रीजिनैकसे॥१३४॥-युग्मम्॥
 विश्वकर्मविदस्तत्र विश्वकर्मसु कर्मठाः। प्रारेभिरे महाभूत्या प्रासादं सुकृतोत्सवैः॥१३५॥
 दिनैः कतिपयैः सैकशतहस्तोन्नतस्थितिः। प्रासादः परिनिष्पदे सर्वलोकमुदा समम्॥१३६॥
 पूर्णवर्णसुवर्णाष्टादशभारप्रमाणभूः। श्रीमतो वर्द्धमानस्य प्रभोरप्रतिमानभूः॥१३७॥

निरमाप्यत संप्राप्यागण्यपुण्यभरैर्जनैः। धार्मिकाणां संचरन्ती प्रतिमा प्रतिमानसम्॥138॥-युग्मम्।
 श्रीबप्पभट्टिरेतस्या निर्ममे निर्ममेश्वरः। प्रतिष्ठां स प्रतिष्ठासुः परमं पदमात्मनः॥139॥
 तथा गोपगिरौ लेप्यमयबिम्बयुतं नृपः। श्रीवीरमन्दिरं तत्र त्रयोविंशतिहस्तकम्॥140॥
 सपादलक्षसौवर्णटङ्कनिष्पन्नमण्डपम्। व्यधापयन्निजं राज्यमिव सन्मत्तवारणम्॥141॥-युग्मम्।
 एवमभ्यर्हितो राजा गच्छन् सच्छत्रचामरः। राजकुञ्जरमारूढो मुख्यसिंहासनासनः॥142॥
 मिथ्यात्वध्यामलाभोगान् लोकान् मत्सरपूरितान्। बप्पभट्टिप्रभुश्चक्रे वक्रोत्तरनरस्तुतः॥143॥-युग्मम्॥
 राजा पूज्यद्विजातीनां संसर्गादनुवर्तकः। अन्यदान्यन्महीपालासनमाधत् सूरये॥144॥
 ततस्तदाशयं ज्ञात्वा विगताकारवैकृतः। जगाद प्रतिबोधाय तस्यागाधैकसत्त्वभृत्॥145॥
 कृतप्राकृतसत्त्वानां मदादीनां जनद्विषाम्। दम्भस्तम्भादियुक्तानां कथं लक्ष्या भवादृशाः॥146॥

ततः, यदुक्तं-

मर्दय मानमतंगजदर्पं विषयशरीरविनाशनसर्पम्।

क्षीणो दर्पाद् दशवदनोऽपि यस्य न तुल्यो भुवने कोऽपि॥147॥

इत्याकर्ण्य गिरं धीरं बुद्ध्वा सूरिं व्यजिज्ञपत्। प्रभो! त्वद्वाक्यमन्त्रैर्मैऽवलेपगरलं हतम्॥148॥
 प्रभवः प्रभवः क्षेत्रे मम धान्यं हि सौहृदम्। स्वादन्तामत्र संपन्नभक्तपाकादिसंस्कृतम्॥149॥

5. अन्तःपुरेऽन्यदा म्लानवक्रभां वल्लभां तदा। राजा दृष्ट्वाह गाथार्थं स्वेच्छयेति प्रभोः पुरः॥150॥
 तद्यथा-

‘अञ्जवि सा परितप्पइ कमलमुही अत्तणो पमाएणा।’

सारसारस्वतोद्गारसिद्धयाथ गुरुगिरा॥151॥

गाथोत्तरार्धमाचख्यौ सख्यौ श्रेहं वहन् नृतम्।

‘सुत्तविउद्धेण’ तए जीसे पच्छाइयं अंगं॥152॥

हृद्भेदिवचसा तुष्टः प्रशंसन् कविकर्म तत्। तस्थौ किञ्चिदिव भ्रान्तः पुनर्भ्रान्तलोचनः॥153॥
 नृपो निरुपमप्रेमनिधिः शमभृता सह। अन्यदा ददृशे देवीं संचरन्तीं पदे पदे॥154॥
 व्यथ्यमानामिव क्वापि मुखभङ्गविकारिणीम्। कृपापरिष्कृतस्वान्त इव गाथार्थमब्रवीत्॥155॥

तद् यथा-

‘बाला चंकमंती पए पए कीस’ कुणइ मुहभंगं।

ततः सत्यवचोवीचिबन्धुरं प्रावदत् प्रभुः॥156॥

असूतं न जल्पेत कल्पान्तेऽपि हि सिद्धवाक्।

‘नूनं रमणापएसे मेहलया छिवइ नहपंती’॥157॥

श्रुत्वेति भूपतिः किञ्चित् सभ्रान्तो विकृतं मुखम्। चक्रे हिमोर्मिसंक्लिष्टसरोरुहमिवाधुतिः॥158॥
 इत्यालोक्य समुत्थाय प्रतिश्रयगतो मुनीन्। विहारहेतुं संवाह्य श्रेहमोहापराजितः॥159॥
 काव्यमेतद् विलिख्याथ बहिर्द्वारकपाटयोः। श्रीसंघमप्यनापृच्छ्य निरगात्रगराद् बहिः॥160॥-युग्मम्।
 तद्यथा-

यामः स्वस्ति तवास्तु रोहणगिरेर्मत्तः स्थितिप्रच्युता

वर्तिष्यन्त इमे कथं कथमिति स्वप्नेऽपि मैवं कथाः।

श्रीमंस्ते मणयो खयं यदि भवत्तल्लब्धप्रतिष्ठास्तदा

ते शृङ्गारपरायणाः क्षितिभुजो मौलौ करिष्यन्ति नः॥161॥

6. दिनैः कतिपयैर्गौडदेशान्तर्विहरन् गुरुः। श्रीलक्षणावतीपुर्याः प्रापारामावनीतलम्॥162॥
तत्र वाक्पतिराजोऽस्ति श्रीधर्मक्षमापपर्वदि। विदुषां मौलिमाणिक्यं प्रबन्धकविरद्भुतः॥163॥
प्रभोजरागमनं ज्ञात्वा जलदस्येव चन्द्रकी। तदागमनगीर्भिः स भूपालं पर्यतोषयत्॥164॥
वशे वादेवता यस्य कविर्मे प्राच्यसंस्तुतः। स इहागात् प्रभोः पुण्यैर्बष्पभट्टिमुनीश्वरः॥165॥
ज्योत्स्नाप्रिय इवैणाकोदयादेष विशांपतिः। अजल्पदुद्धुषद्रोमा विद्वन्मण्डलमण्डनम्॥166॥
विश्वकोविदकोटीरमेष जैनमुनीश्वरः। ध्रुवं यत्र समभ्येति कृतपुण्यः स वासरः॥167॥-युगम्।
परं मेऽस्त्यामराजेन दुर्ग्रहो विग्रहाग्रहः। तदाह्वानाद् यदा पश्चाद् याति तन्मे तिरस्कृतिः॥168॥
प्रष्टव्यस्तन्मुनिस्वामी स चेदागत्य मां नृपः। साक्षादापृच्छते प्रस्थातव्यं तन्नान्यथा त्वया॥169॥
सुधीभिः कथितेऽर्थेऽस्मिन् सूरिणांगीकृते सति। तज्ज्ञात्वा धर्मभूपालः परमानन्दमाप्तवान्॥170॥
आमराजाप्रवेशाच्च सहस्रगुणितं ततः। प्रवेशोत्सवमाधत्त पुर्यामाचार्यभूपतेः॥171॥
धर्मभूपे तदा साक्षादिव धर्मं पुरःस्थिते। चक्रवर्ती सुधीवृन्दे प्रोचे वृत्तिमिदं तदा॥172॥

तद् यथा -

रुचिरचरणारक्ताः सक्ताः सदैव हि सद्रतौ

परमकवयः काम्याः सौम्या वयं धवलच्छवाः।

गुणपरिचयोद्धर्षाः सम्यग्गुणातिशयस्पृशः

क्षितिप! भवतोऽभ्यर्णं तूर्णं सुमानससंश्रिताः॥173॥

तत्रापि काव्यवक्तृत्वलीलानन्दितपार्षदाः। अवतस्थे सुखं सूरिर्दोगुन्दग इवामरः॥174॥

7. ततश्चामनृपः प्रातरनायाते प्रभौ तदा। नगरान्तर्बहिर्ग्रांमाकरादिष्वगवेषयत्॥175॥
अप्राप्तौ बालमित्रस्य पारवश्यं गतः शुचः। वैलक्ष्यमक्षतं भेजे च्यवनोन्मुखनाकिवत्॥176॥
अन्येद्युर्बहिरारामे गच्छन्नेकं ददर्श सः। बभ्रुं बभ्रुं भुजङ्गेन हतं चित्रीयितस्ततः॥177॥
अस्य मौलौ मणिं तत्रालुलोके सम्यगीक्षया। संस्तभ्य तुण्डमादत्त फणीन्द्रमपभोर्नृपः॥178॥
तमाच्छाद्याथ संवृत्था संगृह्य निलये नृपः। आगत्य श्लोकशल्कं स जजल्प विदुषां पुरः॥179॥

‘शस्त्रं शास्त्रं कृषिर्विद्या अन्यो यो येन जीवति।’

तैः पूरिता समस्येयमभिप्रायैर्निजैर्निजैः। विभेद हृदयं नैव तेषामेकोऽपि भूपतेः॥180॥
सस्मार भारतीपुत्रं बष्पभट्टिं तदा दृढम्। मालतीकुसुमामोदमसौ रोलम्बबालवत्॥181॥
खद्योता इव चन्द्रस्य वालेया इव दन्तिनः। मम मित्रस्य विद्वांसः कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥182॥
टंकलक्षं ददे हेमस्तस्य यः किल पूरयेत्। समस्यां मदभिप्रायात् प्रादात् पटहमीदृशम्॥183॥
अथो दुरोदराजीव एकः सर्वस्वनाशतः। श्रुत्वेति स धनोपायममुं श्लोकार्थमाददे॥184॥
ज्ञात्वा कुतोऽपि गौडेषु पुर्यां तत्रागमच्च सः। बष्पभट्टिप्रभुं नत्वा कथयामास तत्पुरः॥185॥
अपराद्धं स चाह स्म क्लेशलेशं विना यतः। सरस्वतीप्रसादो हि विश्वक्लेशाब्धिकुम्भभूः॥186॥

तच्च -

‘सुगृहीतं हि कर्तव्यं कृष्णसर्पमुखं यथा’॥187॥

नागावलोक इत्याख्यां राज्ञस्तत्र प्रभुर्ददौ। ततः प्रभृत्यनेनापि नाम्ना विख्यातिमाप सः॥188॥
स द्यूतकृत् तदादायागमद् आमनृपाग्रतः। मुदा निवेदयामास तच्चमत्कारकारणम्॥189॥
केनापूरीति राज्ञा च पृष्टः प्रोवाच स प्रभोः। श्रीबष्पभट्टिनेत्युक्त ददौ तस्योचितं नृपः॥190॥
विरहस्य विनोदायान्येद्युर्भूषो बहिर्ययौ। मृतं न्यग्रोधवृक्षस्य तले पान्थं ददर्श च॥191॥

शाखायां लम्बमानां च तथा करकपत्रिकाम्। श्रुत्योतन्तीं विप्रुषां व्यूहं गार्थार्थं लिखितं तथा॥192॥
तच्च-

‘तइया मह निगमणे पियाइ थोरसुएहि जं रुद्रं।

प्राग्वत् तदपि नापूरि भूपालस्य मनोहरा । केनापि विदुषा कोऽर्कं विना विश्वप्रकाशकः॥193॥
अस्यामलक्ष्यलक्ष्यायां समस्यायां स देवनी। पुनर्ययौ च श्रीबप्पभट्टिपाश्वेऽवदच्च ताम्॥194॥
स चानायासतो विद्वन्मौलिः प्रभुरपूरयत्। गुहीत्वा स पुनः प्रायादुत्तरार्थं नृपाग्रतः॥195॥
तच्च-

‘करवत्तिबिंदुनिवडणमिहेण तं अज्ज संभरिअं’॥196॥

अन्येन विदुषा केनचिदध्वन्येन तत्र तत्। सर्वं दृष्ट्वा दोषकार्थमभण्यत। यथामति॥197॥
तथा हि-

करवत्तयजलबिंदुआ पंथिय हियइ निरुद्ध। - पथिकोक्तिः।

सा रोअंती संभरी नयरि ज मुंकी मुद्ध॥198॥-श्रीबप्पभट्टेरुक्तिः।

इति पाठान्तरम्।

राजा श्रुत्वेति दध्यौ च रसपुष्टिममूदृशीम्। मम मित्रं मुनिस्वामी कविर्ग्रन्थाति नापरः॥199॥
प्रधानान् भूपतिः प्रैषीदाह्वानाय मुनीशितुः। तदुपालम्भगर्भाणि दोषकं वृत्तमार्यया॥200॥
तैश्चोपान्तं प्रभोराप्याप्राप्यं विगतचेतनैः। वाचिकं कथयामासे कुशलप्रश्नपूर्वकम्॥201॥
तद्यथा-

छायह कारणि सिरि थरिअ पच्चि वि भूमि पडंति।

पत्तहं इहु तत्तणु वरतरु काइं करंति॥202॥

न गङ्गां गाङ्गेयं सुयुवतिकपोलस्थलगतं

न वा शुक्तिं मुक्तामणिरुरसिजास्वावरसिकः।

न कोटीरारूढं स्मरति च सवित्री वसु भुवं

ततो मन्ये विश्वं स्वसुखनिरतं स्नेहविरतम्॥203॥

पांशुमलिनाग्निजंघः कार्पटिको प्लानमौलिमुखशोभः।

यद्यपि गुणरत्ननिधिस्तथापि पथिकः पथि वराकः॥204॥

इत्याकर्ण्य गुरुस्तेषां पुरः प्राह वचः स्थिरम्। सौहृदे दौर्हृदे वापि संसृजेन्मनसा मनः॥205॥

आमनाममहीभर्तुर्भुवद्भिर्वाचिकं हि नः। निवेदनीयमार्यस्य दृढं गाथाकदम्बकम्॥206॥

तथा हि-

गय माणसु चंदणु भमरु रयणाथरु सिरि (ससि?) खंडु।

जड उच्छु य बप्पभट्टि किउ सत्तय गाहासंडु॥207॥

विङ्गेण विणा वि गया नरिंदभुवणेसु हंति गारविया।

विङ्गो न होइ अगओ गएहिं बहुएहिं वि गएहिं॥208॥

माणसरहिएहिं सुहाइ जह न लब्धंति रायहंसेहिं।

तह तस्स वि तेहि विणा तीरुच्छंगा न सोहंति॥209॥

परिसेसियहंसउलं वि माणसं माणसं न सवेहो।

अन्नत्थ वि जत्थ गया हंसा वि बया न भन्नंति॥210॥

हंसा जहिं गय तहिं जि गय महिमंडणा ह्वंति।
छेहउ ताहं महासरह जे हंसिहि मुच्चंति॥211॥
मलओ सचंदणो च्चिय नइमुहहीरंतचंदणदुमोहो।
पब्भुं पि हु मलयाओ चंदणं जायइ महग्घं॥212॥
अग्घायन्ति महुयरा विमुक्ककमलायरा वि मयरवं।
कमलायरो वि दिट्ठो सुओ व किं महुअरविहीणो॥213॥
एक्केण कोत्थुहेणं विणावि रयणायरु च्चिय समुदो।
कोत्थुहरयणं पि उरे जस्स ठिओ सो वि हु महग्घो॥214॥
खडं विणा वि अखंडमंडलो चेव पुण्णिमावंदो।
हरसिरिगये पि सोहइ न नेय विमलं ससिक्खंडं॥215॥

तथा-

पईं मुक्काह वि वरतरु फिट्ठइ पत्तत्तणं न पत्ताहं।
तह पुण छाया जइ होइ तारिसी तेहि पत्तेहिं॥216॥
जड सव्वत्थ अह च्चिय उवरिं सुमणाणि सव्वरुक्खाणं।
वावे विवडंति गुणा पहुपत्तिय पावए कोडिं॥217॥
जे के वि पहु महिमंडलंमि ते उच्छुवंडसारिच्छा।
सरसा जडाण मज्झे विरसा पत्तेसु दीसंति॥218॥
इय उज्जुयसीलालंकियाण पायपडियवयणसोहाण।
गुणवंतयाण पहुणो पहुण गुणवंतया दुलहा॥219॥

ततः-

अस्माभिर्यदि कार्यं वस्तदा धर्मस्य भूपतेः। सभायां छात्रमागत्य स्वयमापृच्छ्यतां द्रुतम्॥220॥
जाते प्रतिज्ञानिर्वाहे यथा यामस्तवान्तिकम्। प्रधानाः प्रहिताः पूज्यैरिति शिक्षापुरस्सरम्॥221॥
कन्यकुब्जमहीनाथमुपाजगमुश्च तेऽप्यथ। सम्यग् व्यज्ञपयत् सूरैर्वचो माहात्म्यधाम तत्॥222॥

8. अकुण्ठोत्कण्ठभामस्तैः करभैर्विगतारिभीः। गच्छन् गोदावरीतीरे ग्रामं कंचिदवाप सः॥223॥
तस्य पर्यन्तभूपीठे खण्डदेवकुले तदा। चक्रे वासं कृतावासस्तद्देव्याश्चेतसि स्थितम्॥224॥
निशीथे सा समागत्य रूपाक्षिप्ता नरेश्वरम्। बुभुजे प्रार्थनापूर्वं भाग्यं जागर्ति सर्वतः॥225॥
प्रातरुत्थाय सन्मित्रायत्नकेन तरंगितः। ययौ करभमारुह्यानापृच्छ्यैव तदाथ ताम्॥226॥
स प्राप प्रभुपादान्तं प्रान्तं विरहरुकशुचाम्। काव्यं जजल्प निर्वेदवह्निज्वालोपमं नृपः॥227॥

निद्राजागरणादिकृत्यनिवहे नित्यानुवृत्तिस्पृशां
स्वप्नेष्वप्यथ योगिनां नयनवच्चेष्टासु सूक्ष्मास्वपि।
तत्तादृक् स्वहवामिवेह सुहवां निष्ठेदृशी स्याद्यदा
मित्राणापरिहारमाचर ततश्चेतः प्रसीद प्रभो॥228॥

नृपो याथातथवचः प्रतीतोऽप्यथ कौतुकात्। गाथापरार्द्धमाचख्यौ पूर्वार्धं च गुरुस्ततः॥229॥

तद्यथा-

अज्जवि तं सुमरिज्जइ को नेहो एगराईए।
गोलानईए खंडेउलमज्जे पहिअ जं न वसिओ सि॥230॥

इत्युक्त्वा सूरिभिर्भूपो बाढं स परिष्वजे। अविश्वास्यं मनस्तस्यान्तः प्रविश्येव वीक्षितुम्॥231॥
प्रकामभामभूपालस्तुष्टिं विभ्रत्सखीक्षणे। इदं काव्यमुवाचाथ नाथः कविकुलेषु यः॥232॥

तद्यथा-

अङ्गैरुत्पुलकैः प्रमोदसलिलप्रस्यन्दिभिर्लोचनै-

राकर्ण्यार्धभुतसंकयास्तव सुधीभर्तुः प्रसन्नात्मनः।

सौजन्यामृतनिङ्गिरे सुमहति स्नातुं विपद्धारिथेः

पारं गन्तुमपारपौरुष! वयं त्वां द्रष्टुमभ्यागताः॥233॥

श्लोकं विचित्रबन्धेन लिलेख स खटीदलात्। कौतुकादामभूपालः शालिसौहार्दरङ्गितः॥234॥

तथा हि-

अ ति अ ति अ न्म अ लं

प्री द्य र द्य ज द्य प द्य।

मे ला मे ला मे लं मे लं

फ स फ स फ स फ स॥235॥

तं च गोमूत्रिकाबन्धं ज्ञात्वा गुरुरपि स्वयम्। वाच्याभासः दोषज्ञैरपि ज्ञातं परैर्नहि॥236॥

तथा हि-

अद्य मे सफला प्रीतिरद्य मे सफला रतिः।

अद्य में सफलं जन्म अद्य मे सफलं फलम्॥237॥

विद्वद्गोष्ठ्या विनिर्द्रं तं विश्रम्य क्षपाक्षणे। प्रगेऽशङ्को नृपास्थानं सूरिः प्राप यथास्थितिः॥238॥

आमराजोऽप्यथ श्रीमानध्रच्छत्र इवांशुमान्। विशिष्टैः स्वार्थनिष्ठोऽगात् स स्थगीधरकैतवात्॥239॥

आमविज्ञप्तिकां धर्मराजस्यादाशयद् गुरुः। आगमिष्यद्वियोगाग्निज्वालाभिव सुदुःसहाम्॥240॥

वाचचित्वा च तां पुष्टो दूतस्ते कीदृशो नृपः। स प्राहास्य स्थगीभर्तुस्तुल्यो देव! प्रबुध्यताम्॥241॥

मातुलिंगं करे बिभ्रत् सैष पृष्टश्च सूरिणा। करे ते किं स चावादीद् 'वी ज उ रा' इति स्फुटम्॥242॥

दूतेन चाढकीपत्रे दर्शिते गुरुराह सः। स्थगीधरं पुरस्कृत्य 'तू अ रि प त्त' मित्ययम्॥243॥

प्राकृतेनोत्तरं प्रादाच्छ्लेषेण ज्ञापनोपमम्। अवबोधाय यदृच्छा तु धर्मस्यर्जुचेतसः॥244॥

अथोवाच प्रधानश्च सूरिरेष श्लथादरः। अस्मास्त्विति प्रतिज्ञां यं दुस्तरां विदधे ध्रुवम्॥245॥

विहितेऽत्रापि चेत् पूज्य आयाति प्राज्यपुण्यतः। अस्माभिः सह तद्देवाः प्रतुष्य नो विचार्यताम्॥246॥-युग्मम्॥

यतः-

तत्ती सीअली मेलावा केहा,

धणउत्तावली प्रिय मंदसिणेहा॥

विरहिहिं माणुसु जं मरइ तसु कवण निहोरा,

कनि पवित्तडी जणु जाणइ वोरा॥247॥

राज्ञोचे वस्तुकस्यास्य कीदृगर्थः प्रभुस्ततः। बप्पभट्टिर्नृपस्याग्रे व्याख्यातं ख्यातधीनिधिः॥248॥

श्रीबप्पभट्टिनां चैवमर्थानां साष्टकं शतम्। व्याख्यातं मतिमान्धेन न जानीमो वयं पुनः॥249॥

तत उत्थाय रात्रौ च वारवेश्यागृहेऽवसत्। अमूल्यं कङ्कणं दत्त्वाऽस्याः प्रातर्निर्गाद् गृहात्॥250॥

द्वितीयं राजसौधस्य द्वारि त्यक्त्वा खरांशुरुक्। इन्द्रकीले ययौ तस्माद् बहिरस्थाद् रहोवने॥251॥

ततः प्रातर्मुनिस्वामी संगत्य नृपतेः सभाम्। आपप्रच्छे नृपः कन्यकुब्जप्रस्थानहेतवे॥252॥

तेन पूर्णप्रतिज्ञायामज्ञातायां कथं त्विति। राज्ञा पृष्टः समाचख्याधामभूप इहागमत्॥253॥

विद्वत्कथनतस्तेन कथितं यद्यदीदृशः। ज्ञायतां सैष एवेति 'दो रा' शब्दात् तथा पुनः॥254॥
 द्वौ राजानौ इति स्पष्टं मातुलिंगस्य दर्शनात्। इदं किमिति पृष्टे च 'बी ज उ रा' त उत्तरात्॥255॥
 तथा 'तू अ रि प तं' ति तवारिपत्रमित्यथ। संस्कृताद्भवतीत्येतत् तवाग्रे जगदे स्फुटम्॥256॥
 ततो विप्रतिसारोऽस्य प्रससार प्रकर्षतः। धिगस्ति मम मूर्खत्वं न ज्ञातं कथितेऽपि यत्॥257॥
 ततोऽवसर एतस्मिन् वारवामा प्रभोः पुरः। कङ्कणं मुमुचे रत्नरोचिरस्ततमस्ततिः॥258॥
 क्षत्ताऽपरं समर्प्याथ भूपालाय व्यजिज्ञपत्। द्वारेन्द्रकोले केनापि मुक्तं नाथ! न वेद्म्यहम्॥259॥
 यावत् पश्यति राजा तदामनामाथ दृष्टवान्। श्रीबप्पभट्टेरापृच्छ्य हेतुप्रत्यायकः प्रभु॥260॥
 गृहागतो नृपः शत्रुर्नार्चितो न च साधितः। द्विधापि चिरवैरस्य निवृत्तिर्न प्रवर्तिता॥261॥
 तथा च विरहः पूज्यैरुपतस्थेऽतिदुःखदः। यावल्लभ्यं तु लभ्येत किं ब्रूमः सांप्रतं प्रभो॥262॥
 गुरुराह महाराज! मा खेदोऽत्र विधीयताम्। हंसा इव वयं येनाप्रतिबद्धविहारिणः॥263॥
 आपृष्टोऽसि महाबाहो यामः स्वं नाम सार्थकम्। कुर्यात् यथा परे लोका निर्मलाः स्युः सुहृत्तम॥264॥

9. इत्युक्त्वाऽतो निरीयागात् संगत्यामनृपेण च। करभीभिरभीपुभिः सुरभिर्यशसा गुरुः॥265॥
 मार्गे तदासनारूढः प्रभुणा सह संचरन्। पुलिन्दमेकं कासारे क्षिप्तास्थं वारिमध्यतः॥266॥
 पिबन्तं च छगलवद् दृष्ट्वा गुरुपुरस्तदा। आह प्राकृतकाव्याद्धर्मपूर्वक्षासकौतुकः॥267॥

तथा हि-

पसु जेम पुलिन्दउ पीअइ जलु पंथिउ कमणिहिं कारणिण ।

इत्याकर्ण्य प्रभु प्राहोत्तरार्द्धं तत्क्षणादपि॥268॥

विलम्बन्ते न काव्येषु सिद्धसारस्वताः क्वचित्।

तच्च-करबेवि करबिय कज्जलिण मुद्धहि अंसुनिवारणिण॥269॥

प्रत्ययार्थं पुलीन्द्रश्च समाकार्य स भूभुजा। पृष्टो लज्जानतास्योऽयं यथावृत्तमथावदत्॥270॥

नाथ! प्रवसने युष्मद्वधूं सात्त्वितः सतः। सांजनाश्रुप्रमृष्टे मेऽभूतां कज्जलितौ करौ॥271॥

हर्षप्रकर्षमासाद्य वृत्तान्तेनामुना नृपः। सुरेन्द्र इव सौधर्मं द्राक् कन्याकुब्जमासदत्॥272॥

प्रविवेशोत्सवेनैष प्राच्यात् सातिशयेन सः। कोटिकोटिगुणामर्चामकार्षीच्च गुरोस्तथा॥273॥

10. इतश्च श्रीसिद्धसेनसूरयो जरसा भृशम्। आक्रान्ताः कृतकृत्यत्वात् सेच्छः प्रायोपवेशने॥274॥
 बप्पभट्टेर्विधेयस्य विनेयस्य मुखाम्बुजम्। दिदृक्षवो मुनि प्रैषुर्वृत्तं चाहानहेतवे॥275॥

तच्चेदम्-

सारीरं सयलं बलं विगलिअं विदढी वि कट्ठेण मे

वट्ठव्वेसु पयडुई परिगयप्पायं तहा आउगां।

पाणा पाहुणय व्व गन्तुमहुणा वट्ठति वंछा तुमं

मं वट्ठुं जइ अत्थि ता लहु लहु इज्जाहि निस्संसयं॥276॥

तं दृष्ट्वा बहुमानार्द्रो गुरौ द्रागाजगाम च। राजपुभिः समं मोढेरके प्रभुपदान्तिके॥277॥

प्रभोः स न्यासविन्यासं रुन्धन् प्रथमदर्शने। अतृप्तस्तस्य वात्सल्ये तेनासौ जल्पितः शमी॥278॥

तथा हि-

वपुः कुब्जीभूतं तनुरपि शनैर्यनष्टिशरणा

विशीर्णा वन्ताली श्रवणविकलं कर्णयुगलम्।

निरालोकं चक्षुस्तिमिरपटलध्यामलमहो

मनो मे निर्लज्जं तदपि विषयेभ्यः स्पृहयति॥279॥

ततो वत्स मतिस्वच्छं गच्छवात्सल्यतत्परः। भव त्वं कुरु साहाय्यं प्रेत्य मे चानृणो भव॥280॥

तत आराधनां कृत्वा परलोकं समाधिना। ते ययुर्गणशरितं च चक्रेऽसौ राजपूजितः॥281॥

श्रीमद्गोविन्दसूरेः श्रीनन्नसूरेश्च स प्रभुः। बप्पभट्टिः समर्प्याथ गच्छ संघं च सोद्यमः॥282॥

अनुज्ञाप्य क्षितिस्वामिप्रधानैरादृतैर्वृतः। पुनरप्याययावामध्याम निर्ग्रन्थनायकः॥283॥-युग्मम्।

11. सभासीनोऽन्यदा राज्ञः सूरिः प्रेक्षणकक्षणे। प्रवीणपुस्तिकाहस्तः पुरुषेव सरस्वती॥284॥

द्विधाक्षरे पदे स्थास्तुर्दृष्टिस्तत्त्वलेशनाशिनी। तदा कदाचिदाभासीत्रीलचरण्डातके दृशम्॥285॥-युग्मम्।

तं दृष्ट्वा भूपतिस्तत्र जातरागविकल्पतः। चित्ताभिसन्धिसम्बद्धां गाथामेनामचिन्तयत्॥286॥

तथा हि-

सिद्धतंततपारंगयाण जोईण जोगजुत्ताणः।

जइ ताणं पि मयच्छी जयति ता तिच्छिय पमाणं॥287॥

अमूदृक्कार्यनिर्वाहज्ञानहेतुं ततस्तदा। स्नेहादेव निशि प्रैषीत् तां पुंवेषां तदाश्रये॥288॥

सा निलीना क्वचिद् भव्यगणे स्वस्थानगे ततः। रहः शुश्रूषितुं सूरिं प्रारेषे धैर्यभित्तये॥289॥

स्त्रीकरस्पर्शतो ज्ञात्वाऽत्रोपसर्गमुपस्थितम्। विममर्शं नृपाज्ञानतमसश्चेष्टितं ध्रुवम्॥290॥

स सज्जः सज्जयसज्जमनोभूविजये ततः। अग्राङ्गयोगसद्धर्मसंवर्म्मिततनुमुदा॥291॥

शुभध्यानाधमरूढः सन्तोषप्रक्षराक्षतम्। दृढसंयमकोदण्डावष्टब्धतपआशुगः॥292॥

सद्बोधपुष्टिरिष्टिगोः शक्तिशक्तिस्फुरत्करः। अनास्थया समुत्तस्यावन्तरङ्गद्विषज्जये॥293॥-त्रिभिर्विशेषकम्।

अब्रवीद् ब्रूहि काऽत्र त्वं किमर्थं समुपस्थिता। ब्रह्मवर्मवतामेषा स्यान्न भूमिर्भवादृशाम्॥ 294॥

अध्वन्येषु यथा व्याली हारहूरं द्विजालये। पलं दर्शनशालासु हलं राजकुले यथा॥ 295॥

धर्मे प्राणवधो यद्वद् वेदोच्चारे यथान्यजः। नालिकेरं कगौ यद्वद् द्विके दधिफलं यथा॥296॥

चन्दने मक्षिका यद्वद् रामतं कुङ्कुमे यथा। कपूरे लशुनो यद्वत् तथाऽत्र त्वं न चित्तहत्॥297॥-विशेषकम्।

विश्वश्रोतःश्रवद्विप्रजंबालकलुषाकृतौ। लज्जास्थानेऽबलादेहं रज्यन्ते के कृमीन् विना॥298॥

श्रुत्वेति तानुवाचासौ नाहं पूज्याभिलाषिणी। आययौ भवतो मार्गभ्रष्टान् बाधयितुं स्फुटम्॥299॥

संपत्संपत्तये दानधर्मं लोकोऽनुरुध्यते। ऐश्वर्याय तपस्तप्यं तच्च राज्यं विना नहि॥300॥

स्वर्भुवोरिपि तत्रापि सारं सारङ्गलोचना। यथा विना नृदेवानामवकेशीव पुंजनुः॥301॥

उक्तञ्च-

राज्ये सारं वसुधा वसुन्धरायां पुरं पुरे सौधम्।

सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम्॥302॥

जगत्पथि न वर्तन्ते विपरीताग्रहग्रहाः। अवाप्तवाञ्छया प्राप्तं त्यज्यन्ते जनहास्यदाः॥303॥

दुर्बुद्धिवृद्धितो दैवदण्डिता इव ते प्रभो!। अवधारय पाखण्डखेदितो मा स्म भूर्जडः॥304॥-युग्मम्।

महाभक्त्याऽऽमराजेन प्रैष्यहं प्राणवल्लभा। विज्ञा मनोहरप्रज्ञा गुणरक्तधराधिप॥305॥

प्रभो! यदूचे बीभत्सरसन्यासवशा तनुः। अशुश्रूषाकदर्याङ्गभृतामेव क्लृपोषिताम्॥306॥

वयं निरन्तरावाप्तकपूर्वादिमया इव। वेधसा लिहिता अज्ञा दौर्गन्ध्यादिकथास्वधि॥307॥

ततो नाथेय नाथ! त्वां सफलीकुरु मामकम्। भोगाभोगं हि भोगेन भोगिन्या भोगिराडिव॥308॥

ततः प्राक् सिध्मिये सूरिस्तद्वाग्भिर्न विसिध्मिये। उवाच च गिरं धीरां धैर्याधारधुरन्धरः॥309॥

हैप्ती पाञ्चालिका रिक्तान्तरालाशुचिपूरिता। बहिश्चन्दनचर्चादिभूषासुरभिरस्तु किम्॥310॥
मलमूत्रादिपात्रेषु पात्रेषु मृगचक्षुषाम्। रतिं करोति को नाम सुधीर्वर्चोगृहेष्विव॥311॥

चक्षुः संवृणु वक्रवीक्षणपरं वक्षः समाच्छादय

रुद्धि स्फूर्जवनेकभङ्गिकुटिलं रम्योपचारं वचः।

अन्ये ते नवनीतपिण्डसदृशा वश्या भवन्ति स्त्रियां

भुग्धे! किं परिखेदितेन वपुषा पाषाणकल्पा वयम्॥312॥

इत्याकर्ण्यप्यकर्णैव न बुद्धा प्रत्युत प्रभोः। स्वभावकठिनौ हस्तौ स्वगात्रेऽपत्रपा न्यधात्॥313॥
ताभ्यां च सर्गपत्राभ्यामिव सा स्पर्शयेत् ततः। स्मरकुञ्जरकुम्भाभौ मृदुस्पर्शबुरोरोहौ॥314॥
ततः शृङ्गारशिखरिखादिगारभारवत्। निर्दम्भशोकदम्भेन पूच्चकार मुनीश्वरः॥315॥
किं किमित्युचिषी वक्षोजाग्रात् पाणिं विकृष्य सः। अबाष्पगद्गदाव्यक्तवाचोदाच कथञ्चन॥316॥
अमूल्यातुल्यवात्सल्यवर्द्धितास्मादृशाङ्गिनाम्। गुरुणां स्मारिता अद्य निजाङ्गस्पर्शतस्त्वया॥317॥
तथा कथमिति प्रश्ने कृते प्राह पुनः प्रभु। रात्रौ स्वाध्यायकृत्यानन्तरं विश्रामणां प्रभोः॥318॥
अहं व्यरचयं सर्वकालं सर्वाङ्गसंगिनीम्। कटीं विश्राम्य तत्प्रोथयुगलं च समसृजाम्॥319॥-युग्मम्।
तदद्य स्मृतिमानीतं वृत्त-मार्दवसाम्यतः। यादृक् तव कुचद्वन्द्वं तादृक् तदपि चाभवत्॥320॥
श्रुत्वेति सा परावृत्तरसा भग्नाशतानिधिः। दध्यौ विधूतकामान्ध्या किं मे कर्मोदयं ययौ॥321॥
प्रावा लोहं कथं वज्रं दुर्भिदोऽयं सिताम्बरः। वह्निटंकादिभिर्भेद्यो प्रावा लोहञ्च वह्निना॥322॥
कुवलीकोमलफलक्षोदाद्यैर्वज्रमप्यथ। भिद्येतानन्यसामान्यं काठिन्यं किञ्चिदस्य तु॥323॥
घृतपिण्डसमास्तोऽन्ये वह्निकुण्डसमासु ये। महिलासु विलीयन्ते सृष्टिरेवापरस्य तु॥324॥
वेधायमश्वकावस्य पुरः कर्मोर्मिकिङ्करी। कर्माप्यस्माद् बिभेतीव तीव्रब्रह्मव्रतस्पृशः॥325॥
रसे विरसमाधत्त मत्काममपि भग्नवान्। तिरश्चकार मां यस्तु तेन दैवं हि जीयते॥326॥
ध्यायन्तीति निदद्रौ सा मुनिद्रोहे गताग्रहा। निद्रा हि विश्वदुःखाप्तौ विश्रामादुपकारिणी॥327॥
प्रगे जागरिताचार्य पर्यङ्कासनसंस्थितम्। प्रणम्य प्राह नाहयुरहं त्वद्विकृतौ कृतीन्॥328॥
वीतरागः पुरा स्मेस्मरमुख्यारिजित्वरः। आसीन त्वद्वृत्ततः सत्यमिदं ख्यातिं ययौ किल॥329॥
तदापुच्छे प्रसाद्याशु पृष्ठे हस्तं प्रदेहि मे। तव शापेन शक्रोऽपि भ्रश्यत्यन्यस्य का कथा॥330॥
अथाह गुरुरज्ञानवागेषा ते वयं पुनः। रोषतोषभरातीता अज्ञाः शापादिगीर्ष्वपि॥331॥
इति श्रुत्वा ययौ भूपसमीपं वरवर्णिनी। उवाच तद्गुणव्रातक्षणविद्रुतवैकृता॥332॥
नाथ! पाथःपतिं बाहुदण्डाभ्यां स तरत्यलम्। भिनत्ति च महाशैलं शिरसा तरसा रसात्॥333॥
पदे द्वं(?) वह्निमास्कन्दत् सुप्तं सिंहञ्च बोधयेत्। श्वेतभिक्षुं तव गुरुं य एनं हि विकारयेत्॥334॥
इत्याकर्ण्यचलापालः प्राप्तरोमाञ्चकञ्चुकः। स्वगुरोर्गुरुसत्त्वेन प्राह नृत्यन्मनोनटः॥335॥
न्युञ्जने यामि वाक्याय दृग्भ्यां याम्यवतारणे। बलिर्विधीये सौहार्दहृदयाय हृदयाय च॥336॥
असौ मही धराधारा देशः पुरमिदं मम। भाग्यसौभाग्यभूद् यत्र बप्पभट्टिप्रभुस्थितिः॥337॥ -त्रिभिर्विशेषकम्।
स्वक्षेत्रभ्रंशिनः कामं कामादिभिर्विभर्शतः। परक्षेत्रगतास्तत्र लालसत्त्वं हि तत्यजुः॥338॥
पशवोऽपि गजास्तस्मादहासीत् सर्वथा तु तान्। योऽस्मै गजवरेत्याख्या ततः ख्याताऽस्तु मदगुरोः॥339॥
ततो गजवरोब्रह्मचारी च विरुद्वयम्। तस्याभूद् भूत-सद्भाव-भाविवेत्तुः श्रुतागमात्॥ 340॥
तथा किं विदधे तत्र त्वया पृष्ठेति साऽवदत्। कटाक्षक्षेपवक्षोजतत्करस्पर्शनादिभिः॥341॥
अजातबोधका चैकं तदा दोधकमब्रुवम्। तत्र प्रज्ञानुमानेन कवित्वं हि प्रसर्पति॥342॥

तथा हि -

गयवरकेरइ सत्थरइ पाय पसारिउ सुत्त।

निच्चोरी गुजरात जिम्ब नाह न केणइ भुत्त॥३४३॥

एवं नृपादिभिः सत्यगुणकीर्तनतः स्तुतः। ब्रह्मप्रभावप्रागल्भ्याद् बप्पभट्टिः प्रभुर्जयो॥३४४॥

12. प्राकारबाह्यमन्येद्यु राजा राजाध्वना चरन्। पश्चादोकसि गेहस्येक्षांचक्रे हालिकप्रियाम्॥३४५॥

पञ्चांगुलबृहत्पत्रसंवृतस्तनविस्तराम्। वृणुन्नवृत्तिरन्ध्रेणार्पयित्वा प्रियहस्तयोः॥३४६॥

लवित्रं विस्मृतं पश्चात् प्रयान्तीं गृहमन्तरा। उरोजबिम्बाकाराणि बहिः पत्राणि वीक्ष्य च॥३४७॥

गाथाद्धं प्रोचिवान् कैतूहलाकृष्टमनःक्रमः। दृष्टिमेण्ड उदण्डस्कन्धे न्यस्यन् चलाचलाम्॥३४८॥-त्रिभिर्विशेषकम्।

तच्च-वडिविवरनिगायदलो एरंडो साहइ च तरुणागा।

तत्प्रातः स्वगुरोरोऽवदत्संसदि संस्थितः॥३४९॥

उत्तरार्द्धमवादीच्च तस्यानुपदमेव सः।

इत्थधरे हलियवहू इहहमित्तथणी वसई॥३५०॥

इति श्रुत्वा यथादृष्टपूरकं प्रभुमस्तवीत्। सिद्धसारस्वतः कोऽपि कलौ नो मदगुरुं विना॥३५१॥

सायमैक्षत सोऽन्येद्युरेकां प्रोषितभर्तुकाम्। यान्तीं वासालये वक्रग्रीवां दीपकरां तदा॥३५२॥

उत्तरार्द्धं विधायात्र गाथायाः सुहृदः पुरः। प्रातराह ततोऽसौ च प्राग्दलं ग्राह सत्वरम्॥३५३॥

तथा हि -

पियसंभरणपल्लुदंतअंसुधारानिवायभीयाए।

विजइ वंकगीवाइ वीवओ पहियजायाए॥३५४॥

इत्यनेकप्रबन्धाढ्य काव्यगोष्ठीगरीयसा। कालः सुखेन याति स्म गुरु-राजोः कियानपि॥३५५॥

13. श्रीधर्मभूधनोऽन्येद्युर्दंतं प्रेषितवानथ। श्रीमदामस्य वामस्य दुष्कृतानां सुधीनिधिः॥३५६॥

ततः स भूपमानस्य सभायामुचितासनः। सम्यग् व्यजिज्ञपत् सभ्यैर्विस्मितैर्वीक्षिताननः॥३५७॥

मम नाथः प्रभो! तावकीनच्छेकत्वभङ्गिभिः। सन्तुष्टः स्पष्टमाह स्म सविस्मयमनःक्रमः॥३५८॥

भवत्कोविदकोटीररत्नश्रीबप्पभट्टिना। सत्यानृतकवित्वस्य व्याख्यानाच्छलिता वयम्॥३५९॥

यदायातोऽपि गेहान् आतिथ्याहोऽपि नार्हितः। आमो रामो धिया भूपोऽनुतापातिशयः स नः॥३६०॥

हल्लेखाधायि वैदग्ध्यं साहसं वाक्यधातिगम्। वयं चमत्कृतेर्हृष्टास्तद्वदाम किमप्यहो॥३६१॥

राज्ये नः सौगतो विद्वान् नाम्ना वर्द्धनकुञ्जरः। महावादी दृढप्रज्ञो जितवादिशतोन्नतः॥३६२॥

देशसन्धौ समागत्य वादमुद्रां करिष्यति। सभ्यैः सह वयं तत्र समेष्यामः कुतूहलात्॥३६३॥-युग्मम्।

यः कोऽपि भवतां वादकोविदः सोऽपि तत्र च। आयातु सह विद्वद्भिर्भर्तनाघन इवोन्नतः॥३६४॥

तद्वाक्संग्राम एवास्तु यस्य वादी विजीयते। जित एवापरेणासौ किं हतैर्बहुशस्त्रिभिः॥३६५॥

भुजे वाचि च शौर्यं ते वादिनोऽप्यपराजिताः। यद्यसौ सौगताचार्यो महावादी विजीयते॥३६६॥

तस्मिन् जिते जिता एवावासबाह्यं त्वया वयम्। घृतपिण्ड इव स्थानम् उदके हिमनिश्चयः॥३६७॥

इति श्रुत्वाखऽऽमभूपाल ऊचे संदेशहारकम्। श्रीधर्मोऽनुचितं ब्रूयात् किं कदापि नराधिपः॥३६८॥

परं किञ्चदुपालभ्यमस्ति नार्हं सतां हि यत्। अस्मिन्नवसरे वाच्यं प्रस्तावो दुर्लभो ध्रुवम्॥३६९॥

विदुषः सुहृदस्तस्याकारणव्याजतो ध्रुवम्। आयाम मिलितुं पत्र स्फुटं चास्माभिरौच्यत॥३७०॥

तत्र 'बी ज उ रा-दो रा' वाक्याभ्यां बंधुरीतितः। द्वितीयो राडिव द्वौ च राजानाविति संस्कृतात्॥३७१॥

दर्शितं चाढकीपत्रे व्याख्याते **बणभट्टिना**। इदं 'तू अ रि प त्तं' ते अरिपत्राख्यसंस्कृते॥३७२॥
 त्रिराख्यातेऽपि न ज्ञातं भिया वा न स्फुटीकम्। न विद्यस्तत् तृतीयेऽपि वचसि प्रकटे नयत्॥३७३॥
 एतत्प्रकाशितं यस्मादज्ञानात् पुनपुंसकम्। ज्ञापितस्त्वत्प्रभुस्ते च विशिष्टा विदिताः किल॥३७४॥
 तथापि चेज्जिगीषाऽस्ति मयि तु त्वदधीशितुः। श्रद्धां ते पूरयिष्यामि भवत्वेतद् भवद्वचः॥३७५॥
 परं विजयिनो राज्ञः पराभूतक्षमाभुजा। सप्ताङ्गमपि राज्यं स्वभर्पणीयमदर्पितम्॥३७६॥
 ईदृशं भवतः स्वामी यदूरीकुरुते तदा। एवमस्त्वन्यथा किं नः प्रयासेन फलं विना॥३७७॥
 इत्याकर्ण्यवदद् दूत **आमेत्याख्या** त्वया निजा। सत्या कृता विशानाथ! मतेरपरिणक्तः॥३७८॥
 जडोऽपि को न वेत्तीति कथिते किं पुनः पुनः। अपरोऽपि गृहायातं नृपं शत्रुमपि ध्रुवम्॥३७९॥
 योजयेदातिथेये न भवांस्तु प्रकटीकृतः। सत्कारायापि नाम स्वं सत्यापयति चेद्भिभ्या॥३८०॥
 पलायमानो बाह्यानां हस्त्यारूढो विनश्यति। तदस्माकं प्रभोर्नामवैतथ्यं जायते स्फुटम्॥३८१॥-त्रिभिर्विशेषकम्॥
 निग्रहेऽपि स एवास्यादोषो राजस्ततो नृप!। विमृश्यकारिता तत्र सैवास्यैकाऽपराध्यति॥३८२॥
 क्षमाक्लीबस्य तस्य त्वं जितेऽस्मद्वादिनाः ततः। पुमानप्यपमानस्य पात्रं सर्वस्वनाशतः॥३८३॥
 ब्राह्मीकृतप्रसादस्य नास्त्येवास्य पराजयः। वादिनो विमृशातस्त्वमविमर्शो हि नाशकृतः॥३८४॥
 श्रुत्वेति **बणभट्ट्यास्ये** सहास्ये नृपवीक्षिते। मुनीशेन सदानन्दनिर्भरं जगदे वचः॥३८५॥
 को हि **धर्मस्य** नोत्कण्ठी पूर्वं परिचितस्य च। यदि रागिग्रहो न स्यादस्य श्रेयोबहिष्कृतः॥३८६॥
 अनित्यैकग्रहे रक्ते भिक्षौ कृतजयाग्रहः। क्षुणं तदेव चेद्रागे जयो मोक्षस्ततः कुतः॥३८७॥
 वैराग्य एव मुक्तिः स्यात् सर्वदर्शनसंमतम्। कार्या नात्राधृतिर्भिक्षुर्जयो मे तत्कृतोन्नतिः॥३८८॥
धर्मराजस्य सम्यक् कुविचारादिदमादृतम्। मदाश्रितो यतो वादस्तस्यैवोपकरिष्यति॥३८९॥
 कुत्राप्यवसरे तस्मादस्तु वाक्पूरतो रणः। संमान्य प्रेषय प्रेष्ठपुमांसं **धर्मभूपते**॥३९०॥
आमराजेन कृत्वैतत् प्रहितः समयं भुवम्। व्यवस्थाप्य जगामासौ प्रोचे दत्त्वाग्निः पुरः॥३९१॥

14. वाग्विग्रहाय वादीन्द्रं राजा **वर्द्धनकुञ्जरम्**। **धर्मः** संवाहयामास गीष्पतिं वासवो यथा॥३९२॥
 चतुर्दिगन्तविश्रान्तकीर्तयः सुहृदस्ततः। आहूयाभ्यर्च्य सभ्यत्वे वादेऽस्मिन् विहिता मुदा॥३९३॥
परमार महावंशसम्भूतः क्षत्रियाग्रणीः। तस्य वाक्पतिराजोऽस्ति विद्वान् निरुपमप्रभः॥३९४॥
 पूर्वं परिचितश्चासौ **बणभट्टि**प्रभोस्ततः। तस्य वाग्मर्मविज्ञानहेतौ संवाहितो मुदा॥३९५॥
 व्यवस्थितदिने प्राप प्रदेशं देशसन्धिगम्। सभाधीशमहासभ्यैः समं **वर्द्धनकुञ्जरः**॥३९६॥
कन्यकुञ्जादपि श्रीमाननामः कामं सुधीनिधिः। श्री**बणभट्टिना** विद्वद्द्वन्द्वसन्निधिना समम्॥३९७॥
 भुवं तामेव संप्रापातपत्राच्छादिताम्बरः। आवासान् स्वः पुराभासान् दत्त्वावस्थितवानथ॥३९८॥-युग्मम्॥
 आजन्म सर्वदा दृष्टशस्त्रशस्त्रिशलादरः। अदृष्टपूर्ववाग्युद्धप्रेक्षायै सकुतूहलः॥३९९॥
 अहंपूर्विकया सिद्ध-विद्याधरसुरव्रजः। समेतश्चाप्सरोवर्गैः स्वर्गवद्गगनाङ्गणे॥४००॥
 कौतुकाकृष्टचेतोभी राजसभ्यैर्बहुश्रुतैः। ईयतुः सङ्गतौ तत्र तौ वादि-प्रतिवादिनौ॥४०१॥
 उपविष्टेषु सभ्येषु श्रुत्यधीनमनस्सु च। स्तिमितात्र सभा साऽभूदालेखलिखिता किल॥४०२॥
 निजं निजं नराधीशमाशिषाभिर्नन्दतुः। स्वस्वागमाविरोधेन सभ्यानुमतिपूर्वकम्॥४०३॥
 ततः श्रीसौगताचार्यः पूर्वं **वर्द्धनकुञ्जरः**। आशीर्वादमुदाजहे व्यथकं द्वेषिपर्षदाम्॥४०४॥

तथा हि-

शर्मणे सौगतो धर्मः पश्य वाचंयमेन यः।

आदृतः साधयन् विश्वं क्षणक्षणविनश्यरम्॥४०५॥

अथ श्वेतांबराचार्यो बप्पभट्टिः सुधीपतिः। अध्यधत्ताशिषं स्वीयां भूपालाय यथा तथा॥406॥

अहं शम्भोन्नतिं देयान्नित्यानन्दपवस्थितः।

यद्वाचा विजिता मिथ्यावादा एकान्तमानिनः॥407॥

उभयोरशिषः श्लोकौ निरुचुः पार्षदास्तदा। असौ धम्मो गतः सम्यग् यमिता गीश्च वादिभिः॥408॥

क्षणभङ्गि जगज्ज्वोक्तं भङ्गस्यैवानया गिरा। सौगतस्यानुमीयेत वाग्देवी सत्यवादिनी॥409॥

नित्यानन्दपदश्रीदो देव एकान्तविग्रही । मिथ्यावादविजेत्री गीः श्वेतभिक्षोस्ततो जयः॥410॥

इति निश्चित्य ते तस्थुर्यावन्मौने सभासदः। तावत् कस्तूरिकां हस्ते कृत्वा बौद्धोऽब्रवीदिदम् ॥411॥

‘कसु तूरी उपगमइ’ प्रोक्ते प्राकृत ऊचिवान्। आचार्य उपकर्त्रीयं रजकस्येति विद्याताम्॥412॥

इति तत्प्रश्नसङ्केतादुत्तरेणाधरीकृते। तावद् रक्ताम्बरः सर्वानुमतः पक्षमब्रवीत्॥413॥

सर्वानुवादेनानूद्य ततस्तत्पक्षदूषकान्। उदाजहार व्याहारान् प्रामाणिकपतिर्मुनिः॥414॥

उत्तरादुत्तरं चैवमुक्ति-प्रत्युक्तिरोतितः। षट् व्यतीयुस्तदा मासास्तयोर्विवदमानयोः॥415॥

श्रीमानामनृपोऽन्येद्युरुचे सूरिं कदा प्रभो! व्याधातो राजकार्याणां वादः संपूरयिष्यते॥416॥

तत आह तदाचार्यो वाग्विनोदसुखाय वः। इयत्कालं हि नश्चेतस्यासीदिति कृतिप्रभो॥417॥

बाधाविधायी यद्येष भवतस्तद् विलोकय। प्रभाते निग्रहीष्यामि विद्वन्मन्यं हि भिक्षुकम्॥418॥

प्राग्दत्तं गुरुभिमन्त्रं परावर्तयतः सतः। मध्यरात्रे गिरां देवी स्वर्गङ्गावेणिमध्यतः॥419॥

स्नान्ती तादृशरूपाचप्रादुरासीद् रहस्तदा। अहो मन्त्रस्य माहात्म्यं यद्देव्यपि विचेतना॥420॥-युग्मम्।

अनावृतशरीरां च सकृदीषद ददर्श ताम्। सूरिः सूर्यादिवास्यं च परावर्तयति स्म सः॥421॥

स्वं रूपं विस्मरन्ती च प्राह वत्स! कथं मुखम्। विवर्त्तसे भवन्मन्त्रजापात् तुष्टाहभागता॥422॥

वरं वृण्वति तत्रेक्तो बप्पभट्टिरुवाच च। मातर! विसदृशं रूपं कथं वीक्षे तवेदृशम्॥423॥

स्वां तनुं पश्य निर्वस्त्रामित्युक्ते स्वं ददर्श सा। अहो निबिडमेतस्य ब्रह्मव्रतमिति स्फुटम्॥424॥

वीक्ष्य मामीदृशीं यन्न चेतोऽस्य विकृतिं ययौ। ध्यायन्तीति दृढं तोषात् तत्पुरः समुपस्थिता॥425॥-युग्मम्।

वरेऽपि निस्पृहे त्वत्र दृढं चित्रादुवाच च। गत्यागत्योर्मम स्वेच्छा त्वदीया निर्वृता भव॥426॥

ततः सूरिगिरां देवीं तुष्टुवे सुष्टुवाग्भरैः। वृत्तैर ‘ध रि ते त्या’द्यैश्चतुर्दशभिरदभुतैः॥427॥

इमां स्तुतिं सुवर्णाढ्यां कर्णकुण्डलरूपिणीम्। मानयन्त्यतिसन्तोषाद् भारती वाचमूचुषी॥428॥

वत्स! किं पृच्छसीत्युक्ते सूरिरूचे विवाद्यसौ। सत्यं प्रज्ञाबलाज्जल्पेद्, विज्ञानमथ किञ्चन?॥429॥

देवी प्राहामुना सप्तभवा नाराधिताऽस्म्यहम्। प्रदत्ता गुटिकाक्षय्यवचनाऽस्य मया ततः॥430॥

तत्प्रभावाद् वचो नास्य हीयते यतिनायकः। सोपालम्भमिवाहासौ सूरिः श्रीश्रुतदेवताम्॥431॥

पुष्पासि प्रत्यनीकं किं शासनस्य जिनेशितुः। सम्यग्दृष्टिः पुराप्तायात् शुश्रुवे भवती ननु॥432॥

सरस्वती पुनः प्राह नाहं जैनविरोधिनी। उपायं तेऽर्पयिष्यामि यथासौ जीयते बुधः॥433॥

सर्वेऽपि मुखशौचं ते विधाप्याः पार्षदादयः। ततोऽस्य कार्यमाणस्य गण्डूषं मुञ्चतो मुखात्॥434॥

भ्रष्टा चेद् गुटिकाऽवश्यं युष्माभिर्जितमेव तत्। चतुर्दशं पुनर्वृत्तं न प्रकाश्यं कदापि हि॥435॥

यतस्तत्र श्रुते साक्षाद् भवितव्यं मया ध्रुवम्। कियतां हि प्रसीदामि निष्पुण्यानां मुनीश्वरः॥436॥

इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे देवी सूरिरञ्जनं जगौ पुरः। विज्ञावाक्यतिराजस्य यदादिष्टं गिरा तदा॥437॥

इत्यङ्गीकृत्य तेनाथ करकं नीरपूरितम्। समानाय्य सभा सर्वा वक्त्रशुद्धिं व्यधाप्यत॥438॥

तत्कुर्वतोऽथ तस्यापि गुटिका पतिता मुखात्॥ भिक्षोरास्यजलैर्नुन्ना श्रीरिवापुण्यकर्मणः॥439॥

अविश्रान्तिमिथोवादाध्वन्यध्वन्यतया ततः। श्रान्ता विश्राममिच्छन्ती मूकस्येवास्य गीः स्थिता॥440॥

सदस्याश्च वचः प्रोचुर्गुटिकैव वचःक्षमा। अनेडमूक एवायं भिक्षुरन्वर्थनामभूः॥441॥

जिग्ये श्रीबप्पभट्टिस्तं वादिकुञ्जरकेसरी। विरुदं जुघुषे राजा जज्ञे जयजयारवः॥442॥
 धर्मराज्यं गृहीतुं च स्वबलात् सार्द्धवैभवम्। तदाम उपचक्राम स्वं पणं कस्त्यजेज्जयी॥443॥
 उवाचाथ गुरुस्तस्य यदुक्तं च पुरः पुरा। यद्राज्येन पणं चक्रे धर्मभूपोऽधिकृत्य नः॥444॥
 तत्तस्यैवोपकाराय भविष्यति कदाचन। तदस्य वचसः कालो नृपनाथ! समाययौ॥445॥
 इयं प्रमाणशास्त्रणां मुद्रा यल्लिखिते ततः। सम्बन्धे निग्रहो नैव यत्पराजय एव सः॥446॥
 अस्य राज्यं तदस्यैव सन्तिष्ठतु यथास्थितम्। अनित्यभवहेतोः कः शास्त्रमुद्रां विलुम्पति॥447॥
 गुरुभक्त्याभिरामोऽयमामोऽनिच्छुर्बलादपि। धर्मे धर्मस्थितो राज्यमनुमेने प्रसादतः॥448॥
 तत आश्लिष्य बौद्धं तं सूरिवर्द्धनकुञ्जरम्। तदासन्ने गोपगिरौ श्रीवीरभवनेऽनयत्॥449॥
 श्रीमहावीरबिम्बं स विलोक्य हृदि हर्षितः। 'शा न्तो वे ष' इति स्तोत्रं चक्रे प्रमुदितस्तदा॥450॥
 एवं स्तुत्वा जिनं स्वात्मनिन्दके सौगतप्रभौ। सूरिर्जनरहस्यानि तस्य प्रादर्शयत् पुरः॥451॥
 मिथ्यात्वगरलं हत्वा पीयूषामलगीभरैः। परीक्षापूर्वमस्यापि तच्चित्ते धर्मं आर्हतः॥452॥
 निद्राविद्राणचैतन्ये निशायामन्यदा गुरौ। प्रतिप्रहरमाह स्म ताथागतयतीश्वरः॥453॥
 चतुरक्षरनिष्पन्नं समस्यानां चतुष्टयम्। स चोत्स्वप्नायितेनेवापूरयत् सूरिपुङ्गवः॥454॥
 मन्दाक्रान्तापदैर्मन्दाक्रान्तिक्षुण्णान्यतीर्थिकः। अपूरमपरैः सर्वयत्नेनापि वाग्मिभिः॥455॥-युग्मम्।
 'एको गोत्रे' [1] 'सर्वस्य द्वे' [2] 'स्त्रीपुंवच्च' [3] 'वृद्धो यूना' [4] समस्याः-
 'एको गोत्रे' स भवति पुमान् यः कुटुम्बं विभर्ति
 'सर्वस्य द्वे' सुगति-कृगती पूर्वजन्मानुबद्धे ।
 'स्त्री पुंवच्च' प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्
 'वृद्धो यूना' सह परिचयात्यज्यते कामिनीभिः॥456॥
 सम्यक्त्वं ग्राहितः सोऽथ द्वादशव्रतशोभितम्। आश्लेषपूर्वमापृच्छ्य स्वं स्थानं प्रययौ ततः॥457॥
 पूर्ववैरपरीहारात् संगतौ सोदराविव। अन्योऽन्यप्राभृतैस्तुष्टौ पुरं स्वं स्वं गतौ नृपौ॥458॥

15. अन्यदा रहसि ग्राह धर्मभूषं स सौगतः। विजिग्ये बप्पभट्टिर्मा न तत् क्षूणं मनस्यपि॥459॥
 यतो वाग्देवता तस्य यथोदितविधायिनी । स्वयं वदति तद्देहे स्वजे जाग्रति चास्थिता॥460॥
 परं वाक्पतिराजेन त्वद्राज्यपरिभोगिणा। अस्मास्वपकृतं भूरि मुखशौचविधापनात्॥461॥
 इति श्रुत्वापि बौद्धे स छलवादात् श्लथादरः। स्नेहं वाक्पतिराजे च गुणगृह्ये मुमोच न॥462॥
 यशोवर्मनृपो धर्ममन्यदा चाभ्यषेणयत्। तस्माद् द्विगुणतन्त्रस्तं भूषं युद्धेऽवधीद् बली॥463॥
 तदा वाक्पतिराजश्च बन्धे तेन निवेशितः। काव्यं गौडवधं कृत्वा तस्माच्च स्वममोचयत्॥464॥
 कन्यकुब्जे समागत्य संगतो बप्पभट्टिना। स राजसंसदं नीतस्तुष्टुवे चेति भूपतिम्॥465॥

तथा हि -

कूर्मः पावोऽन्न यष्टिर्भुजगतनुलता भाजनं भूतधात्री
 तैलोत्पूरः समुद्रः कनकगिरिरयं वृत्तवर्त्तिप्ररोहः।
 अर्चिश्चण्डांशुरोचिर्गगनमलिनिपा कण्जलं दह्यमाना
 शत्रुश्रेणी पतंगो ज्वलतु नरपते! त्वत्प्रतापप्रदीपः॥466॥
 चटच्चटिति चर्मणि छमिति चोच्छलिच्छोणिते
 धगद्धगिति मेदसि स्फुटरवोऽस्थिबुध्याकृतिः।
 पुनातु भवतो हेरपरवैरिनाथोरसि
 क्वणत्करजपञ्जरक्रकचकाषजन्मानलः॥467॥

पृथुरसि गुणैः कीर्त्या रामो नलो भरतो भवान्
महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं सदैव युधिष्ठिरः।
इति सुचरितैः ख्यातिं बिभ्रच्छिरन्तनभूभृतां
कथमसि न मान्धाता देवस्त्रिलोकविजय्यपि॥468॥

सन्मानातिशयो राज्ञा विदधे तस्य भूभृतः। गङ्गां गेहागतां को हि पूजयेदलसोऽपि न॥469॥
मन्यते कृतकृत्यं स्वं स्वर्गनाथोऽपि वाक्पतिम्। प्राप्य वाक्पतिराजं तु नाधिकोऽद्य किमस्म्यतः॥470॥
त्यागाद् धर्मस्य माकार्षीर्मनस्यनुशयं सखे। यद्देहागतमत्पूजानाधानात् सोऽवमस्थितिः॥471॥
तवाधीनमिदं राज्यं विचिन्तं सुखमास्व तत्। श्रीबप्पभट्टेर्मम च तृतीयस्त्वं महामते॥472॥
इत्याभराजव्याहाराभूतसारपरिप्लुतः। गङ्गोदक इव स्नातः प्रीतिपावित्र्यमाप सः॥473॥
सहैवोत्थाय तत्रासौ नृपमित्रेण सूरिणा। उपाश्रयमनुप्राप्यातिष्ठत् परमया मुदा॥474॥
'गौडवधो' 'महुमहविजय'श्चेति तेन च। कृता वाक्पतिराजेन द्विशास्त्री कवितानिधिः॥475॥
बौद्धकारिततद्देषापोषके धर्मभूपतौ। सर्वत्र गुणिनः पूज्या गुरुरित्याह तत्पुरः॥476॥
वृत्तौ कृतं हैमटकलक्षं तदिद्वगुणौकृतम्। नृपेणासौ महासौख्यात् कालं गमयति स्म सः॥477॥-युग्मम्।

16. सभायामन्यदा राजा सुखासीनं गुरुं प्रति। प्राह न त्वत्समो विद्वान् स्वर्गोऽपि किमु भूतले॥478॥
गुरुराह पुराऽभूवन् पूर्वं ते जैनशासने। श्रुतज्ञानमहाम्भोर्धेयत्प्रज्ञा पारदृश्वरी॥479॥
रातं सहस्रं लक्षं वा पदानामेकतः पदात्। अधिगच्छन्ति विद्वांसोऽभूवन् केऽप्यधिका अपि॥480॥
ऐदंयुगीनकालेऽपि सन्ति प्रज्ञाबलाद्भुताः। येषामहं न चाप्नोमि पादरेणुतुलामपि॥481॥
अस्मदीयगुरोः शिष्यौ खेटकाधारमंडले। विद्येते नत्रसूरिः श्रीगोविंदसूरिरित्यपि॥482॥
यत्पुरो बठरत्वेन तत्र स्थितिमनिच्छतः। शृङ्गाराय भवत्सख्यं विदेशावस्थितेर्मम॥483॥
इति वाचा चमत्कारं धारयन्नब्रवीन्नृपः। भवद्भवः प्रतीतोऽपि प्रेक्ष्ये कौतुकं हि तत्॥484॥
ततो वेषपरवर्तप्राप्तो गूर्जरमंडले। पुरे हस्तिजये जैनमन्दिरस्य समीपतः॥485॥
उपाश्रयस्थितं भव्यकदम्बकनिषेवितम्। राजानमिव सच्छत्रं चामरप्रक्रियान्वितम्॥486॥
सिंहासनस्थितं श्रीमन्नसूरिं समैक्षत। उत्तानहस्तविस्तारसंज्ञयाह किमप्यथ॥487॥
एतद्विलोक्याचार्योऽपि मध्यमातर्जनीद्वयम्। पुरस्तस्य वितस्तारशृङ्गाकारेण तत्र च॥488॥
इत्युत्थाय गते तत्र जनैः पृष्ठमिदं किमु। ततः प्रापञ्चयत् सूरिः कोऽपि विद्वानसौ पुमान्॥489॥
पृच्छति स्म यतीनां किं राज्यलीला ततो मया। इत्युत्तरं ददौ शृङ्गे भवतो भूपतेः किमु॥490॥
निविष्टमन्यदा चैत्ये शास्त्रं वात्स्यायनाभिघम्। व्याख्यातं प्रेक्ष्य तं भूपो नमस्कृत्य जिनं ययौ॥491॥
ननाम न गुरुं कामशास्त्रव्याख्याततः स च। विद्वानेष न चारित्री गुरुरित्थं विकल्पितः॥492॥
परिज्ञातेऽथ तत्तत्त्वे खेदं दधे स कोविदः। धिग्वैदग्ध्यं हि नो निर्यदपकीर्तिकलङ्कितम्॥493॥
श्रीगोविन्दः शशासैनं खिद्यसे किं वचः शृणु। आमभूपतिरेवायं गुप्तो नापर ईदृशः॥494॥
ततः किञ्चिद्धर्मशास्त्रं विधायातिरसोज्ज्वलम्। पार्श्वान्तस्य कस्यापि बप्पभट्टिप्रभोः पुरः॥495॥
प्रेषयैतद् यथातथ्यं चाभिनायति तत्पुरः। तत्रापररसावेशं सोऽनुभूय प्रभोक्षते (?)॥496॥
तथेति प्रतिपद्याथ कृत्वा तच्च नटोत्तमान्। प्रैषयच्छिक्षितान् सम्यक् प्रायादामपुरं च सः॥497॥
अमिलद् बप्पभट्टेश्च तेन राज्ञोऽथ दर्शितः। आदितीर्थकृतो वृत्तमभिनिन्ये स नृपानम्॥498॥
विहितं सन्धिबन्धेन रसाय नन्नसूरिणा। तत्कथां प्रथयन् नृत्यन्ताह प्राकृतरूपकम्॥499॥-युग्मम्।
कञ्चण्डु सुविजड्डु गिरि वेवड्डु वेहावड्डु।

श्रीबप्पभट्टिराहेदमर्द्धानं रूपकद्वयम्। नर्मधर्मेण तच्चापि नटो व्यावृत्य तत्पुरे॥500॥
 आगत्य तथ्यमाचख्यौ नन्नाचार्यकवेः पुरः। नैतद्रम्यमिदं कार्यमिति संचिन्त्य हर्षतः॥501॥
 ततो रूपं परावृत्य स सिद्धगुटिकादिभिः। प्रतस्थे कन्यकुञ्जे च सह गोविन्दसूरिणा॥502॥
 प्राप्तोऽथ मिलितो बप्पभट्टेः पट्टेश्वरस्य च। राजपर्षदि नृत्यंश्च रसं वीरं वितेनिवान्॥503॥
 तद्व्यानैकमना भूपश्चकर्षे क्षुरिकां निजाम्। 'मारि मारी' ति शब्देन नदन् सिंह इव क्रुधा॥504॥
 अङ्गरक्षैस्ततो नाट्यमिदमित्थं निवारितः। चैतन्ये सङ्गते पश्चात् प्रतिबुद्धो गुरुक्तिभिः॥505॥
 आह गोविन्दसूरिस्तद्भूप! युक्तं कथं कृतम्। केनापि न परं शास्त्ररसः सर्वोऽनुभूयते॥506॥
 ततो वात्स्यायने व्याख्यायमाने नन्नसूरिणा। सविकल्पो मनीषी त्वमन्यः को न विकल्पयेत्॥507॥
 लज्जितेन ततो राज्ञा क्षमितौ कोविदाधिपौ। सत्यं तद्वचनं बाढं यदूचे सुहृदा मम॥508॥
 संयमेन सुशीलेन वृत्त्या विद्वत्तया तथा। तद्गुरुभ्रातरौ पूज्यौ भ्रान्तिर्मे क्षम्यतामिति॥509॥
 इत्याकर्ण्य ततः प्रोचे श्रीमद्गोविन्दसूरिणा। तपो न नः कलंकयेत त्वयि वृत्तानि पश्यति॥510॥

यतः-

भवन्तु ते दोषविदः शिवाय विशेषतस्तद्वचनैकनिष्ठाः ।
 येषां प्रवादावपवावभीता गुणार्जोत्साहपरा नराः स्युः॥511॥

तथा-

जे चारित्तिहिं निम्मला ते पंचायण सीह॥
 विसयकसाइहिं गंजिया ताहं फुसिज्जइ लीह॥
 ताहं फुसिज्जइ लीह, इत्थ ते तुल्ल सीआलह।
 ते पुण विसयपिसायछलिय गय करिणिहिं बालह॥
 ते पंचायण सीह सत्ति उज्जल नियकित्तिहिं।
 ते नियकुलनहयलमयंक निम्मलचारित्तिहिं॥512॥

श्रुत्वेति नृपतिस्तोषादुवाच सुहृदं गुरुम्। धन्योऽहमेव यस्याभूद् गुरोः कुलममूढशम्॥513॥
 राज्ञाऽवस्थापितौ तत्र दिनान्यथ कियन्त्यपि। आपृच्छय बप्पभट्टिं तावागतौ स्वभुवं ततः॥514॥
 धर्मव्याख्या सदाख्यानाख्यानप्रश्नोत्तरादिभिः। कियानपि ययौ कालः समुदोः सृहदोस्तयोः॥515॥

17. आययाबन्यदा वृन्दं गायनान्तावसायिनाम्। श्रवःस्वादिमहानादरसनिर्जिततुंबरुः॥516॥
 तत्रैका किन्नरी साक्षाम्नातङ्गी गीतभङ्गिभिः। राजानं रञ्जयामास रूपादपि रसादिभिः॥517॥
 प्रवाह्य प्रतिपक्षस्य राज्ञो रागद्विषन् जयी। चित्तवृत्तिमहापुण्यामवस्कन्दं ददौ तदा॥518॥
 वास्तव्यानीन्द्रियाण्यस्य बहिर्भौत्येव निर्ययुः। तैरिव प्रेरितो राजा वासं बहिरचीकरत्॥519॥

उवाच च-

वक्रं पूर्णशशी सुधाऽधरलता वन्ता मणिश्रेणयः
 कान्तिः श्रीर्गमनं गजः परिमलस्ते पारिजातद्रुमाः।
 वाणी कामदुघा कटाक्षलहरी तत्कालकूटं विषं
 तत्किं चन्द्रमुखि! त्वदर्थममरैरामन्धि दुग्धोदधिः॥520॥

अन्तश्चरेभ्यो विज्ञातवृत्तान्तः सूरिरप्यथ। दध्यौ स सादिनो दोषो यदश्वो विपथं व्रजेत्॥521॥
 आमभूपे विमार्गस्थे विश्वप्रकृतिषु ध्रुवम्। अपकीर्तिः कलङ्कोऽयं ममैवासञ्जति स्फुटः॥522॥
 तदुपायाद् विनेयोऽसाविति ध्यात्वा बहिर्गृहे। ययौ विलोकनव्याजात् कामार्तोरौषधं स्मरन्॥523॥

नव्येषु पट्टशालायाः पट्टेषु खटिनोदलैः। काव्यानि व्यलिखद् बोधवन्धुराणि ततो गुरुः॥524॥-युगम्।
तथाहि-

शैत्यं नाम गुणस्तवैव तव नु स्वाभाविकी स्वच्छता
किं भूमः शुचितां व्रजन्ति शुचयः सङ्गेन यस्यापरे।
किं चातः परमस्ति ते स्तुतिपदं त्वं जीवितं वेहिनां
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पथः कस्त्वां निषेद्धं क्षमः॥525॥
सद्वत् सद्वृण महार्थं महार्हं कान्त कान्ताधनस्तनतटोचितचारुमूर्तिः।
आः पामरीकठिनकण्ठविलग्नभग्न हा हार! हारितमहो भवता गुणित्वम्॥526॥
उप्यहजायाएँ असोहरीइं फलकुसुमपत्तरहियाए।
बोरीइँ वईं दितो भो भो पामर न लज्जिहिसि॥527॥
मायंगासत्तमणस्स मेइणि तह य भुंजमाणस्स।
अब्बिडइ तुज्झ नायावलोयको नट्टधम्मस्स॥528॥
लज्जिज्जइ जेणि जणे गइलिज्जइ नियकुलक्कमो जेण।
कण्ठट्टिएहि जीवे मा सुंदरं तं कुणिज्जासु॥529॥
जीयं जलबिंदुसमं संपत्तीओ तरंगलोलाओ।
सिषिणयसमं च पिम्मं जं जाणह तं करिज्जासु॥530॥

लिखित्वा स्वाश्रयं प्राप बप्पभट्टिप्रभुर्मुदा। द्वितीयेऽहनि भूपो तत्सद्यः प्रेषितुं यवौ॥531॥
अवाचयच्च काव्यानि हल्लेखोनि यथा यथा। यथा यथा भ्रमोऽनेशद् दुग्धाद्धतूरमोहवत्॥532॥
अथान्वतप्यत श्रीमानामः श्याममुखाम्बुजः। व्यमृशच्च विना मित्रं कोऽन्य एवं हि बोधयेत्॥533॥
इदानीमहमप्रेक्ष्यं स्वमास्थं दर्शये कथम्। तस्य व्यथाकरं विश्वप्राणिनां दोषकारणम्॥534॥
सांप्रतं मे बृहद्भानुरेव शुद्धिं विधास्यति। कलङ्कपङ्क्तिं त्याज्यमेवास्माकं हि जीवितम्॥535॥
इति ध्यात्वा स तत्रैवादिशत् प्रेष्याश्चित्ताकृतं। अनिच्छन्तोऽपि भूपालादेशं तत्र व्यधुर्बलात्॥536॥
राजलोक इदं ज्ञात्वा पूव्वक्रे करुणस्वरम्। राजमित्रगुरोरे ततोऽसौ तत्र जग्मिवान्॥537॥
उवाचाथ गुरुर्भूप! प्रारब्धं स्त्रोजनोचितम्। किमिदं विदुषां निन्द्य ततो राजाह तत्पुरः॥538॥
मम प्रच्छन्नपापस्य मालिन्ये मनसा कृते। स्वदेहत्याग एवास्तु दण्डो दुष्कृतनाशनः॥539॥
यथा दुष्कृतिलोकस्य वयं दण्डमकृष्महि। तथा स्वस्यापि किं नैव कुर्मः कर्मच्छिदाकृते॥540॥
गुरुराह स्मितेनाथ विमृश त्वं हि चेतसा। निबद्धं कर्म चित्तेन चित्तेनैव विमोच्यते॥541॥
स्मार्त्तनार्तं (र्त्ति) भिदे पृच्छ प्रायश्चित्तानि पाप्मनाम्। यतः स्मृतिषु सर्वेषां मोक्ष ऊचे मनीषिभिः॥542॥
वेदान्तोपनिषत्तत्त्वश्रुतिस्मृतिविशारदाः। तत्राहूयन्त भूपेन स्तूपेन न्यायनाकिनः॥543॥
यथावृत्तं मनःशल्यं जगदे तत्पुरस्तदा। ततस्ते स्मृतिवाचालास्तथ्यं शास्त्रानुगं जगुः॥544॥
आयसीं पुत्रिकां वहिध्मातां तद्वर्णरूपिणीम्। आश्लिष्यन्मुच्यते पापाच्चाण्डालीसङ्गसम्भवात्॥ 545॥
श्रुत्वेति भूपतिः कारयित्वा तां कथितक्रमात्। आनाथ्यं तत्र सज्जोऽभूत् तदालिङ्गनहेतवे॥546॥
वेगादागत्य पाञ्चालीमार्लिष्यन्स्तां स्वसिद्धये। पुरोधो-बप्पभट्टिभ्यां भूपतिर्भुजयोर्धृतः॥547॥
आह श्रीबप्पभट्टिरच स्थिराधार! स्थिरो भव। मा कोटिंभरमात्मानं नाशयेथा मुधा सखे॥548॥
उक्तश्चैकाग्रचित्तेन साहसानन्यवेशमना। भवता कर्म चित्तेन बद्धमुन्मोचितं त्वया॥549॥
अस्य पापस्य मुक्तोऽसि कृष्णाभ्रादिव भास्करः। द्योतिष्यसे सतामन्तर्मुञ्च तत्कर्म दुष्करम्॥550॥

आनन्दितः प्रभोर्वाग्भिरिति तत्याज कुग्रहम्। इति ज्ञाते च हर्षोऽत्र पुनर्जात इवाभवत्॥551॥
अमात्यैर्नगरे तत्र सर्वद्वयार्थकृते कृते। गजगन्धर्वसन्दोहरथ्यापादातिसंवृतः॥552॥
पट्टहस्तिशिरस्थानाग्रासनस्थे मुनीश्वरे। रोमगुच्छातपत्रादिप्रक्रियाप्रकटप्रभे॥553॥
प्रविवेश विशामीशः स्वयं श्रीश इव श्रिया। सुराणामप्यपूर्वेण पुरमत्युत्सवेन सः॥-त्रिभिर्विशेषकम्।

18. इतो वाक्पतिराजश्च तं दृष्ट्वा राजवैकृतम्। निर्बन्धानृपमापृच्छ्य वैराग्यान्ममथुरां ययौ॥555॥
धर्माख्यावसरेऽन्येद्युः प्रभुर्भूगालमूचिवान्। धर्मतत्त्वानि पार्श्वद्यमानितानि विवृत्य सः॥556॥
नवनीतसमं विश्वधर्माणां करुणानिधिम्। सन्त्याद्यमार्हतं धर्मं परीक्षापूर्वकं श्रय॥557॥
राजा प्राहार्हतो धर्मो निर्वहत्येव मादृशाम्। परीक्षायां परं शैवधर्मे चेतोऽलगद् दृढम्॥558॥
त्वदुक्तो नीरमानेष्वे कुम्भेनामेन रङ्गतः। परं मा माममुं धर्मं त्याजयिष्यसि सौहृदात्॥559॥
न मुञ्चे पैतृकाचारं वक्ष्य किञ्चित्त्व वः पुरः। चेद्रीषं नहि धत्तात्र गुरुरोषाद्विभीः श्रिये॥560॥
ब्रूतेति गुरुणा प्रोक्ते नृपः प्राह स्मितं दधन्। बोधयेयुर्भवन्तेऽपि बालगोपाङ्गनादिकम्॥561॥
कोविदं नैव शास्त्रार्थपरिकर्मितधीसखम्। रम्भाफलं यथा भक्ष्यं न तु निम्बफलं तथा॥562॥
शक्तिश्चेद्भवतामद्य मध्ये मथुरमागतम्। पुराणपुरुषं नित्यं चित्ते ध्यायन्तमद्भुतम्॥563॥
यज्ञोपवीतनीताङ्गं नासाग्रन्यस्तदृष्टिकम्। तुलसीमालया लीढवक्षःस्थलमिलास्थितम्॥564॥
श्रीकृष्णगानसत्तृष्णवैष्णवब्राह्मणावृतम्। पुत्रजीवकमालाभिर्मण्डितोरःस्थलं किल॥565॥
वराहस्वामिदेवस्य प्रासादान्तरवस्थितम्। वैराग्यातिशयात्तत्र कृतप्रायोपवेशनम्॥566॥
प्रतिबोध्य तदा जैनमते स्थपयत द्रुतम्॥ वाक्पतिराजसामन्तं पर्यङ्कासनसंस्थितम्॥567॥-पञ्चभिः कुलकम्।
तैश्चाभ्युपगतेऽशीतिं चतुर्धिरधिकां तदा। सामन्तानां बुधतां च सहस्रं प्रैषयन्पुनः॥568॥
आचार्यैः सह ते प्रापुस्त्वरितं शीघ्रवाहनैः। मथुरां तत्र चाजगुर्वराहस्वामिमन्दिरे॥569॥
पूर्वाख्यातोदितावस्थं परमात्मस्थचेतनम्। ददृशुः सूरयोः भूभृत्पुमांश्च तमादरात्॥570॥
तत्र श्रीबप्पभट्टिश्च त्रयीस्तवनतत्परम्। काव्यवृन्दमुदाजहे तस्य चेतः परीक्षितुम्॥571॥
तथा हि-

रामो नाम बभूव हुं तदबला सीतेति हुं तां पितु-
र्वाचा पञ्चवटीवने विचरतस्तस्याहरद् रावणः।
निद्रार्थं जननीकथामिति हरेर्हुंकारिणः शृण्वतः।
पूर्वस्मर्तुरवन्तु कोपकुटिलभूभंगुरा दृष्टयः॥572॥
दर्पणार्पितमालोक्य मायास्त्रीरूपमात्मनः।
आत्मन्येवानुरक्तो वः श्रियं विशतु केशवः॥573॥
उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकबरीभारमसे वहन्त्याः।
सद्यस्तत्कायकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः।
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु॥574॥
सन्ध्यां यत्प्रणिपत्य लोकपुरतो बद्धाञ्जलिर्वाचते
धत्से यत्त्वपरां विलज्ज शिरसा तच्चापि सोढं मया।
श्रीर्जातामृतमन्थने यदि हरेः कस्माद् विषं भक्षितम्
मा स्त्रीलम्पट! मां स्पृशेत्यभिहितो गौर्या हरः पातु वः॥575॥

यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया।

अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे॥576॥

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती त्वयैव।

अबाह्यसंवित्सुखसिन्धुमग्नं लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चित्तम्॥577॥

स कर्णकटुकं तच्च श्रुत्वा शीर्षं व्यधूनयत्। आकृष्य नासिकां वाचं प्राहाथो दुर्मनायितः॥578॥

अनीषां रसकाव्यानां प्रशंसायाश्च किं सखे॥ अ(इ)यं वेला कथं नाम सौहार्दं तव चेदुशम्॥579॥

इदं च श्रीबप्पभट्टिसदृशं भवतीह किम्॥ पारमार्थिकवाणीभिर्बोधवेला ममाधुना॥580॥

ततः प्राह गुरुः साधु साधु ते चेतनां, स्तुमः। प्रष्टव्यमस्ति किञ्चित् भवत्पार्श्वे सुहृत्तमः॥581॥

देवानां यन्मयाऽऽख्यायि स्वरूपं भवदग्रतः। तत्तथ्यं वितथं वास्ते तथ्यं चेदुर्मनाः कथम्॥582॥

वितर्धं च कथं तत्स्यात् प्रत्यक्षे संदीहीत कः। अत्र कार्ये प्रवृत्तस्ते राज्यादीच्छावरादिह॥583॥

परमार्थोपलभ्ये वा?, विकल्पः प्रथमो यदि। संमतं नस्तदाऽऽराद्धा देवा भूपतयोऽपि च॥ 584॥

इष्टं प्रणयिनां दद्युः सामर्थ्यात् संशयोऽपि न। परमार्थे तु चेदिच्छा तत् त्वं तत्त्वं विचारय॥585॥

संसारोपाधिमग्नैश्चेत् सुरैर्मुक्तिः प्रदीयते। तन्नात्र मत्सरोऽस्माकं स्वयं निखिलवेद्यसि॥586॥

-पंचभिः कुलकम्।

श्रुत्वेति सदुरोर्वाचं पंकापनयवारिभाम्। अवलेपो ययौ तस्य हिक्काऽकस्माद्भयादिवा॥587॥

अहो पुण्यपरीपाको मम यत् सूनृतः सुहृत्। संगतोऽवसरेऽमुत्र तत् तत्त्वोपकृतिं कुरु॥588॥

इत्युक्त्वा विरते दत्तावधाने वाक्यतौ प्रभुः। धर्म-देव-गुरुणां च तत्त्वान्याख्यात् तदग्रतः॥-युग्मम्।

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीव-षट्काय-लेश्याः.

पंचान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्रभेदाः।

इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिर्भरीशैः

प्रत्येति श्रद्धयाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धवृष्टिः॥590॥

अथ देवतत्त्वम्-

अर्हन् सर्वाथवेदी यदुकुलतिलकः केशवः शंकरो वा

बिभ्रदगौरीं शरीरे दधवनवरतं पद्मजन्माऽक्षसूत्रम्।

बुद्धो चालं कपालुः प्रकटितभुवनो भास्करः पावको वा

रागाद्यैर्यो न दासैः कलुषितहृदयस्तं नमस्यामि देवम्॥591॥

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तथा।

वीतदोषकलुषः स चेद् भवानेक एव भगवन्! नमोऽस्तु ते॥592॥

मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन च संभवेन।

पराजितानां प्रसभं सुराणां जृथैव साप्राज्यरुजा परेषाम्॥593॥

प्राह्मुणिहि विभ्रंतडी तितं भणिअडा गणति।

अखवनिर्जणि परमपइ अज्जवि तड न लहति॥594॥

अथ गुरुतत्त्वम्-

पंचमहव्ययजुत पंचपरमिदिठहिं भन्तउ।

पंचिदियनिग्गहणु पंचविसय जु विरत्तउ॥

पंचसमिइ निव्वहणु यगुणभुणु आगमसत्थिण॥

कुविहि कुगह परिहरइ भविय बोहिय परमत्थिण॥

बालीसदोससुद्धासणिण छव्विह जीवह अभयकरु।
निम्मच्छरु केसरि कहइ फुड तिगुत्तिगुत्तु सोमज्झ गुरु॥595॥
कुक्खी संबल चत्तथण निच्चुवलंबिय हत्थ।
एहा कहवि गवेसि गुरु ते तारणह समत्थ॥596॥
दोवि गिहत्था धडहड वच्चइं को किर कस्स च पत्तु भणिज्झइ।
सारंभो सारंभं पुज्जइ कहमु कहमेण किम सुज्झइ॥597॥

इत्यादिसद्गुरोर्वक्यैः प्रीणितो हृदयंगमैः। ध्यानं प्रपार्य पप्रच्छ किञ्चित् सन्दिग्धि मे मनः॥598॥
अनन्ताः प्राणिनो मुक्तिं यदि प्राप्ता नृलोकतः। रक्तो भवेत् स पूर्णत्वान्मुक्तौ स्थानं च नास्ति तत्॥599॥
गुरुराह महासत्त्वाज्ञातजैनगिरामयम्॥ आलापं(पः) शृणु दृष्टान्तमत्र श्राव्यं विपश्चिताम्॥600॥
तथा हि-

आसंसारं सरियासएहि हीरंतरेणुनिवहेहिं

पुहवी न निट्ठिय च्चिया उदही वि थली न संजाओ॥601॥

उल्लसत्पुलकाङ्कुरो दूरीकृतकुवासनः। प्राह वाक्पतिराजोऽथ राजा यो ब्रह्मवेदिनाम्॥602॥
इयन्तं समयं यावद् भ्रान्ताः स्मो मोहलीलया। परमार्थपरामर्शिधर्मतत्त्वबहिष्कृताः॥603॥
चिरं परिचयः पूज्यैस्त्वादृशैरपि मेऽफलः। एतावन्ति दिनान्यासीद् धर्माख्यानविनाकृतः॥604॥
उक्तं च तेन-

मयनाहिकलुसिएणं इमिणा किं किर फलं निडालेण।

इच्छामि अहं जिणवरपणामकिणकलुसियं काउं॥605॥

मुमुक्षोर्मम यत्प्राय औचित्यं न विलम्बयेत्। तदादिश यथादिष्टं विदधे कर्मनाशकम्॥606॥
श्रीबप्पभट्टिराहाथ शङ्का चेत् कर्मणां तव। मनःशुद्धिस्ततः कार्या व्यवहारोऽपि तादृशः॥607॥
ततः संन्यस्त एवं त्वं जैनमार्गं समाश्रय। श्रुत्वेति तैः सहैवासावुदस्थाद् भवनात् ततः॥608॥
आजगामाथ पार्श्वस्य स्तूपे श्रीपार्श्वमन्दिरे। मिथ्यादर्शनवेषं च विमुञ्चत् स्वीकृतं पुरा॥609॥
जैनर्विवेषमास्थाय संयमाचारशिक्षकः। संसारचरमप्रत्याख्यानी ध्यानैकतानभूत्॥610॥
अष्टादश तदा पापस्थानान्युत्सृज्य सर्वतः। चतुःशरणमादध्यौ निर्दूतान्तरकल्मषः॥611॥-युग्मम्।
प्रशंसागर्हणे प्राच्यसुकृतासुकृते व्यधात्। परमेष्ठिपदाधीनमानसो मानशोषभूः॥612॥
दिनान्यष्टादश प्रायमुपायं दुष्कृतादर्दने। एकावतारान्तरितो महानन्दपदस्तदा॥613॥
सम्यगाराधनोपात्तपाण्डित्यमृतिरीतितः। देहमुक्त्यां गतः साम्यं प्राप प्राचीनबर्हिषा॥614॥-युग्मम्।
ततः किञ्चित्सखिस्नेहगद्गदः शमिनायकः। उवाच विश्वसामन्तविद्वद्वृन्दस्य शृण्वतः॥615॥
तथा हि-

पई सग्गए सामंतराय अवरसउ न फिट्ठिइइ।

पढमं चिय वरिय पुरंवराइ सग्गस्स लच्छीए॥616॥

तत्र गोकुलवासेऽस्ति पुरा नन्दनिवेशिते। श्रीशान्तिः शान्तिदेवी च हेतुर्विश्वस्य शान्तिके॥617॥
तत्र श्रीबप्पभट्टिः श्रीतीर्थेश्वरनमस्कृतौ। गत्वा च तुष्टुवे शान्तिदेवतासहितं जितम्॥618॥
'जयति जगद्रक्षाकर' इत्याद्यं शान्तिदेवतास्तवनम्। अद्यापि वर्तते तच्छान्तिकरं सर्वभयहरणम्॥619॥
ततः सामाजिकस्तोमस्तुतो व्यावृत्य संययौ। कन्यकुब्जपुरं बप्पभट्टिः कतिपयैर्दिनैः॥620॥
पुरापि ज्ञातवृत्तान्तो नृपतिर्गुरुपूरुषैः। संमुखीनः पुरोपान्तं गत्वा प्रावेशयद् द्रुतम्॥621॥
गुरुं सपोपविष्टं च प्राह भूपश्चमत्कृतः। अहो वो वाच-सामर्थ्यं सोऽपि यत् प्रतिबोधितः॥622॥

प्रभु प्राहाथ का शक्तिर्मय यत् त्वं न बुध्यसे। राजाह सम्यग् बुद्धोऽस्मि त्वद्धर्मोऽस्तीति निश्चितम् ॥623॥
 माहेश्वरं पुनर्द्धर्मं मुञ्चतो मे महाव्यथा। तत्प्राच्यभवसंबद्ध इवायं किं करोम्यतः ॥624॥
 श्रुतज्ञाननिमित्तेन ज्ञात्वा प्रभुरुवाच च। तव प्राक्कृतकष्टस्य राज्यमल्पतरं फलम् ॥625॥
 सविस्मयैस्तदा पर्वतप्रधानैरौच्यत प्रभुः। प्रसह्य कथ्यतां राज्ञः प्राग्भवोऽस्मत्प्रबुद्धये ॥626॥
 प्रभुराह ततः सम्यग् विमृश्येति यथातथम्। प्रश्नचूडामणैः शास्त्रादस्ताधज्ञानशेवधिः ॥627॥
 शृणु भूमिपते! कालिंजराख्यस्य गिरेरधः। शालिशालदुमोर्ध्वस्थशाखाबद्धपदद्वयः ॥628॥
 अधोमुखो जटाकोटिसंस्पृष्टपृथिवीतलः। द्वयह्ने द्वयह्ने मिताहारो हारी क्रोधादिविद्विषाम् ॥629॥
 इति वर्षशतं साग्रं तपस्तप्त्वातिदुष्करम्। आयुःप्रान्ते तनुं त्यक्त्वाऽभवस्त्वं भूपनायकः ॥630॥
 यदि न प्रत्ययो राजन्! प्रेष्य प्रवरान् नरान्। जटा अद्यापि तत्रस्था आनायय तरोस्तलात् ॥631॥
 इत्याचार्यकथास्मेरो नृपतिः प्रेष्य मानुषान्। जटा आनाययत्, तत्र गत्वाऽऽनीताश्च तास्ततः ॥632॥
 मुनीन्द्रोऽयं महाज्ञानी कलावपि कलानिधिः। भूपालः कृतपुण्योऽसौ यस्येदुर्गुरुरदभुतः ॥633॥
 पार्श्वे धूतमूर्द्धानस्तादृत्तोत्लाससशिनः। पर्युपास्तिं दधुः सूरिपादान्तभ्रान्तमौलयः ॥634॥

19. अन्यदा सौधमूर्द्धस्थो नृपः कुत्रापि वेश्मनि। कलहान्तरितां रामां भिक्षायै गृहमागतम् ॥635॥
 जैनभिक्षुं परब्रह्मध्यानैकाग्रहसंग्रहम्। वृषस्यन्तीमवज्ञातां तेन निर्गच्छता गृहात् ॥636॥
 बाढं कपाटमारिलिधय प्रहारंऽह्नेः समुद्यते। नृपुंरं यतिपादाब्जप्रविष्टं कौतुकादिव ॥637॥
 पश्यन्तीमथ सोत्प्रासां निर्लज्जां कामदामनीम्। गणयत्येष नेत्येवं वदन्तीं च तदैक्षता ॥638॥
 -चतुर्भिः कलापकम्।

प्राकृतस्याथ वृत्तस्य पादमेकमुवाच सः । गुरोरे ततोऽवादीत् सागेव हि पदत्रयम् ॥639॥

तच्च-

कवाडमासज्ज वरंगणाए अब्भत्थिओ जुब्बणमत्तियाए।

अमन्निए मुक्कपयप्पहारे सेनेउरो पव्वइयस्स पाओ ॥640॥

युवा भिक्षाचरोऽन्येद्युः प्रेषितप्रेयसीगृहे। दृष्टः प्रविष्टो भिक्षायै राज्ञा सौधाग्रचरिणा ॥641॥

आनीयात्रभृतां दर्वीमूर्द्ध्वाऽस्थात् सा तदास्यदृक्। सोऽपि तत्राभिसौन्दर्यासक्तनेत्रतथा स्थितः ॥642॥

एकचित्ततया दानग्रहणास्मरणात् तदा। नृपस्तयोरेकदृशोर्ध्वानि पश्यन् जगौ स्मितः ॥643॥

तद्यथा-

भिक्षवरो पिच्छइ नाहिमंडलं सा वि तस्स मुहकमलं।

श्रीबप्पभट्टिराकर्ण्य नृपाग्रे वाक्यमब्रवीत्। किं गण्यानीदृशान्यस्य पयोधेरिव बुद्बुदाः ॥644॥

वुण्हं पि कवालं चट्ठयं च काया विलुपंति ॥645॥

श्रुत्वेति भूपतिस्तुष्टः प्राह कल्याणधीनिधिम्। विना मन्मित्रमेते कः पूरयेन्मन्मथेक्षितम् ॥646॥

इत्येवं सत्यसौहार्दमार्दवाईनभसीतिभूः। गुरुवक्त्राम्बुजे नित्यं भृशं भृङ्गीतुलां व्यधात् ॥647॥

20. एकदा समगादेकच्छेको विश्वकलाश्रयः। चित्रकृच्चित्रकृच्चित्रकर्मकर्मणि कर्मठः ॥648॥

पूर्वमालिखितं सम्यक् ततः कर्पटवारितम्। रेखितं रङ्गिणौघपूर्णक्षणमथ स्फुटम् ॥649॥

अलक्ष्यमपि मा चित्रभङ्गे जीववधो ध्रुवः। इति सत्यापयन् वाचं सजीवकलया स्वया(?) ॥650॥

स त्रयोदशभिर्भागैर्भूपरूपं विधाय तत्। चित्रचूडामणिं राज्ञो दर्शयन् विकटे पटे ॥-त्रिभिर्विशेषकम्।

राजा सुहृद्गुणग्रामरामणीयकलम्पटः। अनास्थया समीक्ष्यास्य ददौ नोत्तरमप्यसौ॥652॥
 एवं त्रिविहिते रूपे यदा नोत्तरमाप सः। अलोचत् प्रेक्षकानन्यान् निर्वेदादतिदीनगीः॥653॥
 छिनन्नि स्वौ करौ किं वा ललाटं स्कोटये निजम्। कला यातु क्षयं भाग्यहीनस्य मम किं ब्रुवे॥654॥
 बप्पभट्टिं समीक्षस्वेत्युक्तः कैश्चिद्दयालुभिः। ततोऽसौ मुखे जैनं बिम्बं कृत्वा करे ददौ॥655॥
 प्राशसि च ततोऽसौ तैरेष चित्रकलानिधिः। भूपालाग्रेऽथ सोऽप्यस्य टंकलक्षं ददौ मुदा॥656॥
 श्रीवर्द्धमानबिम्बेन भास्वत्पटचतुष्टयम्। व्यथापयदधाच्चैकं कन्यकुब्जपुरान्तरा॥657॥
 मथुरायां तथैकं चाणहित्स्लपुर एककम्। सतारकपुरे चैकं प्रतिष्ठाप्य न्यथापयत्॥658॥
 श्रीपत्तनान्तरा मोढचैत्यान्तर्त्तच्छभङ्गतः। पूर्वमासीत् तमैक्षन्त तदानीं तत्र धार्मिकाः॥659॥
 द्वापंचाशत् प्रबन्धाश्च कृतास्ता सा ग णा दयः। श्रीबप्पभट्टिना शैक्षकविसारस्वतोपमाः॥660॥

21. अथ राजगिरिं दुर्गमन्यदा रुरुधे नृपः। समुद्रसेनभूपालाधिष्ठितं निष्ठितद्विषत् ॥661॥
 गजाश्वरथपादातपादपातादिसादितैः। शब्दाद्वैतमिव ज्योम्नि प्रतितिष्ठितं समुन्नतम्॥662॥
 समग्रप्राग्रासामग्रीजाग्रद्व्यग्रपरिग्रहम्। अपि प्रपंचलक्षाभिर्दुर्ग्रहं विग्रहिद्विषाम्॥663॥
 भैरवादिमहायन्त्रयष्टिमुक्ताशमगोलकैः। बाह्यकुट्टिमकुट्टाकैः कुट्टिताट्टघटातटम्॥664॥
 अम्रल्लिहदृषदभित्तिशिरस्थकपिशिर्षकैः। सट्टिबैः क्लेशसंचार रवेस्तारापतेरपि॥665॥
 सुरंगाशूकरीमुख्यप्रपंचैरपि विद्विषाम्। पतत्युष्णतैलोष्णप्लुष्टैर्विफलविक्रमम्॥666॥-षड्भिः कुलकम्।
 पप्रच्छ बप्पभट्टिं च निर्वेदावामभूपतिः। कथं कदा वा ग्राह्योऽयं प्राकारः क्षमाधरोपमः॥667॥
 प्रश्नचूडामणेः शास्त्रात् सुविचार्याद्ब्रवीदिति। पौत्रस्ते भोजनामाऽमुं ग्रहीष्यति न संशयः॥668॥
 अभिमानादसोढेदं राजा तत्रैव तस्थिवान्। वयैर्द्वादशाभिर्दुन्तुकस्य सूतोः सुतोऽजनि॥669॥
 स च पर्यंकिकान्यस्तः प्रधानैर्जातिमात्रकः। आनित्ये तस्य दम्भोलिरिव शैलच्छिदाविधौ॥670॥
 तद्वष्टिर्दुर्गशृङ्गाग्रे मुखं बालस्य तन्मुखम्। विधायापात्यतापित्ततैलज्वालाविलासिरुक्॥671॥
 स कोट्टः कुट्टिताधस्थरणमण्डपमण्डलः। स्फुटदृष्टालकस्तोमप्रधस्यद्रोपुरादपि॥672॥
 मृद्यमानमनुष्यस्त्रीगजाश्वमहिर्षगवाम्। आर्त्ताक्रन्दरवैः शब्दाद्वैतं सर्वत्र पोषयन्॥673॥
 निर्धातक्षुण्णसामान्यपर्वतो महतामपि। गिरीणां प्रददद्भीतिं न्यपतन्नाकिलोकिनः॥674॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
 समुद्रसेनभूपोऽपि धर्मद्वाराद् ययौ बहिः। आमनामाथ भूपालः श्रीराजगिरिमाविशत्॥675॥
 अधिष्ठाता तु दुर्गस्य यक्षोऽङ्गीकृतवैरतः। आमगधिष्ठायिकैः कृष्ट प्रतोलीस्थो हि तज्जनम्॥676॥
 इति लोकात् परिज्ञाय राजा तत्रागमत् तदा। तमाह प्राकृतं लोकं मुक्त्वा मामेव चातय॥677॥
 इति साहसवाचा स तुष्टो हिंसाग्रहात् ततः। न्यवर्त्तत प्रशान्तात्मा सत्संग उपकारकः॥678॥
 मैत्रौ च प्रतिपेदे स यथादिष्टकरः प्रभोः। कियन्मे जीवितं मित्रं ज्ञानादृष्ट्वा निवेदय॥679॥
 षण्मास्यामवशेषायां कथयिष्यामि तत्र च। इति जल्पन् तिरोधत्तावसरे च तदब्रवीत्॥680॥
 गंगान्तर्मागधे तीर्थे नावाऽवतरतः सतः। मकाराद्यक्षरग्रामोपकण्ठे मृत्युरस्ति ते॥681॥
 निर्यद्धूमं जलाद्वृष्ट्वाभिज्ञानं भवता दृढम्। विज्ञेयमुचितं यत्ते तत्प्रेत्यार्थं समाचरा॥682॥

22. तीर्थयात्रामसौ मित्रोपदेशादुपचक्रमे। अलसः को हिते स्वस्य नेच्छेत् सद्वृत्तिमात्मनः॥683॥
 प्रयाणैः प्रवणैः पुण्डरीकाद्रिं प्राप भूपतिः। युगादिनाथमभ्यर्च्य कृतार्थं स्वममन्यत॥684॥
 ययौरेवतकाद्रिं च श्रीनेमिं हृदि धारयन्। उपत्यकाभुवं प्राप प्राप्तरेखः सुधीषु यः॥685॥
 तीर्थं प्रणन्तुमानेकानेकादश नरेश्वरान्। अपश्यन्नरयदातङ्को हयायुतपरिच्छदान्॥686॥

तथैकादशभिः फल्गुवाङ्गम्बरदिगम्बरैः। राक्षसैरिव शाखोटान् कलिनिष्ठैरधिष्ठितान्॥687॥-युग्मम्।
स्वीकुर्वाणान्महातीर्थं शैलारोहनिषेविनः। असंख्यसैन्यसंख्यायतनाह्वयदिलापतिः॥688॥
तान् दृष्ट्वा **बप्पभट्टिः** श्रीसुहृद्भूपालमब्रवीत्। धर्मकर्मोद्यमे युद्धात् प्राणिनः को जिघांसति॥689॥
वागाहवेन जेष्यामि विद्वत्प्राशानिमान् नृप॥ नखच्छेद्येऽब्जनीखण्डे कुठारं कः प्रयोजयेत्॥690॥
ते जिता वादमुद्रायाममुद्रायामन्तरा। दीपस्य शलभप्लोषे स्तुतिः संस्तूयते हि का॥691॥
ततोऽपि तानभ्यमित्रानवादीद् विशदाम्बरः। निर्जयादपि चेद् यूयं शमिनो न व्रतादपि॥692॥
असंख्यव्यन्तरार्धशचुम्बिताह्नित्वावलिः। अम्बा श्रीनेमिपादाब्जकादम्बा शासनामरी॥693॥
आत्मनोरुभयोः कन्यायुग्मं व्यत्ययतः स्थितम्। देवी तदन्तरा येषामेतां संजल्पयिष्यति ॥694॥
तीर्थं तदीयमेवास्तु यस्याम्बा क्रमतोऽमुतः। समर्पयति तत्किं नु वादैरादीनवास्पदैः॥695॥-विशेषकम्।
उभयाभिमतो जज्ञे व्यवहारोऽयमेतयोः। पक्षयोरक्षयोदप्रभावाम्बालये ततः॥696॥
ततः कुमारिकां तेषां **बप्पभट्टिः** रिहारपयत्। द्वादशप्रहरान् यावत्तैर्मत्रैः साधिवासिता॥697॥
एडमूकेव नाह स्म कथंचिदथ तेऽवदन्। शक्तिश्चेद् यूयमप्यत्र कन्यां जल्पयताद्य नः॥698॥
तन्मूर्ध्नि **बप्पभट्टिश्च** करं कमलकोमलम्। ददावम्बा च तद्वक्त्रे स्थिता स्पष्टमुवाच च॥ 699॥

उज्जितसेलसिहरे दिक्खा-नाणं निसीहिया जस्स।

तं धम्मचक्कवट्ठिं अरिडुनेमिं नमसांमि॥700॥

ततो जयजयध्वानमिश्रो दुन्दुभिरध्वनत्। रोदःकुक्षिंभरिः श्वेताम्बरपञ्चोत्रतिप्रदः॥701॥
ततः प्रभृति गाथेयं चैत्यवन्दनमथ्यतः। सिद्धस्तवनकृदाथात्रितयादूर्ध्वमादृता॥702॥
शक्रस्तववदाबालाङ्गनापाठयाऽत्र मानिता। अष्टापदस्तुतिश्चापि श्रुतवृद्धैः पुरातनैः॥703॥
ततो **रैवतकारोहात्** समुद्रविजयाङ्गजम्। आनर्च्चासौ महाभक्त्या मानयन् जन्मनः फलम्॥704॥
वामोदरहरिं तत्राभ्यर्च्यगात् पिंडतारके। तथा **माधवदेवे** च शंखोद्गारे च तं स्थितम्॥705॥
द्वारकायां ततः श्रीमान् कृष्णमूर्तिं प्रणम्य च। तत्र दानादि दत्त्वा श्रीसोमेश्वरपुरं ययौ॥706॥
ततः श्रीसोमनाथस्य हेमपूजापुरस्सरम्। तल्लोकं प्रीणयामास वासवो जीवनैरिव॥707॥
पुनः स्वं नगरं प्राप श्रीमानाममहीपतिः। यादृच्छिकं ददौ दानं धर्मस्थानानि च व्यधात्॥708॥

23. प्राप्ते काले सुतं राज्ये दुन्दुकं स न्यवेशयत्। प्रकृतीः क्षमयामास पूर्वमानन्दिता अपि ॥709॥
प्रयाणं दत्तवान् गंगासरित्तीरस्थमागधम्। तीर्थं जिगमिषुर्नावमारूढश्च तदन्तरा॥710॥
सूरिणा सह तन्मध्ये दृष्टवान् धूमनिर्गमम्। उपगमं जनाज्जज्ञे भगटोडानिवेशनम्॥711॥
प्रतीते व्यन्तराख्याते सूरिराहामभूपतिम्। जैनधर्मं प्रपद्यस्व प्रान्तेऽपि प्रत्ययोऽस्ति चेत्॥712॥
राजाह प्रतिपन्नोऽस्मि सर्वज्ञः शरणं मम। देवो गुरुर्ब्रह्मचारी धर्मक्षेत्रे कृपयोदितः ॥713॥
देवो गुरुश्च धर्मक्षेत्रे व्यावहारिकः। इयद्दिनानि सोऽस्थाजि मया त्रिविधशुद्धितः॥714॥
मम सौहार्दतः पून्यपादानामपि सांप्रतम्। विधिवद्विग्रहत्याग इह वो नोचिता स्थितिः॥715॥
परत्रापि यथा लोके समस्यापूर्णादिभिः। कालोऽतिवाह्यते सौख्यान्मिलितैरेव निश्चितम्॥716॥
श्रुत्वेत्याह प्रभुर्मुग्धवागियं स्वस्वकर्मभिः। कस्कः कां कां गतिं गन्ता बुद्ध्यते को जिनं विना॥717॥
युक्तमेतद् व्रतस्थानां नात्मप्राणापरोपणम्। तथातः पञ्चवर्षाणि ममाद्याप्यायुरस्ति च ॥718॥

विक्रमतो वर्षाणां शताष्टके सनवतौ च भाद्रपदे।

शुक्ले सितपञ्चम्यां चन्द्रे चित्राख्यःशुक्लस्ये॥719॥

तुलाराशौ तथा चन्द्रस्थितेऽर्के प्रहरेऽन्तिमे। श्राव्यमाणो भृशं पञ्चपरमेष्ठिनमस्क्रियाम्॥720॥

दृढं जिनेशसन्मित्रगुरुपादस्मृतिस्थितिः। श्रीमान् नागावल्लोकाख्यो राजा प्राप दिवं तदा॥721॥-विशेषकम्।
अथ किञ्चित्सुहृन्मोहात् तत्र स्थित्वैर्द्धवदेहिकम्। कारयामास पार्श्वस्थः प्रधानैस्तत्सनाभिभिः॥722॥
किञ्चिच्छोकोर्मिसन्तप्त उवाच करुणं तथा। सोद्वेगं च तदीयानां गुणानां संस्मरन् भृशम्॥723॥

मा भूत् संवत्सरोऽसौ वसुशतनवतेर्भा च ऋक्षेषु चित्रा
धिग्मासं तं नभस्य क्षयमपि स खलः शुक्लपक्षोऽपि यातु।
संक्रान्तिर्या च सिंहे विशातु हुतभुजं पञ्चमी या तु शुक्ले
गंगातोयाग्निमध्ये त्रिविधमुपगतो यत्र नागावल्लोकः॥724॥

24. अथ श्रीबप्पभट्टिश्च कन्यकुब्जे मुनीश्वरः। प्राप दुन्दुकभूपालाधिष्ठितं तन्निरुद्धम्॥725॥
सक्तं कण्टशख्यवेश्यायां भूपो भोजं निजं सुतम्। भाग्योदयकलाकैलिविलासमपि पापभूः॥726॥
अभिद्रुहति मूढस्तद्वाग्भिर्विगतचेतनः। अविवेकधराधुर्यं धिग् वेश्याजनसंगमम्॥727॥-युग्मम्॥
तन्माता निजबन्धूनां ज्ञापयामास दुःखिता। संकटे हि कुलस्त्रीणां शरणं शरणं पितुः॥728॥
समागत्याह्वयंस्तो च पुत्रजन्मोत्सवच्छलात्। आपृच्छायै पुनर्भोजः संवचार नृपालये॥729॥
ज्ञापितो गुरुभिः सौधद्वारे विज्ञाय शस्त्रिणः। निवृत्तो मातुलैः साकं प्रययौ पाटलीपुरम्॥730॥
आचार्यमन्यदा राजा दुन्दुकः प्राहमत्सरी। मयिप्रसादमाधायानीयतां नन्दनोत्तमः॥731॥
ततः स ध्यानयोगादिप्रारम्भैरुत्तरोत्तरैः। बाहयामास वर्षाणि पञ्च पञ्चत्ववासरम्॥732॥
ततोऽन्तसमये प्राप्ते राज्ञो दृढतरं गुरुः। उपरोध्य सुताह्वानहेतवे प्रैष्यतादरात्॥733॥
ययौ तन्नगराध्यासे विममर्शं च चेतसि। चेद् भोजो नीयते यस्मात् तत्रपेण स हन्यते॥734॥
नोचेत् कण्टिकया बाढं मुखोऽसाविति संहितः। शिष्याणां विद्रवैः कर्ता शासनस्याप्रभावनाम्॥735॥
सांप्रतं सांप्रतं मृत्युस्तस्मात् प्रायोपवेशनात्। तच्च कृत्वातिगीतार्थकारिताराधनादृतः॥736॥
स्वयमध्यात्मयोगेन दिनानामेकविंशतिः। अतिवाह्य क्षुधा-तृष्णा-निद्रादिद्वेषिविग्रही॥737॥
आत्मानं दशमद्वारान्निर्वासयद्युतः। ईशाने नाकितां प्राप बप्पभट्टिमुनीश्वरः॥738॥-विशेषकम्।

विक्रमतः शून्यद्वयवसुवर्षे (800) भाद्रपदवृत्तीयायाम्।

रविवारे हस्तर्क्षे जन्माभूत् बप्पभट्टिगुरोः॥739॥

षड्वर्षस्य व्रतं चैकावशे वर्षे च सूरिता।

पञ्चाधिकनवत्या च प्रभोरायुः समर्थितम्॥740॥

शर-नव-सिद्धिवर्षे (895) नभःशुद्धाष्टमीविने।

स्वातिभेऽजनि पञ्चत्वभामराजगुरोरिह॥741॥

इत्याकर्ण्यमराजस्य पौत्रोऽतिस्फारशोकभूः। भोजः संकुचिताम्भोजवदनं विललाप च॥742॥
विवेकौधोऽविवेकेन जितः सारस्वतं हतम्। अनुत्संकस्तिरोधत् ज्ञाने दत्तो जलाञ्जलिः॥743॥
इति क्षणं विमृश्यासावादिदेश चिताकृते। प्रेष्ठानदूष्यचारित्रे गुरुभक्तिपवित्रितः॥744॥
पितामहवियोगोऽपि वर्द्धितस्तस्य मित्रतः। अनाथ इव लोकेऽत्र तत्रापि त्रिदिवं गते॥745॥
ततः क्षणमपि स्थातुं न शक्तः पृथिवीतले। पितृवत्सुहृत्पूरेरनुव्रज्याऽधुनोचिता॥746॥
मातृपक्षप्रधानानां बोधं चावगणय्य सः। गुरुमृत्युभुवं प्राप गन्ता लीलावने यथा॥747॥
भुजदण्डे जनन्या च धृत्वाऽथाजल्पितक्षणात्। निर्वीरात्वनिषेधाय राज्यस्य कृपयापि च॥748॥
स्वसुरद्वयसंहारे जाते ते विद्विषन् पिता। जितमन्यो महापापी त्वत्प्रजाः पीडयिष्यति॥749॥
हृदयालुः कृपालुश्च तत् त्वं प्रार्थनया मम। कर्मतो विस्मामुष्मात् हृदानन्दन नन्दन॥750॥

इति मातुरलंघ्यत्वात् श्रीभोजः साश्रुलोचनः । उत्तरीयं निचिक्षेप चितायां गुरुपृष्ठतः॥751॥
अस्तोकशोकसम्भारधारणक्लान्तदेहरुक् ! ऊ(औ?) दूवदेहिकमाधत्त कृत्यं पैतामहं प्रभोः॥752॥

25. अन्यदा मातुलैः साकमाकस्मिकदबोपमः । तातं शमयितुं प्रायात् कन्यकुब्जमचिन्तितः॥753॥
प्रविष्टो गोपुरेणाथ द्राग् राजद्वारसन्निधौ । मालाकारं ददर्शाथ बीजपूरत्रयान्वितम्॥754॥
तेन ढौकनकं स्वामिपुत्रस्यास्य कृतं तदा । तं गृहीत्वा ययावन्तः सौधं रोधं विशन् विशम्॥755॥
सह कण्टिकया तत्रोपविष्टं प्रवरासने । जघान हृदये घातैस्त्रिभिस्तैर्बीजपूरकैः॥756॥
महाप्राणकृताघातादुभौ प्राणैर्वि(व्य) युज्यताम् । प्राग्ध्यातपुत्रहत्याहोभीतैरिव विनिर्गतैः॥757॥
अपहाराद् बहिः कृष्ट्वा क्रोष्टारमिव वेश्मनः । दुन्दुकं कन्दुकस्थित्या क्रीडया प्रेरितं नरैः॥758॥
निस्वानस्वानपूर्वं सोऽविशत् कंठीरवासने । प्रणतः सर्वसामन्तैः सपौरैर्मन्त्रिभिस्तथा॥759॥
श्रीमदामविहाराख्यतीर्थं नन्तु ययौ नृपः । तत्र शिष्यद्वयं दृष्टं बप्पभट्टैर्महामुनेः॥760॥
विद्याव्याक्षेपतस्ताभ्यां न चक्रौ भूमिपोचितम् । अभ्युत्थानादिसन्मानं श्रीभोजोऽथ व्यचिन्तयत्॥761॥
अज्ञातव्यवहारौ हि शिष्यावेतौ प्रभोः पदे । न युज्येते यतो विश्वे व्यवहारो महत्त्वभूः॥762॥
श्रीनम्रसूरिराचार्यः श्रीमान् गोविन्द इत्यपि । आहूय पूजितौ राज्ञा पट्टे च स्थापितौ प्रभोः॥763॥
मोढेरे प्रहितो नम्रसूरिः सूरिगुणोन्नतः । पार्श्वं गोविन्दसूरिश्चावस्थाप्यत नृपेण तु॥764॥
भोजराजस्ततोऽनेकराज्यराष्ट्रग्राह्यः । आमादभ्यधिको जज्ञे जैनप्रवचनोन्नतौ॥765॥

बप्पभट्टिर्भद्रकीर्तिर्वादि कुब्जरकेसरी ।

ब्रह्मचारीगजवरो राजपूजित इत्यपि॥766॥

विख्यातो बिरुदैर्जैनशासनक्षीरसागरे । कौस्तुभः कृतसंस्थानः पुरुषोत्तमवक्षसि॥767॥
जयताज्जगतीपीठे धर्मकल्पद्रुमाङ्कुरः । इदानीमपि यज्ञाममन्त्रो जाड्यविषापहः॥768॥-त्रिभिर्विशेषकम्।

इत्थं श्रीबप्पभट्टिप्रभुचरितमिव विश्रुतं विश्वलोके

प्राग्बिद्वत्ख्यातशास्त्रावधिगतमिह यत् किञ्चिदुक्तं तदल्पम्।

पूज्यैः क्षन्तव्यमत्रानुचितमभिहितं यत्तथा तत्प्रसादात्

एतत्सर्वाभिगम्यं भवतु जिनमतस्थैर्यपात्रं ध्रुवं च॥769॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीबप्पभट्टेः कथा

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्वुना विशदितः शृङ्गः किलैकावशः॥770॥

दुष्कर्मजैश्चः पुरुषोत्तमाङ्गाज्जन्माविशुद्धाक्षरहेतुमूर्तिः।

गिरीशतुङ्गाध्वपुरःस्थितश्रीः प्रद्युम्नदेहः शिवतातिरस्तु॥771॥

श्रीकन्यकुब्जक्षितिप्रबोधकर्तुस्तथा पूर्वगतश्रुतेन।

विश्वे समस्यानवपाठबन्धैः श्रीभद्रकीर्तेर्निरिर्निर्ती कीर्तिः॥772॥

॥ इति श्रीबप्पभट्टिसूरिप्रबन्धः॥



श्रीमानतुङ्गसूरिचरितम्

1. प्रभोः श्रीमानतुङ्गस्य देशनायां रदत्विषः। जयन्ति ज्ञानपाथोधिशारदेन्दुसहोदराः॥1॥
 नित्यं योजनलक्षेण वर्णनीयः सुवर्णरुक्। मानतुङ्गः प्रभुः पातु मेरुः सौमनसाश्रितः॥2॥
 अस्यैवाबाह्यमैतिह्यमप्रणाय्यं जगत्पि। निकाय्यं तीर्थं शृङ्गारप्रकर्षस्य प्रकीर्तये॥3॥
 सदा सुरसरिद्वीचीनिचयाचान्तकश्मला। पुरी वाराणसीत्यस्ति साक्षादिव दिवःपुरी॥4॥
 आसीत् कोविदकोटीरमर्थिदारिद्र्यपारभूः। तत्र श्रीहर्षदेवाख्यो राजा नतु कलङ्कभृत्॥5॥
 ब्रह्मक्षत्रियजातीयो धनदेवाभिधः सुधीः। श्रेष्ठी तत्राभवद् विश्वप्रजाभूपार्थसाधकः॥6॥
 तत्सुतो मानतुङ्गाख्यो विश्वातः सत्त्वसत्यभूः। अवज्ञातपरद्रव्यवनितावितथाग्रहः॥7॥
 सन्तीह मुनयो जैना नग्ना भग्नस्मराधयः। तच्चैत्ये जग्मिवानन्यदिवसे विवशेतरः॥8॥
 वीतरागप्रभुं नत्वा गत्वा गुरुपदान्तिकम्। प्राणमर्द्धम्वृद्ध्याशीर्वादेन गुरुणार्हितः॥9॥
 महाव्रतानि पंचास्योपादिशन्नग्नतां तथा। ऊर्णकार्पासकौशेयशौम्बावृत्तिनिषेधतः॥10॥
 इत्याद्यनेकधा धर्ममार्गाकर्णनतस्तदा। वैराग्यरङ्गिणो मानतुङ्गस्य व्रतकार्षिणः॥11॥
 तन्मातापितरौ पृष्ट्वाऽऽचार्यस्तस्य व्रतं ददौ। चारुकीर्तिर्महाकीर्तिरित्यस्याख्यां ददौ च सः॥12॥
 स्त्रीणां न निर्वृतिर्मान्या भुक्तिः केवलिनोऽपि हि। द्वात्रिंशदन्तरायाणि बुबुधे च बुधेश्वरः॥13॥
 कृतलोचस्ततो हस्तस्थिततोयकमण्डलुः। सन्त्यक्तसर्वावरण ईर्यासमितिसंयुतः॥14॥
 गृहस्थावसथोर्द्धवस्थवस्थानकृतभोजनः। मायूरपिच्छिकाहस्तो मौनकालेषु मौनवान्॥15॥
 सदा निःप्रतिकर्मासौ प्रतिक्रमणयोर्द्वयोः। दक्षो गुरुकनीयस्त्वे दुष्करं कुरुते व्रतम्॥16॥-विशेषकम्॥

2. अस्य स्वसृपतिर्लक्ष्मीधरो लक्ष्मीवरस्थितिः। आस्तिकानां शिरोलमत्रासीद् विस्फुरद्यशाः॥17॥
 दृढभक्त्या स चर्यार्थमन्यदोपनिमन्त्रितः। महर्षिस्तेन काले च मध्ये तद्गृहमागमत्॥18॥
 अशोधनप्रमादेनानुसन्धानज्जलस्य च। नैके संमूर्छितास्तत्र पूतरास्तत्कमण्डलौ॥19॥
 गण्डूषार्थमृषिर्यावच्चुल्लुके जलमाददे। ददर्श तान् स्वसा प्राह लीना श्वेताम्बरव्रते॥20॥
 व्रते कृपाभरः सारस्तदमी द्वीन्द्रियास्त्रसाः। विपद्यन्ते प्रमादाद् वस्तज्जैनसदृशं नहि॥21॥
 लज्जावरणमात्रेऽत्र वस्त्रखण्डे परिग्रहः। ताम्रपात्रे कथं न स्याद् यादृच्छिकमिदं किमु॥22॥
 धन्याः श्वेताम्बरा जैनाः प्राणिरक्षार्थमुद्यताः। न सन्निदधते नीरमपि रात्रौ क्रियोद्यताः॥23॥
 अचेलश्च सचेलश्च नावधारणदुर्नयम्। आद्रियन्ते स्म निःसङ्गाः परमार्थकृतादराः॥24॥
 पञ्चाश्रवेन्द्रियार्थानां परिहारपरायणाः। गुप्तिभिस्तिष्ठन्निर्गुप्ताः स्थिताः समितिपंचके॥25॥-त्रिभिर्विशेषकम्॥
 इत्याकर्ण्य मुनिः प्राह प्राञ्जलं शृणु मद्बचः। गुहवासपरित्यागो मया पुण्यार्थिना कृतः॥26॥
 आस्तामन्यः समाचारो यत्र जीवदयापि न। तेन धर्मेण किं कुर्वे श्रीसर्वज्ञविरोधिना॥27॥
 अत्र देशे समायान्ति दुःप्रापाः श्वेतभिक्षवः। सा प्राह मध्यदेशात्ते समायास्यन्ति सांप्रतम्॥28॥
 साङ्गत्यं कारयिष्यामि तव तैः सह निश्चितम्। तपसा निर्मलेनाशु भवं पावयसे यथा॥29॥

इदानीं क्वापि कूपादौ रहो जलमिदं त्यज। शासनस्य यथा म्लानिर्न भवेत्लघुताकरा॥३०॥
 विराधना पुनर्जीवगणस्यात्र भवेद्ध्रुवम्। अपरापरनीरोत्थजीवा अन्योऽन्यविद्विषः॥३१॥
 श्रुत्वेति तद्वचोऽकार्षीद् भृशं विप्रतिसारतः। भोजितः परया भक्त्या बोधितश्चाश्रयं ययौ॥३२॥
 अन्यदाऽजितसिंहाख्याः सूरयः पुरमाययुः। पुरा श्रीपार्श्वतीर्थेशकल्याणकपवित्रिताम्॥३३॥
 गङ्गातीरस्थमुद्धानमुद्दामं शिखरिजैः। शिश्रियुज्जानसंयुक्तास्त्रिदशा इव नन्दनम्॥३४॥
 तथा च ज्ञापिते श्राद्धकान्तया सोदरो मुनिः। श्रुत्वा समाययौ तत्र गुरुणां सङ्गतस्तदा॥३५॥
 पूर्वर्षिभिः समार्चार्णां सामाचारी न्यवेद्यत। तैस्तदग्रे च पीयूषवत् तां सोऽथादृतोऽशृणोत्॥३६॥
 गुरुभिर्दीक्षितश्चासौ नदीष्णोऽग्रेऽपि च क्वचित्। तपस्याविधिपूर्वं चागममध्याप्यतादरात्॥३७॥
 ततः प्रतीतिभृत् सम्यक्तपःश्रुतसमर्जनात्। योग्यः सन् गुरुभिः सूरिपदे गच्छादृतः कृतः॥३८॥
 क्लिष्टकाव्यग्रमिश्रान्ता देवी वाचामधीश्वरी। यद्वचोऽभूत्संसिक्ता परमानन्दभूरभूत्॥३९॥
 स तदातनकालीयलीनज्ञानक्रियोन्नतिः। अभूदभूमिरुन्निद्रोपद्रवान्तरविद्विषाम्॥४०॥

3. इत्थं पुरि तत्रासीद् वेदवेदाङ्गपारगः। विरंचिरिव मूर्तिस्थो भूदेवः पार्थिवार्चितः॥४१॥
 कोविदानां शिरोरत्नं मयूर इति विश्रुतः। प्रत्यर्थिकविसर्प्याणां मयूर इव दर्पहत्॥४२॥-युग्मम्।
 दुहिता सुहिता रूपशीलविद्यागुणोदयैः। तस्य सत्या उमा-गङ्गा-लक्ष्मीदेव्यो यदीक्षणात्॥४३॥

पङ्के पङ्कजमुद्भूतं कुवलयं चापारतीरे हवे

विम्ब्यी चापि वृतेर्बहिः प्रकटिता क्षिप्तः शशी चाम्बरे।

यस्याः पाणिविलोचनाधरमुखान् वीक्ष्य स्वसृष्टिविधे-

रुच्छिष्टेव पुरातनी समभवद् वैवाद् विधायेह ताम्॥४४॥

अद्भुतं कुलरूपाद्यैस्तस्याः समुचितं वरम्। सर्वत्रालोचयन् सम्यगप्राप्तावार्तिमासदत्॥४५॥
 तर्कलक्षणसाहित्यरसास्वादवशैकधीः। अनूचानो महाविप्रो बाणाख्यः प्राग्गुणान्वितः॥४६॥
 प्रख्यातवपुःकः कामाभिरामाकारधारकः। दृष्टे तत्र मयूरोऽभूद् वारिदाडम्बरे यथा॥४७॥
 संमान्योद्वाहयामास तां सुतां तेन वैभवात्। अनुरूपवरप्राप्तिसुता पित्रापि दुस्त्यजा॥४८॥
 ततः श्रीहर्षभूपस्य दर्शितो दुहितुः पतिः। आशिषोदितया तस्योदितया तोषमाप च॥४९॥
 तस्यावासः पृथक् चक्रे धनधान्यादिसम्भृतः। एवं राजाहितौ तौ द्वौ साङ्गत्यं प्रापतुः सदा॥५०॥

4. बाणोऽन्यदा समं पत्न्या स्नेहतः कलहायितः। सिता हि मरिचक्षोदाद् ऋते भवति दुर्जरा॥५१॥
 पितुर्गृहमगाद् रुष्टा बाणपत्नी मदोद्धरा। सायं तद्गृहमागत्य भर्ता प्राहानुनीतये॥५२॥

तद्यथा-

मानं मुञ्च स्वामिनि! शत्रुं जगतो विनाशितस्वार्थम्।

सेवक-कामुक-परभवसुखेच्छवो नावलेपभृतः॥५३॥

वासागारादबहिः प्रेष्यः पण्डितं तां सखी जगौ। वाग्भङ्गीभिस्ततो मानामुचि तस्यामदोऽवदत्॥५४॥

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणवयितो

निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।

परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-

स्तवावस्था चेयं विमुञ्ज कठिने मानमधुना॥५५॥

विलक्षोभ्य साऽप्याह बहिरागत्य कोविदम्। भवने प्रविशामोऽस्यामुक्त्वा वयमुपानहौ॥५६॥

एतस्यां मौनमालम्ब्यावस्थितायां पुनस्ततः। विद्वानविद्वन्मन्योऽसौ बहुप्रातर्जगाद च॥57॥

तद्यथा-

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव

प्रवीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।

प्रणामान्तो मानस्तवपि न जहासि क्रुधमहो

कुचप्रत्यासत्त्या ह्रव्यमपि ते सुभु! कठिनम्॥58॥

तद्भक्तिपरतः सुप्तोऽवकाशो तत्पिता तदा। जजागारातिसम्भ्रान्तः काव्यं श्रुत्वेत्युवाच च॥59॥

स्थाने त्वं 'सुभु'शब्दस्य 'चंडी'त्याख्यामुदाहरेः। यतोऽस्या दृढकोपायाः शब्दोऽयमुचितः खलु॥60॥

इत्याकर्ण्य पितुर्वाचं लज्जाभरनतानना। विममर्शं निशावृत्तं विश्वं मे जनकोऽशृणोत्॥61॥

धिग्मां मूर्खामविज्ञातकारिणीमित्यकुत्सयत्। आत्मानं सा ततो वपत्यर्मर्षं च व्यधाद् घनम्॥62॥

मदं मुक्त्वा च सा प्रेम भर्तरी स्थिरमादधे। गङ्गा हिमवतो गर्जे यथा शीतांशुशेखरे॥63॥

अहं शैशवतो भ्रान्ता यद्यसौ विद्वदग्रणीः। जनकोऽनुचिताधायी विमन्दाक्षः कथं किल॥64॥

इदं किमुचितं वक्तुं कुलीनानां हि तादृशम्। मातृ-स्वसृ-दृहितृणामवाच्यं नहि वाच्यभूः॥65॥

शशाप कोपाटोपेन पितरं प्रकटाक्षरम्। कुष्टी भव क्रियाभ्रष्टावज्ञातौरसनात्रकः॥66॥

तस्याः शीलप्रभावेण सद्यः श्वेताङ्गचन्द्रकैः। कलाप्यग्रे मयूरोऽग्रे तदा जज्ञे स चन्द्रकी॥67॥

सागान्निजगृहं बाणो बिभ्रतो सक्तिमादरात्। पितुर्दुर्वचनं तस्याः सान्त्वनाय तदाऽभवत्॥68॥

सद्यः कुष्ठं समालोक्य पश्चात्तापार्तिविद्रुतः। अवाङ्मुखो गृहेऽस्वाप्सीन्न ययौ राजपर्वदि॥69॥

पञ्चषान् वासरान्नासौ जगाम क्षमापमन्दिरे। बाणोऽपि कुपितस्तस्य बहून् दोषानभाषत्॥70॥

भोगिभोगविनाशैकप्रतिज्ञो मलिनाङ्गभूत्। सुहृत्समागमे लज्जास्थानं प्रकटयन् सदा॥71॥

असौ मेघसुहृन्मेघसुहृच्चन्द्रकितस्तनौ। चित्रशिचित्रात्सभायोग्यो भूपानां नैनसां निधिः॥72॥

राजा श्रुत्वेति किं सत्यं मयूरः कुष्ठदूषितः। इति चित्रात् समाहूतवांस्तं निजनरैः प्रभुः॥73॥

कृतावगुण्ठनः पट्या स संवीताङ्गमण्डनः। उपभूपतिमागच्छदनिच्छन् स्थानमत्र च॥74॥

बाणोनेचे स्फुटं दृष्ट्वा मयूरं प्राकृतादथ। शीतरक्षाङ्गसंव्यानं 'वरकोढी' ति संसदि॥75॥

पुनर्निजं गृहं गत्वा व्यमृशच्चेतसि स्थिरम्। कलङ्कपङ्किलानां हि नोचिता सहृदां सभा॥76॥

सहक्रीडितसंघेऽस्मिन् ये तिष्ठन्त्यङ्गशङ्किताः। भूखङ्गच्छिन्नमेते किं स्वं मूर्खानं न जानते॥77॥

वैराग्यात् त्यज्यते देहः सतां तदपि नोचितम्। दुःखानामसहिष्णुत्वात् स्त्रीवत्कातरता हि सा॥78॥

सुरः सनातनप्रीतिहार्यः कश्चित्कलानिधिः। आराध्यते प्रसादेन यस्य देहो नवो भवेत्॥79॥

सहस्रकिरणः कर्मसाक्षी ध्येयो मयास्य यत्। दृश्यते सफले साक्षादाराधनविराधने॥80॥

षट्पादं रज्जुयन्त्रं सोऽवलम्ब्यात्रोपविष्टवान्। गर्तं च खदिराङ्गारैरथोऽर्चिर्भिरपूरयत्॥81॥

शार्दूलवृत्तमेकैकमुक्त्वा शस्त्रिकयाच्छिनत्। पादमेवं च काव्येषु पञ्चसूक्तेषु कृष्टिना॥82॥

छिन्दतः शेषपादं च मार्तण्डो व्यक्ततेजसा। आगत्यास्य ददौ देहं मंक्षु विध्यापितोऽनलः॥83॥

काव्यानां शततः सूर्यस्तुतिं संविदधे ततः। देवान् साक्षात्करोति स्म येषामेकमपि स्मृतम्॥84॥

श्रीभानुस्तोषतस्तस्य नीरुजं देहमातनोत्। सार्द्धषोडशवर्णिण्यदीप्यत्कनकभास्वरम्॥85॥

प्रायः प्रकटदेहोऽसावाययौ राजपर्वदि। श्रीहर्षराजः पप्रच्छासीत् ते किं रुग्ं नवा वद॥86॥

आसीद् देव! परं ध्यातः सहस्रकिरणो मया। तुष्टो देहं ददावद्य भक्तेः किं नाम दुष्करम्॥87॥

तदा च बाणपक्षीयैः सासूरैरिव पण्डितैः। जगदे किंचिदत्युग्रं प्राग्वृत्तश्रुतितः स्फुटम्॥88॥

तथा हि-

यद्यपि हर्षोत्कर्षं विदधति मधुरा गिरो मयूरस्य।

बाणविजुम्भणसमये तदपि न परभागभागिन्यः॥१८९॥

राजाह सत्यमेवेदं गुणी गुणिषु मत्सरी। यूयमत्रापि सासूया ब्रूमहेऽत्र वयं किमु॥१९०॥
 वैद्यौषधं विना येन प्राञ्जलेनैव चेतसा। सूर्य आराधितो भक्त्या कवित्वैर्देहमातनोत्॥१९१॥
 परितोषं परं प्राप सविता यद्वचःक्रमैः। के वयं मानुषास्तत्रहारादिकलुषाकुलाः॥१९२॥
 बाणः प्राह प्रभो! प्रायः कृतपक्षं किमुच्यते। अस्य कः किल शङ्कारो देवस्यातिशयं स्फुटे॥१९३॥
 एवंजातीयमाश्चर्यातिशयं कोऽपि दर्शयेत्। अपरो यदि चेच्छक्तिः कः प्रत्यर्थी शुभावयतौ॥१९४॥
 इति राज्ञो वचः श्रुत्वा बाणः प्राहातिसाहसात्। हस्तौ पादौ च संछिद्य चण्डिकावासपृष्ठतः॥१९५॥
 मां परानयतु स्वामी तत्र मुक्तोज्झितः स्थिरम्। यथाऽमुष्मादतिप्रौढि प्रातिहार्यं प्रदर्शयेत्॥१९६॥-युग्मम्।
 अवादोच्च मयूरोऽपि तथाप्यस्यानुकम्पया। मयि प्रसद्य भूपाल मा कार्षीरनमीदृशम्॥१९७॥
 यतो महुहितुः कष्टं व्यङ्गशुश्रूषणाद् भवेत्। आजन्म तन्ममाभीलं विलगेत प्रभो! दुष्टम्॥१९८॥
 श्रुत्वा च भूपतिर्भक्तिं मयूरे बिभ्रद्भुताम्। बाणे कोपं वहन् प्राह तथा कौतूहलं महत्॥१९९॥
 कर्तव्यमेव बाणस्य गीःप्राणस्य कवेर्वचः। पाणिपादं नवं चेत् स्यादस्य स्फारं तदा यशः॥२००॥
 अन्यथा चेत् तथा स्फारवचसां भज्यते भणिः। यदुच्छावचसां नावकाशो राज्ञां हि पर्षदि॥२०१॥
 अथवा सूर्यमाराध्य त्वमेनमपि पण्डितम्। विमदं निर्विषं नागमिव प्रगुणमाचरे॥२०२॥
 उक्त्वा चैवं कृते राज्ञा चण्डो स्तोतुं प्रचक्रमे। बाणः काव्यैरतिश्रव्यैरुद्भाक्षरडम्बरैः॥२०३॥
 ततश्च प्रथमे वृत्ते निवृत्ते सप्तमेऽक्षरे। सधामा तन्मुखी भूत्वा देवी प्राह वरं वृणु॥२०४॥
 विधेहि पाणिपादं मे इत्युक्तिः समनन्तरम्। संपूर्णवियवः शोभाप्रत्यग्र इव निज्जरः॥२०५॥
 महोत्सवेन भूपालमन्दिरं स समीयिवान्। राज्ञा पुरस्कृतौ प्रीतिहार्येऽस्थातामुभावपि॥२०६॥
 ततो विवदमानौ च निवर्तते पुरा क्रुधा। भूप एवं ततः प्राह निर्णयो नानयोरिह॥२०७॥
 वाग्देवी मूलमूर्तिस्था यत्रास्ते तत्र गम्यताम्। उभाभ्यामपि काश्मीरनीवृत्तिं प्रवरे पुरे॥२०८॥
 जयः पराजयो वाऽस्तु स्वामियैव कृतोऽनयोः। प्रत्यवायं सचैतन्यः को हि स्वस्यानुषञ्जयेत्॥२०९॥
 यः पराभूतिमाप्नोति तद्ग्रन्थाः प्राङ्गणे मम। प्रज्वालय पुस्तकस्तोमं विनाश्या अस्त्वसौ यणः॥२१०॥
 ताभ्यामभ्युपयाते च व्यवहारेऽथ पण्डितैः। उभौ तत्र प्रतिस्थाते राजमर्त्यैः सहार्हितौ॥२११॥
 तावल्पेनापि कालेन प्रयाणैरविखण्डितैः। आसेदते पुरं ब्राह्मीब्रह्माद्भुतपवित्रितम्॥२१२॥
 आराधयांबभूवाते तपसा दुष्करेण तौ। तुष्टा देवी परीक्षार्थं तौ पृथक्कृत्य दूरतः॥२१३॥
 समस्यापदमप्राक्षीत् तूर्णमापूरि तेन च। अपरेणापि संपूर्णा तथैवाक्षरपत्तिः॥२१४॥
 विलम्बित-द्रुतभेदतया काष्ठाद्धमानतः। जितं बाणेन शीघ्रत्वाद् विलम्बाच्च जितः परः॥२१५॥

तथा हि-

वामोदरकराघातविह्वलीकृतचेतसा।

दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम्॥२१६॥

इति गीर्निर्णयं लब्ध्वा प्रधानैः सहितौ कवी। निजं नगरभायातौ तस्थुर्भूमिपाग्रतः॥२१७॥
 मयूरश्च निजग्रन्थपुस्तकानि नृपाङ्गणे। आनीयज्वालयत् खेदात् तानि जातानि भस्मसात्॥२१८॥
 भस्मापि यावदुड्डीनं श्रीसूर्यशतपुस्तकम्। तावत्प्रत्यग्रसूर्याशुप्रकटाक्षरमस्ति च॥२१९॥
 ततो राज्ञा प्रभावोऽस्य गौरवेण प्रकाशितः। उभयोर्विदुषोर्मानं साम्ये स समभावयत्॥२२०॥

5. तौ भूपालः स्तुवन्नित्यममात्यं चान्यदा जगौ। प्रत्यक्षोऽतिशयो भूमिदेवानामेव दृश्यते॥121॥
 कुत्रापि दर्शनेऽन्यस्मिन् कथमस्ति प्रजल्पत। प्राह मन्त्री यदि स्वामी शृणोति प्रोच्यते ततः॥122॥
 जैनः श्वेताम्बराचार्यो मानतुङ्गाभिधः सुधी। महाप्रभावसंपन्नो विद्यते तावके पुरे॥123॥
 चेत् कुतूहलमत्रास्ति तदाहूयत तं गुरुम्। चित्ते वो यादृशं कार्यं तादृशं पूर्यते तथा॥124॥
 इत्याकर्ण्य नृपः प्राह तं सत्यात्रं समानय। सन्मानपूर्वमेतेषां निस्पृहाणां नृपः कियान्॥125॥
 तत्र गत्वा पुरो मंत्री गुरुनानम्य चावदत्। आह्वययति वात्सल्याद्भूपः पादोऽवधार्यताम्॥126॥
 गुरुराह महामात्य ! राज्ञा नः किं प्रयोजनम्। निरीहाणामियं भूमिर्निहि प्रेत्यभवार्थिनाम्॥127॥
 मन्त्रिणोचे प्रभो! श्रेष्ठा भावनातः प्रभावना। प्रभाव्यं शासनं पूज्यैस्तद्राज्ञो रङ्गतो भवेत्॥128॥
 इति निर्बन्धतस्तस्य श्रीमानतुङ्गसूरयः। राजसौधं समाजगमुरभ्युत्तस्थौ च भूपतिः॥129॥
 धर्मलाभाशिषं दत्त्वा निविष्टा उचितासने। नृपः प्राह द्विजन्मानः कीदृक् सातिशयाः क्षितौ॥130॥
 एकेन सूर्यमाराध्य स्वाङ्गाद् रोगो वियोजितः। अपरश्चण्डिकासेवावशाल्लेभे करक्रमौ॥131॥
 भवतामपि शक्तिश्चेत् काप्यस्ति यतिनायकाः। तदा कचिच्चमत्कारं पूज्या दर्शयताधुना॥132॥
 इत्याकर्ण्याथ ते प्राहुर्न गृहस्था वयं नृपः। धनधान्यगृहक्षेत्रकलत्रापत्यहेतवे॥133॥
 राजरञ्जनविद्यापिलोकाक्षेपादिकाः क्रियाः। यद् विदध्मः परं कार्यः शासनोत्कर्ष एव नः॥134॥
 इत्युक्ते प्राह भूपालो निगडैरेष यन्व्यताम्। आपादमस्तकं ध्वान्ते निवेश्य प्रावदन्निति॥135॥
 ततोऽपवरके राजपुरुषैः परुषैस्तदा। निगडैश्च चतुश्चत्वारिंशत्संख्यैरयोमयैः॥136॥
 नियन्त्रितः समुत्पाट्य लोहयन्त्रसमो गुरुः। न्यवेश्यताथ तद्द्वाररारी च पिहितौ ततः॥137॥—युग्मम्।
 अतिजीर्णं सनाराचं तालकं प्रददुस्ततः। सूचिभेद्यतमस्काण्डः स पातालनिभो बभौ॥138॥
 वृत्तं 'भ क्ता म र' इति प्राच्यं प्राहैकमानसः। त्रादृक्य निगडं तत्र वृट्तिपापे(पै) ति तत्क्षणात्॥139॥
 प्राक्संख्यया च वृत्तेषु भणितेषु द्रुतं ततः। श्रीमानतुङ्गसूरिश्च मुक्तलो मुक्तलोऽभवत्॥140॥
 स्वयमुद्वटिते द्वारयन्त्रे संयमसंयतः। सदानुच्छृङ्खलः श्रीमानुच्छृङ्खलवपुर्बभौ॥141॥
 अन्तःसंसदमागत्य धर्मलाभं नृपं ददौ। प्रातः पूर्वाचलान्निर्यन्मास्वानिव महाद्युतिः॥142॥
 नृपः प्राह शमस्तादृक् शक्तिश्चाप्यतिमानुषी। देवीदेवकृताधारं विना कस्येदृशं महः॥143॥
 देशः पुरमहं धन्यः कृतपुण्यश्च वासरः। यत्र ते वदनं प्रैक्षि प्रभो! प्रातिभसप्रभम्॥144॥
 आदेशं सुकृतावेशं प्रयच्छ स्वच्छतानिधे। आजन्मरक्षादक्षः स्याद् यथा मे त्वदनुग्रहः॥145॥
 श्रुत्वेति भूपतेर्वाचं प्राहुस्ते यदकिंचनाः। लब्धीनामुपयोगं न कुत्राप्यर्थे विदध्महे॥146॥
 परं श्रीमन् गुणाम्मोहे! प्रशाधि वसुधामिमाम्। जैनधर्मं हताक्षेमं परीक्ष्य परिपालय॥147॥
 अथावोचन्महीनाथः पान्थो जैनादृते पथि। अदर्शनादियत्कालं पूज्यानां वञ्चिता वयम्॥148॥
 अहो ममावलेपोऽभूद् ब्राह्मणा एव सत्कलाः। देवान् सन्तोष्य यैः स्वीयो दर्शितः प्रत्ययो मम॥149॥
 विवदानावहंकारान्नैतावुपरतौ क्वचित्। दर्पायैव न बोधाय या विद्या सा मतिभ्रमः॥150॥
 येषां प्रभावः सर्वातिशायी प्रशम ईदृशः। सन्तोषश्च तदाख्यातो धर्मः शुद्धः परीक्षया॥151॥
 तन्मया भवतामेवोपदेशः सविधीयते। अतःपरं कटुद्रव्यं त्यक्त्वा स्वाद्यं हि गृह्यते॥152॥
 तत आदेशपीयूषपोषात् तृप्तं कुरुष्व माम्। राज्ञो वाचमिति श्रुत्वा सूरिः प्रणयगदद् गिरम्॥153॥
 दीनपात्रौचित्यभेदात् त्रिधा दानरुचिर्भव। जीर्णान्युद्धर चैत्यानि बिम्बानि च विधापय॥154॥
 आह मंत्री प्रभो विप्रप्रातिभं कज्जलोज्ज्वलम्। जैनवाचंयमादेशक्षीरैणैव विलुप्यते॥155॥
 इत्थं धर्मोपदेशं च प्रेदशमिव सद्गतेः। तेऽथ प्रदाय भूपाय संययुः स्वाश्रयं तदा॥156॥

सर्वोपद्रवनिर्नाशी 'भ क्ता म र' महास्तवः। तदा तैर्विहितः ख्यातो वर्ततेऽद्यापि भूतले॥157॥

6. कदापि कर्मवैचित्र्यात् तेषां चित्ररुजामवत्। कर्मणा पीडिता यस्मात् शलाकापुरुषा अपि॥158॥

धरणेन्द्रस्मृतेरायात् पृष्ठोऽनशनहेतवे। अवादीदायुरद्यापि स तत् संह्रियते कथम्॥159॥

यतो भवादृशामायुर्बहुलोकोपकारकम्। अष्टादशाक्षरं मन्त्रं ततस्तेषां समर्पयत्॥160॥

ह्रियते स्मृतियोगेन रोगादि नवधा भयम्। अन्तर्ययौ ततः श्रीमान् धरणो धरणीतलम्॥161॥

ततस्तदनुसारेण स्तवनं विदधे प्रभुः। ख्यातं 'भ य ह रं' नाम तद्द्यापि प्रवर्तते॥162॥

हेमन्तशतपत्रश्रीर्देहोऽस्ताधमहोनिधिः। सूररजनि तस्याहो सुलभं तादृशं ह्यदः॥163॥-युग्मम्।

सायं प्रातः पठेदेतत् स्तवनं यः शुभाशयः। उपसर्गा व्रजन्त्यस्य विविधा अपि दूरतः॥164॥

मानतुङ्गप्रभुः श्रीमानुद्योतं जिनशासने। अनेकधा विधायैवं शिष्यात्रिष्याद्य सन्मतीन्॥165॥

द्वेधा गुणाकरं शिष्यं पदं स्वीये निवेश्य च। इङ्गिनीमथ संप्राप्यानशनी दिवमभ्यगात्॥166॥

इत्थं श्रीमानतुङ्गप्रभुचरितमतिस्थैर्यकृज्जैनधर्म-

प्रासावस्तम्भरूपं सुकृतभरमहापटुविष्टम्भहेतु।

श्रुत्वा कुत्रापि किञ्चिद् गदितमिह यथा संप्रदायं च लब्ध्वा

शोध्यं मेधाप्रधानैः सुनिपुणभक्तिभिस्तच्छ नोत्प्रासनीयम्॥167॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपटुसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीमानतुङ्गाद्भुतं

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्वुना विशदितः शृङ्गोऽभवत् द्वादशः॥168॥

॥ इति मानतुङ्गसूरिप्रबन्धः॥



श्रीमानदेवसूरिचरितम्

1. सूरैः श्रीमानदेवस्य प्रभावाम्भोनिधिर्नवः । सदा यत्क्रमसेविन्यौ ते जया-विजये श्रियो॥1॥
निर्वृतिं यत्क्रमाम्भोजगुणानुचरणाद् दधुः । गतिं मनोहरां हंसा मानदेवः स वः श्रियो॥2॥
तद्गतसिन्धुतः किञ्चिदेकदेशं विभाव्य च । आख्यानपण्यविस्तारात् तरिष्यामि स्वमूढताम्॥3॥
अस्ति सप्तशतीदेशो निवेशो धर्मकर्मणाम् । यद्दानेशभिषा भेजुस्ते राजशरणं गजाः॥4॥
तत्र कोरंटकं नाम पुरमस्त्युन्नताश्रयम् । द्विजिह्वविमुखा यत्र विनतानन्दना जनाः॥5॥
तत्रास्ति श्रीमहावीरचैत्यं श्वैत्यं दधद्दम् । कैलासशैलवद्भाति सर्वाश्रयतयानया॥6॥
उपाध्यायोऽस्ति तत्र श्रीदेवचन्द्र इति श्रुतः । विद्वद्दन्दिशरोरत्नं तमस्ततिहरो जने॥7॥
आरण्यकतपस्यायां नमस्यायां जगत्यपि । सक्तः शक्तान्तरङ्गारिविजये भवतीरभूः॥8॥
सर्वदेवप्रभुः सर्वदेव सद्ग्यानसिद्धिभृत् । सिद्धक्षेत्रे यियासुः श्रीवाराणस्याः समागमत्॥9॥ - युग्मम् ।
बहुश्रुतपरीवारो विश्रान्तस्तत्र वासरान् । कांश्चित्प्रबोध्य तं चैत्यव्यवहारममोचयत्॥10॥
स पारमार्थिकं तीव्रं धत्ते द्वादशधा तपः । उपाध्यायस्ततः सूरिपदे पूज्यैः प्रतिष्ठितः॥11॥
श्रीदेवसूरिरित्याख्या तस्य ख्यातिं ययौ किल । श्रूयन्तेऽद्यापि वृद्धभ्यो वृद्धास्ते देवसूरयः॥12॥
श्रीसर्वदेवसूरीशः श्रीमच्छत्रुजये गिरौ । आत्मार्थं साधयामास श्रीनाभैकवासनः॥13॥
चारित्रं निरतीचारं ते श्रीमद्देवसूरयः । प्रतिपाल्य निवेशयाथ सूरिं प्रद्योतनं पदे॥14॥
अन्तेऽनशनमाधाय ते सदाराद्धसंयमाः । सम्यगाराधनापूर्वं दैवीं श्रियमशिश्रियन्॥15॥

2. अथो विजह्नुर्नङ्गले श्रीप्रद्योतनसूरयः । तेषां परोपकारायावतारो हि भवेत् क्षितौ॥16॥
तत्र श्रीजिनदत्तोऽस्ति ख्यातः श्रेष्ठी धनेश्वरः । सर्वसाधारणं यस्य मानसं मानदानयोः॥17॥
धारिणीति प्रिया तस्य धर्मो निबिडवासना । वर्तते व्यवहारेण द्वयोऽस्तु पुरुषार्थयोः॥18॥
तत्पुत्रो मानदेवोऽस्ति मानवानप्यमानरुक् । वैराग्यरङ्गितस्वान्तः प्रान्तभूरान्तरद्विषाम्॥19॥
श्रीप्रद्योतनसूरीणामन्यदोपाश्रयेऽगमत् । ते धर्मं तस्य चाचख्युस्तरण्डं भवसागरे॥20॥
संसारासारतां बुद्ध्या गुरुपादान् व्यजिज्ञपत् । मानदेवः परिव्रज्यां ददध्वं मे प्रसीदत॥21॥
निर्वन्धात् पितरौ चानुज्ञाप्य शुद्धे दिने ततः । चारित्रमग्रहीदुग्रमाचचार व्रतं च सः॥22॥
अङ्गैकादशकेऽधीती छेद-मौलेषु निष्ठितः । उपाङ्गेषु च निष्णातस्ततो जज्ञे बहुश्रुतः॥23॥
विज्ञाय सोऽन्यदा विज्ञो योग्यः सद्गुरुभिस्तदा । पदप्रतिष्ठितश्चक्रे चान्द्रगच्छांबुधेः शशी॥24॥
प्रभावाद् ब्रह्मणस्तस्य मानदेवप्रभोस्तदा । श्रीजया-विजयादेव्यौ नित्यं प्रणमतः क्रमौ॥25॥
एवं प्रभावभूयिष्ठे शासनस्य प्रभावकः । संघव्योमाङ्गणोद्योतभास्वानिव स च व्यभात्॥26॥

3. अथ तक्षशिलापुर्यां चैत्यपञ्चशतीभृति । धर्मक्षेत्रे तदा जज्ञे गरिष्ठमशिवं जने॥27॥

अकालमृत्युसंपातिरोगैर्लोक उपद्रुतः। जज्ञे यत्रौषधं वैद्यो न प्रभुर्गुणहेतवे॥28॥
 प्रतिजागरणे ग्लानदेहस्येह प्रयाति यः। गृहागतः स रोगेण पात्यते तल्पके द्रुतम्॥29॥
 स्वजनः कोऽपि कस्यापि नास्तीह समये तथा। आक्रन्दभैरवारावरीद्रूपाऽभवत् पुरी॥30॥
 चित्यानां च सहस्राणि दृश्यन्तेऽत्र बहिः क्षितौ। शवानामर्द्धदग्धानां श्रेणयश्च भयंकराः॥31॥
 सुभिक्षमभवद् गृध्रक्रव्यादानां तदोदितम्। शून्या भवितुमारेभे पुरी लङ्कोपमा तदा॥32॥
 पूजा च विश्वदेवानां विश्रान्ता पूजकान् विना। गृहाणि शवसंघातदुर्गन्धानि तदाभवन्॥33॥
 कियानप्युद्धतः संघश्चैत्ये कृत्वा समागमम्। समन्त्रयामास कल्पान्तः किमद्यैवागतो भुवम्॥34॥
 न कपर्दी न चाभ्या च ब्रह्मशान्तिर्न यक्षराट्। अद्याभाग्येन संघस्य नो विद्यादेवता अपि॥35॥
 भाग्यकाले यतः सर्वो देवदेवीगणः स्फुटः। सप्रत्यय इदानीं तु ययौ कुत्रापि निश्चितम्॥36॥
 इति तेषु निराशेषु समेता शासनामरी। उपादिशत् तदा संघमेवं सन्तप्यते कथम्॥37॥
 म्लेच्छानां व्यन्तरैरुग्रैः सर्वः सुरसुरीगणः। विद्रुतस्तद्विधीयेत किमत्रास्माभिरुच्यताम्॥38॥
 अतः परं तृतीयेऽत्र वर्षे भङ्गो भविष्यति। तुरुष्कैर्विहितः सम्यग्ज्ञात्वा कृत्यं यथोचितम्॥39॥
 परमेकमुपायं वः कथयिष्यामि वस्तुतः। शृणुतावहिताः सन्तः संघरक्षा यथा भवेत्॥40॥
 ततस्तेनाशिवे क्षीणे मुक्त्वा पुरमिदं ततः। अन्यान्यनगरेष्वेव गन्तव्यं वचसा मम॥41॥
 श्रुत्वा च किञ्चिदाश्वासवन्तस्ते पुनरभ्यधुः। समादिश महादेवि कोऽन्यो नः परिरक्षिता॥42॥
 देवी प्राहाथ नङ्गुले मानदेवाख्यया गुरुः। श्रीमानस्ति तमानाय्य तत्पादशालनोदकैः॥43॥
 आवासानभिषिञ्चध्वं यथा शाम्यति डामरम्। एवमुक्त्वा तिरोधत् श्रीमच्छासनदेवता॥44॥
 श्रावकं वीरवत्तं ते प्रैषुर्नङ्गुलपत्तने। विज्ञप्तिकां गृहीत्वा च स तत्र क्षिप्रमागमत्॥45॥
 भूप्र (प्रभू?)णामाश्रयं दृष्ट्वा व्यधात्रैषेधिको तदा। मध्याह्ने सूरिपादाश्च मध्येऽपवरकं स्थिताः॥46॥
 उपाविशन् शुभे स्थाने स्थाने सदब्रह्मसंविदाम्। पर्यङ्कासनमासीना नासाग्रन्यस्तदृष्टयः॥47॥ - युग्मम्।
 समानाः कृच्छ्र-कल्याणे तृणे स्त्रैणे मणौ मृदि। तेषां प्राप्ते प्रणामाय देव्यौ श्रीविजया-जये॥48॥
 कोणान्तरुपविष्टे च ते दृष्ट्वा सरलः स च। निमग्नात्मा तमस्तोमे दध्यौ चिन्ताविपन्नधीः॥49॥
 ध्रुवं प्रतारिकाऽस्माकं साऽपि शासनदेवता। ययैतावन्तमध्वानं प्रेष्याहं क्लेशितो ध्रुवम्॥50॥
 आचार्योऽयं हि राजर्षिर्मध्येदिव्याङ्गनं स्थितः। अहो चारित्रमस्यास्ति शाम्येदस्मादुपद्रवः॥51॥
 मामाथान्तं च विज्ञाय ध्यानव्याजमिदं दधौ। क एवं नहि जानीते तस्मादासे क्षणं बहिः॥52॥
 ध्याने च पारिते मुष्टिं बद्ध्वासावृजुधार्मिकः। प्राविशद् द्वारमध्ये च सावज्ञं गुरुमानमत्॥53॥
 विज्ञाय चेङ्गितैर्देव्यौ तस्याविप्रतिपन्नताम्। अदृष्टैर्बन्धसम्बन्धैस्तं निपात्य बबन्धतुः॥54॥
 आरटन्तं च तं तारस्वरं दृष्टानुकम्पया। प्रभुर्विमोचयामास तदज्ञानप्रकाशनात्॥55॥
 जयाह रे महापाप! शापयोग्य क्रियाधम। प्रभोः श्रीमानदेवस्य चारित्रस्य शरीरिणः॥56॥
 एवं विकल्पमाधत्से श्रावकव्यंसको भवान्। पुंशाप! नाकिञ्चिद्द्वानामनभिज्ञाज्ञशेखरः॥57॥ - युग्मम्।
 ईक्षस्वानिमिषे दृष्टी चरणावक्षितिस्पृशौ। पुष्पमाला न च म्लाना देव्यावावां न लक्षसे॥58॥
 प्रागेव मुष्टिघातेन प्रैषयिष्ये यमालयम्। जैनश्रद्धालुदम्भेनाहमपि च्छलिता त्वया॥59॥
 प्रभोरादेश एव त्वज्जीवने हेतुरग्रिमः। परं पातकभूः कस्मादीदृशस्त्वं समागतः॥60॥
 मुष्टिर्बद्धो लभेतात्र लक्षमित्यभिषन्धितः। बद्धमुष्टिर्भवानागात् तादृगेव प्रयातु तत्॥61॥
 स प्राह श्रूयतां देव्यौ श्रीसंघः प्रजिघाय माम्। पुर्यास्तक्षशिलाख्यायाः शासनेशोपदेशतः॥62॥

अशिवोपशमार्थं श्रीमानदेवस्य सुप्रभोः। आह्वानायाथ मूर्खत्वान्ममैवाशिवमाययौ॥63॥
 उवाच विजया तन्नाशिवं किमिव नो भवेत्। तत्र युष्मादृशः श्राद्धा दर्शनाच्छिद्रवीक्षकाः॥64॥
 वराक ! न विजानासि प्रभावं त्वममुष्य भोः। मेघा वर्षन्ति सस्यानां निष्पत्तिश्चास्य सत्त्वतः॥65॥
 श्रीशान्तिनाथतीर्थेशासेविनी शान्तिदेवता। सा मूर्तिद्वितयं कृत्वाऽस्मद्व्याजाद् वन्दते ह्यमुम्॥66॥
 विजयाह त्वयैकेन श्रावकेण ससंमदा। प्रहिणोमि कथं पूज्यानकर्णहृदया किमु॥67॥
 बहवस्त्वादृशः सन्ति यत्रेदृग्धार्मिकोत्तमाः। कथं भवेत् पुनर्दृश्यः प्रहितस्तत्र नो गुरुः॥68॥
 सूरयः प्राहुरादेशः संघस्याधेय एव नः। अशिवोपशमः कार्यस्तदत्रस्थैर्विधास्यते॥69॥
 वयं तु नागमिष्यामोऽत्रत्यसंधाननुज्ञया। संघमुख्ये इमे देव्यौ तयोरनुमतिर्नच॥70॥
 अमूष्यामुपदिष्टो यः पुरा कमठजल्पितः। अस्ति मन्त्राधिराजाख्यः श्रीपार्श्वस्य प्रभोः क्रमः॥71॥
 श्रीशान्तिनाथ-पार्श्वस्थप्रभुस्मृतिपवित्रितम्। गर्भितं तेन मन्त्रेण सर्वाशिवनिषेधिना॥72॥
 श्रीशान्तिस्तवनाभिख्यं गृहीत्वा स्तवनं वरम्। स्वस्थो गच्छ निजं स्थानमशिवं प्रशमिष्यति॥73॥ - त्रिभिर्विशेषकम्।
 इत्यादेशं च संप्राप्य तथैव कृतवान् मुदा। प्राप्तस्तक्षशिलायां स स्तवं संघस्य चार्पयत्॥74॥
 तस्य चाबालगोपालं पठतः स्तवनं मुदा। दिनैः कतिपर्यैरेव प्रशान्तोऽयमुपद्रवः॥75॥
 कोऽपि कुत्रापि चायातः प्रणश्य जनमध्यतः। गते वर्षत्रये भग्ना तुरुष्कैः सा महापुरी॥76॥
 अद्यापि तत्र बिम्बानि पित्तलाश्ममयानि च। तद्भूगृहेषु सन्तीति ख्याता वृद्धजनश्रुतिः॥77॥
 ततः प्रभृति संघस्य क्षुद्रोपद्रवनाशकः। स्तवः प्रवर्ततेऽद्यापि 'शान्तिशान्त्यादि'रद्भुतः॥78॥
 मन्त्राधिराजानामाभूत् तस्य मन्त्रः प्रसिद्धिभूः। चिन्तामणिरिवेष्टार्थप्रद आराधनावशात्॥79॥
 सूरिः श्रीमानदेवाख्यः शासनस्य प्रभावनाः। विधायानेकशो योग्यं शिष्यं पट्टे निवेश्य च॥80॥
 जिनकल्पाभसैल्लेखनया सैल्लिख्य विग्रहम्। आयुःप्रान्ते परं ध्यानं विभ्रत् त्रिदिवमाप सः॥81॥

इत्थं श्रीमन्मानदेवप्रभूणां वृत्तं चित्तस्थैर्यकृन्मादृशानाम्।

विद्याभ्यासैकाग्रहृदयानमन्यव्यासङ्गानां यच्छतावुच्छिद्वं च॥82॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ प्रद्युम्नसूरीक्षितः

शृङ्गोऽसावगमत् त्रयोवश इह श्रीमानदेवाश्रयः॥83॥

सर्वज्ञचिन्तनवशादिव तन्मयत्वमासावयन् जयति जैनमुनिः स एषः।

प्रद्युम्नसूरिरपि भूरिमतिः कवीनामर्थेषु काव्यविषयेषु विचक्षणो यः॥84॥

॥ इति श्रीमानदेवसूरिप्रबन्धः॥



महाकविश्रीसिद्धर्षिचरितम्

1. श्रीसिद्धर्षिः श्रियो देयाद् धियामध्यामधामभूः। निर्ग्रन्थग्रन्थतामापुयद्ग्रन्थाः सांप्रतं भुवि॥1॥
 श्रीसिद्धर्षिप्रभोः पान्तु वाचः परिपचेलिमाः। अनाद्यविद्यासंस्कारा यदुपास्तेभिर्देलिमाः॥2॥
 सुप्रभः पूर्वजो यस्य सुप्रभः प्रतिभावताम्। बन्धुर्बन्धुरभाग्यश्रीर्यस्य माघः कवीश्वरः॥3॥
 चरितं कीर्त्तयिष्यामि तस्य त्रस्यज्जडाशयम्। भूभृश्चक्रचमत्कारि वारिताखिलकल्मषम्॥4॥
 अजर्जरश्रियां धाम वेषालक्ष्यजरज्जरः। अस्ति गूर्जरवेशोऽन्यसज्जराजन्यदुर्जरः॥5॥
 तत्र श्रीमालमित्यस्ति पुरं मुखमिव क्षितेः। चैत्योपरिस्थकुम्भालियत्र चूडामणीयते॥6॥
 प्रासादा यत्र दृश्यन्ते मत्तवारणराजिताः। राजमार्गाश्च शोभन्ते मत्तवारणराजिताः॥7॥
 जैनालयाश्च सन्त्यत्र नवं धूपगमं श्रिताः। महर्षयश्च निःसङ्गा न बन्धूपगमं श्रिताः॥8॥
 तत्रास्ति हास्तिकाश्वीयापहस्तितरिपुत्रजः। नृपः श्रीवमेलाताख्यः शत्रुमर्मभिदाक्षमः॥9॥
 तस्य सुप्रभदेवोऽस्ति मन्त्री मित्रं जगत्पि। सर्वव्यापारमुद्राभृन्मुद्राकुर्जुनानने॥10॥
 देवार्थोशनसौ यस्य नीतिरीतिमुदीक्ष्य तौ। अवलम्ब्य स्थितौ विष्णुपदं कर्तुं तपः किल॥11॥
 तस्य पुत्रावुभावसाविर्विश्वभरक्षमौ। आद्यो वत्तः स्फुरद्भुतो द्वितीयश्च शुभंकरः॥12॥
 दत्तवित्तोऽनुजीविभ्यो दत्तश्चित्तस्थधर्मधीः। अप्रवृत्तः कुकृत्येषु तत्र सुत्रामवच्छ्रिया॥13॥
 हर्म्यकोटिस्फुरत्कोटिध्वजजालान्तरस्थिता। जलजन्मतयेव श्रीर्यस्मादासीदनिर्गमा॥14॥
 तस्य श्रीभोजभूपालबालमित्रं कृतीश्वरः। श्रीमाघो नन्दनो ब्राह्मीस्यन्दनः शीलचन्दनः॥15॥
 ऐदंयुगीनलोकस्य सारसारस्वतायितम्। शिशुपालवधः काव्यं प्रशस्तिर्यस्य शाश्वती॥16॥
 श्रीमाघोऽस्ताषधीः श्लाघ्यः प्रशस्यः कस्य नाभवत्। चित्रं जाड्यहरा यस्य काव्यगङ्गोर्मिविपुषः॥17॥
 तथा शुभंकरश्रेष्ठी विश्वविश्वप्रियंकरः। यस्य दानाद्भुतैर्गीतैर्हर्षश्वो हर्षभूरभूत्॥18॥
 तस्याभूद् गेहिनी लक्ष्मीर्लक्ष्मीर्लक्ष्मीपतेरिव। यया सत्यापिताः सत्यः सीताद्या विश्वविश्ववुताः॥19॥
 नन्दनो नन्दनोत्तंसः कल्पद्रुम इवापरः। यथेच्छादानतोऽर्थिभ्यः प्रथितः सिद्धनामतः॥20॥
 अनुरूपकुलां कन्यां धन्यां पित्रा विवाहितः। भुङ्क्ते वैषयिकं सौख्यं दोगुन्दुग इवामरः॥21॥

2. दुरोदरभरोदारो दाराचारपराङ्मुखः। अन्यदा सोऽभवत् कर्म दुर्जयं विदुषामपि॥22॥
 पितृमातृगुरुस्निग्धबन्धुमित्रैर्निवारितः। अपि नैव न्यवर्त्तिष्ट दुर्कारं व्यसनं यतः॥23॥
 अगूढातिप्ररूढेऽस्मिन्नहर्निशमसौ वशः। तदेचित्तधूर्त्तानां सदाचारादभूद् बहिः॥24॥
 स पिपासाशनायाति शीतोष्णाद्यविमर्शतः। योगीव लीनचित्तोऽत्र वित्रस्यत्साधुवाक्यतः॥25॥
 निशीथातिक्रमे रात्रावपि स्वकगृहागमी। वध्वा प्रतीक्ष्य एकस्यास्तया नित्यं प्रतीक्ष्यते॥26॥
 अन्यदा रात्रिजागर्यानिर्यातवपुरुद्यमाम्। गृहव्यापारकृत्येषु विलीनाङ्गस्थितिं ततः॥27॥

ईदृज्ञातेयसम्बन्धवंशकर्कशवाग्भरम्। श्वश्रूरश्रूणि मुञ्चन्तीं वधूं प्राह सगदगदम्॥28॥-युग्मम्।
मयि सत्यां पराभूतिं कस्ते कुर्यात् ततः स्वयम्। खिद्यसे कुविकल्पैस्त्वं गृहकर्मसु चालसा॥29॥
श्वशुरोऽपि च ते व्यग्रो यदा राजकुलादिह। आगन्ता च ततो देवावसरादावसज्जिते॥30॥
मामेवाक्रोष्यति त्वं तत् तथ्यं मम निवेदय। यथा द्राग् भवदीयार्तिप्रतीकारं करोम्यहम्॥31॥ - युग्मम्।
सा न किञ्चिदिति प्रोच्य श्वश्रूनिर्बन्धतोऽवदत्। युष्मत्पुत्रोऽर्द्धरात्रातिक्रमेभ्येति करोमि किम्॥32॥
श्रुत्वेत्याह तदा श्वश्रूः किं नाग्रेऽजल्पि मे पुरः। सुतं स्वं बोधयिष्यामि वचनैः कर्कशप्रियैः॥33॥
अद्य स्वपिहि वत्से! त्वं निश्चिन्ताऽहं तु जागरम्। कुर्वे सर्वं भलिष्यामि नात्र कार्याऽधृतिस्त्वया॥34॥
ओमित्यथ स्नुषाप्रोक्ते रात्रौ तद्धाम्नि तस्थुषी। विनिद्रा पश्चिमे यामे रात्रेः पुत्रः समागमत्॥35॥
द्वारं द्वारमिति प्रौढस्वरोऽसौ यावदूचिवान्। इयद्रात्रौ क आगन्ता माताऽवादीदिति स्फुटम्॥36॥
सिद्धः सिद्ध इति प्रोक्ते तेन सा कृतकक्रुधा। प्राह सिद्धं न जानेऽहमप्रस्तावविहारिणम्॥37॥
अधुनाऽहं क्व यामीति सिद्धेनोक्ते जनन्यपि। अन्यदा शीघ्रमायाति यथाऽस्मात् कर्कशं जगौ॥38॥
एतावत्यां निशि द्वारं विवृतं यत्र पश्यसि। तत्र यायाः समुद्घाटद्वारा सर्वापि किं निशा॥39॥
भवत्त्वेवमिति प्रोक्ते सिद्धस्तस्मान्निरीय च। पश्यन्ननावृताद्वारो द्वारेऽगादनगारिणाम्॥40॥
सदाऽप्यनावृतद्वारशालायां पश्यति स्म सः। मुनीन् विविधचर्यासु स्थिताग्निष्यण्यदुर्लभान्॥41॥
काश्चिद्द्वैरात्रिकं कालं विनिद्रस्य गुरोः पुरः। प्रवेदयन्त उत्साहात् काश्चित्त्वाध्यायरङ्गिणः॥42॥
उत्कटिकासनान् काश्चित् काश्चिद्गोदोहिकासनान्। वीरासनस्थितान् काश्चित् सोऽपश्यन् मुनिपुङ्गवान्॥43॥
अचिन्तयच्छमसुधानिर्झरे निर्जरा इव। सुस्नातशीतला एते तृष्णाभीता मुमुक्षवः॥44॥
मादृशा व्यसनासक्ता अभक्ताः स्वगुरुष्वपि। मनोरथद्रुहस्तेषां विपरीतविहारिणः॥45॥
धिग् ! जन्मेदमिहामुत्र दुर्यशो दुर्गतिप्रदम्। तस्मात् सुकृतिनी वेला यत्रैते दृष्टिगोचराः॥46॥
अमीषां दर्शनात् कोपिन्यापि सूपकृतं मयि। जनन्या क्षीरमुत्प्लवमपि पित्तं प्रणाशयेत्॥47॥
ध्यायन्नित्यग्रतस्तस्थौ नमस्तेभ्यश्चकार सः। प्रदत्तधर्मलाभाशीर्निर्ग्रन्थः प्रभुराह च॥48॥
को भवानिति तैः प्रोक्ते प्रकटं प्राह साहसी। शुभंकरात्मजः सिद्धो घृतान्मात्रा निषेधितः॥49॥
उद्घाटद्वारि यायास्त्वमोकसीयन्महानिशि। इत्यम्बावचनादत्राप्रावृत्तद्वारि सङ्गतः॥50॥
अतःप्रभृति पूज्यानां चरणौ शरणं भम। प्राप्ते प्रवहणे को हि निस्तितीर्षति नाम्बुधिम्॥51॥
उपयोगं श्रुते दत्त्वा योग्यताहृष्टमानसाः। प्रभावकं भविष्यन्तं परिज्ञायाथ तेऽवदन्॥52॥
अस्मद्वेषं विना नैवास्मत्पार्श्वे स्थायतेतराम्। सदा स्वेच्छविहाराणां दुर्ग्रहः सं भवादृशाम्॥53॥
धार्यं ब्रह्मव्रतं घोरं दुश्चरं कातरैरैः। कापोतिका तथा वृत्तिः समुदानाऽपराभिधा॥54॥
दारुणः केशलोचोऽथ सर्वाङ्गीणव्यथाकरः। सिकतापिण्डवच्चायं निरास्वादश्च संयमः॥55॥
उच्चावचानि वाक्यानि नीचानां ग्रामकण्टकाः। सोढव्या दशनैश्चर्वणीया लोहमया यवाः॥56॥
उग्रं षष्ठाष्टमाद्यं तत्तपः कार्यं सुदुष्करम्। स्वाद्यास्वाद्येषु लब्धेषु रागद्वेषौ न पारणे॥57॥
इत्याकर्ण्यावदत् सिद्धो मत्सद्व्यसनस्थिताः। छिन्नकर्णोष्ठनासादिबाहुपादयुगा नराः॥58॥
क्षुधाकरालिता भिक्षाचौर्यादेवृत्तिधारिणः। अप्राप्तशयनस्थानाः पराभूता निजैरपि॥59॥
नाथ ! किं तदवस्थाया अपि किं दुष्करो भवेत्। संयमो विश्ववन्द्यस्तन्मूर्ध्नि देहि करं मम॥60॥
यददत्तं न गृह्णीमो वयं तस्मात् स्थिरो भव। दिनमेकं यथाऽनुज्ञापयामः पैतृकं तव॥61॥

ततः प्रमाणमादेश इत्युक्त्वा तत्र सुस्थिते। परं हर्षं दधौ सूरिः सुविनेयस्य लाभतः॥62॥

3. इतः शुभंकरः श्रेष्ठी प्रातः पुत्रं समाह्वयत्। शब्दादाने च सम्भ्रान्तोऽपश्यत् पत्नीं नताननाम्॥63॥
अधरात्रौ कथं नागात् सिद्ध इत्युदिता सती। लज्जानप्राऽवदद् द्यूतीशिक्षितोऽथ सुतो ययौ॥64॥
श्रेष्ठी दधौ महेलाः स्युरुत्तानधिषणः ध्रुवम्। न कर्कशवचोयोग्यो व्यसनी शिक्ष्यते शनैः॥65॥
ईषत्करं ततः प्राह प्रिये ! भव्यं त्वया कृतम्। वयं किं प्रवदामोऽत्र वणिजां नोचितं ह्यदः॥66॥
गृहाद् बहिश्च निर्याय प्रयासाङ्गीकृतस्थितिः। व्यलोकयत् पुरं सर्वमहो मोहः पितुः सुते॥67॥
दृष्टश्चारित्रशालायामसावुपशमोर्मिभिः। आप्तुतोऽपूर्वसंस्थानः ततोऽवादि च तेन सः॥68॥
यद्येवं शमिसामीप्यस्थितिं पश्यामि ते सुत ! अमृतेनेव सिद्ध्ये तन्नन्दनानन्दनस्थिते॥69॥
द्यूतव्यसनिनां साध्वाचारातीतकुवेषिणाम्। सङ्गतो मम हृदुःखहेतुः केतुरिव ग्रहः॥70॥
आगच्छ वत्स ! सोत्कण्ठा तव माता प्रतीक्षते। किञ्चिन्मद्वचनैर्दूना सन्तप्ता निर्गमात् तव॥71॥
स प्राह तात ! पर्याप्तं गेहागमनकर्मणि। मम लीनं गुरोः पादारविन्दे हृदयं ध्रुवम्॥72॥
जैनदीक्षाधरो मार्गं मार्गं निष्प्रतिकर्मतः। आचरिष्यामि तन्मोहो भवदिभर्मा विधीयताम्॥73॥
याया अपावृतद्वारे वेशमनीत्यम्बिकावचः। शमिसन्निध्यवस्थानं मतं नस्तद् भवद्वचः॥74॥
यावज्जीवं हि विदधे यद्यहं तत् कुलीनता। अक्षता स्यादिदं चित्ते सम्यक् तात ! विचिन्तय॥75॥
अथाह सम्भ्रमाच्छ्रेष्ठी किमिदं वत्स ! चिन्तितम्। असंख्यध्वजविज्ञेयं धनं कः सार्थयिष्यति॥76॥
विलस त्वं यथासौख्यं प्रदेहि निजयेच्छया। अविमुञ्चन् सदाचारं सतां श्लाघ्यो भविष्यति॥77॥
एकपुत्रा तवाम्बा च निरपत्या वधूस्तथा। गतिस्तयोस्त्वमेवासि जीर्णं माऽजीगणस्तु माम्॥78॥
पित्रेत्थमुदिते प्राह सिद्धः सिद्धशमस्थितिः। संपूर्णं लोभिवाणीभिस्तत्र मे श्रुतिरश्रुतिः॥79॥
ब्रह्मण्येव मनो लीनं ममातो गुरुपादयोः। निपत्य ब्रूहि दीक्षां मे पुत्रस्य मम यच्छत (?)॥80॥
अतिनिबन्धतस्तस्य तथा चक्रे शुभंकरः। गुरुः प्रादात् परिव्रज्यां तस्य पुण्ये स्वरोदये॥81॥
दिनैः कतिपयैर्मासमाने तपसि निर्मिते। शुभे लग्ने पञ्चमहाव्रतारोपणपर्वणि॥82॥
दिग्बन्धं श्रावयामास पूर्वतो गच्छसन्ततिम्। सत्प्रभुः शृणु वत्स ! त्वं श्रीमान् वज्रप्रभुः पुरा॥83॥
तच्छिष्यवज्रसेनस्याभूद् विनेयचतुष्टयी। नागेन्द्रो निर्वृतिश्चन्द्रः ख्यातो विद्याधरस्तथा॥84॥
आसीन्निर्वृत्तिगच्छे च सूराचार्यो धियां निधिः। तद्विनेयश्च गर्गर्धिरहं दीक्षागुरुस्तव॥85॥
शीलाङ्गानां सहस्राणि त्वयाऽष्टादश निर्भरम्। वोढव्यानि विविश्राममाभिजात्यफलं ह्यदः॥86॥
ओमिति प्रतिपाद्याथ तप उग्रं चरन्नसौ। अध्येता वर्त्तमानानां सिद्धान्तानामजायत॥87॥

4. स चोपदेशमालाया वृत्तिं बालावबोधिनीम्। विदधेऽवहितप्रज्ञः सर्वज्ञ इव गीर्भरैः॥88॥
सूरिर्दाक्षिण्यचन्द्राख्यो गुरुभ्राताऽस्ति तस्य सः। कथां कुवलयमालां चक्रे शृङ्गारनिर्भराम्॥89॥
किञ्चित् सिद्धकृतग्रन्थसोत्प्रासः सोऽवदत् तदा। लिखितैः किं नवो ग्रन्थस्तदवस्थागमाक्षरे॥90॥
शास्त्रं श्रीसमरादित्यचरितं कीर्त्यते भुवि। यद्रसोर्मिप्लुता जीवाः क्षुत्तडाद्यं न जानते॥91॥
अर्थोत्पत्तिरसाधिक्यसारा किञ्चित् कथापि मे। अहो ते लेखकस्येव ग्रन्थः पुस्तकपूर्णः॥92॥
अथ सिद्धकविः प्राह मनोदूनोऽपि नो खरम्। वयोतिक्रान्तपाठानामीदृशी कविता भवेत्॥93॥

का स्यद्धा समरावित्यकवित्वे पूर्वसूरिणा। खद्योतस्येव सूर्येण मादृग्मन्दमतेरिह॥११४॥
इत्थमुत्तेजितस्वान्तस्तेनासौ निर्ममे बुधः। अज्ञदुर्बोधसम्बन्धां प्रस्तावाष्टकसम्भृताम्॥११५॥
रम्यामुपमितिभवप्रपञ्चाख्यां महाकथाम्। सुबोधकवितां विद्वदुत्तमाङ्गविधूनीम्॥११६॥ - युग्मम्।
ग्रन्थं व्याख्यानयोग्यं यदेनं चक्रे शमाश्रयम्। अतः प्रभृति सङ्घोऽस्य व्याख्यातुर्विरुदं ददौ॥११७॥
दर्शिता चास्य तेनाथ हसितुः स ततोऽवदत्। ईदृक् कवित्वमाधेयं त्वद्गुणाय मयोदितम्॥११८॥

5. ततो व्यचिन्तयत् सिद्धो ज्ञायते यदपीह न। तेनाप्यज्ञानता तस्मादध्येतव्यं ध्रुवं मया॥११९॥
तर्कग्रन्था मयाधीताः स्वपरेऽपीह ये स्थिताः। बौद्धप्रमाणशास्त्राणि न स्युस्तदेशमन्तरा॥१२०॥
आपप्रच्छे गुरुं सम्यग् विनीतवचनैस्ततः। प्रान्तरस्थितदेशेषु गमनायोन्मनायितः॥१२१॥
निमित्तमवलोक्याथ श्रौतेन विधिना ततः। सवात्सल्यमुवाचाथ नाथप्राथमकल्पिकम्॥१२२॥
असन्तोषः शुभोऽध्याये वत्स ! किञ्चिद् वदामि तु। स त्वमत्र न सत्त्वानां समये प्रमये धियाम्॥१२३॥
भ्रान्तचित्तः कदापि स्याद् हेत्वाभासैस्तदीयकैः। अर्थी तदागमश्रेणेः स्वसिद्धान्तपराङ्मुखः॥१२४॥
उपार्जितस्य पुण्यस्य नाशं त्वं प्राप्स्यसि ध्रुवम्। निमित्तत इदं मन्ये तस्मान्माऽत्रोद्यमी भव॥१२५॥
अथ चेदवलेपस्ते गमने न निवर्तते। तथापि मम पाशवं त्वमागा वाचा ममैकदा॥१२६॥
रजोहरणमस्माकं व्रताङ्गं नः समर्पये। इत्युक्त्वा मौनमातिष्ठेद् गुरुश्चित्तव्यथाधरः॥१२७॥
प्राह सिद्धः श्रुतो च्छादयित्वा शान्तं हि कल्मषम्। अमङ्गलं प्रतिहतमकृतज्ञः क ईदृशः॥१२८॥
चक्षुरुद्घाटितं येन मम ज्ञानमयं मुदा। पुनस्तद् ध्यामयेत् को हि धूमायितपरोक्तिभिः॥१२९॥
अन्त्यं वचः कथं नाथ ! मयि पूज्यैरुदाहृतम्। कः कुलीनो निजगुरुक्रमयुग्मं परित्यजेत्॥१३०॥
मनः कदापि गुप्येत चेद् धनूरधनादिव। तथापि प्रभुपादानामादेशं विदधे ध्रुवम्॥१३१॥
दुरध्येयानि बौद्धानां शास्त्राणीति श्रुतिश्रुतिः। स्वप्रज्ञायाः प्रमाणं तल्लप्स्ये तद्गुपिलाध्वनिः॥१३२॥
इत्युदित्वा प्रणम्याथ स जगाम यथेप्सितम्। महाबोधाभिधं बौद्धपुरमव्यक्तवेषभृत्॥१३३॥
कुशाग्रीयमतेस्तस्याक्लेशेनापि प्रबोधतः। विद्वद्भेदशास्त्राणि तेषामासीच्चनत्कृतिः॥१३४॥
तस्याङ्गीकरणे मन्त्रस्तेषामासीदुरासदः। तमस्युद्योतको रत्नमाप्य माध्यस्थ्यमाश्रयेत्॥१३५॥
तादृग्वचःप्रपञ्चैस्तैर्बद्धकैर्गर्द्धकैरपि। तं विप्रलम्भयामासुर्मौनवद्धीवरा रसात्॥१३६॥
शनैर्भ्रान्तमनोवृत्तिर्बभूवासौ यथातथा। तदीयदीक्षामादत्त जैनमार्गातिनिस्पृशः॥१३७॥
अन्यदा तैर्गुरुत्वेऽसौ स्थाप्यमानोऽवदन्ननु। एकवेलं मया पूर्वं संवीक्ष्या गुरवो ध्रुवम्॥१३८॥
इति प्रतिश्रुतं यस्मात् तदग्रे तत्प्रतिश्रवम्। सत्यसन्धस्त्यजेत् तत् कस्तत्र प्रहिणुताथ माम्॥१३९॥
इति सत्यप्रतिज्ञत्वमतिचारु च सौगते। मन्यमानास्ततः प्रैषुः स चागाद् गुरुसन्निधौ॥१४०॥
गत्वाधोपाश्रये सिंहासनस्थं वीक्ष्य तं प्रभुम्। ऊर्ध्वंस्थानशुभा नूयमित्युक्त्वा मौनमास्थितः॥१४१॥
गर्गस्वामी व्यमुक्षच्च संजज्ञे तदिदं फलम्। अनिमित्तस्य जैनी वाग् नान्यथा भवति ध्रुवम्॥१४२॥
अस्माकं ग्रहवैषम्यमिदं जज्ञे यदीदृशः। सुविनेयो महाविद्वान् परशास्त्रैः प्रलम्बितः॥१४३॥
तदुपायेन केनापि बोध्योऽसौ यदि भोत्स्यते। तदस्माकं प्रियं भाग्यैरुदितं किं बहुक्तिभिः॥१४४॥
ध्यात्वेत्युत्थाय गुरुभिस्तं निवेश्यासनेऽर्पिता। चैत्यवन्दनसूत्रस्य वृत्तिर्ललितविस्तरा॥१४५॥
ऊचुश्च यावदायामः कृत्वा चैत्यनतिं वयम्। ग्रन्थस्तावदयं वीक्ष्य इत्युक्त्वा तेऽगमन् बहिः॥१४६॥

ततः सिद्धश्च तं ग्रन्थं वीक्षमाणो महामतिः। व्यमृशत् किमकार्यं तन्मयाऽऽरब्धमचिन्तितम्॥127॥
कोऽन्य एवविधो मादृग्विचारितकारकः। स्वार्थप्रंशी पराख्यानैर्मणिं काचेन हारयेत्॥128॥
महोपकारी स श्रीमान् हरिभद्रप्रभुर्यतः। मदर्थमेव येनासौ ग्रन्थोऽपि निरमाप्यत॥129॥

“आचार्यो हरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः।

प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्ये निवेशितः॥130॥

अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दनसंश्रया।

मदर्थं निर्मिता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा॥131॥

विषं विनिर्धूय कुवासनामयं व्यचीचरद् यः कृपया मदाशये।

अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये॥132॥”

किं कर्ता च मया शिष्याभासेनाथ गुरुर्मम। विज्ञायैतन्निमित्तेनोपकर्तुं त्वाङ्गयन्मिषात्॥133॥
तदहिरजसा मौलिं पावयिष्येऽधुनानिशम्। अगः स्वं कथयिष्यामि गुरुः स्यान्न ह्यनीदृशः॥134॥
ताथागतमतभ्रान्तिर्गता मे ग्रन्थतोऽमुतः। कोद्रवस्य यथा शस्त्राघाततो मदनभ्रमः॥135॥
एवं चिन्तयतस्तस्य गुरुर्बाह्यभुवस्ततः। आगतस्तद् दृशं पश्यन् पुस्तकस्थां मुद्रं दधौ॥136॥
नैषेधिकीमहाशब्दं श्रुत्वोर्ध्वः सम्भ्रमादभूत्। प्रणम्य रूक्षयामास शिरसा तत्पदद्वयम्॥137॥
उवाच किनिमित्तोऽयं मोहस्तव मयि प्रभो । कारयिष्यन्ति चैत्यानि पश्चात् किमादृशोऽधमाः॥138॥
उन्मीलादूषकाः स्फोटस्फुटा वदनविद्रुहः। स्वादविघ्नाश्छला दन्ताः कुशिष्याश्च गताः शुभाः॥139॥
आहूतो मिलनव्याजाद् बोधायैव ध्रुवं प्रभो॥ हरिभद्रस्तथा ग्रन्थो भवता विदधे करे॥140॥
भग्नभ्रमः कुशास्त्रेषु प्रभुं विज्ञपये ततः। स्वस्यान्तेवासिपाशस्य पृष्ठे हस्तं प्रदेहि मे॥141॥
देवगुर्वाद्यवज्ञोत्थमहापापस्य मे तथा। प्रायश्चित्तं प्रयच्छाद्य दुर्गतिच्छिद् कृपां कुरु॥142॥
अथोवाच प्रभुस्तत्र करुणाशरणाशयः। आनन्दाश्रुपरिश्रुत्या परिवर्तितोत्तरीयकः॥143॥
मा खेदं वत्स ! कार्षीस्त्वं को वनीवच्यते न वा। पानशौण्डैरिवाभ्यस्तकुतर्कमदविह्वलैः॥144॥
नाहं त्वा धूर्तितं मन्ये यद्वक्तुं विस्मृतं न मे। मदेन विकूलः कोऽपि त्वां विना प्राक्श्रुतं स्मरेत्॥145॥
वेवादिधारणं तेषां विश्वासाथापि सम्भवेत्। अतिभ्रान्तिं च नात्राहं मानये तव मानसे॥146॥
प्रख्यातवपुःकः प्रज्ञाज्ञातशास्त्रार्थमर्मकः। कः शिष्यस्त्वादृशो गच्छेऽतुच्छे मच्चित्तविश्रमः॥147॥
इत्युक्तिभिस्तमानन्द प्रायश्चित्तं तदा गुरुः। प्रददेऽस्मै निजे पट्टं तथा प्रातिष्ठिपच्च तम्॥148॥
स्वयं तु भूत्वा निस्सङ्गस्त्वङ्गद्रङ्गभुवं तदा। हित्वा प्राच्यर्षिचीर्णाय तपसेऽरण्यामाश्रयत्॥149॥
कायोत्सर्गा कदाप्यस्थादुपसर्गसहिष्णुधीः। कदापि निर्निमेषाक्षः प्रतिमाभ्यासमाददे॥150॥
कदाचित्पारणे प्रान्ताहारधारितसंवरः। कदाचिन्मासिकाद्यैश्च तपोभिः कर्म सोऽक्षपत्॥151॥
एवंप्रकारमास्थाय चारित्रं दुश्चरं तदा। आयुरन्तो विधायाथानशनं स्वयंयौ सुधीः॥152॥
इतश्च सिद्धय्याख्याता विख्यातः सर्वतोमुखे। पाण्डित्ये पण्डितंमन्यपरशासनजित्वरः॥153॥
समस्तशासनोद्योतं कूर्चन् सूर्य इव स्फुटम्। विशेषतोऽवदातैस्तु कृतनिर्वृतिनिर्वृतिः॥154॥
असंख्यतीर्थयात्रादिमहोत्साहैः प्रभावनाः। कारयन् धार्मिकैः सिद्धो वचःसिद्धिं परां दधौ॥155॥

श्रीमत्सुप्रभवेवनिर्मलकुलालंकारद्वयमणिः,

श्रीमन्माधकवीश्वरस्य सहजः प्रेक्षापरीक्षानिधिः।

तदुक्तं पिरचिन्त्य कुग्रहपरिष्वङ्गं कथञ्चित्कलि-
 प्रागल्भ्यावपि सङ्गतं त्यजत भो लोकद्वये शुद्धये॥156॥
 श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-
 चन्द्रः सूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।
 श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ सिद्धर्षिवृत्ताख्याया
 श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शुक्ले जगत्संख्याया॥157॥

॥ इति श्रीसिद्धर्षिप्रबन्धः॥



श्रीवीरसूरचरितम्

1. आन्तरारिहरिध्वंसी दुष्कर्मजयूथहत्। अष्टापदोदयद्वर्णः श्रीवीरः स्वान्वयः श्रिये॥1॥
 श्रीमद्वीरगणिस्वामिपादाः पान्तु यदादरात्। कषायादिरिपुघ्नातो भवेन्नागमनक्षमः॥2॥
 विबुधा विबुधा यस्योपदेशैरमृताश्रवैः। स्वान्वयोरुपकाराय तस्य वृत्तं प्रतन्यते॥3॥
 पुरं श्रीमालमित्यस्ति गभस्तिरपहस्तितः। यदुद्यानद्रुमैः पूर्वपश्चिमावाश्रयद् गिरी॥4॥
 मन्दतामरसत्त्वं च यत्र बिभ्रति नो जनाः। मन्दतामरसत्त्वं च दधते न सरांस्यपि॥5॥
 श्रीधूमराजवंशीयः कुमुदामोदिमण्डलः। राजात्र देवराजोऽस्ति तरङ्गितनयोदधिः॥6॥
 वणिक् प्राग्रहरस्तत्र शिवनागाभिधः सुधीः। यन्मन्त्रैर्हियतेऽत्युग्रद्विजिह्वप्रभवं विषम्॥7॥
 दृढानुरागी श्रीजैनधर्मं श्रीधरणाभिधम्। आराध स नागेन्द्रं तदभक्तेरतुषच्च सः॥8॥
 कलिकुण्डक्रमं तस्य सर्वसिद्धिकरं ददौ। विषापहारकं सद्यो जपहोमादिकैर्विना॥9॥
 यः फूत्कारकरस्पर्शैरष्टानामपि संहरेत्। विषं नागकुलानां स मन्त्रो निष्पुण्यदुर्लभः॥10॥
 स्तवनं स तदा चक्रे तत्सन्दर्भप्रतापपरिपूतम्। स्मरणादपि दुरितहरं ख्यातं धरणोरगेन्द्राख्यम्॥11॥
 तस्य पूर्णलताऽन्वर्था कान्ता धर्मद्रुमाश्रिता। कुलकन्दा वचःपत्रा यशःपुष्पा महःफला॥12॥
 स्वस्ति वीरस्तयोः पुत्रो रत्नदीप इव स्फुरन्। अक्षयार्चिस्तमोहन्ता दिवसप्रकटप्रभः॥13॥
 यस्य कोटिध्वजव्याजाद् वैजयन्त्य इवोर्जिताः। सुमनस्थेन गीर्वाणान् जित्वा वीरः कथं न सः॥14॥
 स सप्तोद्वाहितः कन्याः सप्तानां व्यवहारिणाम्। सप्ताब्धीनामिवामूल्यरत्नौघैर्मण्डिताः श्रियः॥15॥
 श्रीवीरं वन्दितुं वीरः श्रीमत्सत्यपुरे सदा। मृते पितरि वैराग्याद् याति पर्वसु सर्वदा॥16॥
 अन्यदा तत्स्करैर्यच्छन् विद्रोतोभयशस्करैः। अवेष्ट्यतारथान् शुष्कपत्रैः कारस्करैरिव॥17॥
 प्रणश्य च तदा श्यालः श्रेष्ठिनो गृहमागमत्। अधृतेश्चागमन्माता गृहद्वारे जनश्रुतेः॥18॥
 वीरः कुत्र तया पृष्टे नर्मणा सोऽप्यभाषत। चौरेर्वीरो मृषावीरः प्रहतः सत्त्ववर्जितः॥19॥
 इत्याकर्ण्य तदम्बा च तथैवास्थादजीविता। अहो अतुच्छं वात्सल्यं मातुर्वान्यपथातिगम्॥20॥
 पितुर्भर्तुः कलाचार्य-मित्रयोरुपकारिणः। भवेत् कथंचिदानृण्यं जनन्या न कथंचन॥21॥
 तदा च चौरसंघाताद् वीरो वीरप्रसादतः। स्वक्षेत्रेणाकृतेनागात् (?) शालभादिव कर्षुकः॥22॥
 दृष्ट्वा स्वाम्बां गतप्राणं विस्मरन्निजसङ्कटम्। किमभूदित्यतः पृच्छन् यथावृत्तं तदाऽश्रुणोत्॥23॥
 अनुतप्तः प्रियाबन्धुर्वीरणाभिदधे तदा। अस्थिभङ्गं कथं नर्म कृतं मदभाग्यदूषकम्॥24॥
 स प्राह कोऽपि नमोक्त्या किं मातेव विपद्यते। शल्यं बिल्वकवन्मेऽभूदित्याजन्माप्यनिर्गमम्॥25॥
 वीरः प्राहाथ वैराग्याज्जनन्या मम च स्फुटम्। कीदृग्दूरतरं स्नेहसम्बन्धे पश्यतान्तरम्॥26॥
 हास्येन मन्मृतिं श्रुत्वा माता सत्येन संस्थिता। सत्येऽपि निधने तस्या वयं किञ्चिन्मुचोऽपि न॥27॥
 उक्त्वैति कोटिमेकैकां कलत्रेभ्यः प्रदाय सः। शेषः (?) वं श्रीसंघपूजासु चैत्येष्वाख्ययद् धनम्॥28॥
 परिग्रहपरित्यागं कृत्वा गार्हस्थ्य एव सन्। गत्वा सत्यपुरे श्रीमद्वीरमाराधयन्मुदा॥29॥

उपवासान् सदा चाष्ट कृत्वा पारणकं व्यधात्। समस्तविकृतित्यागादहो अस्य महत्तपः॥30॥
प्रासुकाहारभोजी च स चतुर्विधपौषधी। पुरबाह्ये श्मशानादौ कायोत्सर्गं निशि व्यधात्॥31॥
दिव्यमानुषतैरश्चोपसर्गेषु स सासहिः। तप्यमानस्तपस्तीव्रमभवत् तीर्थसन्निभः॥32॥
निजक्रियानुमानेन गुरोरुत्कण्ठितः सदा। एकचित्तो महावीरपादान् ध्यायत्यमन्दधीः॥33॥

2. प्रदोषसमयेऽन्येद्युः प्रतिमार्थं बहिर्भुवि। गच्छन् दूरात् समायान्तं मायान्तं जङ्गमं शमम्॥34॥
चारित्रमिव मूर्तिस्थं मथुरायाः समागतम्। स वर्षशतदेशीयमपश्यद् विमलं गणिम्॥35॥
क्षितिपीठलुठन्मूर्द्धा सर्वाभिगमपूर्वकम्। ववन्दे नन्दितस्तेन धर्मलाभाशिषा च सः॥36॥
अकाले नगराद्बाह्ये धर्मशीलः। वव गम्यते। इत्युक्ते प्रान्तभूमीषु व्युत्सर्गायेति सोऽवदत्॥37॥
गणिः प्राहातिथिस्तेऽहमङ्गविद्योपदेशतः। मिलित्वा ते स्वकालाय यामि शत्रुञ्जये गिरौ॥38॥
वीरोऽवदथ श्रेयो दिनं मे यद्भवाद्दृशाः। प्रसादमसमं कृत्वोत्कण्ठन्ते किल मादृशाम्॥39॥
निशां सफलयाम्यद्य तत्पूज्यवरिवस्यया। चिन्तामणिं करप्राप्तं कः कुण्ठोऽप्यवमन्यते॥40॥
इत्युक्त्वा दर्शयन् स्वीयोपाश्रयं तस्य सदगुरोः। शुश्रूषां च स्वयं चक्रे देहविश्रामणादिकाम्॥41॥
ततश्चाह मुनीशोऽङ्गविद्यां त्वमशठः पठ। प्रभावकः श्रुतज्ञानाद् भवितासि मते यथा॥42॥
वीरः प्राह गृहस्थानां कथं सिद्धान्तवाचना। नाधीतं पुनरायाति वृद्धत्वाद् विदधे किमु॥43॥
अथाह गुरुध्वन्यो भवान्तरगतावहम्। अङ्गविद्या महाविद्या तवायाता स्वयं वरा॥44॥
तदर्थं ज्ञापयिष्यामि शीघ्रं तत्पुस्तकं पुनः। थारापद्रपुरे श्रीमात्राभेयस्य जिनेशितुः॥45॥
चैत्यस्य शुकनासेऽस्ति तं गृहीत्वा च वाचयेः। इत्युक्त्वाऽयात् परिक्रम्यां गुरुर्वीरस्य सादरम्॥46॥ - युग्मम्।
दिशन् ग्रन्थस्य तस्यार्थं दिनत्रयमवास्थितः। ततो जगाम स श्रीमान् विमलो विमलाचले॥47॥
तत्र श्रीवृषभं नत्वा तदेकध्यानमानसः। संन्यासात् त्रिदिवं प्राप पापमातङ्गकेसरी॥48॥
ततो गुरुनियोगेन वीरस्तत्र पुरे ययौ। स्थाने च तत्समादिष्टे श्राद्धेभ्यः प्राप पुस्तकम्॥49॥
अधीता तेन तत्राङ्गविद्या च गणिविद्यया। तस्याः प्रसादतः सोऽभूद्ग्रशक्तिर्महातपाः॥50॥
अभूदथ परीवारस्तस्य प्राचीनपुण्यतः। अबुद्धबोधने सैव नियमं चाग्रहीत् तदा॥51॥

3. विजिहीर्षुर्गणिर्वीरोऽणहिल्लपुरसमुखम्। आजगाम स्थिरग्रामे विरूपानाथसंश्रिते॥52॥
स चात्र बलभीनाथापराख्यो ज्यन्तराधिपः। रात्रौ देवगृहे सुप्तं हन्ति मर्त्यं महारुषा॥53॥
तद्बोधाय महामातृपीठान्तर्गणिविद्यया। अर्द्धतुर्यकरोन्मानं कुण्डं कृत्वा महोदयः॥54॥
तत्रस्थैः स निषिद्धोऽपि महाशक्तिभरात् ततः। अस्थादस्थानमीदृक्षभयानामक्षतव्रतः॥55॥ - युग्मम्।
झञ्झादिवातवद्विघ्नान्यवजानन् सुराद्रिवत्। कायोत्सर्गे स्थितः कार्यो निष्प्रकंपो मनस्यपि॥56॥
उद्यत्कलिकलिरावैर्भीतिं बाह्येष्वथ वदन्। आययौ बलभीनाथ आतङ्गं विदधज्जने॥57॥
व्यकार्षाद्धस्तिनः पूर्वं जङ्गमानिव पर्वतान्। तमाश्रितान् सुरेन्द्रेण सह वैरभयादिव॥58॥
तस्य रेखां न लङ्घन्ते मर्यादां सागरा इव। उन्नतावनतैः शुण्डादण्डैरुड्डाभरा अपि॥59॥
ततः प्रसर्पतः सर्पान् सदम्प्यनैक्षयत्तराम्। दृष्टिनिर्यद्विषज्वालान् भस्मीभूतान्यदेहिनः॥60॥
तां रेखामनतिक्रम्य स्थितांस्तान् वीक्ष्य निर्ज्वरः। विलक्ष इव दध्यौ स महिमाऽस्य जनातिगः॥61॥
ततो राक्षसरूपानि भैरवाणि चकार सः। क्षोभाय तस्य नाभूवन् प्रतिकूलानि तान्यपि॥62॥

अनुकूलैरधारम्भि मुमुक्षोर्विप्रलम्भनम्। माता-पिता-कलत्राणि क्रन्दन्ति स समैक्षयत्॥63॥
तत्त्वज्ञस्तान्यवाज्ञासीत्, मोहविन्ध्यस्य कोत्रतिः। वीरे कुम्भोद्भवोऽमुत्र दक्षिणां दिशमाश्रिते॥64॥
कलावपि सुराचाल्यं सत्त्वं वीरतपोनिधेः। द्रष्टुं पूर्वाचलं प्राप्ते कौतुकादिव भास्करे॥65॥
प्रत्यक्षीभूय गीर्वाण उवाचासौ तपोनिधिम्। अखर्वपर्वताध्वन्यध्वन्यध्वस्तथाक्रमम्॥66॥
पूर्वं सुरनरेशानां मानभङ्गो मया दधे। त्वां विना नैव केनापि शक्तेर्मै स्खलनं कृतम्॥67॥

4. पूर्वास्थिङ्ककरीपुर्यामागतोऽहं शिवालये। भीमेश्वराख्ये तल्लिङ्गमप्रणम्यैव च स्थितः॥68॥
चरणौ तज्जलाधारे न्यस्य सुप्तश्च तत्क्षणे। तत्रागत्य नृपोऽपृच्छन्मां सविस्मयमानसः॥69॥
नमसि त्वं न किं देवमज्ञानाच्छक्तितोऽथवा। तदाऽवोचमहं राजन् ! हेतुं ते कथये स्फुटम्॥70॥
शिवोऽयं शक्तिसम्बद्धो मां दृष्ट्वा लज्जया नतः। भविष्यति यतः पुंसो लज्जा पुंसोऽग्रतो भवेत्॥71॥
एवस्थितोऽपि देवोऽस्मिन् नमति प्राकृतो जनः। पशूपमे जने तस्य का व्रीडास्था ममापि च॥72॥
चेत् ते कौतुकमत्रास्ति मत्प्रणामात् तदास्य चेत्। उत्पातः कोऽपि जायेत तत्र दोषोपमोऽपि मे॥73॥
इत्युक्त्वा विरते मय्यब्रवीद् भूमिपतिस्ततः। वैदेशिका भवन्त्यत्र स्फारवाक्यक्रमाः सदा॥74॥
चर्मदेहः पुमान् देवसाम्यं स्वस्येह मन्यते। हास्यं सचेतनानां तद् बालानां विप्रलम्भनम्॥75॥
या काचिदस्ति ते शक्तिस्तां प्रयुक्त्व न ते पुनः। दोषोऽणुरपि कार्येऽत्र नगरे साक्षि वर्तताम्॥76॥
श्रुत्वेति प्रणतिं यावत् कुर्वे संगत्य सन्निधौ। त्रादकृत्य तावत् पुस्फोट लिङ्गं लोकस्य पश्यतः॥77॥
अथाहमवदं भीतिसम्भ्रमभ्रान्तलोचनम्। भूपालं बालवत्कण्ठरोधाव्यक्तस्वरं तदा॥78॥
मदुत्तेजनदम्भेन त्वया वैरं प्रसाधितम्। लिङ्गेऽस्मिन् चर्चनाक्लेशैर्दूनेन चिरकालतः॥79॥
श्रुत्वेति पादयोर्मौलिं मेलयित्वा तु नीतिभूः। राजा सपरिवारोऽयमाह देवस्त्वमेव नः॥80॥
तीर्थं त्वयैव दत्तं स्यादन्यथोच्छ (त्स ?) ज्ञमेव तत्। शिवस्त्वमेव देहस्थः पाषाणा इतरे पुनः॥81॥
एवमुक्ते योगपट्टेनावेष्टयमिदं त्वहम्। सम्बद्धद्विदलं तत्र लिङ्गमद्यापि पूज्यते॥82॥
महाबोधे ततो बौद्धविहारशतपञ्चकम्। तान् विजित्य मया भग्नं तत्र सामर्थ्यतो निजात्॥83॥
तथा मम प्रतिज्ञाऽस्ति संमुखं विजये ध्रुवम्। महाकालाख्यया शम्भुर्भीत्या मे कोणके स्थितः॥84॥
सोमेश्वरजयार्थं च चलित्वागममत्र च। सोऽत्रागत्यामिलद् भीतो मम ब्राह्मणरूपतः॥85॥
प्राहैतद् दारुणं क्षेत्रं पवित्रं दत्तमत्र च। महोदयाय तद् यावे दातुमीशो भवान् यदि॥86॥
मयोचेहं क्षमो दाने मार्गणानां यथेप्सितम्। घट-मूटक-टंकानां लक्षैराज्यान्नहेमसु॥87॥
ततोऽसौ ब्राह्मणोऽवोचन् मम किञ्चिद् ददस्व तत्। याचस्वेति मदुक्ते च स प्राह श्रूयतां ततः॥88॥
अत्र क्षेत्रे स्थिरो भूत्वाऽवतिष्ठस्व महाबल ! श्रुत्वेति ज्ञानतो यावदीक्षे तावत् स शङ्करः॥89॥
आतङ्गात् सोमनाथाख्यः छलितुं मां समाययौ। वामनो बलिभूपालमिव वृद्धद्विजच्छलात्॥90॥
दण्डं कमपि मे देहि यथा सत्यः प्रतिश्रवः। मम स्यादन्यथात्रापि स्थितस्तेऽस्मि व्यथावहः॥91॥
अथ स प्राह नाहंयुस्त्वय्यहं तद्वचः शृणु। मद्यात्रा तस्य पूर्णा स्याद् यस्त्वामत्र नमस्यति॥92॥
अन्यथाऽर्द्धफला सा स्यादित्युक्त्वा स्वाश्रयं गतः। वर्त्ततेऽद्यापि तत्तादृग् मद्वचः को विलङ्घयेत्॥93॥
ततः प्रभृत्यसौ ग्रामः स्थिरमित्याख्ययाऽभवत्। मम शम्भोश्च वाचां हि स्थिरता नहि दुर्लभा॥94॥
इति न स्खलिता शक्तिर्मम मयैः सुरैरपि। त्वं तु श्वेताम्बराकारो दैव मतोऽपि शक्तिमान्॥95॥
नावमन्तुमहं शक्तः समीक्षे दूरतः स्थितः। रेखाकुण्डं ज्वलच्चारवदिदं शङ्कितः पुमान्॥96॥

तुष्टस्तव तपःशक्तेः वाञ्छितं प्रार्थय द्रुतम्। अक्षेपात् पूरयिष्ये तत् कल्पवृक्ष इव ध्रुवम्॥१७॥
 पारयित्वा ततो वीरः परमेष्ठिनमस्कृतेः। जगादनादरा अत्र सर्वसङ्गमुचो वयम्॥१८॥
 तथापि किञ्चिन्मद्भक्तेर्गृहाणेत्युदितेऽमुना। मुनिराह वधं रक्ष तवाप्यायुर्विनश्वरम्॥१९॥
 दुर्गतौ पतने हेतुर्मौलोऽयं प्राणिनां वधः। तथाख्यातैः पुरावृत्तैर्हर्षो मे नाऽत्यहंकृतैः॥१००॥
 महादानेषु सामर्थ्यमात्मनश्च त्वयोदितम्। जीवाभयप्रदानं च सर्वेभ्योऽप्युत्तमं पुनः॥१०१॥
 हर्षादाह स तथ्यं ते वचो जानेऽहमप्यदः। स्वेच्छाचारी परीवारो मम तस्य प्रियं त्विदम्॥१०२॥
 त्वद्वचोभिः सुभासारसारैरित्यतिहर्षितः। प्रासादजगतीमध्ये जीवानां रक्षये वधम्॥१०३॥
 श्रीवीरोऽप्याह भूयात् तद् राज्ञा ज्ञातमिदं वचः। आचन्द्रकालिकं वृत्तमाक्योः पुण्यहेतवे॥१०४॥

5. अणहिल्लपुरेऽवासीच्चक्रवर्तीव नूतनः। श्रीमान् चामुण्डराजाख्यस्तत्रास्मिन् समये नृपः॥१०५॥
 अज्ञापयदिदं च श्रीविरूपानाथ एव तत्। प्रधानैस्तैर्नृपस्याथ हर्षात् तत्राययौ च सः॥१०६॥
 सत्कर्मणि चिकीर्षात्र कस्य नो महतेत्यसौ। विज्ञाय जीवरक्षायै तच्छासनमचीकरत्॥१०७॥
 आहूतश्च ततो राज्ञा पुनरप्याययौ तदा। अणहिल्लपुरं धीरस्तत्राबोधानबोधयत्॥१०८॥
 आचार्यत्वप्रतिष्ठाऽस्य विदधे परमर्षिभिः। सूरिभिर्वर्द्धमानाख्यैः सङ्घाध्यक्षं महोत्सवात्॥१०९॥
 तत्र श्रीवलभीनाथः श्रीवीरप्रभुभक्तितः। प्रत्यक्षीभूय धर्माख्यां शृणोत्यस्याग्रतः स्थितः॥११०॥
 परं क्रीडाप्रियत्वेन नरं प्रेक्ष्य सलक्षणम्। अवतीर्यास्य देहे च क्रीडते पीडया विना॥१११॥
 श्रीमान् वीरोऽपि तद् दृष्ट्वाऽवादीदेवं न सांप्रतम्। व्यन्तराधीश ! ते केलिं मनुष्या असहिष्णवः॥११२॥
 एवं निववृते चासौ प्रभुणा स निषेधितः। तथाह मम तोषस्य फलं किमपि नात्र वः॥११३॥

6. उवाच प्रभुरानन्दात् तव सामर्थ्यमस्ति किम्। अष्टापदाचले गन्तुं श्रीजैनभवनोन्नते॥११४॥
 स देवः प्राह शक्तिर्नो गन्तुं नावस्थितौ पुनः। तत्र सन्ति यतः सूरैः व्यन्तरेन्द्रा महाबलाः॥११५॥
 अवस्थातुं न शक्नोमि तत्तेजः सोढुमक्षमः। याममेकं त्ववस्थास्ये चलं चेत् कौतुकं तव॥११६॥
 अधिकं तु क्षणं मित्र ! त्वमवस्थास्यसेऽथ चेत्। तत्तत्रैव भवानत्रागन्ताऽहं तु ध्रुवं ह्यदः॥११७॥
 मुनौ तत्प्रतिपेदाने धवलं धवलं ततः। विकृत्यारोहयत् तं च वस्त्रवेष्टितमस्तकम्॥११८॥
 क्षणेनैव ययौ तस्य गिरेर्मूर्ध्नि स उर्ध्वगः। वृषादुत्तारयामास चैत्यद्वारे ततो मुनिम्॥११९॥
 द्वारपाञ्चालिकाजानुपाश्चात्यशुषिरान्तरे। तस्थौ निलीय तत्रस्थदेवज्योतिरसासहिः॥१२०॥
 गव्यूतत्रितयोच्छ्रायं योजनायामविस्तरम्। चतुर्द्वारं महाचैत्यमाद्यचक्रिविधापितम्॥१२१॥
 दृष्ट्वा प्रमाणवर्णैश्च प्रतिमास्ता यदो (यो)दितैः। एकैकस्मान्नमस्काराच्छ्रुत्वा स प्राणममनुदा॥१२२॥
 प्रभावनाविधित्सायै तदभिज्ञानमानयत्। पञ्च शाल्यक्षतान् तस्मादग्रहीन्नाकिढौकितान्॥१२३॥
 निशायाः प्रथमे यामे चलितस्तीर्थयात्रया। प्राग्वत् स पुनरायाच्च द्वितीये घटिकाधिके॥१२४॥
 सौरभामोदतः शालेरक्षतानामुपाश्रयः। विमानमिव सौधर्मं सुमनःसंवृतो बभौ॥१२५॥
 पृष्टे मुनिभिराहाथ गुरुरष्टापदाचले। वन्दयध्वं मुदा देवान् श्रद्धाग्रेऽकथयश्च तम्॥१२६॥
 चैत्ये च मिलितः सङ्घः श्रीमान् भूमिपतेः स च। आख्यापयन् महाश्चर्यं कौतुकादाययौ स च॥१२७॥
 तेनाकार्यानुयुक्तोऽथाभिज्ञानं पुनराह च। चतुर्विंशतिसंख्यानं स्वभावाख्यानतोऽर्हताम्॥१२८॥

तथा हि -

बे धउला बे सामला बे रत्तुप्पलवन्न।

मरगयवन्ना विन्नि जिण सोलस कंचणवन्न॥129॥

नियनियमाणिहिं कारविय भरहिं जि नयणाणंद।

ते मइं भाविहिं वंदिया ए चउवीस जिणंद॥130॥

राजाह स्वेष्टदेवानां स्वरूपकथने वरा। नास्ति प्रतीतिरस्माकमन्यत् किमपि कथ्यताम्॥131॥
अक्षतान् दर्शयामास निःसामान्यगुणोदयान्। वर्णैः सौरभविस्तारैरपूर्वान् मानवव्रजैः॥132॥
ते द्वादशाङ्गुलायामा अङ्गुलं पिण्डविस्तरे। अवेयप्यन्त सुवर्णेन महीपालेन ते ततः॥133॥
पूर्वतुरुष्कभङ्गस्य तेऽभूवन्तदुपाश्रये। अपूज्यन्त च सङ्घेनाष्टापदप्रतिबिम्बवत्॥134॥
एवं चातिशयैः सम्यक् सामान्यजनदुस्तैः। श्रीमान् वीरगणिः सूरिर्विश्वपूज्यस्तदाऽभवत्॥135॥

7. अन्यदा मन्त्रिणं वीरं रहः प्राह महीपतिः। पूर्वादिष्टक्रमान्याय्याद् राज्यं पालयतो मम॥136॥
सुमनोमण्डलाश्रेयो वचःसिद्धिकुलालयः। वीरो गुरुश्च मन्त्री च ममात्तीन्दुविधुनुदः॥137॥
एकश्चिन्ताज्वरोऽस्माकं महाबाधानिबन्धनम्। श्रुत्वा प्रतिविधेहीदं कस्याग्रेऽन्यस्य कथ्यते॥138॥
अथाह वीरमन्त्रीशः स्वामित्रादिश्यतां मम। क्रियते भृत्यलेशेन किं मयाऽन्यदधीशितः॥139॥
राजाह मम शुद्धान्तकान्तानां सम्भवे सति। प्रावो भवति गर्भस्य तत्र प्रतिविधिं कुरु॥140॥
इत्यादिष्टो महामात्यः श्रीमद्वीरप्रभोः पुरः। व्यजिज्ञपत् ततः सूरिमूरीकृत्य स चाब्रवीत्॥141॥
अभिमन्त्रितवासैम्प्रे क्रियतामभिषेचनम्। अवरोधपुरन्ध्रीणां प्रजायन्ते सुता यथा॥142॥
एवं च विहिते मन्त्रिप्रभुणा वचने गुरोः। श्रीमद्वज्रभराजाद्या नरेन्द्रस्याभवन् सुताः॥143॥

8. अष्टादशशतीदेशे विहरन्नन्यदा प्रभुः। अगावुंबरिणीग्रामे ग्राम्येतरनरान्विते॥144॥
विशुद्धोपाश्रये तत्र स्थितो गत्वा निशागमे। व्युत्सर्गाय बहिःप्रेतवनमाशिश्रये मुदा॥145॥
परमारवरान्नायसद्वजाकरहीरकः। रुद्राभिधः स तं दृष्ट्वा नमश्चक्रेऽतिभक्ति तः॥146॥
उवाच च मुने! मास्थाः श्वापदव्रजसंकुले। श्मशाने ग्राममध्ये न आगच्छ प्रासुकाश्रये॥147॥
तिष्ठ सौख्यात् तदाकर्ण्य मुनिः प्राह गुरोः सदा। कायोत्सर्गे बहिः पृथ्व्यां कुर्वन्ति प्रभवस्ततः(?)॥148॥
आधेया नाधृती राजपुत्र ! श्रुत्वेति सोऽगमत्। निजं धाम ततस्तस्य जंबूपायनमागमत्॥149॥
स सिस्वादयिषुर्जुबूफलान्यत्रोटयत् तदा। वृन्तं तत्र कृमिं दृष्ट्वा शूकया धूनयन् शिरः॥150॥
जगाद कृमयः सूक्ष्माः फलेष्वपि यदाऽभवन्। अदृष्टं किमिव स्वाद्यं निशादौ हि विवेकिना॥151॥
आहूय ब्राह्मणैः पृष्टैः प्रायश्चित्तं प्रदेक्षितम्। विशुद्धये द्विजन्मभ्यो देयः स्वर्णमयः कृमिः॥152॥
दध्यौ श्रुत्वेति संकल्प्य द्वितीयोऽपि कृमिर्मया। हन्तव्यो नावगच्छामि ततो धर्मममुं हृदि॥153॥
प्रष्टव्यश्च विचारोऽयं कस्यापि शमिनो मुनेः। प्रातर्जैनमुनिं ग्राममध्यमागतमानमत्॥154॥
ततः पप्रच्छ सन्देहं गुरुर्विस्तरतोऽवदत्। जीवाः सर्वत्र तिष्ठन्ति द्विधा स्थावरजङ्गमाः॥155॥
स्थावरास्ते धरा-नीर-वह्नि-वात-महीरुहः। जङ्गमाश्च परिज्ञेयास्ते द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाः॥156॥
पञ्चेन्द्रियाः सुरास्तिर्यग्नरनैरयिका अपि। गजमीननयूराद्याः स्थलनीलाम्बरोपगाः॥157॥
वनस्पतिस्तथा जीवाधारो मूलपलादिके। उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते यज्जीवास्तत्र भूरिशः॥158॥

धर्मः कृपैव जीवानां विवेकस्थः। विचारयः। इति संयमिनो वाचं स श्रुत्वा प्रत्यबुध्यतः॥159॥
 सर्वं हित्वाऽग्रहीद् दीक्षामक्षीणश्रेयसे स च। शास्त्रेष्वधीतपूर्वो च जैनागममवाचयत्॥160॥
 महाविद्वान् स गीतार्थः क्रिया-ज्ञानद्वयेऽप्यभूत्। प्रदीप इव दीपेन गुरुणा समदीधितिः॥161॥
 श्रुतज्ञानात् परिज्ञाय स्वायुःपर्यन्तमन्यदा। गच्छभारं च शिष्येशे रुद्रे श्रीवीरसूरयः॥162॥
 श्रीचन्द्रसूरिरित्याख्यापूर्वकं ते न्यवेशयन्। स्वयं तु योगरोधेन तस्थुर्निष्कपसञ्चराः॥163॥
 हित्वा देहं जरद्गोहमिव दिव्यभुवं ययुः। श्रीवीरप्रभवो बोधशक्तेराधारतां गताः॥164॥
 वसु-वह्नि-निधौ (938) जन्म, व्रतं व्योम-वसु-ग्रहे (980)। इं-न्द्र-ग्रहे (911) वरुणसन्मथवत् प्रभोः॥165॥
 गार्हस्थ्यं समभवत् तस्य द्विचत्वारिंशत् समाः। एकादशव्रतेऽथायुस्त्रिपञ्चाशत्समा अभूत्॥166॥

श्रीवीरसूरेर्विदितं चरित्रं कर्णावतंसं कुरुतात्र सन्तः।

उत्कण्ठते श्रीजिनबोधिलक्ष्मीर्यथा महानन्दसुखप्रबोधाः॥167॥

श्रीचन्द्रपद्मसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ वीरस्य वृत्तं प्रभोः

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शृङ्गस्तिथीसंख्यया॥168॥

नवोऽयं प्रद्युम्नः शिवसहचरः प्रीतिमतुलां

वदौ सन्तोषाय प्रकटरिपवे यो रतिमपि।

कवित्वक्षोवायामृतरुचिसखित्वं च मनुते

शुभध्यानोपायं परिहृतमवादिः स जयतु॥169॥

॥ इति श्रीवीरगणिप्रबन्धः॥



वादिवेतालश्रीशान्तिसूरिचरितम्

1. पातु वो वादिवेतालः कालो दुर्मन्त्रवादिनाम्। शान्तिसूरिः प्रभुः श्रीमान् प्रसिद्धः सर्वसिद्धिदः॥1॥
व्याचिख्यासां तदाख्याने दधेतदभक्तिभावितः। अनूरुः सूरसेवातः किं न व्योमाध्वजाधिकः॥2॥
अस्ति श्रीगूर्जरे देशः कैलासाद्रिनिभः श्रिया। धनदाधिष्ठितश्चारुमानसामानसङ्गमः॥3॥
अणहिल्लपुरं तत्र नगरं न गरप्रभम्। वचः प्रभुर्द्विजिह्वानां यत्र सद्वचनामृतैः॥4॥
श्रीभीमस्तत्र राजासीद् धृतराष्ट्रभवद्विषन्। सदाप्राप्तार्जुनश्लोको लोकोत्तरपराक्रमः॥5॥
श्रीचन्द्रगच्छविस्तारिशुक्तिमुक्ताफलस्थितिः धारापत्र इति ख्यातो गच्छः स्वच्छधियां निधिः॥6॥
सच्चारित्रश्रियां पात्रं सूरयो गुणभूरयः। श्रीमद्विजयसिंहाख्या विख्याताः सन्ति विष्टपे॥7॥
श्रीमत्संपकचैत्यस्य प्रत्यासन्नाश्रयस्थिताः। भव्यलोकारविन्दानां बोधं विदधतेऽर्कवत्॥8॥

तथा-

2. श्रीपत्तनप्रतीचीनो लघुरप्यलघुस्थितिः। उन्नतायुरितिग्राम उन्नतायुर्जनस्थितिः॥9॥
तत्रास्ति धनदेवाख्यः श्रेष्ठी श्रीमालवंशभूः। अर्हद्गुरुपदद्वन्द्वसेवामधुकरः कृती॥10॥
धनश्रीरिव मूर्तिस्था धनश्रीस्तस्य गेहिनी। तत्पुत्रो भीमनामाऽभूत् सीमा प्रज्ञाप्रभावताम्॥11॥
कम्बुकण्ठच्छत्रमौलिराजानुभुजविस्तरः। छत्रपद्मध्वजांस्तीर्णपाणिपादसरोरुहः॥12॥
सर्वलक्षणसंपूर्णः पुण्यनैपुण्यशेवधिः। विज्ञातो गुरुभिः सङ्घभारधौरेयतानिधिः॥13॥
अलं चक्रुर्विहारेण ग्राममग्राम्यबुद्धयः। तत्ते वितन्द्विज्ञानविज्ञातशुभसम्भवाः॥14॥
श्रीनाभेयं प्रणम्याथ चैत्ये तस्य गृहं ययुः। अर्थयांचक्रिरे भीमं धनदेवसमीपतः॥15॥
कृतपुण्योऽस्मि भत्पुत्रश्चेत् पूज्यार्थप्रसाधकः। इत्युक्त्वा प्रददौ पुत्रममुत्रेह च शर्मणे॥16॥
एवं तैस्तदनुज्ञातैरदीक्ष्यत शुभे दिने। भीमो मिथ्यादृशां भीम उदग्रप्रतिभावलः॥17॥
शान्तिरित्यभिधा तस्य वैधेयस्य व्यधीयत। सकलाः स कलाः प्राप पूर्वसङ्केतिता इव॥18॥
समस्तशास्त्रपाथोधिपारदृशवाऽभवत् क्रमात्। विचिन्त्येति निजे पट्टे प्रभवस्तं न्यवेशयन्॥19॥
स्वगच्छभारं विन्यस्य तत्र प्रायोपवेशनात्। प्रेत्यार्थं साधयामासुस्तेऽथ संसृतिंसंहतौ॥20॥

3. अणहिल्लपुरे श्रीमद्भीमभूपालसंसदि। शान्तिसूरिः कवीन्द्रोऽभूद् वादिचक्रोति विश्रुतः॥21॥
अन्यदाऽवन्तिदेशीयः सिद्धसारस्वतः कविः। ख्यातोऽभूद् धनपालाख्यः प्राचेतस इवापरः॥22॥
स गोरसे द्वयहातीते साधुभिर्जीवदर्शनात्। यैरबोध्यत तत्पूज्यश्रीमहेन्द्रगुरोर्गिरा॥23॥
गृहीतदृढसम्यक्त्वः कथां तिलकमंजरीम्। कृत्वा व्यजिज्ञपत् पूज्यान् क एनां शोधयिष्यति॥24॥
विचार्य तैः समादिष्टं सन्ति श्रीशान्तिसूरयः। कथां ते शोधयिष्यन्ति सोऽथ पत्तनमागमत्॥25॥
तदा च सूरयः सूरितत्त्वस्मरणतत्पराः। देवतावसरे ध्यानलीना आसन् मठान्तरा॥26॥
प्रतीक्षाणां प्रतीक्षायामुपयुक्तः कवीश्वरः। नूतनाध्ययनं शिष्यमेकमद्भुतमब्रवीत्॥27॥

तथा हि -

खचरागमने खचरो हृष्टः खचरेणाङ्कितपत्रधरः।

खचरचरं खचरश्चरति खचरमुखि! खचरं पश्य॥28॥

इदं व्याख्याहि चेद् वेत्ति लघु पण्डितमण्डनः। इत्याकर्ण्य स च व्याख्यादिदं वृत्तमकृच्छतः॥29॥
श्रुत्वेति स कविस्वामी प्राह हृष्ट इदं कियत्। श्रीशान्त्याचार्यहस्तस्य प्रभावो बहुरीक्ष्यते॥30॥
उपन्यासं प्रतिष्ठायास्तत्र सर्वज्ञ-जीवयोः। ऊर्जस्विगर्जिपर्जन्यध्वनिना विदधेऽथ सः॥31॥
सिंहासनमलंचक्रे गुरुभिस्तावदाशु तैः। अपरो मातृकापाठोचितशिष्यस्तथोच्यत॥32॥
इदानीं किं कृतं वत्स। स्तम्भावष्टम्भिना त्वया। स प्राहानेन यत्प्रोक्तं तत्सर्वमवधारितम्॥33॥
वदेति प्रभुभिः प्रोक्ते निस्वानध्वानधीरगीः। उज्जग्राहतिकुग्राहव्यूहसंहरणाग्रहः॥34॥
श्रुत्वेति धनपालोऽपि चमत्कारातिपूरितः। उवाच भारती किं नु प्राप्ता बालर्षिरूपतः॥35॥
प्रेषयध्वं मया सार्धममुमेव धियां निधिम्। गुरुसन्देहसन्दोहशैलदम्भोलिविभ्रमम्॥36॥
अथ ते सूरयः प्रोचुः कालोऽस्य पठितुं ततः। क्लिष्टप्रमाणशास्त्राणि परग्रन्थेष्वधीतिनः॥37॥
पात्रं चेच्छास्त्रपाथोधेर्वदिकल्लोलितं भवेत्। इत्याशा नस्ततो नायमध्यायाद् व्यतिरिच्यते॥38॥
सिद्धसारस्यतो विद्वानथोचे प्रभुभिर्धुवम्। देशः शृङ्गारणीयोऽयं मालवः स्वक्रमाम्बुजैः॥39॥
इत्याकर्ण्य प्रभुः प्रोचे चेन्निर्बन्धोऽयमत्र वः। आप्रष्टव्यस्तदा संङ्घः प्रधानाचार्यसङ्गतः॥40॥

4. ततस्तदनुमत्या तेऽवन्तिदेशे व्यजीहरन्। वृताः श्रीभीमभूपालप्रधानैः सपरिच्छदैः॥41॥
पथि सञ्चरतां तेषां निशि सङ्गत्य भारती। आदेशं प्रददे वाचा प्रसादातिशयस्मृशा॥42॥
स्व-स्वदर्शननिष्णाता ऊर्ध्वं हस्ते त्वया कृते। चतुरङ्गसभाध्यक्षं विद्रविष्यन्ति वादिनः॥43॥
सक्रोशं योजनं धारानगरीतः समागमत्। तस्य तत्र गतस्य श्रीभोजो हर्षेण संमुखः॥44॥
एकैकवादिविजये पणं संविदधे तदा। मदीया वादिनः केन जय्या इत्यभिसन्धितः॥45॥
लक्षं लक्षं प्रदास्यामि विजये वादिनं प्रति। गूर्जरस्य बलं वीक्ष्य श्वेतभिक्षोर्मया ध्रुवम्॥46॥ - युगम्।
विश्वदर्शनवादीन्द्रान् स राज्ञः पर्षदि स्थितः। जिग्ये चतुरशीतिं च स्वस्वाभ्युपगमस्थितान्॥47॥
अजैषोदूर्ध्वहस्तेन प्रत्येकं प्रतिवासरम्। अनायासादसौ सारवक्ता न्यायैकनिष्ठधीः॥48॥
लक्षांस्तत्संख्यया दत्त्वा द्रव्यस्याथ महीपतिः। तत आह्वास्त तत्कालं सिद्धसारस्वतं कविम्॥49॥
ततोऽनुययुस्ते तं स भीतो द्रव्यव्ययादतः। पंचकोटिव्ययप्राप्तो वादिपंचशतीजये॥50॥
किं नामामुष्य जैनर्वैधनपालस्ततोऽब्रवीत्। शान्तिरित्यभिधा सूरस्य श्रुत्वेति भूपतिः॥51॥
शान्तिनाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति वेतालो वादिनां पुनः। ततो वादं निषेध्यासौ सम्मान्यातः प्रहीयते॥52॥
त (त्व ?) त्वथाशोधकत्वेन नामुमत्र विसूत्रये। अन्यथा मत्सभां जित्वा को यात्यक्षतविग्रहः॥53॥
स्युः पञ्चदश लक्षेण सहस्रा गूर्जरावनेः। एवमङ्केऽथ तज्जङ्गे लक्षद्वादशकं ततः॥54॥
तथा षष्टिसहस्राश्च मया दत्तास्ततोऽधुना। कथा शोधयितव्याऽऽशु धनपालधियानिधेः॥55॥
पर्यालोच्येति तेनाथ स्थापिताः शान्तिसूरयः। लक्षैर्द्वादशभिस्तत्र देशे चैत्यान्यचीकरत्॥56॥
अवशिष्टास्तथा षष्टिः सहस्रा भूपदत्ततः। धारापद्माभिद्रङ्गे प्रहिताः प्रभुभिस्तदा॥57॥
तत्रस्थादिप्रभोश्चैत्यं मूलनायकवामतः। तैर्दंवकुलिकाऽकारि सशालश्च रथो महान्॥58॥
कथा च धनपालस्य तैरशोध्यत निस्तुषम्। वादिवेताल-विरुदं तदैषां प्रददे नृपः॥59॥

कवीश्वरानुयाताश्च गूर्जरेशधरावधिः। प्रत्यावृत्याथ ते प्रापुः पत्तनं श्रीनिकेतनम्॥60॥

5. अग्रे च तत्र वास्तव्यजिनदेवस्य धीमतः। श्रेष्ठिनस्तनयः पद्मनामा दष्टो महाहिना॥61॥
मान्त्रिकैः सर्वपक्षीर्यमन्त्रौषधविजृम्भितैः। अत्यर्थं प्रतिकारेषु कृतेष्वपि न सज्जितः॥62॥
तत उत्पाट्य गतायां निक्षिप्तः स्वजनैः सह। सर्पदष्टव्यवस्थेयं पुनरुज्जीवनाशया॥63॥
इति विज्ञापिते शिष्यैर्जिनदेवगृहेऽगमन्। सम्बोधनार्थमाचख्युरथ ते प्रभवस्तदा॥64॥
दष्टं दर्शयतास्माकं प्रकाश्य क्षितिमध्यतः। जिनदेवस्तदाकर्ण्य श्मशाने तैः समं ययौ॥65॥
भुवमुत्खाय तस्मिंश्च दर्शिते गुरवोऽमृतम्। तत्त्वं स्मृत्वाऽस्पृशन् देहं दष्टश्चासौ समुत्थितः॥66॥
गुरुपादौ नमस्कृत्य पद्मः पद्मनिभाननः। प्राहाहं गुरवः सस्वजनाः कथमिहागमत्॥67॥
प्राग्वृत्ते कथिते सद्यो जिनदेवेन हर्षतः। उत्सवाद् गुरुभिः सार्धं स स्वं निलयमागमत्॥68॥
तत्पित्राभ्यर्चिताः पूज्या निजमाश्रममाययुः। गुरुर्वेशमागतश्चोपकर्ता प्राप्येत केन सः॥69॥

6. अथ प्रमाणशास्त्राणि शिष्यान् द्वात्रिंशत् तदा। अध्यापयन्ति श्रीशान्तिसूरयश्चैत्यसंस्थिताः॥70॥
सूरिः श्रीमुनिचन्द्राख्यः श्रीनङ्गुलपुरादगात्। अणहिल्लपुरे चैत्यपरिपाटीविधित्सया॥71॥
संपत्संपत्तिरम्यश्रीश्रीसंपकजिनालये। नत्वा श्रीवृषभं सूरिवृषभं प्राणमत् ततः॥72॥
प्रमेया दुःपरिच्छेद्या बौद्धतर्कसमुद्भवाः। तेनावधारिताः सर्वेऽन्यप्रज्ञानवगाहिताः॥73॥
अपुस्तकः स ऊर्ध्वस्थो दिनान् पञ्चदशाऽशृणोत्। तत्रागत्य तदध्यायध्यानधीरमनास्तदा॥74॥
बहुशः कथ्यमानेऽपि प्रमेये दुर्घटनेऽन्यदा। छात्रेष्वनधिगच्छत्सु पूज्या निर्वेदमागमन्॥75॥
भसिते हुतमित्युक्त्वा गुरवोऽत्र निःश्वसुः। तदा श्रीमुनिचन्द्राख्यः सूरिः पूज्यान् व्यजिज्ञपत्॥76॥
सपुस्तकाः पाठका ये प्रष्टप्रज्ञाबलोज्जिताः। किं वदन्ति त एवात्र पुरा गुरुपुरस्कृताः॥77॥
अपरो बहिरायातः सर्वथानुपलक्षितः। सोऽपि किं लभते वक्तुं नवेत्यादिशत प्रभो॥78॥
श्रुत्वेति हृच्चमत्कारि तद्वचः प्रभवोऽवदन्। प्रज्ञायां पक्षयातो नः शिष्याणां नान्यहेतुषु॥79॥
इतोऽहि षोडशेऽतीते यद् व्याख्यातं सुदुर्घटम्। अस्माभिस्तदभिप्रायादद्योक्तं सुविवेचनम्॥80॥
निशमय्येत्यसौ प्राज्ञस्तदधीतदिनावधिः। सर्वेष्वहस्सु यच्चोक्तं तद्वक्तव्यं यथातथम्॥81॥
सद्यश्च तैर्यदाख्यातं परप्राज्ञैः सुदुःश्रवम्। सर्वानुवादसंवादमवादीद् विशदं ततः॥82॥
श्रीशान्तिसूरिभिस्तोषपोषतः परिषत्स्वजे। प्रोचे च सनिवेश्याङ्गे रत्नं रेणुवृत्तं भवान्॥83॥
वत्स ! प्रमाणशास्त्राणि पठाशतमतिर्ममा। पार्श्वे नक्षरदेहस्य लाभमत्र गृहाण भोः॥84॥
पुनर्व्यज्ञपयत् सूरिर्मुनिचन्द्रः प्रभो! कथम्! अध्येयं स्थानकाभावे दुष्प्रापं स्थानमत्र यत्॥85॥
ततस्ते टंकशालायाः पश्चाद्भागे समर्पयन्। आश्रयार्थं गृहं चारु श्राद्धपार्श्वे विदूषणम्॥86॥
षड्दर्शनप्रमाणानां शास्त्राण्यक्लेशतोऽथ सः। अध्वैष्ट ज्ञापक-ज्ञात्रोर्थोऽगो दुर्लभ ईदृशः॥87॥
ततः सुविहितानां हि साधूनामाश्रयाः पुरे। बभूवुरत्र संवित्त्वा सर्वसंघचरित्रिणाम्॥88॥
उत्तराध्ययनग्रंथटीका श्रीशान्तिसूरिभिः। विदधे वादिनागेन्द्रसन्नागदमनीसमा॥89॥
शिष्येण मुनिचन्द्रस्य सूरैः श्रीदेवसूरिणा। तन्मध्यत उपन्यस्तस्त्रीनिर्वाणबलादिह॥90॥
पुरः श्रीसिद्धराजस्य जितो वादे दिगंबरः। तदीयवचसां निश्चा विद्वद्दुःसाधसाधिका॥91॥

7. अथान्येद्युर्जिते धर्मे धनपालेन मालये। एक एव महीपीठे कविस्त्वमिति मानिते॥92॥
 प्रोक्ते च धनपालेन बुधोऽणाहिः प्रपत्तेः। अस्ति श्वेताम्बराचार्यः शान्तिसूरिः परो न हि॥93॥
 दिनैः कियदिभरभ्यागात् तं द्रष्टुं धर्मकोविदः। स्वर्गश्रीगर्वसर्वस्वहरं श्रीपत्तनं पुरम्॥94॥
 थारापद्रमहाचैत्यप्रत्यासन्नमठं ततः। श्रुत्वागादपराह्णेऽसौ बुधदर्शनकौतुकी॥95॥
 तदानीं स प्रभुर्देहे कण्डूपीडित औषधम्। विमृज्य पिहितद्वारारिस्तदुचितांशुकः॥96॥
 संवीक्ष्य कुञ्जिकाछिद्राज्ज्ञापितं यतिभिर्गुरुम्। पृच्छयैव विजेष्येऽमुं धर्मो ध्यात्वेति तं जगौ॥97॥
 'कस्त्व'मत्रोत्तरं सूरिः प्रादाद् 'देव' इति स्फुटम्। 'देवः क' इति तत्प्रश्ने त्व 'हमि'त्युत्तरं ददौ॥98॥
 'अहं क' इति पृच्छायां 'क्षे'ति वाचमवोचत। 'श्वा क' एतादृशि प्रश्ने 'त्वमि'त्युत्तरातनोत्॥99॥
 पुनः 'त्वं क' इति प्रश्ने वितीर्णं प्राग्वदुत्तरम्। तयोश्चक्रकमेतद्धि जज्ञेऽनन्तमनन्तवत्॥100॥
 ततश्चमत्कृतः सोऽभूद् द्वार उद्घाटिते सति। स तत्त्वोपप्लवग्रन्थाभ्यासोपन्यासमातनोत्॥101॥
 वितण्डाविरते चात्र श्रीशान्त्याचार्य उज्जगौ। कृतसर्वानुवादोऽत्र प्रतिज्ञस्तं विवादिनाम्॥102॥
 ममार्पय निजं वेषं योगपट्टादिकं तथा। अङ्गचेष्टाः समस्तास्ते विधीयन्ते तथा तथा॥103॥
 तथा कृते च सर्वत्र धर्मोऽवाद्यतिविस्मितः। पादावस्य प्रणम्याह नाहमीशो भवज्जये॥104॥
 बुधस्त्वमेव च श्रीमन्! धनपालोदितं वचः। प्रतीतमेव मच्चिते तादृक्किमनृतं वदेत्॥105॥
 इत्युक्त्वा प्रययौ स्थानं निजं स निरहंकृतिः। अहंकारश्रियां नामाभिचारपरमौषधिः॥106॥

8. अथ त्रविडदेशीयोऽन्यदा वादी समागमत्॥ अव्यक्तं भैरवाशब्दानुकारं किमपि ब्रुवन्॥107॥
 प्रभवस्तस्य भाषायामपिज्ञा अपि कौतुकात्। भित्तिस्थे घोटके हस्तं दत्त्वाभिदधिरे स्फुटम्॥108॥
 वद त्वमन्यदेशीयवादिना सह सङ्गतम्। अव्यक्तवादी पशुवद् योग्योऽयं तिर्यगाकृतेः॥109॥
 वदतीत्यं प्रभौ सांक्रामिकसारस्वतोत्तरे। तुरङ्गमप्रतिकृतिस्तरलं साऽवदद् भृशम्॥110॥
 विकल्पैर्गहनैः कष्टादप्यशक्यानुवादिभिः। तथा निरुत्तरः पश्चात्कारं स्वं तेन लम्बितः॥111॥
 गते निर्विद्यतेऽस्मिंश्च कादिशीके जनोऽवदत्। अस्मिंस्तपति नास्त्यन्यो वादी वाग्देवतावरात्॥112॥
 विहारं कुर्वतां तेषां थारापद्रपुरेऽन्यदा। देवी श्रीनागिनी व्याख्याक्षणे नित्यं समृच्छति॥113॥
 तत्पट्टे वासनिक्षेपमासनायाथ ते व्यधुः। देव्या सह गुरोस्तस्य समयोऽयं प्रवर्तते॥114॥
 अन्यदा वासनिक्षेपं वैचित्यात् ते विसस्मरुः। आसने प्रेषणे चात ऊर्ध्वस्था सा चिरं स्थिता॥115॥
 ध्यानस्थानां निशामध्ये सद्यो देवीस्वरूपिणी। मध्येमठमुपालम्भप्रदानायाययौ तदा॥116॥
 उद्योतं सूरयो दृष्ट्वा स्त्रियं चातिरतिस्थितिम्। प्रवर्तकं मुनिं प्रोचुर्नारी प्राप्ताऽत्र किं मुने॥117॥
 वेद्यमहं नेति तेनोक्तेऽवदद् देवी स्वयं तथा। वासालाभान्ममाद्यांही सव्यथावूर्ध्वसंस्थितेः॥118॥
 श्रुतज्ञानमयाङ्गानां भूयाच्चेद् वोऽपि विस्मृति। आयुः षण्मासशेषं तदभिज्ञानादतः प्रभोः॥119॥
 स्वगच्छसंस्थितिं कृत्वा प्रेत्य पथ्यं विधत्त तत्। ज्ञाते ममोचितं ह्येतत् कालविज्ञापनं प्रभोः॥120॥
 इत्युक्त्वाऽन्तर्हितायां च देव्यां प्रातर्निजं गणम्। संधं च मन्त्रयित्वा द्वात्रिंशत्सत्पात्रमध्यतः॥121॥
 सुधीश्वरास्त्रयः सूरिपदे तेन निवेशिताः। श्रीवीरसूरिः श्रीशालिभद्रः सूरिस्तथापरः॥122॥
 श्रीसर्वदेवसूश्चि मूर्ता रत्नत्रयीव सा। सद्गतालङ्कृता दीप्यमाना सत्तेजसा बभौ॥123॥
 नाभूत् श्रीवीरसूरीणां कथंचित् सूरिसन्ततिः। तेषां राजपुरिग्रामे श्रीनेमिः शाश्वतं वपुः॥124॥
 शाखाद्वये परे विद्वत्कोटीरपरिवारिते। सूरयोऽद्यापि वर्तन्ते संघोद्धारधुरन्धराः॥125॥

श्रीशान्तिसूरयः श्रीमदुज्जयन्ताचलं प्रति। यशोभिधानसुश्राद्धसुतसाढेन संगताः॥126॥
 कृत्वा प्रयाणमल्पैश्च दिनैस्तं गिरिमध्ययुः। श्रीनेमिं हृदये ध्यात्वा चक्रुः प्रायोपवेशनम्॥127॥
 धर्मध्यानाग्निनिर्दग्धभवार्तिविततैर्धसः। अज्ञातक्षुत्तृणानिद्राप्रभृत्यन्तःप्रतीतयः॥128॥
 समाधिना व्यतीत्याथ दिनानां पञ्चविंशतिम्। वैमानिकसुरावासमधिजग्मुर्जगन्नताः॥129॥

श्रीविक्रमवत्सरतो वर्षसहस्रे गते सषण्णवतौ (1096)।

शुचिसितिनवमीकुजकृत्तिकासु शान्तिप्रभोरभूवस्तम्॥130॥

इत्थं श्रीशान्तिसूरेर्वरचरितमिव द्वादिवेतालनाम्नः

पूर्वश्रीसिद्धसेनप्रभृतिसुचरितव्रातजातानुकारम्।

अद्यप्रातीनविद्वज्जनपरिणतामादधानं (?) श्रिये स्ता-

त्रन्द्याश्चाचन्द्रकालं विबुधजनशतैः सम्यगध्यस्यमानम्॥131॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिननेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ शृङ्गोऽगमत् षोडशः

श्रीप्रबुध्ममुनीन्दुना विशदितः श्रीशान्तिसूरिप्रया॥132॥

॥ इति श्रीवादिवेतालप्रबन्धः ॥



श्रीमहेन्द्रसूरिचरितम्

1. श्रीमन्महेन्द्रसूरिभ्यो नमस्कारं प्रशास्महे। सत्यंकारमिवागण्यपुण्यपण्यस्थिरीकृतौ॥१॥
 श्रीमतो धनपालस्य सालस्यः को गुणस्तुतौ। यस्याविचलविश्वासे ब्राह्मी तथ्यवचःक्रमा॥२॥
 श्लाघ्यः स धनपालः स्यात् काल आन्तरविद्विषाम्। यद्बुद्धिरेव सिद्धाज्ञा मिथ्यात्वगरलच्छिदे॥३॥
 तद्वृत्ते वाचमाधास्ये दास्ये तिष्ठन् गुरुक्रमे। विधास्ये स्वस्य नैर्मल्यमादास्ये जन्मनः फलम्॥४॥
 अस्त्यवन्त्यभिधो देशो देशोनं वाडवामुख्यम्। यस्य येन वसन्त्यत्र कुलानि नवभोगिनाम्॥५॥
 आधारः पुरुषार्थानां पुरी धाराऽस्ति यत्पुरः। दानकल्पद्रुबाहुल्यादसारा साऽमरावती॥६॥
 तत्र श्रीभोजराजोऽस्ति राजा निर्व्याजवैभवः। अवैरं यन्मुखाम्भोजं भारती-श्रीनिवासयोः॥७॥
 यद्यशःस्वर्णदीतीरे प्रवृत्तव्योमविद्वे। विधिः पूजाविधौ नालिकेरवद्विधुमादधे॥८॥

2. इतश्च मध्यदेशीयसंकाश्यस्थानसंश्रयः। देवर्षिरस्ति देवर्षिप्रभावो भूमिनिर्जरः॥९॥
 तस्य श्रीसर्वदेवाख्यः सूनुरन्यूनसत्क्रियः। ब्राह्मण्यनिष्ठया यस्य तुष्टाः शिष्टा विशिष्टया॥१०॥
 तस्य पुत्रद्वयं जज्ञे विज्ञेशैरर्चितक्रमम्। आद्यः श्रीधनपालाख्यो द्वितीयः शोभनः पुनः॥११॥
 तत्रान्यदाऽऽययौ चान्द्रगच्छपुष्करभास्करः। श्रीमहेन्द्रप्रभुः पारदश्चा श्रुतपयोनिधेः॥१२॥
 जनानां संशयोच्छेदमादधद् व्याख्याया तया। विश्रुतः सर्वदेवेन द्विजराजेन स श्रुतः॥१३॥
 स चास्योपाश्रये प्रायादुचितं मानितश्च तैः। दिनत्रयमहोरात्रं तथैवास्थात् समाधिना॥१४॥
 पप्रच्छ प्रभुरप्येवं परीक्षाहेतवे हि नः। सुधियो यूयमायाथ कार्यं वाप्यस्ति किञ्चन॥१५॥
 स्वयंभुवोऽपरा मूर्तिः प्राहासौ द्विजसत्तमः। महात्मनां हि माहात्म्यवीक्षणे सुकृतार्जनम्॥१६॥
 कार्यं नः किञ्चदप्यन्यदस्ति तत्रार्थिनो वयम्। रहस्यं यदनाख्येयमितरेषां गुणोदधे॥१७॥
 स्थित्वैकान्ते प्रभुः प्राह ख्यातं यत् कथनोचितम्। इति श्रुत्वा जगादासौ पिता नः पुण्यवानभूत्॥१८॥
 राजपूज्यस्ततो लक्षैर्दानं प्रापदसौ सदा। गृहे मम निधेः शङ्का तृष्णाविलसितं हृदः॥१९॥
 तं सर्वज्ञातविज्ञानां यूयं यदि ममोपरि। अनुग्रहधिया ख्यात-परोपकरणोद्यताः॥२०॥
 ब्राह्मणः सकुटुम्बस्तत्स्वजनैः सह खेलति। दानभोगैस्ततः श्रीमन् प्रसीद प्रेक्षयस्व तत्॥२१॥ - युग्मम्।
 सूरिर्विमृश्य तत्पार्श्वल्लाभं शिष्योत्तमस्य सः। आह सम्यग् भवत्कार्यं विधास्यामो धियां निधेः॥२२॥
 परं नः किं भवान् दाता रहः कथ्यं हि नस्त्वया। सामिस्वामिन्! सन्नस्तस्य दास्यामि तव निश्चितम्॥२३॥
 अहं स्वरुचि भावत्कवस्तुनोऽर्थं समाददे। साक्षिणोऽत्र विधीयन्तां द्रव्यव्यतिकरो ह्ययम्॥२४॥
 व्याख्याता वेदवेदाङ्गशास्त्रेषु वितथं कथम्। वदाम्यत्र तथाप्यस्तु विश्ववासाय प्रभोरिदम्॥२५॥
 साक्षीकृत्य ततस्तत्रस्थितान् मेने गुरुस्तदा। हृष्टेन गृहमागत्य पुत्रयोर्जगदे तथा॥२६॥
 शुभेऽङ्घ्रि सूरिमाह्लास्त ज्ञानाज्ज्ञात्वा स तद्भुवम्। निश्चित्योवाच तद्द्रव्यं खानयित्वाऽप्य स द्विजः॥२७॥
 चत्वारिंशत्सुवर्णस्य टङ्कलक्षा विनिर्ययुः। दृष्टेऽपि निःस्पृहोत्तंसः सूरिः स्वोपाश्रयं ययौ॥२८॥

श्रीमतः सर्वदेवस्य महेन्द्रस्य प्रभोस्तथा। दान-ग्रहणयोर्वादो वर्षं यावत् तदाऽभवत्॥29॥
 अन्यदा सत्यसन्धत्वाद् ब्राह्मणः सूरिमाह च। देयद्रव्येऽत्र ते दत्ते स्वगृहं प्रविशाम्यहम्॥30॥
 सूरिः प्राहाभिरुचितं ग्रहीष्ये वचनं मम। भवत्वित्दं ततो मित्रं गृहाण त्वं द्विजोऽवदत्॥31॥
 सूरिराह सुतद्वन्द्वाद् देहोक्तं नन्दनं मम। सत्यप्रतिज्ञता चेत् ते न वा गच्छ गृहं निजम्॥32॥
 इतिकर्तव्यतामूढो द्विजः कष्टेन सोऽवदत्। प्रदास्यामि ततो वेश्म निजं चिन्तातुरो ययौ॥33॥
 तत्रानास्तुतखट्वायां शिष्येऽसौ निद्रया विना। दृष्टश्च धनपालेनायतेन नृपसौधतः॥34॥
 विषादः किंनिमित्तोऽयं नन्दने मयि तिष्ठति। यथादिष्टकरे तत् त्वमाख्याहि मम कारणम्॥35॥
 ततः प्राह पिता वत्स! सत्पुत्रा हि भवादृशाः। पित्रादेशविधाने स्युरीदृग्गाढाभिसन्धयः॥36॥
 ऋणतः पितरं पाति नरकादुद्धृत्यथ। सद्गतिं च प्रदत्ते यो वेदे प्रोक्तः सुतः स च॥37॥
 श्रुति-स्मृति-पुराणानामध्यासस्य कुलस्य च। फलं तदेव दुष्माकं यद् ऋणादस्मदुद्धृतिः॥38॥
 ततः शृण्ववधानात् त्वं सन्ति जैना महर्षयः। महेन्द्रसूरयो यैस्ते द्रव्यमीदृक् प्रदर्शितम्॥39॥
 यथाभिरुचितं चैषामर्धदेयं प्रतिश्रुतम्। ततः पुत्रद्वयादेकं याचन्ते करवै हि किम्॥40॥
 सङ्कटादमुतो वत्स! त्वयैव ह्यधुना वयम्। मोच्यामहे ततस्तेषां शिष्यो भक्तकारणाद् भव॥41॥
 कोपगर्भं तदाह श्रीधनपालो धियां निधिः। तातोक्तं भवता यादृग् नेदृक् कोऽप्युचितं वदेत्॥42॥
 सांकाश्यस्थानसंकाशा वयं वर्णेषु वर्णिताः। चतुर्वेदविदः साङ्गपारायणभृतः सदा॥43॥
 तथा श्रीमुञ्जराजस्य प्रतिपन्नसुतोऽभवत् (ऽभवम्?)। श्रीभोजबालसौहार्दभूमिभूमिसुरो ह्यहम्॥44॥
 तत्पूर्वजानिह स्वीयान् पुत्रो भूत्वा प्रपातये। श्वश्रे पतितशूद्राणां दीक्षया ह्यवगीतया॥45॥
 एकस्त्वमृणतो मोच्यः पात्थाः सर्वेऽपि पूर्वजाः। इमं कुव्यवहारं नाधास्ये सज्जननिन्दितम्॥46॥
 कार्यणानेन नो कार्यं मम स्वरुचितं कुरु। तातमित्यवमत्यामुं स तस्मादन्यतो ययौ॥47॥
 अश्रुपूरप्लुताक्षोऽसौ निराशो गुरुसङ्कटे। यावदस्ति समायातस्तावदागात् सुतोऽपरः॥48॥
 पृष्टस्तेनापि दैन्येऽत्र निमित्तं स तदाऽवदत्। धनपालेन कुत्रापि कार्ये प्रतिहता वयम्॥49॥
 भवान् बालस्ततः किंनु तत्र प्रतिविधास्यते। गच्छ स्वकर्मभोक्तारो भविष्यामः स्वलक्षणैः॥50॥
 निराशं वाक्यमाकर्ण्य तत्पितुः शोभनोऽवदत्। मा तात! विह्वलो भूया मयि पुत्रे सति ध्रुवम्॥51॥
 धनपालो राजपूज्यः कुटुम्बभरणक्षमः। निश्चितस्तत्प्रसादेन भवतादिष्टमाचरे॥52॥
 वेद-स्मृति-श्रुतिस्तोमपारगः पण्डितोऽग्रजः। कृत्याकृत्येषु निष्णातः स वेवेक्तु यथारुचि॥53॥
 अहं तु सरलो बाल्यादेतदेव विचारये। पित्रादेशविधेरन्यो न धर्मस्तनुजन्मनाम्॥54॥
 अत्र कृत्यमकृत्यं वा नैवाहं गणयाम्यतः। कूपे क्षिप निषादानां मामर्पयं यथारुचि॥55॥
 श्रुत्वेति सर्वदेवश्च तं बाहं परिषस्वजे। मामृणान्मोचयित्वा त्वं समुद्धर महामते॥56॥
 ततः प्रागुक्तकार्यं तच्छ्रावितोऽसौ सुतोत्तमः। अतिहर्षात् ततः प्राह कार्यमेतत् प्रियं प्रियम्॥57॥
 श्रीजैना मुनयः सत्त्वनिधयस्तपसोज्ज्वलाः। तत्सन्निधाववस्थानं सद्भाग्यैरेव लभ्यते॥58॥
 जीवानुकम्पया धर्मः स च तत्रैव तिष्ठति। चिह्नं यत्सत्यधर्मस्य ज्ञानमीदृक् प्रतीतिदम्॥59॥
 कः स्थास्यति गृहावासे विषये चिकिलाकुले। इदं कार्यमिदं कार्यमिति चिन्तार्तिजर्जरी॥60॥
 विभेत्युभयथा बन्धुर्वल्लभाया धनश्रियः। असन्तुष्टधियस्तिष्ठत्स्वपि भोग्येषु वस्तुषु॥61॥
 ममापीदृगतिः कन्यासम्बन्धे भाविनी ध्रुवम्। तत्तात! मत्प्रिये कार्यं शङ्कसे किं निषेधतः॥62॥
 तदुत्तिष्ठ कुरु स्नानं देवार्चनमथ क्रियाम्। वैश्वदेवादिकां कृत्वा निर्वृतः कुरु भोजनम्॥63॥

ततो मां तत्र नीत्वा च तेषामङ्गे विनिक्षिप। पवित्रये निजं जन्म यथा तत्पदसेवया॥64॥
इत्याकर्ण्य तदा विप्र आनन्दाश्रुपरिप्लुतः। उत्तस्थौ बाढमश्लिष्य मूर्ध्नि चुम्बितवान् सुतम्॥65॥
ततः सर्वाः क्रियाः कृत्वा भोजनानन्तरं द्विजः। प्रायात् शोभनदेवेन सहाचार्यप्रतिश्रये॥66॥
अङ्गमारोपयामास स तेषां वल्लभं सुतम्। यावान् भाति विधातव्यः पूज्यैस्तावानयं सुतः॥67॥
सूरयस्तमनुज्ञाप्यदीक्षयस्तं सुतं मुदा। तद्दिनान्तः शुभे लग्ने शुभग्रहनिरीक्षिते॥68॥
ते विजहुः प्रभाते चापभ्राजनविशङ्किताः। अणहिल्लपुरं प्रापुर्विहरन्तो भुवं शनैः॥69॥

3. इतश्च धनपालेन सर्वदेवः पृथक्कृतः। विकर्मकृत्रिधिद्रव्यात् पुत्रं विक्रीतवानिति॥70॥
अदृष्टव्यमुखास्ते च दीक्षापतितशूद्रकाः। कौतस्कुताः शमव्याजात् स्त्रीबालादिप्रलम्भकाः॥71॥
निर्वास्यते ततो देशादेशं पाषण्डमद्भुतम्। ध्यात्वा विज्ञप्य राजानं तच्चक्रे तेन रोषतः॥72॥ - युगम्।
एवं द्वादशवर्षाणि श्रीभोजस्याज्ञया तदा। न भालवे विजहे तच्छ्रीश्वेताम्बरदर्शनम्॥73॥
स्थितानां गूर्जर देशे धारासङ्गे व्यजिज्ञपत्। श्रीमन्महेन्द्रसूरीणां यथावृत्तं यथातथम्॥74॥
इतः शोभनदेवश्चाध्यापितः सूरिभिस्तदा। विदधे जाचनाचार्यः शक्रेणापि स्तुतो गुणैः॥75॥
अवन्तिसङ्घविज्ञप्तिं श्रुत्वाख्यात् शोभनो विभुः। यास्याम्यहं निजभ्रातुः प्रतिबोधाय सत्वरम्॥76॥
दौर्मनस्यमिदं संघे मन्त्रिमितं समाययौ। अहमेव प्रतीकारं तत्र सन्धातुमुत्सहे॥77॥
गीतार्थैर्मुनिभिःसार्द्धं प्रभुभिः प्रैष्यताथ सः। धारापुरमथायातः प्रयातः प्रौढिमद्भुताम्॥78॥
प्राप्ते काले च साधून् स प्रैषीद् गोचरचर्यया। श्रीमतो धनपालस्य गृहे परिचिते चिरम्॥79॥
तत्र तावगतौ साधू विद्वदीशस्तदा च सः। स्नानायोपविवेशाथ स्नेहाभ्यक्त वपुर्दृढम्॥80॥
व्याहृत्य धर्मलाभं तौ तस्थतुः स्वस्थचेतसौ। सरत्यस्तीति विदधे धनपालप्रियोत्तरम्॥81॥
प्राह श्रीधनपालश्च किञ्चिद्देहयोर्धुवम्। गृहाद् यान्त्यर्थिनो रिक्ता अधर्मोऽयं यतो महान्॥82॥
उषितात्रं तयाऽऽनीतं गृहीतेऽत्र ततो दधि। द्वितीयमाहतं पृष्टं तैरेतत् किमहर्भवम्॥83॥
किं दधि पूतराः सन्ति नवा यूयं बयाभूतः। एतत्त्र्यहस्थितं लात नोचेद् गच्छत शीघ्रतः॥84॥
तावूचतुरियं रीतिरस्माकं किमसूयसि। असूयया महान् दोषः प्रियवाक्यं हि सुन्दरम्॥85॥
अथ चेत् पृच्छसि भ्रान्तिं विना जीवस्थितिं ध्रुवम्। गोरसेऽहर्द्वयातीते नासत्यं ज्ञानिनां वचः॥86॥
सुधीनाथस्ततोऽवादीत् तदानीदीनवं वचः॥ दर्शयतं प्रतीत्यै नो दधि जीवानमूदुशि॥87॥
पूलिकालवक्तव्यस्याथ ताभ्यां तत्र व्यमोच्यत। जीवा दध्नस्ततस्तस्यां द्रागेवारुरुहुस्तदा॥88॥
चलन्तस्ते हि चक्षुष्या अचक्षुष्याः स्थिताः पुनः। तद्वर्णास्तद्रसा जीवास्तदा तेनेक्षिताः स्फुटाः॥89॥
मिथ्यात्वस्यावलेपोऽथ तद्वाक्येन विनिर्ययौ। तदा कृतीश्वरस्याहिनाधमन्त्रैर्विषं यथा॥90॥
अचिन्तयदसौ धर्म एषां जीवदयोज्ज्वलः। य एष पशुहिंसादिरसौ मिथ्येव लक्ष्यते॥91॥

उक्तं च तेन -

सव्यत्य अस्थि धम्पो जा मुणियं ण जिण सासणं तुम्हं।

कणगाउराण कणगं ससियपयं अलभमाणार्ण॥92॥

विद्वन्नाथस्ततोऽवादीत् को गुरुः कुत आगमः। भवतां कुत्र वा स्थाने शुद्धे यूयमवस्थिताः॥93॥
श्रुत्वेति वदतस्तौ च श्रूयतामवधानतः। गूर्जराद् देशतः श्रीमन्नायाता वयमत्र भोः॥94॥
श्रीमन्महेन्द्रसूरीणां शिष्यः श्रीशोभनो गुरुः। नाभेयभुवनाभ्यर्णे स्थितोऽस्ति प्रासुकाश्रये॥95॥
इत्युक्त्वा जग्मतुस्तौ च निजं स्थानं महामुनी। सुस्नातो भुक्तिपूर्वं च सुधीः प्रायादुपाश्रये॥96॥

अथ श्रीशोभनो विज्ञोऽप्युत्तस्थौ गुरुबान्धवम्। आलिलिङ्गे च तेनासौ सोदरस्नेहमोहतः॥१७॥
 तेन चार्द्धासने दत्तेऽग्रजे नोपाविशत् तदा। ऊचे च पूज्य एव त्वममुं यो धर्ममाश्रयः॥१८॥
 जिनेन्द्रदर्शनं धर्ममूलं भोजनृपाज्ञया। यत्रिर्वास्य मयोपार्जि नान्तस्तस्य महाहसः॥१९॥
 सर्वदेवः पिता त्वं चानुज एतौ महामती। यावेनं सुगुरुं धर्ममाद्रियेथां भवच्छिदे॥१००॥
 वयमत्र पुनर्धर्माभासे धर्मतया श्रिते। स्थिता गतिं न जानीमः कामपि प्रेत्य संश्रयाम्॥१०१॥
 तदाख्याहि मदाम्नायोदधिरत्नानुज स्फुटम्। धर्मं शर्मकरं कर्ममर्माच्छेदविधायिनम्॥१०२॥
 अथ श्रीशोभनो विद्वान् बन्धौ स्नेहभरं वहन्। उवाच त्वं कुलाधार! शृणु धर्मं कृपैव यत्॥१०३॥
 देव-धर्म-गुरुणां च तत्त्वान्यवहितः शृणु। देवो जिनो महामोहस्मरमुख्यारजित्वरः॥१०४॥
 स्वयं मुक्तः परान्मोचयितुं सामर्थ्यभूर्भूषम्। प्रदाता परमानन्दपदस्य भगवान् भुवम्॥१०५॥
 शापानुग्रहकर्तारो मग्ना विषयकदमे। स्त्रीशस्त्राक्षस्रगाधारास्ते देवाः स्युर्नृपा इव॥१०६॥
 गुरुः शमदमश्रद्धासंयमश्रेयसां निधिः। कर्मनिर्जरेणासक्तः सदा संचरिसंवरः॥१०७॥
 परिग्रहमहारम्भो जीवहिंसाकृतोद्यमः। सर्वाभिलाषसम्पन्नो ब्रह्महीनः कथं गुरुः॥१०८॥
 सत्यास्तेयदयाशौचक्षमाब्रह्मतपःक्रियाः। मृदुत्वार्जवसन्तोषा धर्मोऽयं जिनभाषितः॥१०९॥
 अवद्यवस्तुदानेन भवेच्च पशुहिंसया। अधर्मो धर्मवत्ख्यातो नार्हः कृत्रिमवस्तुवत्॥११०॥
 समुवाच ततः श्रीमान् धनपालः श्रियां निधिः। प्रतिपन्नो मया जैनो धर्मः सद्गतिहेतवे॥१११॥
 ततः श्रीमन्महावीरचैत्यं गत्वा ननाम च। वीतरागनमस्कारं श्लोकयुग्मेन सोऽब्रवीत्॥११२॥

तथा हि -

बलं जगद्ध्वंसनरक्षणक्षमं क्षमा च किं संगमके कृतागसि।
 इतीव सन्नित्य विमुच्य मानसं रुषेव रोषस्तव नाथ निर्ययौ॥११३॥
 कतिपयपुरस्वामी कायव्यवैरपि दुर्ग्रहो,
 मितवितरिता मोहेनासौ पुरानुसृतो मया।
 त्रिभुवनविभुर्बुद्ध्याऽऽराध्योऽधुना स्वपदप्रदः,
 प्रभुरधिगतस्तत्प्राचीनो वुनोति दिनव्ययः॥११४॥

अन्यदा पूर्णिमासन्ध्यासमये नृपमब्रवीत्। जैनदर्शनसंचारहेतवे देशमध्यतः॥११५॥
 राजस्तव यशोज्योत्स्नाधवलाम्बरविस्तरः। प्रकटस्तमसो हन्ता भूयादर्धप्रकाशकः॥११६॥
 राजाऽवदन्मया ज्ञातोऽभिसन्धिर्मित्रि (०र्मित्र!)ते ततः। श्वेताम्बराक्षरन्तव्र देशे को दर्शनं द्विषन्॥११७॥
 ततो धारापुरीसंघः संगत्याज्ञापयत् प्रभोः। श्रीमन्महेन्द्रसूरेस्तत् तत्रायान्मंशु सोऽप्यथ॥११८॥
 क्रमेण धनपालश्च धर्मतत्त्वविचक्षणः। दृढसम्यक्त्वनिष्ठाभिर्ध्वस्तमिथ्यामतिर्बभौ॥११९॥

4. राजा सह महाकालभवने सोऽन्यदा ययौ। तन्मण्डपगवाक्षे चोपाविशत्र शिवाग्रतः॥१२०॥
 राजाहूतः स च द्वाराग्रतः स्थित्वा झटित्वापि। व्यावृत्य त्रिस्ततो भूपः प्रपच्छैनं सविस्मयः॥१२१॥
 सखे! किमिदमित्यत्र पृष्टे स प्राह संगभूत्। देवोऽस्ति शक्तिसम्बद्धो व्रीडया न विलोक्यते॥१२२॥
 राजाह दिवसेष्वेतावत्सु किं त्वीदृशोऽर्चितः। भवता प्राह सोऽहं च बालत्वाल्लज्जितो नहि॥१२३॥
 दिनानीयन्ति लोकश्च भवन्तोऽपीदृशा यतः। शुद्धान्तान्तर्बधूस्वक्ते त्वय्यपीक्षितुमक्षणः॥१२४॥
 कामसेवापरैः प्राच्यैरपि भूपैर्भवादृशैः। बलित्वादर्वनं त्वस्य प्रवर्तितमिहेदृशः॥१२५॥

यतः--

अवरहं देवहं सिरु पुग्जिअइ महएवह पुणु लिंगु।

बलिआ जं जि पतिष्टइं तं जणु मन्नइ चंगु॥126॥

स्मित्वा दध्यौ च भूपालो हास्यं सत्यसमं हृदः। पृच्छाम्यपरमप्यस्मिन्नेतदुत्तरसंस्पृहः॥127॥

बहिर्धूर्ध्विरिटेर्मूर्तिं दृष्ट्वा प्राह च कौतुकात्। एष किं दुर्बलो जल्पः। सिद्धसारस्वतोऽसि भोः॥128॥

अथाह धनपालोऽपि सत्योक्तौ भवति क्षणः। अस्तु वा सत्यकथने को दोषो नस्तनः शृणु॥129॥

तथा हि -

विग्वासा यदि तत्किमस्य धनुषा सास्त्रस्य किं भस्मना

भस्माप्यस्य किमङ्गना यदि च सा कामं परिद्वेष्टि किम्।

इत्यन्योऽन्यविरुद्धचेष्टितमहो पश्यन्नजस्वामिनं

भृङ्गी शुष्कशिरावनद्धमधिकं यत्तेऽस्थिशेषं वपुः॥130॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिं व्यासो बहिः पार्श्वदमण्डले। तारं व्याख्याति भूपक्षे तत्र शृश्रूषुरासिवान्॥131॥

व्यावृत्य स्थितमद्राक्षीद् वयस्यं च ततोऽवदत्। श्रुतिस्मृतिषु तेऽवज्ञाऽवहितो न शृणोषि यत्॥132॥

सोऽजल्पन्नावगच्छामि तदर्थं व्यस्तलक्षणम्। प्रत्यक्षेण विरुद्धं हि शृणुयात् को मतिभ्रमी॥133॥

कथम् -

स्पर्शोऽमेध्यभुजां गवामघहरो वन्द्या विसञ्ज्ञा द्रुमाः

स्वर्गच्छागवधाद्धिनोति च पितुन् विप्रोपभुक्ताशनम्।

आप्ताश्छन्नपराः सुराः शिखिहुतं ग्रीणाति देवान् हविः

स्फीतं फल्गु च वल्गु च श्रुतिगिरां को वेत्ति लीलायितम्॥134॥

अथ निष्पद्यमाने च यज्ञे तत्र महापशोः। बद्धस्थं हन्तुमश्रीषीद् दीनारावं महीपतिः॥135॥

एष किं जल्पतीत्युक्ते कविचक्री ततोऽवदत्। भाषामेषां विजानामि तत्सत्यं शृणु तद्वचः॥136॥

तथा हि -

अर्काहितवलोच्छेदी सत्त्वोल्लासतनुस्थितिः।

नाम्ना गुणैश्च विष्णुर्यः स कथं वध्यतामजः॥137॥

नाहं स्वर्गफलोपभोगतुषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया

सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं साधो न युक्तं तव।

स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो

यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः॥138॥

श्रीभोजः कुपितस्तस्यापसव्यवचनक्रमैः। दध्यावमुं हनिष्यामि विब्रुवन्तं द्विजब्रुवम्॥139॥

साक्षादस्य हतौ किं चापवादः परमो भवेत्। रहः कुत्रापि वेलायां वध्योऽसावेष संश्रवः॥140॥

तदा चागच्छतो राजपथि स्वं मन्दिरं प्रति। वृद्धा स्त्री दृक्पथं प्रायात् तटस्थः बालिकान्विता॥141॥

नवकृत्त्वः शिरो धूनयन्तां वृद्धां विलाक्य सः। नृपः प्राह किमाहासौ ततोऽवादीत् कृतेश्वरः॥142॥

तथा हि -

किं नन्वी किं मुरारिः किमु रतिरमणः किं हरः किं कुबेरः

किं वा विद्याधरोऽसौ किमथ सुरपतिः किं विधुः किं विद्याता।

नायं नायं न चायं न खलु नहि न वा नापि नासौ न चैवः

क्रीडां कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमिह हि हले! भूपतिर्भोजदेवः॥१४३॥

श्रुत्वाथ भूपतिर्दधौ नववारोचितान् किमु। विकल्पात्रवकृत्वोऽथ नञा पर्यहरत् ततः॥१४४॥
ज्ञानिवद्वदिता कोऽन्य एतं दुर्भाषकं विना। निग्रहार्हः स किं श्रीमन्मुञ्जवर्द्धितविग्रहः॥१४५॥
कदाचिद् भूपतिर्मित्रं पापद्धावाहयत् ततः। ययौ स खेटकास्तत्र शूकरं च व्यलोकयन्॥१४६॥
कामं कर्णान्तविश्रान्तमाकृष्य किल कार्मुकम्। बाणं प्राणं दधद् हस्ते व्यमुञ्चन्व्यवदास्यकः॥१४७॥
पतितोऽसौ किरिषोरं घर्घरावमारसन्। प्राहुर्विज्ञाः प्रभुर्योधः पार्थो वा नान्य ईदृशः॥१४८॥
पण्डितेश्च ततो दृष्टिः श्रीभोजस्यागमत् तदा। किञ्चिद् वदिष्यथेत्युक्ते स प्राह शृणुत प्रभो॥१४९॥

तच्चेदम् -

रसातलं यातु यवत्र पौरुषं क्व नीतिरेषा शरणो ह्यदोषवान्।

निहन्यते यद् बलिनापि दुर्बलो हहा महाकष्टमराजकं जगत्॥१५०॥

अन्यदा नवरात्रेषु लिंबजागोत्रजार्चने। राज्ञार्थं विहिते हन्यमाने छागशते तथा॥१५१॥
रक्ताक्षे घातरक्ताक्षे बद्ध्वा खड्गाद् द्विधाकृते। एकघातात् सदेशस्थाः प्रशशंसुर्नृपं हतौ॥१५२॥
धनपालो जगादाथ कारुण्यैकमहोदधिः। एतत्कर्मकृतो विज्ञाः प्रशंसाकारिणोऽपि च॥१५३॥

यतः -

पसुवे रुद्धं विहसिथउ निसुणइ साहुक्कारु।

तं जाणइ नरयहें दुहहें विन्नउ संचक्कारु॥१५४॥

अन्यदा श्रीमहाकाले पवित्रारोहपर्वणि। महामहेऽगमद् राजा वयस्यं प्रत्युवाच च॥१५५॥
सखे! त्वदीयदेवानां कदापि न पवित्रकम्। अपवित्रास्ततस्ते स्यू राजमित्रं ततोऽवदत्॥१५६॥

तथा हि-

पवित्रमपवित्रस्य पावित्र्यायाधिरोहति। जिनः स्वयं पवित्रः किमन्यैस्तत्र पवित्रकैः॥१५७॥
अपावित्र्यं शिवे चैतद्धक्तमप्यादृतं यतः। लिङ्गार्चनन्तरं याच्यमानाभ्युपगमाद् ध्रुवम्॥१५८॥
मूर्तिं श्रीकामदेवस्य रतियुक्तां हसन्मुखाम्। तालिकायाः प्रदानाद्योदितहस्तां नराधिपः॥१५९॥
पश्यन् पण्डितचण्डांशुमाभाषत सकौतुकः। किमेष तालिकां दित्सुर्हसन् कथयति स्फुटम्॥१६०॥
धनपालस्ततः सिद्धसारस्वतवशात् तदा। अवदत् तथ्यमेवाशु ज्ञानी को हि विलम्बते॥१६१॥

तच्चेदम् -

स एष भुवनत्रयप्रथितसंयमः शङ्करो

बिभर्ति वपुषाऽधुना विरहकातरः कामिनीम्।

अनेन किल निर्जिता वयमिति प्रियायाः करं

करेण परिताडयन् जयति जातहासः स्मरः॥१६२॥

अन्यदा नृपतिः प्राह तव सुनृतभाषणे। अभिज्ञानं किमप्यस्ति सत्यं कथय तन्मम॥१६३॥
चतुर्द्वारोपविष्टानां केन द्वारेण निर्गमः। स्यादस्माकमिदानीमित्याख्याहि कविवासव॥१६४॥
ततोऽसौ पत्रकेऽलेखीदक्षराणि महामतिः। ततः स मुद्रयित्वा च स्थगीवित्तस्य चार्पयत्॥१६५॥
ध्यायन्निति नृपो द्वारचतुष्कस्येह मध्यतः। एकेन कंनचिद् द्वारा गतिर्ज्ञाता भविष्यति॥१६६॥
ज्ञानिनोऽप्यस्य वचनमत्र मिथ्या करिष्यते। ततो गते गृहं मित्रे भुक्त्याह्वानं समागमत्॥१६७॥

मण्डपोपरिभागे च छिद्रं प्रापातयन्नरैः। तेन छिद्रेण निर्गत्य राजा स्वरुचितो ययौ॥168॥
तन्मध्याह्ने कवीशं तमाकार्यापृच्छद्भुतम्॥ पत्रकं कर्षयित्वा स स्थगीमध्याददर्शयत्॥169॥
तत्र चोपरिभागेन निर्यास्यति नृपो ध्रुवम्। इति तथ्यं वचस्तस्य ज्ञात्वा राजा चमत्कृतः॥170॥
अन्येद्युः सेतुबन्धेन प्राहिणोन्नृपतिर्नरान्। प्रशस्तिर्विद्यते यत्र विहिता श्रीहनूमता॥171॥
तत्काव्याननयनार्थं ते मधूच्छिष्टस्य पट्टिकाः। निधायाम्भोनिधौ मत्स्यवसाज्जितविलोचनाः॥172॥
प्रशस्त्युपरि ता बाढं विन्यस्याथ पुनस्ततः। उत्पाट्यापरतैलाक्तपट्टिकासु च मीलिताः॥173॥
ततोऽप्युद्धृत्य पत्राल्यामक्षरण्यलिखन्नराः। तानि रक्षः कुलानीव खण्डवृत्तान्तोऽभवन्॥ 174॥- त्रिभिर्विशेषकम्॥
राजालोक्यन्त तान्यत्राविशदर्धानि किं पुनः। हृदये शाकफलानीव खण्डितान्यरसान्यभुः॥175॥
पूरयन्ति निजैः प्रज्ञाविशेषैस्ते महाधियः। परं राज्ञश्चमत्कारकरी कस्यापि नैव वाक्॥176॥
द्विपदी त्रिपदी चैका तन्मध्यादर्पिता ततः। श्रीमतो धनपालस्य बालस्य कविताविधौ॥177॥

तथा हि -

(क) 'हरशिरसि शिरांसि यानि रेजुर्हरि हरि तानि लुठन्ति गृध्रपादैः।'

(ख) 'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोङ्गराजस्वसु-
द्धूतेनाद्य जिता निशा कमलया देवी प्रसाद्याद्य च।
इत्यन्तःपुरध्वारिवारवनिताविज्ञापनानन्तरं'
वचनानन्तरं विद्वान् ते समस्ये अपूरयत्।

तथा हि -

(क) 'अयि खलु विषमः पुराकृतानां विलसति जन्तुषु कर्मणां विपाकः'॥178॥

तथा-

(ख) 'स्मृत्वा पूर्वसुरं विधाय बहुशो रूपाणि भूपोऽभजत्॥179॥'
कीरविद्वान् हसन्नाह जैनोच्चितमिव वचः॥180॥

एषां मते परीपाकः कर्मणां हि प्रकथ्यते। समस्यापूरणं ह्येतत् सौवीरामोदमेदुरम्॥181॥
कवीन्द्रः प्राह कीरस्य रागः स्याद् वदने ध्रुवः। मलिनाङ्गस्य सत्यं तु सूर्यः प्रकटयिष्यति॥182॥
द्वापंचाशत्पले फाले शुध्येच्चवेन्मम मानुषम्। अन्नेदृशाक्षराण्येवावश्यमीदृक् प्रतिश्रवे॥183॥
कौतुकादथ भूपालस्तत्तथैव व्यधापयत्। राजमित्रं ततः फाले शुद्धः शुद्धयशोनिधिः॥184॥
प्रतीत एव राजात्र सत्ये को नाम मत्सरी। अथान्येद्युरपृच्छद् तं सुधीशं भोजभूपतिः॥185॥
जैना जलाश्रयद्वारं सुकृतं किं न मन्वते। ततोऽवदत् स तत्रापि सूनृतं सूनृतव्रतः॥186॥

तथा हि -

सत्यं वप्रेषु शीतं शशिकरधवलं वारि पीत्वा यथेच्छं
विच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रहसितमनसः प्राणिसार्था भवन्ति।
शोषं नीते जलौघे दिनकरकिरणैर्यान्त्यनन्ता विनाशं
तेनोवासीनभावं भजति यतिजनः कूपवप्रादिकार्यैः॥187॥

राजाह सत्यमेवेदं धर्मः सत्यो जिनाश्रयः। व्यवहारस्थितानां तु रुच्यो नैव कथंचन॥188॥
ततो राजसखा प्राह पित्राहमपि पाठितः। किञ्चिज्ज्ञात्वा मयाश्रायि का कथा त्वबुधे जने॥189॥

यतः -

त्याज्या हिंसा नरकपदवी नानृतं भाषणीयं
स्तेयं हेयं विषयविरतिः सर्वसङ्गाविवृत्तिः।
जैनो धर्म्मो यवि न रुचितः पापपङ्कावृतेभ्यः-
स्तत्किं न्यूनो घृतमवमतं किं प्रमेह्यति नो चेत्॥१९०॥

5. धनपालस्ततः सप्तक्षेत्र्यां वित्तं व्ययेत् सुधीः। आदौ तेषां पुनश्चैतत्वं संसारोत्तारकारणम्॥१९१॥
विमृश्येति प्रभोर्नाभिसूनोः प्रासादमातनोत्। बिम्बस्यात्र प्रतिष्ठां च श्रीमहेन्द्रप्रभुर्दधौ॥१९२॥
सर्वज्ञपुरतस्तत्रोपविश्य स्तुतिमादधे। 'जयजंतुकम्पे'त्यादि गाथापंचशता मिताम्॥१९३॥
एकदा नृपतिः स्मार्तकथाविस्तरनिस्तुषः। वयस्यमवदज्जैनकथां श्रावय कामपि॥१९४॥
द्वादशाथ सहस्राणि ग्रन्थमानेन तां ततः। परिपूर्य ततो विद्वत्समूहैरवधारिताम्॥१९५॥
यथार्था काचदोषस्योद्धारात् तिलकमञ्जरीम्। रसेन कवितारूपचक्षुर्नैर्मल्यदायिनीम्॥१९६॥
विद्वज्जनास्यकर्पूरपूराभां वर्णसम्भूताम्। सुधीर्विरचयांचक्रे कथां नवरसप्रथाम्॥१९७॥- त्रिभिर्विशेषकम्।
रसा नव परां कोटिं प्रापिताः कविचक्रिणः। कथायां तत्समाप्तौ च तद्व्याने परिवर्तते॥१९८॥
स्वयूध्यानामिवामीषां प्रस्तावं ते दधुर्धुवम्। रसानां स ततः षण्णामास्वादमबुधद् बुधः॥१९९॥
दुहित्रा च ततः पृष्टं तात! ग्रन्थः समापि किम्। अहो स्पृष्टां पितृध्याने सुताज्ञाने च चित्रकृत्॥२००॥
अथासौ गूर्जराधीश कोविदेशशिरोमणिः। वादिवेतालविशदं श्रीशान्त्याचार्यमाह्वयत्॥२०१॥
अशोधयदिमां चासावुत्सूत्रादिप्ररूपणात्। शब्दसाहित्यदोषास्तु सिद्धसारस्वतेषु किम्॥२०२॥

6. तस्यां व्याख्यायमानायां स्थालं हैममोचयत्। भूपालः पुस्तकस्याधो रससङ्ग्रहहेतवे॥२०३॥
तत्र तद्रसपीयूषं पूर्वमाहृतवान् नृपः। आधिख्याधिसमुच्छेदहेतुमक्षयत्पित्तदम्॥२०४॥
सम्पूर्णयां च तस्यां स प्राह पृच्छामि किंचन। तथा त्वामर्थये किञ्चित्त्वेन धारयसे रुषम्॥२०५॥
पूर्वमेव कथारम्भे शिवः पात्वित्यमङ्गलम्। चतुःस्थानपरावृत्तं तथा कुरु च मदगिरा॥२०६॥
धारासक्तामयोध्यायां महाकालस्य नाम च। स्थाने शक्रावतारस्य शङ्करं वृषभस्य च॥२०७॥
श्रीमेघवाहनाख्यायां मम नाम कथा ततः। आनन्दसुन्दरा विश्वे जीयादाचन्द्रकालिकम्॥२०८॥
सुधीः प्राह महाराज! न शुभं प्रत्युताशुभम्। परावर्ते कृतेऽमुष्मिन् सूनृतं मद्बचः शृणु॥२०९॥
पयःपात्रे यथा पूर्णे श्रोत्रियस्य करस्थिते। अपावित्र्यं भवेत् तत्र मद्यस्यैकेन बिन्दुना॥२१०॥
एवमेषां विनिमये कृते पावित्र्यहानितः। कुलं मे ते ध्रुवं राज्यं राष्ट्रं च क्षीयतेतराम्॥२११॥
शेषेसे वाविशेषं ये न जानन्ति द्विजिह्वताम्। यास्तो हीनकुलाः किं ते न लज्जन्ते मनीषिणाम्॥२१२॥
अथ राजा रुषा पूर्णः पुस्तकं तन्मयाधदसौ। अङ्गारशकटीवह्नी जाड्यात् पूर्वं पुरस्कृते॥२१३॥
ततो रोषाद् बभाणासौ गाथामेकां नृपं प्रति। पुनर्नानेन वक्ष्यामीत्यभिसन्धिः कठोरगीः॥२१४॥
सा चेयम् -

मालविओसि किमन्नं यन्नसि कव्येण निव्वुडं तंसि।

धणवालं पि न मुंचसि पुच्छामि सर्वचणं कत्तो॥२१५॥

अथ वेश्म निजं गत्वा दौर्मनस्येन पूरितः। अवाङ्मुखः स सुष्वाप तदाऽनास्तुततत्पके॥२१६॥

न स्नानं देवपूजा न भुक्तेर्वर्तापि न स्मृता। वचनं नैव निद्रापि पण्डितस्य तदाऽभवत्॥२१७॥
मूर्त्येव सरस्वत्या नवहायनबालया। दुहित्रा मन्युहेतुं स पृष्टस्तथ्यं यथाह तत्॥२१८॥
उत्तिष्ठ तात! चेद्राज्ञा पुस्तकं पावके हुतम्। अक्षयं हृदयं मेऽस्ति सकलां ते ब्रुवे कथाम्॥२१९॥
स्नानं देवार्चनं भुक्तिं कुरु शीघ्रं यथा तव। कथापाठं ददे हृष्टस्ततः सर्वं चकार सः॥२२०॥
कथा च सकला तेन शुश्रुवेऽत्र सुतामुखात्। कदाचिन्न श्रुतं यावत् तावन्नास्याः समाययौ॥२२१॥
सहस्रत्रितयं तस्याः कथाया अनुवृत्तं तदा। अन्यत् सम्बन्धसम्बद्धं सर्वं न्यस्तं च पुस्तके॥२२२॥
अथापमानपूर्णोऽयमुच्चचाल ततः पुरः। मानाद्विनाकृताः सन्तः सन्तिष्ठन्ते न कर्हिचित्॥२२३॥
पश्चिमां दिशमाश्रित्य परिस्पन्दं विनाचलत्। प्राप सत्यपुरं नाम पुरं पौरजनोत्तरम्॥२२४॥
तत्र श्रीमन्महावीरचैत्ये नित्ये पदे इव। दृष्टे स परमानन्दमाससाद विदांवरः॥२२५॥
नमस्कृत्य स्तुतिं तत्र विरोधाभाससंस्कृताम्। चकार प्राकृतां 'देव निम्मले' त्यादि साऽस्ति च॥२२६॥
दिनैः कतिपयैर्भोजभूजानिस्तमजूहवत्। नास्तीति ज्ञातवृत्तान्तः किञ्चित्खेदवशोऽभवत्॥२२७॥
आह चेच्चिन्त्यते चित्ते कद्वदोऽस्मासु यात्वसौ। परस्तत्सदृशो नान्यस्तथ्यवाग् भारतीनिभः॥२२८॥
ईदृक्पुरुषसंसर्गं मन्दभाग्या वयं ननु। वेशन्तस्य कथं हंसवासपुण्यं विजृम्भते॥२२९॥
इत्यस्य खिद्यमानस्य चकोरस्य कुहूष्विव। प्रायाद् धर्माभिधः कौलो विद्वांस्तद्वृत्तमुच्यते॥२३०॥

तद्यथा-

7. आधरोऽनन्तगोत्राणां पुरुषोत्तमसंश्रयः। आकरोऽनेकरत्नानां लाटदेशोऽस्ति वार्द्धिवत्॥२३१॥
यत्र मेकलकन्योर्मिनिचयो दर्शनाज्जननम्। पवित्रयेत् तदस्ति श्रीभृगुकच्छाख्यया पुरम्॥२३२॥
तत्रास्ति वेदवेदाङ्गपारगो वाडवाग्रणीः। सूरवेव इति ख्यातो वेधा इव शरीरवान्॥२३३॥
सतीशिरोमणिस्तस्य कान्ता कान्तनयस्थितिः। सावित्रीत्याख्यया ख्यातिपात्रं दानेश्वरेषु या॥२३४॥
तयोरुभावभूतां च पित्राशानिलयो सुतौ। धर्मः शर्मश्च दुहिता गोमतीत्यभिधा तथा॥२३५॥
धर्मः स्वनामतो वामः शठत्वादनयस्थितिः। पितुः सन्तापकृज्जज्ञे सूर्यस्येव शनैश्चरः॥२३६॥
स पित्रोक्तो धनं वत्से! जीविकायै समर्जयः मुधा न लभ्यते धान्यं यत्ते जठरपूरकम्॥२३७॥
निष्कलत्वात् ततो नीचसंसर्गात् पाठवैरतः। सर्वोपायपरिभ्रष्टोऽभूदिक्षुक्षेत्ररक्षकः॥२३८॥
तत्र श्रीक्षेत्रपालोऽस्ति न्यग्रोधाधः सदैवतः। तदर्चानिरतो धर्मः सदासीद् भक्तिबन्धुरः॥२३९॥
स च स्वस्वामिनो गेहे गतः क्वचन पर्वणि। भुंक्वात्रेति तदुक्तः सन् प्रोवाच प्रकटाक्षरम्॥२४०॥
न वत्से क्षेत्रपालार्च्चा विनाऽहं प्रलयेऽपि हि। क्षेत्रं ययौ ततोऽभ्यर्च्य तमूर्ध्वो यावदास्थितः॥२४१॥
तावदैक्षिष्ट नगनां स योगिनीं तद्वृतेर्बहिः। क्षेत्रपालप्रसादेन शक्तिं मूर्तिमतीमिव॥२४२॥
तया चेक्षुलतामेकां प्रार्थितेनातिभक्तिना। तद्युग्मं रससर्वस्वपूर्णं तस्याः समर्प्यत॥२४३॥
तदास्वादसप्रमोदेन सप्रसादाऽथ साऽवदत्। किं त्वं घृणायसे वत्स न वा सोऽप्यवदत् ततः॥२४४॥
न घृणाये महामाये सा ततः पुनराह च। व्यादेहि वचनं तेन तच्चक्रे सादरं वचः॥२४५॥
सा च तद्रसगण्डूषं सुधावत्तन्मुखेऽक्षिपत्। हस्तं तन्मस्तके प्रादादायातस्य वृतेर्बहिः॥२४६॥
तिरोधत् क्षणेनैव सा देवी च गिरां ततः। विमुच्य स च तत्सर्वं तस्मान्निरगमद् द्रुतम्॥२४७॥
शनैर्गच्छन् पुरः प्राप पूर्वगंगातटं ततः। अचिन्तितमवादीच्च काव्यं सारस्वतोदयात्॥२४८॥

तथा हि-

एते मेकलकन्यकाप्रणयिनः पातालमूलस्पृशः

संत्रासं जनयन्ति विन्ध्यभिदुरा वारां प्रवाहाः पुरः।

हेलोद्धर्तितनर्तितप्रतिहतव्यावर्तितप्रेस्ति-

त्यक्तस्वीकृतनिहनुतप्रकाटितप्रोद्धततीरदुमाः॥१२४९॥

तत उत्तीर्य नावासौ नगरान्तः समागमत्। निजावासं जनन्या च स्नेहादस्पर्शं हस्तयोः॥१२५०॥

अद्योत्सूरे कथं प्रागा इति पित्रोदितस्तथा। लसता सोऽनुजेनापि शिरसा हृदि पस्पृशे॥१२५१॥

जामिर्गद्गदशब्दाच्च भ्रातभ्रातः पुनःपुनः। सर्वानप्यवमन्यासौ रूक्षाक्षरमथावदत्॥१२५२॥

मातर्मा स्पृश या स्पृश त्वमपि मे मा तात तृप्तिं कृथाः

भ्रातः किं भजसे वृथा भगिनि किं निःकारणं रोदयि।

निःशङ्कं भविरां पिबन्ति नृपलं खादन्ति ये निर्दया-

श्रृण्डालीमपि यान्ति निर्घृणतया ते हन्त कौला वयम्॥१२५३॥

इत्युक्त्वा निर्ययौ गेहात् त्यक्त्वा स्वस्नेहमञ्जसा। अवन्तिदेशसारां स धारां प्राप पुरीं ततः॥१२५४॥

स राजमन्दिरद्वारि पत्रालम्बं प्रदत्तवान्। काव्यान्यमूनि चालेखीत् तत्र मानाद्रिमूर्द्धगः॥१२५५॥

तद्यथा-

शम्भुगौडमहामहीपकटके धारानगर्या द्विजो

विष्णुर्भट्टिर्अमंडले पशुपतिः श्रीकन्यकुब्जे जितः।

ये चान्येऽपि जडीकृताः कतिपये जल्पानिले वादिनः

सोऽयं द्वारि समागतः क्षितिपते! धर्मः स्वयं तिष्ठति॥१२५६॥

यः कोऽपि पण्डितमन्यः पृथिव्यां दर्शनेष्विति। तर्क-लक्षण-साहित्योपनिषस्तु वदत्वसौ॥१२५७॥

अथ श्रीभोजभूषालपुरः संगत्य पर्वदम्। तृणाय मन्यमानोऽसौ साहंकारां गिरं जगौ॥१२५८॥

गलत्त्विवानिं चिरकालश्चितो मनीषिणामप्रतिमहत्तामदः।

उपस्थिता सेयमपूर्वरूपिणी तपोधनाकारधरा सरस्वती॥१२५९॥

क्षितिप तव समक्षं बाहुरूर्ध्वीकृतो मे

वदतु वदतु वादी विद्यते यस्य शक्तिः।

मयि वदति वितण्डावावजल्पप्रवीणे

जलधिवलयमध्ये नास्ति कश्चिद् विपश्चित्॥१२६०॥

हेमाद्रेर्बलवत्प्रमाणपटुता ताक्ष्यस्य पक्षो वृद्धः

शैलानां प्रतिवाविता दिविषदां पात्रावलम्बग्रहः।

देशस्यैव सरस्वतीविलसितं किंवा बहु ब्रूमहे

धर्मे सञ्चरति क्षितौ कविबुधख्यातिग्रहाणां यदि॥१२६१॥

बृहस्पतिस्तिष्ठतु मन्दबुद्धिः पुरंदरः किं कुरुते वराकः।

मयि स्थिते वादिनि वादिसिंहे नैवाक्षरं वेत्ति महेश्वरोऽयि॥१२६२॥

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं

वैवज्रोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।

राजन्नस्यां जलधिपरिखामेखलायामिलाया-

माज्ञासिद्धः किमिह बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥263॥

इत्याडम्बरकाव्यानि तस्य श्रुत्वा महाधियः। अर्वाङ्दृशोऽभवन् सर्वे भूपालो व्यमृशत् ततः॥264॥
 पुंसा तेन विना पर्षच्छून्येव प्रतिभासते। स कथं पुनरागन्ता य एवमपमानितः॥265॥
 पुनः प्राप्यः कथंचित् स्यात् तदा प्रतिविधास्यते। एवं विचिन्त्य सर्वत्राप्रीषीद् विश्वास्यपूरुषान्॥266॥
 शोधितः सर्वदेशेषु तेषामेके तमाप्नुवन्। मरुमण्डलमध्यस्थे पुरे सत्यपुराभिधे॥267॥
 तैश्च वैनयिकीभिः स वाणीभिस्तत्र सन्वितः। औदासीन्ये स्थितः प्राह नायास्ये तीर्थसेव्यहम्॥268॥
 तैर्विज्ञप्ते यथावृत्ते भूपः पुनरचीकथत्। ततो (?वो) दासीनताभासं वचोऽसावखरप्रियम्॥269॥
 श्रीमुञ्जस्य महीभर्तुः प्रतिपन्नसुतो भवान्। ज्येष्ठोऽहं तु कनिष्ठोऽस्मि तत्किं गण्यं लघोर्वचः॥270॥
 पुरा ज्यायान्महाराजस्त्वामुत्सङ्गोपवेशितम्। प्राहेति विरुदं तेऽस्तु श्रीकूर्चालसरस्वती॥271॥
 त्यक्ता वयं त्वया वृद्धा राज्यमाप्ताश्च भाग्यतः। जये पराजये वाप्यवन्तिदेशः स्थलं तव॥272॥
 ततो मत्प्रियहेतोस्त्वमागच्छागच्छ माऽथवा। जित्वा धारां त्वयं कौलः परदेशी प्रयास्यति॥273॥
 तत्ते रूपं विरूपं वा जानासि स्वयमेव तत्। अतः परं प्रवक्तुं न सांप्रतं नहि बुद्ध्यते॥274॥
 प्राकृतोऽपि स्वयं ज्ञातं कुरुते नेतरत् पुनः। किं पुनस्त्वं महाविद्वांस्तद् वाथारुचितं कुरु॥275॥
 धनपाल इति श्रुत्वा स्वभूमेः पक्षपाततः। तरसाऽगात् ततो ज्ञात्वा राजाभिमुखमागमत्॥276॥
 दृष्टे च पादचारेण भूपः संगम्य धीनिधिम्। दृष्टमाश्लिष्य चावादीत् क्षमस्वाविनयं मम॥277॥
 धनपालस्ततः साश्रुरवादीद् ब्राह्मणोऽप्यहम्। निःस्पृहो जैनलिङ्गश्चावश्यं तद्व्रतसम्पूहः॥278॥
 मयि मोहो महाराज विलम्बयति मामिह। भवेन्मानापमानोऽपि नह्युदासीनचेतसि॥279॥
 अथ राजाह मे खेदो नागुरप्यस्त्यसौ तव। त्वयि जीवति भोजस्य सभा यत् परिभूयते॥280॥
 पराभवस्तवैवायमिति श्रुत्वा कृतिप्रभुः। प्राह मा खिद्यतां भिक्षुरक्तेशाज्जेष्यते प्रगे॥281॥
 श्रुत्वेति हृदये तुष्टो ययौ श्रीभोजभूपतिः। विद्वानपि निजं वेश्म चिरत्यक्तं पुनर्ययौ॥282॥
 समार्जनातिगे गेहे शशकाखुकृतैर्बिलैः। दृश्यनिःसंख्यवल्मीकदुर्गमे प्राविशत् ततः॥283॥
 राजा सौधे गतः प्रातः पृष्ठो भूपेन वेश्मनः। शुद्धिं विद्वत्प्रभुः प्राह श्रूयतां सूनृतं वचः॥284॥

तच्चेदम् -

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव॥

विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयोः सदनम्॥285॥

राज्ञा धर्मस्तदाहूत आस्थाने स्वःसभोपमे। श्रूयतां धनपालोऽयमाययौ वादिदर्पहृत्॥286॥
 धर्मोऽथ छित्तपं विज्ञं पूर्वं परिचितं तदा। दृष्ट्वा काव्यमदोऽवादीत् तदावर्जनगर्भितम्॥287॥

श्रीछित्तपे कर्हमराजशिष्ये सभ्ये सभाभर्तुरि भोजराजे।

सारस्वते स्रोतसि मे प्लवन्तां पलालकल्पा धनपालवाचः॥288॥

धनपेति नृपस्यामंत्रणे मे मम तद्गिरः। आलवाचः प्लवन्तां हि सिद्धसारस्वते झरे॥289॥
 इति भूपालमित्रेण शब्दखण्डनयाऽनया। अस्यैव प्रतिपक्षार्थोऽक्षरैस्तैरेव जल्पितः॥290॥
 समस्यामर्पयामास सिद्धसारस्वतः कविः। धर्मस्तां च पुपूरेऽसौ वारानष्टोत्तरं शतम्॥291॥
 तासामेकाऽपि निर्दोषा न विद्वच्चित्तहारिणी। पुपूरे चान्त्यवेलायामित्थं तेन मनीषिणा॥292॥

‘इयं व्योमाम्भोधेस्तटमिव जवात् प्राप्य तपनं
निशानौर्विश्लिष्टा घनघटितकाष्ठा विघटते’॥ - इति समस्या।

‘वणिकचक्राक्रन्दत्विषि शकुनिकोलाहलगणे
निराधारास्तारास्तदनु च निमज्जन्ति मणयः’॥293॥

अतिश्रुतिकटुत्वेन चन्द्रास्तवर्णनेन च। न्यूनोक्तिदूषणाच्चापि सभ्यैर्नैषापि मानिता॥294॥
ततो वज्रं समस्यायाः पतितिविति च सोऽवदत्। विलक्षो जयभगनाशः स मिथ्याडम्बरी कविः॥295॥
ततः श्रीधनपालेनापूरि विद्वन्मनोहरा। अनायासात् समस्येयं यतोऽस्यैतत् कियत् किल॥296॥

‘असावप्याभूलवृटितकरसन्तानतनिकः

प्रयात्यस्तं अस्तसितपट इव श्वेतकिरणः’॥297॥

भग्नो मग्नः पराभूतिवारिधौ बोधतस्ततः। तरण्डाद्धर्म उद्ग्रे कवीन्द्रेणेति गाथया॥298॥

आसंसारं कइपुंगवेहिं पइदियह गहिबसारोवि।

अज्जवि अभिन्नमुहो च्च जयइ वायापरिप्फवो॥299॥

ततः श्रीभोजराजोऽपि कृतीशानुमतस्तदा। यच्छन् धर्मस्य वित्तस्य लक्षं तेनेत्यवार्थतः॥300॥

तद्यथा -

ब्रह्माण्डोवरकोटरं कियवित्तं तत्रापि मृद्गोलकं

पृथ्वीमण्डलसञ्ज्ञकं कुपतयस्तत्राप्यमी कोटिशः।

तत्रैके गुरुगर्वगदगदिरो विश्राणयन्त्यर्थिनां

हा हा हन्त वयं तु वज्रकठिनास्तानेव याचेमहि॥301॥

न ग्रहीष्ये ततो वित्तमसारकमशाभ्रतम्। अभिमाने हते जीवे पुरुषः शवसन्निभः॥302॥
स आह कविरैकोऽसि धनपाल धियानिधे॥ इति प्रतीतं पचिवत्ते बुधो नास्ति तु निश्चितम्॥303॥
सविस्मयं ततः प्राह सिद्धसारस्वतः कविः। नास्तीति नोच्यते विद्वन्। रत्नगर्भा वसुन्धरा॥304॥
अणहिल्लपुरे श्रीमान् शान्तिसूरिः कृतिप्रभुः। जैनः ख्यातस्त्रिभुवने बुधस्तमवलोकय॥305॥
स्नेहाद् विसर्जितो राजा कवीशेनाप्यसौ ततः। विजये तस्य भगनाशो व्यमृशन्मानसान्तरा॥306॥
अद्य पूर्वं न केनापि स्वखलितं वचनं मम। ईदृग्मम वचो हन्ता साक्षाद् ब्राह्मी नतु द्विजः॥307॥
प्रयाणं सुन्दरं तस्माद् बुधालोकमिषादतः। ध्यात्वेति गूर्जरं देशं प्रति प्रस्थानमातनोत्॥308॥
प्रातः संसदि भूपालस्तमाह्वस्त विशारदम्। नास्तीति च परिज्ञाते धनपालः कविर्जगौ॥309॥
‘धर्मो जयति नाधर्मः’ इत्यलीकीकृतं वचः। इदं तु सत्यतां नीतं ‘धर्मस्य त्वरिता गतिः’॥310॥
राजा प्राह यथा जीवं विनाङ्गेऽवयवान्विते। सत्यपि स्यान्न सामर्थ्यमुत्तरेऽपि परगतौ॥311॥
तद्वदेकं विना मित्रं धनपालं कृतिप्रभुम्। मूकेय धर्मसंवादे सभा शोभा विनाकृता॥312॥
तस्मात्स एव मत्पार्थ शृङ्गारयतु सर्वदा। श्रुत्वेति धनपालोऽपि तुष्टः सम्मानतः प्रभोः॥313॥
यथा स पत्तनं प्राप्तो जितः श्रीशान्तिसूरिभिः। बुध्वाऽऽस्ते मानितास्तेन तज्ज्ञेयं तच्चरित्रतः॥314॥

8. इतश्च शोभनो विद्वान् सर्वग्रन्थमहोदधिः। यमकान्विततीर्थैस्तुतीष्टक्रेऽतिभक्तितः॥315॥
तदेकध्यानतः श्राद्धग्रहे त्रिभिर्धिया ययौ। पृष्टः श्राविकया किं त्वं त्रिरागा हेतुत्र कः॥316॥
स प्राह चित्तव्याक्षेपात्र जाने स्वगतागते। श्राविकाऽऽस्यात् परिज्ञाते गुरुभिः पृष्ट एष तत्॥317॥
स प्राह न स्तुतिध्यानाज्जानेऽपश्यदशो गुरुः। तत्कालव्यान्यतिहर्षेण प्राशंसत् चमत्कृतः॥318॥

तदीयदृष्टिसङ्गेन तत्क्षणं शोभनो ज्वरात्। आससाद परं लोकं सङ्घस्याभाग्यतः कृती॥३१९॥
तासां जिनस्तुतीनां च सिद्धसारस्वतः कविः। टीकां चकार सौदर्यस्नेहं चित्ते वहन् दृढम्॥३२०॥
आयुरन्तं परिज्ञाय कोविदेशोऽन्यदा नृपम्। आपृच्छत परं लोकं साधितुं गुरुसनिधौ॥३२१॥
श्रीमन्महेन्द्रसूरीणां पादाम्भोजपुरस्सरम्॥ तनुं समलिखद् गेहिधर्म एव स्थितः सदा॥३२२॥
उग्रेण तपसा शुद्धदेहः क्षिप्तान्तरद्विषन्। सम्यक्त्वं निरतीचारं पालयन्नालये गुरोः॥३२३॥
तिष्ठन्निर्याप्यमानः स स्थविरैः श्रुतपारगैः। अन्ते देहं परित्यज्य श्रीसौधर्ममशिश्रयत्॥३२४॥-युग्मम्।
गुरवोऽपि तदा तस्य दृष्ट्वा छेकत्वमदभुतम्। लोकद्वयेऽपि सन्यासपूर्वं तेऽपि दिवं ययौ॥३२५॥

श्रीमन्महेन्द्रगुरुवीक्षितशोभनस्य

प्रज्ञाधनस्य धनपालकवैश्च वृत्तम्।

श्रीजैनधर्मदृढवासनया लभन्तां

भख्यास्तमस्ततिहरं ननु बोधिरत्नम्॥३२६॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वविचरित्ररोहणगिरौ वृत्तं महेन्द्रप्रभोः

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शृङ्गो मुनीन्दुप्रभः॥३२७॥

श्रीदेवानन्दसूरिर्विशतं मुवमसौ लक्षणाद्येन हैमा-

वुद्धृत्य प्राज्ञहेतोर्विहितमभिनवं सिद्धसारस्वताख्यम्।

शाब्दं शास्त्रं यदीयान्वयिकनकगिरिस्थानकल्पद्रुमश्च

श्रीमान् प्रद्युम्नसूरिर्विशदयति गिरं नः पदार्थप्रवाता॥३२८॥

॥ इति श्रीमहेन्द्रप्रभसूरिप्रबन्धः ॥



श्रीसूराचार्यचरितम्

सूराचार्यः श्रिये श्रीमान् सुमनःसङ्घपूजितः। यत्प्रज्ञया सूराचार्यो मात्राधिकतया जितः॥11॥
सूराचार्यप्रभोरत्र ब्रूमः किं गुणगौरवम्। येन श्रीभोजराजस्य सभा प्रतिभया जिता॥12॥
चरित्रं चित्रवत्तस्य सुधीहृदिभक्तिषु स्थितम्। ज्ञात्वा वर्णोज्ज्वलं व्याख्यायते स्थैर्याय चेतसः॥13॥

1. अणहिल्लपुरं नाम गूर्जरावनिमण्डनम्। अस्ति प्रशस्तिवत् पूर्वभूपालनयपद्धतेः॥14॥
प्रतापाक्रान्तराजन्यचक्रश्चक्रेश्वरोपमः। श्रीभीमभूपतिस्तत्राभवद् दुःशासनार्दनः॥15॥
शास्त्रशिक्षागुरुर्वोणाचार्यः सत्याक्षतव्रतः। अस्ति क्षात्रकुलोत्पन्नो नरेन्द्रस्यास्य मातुलः॥16॥
तस्य संग्रामसिंहाख्यभ्रातुः पुत्रो महामतिः। महीपाल इति ख्यातः प्रज्ञाविजितवाक्यपतिः॥17॥
तत्तातेऽस्तंगते दैवाद् बाल्य एव प्रभोः पुरः। तन्माता भ्रातृपुत्रं स्वं प्रशाधीति प्रभुं जगौ॥18॥
निमितातिशयाज्ज्ञात्वा तं शासनविभूषकम्। आदराज्जगृह्णतुजायां सन्तोष्य वाग्धरेः॥19॥
शब्दशास्त्रप्रमाणानि साहित्यागमसंहिताः। अमिलन् स्वयमेवास्य साक्षिमात्रे गुरौ स्थिते॥10॥
स्नेहादेव गुरोः पार्श्वममुञ्चन् जगृहे व्रतम्। स्वपदटे स्थापयेन्मंशु तादृशा नोचितातिगाः॥11॥
वार्तमानिकशास्त्राम्भोरुहभासुरभानुमान्। जनाज्ञानतमश्छेदी सूराचार्यः स विश्रुतः॥12॥

2. अथ श्रीभोजराजस्य वाग्देवीकुलसद्यनः। कलासिन्धुमहासिन्धोर्विद्वल्लीलामहौकसः॥13॥
प्रधाना आजगिमांसः श्रीभीमनृपपर्वदम्। गाथामेकामजल्पश्च निजनाथगुणाद्भुताम्॥14॥- युग्मम्।

तथा हि -

हेलानिहिलियगङ्गवकुंभपयडियपयावपसरस्स।

सीहस्स मएण समं न विग्गहो नेय संधाणं॥15॥

हेलया तदवज्ञाय तेषां सन्मानमादधे। आवास-भुक्तिवृत्त्याद्यैर्भूपस्थानं च ते ययुः॥16॥
गतेषु तेषु भूपालः स्वप्रधानानिहादिशत्। शोध्यः प्रत्युत्तरार्यायै विपश्चित् कश्चिदद्भुतः॥17॥
स्वस्वभृत्यनुमानेन प्रत्यार्याः कविभिः कृताः। न चमत्कारिणी राज्ञस्तासामेकाऽपि चाभवत्॥18॥
सर्वदर्शनिशालासु चतुष्के चत्वरे त्रिके। हर्म्यचैत्येषु गच्छन्ति ते तत् प्रेक्षाकुतूहलात्॥19॥
श्रीमद्गोविन्दसूरीणां चैत्ये ते चान्यदा ययुः। तदा पर्वणि कुत्रापि तत्रासीत् प्रेक्षणक्षणः॥20॥
अङ्गहारप्रकारैश्च त्रिपताकादिहस्तकैः। तत्र नर्तितं लास्येन ताण्डवेन च नर्तकी॥21॥
आतोद्यतालसंवादसपत्नविषमासनैः। श्रान्ता श्लक्ष्णोपलस्तम्भं स्पर्शं प्रक्षणवन्मृदुम्॥22॥
आशिश्लेष नटी स्वेदहतये पवनार्थिनी। तत्काठिन्यप्रकर्षस्य द्रावणायेव निर्भरम्॥23॥ युग्मम्।
व्यजिज्ञपन् विशिष्टाश्च श्रीगोविन्दाय सूरये। इमामीदृगवस्थानां वर्णयध्वं प्रभो! स्फुटम्॥24॥
सूराचार्यं च तत्रस्थं तदुत्कीर्तनहेतवे। तं तदा दिदिशुः पूज्यास्तत्क्षणाच्चाथ सोऽब्रवीत्॥25॥

तद्यथा -

यत् कङ्कणाभरणकोमलाबाहुवस्त्रिसङ्गात् कुरङ्गकवृशोर्नवयौवनायाः।

न खिद्यसि प्रचलसि प्रविकम्पसे त्वं तत् सत्यमेव दृषदा ननु निर्मितोऽसि॥26॥

तत्कालं ते नृपायेदं गत्वा हृष्टा व्यजिज्ञपन्। गोविन्दाचार्यपार्श्वेऽस्ति कविः प्रत्युत्तरक्षमः॥27॥

भूपालः प्राह सौहार्दभूमिः सूरिरसौ हि नः। समानयत सन्मान्य सत्कविं तं गुरुं ततः॥28॥

आदेशानन्तरं ते श्रीगोविन्दस्याश्रयं ययुः। आजूहवंक्ष तं सोऽपि भूपसंसदमाययौ॥29॥

सूराचार्यं च पार्श्वेऽस्य दृष्ट्वा भूपः प्रमोदभूः। मन्मातुलस्य पुत्रोऽसौ सम्भाव्यं सर्वमत्र तत्॥30॥

आशीर्वाद्योपविष्टश्च सूरिर्भूपार्ह आसने। श्रीभोजप्रहितां गाथां विद्वद्भिः श्रावितस्ततः॥31॥

तदनन्तरमेवाथ सूराचार्य उवाच च। कोऽवकाशो विलम्बस्य तादृक्पुण्योदये सति॥32॥

तथा हि-

अंधयसुयाणकालो भीमो पुहवीड निम्मिओ विहिणा।

जेण सयं पि न गणियं का गणणा तुज्झ इक्कस्सा॥33॥

इत्यार्या भीमभूपालः श्रुत्वा रोमाञ्चकञ्चुकी। धाराधिप्रधानानां द्रुतं प्राजीहयत् करे॥34॥

श्रीभोजस्तां प्रवाच्याथ विममर्शति चेतसि। ईदृक्कविभवो देशः स कथं परिभूयते॥35॥

सूरिः श्रीभीमराजेन सम्मान्येति व्यसृज्यत। किं कुर्यात् त्वयि पार्श्वस्थे श्रीभोजो विदुषां निधिः॥36॥

3. अन्यदा गुरुभिः शिष्याध्यापनेऽसौ न्ययोज्यत। कारयन्ति गुणा एव प्रतिष्ठां पुरुषाकृतेः॥37॥

कुशाग्रीयमतिः शास्त्ररहस्यानि पटुप्रभः। तथा दिशति जानन्त्येकशः श्रुत्वापि ते यथा॥38॥

तारुण्यवयसा प्रज्ञापाटवेनाधिकेन च। किञ्चिददृप्तः स्वशिष्याणां कुप्यत्यनवगच्छताम्॥39॥

ततस्तान् शिक्षयन्नेकां रजोहरणदण्डिकाम्। नित्यं भक्तित् कोपोऽरिस्तादृशानपि गञ्जयेत्॥40॥

एकदा त्ववलेपोऽपि स्वजातीयसहायताम्। कर्तुमत्राययौ स्वीयानुपदीनो न को भवेत्॥41॥

वैयावृत्यकरं स्वीयं खिन्नस्तन्नित्यभङ्गतः। आदिशद्दण्डिका लौहा कार्याऽस्माकं रजोहतौ॥42॥

छात्रा वित्रासमापन्नाः खिन्नस्विन्नतनूतः। उपाध्यायात् कथंचित् ते वासरं निरयापयन्॥43॥

आवश्यकविधेः शास्त्रगुणनाच्चानु ते ततः। अर्द्धरात्रिककालस्यावसरेऽपि विनिद्रकाः॥44॥

ज्येष्ठप्रभुक्रमाम्भोजसेवाहेवाकिनस्ततः। नत्वा व्यजिज्ञपन् विश्रमयन्तश्चरणद्वयम्॥45॥

शरण्यं शरणायाता अश्रान्तस्त्रवदश्रवः। शिरोभेदमृतेर्भीता उपाध्यायस्य चेष्टितम्॥46॥- त्रिभिर्विशेषकम्।

श्रुत्वा प्रभुभिरादिष्टं वत्साः स्वच्छाशया ननु। एष वोऽह्नाय पाठाय त्वरते नतु वैरतः॥47॥

यदयोमयदण्डस्य सोऽर्थी तद्धि विरुध्यते। शिक्षिष्यते तथायं वो नाचरेद् विद्वत् यथा॥48॥

इत्थमाश्वासितास्ते च स्वस्वस्थानेष्वसूषुपन्। सूराचार्योऽपि तत्रागाच्छ्रृणाहेतवे प्रभोः॥49॥

ददे कृतककोपात् तैर्वन्दने नानुवन्दना। अप्रसादे ततो हेतुं पप्रच्छाह प्रभुः पुनः॥50॥

लोहदण्डो यमस्यैवायुधं नहि चरित्रिणाम्। घटते हिंस्रवस्तु स्यात् तथैव तु परिग्रहे॥51॥

आद्योऽपि कोऽप्युपाध्यायः पाठको न शिशुव्रजे। अहो ते स्फुरिता प्रज्ञा पुंसां हृदयभेदिनी॥52॥

श्रुत्वेति व्यमृशच्छात्रवर्गादयमुपद्रवः। उत्तस्थे च प्रभोरग्रेऽवादीत् सविनयं वचः॥53॥

पूज्यहस्तसंरोजं न मौलौ किं व्यलसन्मम। एवं निस्त्रिंशताशङ्कां मयि यूयं विधत्त किम्॥54॥

काष्ठदण्डिकया देहे प्रहारो दीयते यथा। न तथा लोहदण्डेन ज्ञापनैव विधीयते॥55॥
मद्गुणा यद्यमीषां स्युरिति चिन्ता ममाभवत्। घृतपूर्णाक्षपलकैर्न स्युः सत्यमिदं वचः॥56॥

4. अथ ज्येष्ठप्रभुः प्राह सर्वेषां गुणसंहतिः। कोट्यंशेनापि नास्त्यत्र को मदस्तद्गुणेषु भो॥57॥
इत्याकर्ण्य ततः सूर्याचार्यः प्राज्यमतिस्थितिः। प्राह नाहंकृतोऽहं को गर्वोऽनतिशयस्य मे॥58॥
अभिसन्धिर्ममायं तु चेन्मया पाठिता अमी। विहृत्य परदेशेषु जायन्ते वादिजित्वराः॥59॥
पूज्यानां किरणा भूत्वा जनजाड्यहतौ ननु। युष्माकं सोऽपि शृङ्गार उन्नतिर्जिनशासने॥60॥
गुरवः प्राहुरुत्तानमते बालेषु का कथा। किमागच्छसि लग्नस्त्वं कृतभोजसभाजयः॥61॥
श्रुत्वेत्याह स चादेशः प्रमाणं प्रभुसमितः। आदास्ये विकृतीः सर्वाः कृत्वादेशममुं प्रभोः॥62॥
इत्युक्त्वा निजसंस्तारेऽक्षिपत् शेषक्षणं ततः। सामर्षः सूरिशार्दूलः शार्दूलः श्रस्तफालवत्॥63॥
प्रातः कृत्वाऽन्ववादीत् सोऽनध्यायोऽद्यास्तु पाठने। शिशुत्वाज्जहृषुः शिष्या महोत्सव इवागते॥64॥
मध्याह्ने शुद्धमाहारमानीय यतिमण्डले। मिलिते सूरसूरिं तमाह्वययत सद्गुरुः॥65॥
आययौ परिवेष्टे स गुह्माति विकृतिं नहि। अनुनीतोऽपि गीतार्थैः पूज्यैरप्युदिते दृढम्॥66॥
अमुञ्जन्नाग्रहं सङ्घेनाप्युक्ते इदमध्यधात्। मम प्रतिश्रवो हन्ताऽनाश्रवो मोच्यतां पुनः॥67॥
भणिष्यथाथ चेत् किञ्चित्तन्ममानशनं ध्रुवम्। ततः संवाहयामासे गीतार्थैः सह साधुभिः॥68॥
तत उत्सङ्गमारोप्य शिशिक्षे तैरसौ सुधीः। परदेशे विहर्ता त्वं वत्स ! भूयात् सचेतनः॥69॥

शास्त्रं वंशो जातिः प्रज्ञा कुलमनणुसंयमाः सन्ति।

जयिनश्च यमा नियमास्तथापि यौवनमवि श्वास्थ्यम्॥70॥

इति पूज्योपदेशश्रीशृङ्गारैः स तरङ्गितः। मानयन् स्वान्यदेशीयलब्धवर्णास्तपस्विनः॥71॥
ततः श्रीभीमभूपालपृच्छायै राजसंसदम्। संप्राप गुर्वनुज्ञातो राज्ञां ज्ञातः पुरापि यः॥72॥
सुवर्णमणिमाणिक्वमये पीठे च भूपतिः। न्यवेशयद् बुधं बन्धुं हेमान्यत् सौरभाद्भुतम्॥73॥
तदा च मालवाधीशविशिष्टाः पुनराययुः। स्वरूपं निजनाथस्य भूपालाय व्यजिज्ञपन्॥74॥
देव! त्वद्विदुषां प्रज्ञाप्रातिभै रज्जितो नृपः। श्रीभोजः सम्यगुत्कण्ठां तेषु धारयते प्रभुः॥75॥
ततः प्रहिणुत प्रेक्षादक्षनाथ! प्रसद्य तत्। अन्योन्यं कौतुकं विद्वद्भूभृतां विद्यते यथा॥76॥
राजा प्राह महाविद्वानास्ते मद्बान्धवो नवः। परदेशे कथं नाम प्रस्थाप्योऽसौ स्वजीववत्॥77॥
प्रतिपत्तिं ममेवास्य चेद्विधत्ते भवत्पतिः। प्रवेशादिषु मानं च स्वयं दत्ते तदस्तु तत्॥78॥
सूर्याचार्योऽपि दध्यौ च तोषाद् भाग्यमिहोदितम्। मम पूज्यप्रसादेन यत् तस्याह्वानमागमत्॥79॥
अथाह भूपते धाराधिनाथकृतिना मया। गाथया कविता दृष्टा तत्रोत्तरमदामहम्॥80॥
शमिनां कौतुकं नः किं विचित्रे जगति ध्रुवे। श्रीमद्भोजस्य चित्रार्थं गम्यते त्वदनुज्ञया॥81॥
राजाह तत्र मद्भ्राता त्वं किं तं वर्णयिष्यसि। स प्राहाहं मुनिर्भूषं कुतो हेतौ स्तुवे ततः॥82॥
ऊरीकृते प्रथानैश्च तत्र मालवभूपतेः। प्रयाणायानुजज्ञे तं विज्ञेशं भीमभूपतिः॥83॥
गजमेकं ततः प्रैषीत् सप्तीनां शतपञ्चकम्। पदातीनां सहस्रं च स बन्धौ भक्तिनिर्भरः॥84॥
शुभे मुहूर्ते नक्षत्र-वार-ग्रहबलान्विते। चरे लग्ने ग्रहे क्रूरे तत्रस्थे शुभवीक्षिते॥85॥
गुरुसङ्घाभ्यनुज्ञातो बहिः प्रस्थानमातनोत्। पञ्चमेऽह्नि प्रयाणं च चक्रे चक्रेश्वराकृतिः॥86॥-युगम्।
ततः प्रयाणकस्तोकमेवासौ गूर्जरावनेः। सन्धिक्षोणिमवापाथ ससज्ज स च सज्जयः॥87॥

धाराधिरूढप्रज्ञाभूर्धारापुरमवाप्तवान्। प्रधानैश्च प्रतिज्ञातं ज्ञापितः स्वप्रभुस्ततः॥१८८॥
ततः सर्वर्द्धिसामग्र्या सैन्यमान्यमदन्यभूः। अवन्तिनायकः सज्जयित्वाऽस्याभिमुखोऽचलत्॥१८९॥
दन्तावलैः कलैर्विन्ध्य इव पर्यन्तपर्वतैः। रथैर्ध्वनिप्रथैरध्रैरदध्रैरध्रवद् व्यभात्॥१९०॥
शोभमानो वराश्वीयैः कल्लोलैरिव वारिधिः। पदातिराजिभिर्भ्रजे राजा राजेव तारकैः॥१९१॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
राजामात्योपरोधेन व्रताचारव्यतिक्रमे। प्रायश्चित्तचिकीर्षिते सूरिरारूढवान् गजम्॥१९२॥
दृग्गोचरे करिस्कन्धात् तावुत्तीर्य स्थितौ भुवि। राजा च मुनिराजश्च मिलितौ भ्रातराविव॥१९३॥
देशागतमहाविद्वदुचितं नृपकोशतः। प्रवालकमयं पट्टं तदध्यक्षाः समानयन्॥१९४॥
नियुक्तैश्चाथ तैः स्थूलवेष्टनेभ्यो विवेष्ट्य च। कम्बिकाहस्तमानेन दैर्घ्यविस्तरयोः समः॥१९५॥
अष्टाङ्गुलोच्छ्रयः सूर्यबिम्बवत्तेजसा दृशा। दुर्दर्शः शुद्धभूपीठे व्यमुच्यत नृपाज्ञया॥१९६॥-युग्मम्।
अत्राध्वमिति भूपालानुज्ञाताः प्रत्यलेखयन्। ते रजोहरणाद् त्रिस्तं तत्रोपविशुस्ततः॥१९७॥
अथ श्रीभोज आह स्मौरणरोमालिपिच्छकात्। किं नु प्रमार्जितं रेणुजीवा वात्र लसन्ति किम्॥१९८॥
उपविष्टस्ततः सूरिः कम्पमानशरीरकः। राज्ञा पृष्टः कथं कम्पो जज्ञे वः प्राह सोऽप्यथ॥१९९॥
राजपत्नीन् विकोशास्त्रहस्तान् वीक्ष्य बिभेम्यहम्। राज्ञोचेऽसौ स्थितौ राज्ञां स प्राहासौ व्रतिस्थितिः॥२००॥
अस्त्वेवमिति राज्ञोक्ते स जैनीमाशिषं ददौ। भूपालायोत्तरस्थैर्यहर्षिताय कलानिधिः॥२०१॥

हुत्वा मन्त्री विधाता लवणमुदुगणं सान्ध्यतेजःकृशानौ

धात्रीपात्रं विमोच्य द्विजनिनदमहामन्त्रघोषेण यावत्।

आदायेन्तुं घरदटं कृषति मुहुरुषा शाकिनी ताम्रचूड-

ध्वानान् तावज्जय त्वं वसुमतिसुमनोमंडले भोजराज॥२०२॥

परस्परं प्रशंसाभिर्निर्गम्य कमपि क्षणम्। राजा स्वं मन्दिरं प्राप सूरिः पुर्यन्तरीयिवान्॥२०३॥

५. मध्ये नागरि तत्रास्ति विहारो हारवत् क्षितेः। जनाद् विज्ञाय तत्रायाद् सूराचार्यः कलानिधिः॥२०४॥
सुवर्णमणिमाणिक्यपूजाभिः प्रसरत्प्रभाः। प्रतिमा वीतरागाणां खन्दे भक्तिनिर्भरम्॥२०५॥
लुठत्पाठकपाठाप्तिकर्मठाशठपण्डिते। प्रणष्टबठरे प्रायान्मठे निष्ठितकल्मषः॥२०६॥
तत्र ब्रूत्सरस्वत्याचार्योऽनार्यतमोऽर्यमा। अस्ति प्रशस्तिर्यस्यास्ति विश्वविद्वन्मुखे सदा॥२०७॥
सर्वाभिगमपूर्वं च प्राणतस्तैः प्रभुर्मृदा। तच्छिष्याः प्राणमन्तामून् सौवागतिकवाणयः॥२०८॥
तैस्तथातिथयो नैव गोचरे प्रहितास्तदा। आनीय शुद्धमाहारं भोजिता भक्तिपूर्वकम्॥२०९॥
साधर्मिकनृपश्राद्धकुशलप्रश्रकेलिभिः। अपराह्णोऽभवत् तेषां परितोषभराल्लघुः॥२१०॥
अवलेपश्च भूपस्य प्रभूतातिशयादभूत्। तदा कदाचिदम्भोजादपि कीटः प्रजायते॥२११॥
असौ षडपि संमील्य दर्शनानि तदाऽभणत्। भवद्भिर्भ्राम्यते लोकः पृथगाचारसंस्थितैः॥२१२॥
तस्मात् सर्वेऽपि संगत्य दर्शनस्थमनीषिणः। कुरुध्वमेकमेवेदं सन्दिहाम यथा नहि॥२१३॥
विज्ञप्तं मन्त्रिमुख्यैस्तु भूपः प्राच्योऽपि कोऽपि न। समर्थोऽपि विधाताऽऽसीदीदृक्षस्येह कर्मणः॥२१४॥

भूपतिः प्राह किं कोऽपि परमाराख्ये पुरा।

आसीत् स्वशक्तितो भोक्ता सगौडं दक्षिणापथम्॥२१५॥

तूष्णीकेष्विति विश्रुत्य तेषु भूपो निजैर्नरैः। समपिण्डयदेकत्र वाटके तान् पाशुनिव॥२१६॥

सहस्रसंख्यया तत्र पुंसः स्त्रीरपि चानयत्। भोक्तुं नादाच्च सर्वेषामैकमत्यचिकीर्षया॥२१७॥

अनादिसिद्धशास्त्रौघप्रमाणैश्च निजैर्निजैः। मतिरेका कथं तेषां धान्येष्वेको यथा रमः॥118॥
 क्षुधा बाधापरीणामादैकमत्यं त्वजायत। जीवो निजं कथं रक्ष्य इति चिन्तामहाज्वरे॥119॥
 तन्मध्ये दर्शनस्थित्या सूर्याचार्योऽपि चागमत्। सर्वैरेक्येन सोऽभाणि सान्त्वनापूर्वकं तदा॥120॥
 भूपालः काल एवायं य एवं दर्शनव्रजे। ऐक्यबुद्धिं विधित्सुस्तनू भूतं न भविष्यति॥121॥
 भवन्तो गूर्जराश्लेका वाक्प्रपञ्चेन केनचित्। निवर्तयध्वमेनं कुविकल्पादमुतो दृढात्॥122॥
 परं सहस्रलोकानां भवन्तः प्राणदानतः। उपार्जयध्वमत्युग्रं पुण्यं यद्गणनातिगम्॥123॥
 सूर्याचार्यस्ततः प्राहातिथीनां नः किमागतौ। कार्यं भवेन्महीशोऽपि न नः प्रतिवदेत् किमु॥124॥
 परन्तु दर्शनश्रेणिराराध्याऽनादिपद्धतिः। तदुक्तोपक्रमं किञ्चित् करिष्यामो विमोचकम्॥125॥
 अमात्यपाश्र्वतो भूपुरतोऽख्यापयद् गुरुः। आयातयातमस्माकं नृपेण सह नाग्रतः॥126॥
 परं दर्शनिलोकानां बहूनामनुकम्पया। किञ्चिद्वदामि चेद्भूपोऽवधारयति तत्त्वतः॥127॥
 राजापि शीघ्रमायातु गूर्जरः कविकुञ्जरः। इत्युक्ते मन्त्रिभिः सार्धं स ययौ राजमन्दिरम्॥128॥
 अवदद् भूपते! अभ्यागतानामातिथ्यमद्भुतम्। उचितं विदधे सम्यक् तप एव तपस्विनाम्॥129॥
 परं न कः स्वकं कार्यं दर्शनानि धृतानि यत्। तत्तु दूयेत तेनैव वयं यामो भुवं स्वकाम्॥130॥
 तत्रापि हि गताः किं नु स्वरूपं कथयेमहि। धारापुरश्च संस्थानं पृच्छामो भवदन्तिके॥131॥
 राजाहाभ्यागतानां वो नाहं किमपि संमुखम्। भणाम्येषां तु पार्श्वक्ये हेतुं पृच्छामि निश्चितम्॥132॥
 स्वरूपं मत्पुरो यूयं शृणुताव्यग्रचेतसः। चतुर्भिरधिकाशीतिः प्रासादानामिह स्थिता॥133॥
 चतुष्पथानि तत्संख्यानि च प्रत्येकमस्ति च। चतुर्विंशतिरदृष्टानामेवं पुरि च सूत्रणा॥134॥
 सूरिः प्राहैकमेकादृष्टं कुरु किं बहुभिः कृतैः। एकत्र सर्वं लभ्येत लोको भ्रमति नो यथा॥135॥
 राजाऽवदत् पृथग्वस्त्वर्थिनामेकत्र मीलने। महाबाधा ततश्चक्रे पृथग् हृदयावली मया॥136॥
 इत्याकर्ण्यवदत् सूरिर्भूर्विक्तृत्वकेलिषु। विद्वानपि महाराज! विचारयसि किं नहि॥137॥
 स्वकृतान्यपि हृदयानि भङ्क्तुं न क्षमसे यदि। अनादिदर्शनानि त्वं कथं ध्वस्तुं समुद्यतः॥138॥
 दयार्थी जैनमास्थेयाद् रसार्थी कौलदर्शनम्। वेदांश्च व्यवहारार्थी मुक्त्यर्थी च निरञ्जनम्॥139॥
 चिरप्ररूढचित्तस्थावलेपैः सकलो जनः। एकः कथं भवेत् तस्मान्महीपाल विचिंतय॥140॥
 श्रुत्वेति भ्रष्टकृप्राहावलेपो भूपतिस्तदा। संमान्य भोजयित्वा च दर्शनान्यमुचद् धृतेः॥141॥
 अवस्थेयं भवद्भिश्च सांगत्याग्रहमाह्वयम्। इत्थं बहुमतोऽगच्छन् निजं सूरिरुपाश्रयम्॥142॥

6. तत्र व्याकरणं श्रीभद्रभोजराजविनिर्मितम्। तच्च विद्यामठे छात्रैः पठ्यतेऽहर्निशं भृशम्॥143॥
 मिलन्ति सुधियः सर्वे तत्राकरणमगमत्। ततः प्रचलितः सूरिः श्रीमान् बूटसरस्वती॥144॥
 सहैष्यामो वयमपि सूर्याचार्येण जल्पिते। गूर्जरावनिविद्वत्ताशङ्कया च न्यषेधि तैः॥145॥
 दर्शनार्थं परिश्रान्ता यूयमद्यावतिष्ठथा। सदोद्यतः पुनरसौ प्राह तत्प्रेक्षणोत्सुकः॥146॥
 तारुण्ये कः श्रमो युष्मादृशविद्वन्नरीक्षणे। कुतूहलाद् विहारो नः समागच्छाम एव तत्॥147॥
 अथ तेऽप्यनुमन्तारोऽप्रतिषेधेन तान् सह। नीतवन्तस्तदा पाठशालायां शङ्कितास्तदा॥148॥
 उपाध्यायश्च तत्राहातिथयः कुत आययुः। ऊचे तत्रस्थिताचार्यैरणहिल्लपुरादिति॥149॥
 विशेषसम्प्रमाच्चक्रेऽध्यापकः स्वागतादिकम्। उपावीविशदेणोऽपि प्रधानासनि तद्द्वयम्॥150॥
 सूर्याचार्यस्ततः प्राह ग्रन्थः कोऽत्र प्रवाच्यते। कृतिः श्रीभोजराजस्य शब्दशास्त्रं स चावदत्॥151॥

प्रोच्यतां तत्रमस्कार इत्युक्तेऽध्यागतैर्बुधैः। उपाध्यायः सह च्छात्रैः पदुस्वरमुवाच तम्॥152॥
तद्यथा-

चतुर्मुखमुखाभोजवनहंसवधूर्मम।

मानसे रमतां नित्यं शुद्धवर्णा सरस्वती॥153॥

सूराचार्यस्ततः प्राह किञ्चिदुत्प्रासगर्भितम्। एवंजातीयविद्वांसो देशेऽत्रैव न चान्यतः॥154॥
अस्माभिर्भारती पूर्वमश्रावि ब्रह्मचारिणी। कुमारी साम्प्रतं तत्र व्यपदिष्टा वधूरिति॥155॥
चित्रमश्रुतपूर्वं तदन्यत् पृच्छामि किञ्चन। मातुलस्य सुता गम्या यथाऽऽस्ते वक्षिणापथे॥156॥
सूराष्ट्रायां भ्रातृजाया देवरस्य यथोचिता। भवदेशे तथा गम्याऽनुजाङ्गवधूः कथम्॥157॥
यद्वधूशब्दसामीप्ये 'मानसे रमतां मम'। प्रयुक्तं तद् भवन्त्येव देशाचाराः पृथग्विधाः॥158॥
अनुत्तरं प्रतिहतश्चालयन्नन्यसंकथाः। कालं विलम्बयामासेष्टानध्यायकृतादरः॥159॥
सन्ध्यावसरसंप्राप्तः श्रीभोजनृपतेः पुरः। अपराहेतिवृत्तं स जगौ विस्मयकारकम्॥160॥
भूपश्च विस्मितः प्राह सम्भाव्यं गूर्जराखनौ। इदं प्रातर्विलोक्योऽसौ विद्वानाहूय निश्चितम्॥161॥
तत्रस्थाचार्यपार्श्वे च भूपालः प्रैषयन्नरान्। आह्वातुमतिथिं ते च भक्तिपूर्वं तमाह्वयन्॥162॥
ततो ब्रूतसरस्वत्याचार्येणा सह स प्रभुः। यथौ श्रीभोजभूनाथसभां स्वर्गसभानिभाम्॥163॥
राज्ञा नृपाङ्गणेऽग्रे च शिलैका निहिता तदा। गूर्जराग्रे निजप्राणस्फूर्तिदर्शनहेतवे॥164॥
तत्र पूर्णं पुनश्छिद्रं प्राग् विधाप्य पिधाय च। तद्वर्णसमकल्केन तादृशोऽपि छलार्थिनः॥165॥-युग्मम्।
आगच्छन्तं तदाऽऽलोक्य सूरिं शरमिलापतिः। आकर्णं धनुराकृष्यामुचलक्षे दृशं दधन्॥166॥
सूराचार्यश्च सूक्ष्मेक्षी कल्कालेपं तटस्थितम्। बाणाग्रोत्कीर्णमालोक्य गर्भार्थं काव्यमब्रवीत्॥167॥

तथा हि -

विन्दा विन्दा शिलेयं भवतु परमतः कार्मुकक्रीडितेन

श्रीमन् पाषाणभेदव्यसनगसिकतां मुञ्च मुञ्च प्रसीद

वेधे कौतूहलं चेत् कुलशिखरिकुलं बाणालक्षीकरोषि

ध्वस्ताधारा धरित्री नृपतिलक! तदा याति पातालमूलम्॥168॥

इत्थमद्भुतसामर्थ्यवर्णनात् तोषितो नृपः। अधृष्यप्रज्ञमेनं श्रीधनपालोऽपि बुद्धवान्॥169॥
व्यचिन्तयच्च बुद्ध्वैव विज्ञानं भूपतेरियम्। गर्भितोक्तिरहो जैना जीयन्ते केन मेधया॥170॥
निजाश्रयं ययौ श्रीमान् सूराचार्यो नृपार्चितः। राजाऽऽस्थानमथाऽऽस्थाय समस्तविदुषोऽवदत्॥171॥

7. गूर्जरोऽयं महाविद्वानाययौ श्वेतचीवरः। अनेन सार्धे कोऽपीह वादमुद्रां बिभर्तु वः॥172॥
पण्डितानां सहस्रार्धमध्ये सर्वेऽप्यवाहमुखाः। भग्नास्तत्प्रतिघातेन घनगर्जार्धका इव॥173॥
विलक्षो नृपतिः प्राह किं गेहेनर्दिनः खलु! स्वयं वृत्तिभुजोऽस्माकं विद्वज्जल्पा मुधा बुधाः॥174॥
तेषामेको महाप्राज्ञः प्रादान्मन्त्रं प्रभो! शृणु। मा वैलक्ष्यं प्रपद्येथा रत्नगर्भा वसुन्धरा॥175॥
निर्जरा इव देहस्था गूर्जराः श्वेतभिक्षवः। दुर्जेयास्तदतो मन्त्रसाध्यं कार्यमिदं प्रभो॥176॥
छात्रः कोऽपि महाप्राज्ञ आषोडशसमावयः। प्रमाणशास्त्रोपन्यासं पाठयतामशठः सुधीः॥177॥
श्रुत्वेति भूपतिस्तुष्टिपुष्टः पण्डितवाक्यतः। अस्त्वेवमित्यवादीत् तत् त्वमेवैतत् कुरुष्व भो॥178॥
एकः पदुर्बटुः सौम्यः प्रज्ञावक्तृत्वशोवधिः। तर्कशास्त्रसदभ्यासोपन्यासं पाठतस्ततः॥179॥

अतिव्यक्ताक्षरं तेनादायि पाठो गुरोः पुरः। एतद् विज्ञाप्य राजानं मुहूर्तः शोधितः शुभः॥180॥
 ज्ञापितं वादसूराय सूर्याचार्याय भूभुजा। समाहूय च वादार्थं स्थापितोऽसौ वरासने॥181॥
 पट्टवासोनिवसनश्छात्रः शृङ्गारितस्ततः। सुवर्णरत्नपुष्पाद्याभरणैः शरणैः श्रियः॥182॥
 स्वमङ्गं तं समारोप्य राजाह प्रतिवाद्यसौ। ततो जगाद वादीन्द्रः प्रकटाक्षरपद्धतिः॥183॥
 क्षीरकण्ठः क्षीरगन्धवक्त्रोऽपक्वमवगसौ। यूनां न उचितो नैव समानो विग्रहः खलु॥184॥
 राजाह रभसा नायं बाल एवेति भाव्यताम्। शिशुरूपा ह्यसौ ब्राह्मी जितेऽस्मिन् मत्सभा जिता॥185॥
 पूर्ववादो लघोरस्तु सूरिणोक्ते ततः शिशुः। यथालिखितपाठं च व्यक्तमस्खलिताक्षरम्॥186॥
 अपदच्छेदवाक्यं तं विशारदविभक्तिकम्। शृण्वन्मेने ह्यसावर्थावगमेन विना वदेत्॥187॥-युगम्।
 इत्येवं शङ्कया क्षुण्णं विभृशन्निश्चिकाय च। पट्टिकापाठ एवायमीदृशोऽत्र नहीतरत्॥188॥
 जल्पेद् यावद् रयेणासौ तावत् परुषशब्दतः। पाश्चात्यं तु पदं कूटं बभणे भवता हि भो॥189॥
 पुनर्भणेति स प्रोक्तो रभसेति ततोऽवदत्। पट्टिकायां ममेदृशं लिखितं निश्चयो मम॥190॥
 सूर्याचार्य इति श्रुत्वा प्राह सन्तोषनिर्भरम्। यादृग् लक्षणशास्त्रादौ श्लोको वादोऽपि तादृशः॥191॥
 तदा पृच्छामहे श्रीमन्! भोजभूपालपुङ्गव! आदर्शि मालवो देशो मण्डकाः स्वादिता अपि॥192॥
 इत्युक्त्वा प्रययौ सूरिर्मतं हठजितद्विषन्। लज्जा-मन्युभराक्रान्तो राजाऽस्थानं व्यसर्जयत्॥193॥

8. श्रीमान् बटसरस्वत्याचार्यः प्राघुणमभ्यधात्। अस्माकं शासनोद्योतात् सुखं त्वन्मृत्युतोऽसुखम्॥194॥
 श्रीभोजराजः स्वसभाजेतारं हन्ति निश्चितम्। जये पराजये वापि न श्रेयः किमु कुर्महे॥195॥
 सूर्याचार्यस्ततोऽवादीद् वीरधोरणिधूर्धरः। स्वं रक्षिष्येऽहमात्मानं भवद्भिर्माऽनुतप्यताम्॥196॥
 तदा श्रीधनपालेन प्रेषितः कविचक्रिणः। पुरुषो गूर्जराचार्यं प्रोचे स्वस्वामिवाचिकम्॥197॥
 पूज्याश्छलेन केनापि मद्देशमायान्तु सत्वरम्। अविश्वास्यो नृपस्यास्य प्रसादोऽपि भयंकरः॥198॥
 मण्डनं सर्वदेशानां भवादृग् विश्रुतः सुधीः। भाग्यातिशयतो मादृग्जनैर्दुर्लभ एव यत्॥199॥
 मद्दर्शनानन्तरं च विधेया कापि नाधृतिः। सुखेन गूर्जरं देशं प्रापयिष्यामि निश्चितम्॥200॥
 अहो जागर्ति भाग्यं वः साधूनामिति भाषिणाम्। प्रातः क्षणेऽश्ववारैस्तच्चैत्यं बाढमवेष्टयत॥201॥
 सन्तोषाज्जयपत्रं वः प्रदास्यति नृपाग्रणीः। विद्वांसमतिथिं प्रेषयध्वं विध्वस्तवादिनम्॥202॥
 इति वास्तव्यसूरिं तेऽभ्यधुर्विधुरिताननम्। आयास्यतीति तानाह शून्यतायातचेतनः॥203॥
 मध्याह्ने कर्कशे सूर्यतापात् कुम्भे गुरौ तदा। कृतवेषपरावर्तो दाम दत्वा दृढं गले॥204॥
 तत्रत्यैकानगरेण प्रावृत्यासौ जरत्पटीम्। मलिनं निःसरंश्चैत्यद्वारेण जगदे भटैः॥205॥-युगम्।
 बहिः कथं तु निर्यासि मध्ये गच्छ सिताम्बर! अप्रति गूर्जरे सर्वे सर्वतो मुक्कला ध्रुवम्॥206॥
 स च श्रुत्वा करालोक्तिर्विकरालमुखोऽवदत्। मध्ये सिंहसनासीनं भूपालमिव गर्वतः॥207॥
 कर्णे धृत्वा प्रभोरग्रे नयतास्माकवैरिणम्। जयपत्रमथाप्रोति यमपत्रमथापि वा॥208॥
 तृषाक्रान्त! वयं युष्मत्पुरवास्तव्यतां गताः। भवद्धर्मेण नीराय गच्छामो मुञ्चत हुतम्॥209॥
 एकेन चाश्ववारेण कृपया मोचितोऽथ सः। मनीषिमौलिरत्नस्य गृहं प्रापपथीः प्रभुः॥210॥
 स चाह वाक्पथातीताच्छेकताने यती श्वरः। यमदृष्टिपथादन्तर्धाय मे द्वक्पथे स्थितः॥211॥
 अद्य ते जन्म मन्येऽहं गच्छस्तेऽद्य सपुण्यकः। यद्भवानागतो जैनशासनव्योमभास्करः॥212॥
 कथमागा इदं पृष्टः सूर्याचार्यो यथातथम्। अभ्यधादिति च श्रुत्वा परमानन्दमाप्तवान्॥213॥

भूमिगृहे सावकाशेऽवस्थाप्यादरपूर्वकम्। शुद्धाहारेण तं भक्त्या प्रत्यलाभयदुद्यतः॥214॥
ततस्ताम्बूलिकस्तोमं तत्र यान्तं निरीक्ष्य सः। अत्यादरेण संमान्य भोजनाच्छादनादिना॥215॥
ततश्चाभ्यर्थयामास तान् मम भ्रातरं स्वकम्। अणहिल्लपुरं यावत् परानयत निश्चितम्॥216॥
तेऽप्युचुर्बाह्यणः पूज्यो राज्ञां ज्ञातो बुधाग्रणीः। तदादेशः प्रमाणं नः कार्यमावश्यकं हृदः॥217॥
नात्रानिर्वृतिराधेया नयामः सपरिच्छदम्। यानारोहे वरे भुक्तौ निश्चिन्तो वर्ततामसौ॥218॥
श्रीमता धनपालेन दीनाराणां शतं ददे। अङ्गीकरणतोऽमीषां रङ्गसङ्गतरङ्गिणा॥219॥
गुरचोल्लकमध्ये च गुप्तं कृत्वा गुरुं तदा। पर्याप्य वृषभान् शीघ्रं ते चेलुर्गूर्जरावनौ॥220॥
महीतटागतेन श्रीसूराचार्येण सद्गुरोः। विज्ञापितं नरैरात्मागमनं कोशलोत्तरम्॥221॥

9. इतश्च विविशुश्चैत्यमपराह्णे भटाः स्वयम्। साधुं स्थूलोदरं दृष्ट्वा सिंहासन्युपवेशितम्॥222॥
प्रधानवस्त्रसंवीतमुद्यन्मदकलाकृतिम्। एवमूचुर्नृपादेशान्निर्गच्छत जिनालयात्॥223॥-युग्मम्।
मध्ये योऽन्त्र विलम्बः सोदूखले घातवञ्चना। उत्थाय सोऽग्रतोभूत्वाऽश्ववारैः सह जग्मिवान्॥224॥
पार्थिवस्य पुरो भूत्वाऽवतस्थे मौनमास्थितः। विलक्षणे ततो राज्ञाऽऽह्वयका जल्पितास्तदा॥225॥
कोऽयं भवदिभरानीतो बठरः स्थूलदेहभृत्। गतोऽसौ गूर्जरश्लेको भवतामग्रतो ननु॥226॥
अक्षिण रेणुं हि निक्षिप्य केनाप्यन्याः कृताः कथम्। भवतां सदृशः कश्चिच्चेतनारहितो नहि॥227॥
तेऽप्युचुर्नाथ! नीरस्य वाहकं दुर्गतं मुनिम्। एकं मुक्त्वा न कस्यापि निर्गमोऽस्मत्पुरः प्रभो॥228॥
भूप आह परावृत्य वेषं वः पश्यतां ययौ। विजित्य नः सभां नान्यस्तं विनोत्पन्नबुद्धिमान्॥229॥
पुरस्थं प्राह राजा स्वमावासं गच्छ पुण्यतः। मूर्खत्वं हि वरं श्लाघ्यं येनास्मत्तोऽपि जीवितः॥230॥
इत्यसौ प्रहितो राज्ञा मटे व्यावृत्य चाययौ। मूर्ध्न एव ध्रुवोर्नैवाक्षतवर्द्धन-मुण्डने॥231॥

10. इतः श्रीभीमभूपालः प्रजिघाय नरान् निजान्। आह्वयकान् निजभ्रातुर्मातुलो व्रतिभिः सह॥232॥
स्वदेशे प्रकटो भूत्वा राजधानीमथाययुः। गुरवः सङ्घसंवीतास्तस्याभिमुखमागमन्॥233॥
राजा च सर्वसामग्र्या प्रतिपन्थीव कः शुभे। आचार्यः स्वगुरोः पादौ प्रेक्ष्य ह्रीमानिवानमत्॥234॥
प्रत्यासन्नश्च तेषां स सर्वाभिगमपूर्वकम्। योगीवाष्ठाङ्गयोगेन प्रहोऽभिहितवान् वचः॥235॥
सफलाऽद्य गुरोराशा सफला मातुराशिषः। प्रसन्ना दुक् च माहक्षे श्रीसङ्घस्य फलेग्रहिः॥236॥
अविमृश्य विधायी च गतो मालवके तदा। अक्षतोऽहमिहागच्छं यज्जित्वा भोजपर्वदम्॥237॥-युग्मम्।
तथाऽन्तेवासिनोऽमी श्रीगुरुपादाग्रतो मम। क्ष(क्षू?)णं नाकथयिष्यन्ताशिक्षिष्यत न च प्रभुः॥238॥
बालोऽहं यदि दर्पेण न व्यधास्यं प्रतिश्रवम्। गुरुमस्तकहस्तस्य कः प्रमाणमथोच्यते॥239॥-युग्मम्।
इत्याकण्य प्रभुर्दोणः शोणाहद इव स्थिरः। उवाच वाचमाचारचारुचारित्रचञ्चुरः॥240॥
एवं प्रतिश्रवं क्लीबदुष्करं विदधीत कः। निर्वाहयेत च श्रीमन्! विना त्वामाप्यवाग्वरम्॥241॥
सगच्छ-सङ्घाश्च वयमाचामालैरुपस्थितः। आभवद्द्वन्द्वनालोकात् सम्यक्शासनदेवताम्॥242॥
सगद्गदमुदित्वैव स बाढं परिष्वजे। गुरुभिश्चाथ भूपोऽपि श्रीभीमः प्राह सादरम्॥243॥
मनीषी विनयी छेकस्तत्कालोत्पन्नबुद्धिमान्। त्वां विना दृश्यते नान्यस्तेजस्वी दृढधैर्यभूः॥244॥
श्रीभोजं छलयित्वा यत्तादृक्प्राज्ञपरिग्रहम्। आगत्याक्षतदेहस्त्वं मम तेजोऽभ्यवर्द्धय॥245॥
किञ्चित् पृच्छामि सन्देहं नृपतिः स स्तुतो न वा। सूरसूरिरथ प्राह पयोवाहनिभध्वनिः॥246॥

रसना मे महाराज! त्वां विना स्तौति नापरम्। मनुक्तस्य च काव्यस्य भावार्थं शृणु कौतुकात्॥२४७॥
 शिला विद्धा सती विद्धा छिद्रे शरमुचां हि कः। विक्रमः कार्मुकक्रीडां मुञ्च तद् व्याजतः कृताम्॥२४८॥
 व्यसने दृषदां भेदाद् भवतां पूर्वजो गिरिः। अर्बुदस्तस्य भेदे तु ध्वस्ताधारा धरित्र्यपि॥२४९॥
 पातालमूलं यान्तीयं शिक्षयेऽहमिति ब्रुवन्। अपि द्विषति सच्छिक्षा दातव्या शमजीवितैः॥२५०॥
 श्रीभीमः प्राह तच्छ्रुत्वा पुलकोद्भेदमेदुरः। मद्वन्धुना जिते भोजे का मे चिन्तास्ति तज्जये॥२५१॥
 स्वसमीपे समारोप्य गजराजवरासने। सूर्याचार्यस्य भूपालः प्रवेशोत्सवमातनोत्॥२५२॥

११. अतीचारान् स विज्ञप्य गुरुपार्श्वे महामतिः। देशान्तरगतौ जातांस्तपसाऽशोधयद् दृढम्॥२५३॥
 युगादिनाथ-श्रीनेमिचरिताद्भुतकीर्तनात्। इतिवृत्तं द्विसन्धानं व्यधात् स कविशेखरः॥२५४॥
 यः पूर्वं पिपठीः शिष्यवर्गस्तमिह सूरिराट्। सम्यग् निष्पाद्य वादीन्द्रतया स समयोऽजयत्॥२५५॥
 श्रीद्रोणसूरिणोङ्गिन्यां परलोके सुसाधिते। क्षितावक्षामचारित्रपवित्रः सूरसद्गुरुः॥२५६॥
 प्रभावनाभिः श्रीसङ्घमुन्नमय्य श्रुतोदधिः। शिष्यान्निष्पाद्य सम्पाद्य जैनप्रवचनोन्नतिम्॥२५७॥
 योग्यं सूरिपदे न्यस्य भारमत्र निवेश्य च। प्रायोपवेशनं पञ्चत्रिंशद्दिनमितं दधौ॥२५८॥
 आत्मारामादरः सम्यग् योगत्रयनिरोधतः। श्रीभीमभूपतेर्बन्धुरुत्तमां गतिमाश्रयत्॥२५९॥-चतुर्भिः कलापकम्।

श्रीसूराचार्यवृत्तं व्यरचि परिचितं वावविद्याविनोद-

क्षुभ्यद्वाविप्रवावं किमपि गुरुमुखादन्यतो वाथ किञ्चित्।

श्रेयो वेद्यावमेयं जिनपतिवचनोद्योतनस्थैर्यहेतुः

सेतुर्जाड्यम्बुराशेर्भवतु भवभूतामद्य विद्योद्यमाय॥२६०॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीसूरसूरेः कथा

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शृङ्गोऽयमष्टादशः॥२६१॥

॥ इति श्रीसूराचार्यप्रबन्धः ॥



श्रीअभयदेवसूरिचरितम्

श्रीजैनतीर्थधम्मिलोऽभयदेवः प्रभुः श्रिये। भूयात् सौमनसोद्भेदभास्वरः सर्वमौलिभूः॥१॥
आदृत्याष्टाङ्गयोगं यः स्वाङ्गमुद्धृत्य च प्रभुः। श्रुतस्य च नवाङ्गानां प्रकाशी स श्रिये द्विधा॥२॥
वदन् बालो यथाऽव्यक्तं मातापित्रोः प्रमोदकृत्। तद्वत्तमिह वक्ष्यामि गुरुहर्षकृते यथा॥३॥

1. अस्ति श्रीमालवो देशः सद्वृत्तरसशालितः। जम्बूद्वीपाख्यमाकन्दफलं सद्वर्णवृत्तसूः॥४॥
तत्रास्ति नगरी धारा मण्डलाग्रोदितस्थितिः। मूलं नृपश्रियो दुष्टविग्रहद्रोहशालिनी॥५॥
श्रीभोजराजस्तत्रासीद् भूपालः पालितावनिः। शेषस्येवापरे मूर्ती विश्वोद्धाराय यद्भुजौ॥६॥
तत्र लक्ष्मीपतिर्नाम व्यवहारी महाधनः। यस्य श्रिया जितः श्रीदः कैलासाद्रिमशि श्रयत्॥७॥
अन्यदा मध्यदेशीयकृष्णब्राह्मणनन्दनौ। प्रह्वप्रज्ञाबलाक्रान्तवेदविद्याविशारदौ॥८॥
अधीतपूर्वपणौ सर्वान् विद्यास्थानांश्चतुर्दश। स्मृत्यैतिह्यपुराणानां कुलकेतनतां गतौ॥९॥

श्रीधरः श्रीपतिश्चेति नामानौ यौवनोद्यमात्।

देशान्तरदिदृक्षायै निर्गतौ तत्र चागतौ॥१०॥-त्रिभिर्विशेषकम्।

तौ पवित्रयतः स्मात्र लक्ष्मीधरगृहाङ्गणम्। सोऽपि भिक्षां ददौ भक्त्या तदाकृतिवशीकृतः॥११॥
गेहाभिमुखभित्तौ च लिख्यते स्मास्य लेखकम्। टंकविंशतिलक्षाणां नित्यं ददृशुश्च तौ॥१२॥
सदा दर्शनतः प्रज्ञाबलादप्यतिसङ्कुलम्। तत्परिस्फुरितं सम्यक् सदाभ्यस्तमिवानयोः॥१३॥
जनो मत्पार्श्वतः सूपकारवत्सूपकारवान्। वर्तते निष्ठुरः किं तु मम किञ्चित् यच्छति॥१४॥
ब्राह्मणा अपिगीर्वाणान् मन्मुखादाहुतिप्रदाः। तर्पयन्तु फलं तु स्यात् तत्कर्मकरतैव मे॥१५॥
इतीव कुपितो वह्निरह्नैकेनापि भस्मसात्। विदधे तां पुरीमूरीकृतप्रतिकृतक्रियः॥१६॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
लक्ष्मीपतिर्द्वितीयेऽहिं न्यस्तहस्तः कपोलयोः। सर्वस्वनाशतः खिन्नो लेख्यदाहाद् विशेषतः॥१७॥
प्राप्ते काले गतौ भिक्षाकृते तस्य गृहाङ्गणे। प्राप्तौ प्लुष्टं च तद्दृष्ट्वा विषण्णाविदमूचतुः॥१८॥
यजमान! तवोन्निद्रकष्टेनावां सुदुःखितौ। किं कुर्वहे क्षुधा किं तु सर्वदुःखातिशायिनी॥१९॥
पुनरीदृक्शुचाक्रान्तसत्त्ववृत्तिर्भवान् किमु। धीराः सत्त्वं न मुञ्चन्ति व्यसनेषु भवादृशाः॥२०॥
इत्याकर्ण्य तयोर्वाक्यमाह श्रेष्ठी निशम्यताम्। न मे धनान्नवस्त्रादिदाहाद् दुःखं हि तादृशम्॥२१॥
यादृग्लेख्यकनाशेन निर्धर्मेण जनेन यत्। कलहः संभवी धर्महानिकृत् क्रियते हि किम्॥२२॥-युग्मम्।
जजल्पतुश्च तावावां भिक्षावृत्तौ तवापरम्। शक्नुवो नोपकर्तुं हि व्याख्यावो लेख्यकं पुनः॥२३॥
श्रुत्वातिहर्षभूः श्रेष्ठी स्वपुरस्तौ वरासने। न्यवेशयज्जनः स्वार्थपूरकं ध्रुवमर्हति॥२४॥
तौ चादितः समारभ्यतिथिवारर्क्षसङ्गतम्। व्यक्तवत्सरमासाङ्गसहितं खटिनीदलैः॥२५॥
वर्णजात्यभिधामूलद्रव्यसंख्यानवृद्धिभृत्। आख्यातं लेख्यकं स्वाख्याख्यानवद्विषणाबलात्॥२६॥
पत्रकेषु लिखित्वा तत् श्रेष्ठी दध्यावहो इमौ। मम गोत्रसुरौ कौचित् प्राप्तौ मदनुकम्पया॥२७॥

यद्विशोपकमात्रेण वदन्तौ तावविस्मृतम्। दस्तरी-संपुटी-पत्रनिरपेक्षं हि लेख्यकम्॥28॥ युग्मम्।
ततः सन्मान्य सद्भोज्य वस्त्राद्यैर्बहुमानतः। स्वगेहचिन्तकौ तेन विहितौ हितवेदिना॥29॥
जितेन्द्रियौ स तौ शान्तौ दृष्ट्वेति व्यमृशद् धनी। शिष्यौ मद्वरुणभूषणौ॥30॥

2. इतः सपादलक्षेऽस्ति नाम्ना कूर्चपुरं पुरम्। मषीकूर्चकमाधातुं यदलं शात्रवानने॥31॥
अल्लभूपालपौत्रोऽस्ति प्राक्पोत्रीव धराधरः। श्रीमान् भुवनपालाख्यो विख्यातः सान्वयाभिधः॥32॥
तत्रासीत् प्रशमश्रीभिर्वर्द्धमानगुणोदधिः। श्रीवर्द्धमान इत्याख्यः सूरिः संसारपारभूः॥33॥
चतुर्भिरधिकाशीतिश्चैत्यानां येन तत्त्यजे। सिद्धान्ताभ्यासतः सत्यतत्त्व विज्ञाय संसृतेः॥34॥
अन्यदा विहरन् धारापुर्या धाराधरोपमः। आगाद् वाग्ब्रह्मधाराभिर्जनमुज्जीवयन्नयम्॥35॥
लक्ष्मीपतिस्तदाकर्ण्य श्रद्धालक्ष्मीपतिस्ततः। ययौ प्रद्युम्न-शाम्बाभ्यामिव ताभ्यां गुरोर्नतौ॥36॥
सर्वाभिगमपूर्वं स प्रणम्योपाविशत् प्रभुम्। तौ विधाय निविष्टौ च करसम्पुटयोजनम्॥37॥
वर्गलक्षणवर्या च दध्यौ वीक्ष्य तनुं तयोः। गुरुराहानयोर्मूर्तिः सम्यक् स्वपरजित्वरी॥38॥
तौ च प्राग्भवसम्बद्धाविवानिमिषलोचनौ। वीक्षमाणौ गुरोरास्यं व्रतयोग्यौ च तैर्मतौ॥39॥
देशनाभिशुभिर्विस्ततामसौ बोधरङ्गिनौ। लक्ष्मीपत्यनुमत्या च दीक्षितौ शिक्षितौ तथा॥40॥
महाव्रतभरोद्धारधुरीणौ तपसां निधी। अध्यापितौ च सिद्धान्तं योगोद्बहनपूर्वकम्॥41॥
ज्ञात्वौचित्यं च सूरित्वे स्थापितौ गुरुभिश्च तौ। शुद्धवासो हि सौरभ्यवासं समनुगच्छति॥42॥
जिनेश्वरस्ततः सूरिरपरो बुद्धिसागरः। नामभ्यां विश्रुतौ पूज्यैर्विहारेऽनुमतौ तदा॥43॥
ददे शिक्षेति तैः श्रीमत्पत्तने चैत्यसूरिभिः। विघ्नं सुविहितानां स्यात् तत्रावस्थानवारणात्॥44॥
युवाभ्यामपनेतव्यं शक्त्या बुद्ध्या च तत् किल। यदिदानीन्तने काले नास्ति प्राज्ञो भवत्समः॥45॥-युग्मम्।
अनुशास्ति प्रतीच्छाव इत्युक्त्वा गूर्जरावनौ। विहरन्तौ शनैः श्रीमत्पत्तनं प्रापतुर्मुदा॥46॥
सद्गीतार्थपरीवारौ तत्र भ्रान्तौ गृहे गृहे। विशुद्धोपाश्रयालाभाद् वाचां सस्मरतुर्गुरोः॥47॥
श्रीमान् दुर्लभराजाख्यस्तत्र चासीद् विशांपतिः। गोष्पतेरप्युपाध्यायो नीतिविक्रमशिक्षणे॥48॥
श्रीसोमेश्वरदेवाख्यस्तत्र चासीत् पुरोहितः। तद्गृहे जग्मतुर्युग्मरूपौ सूर्यसुताविव॥49॥
तद्द्वारे चक्रतुर्वेदोच्चारं सङ्केतसंयुतम्। तीर्थं सत्यापयन्तौ च ब्राह्मं पित्र्यं च दैवतम्॥50॥
चतुर्वेदीरहस्यानि सारणीशुद्धिपूर्वकम्। व्याकुर्वन्तौ स शुश्राव देवतावसरे ततः॥51॥
तद्ध्यानध्यानिर्मग्नचेताः स्तम्भितवत् तदा। समग्रेन्द्रियचैतन्यं श्रुत्योरेव स नीतवान्॥52॥
ततो भक्त्या निजं बन्धुमाप्याय वचनामृतैः। आह्वानाय तयोः प्रैषीत् प्रेक्षापेक्षी द्विजेश्वरः॥53॥
तौ च दृष्ट्वान्तरायातौ दध्यावम्भोजभूः किमु। द्विधा भूयाद् आदत्त दर्शनं शस्यदर्शनम्॥54॥
हित्वा भद्रासनादीनि तद्वत्तान्यासनानि तौ। समुपाविशतां शुद्धस्वकम्बलनिषद्ययोः॥55॥
वेदोपनिषदं जैनतत्त्वश्रुतगिरां तथा। वाग्भिः साम्यं प्रकाश्यैतावभ्यधत्तां तदाशिषम्॥56॥
तथा हि-

अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीता पश्यत्यक्षः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति विश्वं नहि तस्यास्ति वेत्ता शिवो ह्यरूपी स जिनोऽवताद् वः॥57॥

ऊचतुश्चानयोः सम्यगवगम्यार्थसङ्ग्रहम्। दययाभ्यधिकं जैनं तत्रावामाद्रियावहि॥58॥

युवामवस्थितौ कुत्रेत्युक्ते तेनोचतुश्च तौ। न कुत्रापि स्थितिश्चैत्यवासिभ्यो लभ्यते यतः॥59॥

चन्द्रशालां निजां चन्द्रज्योत्स्नानिर्मलमानसः। स तयोरार्पयत् तत्र तस्थतुः सपरिच्छदौ॥60॥
 द्विचत्वारिंशता भिक्षादोषैर्मुक्तमलोलुपौ। नवकोटीविशुद्धं चायातं भैक्षमभुञ्जताम्॥61॥
 मध्याह्ने याज्ञिकस्मार्तदीक्षितानग्निहोत्रिणः। आहूय दर्शितौ तत्र निर्व्यूढौ तत्परीक्षया॥62॥
 यावद् विद्याविनोदोऽयं विरिञ्चेरिव पर्षदि। वर्तते तावदाजगुर्नियुक्ताश्चैत्यमानुषाः॥63॥
 ऊचुश्च ते झटित्येव गम्यतां नगराद् बहिः। अस्मिन्न लभ्यते स्थातुं चैत्यबाह्यसिताम्बरैः॥64॥
 पुरोधाः प्राह निर्णयमिदं भूपसभान्तरे। इति गत्वा निजेशानामाख्यातमिदं (?) भाषितम्॥65॥
 इत्याख्याते च तैः सर्वैः समुदायेन भूपतिः। वीक्षितः प्रातरायासीत् तत्र सौवस्तिकोऽपि सः॥66॥
 व्याजहाराथ देवास्मद्गृहे जैनमुनी उभौ। स्वपक्षे स्थानमप्राप्नुवन्तौ सम्प्रापतुस्ततः॥67॥
 मया च गुणगृह्यत्वात् स्थापितावाश्रये निजे। भट्टपुत्रा अमीभिर्मे प्राहिताश्चैत्यपक्षिभिः॥68॥
 अत्रादिशत मे क्षूणं दण्डं चात्र यथार्हतम्। श्रुत्वेत्याह स्मितं कृत्वा भूपालः समदर्शनः॥69॥
 मत्पुरे गुणिनः कस्माद् देशान्तरत आगताः। वसन्तः केन वार्यन्ते को दोषस्तत्र दृश्यते॥70॥
 अनुयुक्ताश्च ते चैवं प्राहुः शृणु महीपते। पुरा श्रीवनराजोऽभूच्च्यापोत्कटवरान्वयः॥71॥
 स बाल्ये वर्द्धितः श्रीमदेवचन्द्रेण सूरिणा। नागेन्द्रगच्छभूद्धारप्राग्ग्वराहोममास्पृशा॥72॥
 पञ्चाश्रयाभिधस्थानस्थितचैत्यनिवासिना। पुरं स च निवेशयेदमत्र राज्यं ददौ नवम्॥73॥
 वनराजविहारं च तत्रास्थापयत प्रभुः। कृतज्ञत्वादसौ तेषां गुरुणामर्हणं व्यधात्॥74॥
 व्यवस्था तत्र चाकारि सङ्घेन नृपसाक्षिकम्। सम्प्रदायविभेदेन लाघवं न यथा भवेत्॥75॥
 चैत्यगच्छयतिव्रातसम्मतो वसतान्मुनिः। नगरे मुनिभिर्नात्र वस्तव्यं तदसम्मतैः॥76॥
 राज्ञां व्यवस्था पूर्वेषां पाल्या पाश्चात्यभूमिपैः। यदादिशसि तत्कार्यं राजत्रेवस्थिते सति॥77॥
 राजा प्राह समाचारं प्राग्भूपानां वयं दृढम्। पालयामो गुणवतां पूजां तूल्लङ्घयेम न॥78॥
 भवादृशां सदाचारनिष्ठानामाशिषा नृपाः। एधन्ते युष्मदीयं तद् राज्यं नात्रास्ति संशयः॥79॥
 उपरोधेन नो यूयममीषां वसनं पुरे। अनुमन्यध्वमेवं च श्रुत्वा तेऽत्र तदा दधुः॥80॥
 सौवस्तिकस्ततः प्राह स्वामित्रेषामवस्थितौ। भूमिः काप्याश्रयस्यार्थे श्रीमुखेन प्रदीयताम्॥81॥
 तदा समाययौ तत्र शैवदर्शनवासवः। ज्ञानदेवाभिधः कूरसमुद्रबिर (रु?)दार्हं (हि?)तः॥82॥
 अभ्युत्थाय समभ्यर्च्य निविष्टं निज आसने। राजा व्यजिज्ञपत् किञ्चिदद्य विज्ञप्यते प्रभो॥83॥
 प्राप्ता जैनर्षयस्तेषामर्पयध्वमुपाश्रयम्। इत्याकर्ण्य तपस्वीन्द्रः प्राह प्रहसिताननः॥84॥
 गुणिनामर्चनां यूयं कुरुध्वं विधुतैनसाम्। सोऽस्माकमुपदेशानां फलपाकः श्रियां निधिः॥85॥
 शिव एव जिनो बाह्यत्यागात् परपदस्थितः। दर्शनेषु विभेदो हि चिह्नं मिथ्यामतेरिदम्॥86॥
 निस्तुषत्रीहिहट्टानां मध्ये त्रिपुरुषाश्रिता। भूमिः पुरोधसा ग्राह्योपाश्रयाय यथारुचि॥87॥
 विघ्नः स्वपरपक्षेभ्यो निषेध्यः सकलो मया। द्विजस्तच्च प्रतिश्रुत्य तदाश्रयमकारयत्॥88॥

ततः प्रभृति सञ्जज्ञे वसतीनां परंपरा।

महदिभः स्थापितं वृद्धिमश्नुते नात्र संशयः॥89॥

3. श्रीबुद्धिसागरः सूरिश्चक्रे व्याकरणं नवम्। सहस्राष्टकमानं तत् श्रीबुद्धिसागराभिधम्॥90॥
 अन्यदा विहरन्तश्च श्रीजिनेश्वरसूरयः। पुनर्धारापुरीं प्रापुः सपुण्यप्राप्यदर्शनाः॥91॥
 श्रेष्ठी महाधरस्तत्र पुरुषार्थत्रयोन्नतः। मुक्त्यैकां स्वधने संख्यां यः सर्वत्र विचक्षणः॥92॥
 तस्याभयकुमाराख्यो धनदेव्यङ्गभूरभूत्। पुत्रः सहस्रजिह्वोऽपि यद्गुणोक्तौ नहि प्रभुः॥93॥

सपुत्रः सोऽन्यदा सूरिं प्रणनुं सुकृती ययौ। संसारासारतामूलः श्रुतो धर्मश्चतुर्विधः॥११॥
 अथाभयकुमारोऽसौ वैराग्येण तरङ्गितः। आपपृच्छे निजं तातं तपःश्रीसङ्गमोत्सुकः॥११॥
 अनुमत्या ततस्तस्य गुरुभिः स च दीक्षितः। ग्रहणासेवनारूपशिक्षाद्वितयमग्रहीत्॥११॥
 स चावगाढसिद्धान्ततत्त्वप्रेक्षानुमानतः। बभौ महाक्रियानिष्ठः श्रीसङ्घाम्भोजभास्करः॥११॥
 श्रीवर्द्धमानसूरीणामादेशात् सूरितां ददौ। श्रीजिनेश्वरसूरिश्च ततस्तस्य गुणोदधेः॥११॥
 श्रीमानभयदेवाख्यः सूरिः पूरितविष्टपः। यशोभिर्विहरन् प्राप पत्न्यपन्नपुरं शनैः॥११॥
 आयुःप्रान्ते च संन्यासमवलम्ब्य दिवः पुरीम्। अलंचक्रुर्वर्द्धमानसूरयो भूरयः क्रमात्॥११॥
 समये तत्र दुर्भिक्षोपद्रवैर्देशदौस्थ्यतः। सिद्धान्तस्त्रुटिमायासीदुच्छिन्ना वृत्तयोऽस्य च॥११॥
 ईषत्स्थितं च यत्सूत्रं प्रेक्षासुनिपुणैरपि। दुर्बोधदेश्यशब्दार्थं खिलं जज्ञे ततश्च तत्॥११॥
 निशीथेऽथ प्रभुं धर्मस्थानस्थं शासनामरी। नत्वा निस्तन्द्रमाह स्माभयदेवं मुनीश्वरम्॥११॥
 श्रीशीलाङ्कः पुरा कोट्याचार्यनाम्ना प्रसिद्धिभूः। वृत्तिमेकादशाङ्ग्याः स विदधे धौतकल्मषः॥११॥
 अङ्गद्वयं विनाऽन्येषां कालादुच्छेदमाययुः। वृत्तयस्तत्र संघानुग्रहायाद्य कुरुद्वयम्॥११॥
 सूरिः प्राह ततो मातः। कोऽहमल्पमतिर्जडः। श्रीसुधर्मकृतग्रन्थदर्शनेऽप्यसमर्थधीः॥११॥
 अज्ञत्वात् क्वचिदुत्सूत्रे विवृते कल्मषार्जनम्। प्राच्यैरनन्तसंसारभ्रमिभूद दर्शितं महत्॥११॥
 अनुल्लङ्घ्या च ते वाणी तदादिश करोमि किम्। इतिकर्तव्यतामूढो लेभे न किञ्चिदुत्तरम्॥११॥
 देवी प्राह मनीषीश! सिद्धान्तार्थविचारणे। योग्यतां तव मत्वाऽहं कथयामि विचिन्तय॥११॥
 यत्र सन्दिह्यते चेतः प्रष्टव्योऽत्र मया सदा। श्रीमान् सीमन्धस्वामी तत्र गत्वा धृतिं कुरु॥११॥
 आरभस्व ततो ह्येतत् माऽत्र संशय्यतां त्वया। स्मृतमात्रा समायास्ये इहार्थं त्वत्पदोः शपे॥११॥
 श्रुत्वेत्यङ्गीचकाराथ कार्यं दुष्करमप्यदः॥ आचामाम्लानि चारब्ध-ग्रन्थसंपूर्णतावधिः॥११॥
 अक्लेशेनैव संपूर्णा नवाङ्ग्या वृत्तयस्ततः। निरवाह्यत देव्या च प्रतिज्ञा या कृता पुरा॥११॥
 महाश्रुतधरैः शोधितासु तासु चिरन्तनैः। ऊरीचक्रे तदा श्राद्धैः पुस्तकानां च लेखनम्॥११॥
 ततः शासनदेवी च विजने तान् व्यजिज्ञपत्। प्रभो! मदीयद्रव्येण विधाप्या प्रथमा प्रतिः॥११॥
 इत्युक्त्वा सा च समवसरणोपरि हैमनीम्। उत्तरीयां निजज्योतिःक्षतदृष्टिरुचिं दधौ॥११॥
 तिरोधत् ततो देवी यतयो गोचरादथा। आगता ददशुः सूर्यबिम्बवत् तद्विभूषणम्॥११॥
 चित्रोयितास्ततश्चित्ते पप्रच्छुस्ते प्रभून् मुदा। ते चाचख्युरुदन्तं तं श्राद्धानाह्वययस्तथा॥११॥
 आयातानां ततस्तेषां गुरवः प्रैक्ष्यश्च तत्। अजानन्तश्च तन्मूल्यं श्रावकाः पत्तनं ययुः॥११॥
 अदर्शि तैश्च सा तत्र स्थितरत्नपरीक्षिणाम्। अज्ञास्तेऽपि च तन्मूल्ये मन्त्रं विदधुरीदृशम्॥११॥
 अत्र श्रीभीमभूपालपुरतो मुच्यतामियम्। तद्वतो निःक्रयो ग्राह्यो मूल्यं निर्णीयते तु न॥११॥
 समुदायेन ते सर्वे पुरो राजस्तदभुतम्। मुमुचुः किल शक्रेण प्रणयात् प्राभूतं कृतम्॥११॥
 तदुदन्ते च विज्ञप्ते तुष्टः प्रोक्च भूपतिः। तपस्विनां विना मूल्यं न गृह्णामि प्रतिग्रहम्॥११॥
 ते प्रोचुः श्रीमुखेनास्य यमादिशति निःक्रयम्। स एवास्तु प्रमाणं नस्ततः श्रीभीमभूपतिः॥११॥
 द्रम्मलक्षत्रयं कोशाध्यक्षाद् दापयति स्म सः। पुस्तकान् लेखयित्वा च सूरिभ्यो ददिरैऽथ तैः॥११॥
 पत्तने ताप्रलिप्त्यां चाशापत्त्यां धवलवक्त्रके। चतुराश्चतुरशीतिः श्रीमन्तः श्रावकास्तथा॥११॥
 पुस्तकान्यङ्गवृत्तीनां वासनाविशदाशयाः। प्रत्येकं लेखयित्वा ते सूरीणां प्रददुर्मदा॥११॥
 प्रावर्तन्त नवाङ्गानामेवं तत्कृतवृत्तयः। श्रीसुधर्मोपदिष्टेष्टतत्त्वतालककुञ्जिकाः॥११॥

4. पुरं धवलकं प्रापुरथ संयमयात्रया। स्थानेष्वप्रतिबन्धो हि सिद्धान्तोपास्तिलक्षणम्॥129॥
 आचामाम्लतपःकष्टान्निशायामतिजागरात्। अत्यायासात् प्रभोजं रक्तदोषो दुःसयतिः॥130॥
 अमर्षन्त जनास्तत्र प्रोचुरुत्सूत्रदेशनात्। वृत्तिकारस्य कुष्ठोऽभूत् कुपितैः शासनमरैः॥131॥
 निशम्येति शुचाक्रान्तः स्वान्तः प्रायाभिलाषुकः। निशि प्रणिदधे पत्रगेन्द्रं श्रीधरणाभिधम्॥132॥
 लेलिहाने श्वरं लेलिहानं देहमनेहसा। अचिरेणैक्षत श्रीमान् स्वप्ने सत्त्वकपोपलः॥133॥
 कालरूपेण कालेन व्यालेनालीढविग्रहः। क्षीणायुरिति संन्यास एव मे साम्प्रतं ततः॥134॥
 इति ध्यायन् द्वितीयाहो निशि स्वप्ने स औच्यत। धरणेन्द्रेण रोगोऽयं मयाऽऽलिङ्ग्य हतस्ततः॥135॥-युग्मम्।
 निशम्येति गुरुः प्राह नातिमे मृत्युंभीतितः। रोगाद्वा पिशुना यत्तु कद्वदा तद्धि दुःसहम्॥136॥
 नागः प्राहाधृतिर्नात्र कार्या जैनप्रभावनाम्। एकामद्य विधेहि त्वं हित्वा दैन्यं जिनोद्भूतेः॥137॥
 श्रीकान्तीनगरीसत्कधनेशश्रावकेण यत्। वारिधेरन्तरा यानपात्रेण व्रजतां सता॥138॥
 तदधिष्ठायकसुरस्तम्भिते वहने ततः। अर्चितव्यन्तरस्योपदेशेन व्यवहारिणा॥139॥
 तस्या भुवः समाकृष्टा प्रतिमाणां त्रयी शितिः। तेषामेका च चारूपग्रामे तीर्थं प्रतिष्ठितम्॥140॥
 अन्या श्रीपत्तने चिञ्चात्तरोर्मूले निवेशिता। अरिष्टनेमिप्रतिमा प्रासादान्तःप्रतिष्ठिता॥141॥
 तृतीया स्तम्भनग्रामे सेटिकातटिनीतटे। तरुजात्यन्तरे भूमिमध्ये विनिहिताऽस्ति च॥142॥
 तां श्रीमत्पार्श्वनाथस्याप्रतिमां प्रतिमामिह। प्रकटीकुरु तत्रैतन्महातीर्थं भविष्यति॥143॥-षड्भिः कुलकम्।
 पुरा नागार्जुनो विद्यारससिद्धो धियां निधिः। रसमस्तम्भयद् भूम्यन्तःस्थबिम्बप्रभावतः॥144॥
 ततः स्तम्भनकाभिख्यस्तेन ग्रामो निवेशितः। तदेषा तेऽपि कीर्तिः स्याच्छ्रद्धाती पुण्यभूषणा॥145॥-युग्मम्।
 अदृष्टान्यैः सुरी वृद्धारूपा ते मार्गदर्शका। श्वेत (श्वान?) स्वरूपतः क्षेत्रपालो गन्ता यथाग्रतः॥146॥
 उक्त्वेत्यन्तर्हिते तत्र सूरयः प्रमदोद्भराः। व्याकुर्वन्ति स्म सङ्घस्य निशावृत्तं तदद्भुतम्॥147॥
 ततश्च संमदोत्तालैः प्रक्रान्ता धार्मिकैस्तदा। यात्रा नवशती तत्र शकटानां चचाल च॥148॥
 अग्रे भूत्वा प्रभुर्वृद्धा-कौलेयकपदानुगः। श्रावकानुगतोऽचालीत् तृणकण्टकिना पथा॥149॥
 शनैस्तत्र ययुः सेटीतीरे तत्र तिरोहितौ। वृद्धा-श्वानौ ततस्तस्थुस्तत्राभिज्ञानतौऽमुतः॥150॥
 प्रपच्छुरग्रे गोपालान् पूज्यं किमपि भो! किमु। जाल्यामत्रास्ति तेष्वेकः प्रोवाच श्रूयतां प्रभो॥151॥
 ग्रामे महीणलाख्यस्य मुख्यपट्टकिलस्य गौः। कृष्णाऽऽगत्य क्षरेत् क्षीरमत्र सर्वैरपि स्तनैः॥152॥
 गृहे रिक्तैव सा गच्छेद् दुह्यमानाऽतिकष्टतः। मनामुञ्जति दुग्धं न ज्ञायतेऽत्र न कारणम्॥153॥
 तत्र तैर्दर्शितं क्षीरमुपविश्यास्य सन्निधौ। श्रीमत्पार्श्वप्रभोः स्तोत्रं प्रोचे प्राकृतवस्तुकैः॥154॥
 'जयतिहुयणेत्यादि' वृत्तं द्वात्रिंशत् तदा। अवदन् स्तवनं तत्र नासाग्रन्यस्तदृष्टयः॥155॥
 बभूव प्रकटं श्रीमत्पार्श्वनाथप्रभोस्ततः। शनैरुन्निद्रतेजस्वि बिम्बं तत्प्रतिवस्तुकम्॥156॥
 प्रणतं सूरिभिः सङ्घसहितैरेतदञ्जसा। गतो रोगः समग्रोऽपि कायोऽभूत् कनकप्रभः॥157॥
 गन्धाम्भोभिः स संस्पृश्य कर्पूरादिविलेपनैः। विलिप्य चार्चितः सौमनसैः सौमनसैस्तदा॥158॥
 चक्रे तस्योपरिच्छया सच्छायाप्रतिसीरया। सत्रादवारितात् तत्र सङ्घो ग्राम्यानभोजयत्॥159॥
 प्रासादार्थं ततश्चक्रुः श्राद्धाद् द्रव्यस्य मीलनम्। अक्लेशेनामिलल्लक्षं ग्राम्यैरनुमता च भूः॥160॥
 श्रीमत्पार्श्वविशिष्यश्च श्राद्धैराग्नेश्वराभिधः। महिषाख्यपुरावासः समाह्वायि धियां निधिः॥161॥
 अनुयुक्तः स संमान्य कर्म्मन्तरविचक्षणः। अथ प्रासाद आरेभे सोऽचिरात् पर्यपूर्यत॥162॥
 कर्माध्यक्षस्य वृत्तौ यद्द्रुम् एको दिनं प्रति। विहितो घृतकर्षश्च भुक्तौ तण्डुलमानकम्॥163॥

विहृत्य भोजनात् तेन तेन द्रव्येण कारिता। स्वा देवकुलिका चैत्ये सा तत्राऽद्यापि दृश्यते॥164॥
 शुभे मुहूर्ते बिम्बं च पूज्यास्तत्र न्यवेशयन्। तद्रात्रौ धरणाधीशस्तेषामेतदुपादिशत्॥165॥
 स्तवनादमुतो गोप्यं मद्वावा वस्तुकद्वयम्। कियतां हि विपुण्यानां प्रत्यक्षीभूयते मया॥166॥
 तदादेशादतोऽद्यापि त्रिंशद्वत्तमिता स्तुतिः। सपुण्यैः पाठ्यमानाऽत्र क्षुद्रोपद्रवनाशिनी॥167॥
 ततःप्रभृत्यदस्तीर्थं मनोवाञ्छितपूरणम्। प्रवृत्तं रोगशोकादिदुःखदावघनाघनः॥168॥
 अद्यापि कलशो जन्मकल्याणकमहामहे। आद्यो धवलकश्राद्धः स च स्नपयति प्रभुम्॥169॥
 बिम्बासनस्य पाश्चात्यभागेऽक्षरपरंपरा। ऐतिह्यात् श्रूयते पूर्वकथितात् प्रथिता जने॥170॥
 नमेस्तीर्थकृतस्तीर्थे वर्षे द्विकचतुष्टये (2222)। आषाढः श्रावको गौडोऽकारयत् प्रतिमात्रयम्॥171॥
 श्रीमान् जिनेश्वरः सूरिस्तथा श्रीबुद्धिसागरः। चिरमायुः प्रपाल्यैतौ संन्यासाद् दिवमीयतुः॥172॥
 श्रीमानभयदेवोऽपि शासनस्य प्रभावना (म्)। पत्तने श्रीकर्णराज्ये धरणोपास्तिशोभितः॥173॥
 विधाय योगनीरोधधिवकृतापरवासनः। परं लोकमलंचक्रे धर्मध्यानैकधीनिधिः॥174॥-युग्मम्।

वृत्तान्तोऽभयदेवसूरिसुगुरोरीवृक् सतामर्चितः

कल्याणैकनिकेतनं कलिकलाशैलाग्रवज्रप्रभः।

भूयाद् बुर्धर्बुर्धटोदिततमःप्रध्वंससूर्योदयः

श्रेयःश्रीनिलयो लयं दिशतु वो ब्रह्मण्यनन्तोदये॥175॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ प्रद्युम्नसूरीक्षितो

वृत्तान्तोऽभयदेवसूरिसुगुरोः शृङ्गो ग्रहेन्दुप्रभः॥176॥

वरकरुणबन्धुजीवकनृतिलकनालीकरूपविजयश्च।

श्रीप्रद्युम्नसुजाते सुमनश्चित्रं नवकुलश्रीः॥177॥

॥ इति श्रीअभयदेवसूरिप्रबन्धः ॥



श्रीवीराचार्यचरितम्

1. वीराचार्यः श्रिये वोऽस्तु सन्तः क्रोधाद्यरिक्शयम्।
यदभ्यासे कृताभ्यासाः कर्तुमिच्छन्ति साम्प्रतम्॥1॥
- यत्करस्पर्शमात्रेण कन्यादिष्वपि संक्रमम्। विधाय भारती वक्तिः कथं वीरः स वर्ण्यते॥2॥
बहुश्रुतमुखाच्छ्रुत्वा तद्वत् कियदप्यहम्। वर्णयिष्यामि बालः किं न वक्ति स्वानुमानतः॥3॥
श्रीमच्चन्द्रमहागच्छसागरे रत्नशैलवत्। अवान्तराख्यया गच्छः षडित्त्वं इति विश्रुतः॥4॥
श्रीभाववेव इत्यासीत् सूरिरत्र च रत्नवत्। पात्रे स्नेहादिहीनोऽपि सदा लोकहिते रतः॥5॥
श्रीमद्विजयसिंहाख्याः सूरयस्तत्पदेऽभवन्। प्रतिवादिद्विपघटाकटपाटनलम्पटाः॥6॥
तत्पट्टमानससरोहंसाः श्रीवीरसूरयः। बभूवुर्गति-शब्दाभ्यामनन्यसदृशश्रियः॥7॥
राजा श्रीसिद्धराजस्तान् मित्रत्वे स्थापयन् गुणैः। स्वभावविशदे द्वेष ददाति कुमुदे मुदम्॥8॥
अथ मित्रं समासीनो नृपतिर्नर्मणाऽवदत्। श्रीवीराचार्यमुनिद्रं तेजो वः क्षितिपाश्रयात्॥9॥
अथाहुः सूरयः स्वीयप्रज्ञाभाग्यैर्विजृम्भते। प्रतिष्ठा नान्यतः श्वा किं सिंहौजस्वी नृपादृतः॥10॥
राजाह मत्सभां मुक्त्वा भवन्तोऽपि विदेशगाः। अनाथा इव भिक्षाका बाह्यभिक्षाभुजो ननु॥11॥
सूरिराह भवत्प्रेम सन्दानमिव नोऽभवत्। दिनानीयन्ति गच्छाम आपृष्टः साम्प्रतं भवान्॥12॥
भूपः प्राह न दास्यामि गन्तुं निजपुरात् तु वः। सूरिराह निषिध्यामो यान्तः केन वयं ननु॥13॥
इत्युक्त्वा स्वाश्रयं प्रायात् सूरिर्भूरिकलानिधिः। रुरोध नगरद्वारः सर्वत्र नृपतिर्नरैः॥14॥
इतश्च गुरवः सान्ध्यं धर्मकृत्यं विधाय ते। विधिवद् विदधुर्ध्यानं श्रीपर्णीपट्टकासनाः॥15॥
अध्यात्मयोगतः प्राणनिरोधाद् गगनाध्वना। विद्याबलाच्च ते प्रापुः पुरीं पल्लीतिसञ्ज्ञया॥16॥
प्रातर्विलौकिते तत्रादृष्टे राजा व्यचिन्तयत्। किं मित्रं गत एवायं सदा शिथिलमोहधीः॥17॥
ईदृक् पुनः कथं प्राप्योऽनेकसिद्धिकुलावनिः। सिद्धस्नेहे वयं मन्दपुण्याः पिण्याकसंनिधाः॥18॥
इतश्च ब्राह्मणैः पल्लीवासैः श्रीपत्तने पुरे। विज्ञाप्यततरां श्रीमज्जयसिंहनरेशितुः॥19॥
तिथि-नक्षत्र-वारावासरव्यक्तियुते दिने। श्रीवीरसूरिरायातः संगतो न इति स्फुटम्॥20॥
श्रुत्वेति विममशाथ भूपालः केलिरीदृशी। विकृता यत्स एवैष प्रेमोहापोहवासरः॥21॥
ययावाकाशमार्गेण तद्रात्रावेव स ध्रुवम्। नर्मलीलाद्वितीयेऽहि तद्विजानां स संगतः॥22॥-युग्मम्।
उत्कण्ठा रसपूर्णोऽथ प्रधानान् प्राहिणोन्नृपः। आह्वानाय महाभक्त्या ययुस्ते तत्र मंशुः च॥23॥
नृपस्यानुनयः सान्द्रीकृत्य तैश्च प्रकाशितः। औदासीन्यस्थितास्ते च प्रोचुः प्रचुरसंयमाः॥24॥
निजं विद्याबलं ज्ञातुं वयं हि विजिहीर्षवः। देशान्तरं पुराप्यात्मस्थानस्थैर्ज्ञायते न तत्॥25॥
कारणं सहकार्यत्र राज उच्चावचं वचः। तस्माद् विहृत्य देशेषु यद्येष्यामो भवत्युरे॥26॥
दुर्लभं मानुषं जन्म व्रतं विद्या बलं श्रुतम्। मुधा नराधिपस्नेहे मोहैः को नाम हारयेत्॥27॥
इत्याकर्ण्यथ ते प्रोचुरेकं शृणुत भूपतेः। वचःसिद्धत्वमस्माकं त्वत्संगात् तथ्यतास्पदम्॥28॥

भविष्यति पुनः कालमियन्तं पितृनाम तत्। सिद्धे भवति पार्श्वस्थे वयं सिद्धा हि नान्यथा॥129॥
 श्रुत्वेति बहुमानाद्रेखिव तैराददे वचः। आयास्यते पुरे तत्र मा चिन्ताऽत्र विधीयताम्॥130॥
 महाबोधपुरे बौद्धान् वादे जित्वा बहून्थ। गोपालगिरिमागच्छन् राज्ञा तत्रापि पूजिताः॥131॥
 परप्रवादिनस्तैश्च जितास्तेषां च भूपतिः। छत्र-चामरयुग्मादिराजचिह्नान्यदान्मुदा॥132॥
 व्यावृत्त्याथ निजां भूमिमायान्तस्तेऽद्यतस्थिरं। पुरे नागपुरे तत्राप्यकार्षुश्च प्रभावनाः॥133॥
 ज्ञात्वाथ सिद्धराजेनाहूता भक्तिभृताऽथ ते। प्रैषुः परिच्छदं गोपगिरिराजसमर्पितम्॥134॥
 विजहूः सूरयस्तस्माच्छनैः संयममात्रया। अणहिल्लपुरासनं चारूपग्रामभागमन्॥135॥
 अभ्युद्ययावथ श्रीमज्जयसिंहनरेश्वरः। प्रवंशोन्सवमाधत्तादृष्टपूर्वं सुरैरपि॥136॥

2. अथात्र वाविसिंहाख्यः सांख्यवादी समागमत्।

पत्रं प्रदत्तवानीदृक्लिखितश्लोकदुर्घटम्॥137॥

तथा हि-

उद्धृत्य बाहू किल रारटीति यस्यास्ति शक्तिः स च वावदीतु।

मयि स्थिते वादिनि वाविसिंहे नैवाक्षरं वेत्ति महेश्वरोऽपि॥138॥

श्रीमत्कर्णमहाराजबालमित्रं यतीश्वरः। गोविन्दाचार्य इत्यस्ति वीराचार्यकलागुरुः॥139॥
 रात्रौ रहः समागत्य छन्नवेषः क्षमाधिपः। प्राह तं किमयं भिक्षुरपि पूज्यैः प्रतीक्ष्यते॥140॥
 तैः प्रोचे भवतामेव वाग् विलोक्याऽत्र भूपते॥ प्रभाते विवदिष्यन्तं वीराचार्यो विजेष्यते॥141॥
 प्रीतो राजा प्रभाते तमाह्वास्त नृपपर्षदि। स निःस्पृहत्वदम्भेन शान्तोऽवददिदं तदा॥142॥
 वयं किमागमिष्यामो निःसंगा यदि भूपतिः। अस्मद्वाक्कौतुकी भूम्यासोऽत्रायातु सोऽपि तत्॥143॥
 प्रातः कुतूहली राजोररीकृत्य तदप्यथ। तदावासे समागच्छदुर्व्यामुर्व्यामुपाविशत्॥144॥
 समाह्वयत गोविन्दसूरिं सूरिसंभासदम्। सोऽपरान् साकृतीनीषद् विदुषोऽपि पुरो दधे॥145॥
 वीराचार्य महाप्रज्ञाप्रज्ञातानेकशास्त्रकम्। उद्यत्कवित्ववक्तृत्वावधिं पश्चाच्चकार च॥146॥
 समाययौ ततस्तत्रोपविष्टः कम्बलासने। राजाह को वदेदेवाममुना वादिना सह॥147॥
 श्रीगोविन्दप्रभुः स्माहानौचित्यज्वरसंगिना। अनेन शास्त्रपाथो धितरण्डोपमधीजुषः॥148॥
 अज्ञेन सह लज्जन्ते वदन्तस्तत् शिशुः कृती। वीरो वदिष्यति प्राज्ञः श्रुत्वा वादी स चावदत्॥149॥
 दुग्धगन्धमुखो मुग्धः किं वक्ष्यति मया सह। असमानो विग्रहोऽयं नास्माकं भासते शुभः॥150॥
 राज्ञोचे क्षीरकण्ठास्यादर्धपीयूषगन्धितः। अस्मात् त्वन्मदधत्सूरविभ्रमः स हरिष्यति॥151॥
 श्रुत्वेति स उपन्यासमवज्ञावशतो दधे। अर्धकूर्परहस्तस्थमस्तकस्तर्कसंभवम्॥152॥
 विरते तत्र चाजल्पत् श्रीवीरो विदुषां प्रभुः। वदामि गद्यात् पद्याद् वा यच्चित्ते तव भासते॥153॥
 स्वेच्छं तदुद्दिश छन्दोऽलंकारं च ममाग्रतः। सर्वानुवादमर्थानुवादं वा सत्त्वं भवान्॥154॥
 श्रुत्वेति स पुनः प्राह गूर्जराडम्बरः पुरः। मम न क्रियते बालः किं ज्ञास्यति भवानिह॥155॥
 अथ शक्तिस्तवास्ते चेत् पद्येन छन्दसा पुनः। वद भक्तभयूरेणालंकारानिहवात् तथा॥156॥
 सर्वानुवादमाश्रित्य स निशम्येति तं जगौ। उत्तिष्ठानसंस्थोऽस्थाः सावधानस्ततः शृणु॥157॥
 वयं नहि गिरां देव्या अवहेतां विदध्महे। अर्द्धसुप्तपुरो वादादाकर्ण्येति स चोत्थितः॥158॥
 वाचि वीरं ततो वीरं यथा प्रागुक्तसंभवात्। उपन्यस्यन्तमाकर्ण्यास्विद्यतोद्यतगीर्बलः॥159॥

श्रीवीरे विरते जल्पादर्थतस्तस्य कुर्वतः। अनुवादं जगादासौ जल्प सर्वानुवादतः॥60॥
न शक्तोऽहमिति प्राह वादिसिंहस्ततो नृपः। स्वयं बाहौ विधृत्यामुं पातयामास भूतले॥61॥
वक्तुं न शक्तश्चेदुच्चैरासने कथमासिवान्। तथा च कविराजः श्रीश्रीपालो वाक्यमब्रवीत्॥62॥

गुणैरुत्तुङ्गतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः।

प्रासावशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते॥63॥

ततो विडम्ब्यमानं तं दृष्ट्वा श्रीवीर ऊचिवान्। श्रूयतां भूप मे वाणी प्राणी दर्पेण जीयते॥64॥
यदनेन नराधीश! शुद्धन्यायैकनिष्ठधीः। सभाध्यक्षमवज्ञातो वर्णाश्रमगुरुर्भवान्॥65॥
स्वास्याम्बुजस्थिरावासप्रदानात् प्रीणिता दृढम्। त्वद्गृह्य कोपभूत्र देव्यदाद् वाचि मन्दताम्॥66॥-युग्मम्।
वाचां रणे तु चास्माकं प्रागूढः समयो ह्ययम्। वादी निगृह्यमाणो हि संरक्ष्यः प्रतिवादिना॥67॥
ततो विमुच्यतां श्रीमन्। मदान्धोऽयं कृपास्पदम्। निशम्येति नृपेणासौ मुक्तो दृष्ट्वा ततो बहिः॥68॥
जयपत्रार्पणादस्याददे तेजः परं तदा। द्रव्यं तु निःस्पृहत्वेन स्पृशत्यपि पुनर्न सः॥69॥

3. अन्यदा जययात्रायां चलिते गूर्जरेशितुः। चतुरंगचमूचक्रे रेणुच्छादितभानुनि॥70॥
श्रीवीराचार्यचैत्यस्य पुरतः सञ्चरिष्णुनि। नृपमीक्षितुमाप्ते च कवीन्द्रे तत्र विश्रुते॥71॥
क्रमात् तत्र च संप्राप्तः श्रीसिद्धाधीशभूपतिः। तं समीक्ष्य कविः कश्चित् समस्यापदमभ्यधात्॥72॥
तदुद्दिश्य कवौ वीराचार्ये दृष्टिं व्यधानृपः। अनायासात् ततोऽपूरि कृतिना तेन सत्वरम्॥73॥

तथा हि-

कालिन्वि ब्रूहि कुम्भोद्भवजलधिरहं नाम गृह्णासि कस्मा-

च्छत्रोर्मे नर्मदाऽहं त्वमपि मम सपत्न्याश्च गृह्णासि नाम।

मालिन्यं तर्हि कस्मादविरलविगलत्कण्जलैर्मालवीनां

बाष्पाभ्योभिः किमासां समजनि चलितो गूर्जराणामधीशः॥74॥

श्रुत्वेति भूप आचख्यौ तव सिद्धगिराऽनया। मालवेशं गृहीष्यामि संशयो नात्र मे हृदि॥75॥
त्वया बलानकस्थेनाशिष्टो मे शत्रुनिग्रहः। विजयस्य पताकेयं ततस्तत्रास्तु सा दृढम्॥76॥
श्रीभावाचार्यचैत्यस्य पताकाऽभूद् बलानके। महता विहितं यस्माच्चिरेणापि न नश्यति॥77॥
वादी कमलकीर्त्याख्य आशाम्बरयतीश्वरः। वादमुद्राभूद्भ्यागादवज्ञातान्यकोविदः॥78॥
आस्थानं सिद्धराजस्य जिह्वाकण्डूययार्दितः। वीराचार्यं स आह्लास्त ब्रह्मास्त्रं विदुषां रणे॥79॥
पञ्चवर्षीयबालां स सहादाय समागमत्। अवज्ञया वादिनं तं वीक्ष्य न्यविशदासने॥80॥
स चोपन्यस्तवान् सर्वसामर्थ्येन गुरुस्ततः। श्रीवीरो बालया सार्द्धमरस्तं कुतुकादिव॥81॥
स तं दृष्ट्वाऽब्रवीद् वादी भूपते! भवतः सभा। नोचिता विदुषां बालक्रीडाविप्लवसम्भृता॥82॥
राजाऽऽह स्वप्रमाणेन क्रीडत्येष बुधेश्वरः। इत्युक्त्वा प्रेक्षितो वीरो नृपेण प्राह सस्मितः॥83॥
समानवयसोर्वादो विमृश्येति मया ततः। एषा बाला समानिन्ये वस्त्रावृत्तिनिरादरा॥84॥
एष वाद्यपि नग्नत्वाद् दृश्यते डिम्भसन्निभः। उभयोरेतयोरस्तु वादो व्रीडात्वेन नः॥85॥
स्त्रीनिर्वाणनिषेधेनानयैवास्य च विग्रहः। विधेयस्तदसौ वादमुद्रायामुं विजेष्यते॥86॥
अस्पृष्टहस्तं तन्मौलौ प्रदायोचे यतीश्वरः। तां जल्प वादिनानेन स्थापय स्त्रीषु निर्वृतिम्॥87॥
ततः सा निपुणाधीतप्रमाणविदुषामिव। वाग्भरैः स्थापयामास तेनाशक्यस्थितोत्तरैः॥88॥

अनेडमूकतां प्राप्ते तत्र वित्रस्तमानसे। सस्रुर्जयजयारावा। सभ्यानां नृपतेरपि॥१८९॥
 भूपालः प्राह को जेता मत्सभां तपति प्रभौ। श्रीवीरे वादिवीरेऽत्र सिद्धऽनेकासु सिद्धिषु॥१९०॥
 यदीयहस्तस्पर्शेन संक्रान्ता यत्र तत्र च। वाग्देवी भाषतेऽजस्रं स शक्यः केन वर्णितुम्॥१९१॥
 एवं युगप्रधानाभगुणव्यूताः पटा इव। श्रीवीरसूरयः पान्तु भव्यजाड्यापहारिणः॥१९२॥
 श्रीमत्कालकसूरीणामनिर्वाच्यं प्रभाद्भुतम् अद्यापि यत्कुले वीराः प्राग्वीरान् भासयन्त्यमी॥१९३॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीवीरवृत्ताद्भुतं

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशदितः शृंगः सविंशोऽभवत्॥१९४॥

॥ इति श्रीवीरसूरिप्रबन्धः ॥



श्रीवादिदेवसूरिचरितम्

श्रीदेवसूरिर्वः पातु य आक्रम्य दिगम्बरम्। कीर्तयति स्त्रियः सिद्धमूलधिष्यमतिष्ठितम्॥१॥
 देवाचार्यः श्रिये भूयात् केवलज्ञानशालिनाम्। विमोच्याभोजनं येनाव्युच्छित्तिः शासने कृता॥२॥
 जीवितानादिराजीवममध्यमहितोदयम्। अनन्तविधुरद्रोहं वदनं तस्य संस्तुमः॥३॥
 भ्रान्तिसंवर्तकभ्रान्तिदुर्वृत्तरजसः शमे। अवारवारिवाहश्रि तद्वृत्तं परिकीर्त्यते॥४॥

1. अस्ति गूर्जरदेशस्य नवनीतमिवोद्भूतम्। अष्टादशशतीनाम मण्डलं स्वर्गखण्डलम्॥५॥
 तत्र मड्डाहतं नाम नगरं नगराजिभिः। ध्वान्तस्येव महादुर्गमगम्यं सूर्यरोचिषाम्॥६॥
 सद्बृत्तोज्जीवनच्छायो राजमानः स्वतेजसा। प्राग्वाटवंशमुक्तासीद् वीरनागाभिधो गृही॥७॥
 तत्प्रिया सत्क्रियाधारा प्रियंकरगुणावनिः। जिनदेवीति देवीव मेना हिमवतो बभौ॥८॥
 अन्यदा सा निशि स्वप्ने पीयूषरुचिमैक्षत। प्रविशन्तं मुखे पृथ्व्यामवतारेच्छया किल॥९॥
 अन्वये गुरवस्तस्य श्रीमुनिचन्द्रसूरयः। सन्ति शान्तिकमन्त्रान्ते येषां नामाक्षराण्यपि॥१०॥
 प्रातः सा तत्पुरो गत्वा नत्वा सत्त्वमहालया। अपृच्छन्मुदिताचार्यं (र्थ?) स्वप्नस्यातिशयस्मृशः॥११॥
 देवश्चन्द्रनिभः कोऽप्यवततार तवोदरे। आनन्दयिष्यते विश्वं येन ते चेत्यमादिशन्॥१२॥
 अथ सा समयेऽसूत सुतं वज्रोपमद्युतिम्। यत्तेजसा कलिः शैलश्चकम्पे भेदभीतितः॥१३॥
 हृदयानन्दने तत्र वर्धमाने च नन्दने। चन्द्रस्वप्नात् पूर्णचन्द्र इत्याख्यां तत्पिता व्यधात्॥१४॥
 कदाचिन्नगरे तत्राशिवं जज्ञे जनान्तकृत्। सहसैव यतो लोकः प्रेक्ष्याप्रेक्ष्यत्वमादधौ॥१५॥
 वीरनागो विचिन्त्यैतद् दक्षिणां दिशमाश्रयत्। भृगुकच्छपुरं प्राप लाटवेशविभूषणम्॥१६॥
 विहारं जंगमं तीर्थं श्रीमुनिचन्द्रसूरयः। चक्रुस्तत्र तदादेशात् स्थापितोऽसौ सधर्मिभिः॥१७॥
 वर्षाष्टकवयाः पूर्णचन्द्र इत्यस्य नन्दनः। चक्रे सुखासिकादीनां वाणिज्यं शैशवोचितम्॥१८॥
 वित्तनौवित्तहर्म्येषु विकाशिचणकैः समाः। द्राक्षा अवापदर्भत्वेऽपि हि पुण्यानि जाग्रति॥१९॥
 कस्मिंश्चित्सदनेऽन्येद्युर्गतो व्यञ्जनविक्रये। द्रम्मान् हेम च गृहेशं पिटैरुज्जन्तमैक्षत॥२०॥
 भवाभाग्याद् घटश्लक्ष्णकर्करांगाररूपतः। पश्यति स्म ततः पूर्णचन्द्रः प्राहातिविस्मितः॥२१॥
 किमुज्झसि महाद्रव्यं नरसञ्जीवनौषधम्। इत्युक्ते स गृही दध्यौ चित्तेऽहो पुण्यवानसौ॥२२॥
 वत्स! द्रव्यमिदं वंशपात्रे क्षित्वा ममार्पय। इत्युक्तः पूरयित्वाऽसौ पात्राण्यस्यार्पयत् तदा॥२३॥
 तत्करस्पर्शमाहात्म्यात् तद् द्रव्यं पश्यति स्म सः। अपुण्य-पुण्ययोः साक्षादीदृशं दृश्यतेऽन्तरम्॥२४॥
 सोऽन्तर्गहं क्षिपत्येवं सर्वं निहितमन्तरा। एका सुखादिकोहेतोः प्रसृतिस्तेन चार्प्यत॥२५॥
 हृष्टश्च पितुराख्याय ददौ तद् द्रविणं मुदा। वीरनागः प्रभूणां च यथावृत्तमदोऽवदत्॥२६॥
 व्यमृशन्तेऽप्यवातापीत् किमेष पुरुषोत्तमः। दर्शयन्ती स्वरूपाणि लक्ष्मीर्यस्याभिलाषुका॥२७॥
 रङ्गत्कुमुदचन्द्रांशुप्रसराच्छादकोदयः। विरोचनो विनेयश्चेदेषानन्तोन्नतिस्तदा॥२८॥

ततस्तेऽप्यवदन् वाचं शृणु नस्तव यद्वरम्। वस्तु सम्पद्यते कस्य भक्त्या तत् प्रतिपद्यते॥29॥
 स प्राह नाथ! पूज्यानां कुले नो गुरुताभूताम्। अहं त्वेकसुतो जीर्णस्तदास्था मेऽत्र जीवितुम्॥30॥
 व्यवसाये क्षमः कीदृक्षेऽपि नाहं जनन्यपि। अस्य नश्यतनुस्थेमाऽनन्यसस्तद् वदामि किम्॥31॥
 अत्र चेत् पूज्यपादानामाग्रहस्तन्मया नहि। विचारणं हि कर्तव्यं गृह्यतामेष नन्दनः॥32॥-विशेषकम्।
 प्रभुराहाथ मे पंचशती चारित्रिणां गणे। सर्वेऽपि ते सुताः सन्तु तवैकस्मादतः प्रति॥33॥
 अमी साधर्मिका यावज्जीवं कशिपुदास्तव। धर्मं धेह्यास्व निश्चिन्तः परलोकैकशम्बलम्॥34॥
 तदम्बां च यथादेशकारिणीमनुमान्य च। पूर्णचन्द्रं दृढाभक्तिं प्रभवः समदीक्षयन्॥35॥

2. रामचन्द्राभिधां तस्य ददुरानन्दनाकृतेः। दर्शनोल्लासिनः सङ्घसिन्धुवृद्धिविधायिनः॥36॥
 दुर्ज्ञेयत्वकलंकस्थापनोदादुपकारिणीम्। यत्प्रज्ञा दुर्गशास्त्राणामपि वागोचरः स किम्॥37॥
 तर्क-लक्षण-साहित्यविद्यापारगतः स च। अभूत् स्वपरसिद्धान्ते वर्तमाने कषोपलः॥38॥
 शिवाद्वैतं वदन् धन्वः पुरे धवलके द्विजः। काश्मीरः सागरो जिग्ये वादात् सत्यपुरे पुरे॥39॥
 तथा नागपुरे क्षुण्णो गुणचन्द्रो दिगंबरः। चित्रकूटे भागवतः शिवभूत्याख्यया पुनः॥40॥
 गंगाधरो गोपगिरौ धारायां धरणीधरः। पद्माकरो द्विजः पुष्करिण्यां वादमदोद्धरः॥41॥
 जितरश्च श्रीभृगुक्षेत्रे कृष्णाख्यो ब्राह्मणाग्रणीः। एवं वादजयोन्मुद्रो रामचन्द्रः क्षितावभूत्॥42॥
 विद्वान् विमलचन्द्रोऽथ हरिचन्द्रः प्रभानिधिः। सोमचन्द्रः पार्श्वचन्द्रो विबुधः कुलभूषणः॥43॥
 प्राज्ञः शान्तिस्तथाऽशोकचन्द्रश्चन्द्रोल्लसद्यशः। अजायन्त सखायोऽस्य मेरोरिव कुलाचलाः॥44॥
 ततो योग्यं परिज्ञाय रामचन्द्रं मनीषिणम्। प्रत्यष्टिपन् पदे दत्तदेवसूरिवराभिधम्॥45॥
 पितुस्तस्य व्रतं वीरनागाख्यस्य स्वसुः पुनः। पुरातनव्रतमुद्राया अमुद्राया महाव्रतैः॥46॥
 महत्तराप्रतिष्ठां च व्यधुर्विधुरिताहसः। श्रीमच्चन्दनबालेति नामास्याः प्रददुर्मुदा॥47॥-युगम्।

3. अन्यदा गुर्वनुज्ञाताः श्रामन्तो देवसूरयः। विहारमादधुः पूज्याः पुरे धवलकाभिधेः॥48॥
 उदयो नाम तत्रास्ति विदितो धार्मिकाग्रणीः। श्रीमत्सीमंधरस्वामिबिम्बं सैष व्यधापयत्॥49॥
 स प्रतिष्ठाविधौ तस्यानिश्चिन्वन् सदगुरुं ततः। श्रीमच्छसनदेवीं चाराध्नोत् त्र्यहमुपोषितः॥50॥
 युगप्रधानकल्पेन श्रीमता देवसूरिणा। प्रतिष्ठापय बिम्बं स्वमित्युपादिशताथ सा॥51॥
 तत्तदर्थनया बिम्बप्रतिष्ठां विदधुस्तदा। ऊदावसति नाम्ना तच्चैत्यमद्यापि विद्यते॥52॥

4. अथ नागपुरेऽन्येद्युः प्रभवो विजिहीर्षवः। गिरीन्द्रमर्बुवं प्रापुरुत्का आरुरुहश्च तम्॥53॥
 मंत्रिणोऽम्बप्रसावस्य गिरिमारोहतः सह। गुरुभिः कर्मवैचित्र्याद् दन्दशूकोऽदशत् पदे॥54॥
 ज्ञात्वा ते प्रेषयंतस्तस्य हेतुं पादोदकं तदा। धौतमात्रे तदा तेन दंशोऽसौ निर्विषोऽभवत्॥55॥
 श्रीनाभेयं नमस्कृत्य संसारार्णवतारणम्। तुष्टुवुः श्रीमदम्बां च प्रत्यक्षां शासनेश्वरीम्॥56॥
 साऽवादीत् कथयिष्यामि किञ्चित् बहुमानतः। दूरे सपावलक्षे त्वं मा यासीन्मम वाक्यतः॥57॥
 गुरुस्तवाष्टमासायुरस्मादेव दिनाद् यतः। व्यावर्त्तस्व ततो वेगादण्डहिल्लपुरं प्रति॥58॥
 इत्याख्याय तिरोधाच्च देवी दध्यौ ततः प्रभुः। मय्यम्बाया इवाम्बाया वत्सलत्वमहो महत्॥59॥
 व्यावृत्त्यायात् ततः पूज्यपुर आख्यत् सुरीवचः। आनन्दमसमं प्रापुस्ते कालज्ञानतो निजात्॥60॥

5. अन्यदा देवबोधारख्यः श्रीभागवतदर्शनीः भूरिवादजयोन्मुद्रः श्रीमत्पत्तनमाययौ॥61॥

अवालम्बत पत्रं च राजद्वारे मदोद्धुरः। तत्र श्लोकं दुरालोकं विबुधैरलिखच्च सः॥६२॥
यथा हि -

एकद्वित्रिचतुःपञ्चषण्मेनकमेने न काः।

देवबोधे मयि क्रुद्धे षण् मेनकमेनेनकाः॥६३॥

ततः सर्वेऽपि विद्वांस एनमालोक्य सूर्यवत्। दृशो विपरियन्ति स्म दुर्बोधं सुधियामपि॥६४॥
षण्मासान्ते तदा चाम्बाप्रसादो भूपतेः पुरः। देवसूरिप्रभुं विज्ञराजं दर्शयति स्म च॥६५॥
स भूपालपुरः श्लोकं विभेदोद्भेदधीनिधिः। कुलत्थजलवद्गण्डशैलं राज्ञा मतः सुहृत्॥६६॥

6. अथास्ति थाहडो नाम धनवान् धार्मिकाग्रणीः। गुरुपादान् प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसौ॥६७॥
आदिश्यतामतिश्लाघ्यं कृत्यं यत्र धनं व्यये। प्रभुराहालये जैने द्रव्यस्य सफलो व्ययः॥६८॥
आदेशानन्तरं तेनाकार्यत श्रीजिनालयः। हेमाद्रिधवलस्तुंगो दीप्यत्कुम्भमहामणिः॥६९॥
श्रीमतो वर्द्धमानस्याबीभरत् बिम्बमद्भुतम्। यत्तेजसा जिताश्चन्द्रसूर्यकान्तमणिप्रभाः॥७०॥
शतैकादशके साष्टासप्ततौ विक्रमाकर्कतः। वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरयः॥७१॥
आराधनाविधिश्रेष्ठं कृत्वा प्रायोपवेशनम्। शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः॥७२॥-युग्मम्॥
वत्सरे तत्र चैकत्र पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः। श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स थाहडोऽकारयन्मुदा॥७३॥

7. अथ नागपुरे श्रीमान् देवसूरिप्रभुर्ययौ। अभ्यागादत्र च श्रीमानाह्लादननरेश्वरः॥७४॥
प्रणनाम सहायातः स च भागवतेश्वरः। देवबोध इमामार्यामार्याचारोऽवदत् प्रभुम्॥७५॥
सा चयेन-

यो वाविनो द्विजिह्वान् साटोपं विषममानमुविगरतः।

शमयति स देवसूरिर्निन्दवन्धः कथं न स्यात्॥७६॥

एवं चासौ महाभक्त्या स्थापितो नगरान्तरा। राज्ञा विज्ञाततत्त्वार्थो भव्यान् बोधयति स्म सः॥७७॥
तच्च श्रीसिद्धराजोऽथ नगरं रुरुधेतराम्। तत्रस्थं देवसूरिं च ज्ञात्वा व्याववृते ततः॥७८॥
मध्यस्थितेऽत्र तन्मित्रे दुर्गं लातुं न शक्यते। इति ध्यात्वाऽऽह्वयद् भक्त्या नृपः श्रीपत्तने प्रभुम्॥७९॥
तत्र वर्षास्ववस्थाप्याश्विने तं चाभ्यमित्रयत्। प्राकारं जगृहे श्रीमान् सिद्धराजश्च सत्वरम्॥८०॥

8. अथ कर्णावतीसंघोऽन्येद्युरुत्कण्ठतः प्रभोः। आह्वाययन्महाभक्त्या चतुर्मासकहेतवे॥८१॥
ततस्तत्राययुः पूज्याः संघादेशपुरस्कृताः। शुद्धोपाश्रयमासाद्यावस्थानं प्रतिशुश्रुवुः॥८२॥
अरिष्टनेमिप्रासादे व्याख्यानं च प्रतुष्टुवुः। अबुध्यन्ताबुधा लोका यस्य श्रवणतो घनाः॥८३॥
इतश्च दाक्षिणात्यः श्रीकर्णाटनृपतेर्गुरुः श्रीजयकेशिदेवस्य श्रीसिद्धेशप्रसूपितुः॥८४॥
अनेकवादिनिर्जिष्णुर्वादिपुत्रकपद्धतिम्। वामपादे वहन् गर्वपर्वताधित्यकाश्रितः॥८५॥
जैनो जैनमतद्वेषिदर्पसर्पकरण्डिका। श्रीमान् कुमुदचन्द्राख्यो वादिचक्री दिगम्बरः॥८६॥
श्रीवासुपूज्यचैत्यस्थो वर्षानिवाहहेतवे। श्रीदेवसूरिधर्माख्याप्रभावामर्षणस्तदा॥८७॥
दानान्मुखरयन् बहिवृन्दानि प्रजिघाय सः। उद्धीपयन् वचोभिस्तं सूरिं शमिकुलेश्वरम्॥८८॥-पञ्चभिः कुलकम्।
वैतालिकपतिर्धम्मिपर्वदन्तः प्रविश्य च। आह स्तुतिपरस्तस्य काव्यानि क्रोधदीप्तये॥८९॥

गेय-वाङ्मययोः पारवृश्वरीं प्रेक्ष्य यन्मतिम्।

वीणापुस्तकभृद् ब्राह्मी विस्मिता तदपारगा॥९०॥

ततस्तद्ब्रह्मास्थाय तदुपास्तितरास्तिकाः। सिताम्बराः परानन्दभाजो भवत किं न हि॥१९॥

तथा हि-

हंहो श्वेतपटाः किमेष विकटाटोपोक्तिसण्डङ्कितैः
संसारावटकोटरेऽतिविषमे मुग्धो जनः पात्यते।
तत्त्वातत्त्वविचारणासु यदि वो हेवाकलेशस्तवा
सत्यं कौमुदचन्द्रमंहियुगलं रात्रिदिवं ध्यायत॥१२॥

अथाहं देवसूरीणां माणिक्याख्यो विनेयराट्। दर्शनप्रतिकूलाभिर्वाग्भी रोषांकुरं वहन्॥१३॥

तद्यथा-

कः कण्ठीरवकण्ठकेसरसटाभारं स्पृशत्यङ्घ्रिणा
कः कुन्तेन शितेन नेत्रकुहरे कण्डूयनं कांक्षति।
कः सन्नहति पन्नगेश्वरशिरोरत्नावतंसश्रिये
यः श्वेताम्बरदर्शनस्य कुरुते वन्द्यस्य निन्दामिमाम्॥१४॥

माणिक्यः शिष्यमाणिक्यं जगदे देवसूरिभिः नात्र कोपावकोशोऽस्ति खरवादिनि दुर्जने॥१५॥

अथ बन्दिराज आह श्वेताम्बरचणकतुरग इह वादी।

श्वेताम्बरतमसोऽर्कः श्वेताम्बरमशकधूमोऽयम्॥१६॥

श्वेताम्बरप्रहसने स सूत्रधारः प्रभुः कौमुदचन्द्रः।

किं वाच्यस्तव वाचा संदिश किमिहान्यवागडमरैः॥१७॥

स गुरुः प्राह नाहंयुर्व्रतमास्माकदर्शने। ततः कथय मद्भ्रातुः पुर एकं हि वाचिकम्॥१८॥

तद् यथा-

विगम्बरशिरोमणे! गुणपराङ्मुखो मा स्म भू-
गुणग्रहफलं हि तव वसति यद् रमापङ्कजे।
ततस्त्यज मयं कुरु प्रशमसंयतान् स्वान् गुणान्
वमो हि मुनिभूषणं स च भवेन्मदव्यत्यये॥१९॥

इत्येवं कथिते बन्दिवरेणास्य पुरो मुनेः। वादिनः सोऽवदन्मूर्खसाधूनां शम उत्तरम्॥१००॥

उत्तेजनं किमप्येष क्रियते चित्तपोडनम्। अस्य विद्याकलामध्यं ज्ञायते येन तत्त्वतः॥१०१॥

विमृश्येति निजैः साधुवृन्दं रथ्यान्तरागतम्। वैरानुबन्धचेष्टाभिरुपासर्जयदद्भुतम्॥१०२॥

इत्येवमुपस्पृष्टेऽत्र निःप्रकम्पे सुमेरुवत्। दिग्वासा निजरूपाभमविशिष्टं प्रचक्रमे॥१०३॥

निजचैत्याग्रतो यान्तीं वृद्धां गोचरचर्यया। उपसर्गयितुं साध्वीमारेभेऽन्येद्युरुद्यतः॥१०४॥

अथ पल्लवकान् पल्लवकानिव तमस्तरोः। प्रेष्य तां कुण्डके क्षिप्त्वा नर्तयामास साहसी॥१०५॥

अहो साध्वीमसौ वृद्धां दर्शनिव्याजबुक्कसः। विडम्बयति पापीति तस्यावर्णो जनेऽभवत्॥१०६॥

अथ सा मोचिता कैश्चिदनुकम्पापरैर्नरैः। सूरेरुपाश्रयं प्रायादतिगदगदशब्दभूः॥१०७॥

किंकृतस्तेऽपमानोऽयमिति पृष्टा च सूरिभिः। जरामन्युभराव्यक्तस्वरं प्राह तदग्रतः॥१०८॥

वर्द्धितोऽध्यापितः सूरिपदे मद्गुरुभिर्भवान्। स्थापितोऽस्मादृशामीदृग्विडम्बनकृते ध्रुवम्॥१०९॥

दिगम्बरोऽयं बीभत्सदर्शनः स्ववित्वजैः। राजाध्वनिं प्रयान्तीं मामनाथवदुपाद्रवत्॥११०॥

विद्वत्तया प्रभुत्वेन किं फलं तेऽवकेशिना। किं करस्थेन शस्त्रेण यदि शत्रुर्न हन्यते॥१११॥

शमशैत्यमहावल्लयाः फलं परिभवां दृढः। ग्रस्यते मुच्यते वापि राहुणा स्वेच्छया शशी॥112॥
 अद्य ते विक्रमः कालः पठितस्य फलं ह्यदः। धान्ये शुष्के धने चास्ते वर्षन् मेघः करोतु किम्॥113॥
 देवसूरिरथो वाचमुवाच क्रोधदुर्द्धराम्। मा विषादं कुरुष्वार्यो दुर्विनीतः पतिष्यति॥114॥
 आर्याह दुर्विनीतोऽयं पतिष्यति नवा पुनः। त्वयि न्यस्तभरः सङ्घः पतिष्यत्येव वेत्रवत्॥115॥
 प्रभुराह स्थिरीभूय चेद् विलोकयसे ततः। मुक्तानामिह वेधो नः संभवी गुणयुक्तये॥116॥
 अथ चोवाच माणिक्य! विज्ञप्तिं लिख मामिकाम्। श्रीमत्पत्तनसंघाय विनयातिशयस्पृशम्॥117॥
 आदेशानन्तरं सोऽथ लिखति स्म स्फुटाक्षरम्। अदर्शयत् प्रभोः पश्चादथासौ प्रत्यवाचयत्॥118॥

‘स्वस्ति नत्वा जिनं श्रीमदणहिल्लपुरे प्रभुम्।

संघं कर्णावतीपुर्याः श्रीमंतो देवसूरयः॥119॥

भक्त्या विज्ञपयन्त्यत्राशाम्बरेण विवादिना।

शीघ्रमेवागमिष्यामः कृतवावाश्रवा इति॥120॥’

अचिराध्वन्यपुंसश्च हस्ते साऽथ समर्पिता। गूर्जराणां राजधानीं स प्राप प्रहरत्रयात्॥121॥
 दृष्ट्वा संघेन मर्त्योऽसौ भोजनाच्छादनादिभिः। सम्मान्य प्रहितः शीघ्रं प्रतिलेखं समर्प्य च॥122॥
 आयाद् देवगुरोः पार्श्वे सङ्घादेशं ददौ मुदा। एनं ललाटे विन्यस्य विवृत्यावाचयच्च सः॥123॥

‘स्वस्ति श्रीतीर्थनेतारं नत्वा श्रीपत्तनात् प्रभुः।

संघः कर्णावतीपुर्यां परवादिजयोजितम्॥124॥

श्रीदेवोपपदं सूरिं सभाविशति सम्मवात्।

आगन्तव्यं झटित्येव भवता वादिपुंगव॥125॥

किं च श्रीवादिवेतालशान्त्याचार्यस्य सद्गुरोः।

पार्श्वेऽधीतस्य शैवाख्यवाविजेतुर्महामतेः॥126॥

मुनिचन्द्रप्रभोः किं न भवान् शिष्यशिरोमणिः।

कालेऽधुनातने संघोदयस्त्वय्येव तिष्ठते॥127॥

ततः श्रीसिद्धभूपालं विज्ञाप्यात्र सकौतुकम्।

त्वत्कृतं विजयं स्वस्य वयं वीक्षामहे ध्रुवम्॥128॥

श्राद्धानां श्राविकाणां च शतानि त्रीणि सप्त च।

विजयाय तव श्रीमन्नाचामाम्लानि तन्वते॥129॥

प्रतिहन्तुं प्रत्यनीकसुराणां वैभवं लघु।

देव्याः श्रीशासनेश्वर्या बलं दातुं स्वसत्त्वतः॥130॥

तदर्थमिति विज्ञाय विश्ववन्द्यः स बन्दिनम्। प्राहिणोद् वादिने धीमान् शिक्षयित्वा स्ववाचिकम्॥131॥
 स गत्वा चाह—वादीन्द्रो देवाचार्यो वदत्यदः। मन्मुखेन व्रजन्स्मि पत्तनेऽहं त्वमापतेः॥132॥
 सभायां सिद्धराजस्य पश्यतां तत्सभासदाम्। स्वपराभ्यस्तवाणीनां प्रमाणं लभ्यते यथा॥133॥
 भवत्वेवमिति प्रोच्य स दिगम्बरसन्निधौ। गत्वा प्रोवाच तत्सर्वं श्रुतं तेनावधानतः॥134॥
 गमिष्यत इति प्रोक्ते वादिनाऽजायत क्षुतम्। तत्तस्याशकुनं मत्वा समेत्याकथयद् गुरोः॥135॥
 ततः सूरिर्दिने शुद्धे मेषलग्ने रवौ स्थिते। सप्तमस्थे शशांके च वृष्टे राहौ रिपुद्विहि॥136॥
 प्र्याणं कुर्वतस्तस्य निमित्तं शकुनाः शुभाः। स्फुरितं दक्षिणेनाक्ष्णा शिरःस्पन्दोऽप्यभूद् भृशम्॥137॥

किकी दिविर्दशोर्मार्गमाथयौ चन्द्रकी व्यरौत्। मृगाः प्रदक्षिणं जग्मुर्विषमा विषमच्छिदः॥138॥
 तथा रथः प्रभोस्तीर्थनाथस्याभ्यर्चितो जनैः। अभ्यर्हितप्रतिमया बभूवाभिमुखस्तथा॥139॥
 इत्यादिभिर्निर्मितैश्च मनः सौष्ठवमाश्रितः। अक्षेपात् पत्तनं प्राप प्राप्तरूपेश्वरः प्रभुः॥140॥
 प्रवेशोत्सवमाधत्त संघ उत्कण्ठितस्ततः। तत्र सिद्धाधिपं भूपमपश्यच्च क्षणे शुभे॥141॥
 पुनश्च मागधाधीशो दिगम्बरपुरो गतः। प्राह स्फुटं वचोभिः श्रीदेवाचार्यस्य वाचिकम्॥142॥
 मदं मुञ्च यतः पुंसां दत्तेऽसौ व्यसनं महत्। शलाकापुरुषस्यापि दशास्यस्य यथा पुरा॥143॥
 एवमुक्त्वा स्थिते वैतालिके दिग्बसनोऽवदत्। श्वेताम्बराः कथाभिज्ञा एषामेतद्धि जीवनम्॥144॥
 अहं तु तत्कथातीतः प्रीतो वादेन केवलम्। येन स्वस्य परस्यापि प्रमाणं हि प्रतीयते॥145॥
 एकमेवोचितं तेन जल्पितं यन्नृपाग्रतः। संगम्यं वादमुद्रायां तदेतत् क्रियतां ध्रुवम्॥146॥
 तत्रागच्छाम शीघ्रं च वयमप्यद्य निश्चितम्। प्रस्थास्नवस्तदित्युक्त्वाऽऽरुरोह च सुखासनम्॥147॥
 संमुखं पुनरासीच्च क्षुतं व्यमृशदत्र च। विकारः श्लेष्मणः शब्दस्तत्रास्था काऽस्तु मादृशाम्॥148॥
 स्याद् वाततोऽपि कण्ठतिर्जिह्वाया मे नरेण न। प्रतिहन्येत वादेन क्षुतमस्मान्निषेधकम्॥149॥
 याम एष तथाप्येवमुक्त्वा सञ्वरतः सतः। अवातरत् फणी श्यामः कालरात्रेः कटाक्षवत्॥150॥
 व्यलम्बत परीवारस्तस्याशकुनसम्भ्रमात्। आह च स्वामिनो नैव कुशलं दृश्यते ह्यदः॥151॥
 स प्राह पार्श्वनाथस्य तीर्थाधिष्ठायको मम। धरणेन्द्रो ददौ दर्श साहाय्यविधये ध्रुवम्॥152॥
 इत्याद्यशकुनैर्बाह्वं निषिद्धोऽपि दिगम्बरः। अणहिल्लपुरं प्राप तथा प्रावेशि कैरपि॥153॥

9. इतश्च श्रीदेवसूरेः पुरं प्रविशतः सतः। थाहडो नागदेवश्चाययाते संमुखौ तदा॥154॥
 ताभ्यां प्रणम्य विज्ञप्तं दिगम्बरपराजये। दाप्यतां स्वेच्छया द्रव्यमेतदर्थं तदर्जितम्॥155॥
 श्रीदेवसूरयः प्राहुर्यदि ब्राह्मीप्रसादतः। न जयस्तत् किमुक्तोचैः संकोचैः सत्यसंविदाम्॥156॥
 अथाह थाहडो नाथाशाम्बरेण धनव्ययात्। तत्रस्थेन धनाध्यक्षाद्विशिता गांगिलादयः॥157॥
 ऊचुश्च प्रभवो देवा गुरवश्चात्र जाग्रति। कार्यो व्ययो न युष्माभिरस्थाने द्रविणस्य तत्॥158॥
 ततः कुमुदचन्द्रेणागतेन नगरान्तरा। श्वेताम्बरजयोन्नत्यै कृतं पत्रावलम्बनम्॥159॥
 दिनानां विशतिं प्रत्युपाश्रयं यतिनां तदा। नीरं तृणानि मुक्त्वा च स पुरोगान्यवादयत्॥160॥
 केशवत्रितयं तस्य पक्षे सभ्यतया स्थितम्। अन्येऽप्यर्वाग्दृशः सर्वे तस्य पक्षस्पृशोऽभवन्॥161॥
 थाहडस्तस्य तत्पत्रं राजद्वारविलम्बितम्। स्फाटयामास शृङ्गारमिव तस्य जयश्रियः॥162॥
 श्रीसिद्धाधीश्वरो राजा श्रीपालादधिगम्य च। वृत्तान्तमाह्वयत् तत्र श्वेताम्बर-दिगम्बरौ॥163॥
 सभाव्यवस्थामाधाय प्रैषीद् दूतं च सत्वरम्। सम्बन्धकावताराय तयोर्गांगिलमंत्रिणे॥164॥
 ततः श्रीकरणे सोऽथ श्रीदेवगुरुराह्वयत्। जातिप्रत्ययतः किंचिद् विद्विष्टमिव चावदत्॥165॥

तथा हि-

वन्तानां मलमण्डलीपरिचयात् स्थूलं भविष्युस्ततिः

कृत्वा भैक्षकपिण्डभक्षणविधिं शौचं किलाचाम्लतः।

नीरं साक्षि शरीरशुद्धिविषये येषामहो कौतुकं

तेऽपि श्वेतपटाः क्षितीश्वरपुरः कांक्षन्ति जल्पोत्सवम्॥166॥

आह देवगुरुः स्फूर्त्या मीमांसासक्तताजुषः। धीवराश्चोचितं तद् वः शौचाचारविचारणम्॥167॥

परमुक्तं च-

विमृश विमृशाम्भोभिः शक्योऽपसारयितुं न यै-

र्जठरपिठरीक्रोडस्थेमाप्यहो मल्ललेशकः।

कथमिव सत्रा तिष्ठन्नात्मन्यरूपिणि तैरहो

परिवलयितुं पायौऽनार्यः स पातककर्ममः॥168॥

माणिक्यः प्राह किं नाम द्विजस्यास्यास्ति दूषणम्। श्रीसिद्धेश उपालभ्यः स विवेकबृहस्पतिः॥169॥
संस्कारसूत्रपातेन चतुर्द्धा हृदयात्मनाम्। वपुर्मनोवचःकार्यजातेष्वन्यान्यरूपतः॥170॥
अकृत्य-कृत्ययोस्तुल्यकर्तव्यत्वस्पृशां सदा। द्विजन्मनां प्रधानत्वं दर्शनानां विडम्बनम्॥171॥
इत्येवमूहापोहेन सम्बन्धो नार्पितस्तदा। प्रातः सभागतः पृष्ठो राजा सचिवगांगिलः॥172॥
लिखितो भवता कः सम्बन्धः किं वादिनोर्द्वयोः। स प्राहैषामपावित्र्यान्नार्हा राजसभास्थितिः॥173॥
अतो मया न चालेखि सम्बन्धो नृपतिस्ततः। अन्तःकोपानलं बध्ने पयोधिरिव वाडवम्॥174॥
एवं च सदसन्मर्त्यविशेषविदुषस्तव। व्ययस्य करणं तेऽलंकारारोपस्तवोचितः॥175॥
प्रजानां गौरवणोऽपि काल एवावभासते। अल्पोऽप्यत्र न ते दोषः सा ममैवाविचारिता॥176॥
परं दर्शनबाह्यत्वाद् ग्राम्यवन्नागरोऽपि सन्। नान्तर्मुखो गुणान् दोषीकृत्य यस्मात् प्रजल्पसि॥177॥
अन्यदेकं च ते भाग्यं यत्तेन ब्रह्मचारिणा। एवं विवदमानोऽपि शापाद् भस्मीकृतोऽसि न॥178॥
संमान्य चास्य सम्बन्धमधुनैव समर्पय। लिखित्वा वादिनोर्धादकाले जयपराजये॥179॥
राजादेशं गृहीत्वेति तेन प्रैषि निजोऽनुजः। सान्त्वनाय प्रभोः सोऽपि तत्कृत्वाह्वयदत्र तम्॥180॥
प्रभुर्विजयसेनाख्यं प्रैषीत् तत्र मनीषिणम्। नोचितं गमनं तत्र सचिवानागतौ स्वयम्॥181॥
दिगम्बरो विजीयेत, चेत् तन्न्यक्कारपूर्वकम्। निर्वास्योऽतः पुराद् धृत्या परिस्पन्दं स चौरवत्॥182॥
अथ श्वेताम्बरो हारयेत् ततस्य शासनम्। उच्छिष्टाशाम्बरत्वेनावस्थाप्यं तैः स्थितैः किमु॥183॥
इत्येवं लेखयित्वाऽत्र तद् राजकरणेऽभुवत्। कृतपक्षोऽपि सम्बन्धोऽनुमतस्तैर्बलोनैतैः॥184॥
प्रेषितः सिद्धराजेन श्रीश्रीपालः कवीश्वरः। शिक्षां दत्वातिवात्सल्याद् देवसूरिप्रभोरथ॥185॥
स प्रणम्य नृपस्याह वाचिकं तत्पुरः स्फुरन्। स्वदेश-परदेशस्था अपि विज्ञा ममार्हिताः॥186॥
परं तथा त्वया बन्धो! वक्तव्यं वादलीलया। यथा देशान्तरी जयः स्थेयः श्रेयःकृते मम॥187॥
त्वय्येव मम चित्तस्य दृढावस्थितिरीदृशी। यथा व्रीडयसे नो नः सभां कार्यस्तथा ध्रुवम्॥188॥
अथ श्रीदेवसूरिश्च प्रददे प्रतिवाचिकम्। प्रतापस्ते महाराज! विदेशिबुधजित्वरः॥189॥
वयं सहकृतस्तत्र परं मा दोल्यतां मनः। गुरुपदिष्टपक्षौर्धैर्विजेष्ये तं विवादिनम्॥190॥
क ईदृग् विदुषां शास्ता तद्वचःकौतुकी च कः। भवानिव भवानिच्छुरप्यहं येन वादकृत्॥191॥
इति तद्वच आख्याञ्च श्रीपालः कविवासवः। भूपालोऽपि मुदं प्राप देवसूरिवचोमृतैः॥192॥

10.

चन्द्राष्टशिववर्षेऽत्र (1181) वैशाखे पूर्णिमादिने।

आहूतौ वादशालायां तौ वादिप्रतिवादिनौ॥193॥

वादी कुमुदचन्द्रश्चाययावाडम्बरस्थितः। सुखासनसमासीनश्छत्रचामरशोभितः॥194॥
प्रतीहारेण मुक्तेऽत्र पट्टे चासावुपाविशत्। आहाद्यापि न चायाति श्वेतभिक्षुः कथं धिया?॥195॥
अथ श्रीदेवसूरिश्चाययौ भूपालसंसदम्। ऊचे कुमुदचन्द्रश्च स्वप्रज्ञाबलगर्वितः॥196॥

तथा हि-

श्वेताम्बरोऽयं किं श्रूयान्मम वादरणाङ्गणे।

सांप्रतं सांप्रतं तस्माच्छीघ्रमस्य पलायनम्॥197॥

सूरिः प्रोवाच बन्धुर्मे किमसत्यं वदत्यसौ। श्वेताम्बरो यतः श्वायमस्मद्वादरणाङ्गणे॥198॥
भषणे तस्य पर्याप्तं रणे नाधिकृतिः पुनः। परं पलायनं शीघ्रं युक्तं युक्तं वदत्यदः॥199॥
श्रुत्वेति पार्षदा वाचं शब्दखण्डनयानया। विस्मिताः स्मितमाधाय दध्युरस्य जयो ध्रुवम्॥200॥
एकाग्रमानसौ तत्र शासने पक्षपातिनौ। थाहडो नागदेवश्च सह चाजग्मतुर्मुदा॥201॥
थाहडः स्वगुरुं व्यज्ञपयद् द्रव्येण भेदिताः। सभ्याः श्रुता मया द्रव्यं तद्वास्ये द्विगुणं ध्रुवम्॥202॥
प्रभावनाकृते स्वीयशासने तत् समादिश। अथावद् गुरुर्द्रव्यव्ययः कार्यो न हि त्वया॥203॥
अद्य प्रभुभिरादिष्टः श्रीमुनिचन्द्रसूरिभिः। स्वप्ने यद् वत्स! वक्तव्यः प्रयोगः स्त्रीषु मुक्तिकृत्॥204॥
उत्तराध्ययन-ग्रन्थटीका श्रीशान्तिसूरिभिः। कृता तदनुसारेण वक्तव्यं जेष्यते रिपुः॥205॥
इत्युक्त्वा नृपतेराशीर्वादं दर्शनसङ्गतम्। अभ्यधात् सूरिरानन्दहेतुं केतुं विवादिनाम्॥206॥

नारीणां विवधाति निर्वृतिपवं श्वेताम्बरप्रोल्लसत्-

कीर्त्तिस्फीतिमनोहरं नयपथप्रस्तारभङ्गीगृहम्।

यस्मिन् केवलिनो विनिर्जितपरोत्सेकाः सदा वन्तिनो

राज्यं तज्जिनशासनं च भावतश्चौलुक्चय! जीयाच्चिरम्॥207॥

ऊचे कुमुदचन्द्रेण वादिना सिद्धभूपतेः। आशीरासीमभूमीशविद्वद्विजयशोभिनः॥208॥

सा चेयं-

खद्योतद्युतिमातनोति सविता जीर्णोर्णनाभालय-

च्छायामाश्रयते शशी भशकतामायान्ति यत्रात्रयः।

इत्थं वर्णयतो नभस्तव यशो जातं स्मृतेर्गोचरं

तद्यत्र भ्रमरायते नरपते! वाचस्ततो मुद्रिताः॥209॥

तस्मिन् महर्षिरुत्साहः सागरश्च कलानिधिः। प्रज्ञाभिरामो रामश्च नृपस्यते सभासदः॥210॥
ते प्रोचुर्मुद्रिता वाच इति दिग्वाससः क्षतिः। नारीमुक्तिर्ज्ञानिभुक्तिर्यत्र तत्र जयो ध्रुवः॥211॥
देवाचार्यश्च भाभूश्च श्रीपालश्च महाकविः। पक्षे दैगंबरे तत्र केशवत्रितयं मतम्॥212॥
तत्रोत्साहो महोत्साह उवाच प्रकटाक्षरम्। किञ्चिदुत्प्रासनागर्भं दृष्ट्वा दिग्वस्त्रपार्षदान्॥213॥

तथा हि-

संवृतावयवमस्तदूषणं साधनं सदसि दर्शयिष्यतः।

अस्य लुञ्चितकचस्य केवलं केशवत्रितयमेति सभ्यताम्॥214॥

महर्षिणा च विज्ञप्ते उपलक्ष्य प्रभुस्ततः। प्रयोग उच्यतां सम्यगादिदेशेति कौतुकात्॥215॥
ततोऽसौ नास्ति निर्वाणं, स्त्रीभवंस्थस्य देहिनः। तुच्छसत्त्वतया तस्य, यस्तुच्छो मुक्तिरस्य न॥216॥
अत्रोदाहरणं बालः पुमान् तुच्छोऽबलाभवः। अतो न निर्वृतिस्तत्र प्रयोगममुमाह सः॥217॥
देवसूरिरथाह स्मासिद्धं धर्म्मविशेषणम्। स्त्रीभवे निर्वृतिं प्राप भरुदेवाऽऽगमे मतम्॥218॥
तवाप्रसिद्धमेतच्चेदनेकान्तं ततः पठ। तस्य मार्गमतिक्रम्य दुर्नयो ह्यवधारणम्॥219॥
तथा हेतुश्च ते दूष्योऽनैकान्तिकतया मतः। स्त्रियोऽपि यन्महासत्त्वाः प्रत्यक्षगमवीक्षिताः॥220॥

सीताद्या आगमेऽध्यक्षं पुनः साक्षान्महीपतेः। माता श्रीमयणल्लाख्या सत्त्वधर्मैकशेविधिः॥221॥
 तथा व्याप्तिरलीकयं प्रतिव्याप्ते प्रद्वौकनात्। याः स्त्रियस्ता ध्रुवं तुच्छः नैतत् तत्सत्त्वदर्शनात्॥222॥
 तथा तद्दर्शनात् तत्रोदाहृतिश्चापि दूषिता। बालं पुंसामभिज्ञानावतिमुक्तकसाधुवत्॥223॥
 तथास्योपनयोऽसिद्धः प्राक् सिद्धान्तात् सदूषणात्। ततो निगमनं दूष्यं प्रत्यनुमानसम्भवात्॥224॥
 अनूद्य दूषयित्वैवं परपक्षमथ स्वकम्। पक्षं देवगुरुः प्राह स्त्रीभवेष्वथ निर्वृतिः॥225॥
 प्राणिनः सत्त्ववैशिष्ट्यात् स्त्रियः सत्त्वाधिका मया। दृष्ट्या कुन्ती-सुभद्राद्या अथोदाहृतिरागमे॥226॥
 महासत्त्वाः स्त्रियः सन्ति मोक्षं गच्छन्ति निश्चितम्। इत्युक्त्वा विरते देवगुरावाशाम्बरोऽवदत्॥227॥
 पुनः पठ ततोऽवाचि तत्राप्यनवधारिते। त्रिरप्याह कृते नैवमबुद्ध्वा तमदूषयत्॥228॥
 प्रतिवाद्याह वाच्यस्यामबोधः प्रकटोत्तरम्। दिग्वासाः प्राह जल्पोऽयं कटित्रे लिख्यतामिह॥229॥
महर्षिः प्राह संपूर्णां वादमुद्राऽत्र दृश्यते। दिगम्बरो जितः श्वेताम्बरो विजयमाप च॥230॥
 एवं चानुमते राज्ञा प्रयोगं केशवोऽलिखत्। बुद्ध्वा च दूषिते तत्र देवसूरिस्तथाऽवदत्॥231॥
 अनूद्य दूषणं भित्त्वा स्वपक्षं स्थापयन्निह। कोटाकोटीति शब्दं स प्रयुयोज विदूषणम्॥232॥
 अपशब्दोऽयमित्युक्ते वादिना पार्षदेश्वरः। उत्साहः प्राह शुद्धोऽयं शब्दः पाणिनिसूचितः॥233॥
 उक्तं च-

कोटाकोटिः कोटिकोटिः कोटीकोटिरिति त्रयः।

शब्दाः साधुतया हन्त संमताः पाणिनेरमी॥234॥

इत्थं निरनुयोज्यानुयोगो निग्रहभूमिका। तवैवैषा समायाता व्यावर्त्तस्व ततो ग्रहात्॥235॥
 अशक्नुवन्निति प्रत्युत्तरे देवगुरोस्ततः। सवैलक्ष्यमथाहस्मानुत्तरः स दिगम्बरः॥236॥
 महाराज! महान् वादी देवाचार्यः किमुच्यते। राजाह वद निस्तन्द्रः कथयिष्यामि विस्मृतम्॥237॥
 अवदत्यन्यसभ्यैश्च हारिताला प्रपातिता। सम्बन्धकविधिं भूप आदिशन्निजपूरुषैः॥238॥
 जयपत्रं प्रसादेन देवसूरेर्ददौ नृपः। ततोऽवादीद् गुरुस्तं च किमप्याचक्ष्महे वचः॥239॥
 शास्त्रीयवादमुद्रायां निग्रहो यत्परराजयः। तद्वादिनस्तिरस्कारः कोऽपि नैव विरच्यताम्॥240॥
 राजाह भवतां वाग्भिरिदमप्यस्तु किं पुनः। आडम्बरापहारेण दर्शनिस्त्वमवाप्यताम्॥241॥
 एवं कृते तदा वज्रागलाख्या सिद्धयोगिनी। श्रीमत्कामाख्यया देव्या प्रहिता साययौ रवात्॥242॥
 भूयास्त्वमक्षयस्कन्धः सिद्धाधीश! तथा सुहृत्। तथा श्रीदेवसूरिश्चाशिषेत्यभिननन्द तौ॥243॥
 मषीकूर्चकमालीय भाले न्यस्तो दिगम्बरः। ततः सा पश्यतामेव निश्चक्राम नभोध्वना॥244॥
 तुष्टिदाने ततो लक्षं द्रव्यस्य मनुजाधिपः। ददन्यषेधि निग्रन्थेश्वरेणास्पृहताजुषा॥245॥
 गणगन्धर्वसिद्धादिदेवैः पूर्वमनीक्षितः। राजादेशात् प्रवेशस्य सोऽवर्त्यत महोत्सवः॥246॥
 समस्ततूर्यनिर्घोषपूर्वं संगीतमंगलैः। कुलांगनाकृतैः सूरिर्वसतां प्रविवेश सः॥247॥
 राजवैतालिकस्तत्र तारस्वरत आशिषम्। ददौ सदैचित्तीकृत्यविदं देवगुरुं प्रति॥248॥

सन्तोषं स्फारनिःकिञ्चनजनवचनैरावृतं प्रेक्ष्य नव्यं

कामो हिंसादिकेभ्योऽप्यवगणिततमःशत्रुपक्षे शमादी।

आदिष्टो यस्य चेतो नृपतिपरिभवात् पुण्यपण्यं प्रवेश्य

प्रायासीद् वालावित्वा शुचिमतिवहिकां देवसूरिः स नन्द्यात्॥249॥

श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानशब्दानुशासने। सूत्रधारः प्रभुः श्रीमान् हेमचन्द्रप्रभुर्जगौ॥250॥

तथा हि-

यदि नाम कुमुदचन्द्रं नाजेष्यत् देवसूरिरहिमरुचिः।

कटिपरिधानमथास्थत कतमः श्वेताम्बरो जगति॥251॥

श्रीचन्द्रसूरयस्तत्र सिद्धान्तस्येव मूर्तयः। शासनोद्धारकूर्मायाशासन् श्रीदेवसूरये॥252॥

11. श्रीमदेवगुरौ सिंहासनस्थे सति भास्वति। प्रतिष्ठायां न लग्नानि वृत्तानि महतामपि॥253॥
तदा गच्छस्य संघस्य समस्तस्य विभावरी। विभावरीयसी चैषा विनिद्रत्वात् क्षणादगात्॥254॥
प्रातश्च प्रत्युपेक्षायामुपधिं साधवस्तदा। अपश्यन् खण्डशश्चूर्णीकृतामाखुभिरुद्भटैः॥255॥
प्रवर्तकेन विज्ञप्ते गुरुणां ते व्यचिन्तयन्। दिग्वासाः स्वसमं वेषं ममापि हि चिकीर्षति॥256॥
तत्र प्रतिविधौ शक्तिर्मम पूज्यप्रसादतः। सौवीरपूर्ण आनायि कुम्भो यतित एकतः॥257॥
गलपिण्डनतः कण्ठं तस्य बद्ध्वाऽन्तराऽभुचन्। अभिमन्य ततः साधूनाह सर्वत्र साहसो॥258॥
खेदं कमपि मा कार्ष्णवन्तः कौतुकं महत्। समीक्षत यदेतेषां भावि दुर्विनये फलम्॥259॥
पादोनप्रहरे श्राद्धा नग्नस्याजग्मुरानताः। प्रसादाद् गुरुमस्माकं मुञ्चैनमिति भाषिणः॥260॥
मद्वन्धोः का भवेद् बाधा न जानीमो वयं ननु। अज्ञानदग्धतः सर्वप्रकारैस्ते निषेधिताः॥261॥
सार्द्धयामे च संपूर्णं नग्नाचार्यस्तदागमत्। नग्नाचार्य इवाहार्यः प्रशंसां प्रकटं दधत्॥262॥
आश्लिष्याद्भासने सूरिरुपावेशयदत्र तम्। धातः। का तव पीडाऽस्ति ममाज्ञातमिदं ध्रुवम्॥263॥
स प्राह छिन्धि मा त्वं मां भव मा दीर्घरोषभूः। विमोचय निरोधं मे तन्निरोधे मृतिर्ध्रुवम्॥264॥
तस्यैतद् वचनं दीनं श्रुत्वाऽवददसौ प्रभुः। भवान् सपरिवारोऽपि यातु मे वसतेर्बहिः॥265॥
तदादेशेन ते द्वारे स्थिता आध्याततुन्दकाः। लुलाया इव संपूर्णतिम्यदंगास्तदा बभुः॥266॥
साधोः पार्श्वात् समानाय्य कुम्भं सौवीरपूरितम्। आच्छोटयन्मुखं तेषां सज्जते मुत्कलः श्रवः॥267॥
अनिरोधे निरोधे सत्यसपत्राकृताश्च ते। नृजलस्य प्रवाहेण जनः सर्वोऽपि विस्मितः॥268॥
अर्हितोऽपि भृशं शोकतप्तस्तस्मात् पराभवात्। ययौ कुमुदचन्द्रोऽयमदृश्यत्वममास्विव॥269॥
तुष्टिदानं ददानस्य राज्ञः सूरैरगृह्यतः। आशुकोऽब्दे गते मन्त्री राज्यारामशुकोऽब्रवीत्॥270॥
देवैषां निःस्पृहाणां न धनेच्छा तज्जिनालयः। विधाप्यते यथामीषां पुण्यं तव च वर्धते॥271॥
भवत्वेवं नृपप्रोक्ते मन्त्री चैत्यमकारयत्। स्वेन तेनेतरेणापि स्वाभिनाऽनुमतेन सः॥272॥
दिनस्तोकं च संपूर्णः प्रासादोऽभ्रलिहो महान्। मेरुचूलोपमः स्वर्णरत्नकुम्भध्वजालिभिः॥273॥
श्रीनाभेयविभोर्बिम्बं पित्तलामयमद्भुतम्। दृशामगोचरं रोचिःपूरतः सूर्यबिम्बवत्॥274॥

अनलाष्टशिवे वर्षे (1183) वैशाखद्वादशीनिशि।

प्रतिष्ठा विदधे तत्र चतुर्भिः सूरिभिस्तदा॥275॥

एवं प्रभावनापूरप्लाविते धर्मिणां हृदि। क्षेत्रे वपन् बोधिबीजं चिरं च व्यहरत् प्रभुः॥276॥

12. अन्यदा व्रजतोऽरण्ये नाम्ना पिप्पलवाटके। शार्दूलं गुरुशार्दूलो रेखया स न्यषेधयत्॥277॥
बालवृद्धाकुलो गच्छे विहारे प्रान्तरावनौ। क्षुधादिबाधया तत्र क्लिष्टो दुःप्रतिकारया॥278॥
तदीयचिन्तामात्रेण सार्धेऽकस्मादुपागते। प्रासुकैर्भक्तपानैस्तद्भव्यास्तं प्रत्यलाभयन्॥279॥-युग्मम्।
स्याद्वादपूर्वकं रत्नाकरं स्वादुवचोऽभूतम्। प्रमेयशतरत्नाढ्यममुक्तं स किल श्रिया॥280॥
पीतान् दृष्ट्वा पुरा कुम्भोद्भवेनाम्भोनिधीनिह। परवादिघटोद्भूतशतागम्यं व्यथान्वमम्॥281॥-युग्मम्।

इति श्रीदेवसूरीणामसंख्यातिशयस्पृशाम्। वर्षाणां त्र्यधिकाशीतिरत्यक्रामदत्तन्द्रिणाम्॥282॥
श्रीभद्रेश्वरसूरीणां गच्छभारं समर्प्य ते। जैनप्रभावनास्थेमनिस्तुषश्रेयसि स्थिताः॥283॥

रसयुग्मरवौ वर्षे (1226) श्रावणे मासि संगते।

कृष्णपक्षस्य सप्तम्यामपराह्णे गुरोर्विने॥284॥

मर्त्यलोकस्थितं लोकं प्रतिबोध्य पुरंदरम्।

बोधका इव ते जग्मुर्विव श्रीदेवसूरयः॥285॥-त्रिभिर्विशेषकम्।

शिखिवेदशिवे (1143) जन्म दीक्षा युग्मशरेश्वरे (1152)

वेदाश्चशंकरे वर्षे (1174) सूरित्वमभवत् प्रभोः॥286॥

नवमे वत्सरे दीक्षा एकविंशत्तमे तथा। सूरित्वं सकलायुश्च त्र्यशीतिवत्सरा अभूत्॥287॥

इत्थं श्रीदेवसूरेश्चरितमधरितक्षुद्रवादिप्रवादं

नावं वर्द्धिष्णु जैनप्रवचनभविनां सत्त्वमुक्तैरसेव्यम्।

श्रेष्ठश्रेयःप्रदं तद् भवतु भवभृतामद्य काले भवानां

नन्दादाचन्द्रकालं विबुधजनशतैर्नित्यमभ्यस्यमानम्॥288॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रः सूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीदेवसूरेः कथा

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्दुना विशवितः शृंगः कुयुग्मक्रमः॥289॥

अर्थं यच्छति संसृतिस्थितिमतां दुःखापनोदक्षमं

कल्पद्रुमजचिन्तिताश्मनिवहावप्यवभुतं यः प्रभुः।

स श्रीमान् कनकप्रभः कथमयं शक्यो मया वर्णितुं

प्रद्युम्नो यतिनायकश्च समभूद् यन्नाममन्त्रस्मृतेः॥290॥

॥ इति श्रीवादिदेवसूरिप्रबन्धः ॥



श्रीहेमचन्द्रसूरिचरितम्

श्रीहेमचन्द्रसूरीणामपूर्वं वचनामृतम्। जीवातुर्विश्वजीवानां राजचित्तावनिस्थितम्॥१॥
पातकान्तकमातंगस्पर्शदूषणपूषणः। श्रीहेमचन्द्रसूरीणां वाचः स्वर्णोवकद्युतः॥२॥
अनन्तागमविद्याभृन्मृतस्वोज्जीवनस्थितिः। श्रीहेमसूरिरव्याद् वः प्रतिश्रीपादलिप्तकः॥३॥
कृतिसद्वृत्तमुक्तास्त्रगनायकश्चरितं प्रभोः। स्थाप्यतेऽन्तः प्रकाशाय सतां हृदयवेश्मसु॥४॥

1. अस्ति श्रीगूर्जरो देशः क्लेशावेशवियुक्तभूः। पुरुषार्थत्रयश्रीषु स्वर्गोऽपीच्छति यतुलाम्॥५॥
अणहिल्लपुरं नाम कामधुक् प्रणयिव्रजे। अस्ति प्रासादराजीभिर्नगरं नगरंगभूः॥६॥
संक्रन्दनसुपर्वारिद्विजिह्वा यस्य नोपमाम्। सुरासुरोरगाधीशाः प्रापुर्लोकेश्वरा अपि॥७॥
स तत्र वाक्सुधासारसंप्रीणितचकोरकः। राजा सिद्धाधिपः सिद्धाधिपगीतयशा अभूत्॥८॥-युगम्।
सत्पूजाभोगशृंगारप्रभावददृढरंगभूः। बन्धूकमिव धन्धूकं देशे तत्रास्ति सत्पुरम्॥९॥
व्यूढमोढान्वयप्रौढ उदूढमहिमा दृढः। बाढमाढौकयद् दाढ्यं प्रौढिषु प्रौढचेतसाम्॥१०॥
उत्कोचकृतसंकोच उल्लोचः सत्त्वमण्डपे। श्रेष्ठी तत्राभवच्चाचः प्रवाचः पूजयन् सदा॥११॥-युगम्।
गेहिनी पाहिनी तस्य देहिनी भन्दिरेन्दिरा। यस्याः सीता-सुभद्राद्याः सत्यः सत्याः सतीत्वतः॥१२॥
सा स्त्रीचूडामणिश्चिन्तामणिं स्वप्नेऽन्यदैक्षत। दत्तं निजगुरूणां च भक्त्यावेशनिवेशतः॥१३॥
चान्द्रगच्छसरःपद्मं तत्रास्ते मण्डितो गुणैः। प्रद्युम्नसूरिशिष्यः श्रीदेवचन्द्रमुनीश्वरः॥१४॥
आचख्यौ पाहिनी प्रातः स्वप्नमस्वप्नसूचितम्। तत्पुरः स तदर्थं च शास्त्रदृष्टं जगौ गुरुः॥१५॥
जैनशासनपाथोधिकौस्तुभः सभवी सुतः। तव स्तवकृतो यस्य देवा अपि सुवृत्ततः॥१६॥
श्रीवीतरागबिम्बानां प्रतिष्ठादोहदं दधौ। अन्यदा सा स चापूरि सत्पत्या भूरिपुण्यतः॥१७॥
असूत सा च पुण्येऽह्निजितवह्निप्रभं रुचा। मलयाचलचूलेव चन्दनं नन्दनं मुदा॥१८॥
नानाविधध्वनत्तूर्यभरडम्बरिताम्बरैः। वर्द्धापने व्यतीते च द्वादशाहे मुदा तदा॥१९॥
अभिधाविधिमाधित्सुः सनाधीन् भक्तितो निजान्। आहूय व्याहरच्चाचः सदाचरणबन्धुरः॥२०॥
अस्मद्गृहेऽवतीर्णोऽत्र प्रतिष्ठादोहदोऽजनि। एतन्मातुस्तया रम्याः पूजाभिः स्युः सुरा अपि॥२१॥
तच्छृंगदेव इत्यस्य स्थानभूनाम सान्वयम्। विदधे विश्ववस्तूनां यतः सत्यं शुभायतिः॥२२॥

-चतुर्भिः कलापकम्।

क्रमुकैः क्रोडकपूरैः पत्रैः सौरभनिभैः। दत्त्वा नागरखण्डैश्च ताम्बूलं तान् व्यसर्जयत्॥२३॥
वर्द्धमानो वर्द्धमान इवासौ मंगलाश्रयः। शिशुत्वेऽप्यशिशुप्रज्ञः सोऽभूदक्षतदक्षतः॥२४॥
तस्याथ पंचमे वर्षे वर्षीयस इवाभवत्। मतिः सद्गुरुशुश्रूषाविधौ विधुरितैनसः॥२५॥

2. अन्यदा मोढचैत्यान्तः प्रभूणां चैत्यवन्दनम्। कुर्वतां पाहिनी प्रायात् सपुत्रा तत्र पुण्यभूः॥२६॥
सा च प्रदक्षिणां दत्त्वा यावत् कुर्युः स्तुतिं जिने। चंगदेवो निषद्यायां तावन्निविशे द्रुतम्॥२७॥

स्मरसि त्वं महास्वप्नं सकृदालोकयिष्यसि। तस्याभिज्ञानमीक्षस्व स्वयं पुत्रेण यत्कृतम्॥28॥
इत्युक्त्वा गुरुभिः पुत्रः सङ्घनन्दननन्दनः। कल्पवृक्ष इवाप्रार्थि स जनन्याः समीपतः॥29॥
सा प्राह प्रार्थ्यतामस्य पिता युक्तमिदं ननु। ते तदीयाननुज्ञाया भीताः किमपि नाभ्यधुः॥30॥
अलङ्घ्यत्वाद् गुरोर्वाचामाचारस्थितया तया। दूनथापि सुतः स्नेहादाप्यत स्वप्नसंस्मृतेः॥31॥
तमादाय स्तम्भतीर्थे जग्मुः श्रीपाशर्वमन्दिरे। माघे सितचतुर्दश्यां ब्राह्मे धिष्ये शनेर्दिने॥32॥
धिष्ये तथाष्टमे धर्मस्थिते चन्द्रे वृषोपगे। लग्ने बृहस्पतौ शत्रुस्थितयोः सूर्यभौमयोः॥33॥
श्रीमानुदयनस्तस्य दीक्षोत्सवमकारयत्। सोमचन्द्र इति ख्यातं नामास्य गुरवो दधुः॥34॥
संचस्करुः परिस्कारान् प्रजाप्य परमाक्षरैः। आर्हतैस्तेऽर्हमर्हणां तमेकप्रणिधानतः॥35॥
अथैतय मिलिते कोपकलिते कटुभाषिणि। चाचे प्राचेतसाभस्तमयं प्राशमयत् स्वयम्॥36॥
सोमचन्द्रस्ततश्चन्द्रोज्ज्वलप्रज्ञाबलादसौ। तर्क-लक्षण-साहित्यविद्याः पर्यच्छिनद् द्रुतम्॥37॥

3. अन्यदाऽचिन्तयत् पूर्वं परो लक्षपदानुगः। आसीदेकपदात् तस्माद्विगस्मानल्पमेश्वरः॥38॥
तत आराधयिष्यामि देवीं काश्मीरवासिनीम्। चकोरद्विजरोचिष्णुं ज्योत्स्नामिव कलावतः॥39॥
इति व्यज्ञपयत् प्रातः प्रभुं विनयनम्रवाक्। संमुखीनागमं देव्या ध्यात्वा सोऽप्यन्वमन्यत॥40॥
गीतार्थः साधुभिः सार्धं धाम विद्याव्रजस्य च। प्रस्थानं तामलिप्त्याः स ब्राह्मीदेशोपरि व्यधात्॥41॥
श्रीरैवतावतारे च तीर्थे श्रीनेमिनामतः। सार्धं माधुमते तत्रावात्सीदवहितस्थितिः॥42॥
निशीथेऽस्य विनिद्रस्य नासाग्रन्यस्तचक्षुषः। आराधनात् समक्षाऽभूद् ब्राह्मी ब्रह्ममहोनिधेः॥43॥
वत्स स्वच्छमते! यासीन् मा स्म देशान्तरं भवान्। तुष्टा त्वदभक्तिपुष्ट्याऽहं सेत्स्यतीहितमत्र ते॥44॥
इत्युक्त्वा सा विरोधत देवी वाचामधीश्वरी। स्तुत्या तस्या निशां नीत्वा पश्चादागादुपाश्रयम्॥45॥-युगम्।
सिद्धसारस्वतोऽक्लेशात् सोमः सीमा विपश्चिताम्। अभूद्भूमिरुन्निद्रान्तरवैरिकृतद्रुहः॥46॥
प्रभावकधुराधुर्यममुं सूरिपदोचितम्। विज्ञाय संघमामन्त्र्य गुरवोऽमन्त्र्यन्निति॥47॥
योग्यं शिष्यं पदे न्यस्य स्वकार्यं कर्तुमौचिती। अस्मत्पूर्वेऽमुमाचारं सदा विहितपूर्विणः॥48॥
तदैव विज्ञदैवज्ञव्रजाल्लग्नं व्यचारयत्। विमृश्य तेऽथ व्याचक्रुः सर्वोत्तमगुणं क्षणम्॥49॥
जीवः कर्कं तनौ सूर्यो मेषे व्योम्नि बुधान्वितः। चन्द्रो वृषे च लाभस्थो भौमो धनुषि षष्ठगः॥50॥
धर्मस्थाने ज्ञेये शुक्रः शनिरेकादशो वृषे। राहुस्तृतीयः कन्यायां विश्वविघ्नविनाशकः॥51॥
इति सर्वग्रहबलोपेतं लग्नं समृद्धिकृत्। होरा चान्द्री ततः पूर्वा द्रेष्काणं प्रथमस्तथा॥52॥
वर्गोत्तमः शशांकांशो नवमो द्वादशस्तथा। त्रिंशांशो वाक्पतेः षष्ठो लग्नेऽस्मिन् गुणमण्डिते॥53॥
प्रतिष्ठा यस्य जायेत पुरुषस्य सुरस्य च। राज्ञां ज्ञातो जगत्पूज्यः स भवेद् विश्वशेखरः॥45॥-

पंचभिः कुलकम्।

अथ वैशाखमासस्य तृतीयाध्यायेऽहनि। श्रीसंघनगराधीशविहितोत्सवपूर्वकम्॥55॥
मुहूर्ते पूर्वनिर्णीते कृतनन्दीविधिक्रमाः। ध्वनत्सूर्यवोन्मुदमंगलाचारबन्धुरम्॥56॥
शब्दाद्वैतेऽथ विश्रान्ते समये घोषिते सति। पूरकापूरितश्वासकुम्भकोद्भेदमदुराः॥57॥
श्रवणेऽगरुकपूरचन्दनद्रवचर्चिते। कृतिनः सोमचन्द्रस्य निष्ठानिष्ठान्तरात्मनः॥58॥
श्रीगौतमादिसूरीशैलराधितमबाधितम्। श्रीदेवचन्द्रगुरवः सूरिमन्त्रमचीकथन्॥59॥-पंचभिः कुलकम्।
तिरस्कृतकलाकेलिः कलाकेलिकुलाश्रयः। हेमचन्द्रप्रभुः श्रीमान्नाम्ना विख्यातिमाप सः॥60॥
तदा च पाहिनी स्नेहवाहिनी सुत उत्तमे। तत्र चारित्रमादत्ताविहस्ता गुरुहस्ततः॥61॥

प्रवर्तिनीप्रतिष्ठां च दापयामास नम्रगीः। तदैवाभिनवाचार्यो गुरुभ्यः सभ्यसाक्षिकम्॥62॥
सिंहासनासनं तस्या अन्वमानयदेशे च। कटरे जननीभक्तिरुत्तमानां कषोपलः॥63॥

4. श्रीहेमचन्द्रसूरिः श्रीसंघसागरकौस्तुभः। विजहारान्यदा श्रीमदणहिल्लपुरं पुरम्॥64॥
श्रीसिद्धभूभूदन्येद्यु राजपाटिकया चरन्। हेमचन्द्रं प्रभुं वीक्ष्य तदस्थविपणौ स्थितम्॥65॥
निरुध्य टिंबकासने गजप्रसरमकुशात्। किंचिद् भणिष्यतेत्याह प्रोवाच प्रभुरप्यथ॥66॥

कारय प्रसरं सिद्ध! हस्तिराजमशंकितम्।

त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धता यतः॥67॥

श्रुत्वेति भूपतिः प्राह तुष्टिपुष्टः सुधीश्वरः। मथ्याहे मे प्रमोदायागन्तव्यं भवता सदा॥68॥
तत्पूर्वं दर्शनं तस्य जज्ञे कुत्रापि सत्क्षणे। आनन्दमन्दिरे राज्ञा यत्राजयमभूत् प्रभोः॥69॥
अन्यदा सिद्धराजोऽपि जित्वा मालवमण्डलम्। समाजगाम तस्मै चाशिषं दर्शनिनो ददुः॥70॥
तत्र श्रीहेमचन्द्रोऽपि सूरिभूरिकलानिधिः। उवाच काव्यमव्यग्रमतिश्रव्यनिदर्शनम्॥71॥

तथा हि-

भूमिं कामगवि! स्वगोमथरसैरासिञ्च रत्नाकरा!

मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप! त्वं पूर्णकुम्भो भव।

धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्विग्वारणास्तोरेणा-

न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः॥72॥

व्याख्याविभूषिते वृत्ते वृत्ते इव विभोस्ततः। आजुहावावनीपालः सूरिं सौधे पुनः पुनः॥73॥

5. अन्यदाऽवन्तिकोशीयपुस्तकेषु नियुक्तकैः। दर्शयमानेषु भूपेन प्रैक्षि लक्षणपुस्तकम्॥74॥
किमेतदिति पप्रच्छ स्वामी तेऽपि व्यजिज्ञपन्। भोजव्याकरणं ह्येतच्छब्दशास्त्रं प्रवर्तते॥75॥
असौ हि मालवाधीशो विद्वच्चक्रशिरोमणिः। शब्दालंकारदैवज्ञतर्कशास्त्राणि निर्ममे॥76॥
चिकित्सा-राजसिद्धान्त-रस-वास्तूदयानि च। अंक-शाकुनकाध्यात्म-स्वप्न-सामुद्रिकान्यपि॥77॥
ग्रन्थान् निमित्तव्याख्यान-प्रश्नचूडामणीनिह। विवृतिं चायसद्भावेऽर्धकाण्डं मेघमालया॥78॥
भूपालोऽप्यवदत् किं नास्मत्कोशे शास्त्रपद्धतिः। विद्वान् कोऽपि कथं नास्ति देशे विश्वेऽपि गूजरी॥79॥
सर्वे सम्भूय विद्वांसो हेमचन्द्रं व्यलोकयन्। महाभक्त्या च राजाऽसावभ्यर्च्य प्रार्थितः प्रभुः॥80॥
शब्दव्युत्पत्तिकृच्छास्त्रं निर्मायास्मन्मनोरथम्। पूरयस्व महर्षे! त्वं विना त्वामत्र कः प्रभुः॥81॥
संक्षिप्तश्च प्रवृत्तोऽयं समयेऽस्मिन् कलापकः। लक्षणं तत्र निष्पत्तिः शब्दानां नास्ति तादृशी॥82॥
पाणिनिर्लक्षणं वेदस्यांगमित्यत्र च द्विजाः। अवलोपादसूयन्ति कोऽर्थस्तैरुन्मनायितैः॥83॥
यशो मम तव ख्यातिः पुण्यं च मुनिनायक। विश्वलोकोपकाराय कुरु व्याकरणं नवम्॥84॥
इत्याकर्ण्यभ्यघात् सूरिर्हेमचन्द्रः सुधीनिधिः। कार्येषु नः किलोक्तिर्वः स्मारणायैव केवलम्॥85॥
परं व्याकरणान्यष्टौ वर्तन्ते पुस्तकानि च। तेषां श्रीभारतीदेवीकोश एवास्तिता ध्रुवम्॥86॥
आनाययतु काश्मीरदेशात् तानि स्वमानुषैः। महाराजो यथा सम्यक् शब्दशास्त्रं प्रतन्यते॥87॥
इति तस्योक्तिमाकर्ण्य तत्क्षणादेव भूपतिः। प्रधानपुरुषान् प्रैषीद् वाग्देवीदेशमध्यतः॥88॥
प्रवराख्यपुरे तत्र प्राप्तास्ते देवतां गिरम्। वन्दनादिभिरभ्यर्च्य तुष्टुवुः पाठनस्तवैः॥89॥
समादिक्षत् ततस्तुष्टा निजाधिष्ठायकान् गिरा। मम प्रसादवित्तः श्रीहेमचन्द्रः सिताम्बरः॥90॥

ततो मूर्त्यन्तरस्येव मदीयस्यास्य हेतवे। समर्प्य प्रेष्यतां प्रेष्यवर्गः पुस्तकसञ्चयम्॥११॥
 ततः सत्कृत्य तान् सम्यग् भारतीसचिवा नरान्। पुस्तकान्यर्पयामासुः प्रेषुश्चोत्साहपण्डितम्॥१२॥
 अचिरान्नगरं स्वीयं प्रापुर्देवीप्रसादिताः। हर्षप्रकर्षसम्पन्नपुलकांकुरपूरिताः॥१३॥
 सर्वं विज्ञपयामासुर्भूपालाय गिरोदिताः। निष्ठानिष्ठे प्रभौ हेमचन्द्रे तोषमहादरम्॥१४॥
 इत्याकर्ण्य चमत्कारं धारयन् वसुधाधिपः। उवाच धन्यो महेशोऽहं च यत्रेदृशः कृती॥१५॥
 श्रीहेमसूरयोऽप्यत्रालोक्य व्याकरणव्रजम्। शास्त्रं चक्रुर्नवं श्रीमत् सिद्धहैमाख्यमवधुतम्॥१६॥
 द्वात्रिंशत्पादसंपूर्णमष्टाध्यायमुणादिमतम्। धातुपारायणोपेतं रंगल्लिंगानुशासनम्॥१७॥
 सूत्रसङ्गतिमन्नाममालानेकार्थसुन्दरम्। मौलिं लक्षणशास्त्रेषु विश्वविद्वद्भिर्भादृतम्॥१८॥- त्रिमिर्विशेषकम्।
 आदौ विस्तीर्णशास्त्राणि नहि पाठ्यानि सर्वतः। आयुषा सकलेनापि पुमर्थस्खलनानि तत्॥१९॥
 संकीर्णानि च दुर्बोधदोषस्थानानि कानिचित्। एतत् प्रमाणितं तस्माद् विद्वद्भिर्भरधुनातनैः॥१००॥
 श्रीमूलराजप्रभृतिराजपूर्वजभूभृताम्। वर्णवर्णनसम्बद्धं पादान्ते श्लोकमेककम्॥१०१॥
 तच्चतुष्कं च सर्वान्ते श्लोकैस्त्रिंशद्भिर्भरद्भुता। पञ्चाधिकैः प्रशस्तिश्च विहिताऽवहितैस्तदा॥१०२॥-युग्मम्।
 राज्ञः पुरः पुरोगैश्च विद्वद्भिर्भर्वाचितं ततः। चक्रे लक्षत्रयं वर्षे राज्ञा पुस्तकलेखने॥१०३॥
 राजादेशान्नियुक्तैश्च सर्वस्थानेभ्य उद्यतैः। तदा चाहूय सच्चक्रे लेखकानां शतत्रयम्॥१०४॥
 पुस्तकाः समलेख्यन्त सर्वदर्शनिनां ततः। प्रत्येकमेवादीयन्ताध्येतृणामुद्यमस्पृशाम्॥१०५॥-विशेषकम्।

अंग-वंग-कलिंगेषु लाट-कर्णाट-कुंकणे।

महाराष्ट्र-सुराष्ट्राम् वत्से कच्छे च मालवे॥१०६॥

सिंधु-सौवीर-नेपाले पारसीक-मुरंडयोः।

गंगापारे हरिद्वारे काशि-चेदि-गयासु च॥१०७॥

कुरुक्षेत्रे कन्यकुब्जे गौड-श्रीकामरूपयोः।

सपादलक्षवज्जालंधरे च खसमध्यतः॥१०८॥

सिंहलेऽथ महाबोधे चौडे मालव-कैशिके।

इत्यादिविश्वदेशेषु शास्त्रं व्यस्तार्यत स्फुटम्॥१०९॥-चतुर्थिः कलापकम्।

अस्य सोपनिबन्धानां पुस्तकानां च विंशतिः। प्राहीयत नृपेन्द्रेण काश्मीरेषु महादरात्॥११०॥
 एतत्तत्र गतं शास्त्रं स्वीयकोशे निवेशितम्। सर्वो निर्वाहयेत् स्वेनादृतं देव्यास्तु का कथा॥१११॥
 काकलो नाम कायस्थकुलकल्याणशेखरः। अष्टव्याकरणाध्येता प्रज्ञाविजितभोगिराट्॥११२॥
 प्रभुस्तं दृष्टमात्रेण ज्ञाततत्त्वार्थमस्य च। शास्त्रस्य ज्ञापकं चाशु विदधेऽध्यापकं तदा॥११३॥
 प्रतिमासं स च ज्ञानपञ्चम्यां पृच्छन् दधौ। राजा च तत्र निर्व्यूढान् कंकणैः समभूषयत्॥११४॥
 निष्पन्ना अत्र शास्त्रे च दुकूलस्वर्णभूषणैः। सुखासनातपत्रैश्च ते भूपालेन योजिताः॥११५॥

6. अन्यदा सत्प्रभोस्तस्य सभाया स्वःपतेरिव। विबुधव्रातरोचिन्यामेकश्चारण आययौ॥११६॥
 अवज्ञया न कोऽप्यत्र संमुखं तस्य वीक्षते। रत्नेषु वीक्ष्यमाणेषु जरत्तृणमणेरिव॥११७॥
 अथ चासावपभ्रशादपाठीद् दोहकं वरम्। तत्पुण्यदोहदं ब्राह्मीप्रसादं प्रकटं ननु॥११८॥

तथा हि-

हेमसूरि अत्थाणि ते ईसर जे पंडिया।

लच्छि-वाणि मुहकाणि सा पड़ भागी मुह मरड॥११९॥

तारमुक्तेऽस्य पूर्वाहौ नाम्ना पूज्यप्रजल्पनात्। अवज्ञाकृतिनोऽभूवन् सभ्यानां कोपतो दृशः॥120॥
 माज्जिष्ठाः सावधानेषु तेषु तस्य पदत्रयम्। उवाच चारणस्तच्च श्रुत्वा ते पुलकं दधुः॥121॥-युग्मम्।
 अचिन्तयंश्च वाण्यस्य चमत्कारकृदुनता। बुधस्य हि स्थितिर्यत्र तत्र स्यान्महिमा गुरुः॥122॥
 ऊचुर्मुदा ते सम्भूय पुनः पठ पुनः पठ। पठिते प्रभवोऽवोचन्निःक्षोभस्त्रिः पुनः पठ॥123॥
 चतुःकृत्वोऽपि पाठे तु मते कृतिभिरादरात्। कोपाभासमिवाबिभ्रद् विचाराच्चारणोऽवदत्॥124॥
 यूयं यथेष्टदातारो यदि तत्त्वानुमानतः। गुह्याम्यहं गुरुं भारं वाहीक इव दुर्वहम्॥125॥
 त्रिःपाठे दोहकस्यास्य यल्लब्धं तेन मे धृतिः। नैवाधिकेन कार्यं मे प्रत्युताहितहृद्गुहा॥126॥
 तस्यायुतत्रयं पूज्याः सभ्यपार्श्वदिदापयन्। स ऊचे मे धनं पूर्णमासप्तपुरुषावधि॥127॥
 अहं प्रतिग्रहं गृह्णे न चातोऽभ्यधिकं किल। इत्युक्त्वा प्रययौ सोऽथ प्रदेशं स्वसमीहितम्॥128॥

7. राज्ञा श्रीसिद्धराजेनान्यदाऽनुयुयुजे प्रभुः। भवतां कोऽस्ति पट्टस्य योग्यः शिष्यो गुणाधिकः॥129॥
 तमस्माकं दर्शयत चित्तोत्कर्षाय मामिव। अपुत्रमनुकम्पार्हं पूर्वं त्वां मा स्म शोचयन्॥130॥
 आह श्रीहेमचन्द्रश्च न कोऽप्येवं हि चिन्तकः। आद्योऽप्यभूदिलापालः सत्पात्राम्भोधिचन्द्रमाः॥131॥
 सज्ज्ञानमहिमस्थैर्यं मुनीनां किं न जायते। कल्पद्रुमसमे राज्ञि त्वयीदृशि कृतस्थितौ॥132॥
 अस्त्यामुष्यायणो रामचन्द्राख्यः कृतिशेखरः। प्राप्तेरेखः प्राप्तरूपः संघे विश्वकलानिधिः॥133॥
 अन्यदाऽदर्शयंस्तेऽमुं क्षितिपस्य स्तुतिं च सः। अनुक्तामाद्यविद्वद्भिर्हल्लेखाधायिनीं व्यधात्॥134॥

तथा हि-

मात्रयाऽप्यधिकं किञ्चिन् सहन्ते जिगीववः।

इतीव त्वं धरानाथ! धारानाथमपाकृधाः॥135॥

शिरोधूननपूर्वं च भूपालोऽत्र दृशं दधौ। रामे वामेतराचारो विदुषां महिमस्पृशाम्॥136॥
 एकदृष्टिर्भवान् भूयाद् वत्स! जैनेन्द्रशासनं। महापुण्योऽयमाचार्यो यस्य त्वं पदरक्षकः॥137॥
 इत्युक्त्वा विरते राज्ञि रामस्यादुष्यदेककम्। नेत्रं दृष्टिर्हि दुर्मृष्या सुकृतातिशयस्पृशाम्॥138॥
 उपाश्रयाश्रितस्यास्य महापीडापुरःसरम्। व्यनशद् दक्षिणं चक्षुर्न रत्नमनुपद्रवम्॥139॥
 कर्मप्रामाण्यमालोच्य ते शीतीभूतचेतसः। स्थितास्तत्र चतुर्मासीमासीनास्तपसि स्थिरे॥140॥

8. चतुर्मुखाख्यजैनेन्द्रालये व्याख्यानमद्भुतम्। श्रीनेमिचरितस्यामी श्रीसंध्याप्रे प्रतुष्टुवुः॥141॥
 सुधासारवचः स्तोमाकृष्टमानसवासनाः। शुश्रूषवः समायान्ति तत्र दर्शनिनोऽखिलाः॥142॥
 पाण्डवानां परिक्रज्याव्याख्याने विहितेऽन्यदा। ब्राह्मणा मत्सराध्माता व्याचख्युर्नृपतेरिदम्॥143॥
 स्वामिन्! पुरा महाव्यासः कृष्णद्वैपायनोऽवदत्। वृत्तं युधिष्ठिरादीनां भविष्यज्ज्ञानतोऽद्भुतम्॥144॥
 तत्रेदमुच्यते स्वायुःप्रान्ते पाण्डोः सुता अमी। हिमानीमहिते जग्मुर्हिमवद्भूधराध्वनिः॥145॥
 श्रीकेदारस्थितं शम्भुं स्नानपूजनपूर्वकम्। आराध्य परमाभक्तिस्वान्ताः स्वान्तमसाधयन्॥146॥-युग्मम्
 अमी श्वेताम्बराः शूद्रा विदुतस्मृतिसूक्तयः। तदुक्तवैपरीत्यानि जल्पन्ति निजपर्वदि॥147॥
 अनौचित्यकृताचारात् पुरे तेऽरिष्टमित्यदः। भूभृता रक्षणीयाश्च दुराचाराः प्रजाकृताः॥148॥
 विचार्य हृदि कार्याणि विचारक! विधेहि तत्। इत्युक्त्वा विरामासौ द्विजव्यूहोऽतिधीरगीः॥149॥
 राजाप्याह न भूपाला अबिभृशय विधाथिनः। दर्शनानां तिरस्कारमविचार्य न कुर्वते॥150॥
 अनुयोज्या अमी चात्र दद्युश्चेत् सत्यमुत्तरम्। तन्मे गौरविता एव न्याय एवात्र नः सुहृत्॥151॥

हेमाचार्योऽपि निर्ग्रन्थः संगत्यागी महामुनिः। असूनृतं कथं ब्रूयाद् विचार्य तदिदं बहु॥152॥
 एवं भवत्विति प्रोचुः प्रवीणा ब्राह्मणा अपि। आजुहाव ततो राजा हेमचन्द्रं मुनीश्वरम्॥153॥
 अपृच्छदथ माध्यस्थ्यात् सर्वसाधारणो नृपः। शास्त्रे चार्हती दीक्षा किं गृहीता पाण्डवैः किमु॥154॥
 सूरिरप्याह शास्त्रे न इत्युच्ये पूर्वसूरिभिः। हेमाद्रिगमनं तेषां महाभारत—मध्यतः॥155॥
 परमेतन्न जानीमो ये न (नः?) शास्त्रेषु वर्णिताः। त एव व्यासशास्त्रेऽपि कीर्त्यन्तेऽथ परेऽपरे॥156॥
 राजाह तेऽपि बहवः पूर्वं जाताः कथं मुनेः। अथावोचद् गुरुस्तत्र श्रूयतामुत्तरं नृपः॥157॥
 व्याससन्दर्भिताख्याने श्रीगांगेयः पितामहः। युद्धप्रवेशकालेऽसावुवाच स्वं परिच्छदम्॥158॥
 मम प्राणपरित्यागे तत्र सस्क्रियतां तनुः। न यत्र कोऽपि दग्धः प्राग् भूमिखण्डे सदा शुचौ॥159॥
 विधाय न्याय्यसंग्रामं मुक्तप्राणे पितामहे। विमृश्य तद्वचस्तेऽङ्गमुत्पाद्यास्य ययुर्गिरौ॥160॥
 अमानुषप्रचारे च शृंगे कुत्रापि चोन्नते। अमुञ्चन् देवतावाणी क्वापि तत्रोद्ययौ तदा॥161॥
 तथा हि—

अत्र भीष्मशतं दग्धं पाण्डवानां शतत्रयम्।

द्रोणाचार्यसहस्रं तु कर्णसंख्या न विद्यते॥162॥

एतद् वयमिहाकर्ण्य व्यमुशाम स्वचेतसि। बहूनां मध्यतः केऽपि चेद् भवेयुर्जिनाश्रिताः॥163॥
 गिरौ शत्रुञ्जये तेषां प्रत्यक्षाः सन्ति मूर्तयः। श्रीनासिक्यपुरे सन्ति श्रीमच्चन्द्रप्रभालये॥164॥
 केदारे च महातीर्थे कोऽपि कुत्रापि तद्रतः। बहूनां मध्यतो धर्मं तत्र ज्ञानं न नः स्फुटम्॥165॥
 स्मार्त्ता अप्यनुयुज्यन्तां वेदविद्याविशारदाः। ज्ञानं कुत्रापि चेद् गंगा नहि कस्यापि पैतृकी॥166॥
 राजा श्रुत्वाह तत्सत्यं वक्ति जैनधिरिष यत्। अत्र ब्रूतोत्तरं तथ्यं यद्यस्ति भवतां मते॥167॥
 अत्र कार्य्यं हि युष्माभिरेकं तथ्यं वचो ननु। अजल्पि यद्विचार्य्यैव कार्य्यं कार्य्य क्षमाभूता॥168॥
 तथाहमेव कार्य्येऽत्र दृष्टान्तः समदर्शनः। समस्तदेवप्रासादसमूहस्य विधापनात्॥169॥
 उत्तरानुदयात् तत्र मौनमाशिश्रियंस्तदा। स्वभावो जगतो नैव हेतुः कश्चिन्निरर्थकः॥170॥
 राजा सत्कृत्य सूरिश्चाभाष्यत स्वागमोदितम्। व्याख्यानं कुर्वतां सम्यग् दूषणं नास्ति वोऽण्वपि॥171॥
 भूपेन सत्कृतश्चैवं हेमचन्द्रप्रभुस्तदा। श्रीजैनशासनव्योम्नि प्रचकाशे गभस्तिवत्॥172॥

9. राज्ञः सौवस्तिकोऽन्येद्युराभिगाख्यो वृथा रुषम्। वहन् जजल्प सूरिं तं निविष्टं राजपर्वदि॥173॥
 धर्मे वः शमकारुण्यशोभिते न्यूनमेककम्। व्याख्याने कृतशृंगारास्त्रिय आयान्ति सर्वदा॥174॥
 भवन्निमित्तमकृतं प्रासुकं ददते च ताः। विकारसारमाहारं तदब्रह्म क्व स्थितं हि वः॥175॥

यतः—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो ये चाख्युपत्राशना-

स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।

आहारं सुदृढं पुनर्बलकरं ये भुञ्जते मानवा-

स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यः प्लवेत् सागरे॥176॥

अथ सूरिरुवाचात्र नेदं विद्वज्जनोचितम्। अविमर्शपुरस्कारं वचः शुचि पुरोहितः॥177॥
 यतो विचित्रा विश्वेऽस्मिन् प्राणिनां चित्तवृत्तयः। पशूनामपि चैतन्यवतां नृणां तु किं पुनः॥178॥

यतः-

सिंहो बली हरिणशूकरमांसभोजी

सम्बत्सरेण रतिमेति किलैकवारम्।

पारापतः खरशिलाकणभोजनोऽपि

कामी भवत्यनुदिनं वद कोऽयं हेतुः॥179॥

श्रुत्वेति भूपतिः प्राहातिसाहसमिदं नृणाम्। य उत्तराय नालं स्यात् स यद्वदति पर्वदि॥180॥
इति भूपालसन्मान्यो वदान्यः सुकृतार्थिनाम्। श्रीहेमसूरिः सञ्जज्ञे संघोद्धारधुरन्धरः॥181॥

10. अथान्यदा महाविद्वान् श्रीभागवतदर्शनी। देवबोधोद्ययया सांक्रामिकसारस्वतोत्तरः॥182॥
आजगाम धियां धामाणहिल्लपुरमध्यतः। व्यजिज्ञपन्नियुक्ताश्च श्रीसिद्धाधिपतेः पुरः॥183॥
ततः श्रीपालमामय कविराजं नराधिपः। रहो मंत्रयते स्मासौ प्रतिपन्नं सहोदरम्॥184॥
देवबोधो महाविद्वान् द्रष्टव्योऽसौ कथं हि नः। निस्पृहत्वादनागच्छन् सभायां तपसोजितः॥185॥
आत्मदेशे परो विद्वानागतो यत्र पूज्यते। तत् क्षूणमात्मनः केन निवार्यमपकीर्तिकृत्॥186॥
अथाह कविराजोऽपि विद्वानाडम्बरी च यः। स कथं निस्पृहो लक्ष्मीं विना परिकरः कथम्॥187॥
सा विद्वद्बल्लभैर्युष्मादृशैर्भूपैर्भवेदिह। दत्तैव नापरः कश्चिदुपायोऽस्याः समर्जनं॥188॥
परं श्रीभारतीभक्त्यात्यादरः स्वामिनो यदि। तत् सुधर्मासधर्मायां पर्वद्याहूयतामसौ॥189॥
अस्त्वेवमिति राज्ञोक्ते प्रधानपुरुषास्ततः। प्राहीयन्त ततस्तेनाभिहितास्ते मदोद्धतम्॥190॥
आह्वानायागता यूयं मम भूपतिदेशतः। भूपालैः किं हि नः कार्यं स्पृहाविरहितात्मनाम्॥191॥
तथा काशीश्वरं कन्यकुब्जाधीशं समीक्ष्य च। गणयामः कथं स्वल्पदेशं श्रीगूर्जरीश्वरम्॥192॥
परमस्मद्दिदृक्षायै भवतां स्वामिनस्तदा। उपविष्टः क्षितौ सिंहासनस्थं मां स पश्यतु॥193॥
एवं विसर्जितास्ते च यथावृत्तं व्यजिज्ञपन्। कविराजं नृपः प्राह तद्वाचातिचमत्कृतः॥194॥
विना जैनमुनीन् शान्तान् कां न नामावलितधीः। तारतम्याश्रिते ज्ञाने कोऽवकाशो मदस्य तत्॥195॥
द्रष्टव्यमिदमप्यस्य चेष्टितं कौतुकात् ततः। सश्रीपालस्ततो भूपोऽन्यदागच्छत् तदालये॥196॥
सिंहासनस्थमद्राक्षीद् विद्वद्बन्धनिषेवितम्। मृगेन्द्रमिव दुर्घर्षं देवबोधं कवीश्वरम्॥197॥
दृढभक्त्या नमश्चक्रे राजा विनयवामनः। गुणपूर्णं सतां चित्ते नावकाशो मदस्य यत्॥198॥
प्रत्यक्षविश्वरूपं तं विश्वरूपवराशिषा। अतीनन्धावदत् पाणिसञ्ज्ञयाऽदर्शयन् भुवम्॥199॥
अत्रोपविश्यतां राजन्! श्रुत्वेति क्षमापतिस्ततः। श्रीश्रीपालकृतं काव्यमुवाच प्रकटाक्षरम्॥200॥

यतः-

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणा-

मिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये।

इव महिपतिवम्भस्तम्भसंरम्भधीरं

धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम्॥201॥

इत्युक्त्वाऽथ प्रतीहार पटास्तुतधरातले। उपाविशद् विशां नाथः प्रमाथो दोषविद्विषाम्॥202॥
पर्वदोऽनुचितः कोऽयमिति हस्तेन दर्शिते। कविराजे नृपोऽवादीदनादीनवगीर्भरः॥203॥
एकाहविहितस्फीतप्रबन्धोऽयं कृतीश्वरः। कविराज इति ख्यातः श्रीपालो नाम मानभूः॥204॥
श्रीदुर्लभसरोराजस्तथा रुद्रमहालये। अनिर्वाच्यरसैः काव्यैः प्रशस्तीरकरोदसौ॥205॥

महाप्रबंधं चक्रे च वैरोचनपराजयम्। विहस्यः सद्भिन्नयोऽपि नैवास्य तु किमुच्यते॥206॥
श्रुत्वेति स्मितमाधाय वेवबोधकविर्जगौ। काव्यमेकं लसद्गर्वपर्वताधित्यकासमम्॥207॥
तथा हि-

शुक्रः कवित्वमापन्नः एकाक्षिविकलोऽपि सन्।

चक्षुर्द्वयविहीनस्य युक्ता ते कविराजता॥208॥

अतिशीघ्रे तथा गुम्फे भित्त्यन्तःपूर्णाकृतौ। कोऽभिमानस्ततो धीमन्नेकमस्मद्वचः शृणु॥209॥
तद्यथा-

भ्रातर्ग्रामकुविन्द! कन्वलयता वस्त्राण्यमूनि त्वया

गोणीविभ्रमभाजनानि बहुशोऽप्यात्मा किमायास्यते।

अप्येकं रुचिरं चिरावभिनवं वासस्तदासूत्र्यते

यन्नोऽङ्गान्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः॥210॥

समस्यां दुर्गमां काचित् पृच्छतेति नृपोदिते। श्रीपाल ऊचिवानेकं स्फुटं शिखरिणीपदम्॥211॥
तच्च-

‘कुरंगः किं भृंगो मरकतमणिः किं किमशनिः

तत्पाठपृष्ट एवायमवदत् कविनायकः। चरणत्रितयं वृत्ते को विलम्बोऽप्यमूदृशि॥212॥
तद्यथा-

चिरं चित्तोद्याने चरसि च मुखाब्जं पिबसि च

क्षणावेणाक्षीणां विषयविषमुद्रां हरसि च।

नृप! त्वं मानात्रिं वलयसि च किं कौतुककरः

कुरंगः किं भृंगो मरकतमणिः किं किमशनिः॥213॥

गृहाण चैकं मत्पाश्वं किंशब्दं व्यवहारतः। दौस्थ्यं यत्र भवेद् यस्याधमणो न स तत्र किम्॥214॥

निगद्यन्ते समस्याश्चामूदृश्यो विषयार्थकाः। एकपादा द्विपादा च त्रिपदी च बुधोचिता॥215॥

किंशब्दबहलास्त्वेताः शून्यप्रश्ननिभा नृप! सदृक्षा भणितेरस्य निन्द्या संसदि धीमताम्॥216॥

तथा हि-

(1) पौत्रः सोपि पितामहः।

(2) सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

(3) नमः कर्पूरपूराभं, चन्द्रो विद्रुमपाटलः। कज्जलं क्षीरसंकाशं

वाचाऽनुपदमेवासौ ताः पुपूरे कवीश्वरः। सिद्धसारस्वतानां हि विलम्बकविता कुतः॥217॥
ताश्च-

मूर्तिमेकां नमस्यामः शम्भोरम्भोमयीमिमाम्।

अब्जोत्पन्नतया यस्याः 1. पौत्रः सोऽपि पितामहः॥218॥

चलितश्चकितो भीतस्तव देव! प्रयाणके

2. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्॥219॥

3. नभः कर्पूरपूराभं चन्द्रो विद्रुमपाटलः।

कज्जलं क्षीरसंकाशं करिष्यति शनैः शनैः॥220॥

इत्थं गोष्ठ्या महाविद्वन्शिरःकम्पकृता तदा। कियन्तमपि निर्वाह्य क्षणं सौधं ययौ नृपः॥221॥

11. अन्यदा श्रीदेवसूरिजितवादक्षणे मुदा। दत्ते वित्ते नरेन्द्रेण लक्षसंख्ये तदुद्धृते॥222॥
अपरेणापि वित्तेन जैनप्रासाद उन्नते। विधापितेध्वजारोपविधानाख्यमहामहे॥223॥
देवबोधोऽपि सत्पात्रं तत्राहूयत हर्षतः। समायातेन भूपेन धर्मे ते स्युः समा यतः॥224॥
श्रीजयसिंहमेवाख्यमहेशभुवनाग्रतः। आगच्छन् शंकरं दृष्ट्वा शार्दूलपदमातनोत्॥225॥

यतः-

एको रागिषु राजते प्रियतमावेहार्द्धहारी हरो।

श्रीमद्राजविहारेऽसावाययावुत्सवोन्नते। दृष्ट्वाऽर्हन्तं द्वितीयं च पदं प्रणिजगाद सः॥226॥

नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासंगो न यस्मात् परः।

ततस्तत्र महापषत्पार्षद्यान् बुधशंखरान्। सावहेलं समीक्ष्याह स्वज्ञानाशावलिप्लधीः॥227॥

तद्यथा-

दुर्वारस्मरघस्मरोगविषव्यासंगमूढो जनः

शेषः कामविडम्बितो न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः॥228॥

भद्रासने समासीनः शक्तिप्रकटनाकृते। आह भूपं नरं कञ्चिदानाययत पामरम्॥229॥
राज्ञाऽऽदिष्टः प्रतीहारस्तत्क्षणदानयद् द्रुतम्। श्रीसिद्धाधीशकासारात् कञ्चित् कासारवाहकम्॥230॥
भगवानपि पप्रच्छ किं ते परिचयोऽक्षरे। कियानप्यस्ति स प्राह स्वज्ञातिसदृशं वचः॥231॥
स्वामिन्नाजन्म नो शिक्षे 'था जा' इत्यक्षरे विना। रक्ताक्षवाहे रक्ताक्षस्तत्तुच्छास्यगतागतान्॥232॥
उवाच विदुषां नाथो देवबोधस्तदीयके। उत्तमांगे करं न्यस्यामुष्य वाक् श्रूयतां जनैः॥233॥
ततो दत्तावधानेषु सभ्येषु स्थिरधीरगैः। काव्याभ्यासीव महिषीमहामात्योऽब्रवीदिदम्॥234॥

तं नौमि यत्करस्पर्शाद् व्यामोहमलिने हृदि।

सद्यः सम्पद्यते गद्यपद्यबन्धविदग्धता॥235॥

इत्याकर्ण्य सकर्णेषूत्कर्णेष्वतिचमत्कृतेः। द्रव्यलक्षं ददौ सिद्धाधीश्वरोऽस्य कवीशितुः॥236॥

12. आप्राक् तदीयवैरस्यात् श्रीपालोऽपि कृतिप्रभुः। वृत्तान्यन्वेषयत्यस्यासूयागर्भमना मनाक्॥237॥
अन्यदात्यद्भुतं चारैर्भगवच्चरितं किला। महन्निन्द्यमवज्ञेयं सम्यग् विज्ञातमौच्यत॥238॥
अश्रद्धेयं वचः श्रद्धातव्यमस्मत्प्रतीतितः। प्रत्यक्षं यद्दृशा दृष्टमपि सन्देहयेन्मनः॥239॥
वेदगर्भः सोमपीथी दग्ध्वा यजोपवीतकम्। अपिबद् गांगनीरेण प्रातभागवतव्रतः॥240॥
असौ यत्ताश्रमाभासाचारः सारस्वते तटे। निशीथे स्वपरीवारवृतः पिबति वारुणीम्॥241॥
राजा बुधः कविः शूरो गुरुर्वक्त्रः शनैश्वरः। अस्तं प्रयाति वारुण्यासंगी चित्रमयं तु न॥242॥
अथाह कविराजोऽपि सम्भ्रमोद्भ्रान्तलोचनः। कथं हि जाघटीत्येतच्छ्रद्धेयं नापि वीक्ष्य यत्॥243॥
अस्य तुर्याश्रमस्थस्य भोगैर्व्यवहृतैरपि। नार्थस्तद्दर्शनाचारविरुद्धैस्तु किनुच्यते॥244॥
तेऽप्युचुः स्वदृशाऽऽलोक्य वयं ब्रून्मो न चान्यथा। यस्यादिशत तस्याथ वीक्षयामः प्रतिज्ञया॥245॥
श्रीपालोऽप्युचिवान् श्रीमज्जयसिंहनरेशितुः। अद्य दर्शयत श्यामोत्तरार्धे तत्र संगते॥246॥
ओमिलि प्रतिपन्ने च तैर्नृपाग्ने यथातथम्। व्यजिज्ञपदिदं सर्वं सिद्धसारस्वतः कविः॥247॥
इत्याकर्ण्यह भूपालः सत्यं चैन्यम दर्शय। इदं हि न प्रतीयेत साक्षाद्दृष्टमपि स्फुटम्॥248॥

अर्धरात्रे ततो राजापसर्प प्रेक्षिताध्वना। स्रवन्तीसैकतं प्राप दुःप्रापं कातरैर्नरैः॥249॥
वृक्षवल्लीमहागुल्मान्तरितो यावदीक्षते। भूपस्तावद् ददर्शामुमुन्मतानुचराश्रितम्॥250॥
यथेच्छं गीयमानत्वादव्यक्तध्वनिसम्भृतम्। चषकास्यस्फुरन्मद्यप्लुतवक्त्रसखीसखम्॥251॥-युग्मम्।
प्रतीतः सिद्धराजोऽपि दृष्ट्वेदमतिवैशसम्। विचिकित्सां दधौ चित्ते नासाकूणनपूर्वकम्॥252॥
अहो संसारवैचित्र्यं विद्वांसो दर्शनाश्रिताः। इत्थं विलुप्तमर्यादाः कुर्वते कर्म कुत्सितम्॥253॥
इदानीं यद्यहं साक्षादेनं नो जल्पयाम्यथ। प्रातः किमेष मन्येत दुश्चरित्रमिदं ननु॥254॥
इति ध्यायत एवास्य वाणी भूपस्य कर्णयोः। प्राविशत् प्रकटा कोटिं रसप्राप्तातिकेलितः॥255॥
वीक्ष्य प्रान्तदशं स्वेशं तत्तेजः प्रसरोज्ज्वला। विभान्यनु प्रयाति स्म ज्योत्स्ना कटसतीस्थितिः॥256॥
प्रसन्नास्वादमत्यन्तप्रसन्नास्वादमेककम्। विधायाथ निजं स्थानं गम्यतेऽथ विरम्यते॥257॥
इतिस्मृतिमनु क्षमापः प्रकटं वदति स्म तम्। अपि नः संविभागोऽस्तु कः स्वादेषु पराङ्मुखः॥258॥
क्षणं ध्यात्वा समुत्पन्नप्रतिभः प्रोचिवानिति। भवता निधिना भूप! दिष्ट्या वद्धामहे वयम्॥259॥
सौवर्णपात्रमापूर्यर्पितं तेनाथ भूभृता। यावत् समीक्ष्यते तावत् क्षीरपूर्णं व्यलोक्यते॥260॥
पपावथामृतास्वादं व्यमृशद् भूपतिः क्षणम्। इदं दुग्धं नु मह्यं वा शक्त्यापावृत्ततद्रसम्॥261॥
चेत् परावृत्तमस्याहो शक्तिप्रातिभमद्भुतम्। ततो विसृजेऽनेनावसरोऽयं मनीषिणा॥262॥
प्रातर्भूपसभां गत्वा देवबोधस्ततोऽवदत्। आपृच्छ्यसे महाराज! वयं तीर्थयियासवः॥263॥
श्रीसिद्धभूपतिः प्राह भवादृशमुनीश्वराः। देशस्य शान्तिनीरं कः प्रहेष्यति सकर्णकः॥264॥
आह सोऽप्यर्थवादेन कृतं यत्र क्षितीश्वरः। प्रत्येति खलभाषाभिः स्थितिस्तत्र न युज्यते॥265॥
कुलविद्यावयोज्ञानशक्तयश्चेन्नरं नहि। व्यावर्तयन्ति सन्निद्यकर्मभ्यस्तत् परैर्हि किम्॥266॥
देवा देव्यो महामन्त्रा विद्याश्चानेकशो वशे। येषां ताः सिद्धयश्चाष्टौ कल्यास्तेऽर्वाग् जनैर्हि किम्॥267॥
ततो भूपाल! नास्मादुग्योग्या पर्षत् तव स्फुटम्। ईदृग्रामनटग्राम्यसंयोगः सद्दृशोऽस्तु वः॥268॥
साकूतमवदद् भूपः श्रीपालं कविपुंगवम्। शुश्रुवे शमिनो वाक्यं कोपगर्भं ननु त्वया?॥269॥
प्रज्ञाचक्षुः कविर्दध्यौ कार्यसम्मानदण्डितः। भिक्षुरेष क्रियाभ्रष्टः स्रस्तरूपो यथा भवेत्॥270॥
उवाच च महाराजाऽचिन्त्यशक्तिभृतो ह्यमी। महाप्रभावा मुनयो न प्रहेयाः स्वदेशतः॥271॥
नहि द्रव्येण विद्वांस आवर्ज्यन्ते न चादुभिः। परिज्ञातस्वभावा हि सद्भासत्येन केवलम्॥272॥
श्रुत्वा श्रव्यं वचस्तथ्यं स्वशिरो मुनिपादयोः। स्पर्शयित्वा जगौ वाक्यं राजा विनयसम्भृतम्॥273॥
मुनिसद्वृत्तामाहात्म्याद् भूपालाः पालकाः क्षितेः। वासवा इव शोभन्ते तत्र हेतुर्नहीतरः॥274॥
अस्मद्देशान्तरा तिष्ठ क्रियानिष्ठमुनीश्वर!। अर्थिप्रणयभङ्गं हि महात्मानो न कुर्वते॥275॥
इत्थं गिरां भरैः प्रीतोऽवातिष्ठत गुरुस्तदा। तिस्रः समाः समासन्नदारिद्र्यश्च शनैरभूत्॥276॥
तस्य न क्रय-विक्रयव्यवहाराद् धनागमः। राजदत्तं हि भुज्येत तद्विना दौस्थ्यमाययौ॥277॥
सूरेः श्रीहेमचन्द्रस्य विदितं वृत्तमप्यभूत्। श्रीश्रीपालश्च तत्पार्श्वेऽमंत्रयत् तदिदं रहः॥278॥
असौ भिक्षुर्निजाचारभ्रष्टो नष्टक्रियः कुधीः। निष्ठानिष्ठयतिव्यूहादृश्यवक्त्रः कुवृत्तभूः॥279॥
दारिद्र्यराजधानीत्वादिदानीमृणजर्जरः। मदोद्धतमहालोललोलावशविनष्टभूः॥280॥
अधुना सपरीवारो भिक्षया भुक्तिभाक् ततः। दर्शनी दर्शनाचारे स्थापितो निजलक्षणैः॥281॥
सिद्धीनामष्टसंख्यानां षड् ययुस्तस्य सदगुणैः। अणिमा लघिमा च द्वे पोषं प्रापतुर्दभुतम्॥282॥
श्रीसिद्धाधीश्वरं मूर्तं देवेन्द्रमिव तेजसा। सौधमौलिस्थकाकोल इव सिंहासने स्थितः॥283॥

वर्णाश्रमगुरुं भूमावुपदेशयति स्म यः। निर्विवेकस्य तस्यैतन् मान्यावज्ञालताफलम्॥284॥
 मया चाश्रावि तन्मंत्रो यदृणोपद्रवो हि नः। राज्यपूज्यं हेमचन्द्रं विना न प्रतिहन्यते॥285॥
 तदसौ चेत् समायाति पूज्यपाश्वे ततोऽपि न। मान्योऽसौ पतितस्थस्य वक्त्रं कः प्रेक्षते सुधीः॥286॥
 अथोचुर्गुरवो यूयं यज्जल्पत तदेव तत्। एकत्रास्य गुणे नस्तु बहुमानः परत्र नः॥287॥
 दृश्यतेऽनन्यसामान्यं सांक्रामिकगुणोत्तरम्। सारस्वतं न कुत्रापि समयेऽस्मिन्नु विना॥288॥
 ततोऽसौ निर्विषः सर्प इव चेदागमिष्यति। म्लानमानः कुतो धीमान् लभ्याऽनेनापि सत्कृतिः॥289॥
 अथाह कविराजोऽपि गुणमेवेक्षते महान् कृष्णवत् कृष्णमुक्तासुश्वदन्तधवलत्ववत्॥290॥
 स्वाभिप्रायो मया प्रोचे पुनः पूज्यैर्बहुश्रुतैः। यथाविचारं कार्याणि कार्याणि गरिमोचितम्॥291॥
 अन्यदाभिनवग्रन्थगुम्फाकुलमहाकवौ। पट्टिकापट्टसंघातलिख्यमानपदव्रजे॥292॥
 शब्दव्युत्पत्तयेऽन्योन्यं कृतोहापोहबन्धुरे। पुराणकविसन्दृब्ध-दृष्टान्तीकृतशब्दके॥293॥
 ब्रह्मोल्लासनिवासेऽत्र भारतीपितृमन्दिरे। श्रीहेमचन्द्रसूरीणामास्थाने सुस्थकोविदे॥294॥
 क्षुधातुरपरीवारप्रेरितः स परेद्यवि। अपराह्णे समागच्छत् प्रतीहारनिवेदितः॥295॥ -चतुर्भिः कलापकम्।
 अभ्युत्तस्थुश्च ते देवबोधविद्वन्मतल्लिकाम्। मन्त्रौषधिप्रभास्तब्धवह्निवच्छ्रीततेजसम्॥296॥
 स्वागतं स्वागतं विद्वत्कोटीर जगती श्रुतः। कृतपुण्यं दिनं यत्र जातस्त्वं लोचनातिथिः॥297॥
 तदलंक्रियतामद्यार्द्धासनं नः कलानिधेः। संकटेष्वपि निर्व्यूढकलाप्रागल्भ्यभूषितः॥298॥
 श्रुत्वेति देवबोधोऽपि दध्यौ मे मर्म वेत्यसौ। कथनात् कथनातीतकलातो वा न विद्यहः॥299॥
 यथातथा महाविद्वानसौ भाग्यश्रियोजितः। अत्र को मत्सरः स्वच्छे बहुमानः शुभोदयः॥300॥
 समयेऽद्यतने कोऽस्य समानः पुण्य-विद्ययोः। गुणेषु कः प्रतिद्वन्द्वी तस्मात् प्राञ्जलतोचिता॥301॥
 अथोपाविशदेतेनानुमतेऽर्द्धासने कृती। मनसा मन्यमानश्च पुरुरूपां तां सरस्वतीम्॥302॥
 सविस्मयं गिरं प्राह सारसारस्वतोऽज्ज्वलः। पार्श्वपुलकाङ्कूरघनाघनघनप्रभाम्॥303॥
 तथा हि-

पातु वो हेमगोपालः कम्बलं दण्डमुद्धहन्।

षड्वर्शनपशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे॥304॥

व्याधूतशिरसः श्लोकमेनं सामाजिका हृदा। श्रुत्वा सत्यार्थपुष्टिं च तेऽतुलं विस्मयं दधुः॥305॥
 ततः श्रीपालमाकाव्यास्नेहयत् तेन स प्रभुः। आद्यो धर्मो व्रतस्थानां विरोधोपशमः खलु॥306॥
 अस्य वृत्तं ततः श्रीमज्जयसिंहनरेशितुः। ज्ञापयित्वा च तत्पाश्वाद् द्रव्यलक्षमदापयत्॥307॥
 अन्यदर्शनसम्बद्धविद्वत्प्रणतितस्तदा। प्रहीणभाग्यशक्त्यायुः स्थितिं स्वं सुविमृश्य सः॥308॥
 तत्रतत्रनृणो भूत्वा देवबोधो महामतिः। तेन द्रव्येण गङ्गायां गत्वाऽसाधोत् परं भवम्॥309॥-युग्मम्।

13. अन्यदा सिद्धभूपालो निरपत्यतयार्दितः। तीर्थयात्रां प्रचक्रामानुपानत्पादचारतः॥310॥
 हेमचन्द्रप्रभुस्तत्र सहानीयत तेन च। विना चन्द्रमसं किं स्यान्नीलोत्पलमतन्द्रितम्॥311॥
 द्विधा चरणचारेण प्रभुर्गच्छन्नदृश्यत। शनैर्यान् जीवरक्षार्थं मूर्तिमानिव संयमः॥312॥
 अर्थितैर्वाहनारोहे निषिद्धश्चरितस्थितः। किञ्चिद् दूनो जडा यूयमिति तानाह सौहृदात्॥313॥
 प्राकृतेनोत्तरं प्रादाद् यद् वयं निजडा इति। राजा चमत्कृते दध्यावृचेऽसौ सजडा जडाः॥314॥
 वयं तु सुधियः स्वीयमाचारं दधतो ननु। निजडा इत्यहो सूरैर्ध्वनिव्याख्यातिचातुरी॥315॥
 दिनत्रयं न संजग्मुर्नृपस्याध्वनि सोऽपि च। कुपितानिव विज्ञाय सान्त्वनाय तदागमम्॥316॥

प्रतिसीरान्तरस्थानामाचामाम्लेन भुञ्जताम्। तामपावृत्य भूपालोऽपश्यत् तदशने विधिम्॥317॥
अहो जितेन्द्रिया एते किलन्ममन् हि नीरतः। आकृष्य गृह्णते तद् दुश्चरमेतत् तपो भुवम्॥318॥
अज्ञान एव लोकोऽयममून् मिष्टान्नभोजिनः। भक्तेरतिशयाद् भव्यलोकानां वदति भुवम्॥319॥
ध्यात्वेत्याह भवदेहव्यथोच्छेदाय कर्कशम्। नाभक्तेरुक्तमित्यागः पुन्नागः क्षम्यतां मम॥320॥
सूरिः प्राह महाराज! कुर्याद् गीः किं खरा प्रिया। अरक्तद्विष्टवृत्तानां नृपतेर्दुर्गतस्य वा॥321॥

यतः-

भुञ्जीमही वयं भैक्षं जीर्णं वासो वसीमहि।

शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः॥322॥

सम्मान्य तांस्ततो राजा स्थानं सिंहपुराभिधम्। दत्त्वा द्विजेभ्य आरूढः श्रीमच्छत्रुञ्जये गिरौ॥323॥
श्रीयुगादिप्रभुं नत्वा तत्राभ्यर्च्य च भावतः। मेने स्वजन्म भूपालः कृतार्थमतिहर्षभूः॥324॥
ग्रामद्वादशकं तत्र ददौ तीर्थस्य भूमिपः। पूजायै यन्महान्तस्तां स्वानुमानेन कुर्वते॥325॥
ततश्च गिरिमार्गेणाचिराद् रैवतकावलम्। निकषा निकषः पुण्यवतां भर्ता भुवोऽगमत्॥326॥
स प्रादापयदावासान् संकलीग्रामसन्निधौ। गिरिं तत्र स्थितोऽपश्यन्नेत्रामृतरसायनम्॥327॥
तदा श्रीनेमिचैत्यस्य पर्वतोद्भवंभुवि स्थितेः। जीर्णोद्गारे कारिते च श्रीमत्सज्जनमन्त्रिणा॥328॥
प्रासादं धवलं दृष्ट्वा राज्ञा पृष्टः स चाब्रवीत्। तीर्थप्रभावनाहर्षवशसम्फुल्ललोचनः॥329॥
देव! यादवसद्वंशावतंसस्य जिनेशितुः। प्रासादः स्वामिपादानां कृतिरेषा समीक्ष्यते॥330॥-युग्मम्।
नृपतिः प्राह जाने श्रीहेमचन्द्रोपदेशतः। उञ्जयन्तमहातीर्थं श्रीनेमिस्तत्र तीर्थकृत्॥331॥
जगत्पूज्यः कृतिर्मेऽस्तु कथमेषेति संशयः। श्रुत्वेत्यमात्य आह स्मावधानादवधार्यताम्॥332॥
अद्य प्राग् नवमे वर्षे स्वामिनाऽधिकृतः कृतः। आरूढो गिरिं जीर्णमद्राक्षं च जिनालयम्॥333॥
प्रतिवर्षं त्रिलक्षी च व्ययित्वा चैत्यमुद्भूतम्। स्वामिपादैरनुमतं चेत् प्रमाणमिदं न चेत्॥334॥
सप्तविंशतिलक्षांश्च द्रम्मान् गृह्णातु भूपतिः। इत्याकर्ण्य प्रभुः प्राह पुलकोद्भेदेमदुरः॥335॥
कथमुक्तमिदं मन्त्रिन्। तुच्छं द्रव्यादशाश्वतात्। वपुः स्थिरं ममःकार्षीः पुण्यं कीर्तिमयं महत्॥336॥
त्वत्समः स्वजनः कोऽस्ति ममेह-परलोकयोः। सखा विषीद मा तस्मादस्मिन्नारुह्यते ततः॥337॥
वचोऽनुपदमीशश्चाधित्यकायां ययौ गिरिः। मण्डपे शुद्धमेदिन्यां स्थित्वाऽष्टाङ्गं नतो जिनम्॥338॥
पीठेष्वानीयमानेषु न्यवारयत तं जनम्। तीर्थेऽत्र नोपवेष्टव्यं परेणाप्यासनादिके॥339॥
स्वापस्तल्पे विधेयो न भुक्तौ नाङ्गनिका तथा। स्त्रीसंगः सूतिकर्मपि न दध्नीऽथ विलोडनम्॥340॥
इत्यादि सिद्धमर्यादा वर्ततेऽद्यापि शाश्वती। ततोऽभ्यर्च्य जिनं स्वर्णरत्नपुष्पोत्करैर्वैः॥341॥
ततोऽम्बाशिखरं गत्वा तां सम्पूज्य ननाम च। अवलोकनं शृङ्गं चारूढो स तु कौतुकी॥342॥
तत्र श्रीनेमिनाथं च नत्वा भक्तिभरानतः। दिशोऽवलोकयामास तत ऊचे स चारणः॥343॥

यतः-

मङ्गं नायं सीधेस जं चडिउ गिरनारसिरि।

लईआ च्यारु देस अलयउं जोअइ कर्णऊत्र॥344॥

पर्वतादवतीर्याथ श्रीसोमेश्वरपत्तनम्। ययौ श्रीहेमचन्द्रेण सहितश्च शिवालयम्॥345॥
सूरिश्च तुष्टुवं तत्र परमात्मस्वरूपतः। ननाम चाविरोधो हि मुक्तेः परमकारणम्॥346॥

तथा हि-

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तथा।

वीतदोषकलुषः स चेद् भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते॥३४७॥

महादानानि दत्त्वा च पूजाश्च महिमाद्भुताः। व्यावृत्तः कोटिनगरं प्रापदम्बिकयादृतम्॥३४८॥
अपत्यचिन्तयाऽऽक्रान्तोऽम्बिकामाराधयत् ततः। श्रीहेमसूरिभिर्ब्रह्ममूलावासैरिहादरात्॥३४९॥
उपोष्य त्रिदिनीं ते चाह्वयंस्तां शासनामरीम्। प्रत्यक्षीभूय साऽप्याह शृणु वाचं मुने! मम॥३५०॥
नास्यास्ति सन्ततेर्भाग्यं जीवोऽपीदृग् न पुण्यभूः। समयेऽत्र कुमारस्य भूपभ्रातृसुतस्य च॥३५१॥
स भावी भूपतिः पुण्यप्रतापमहिमोर्जितः। राज्यान्तराणि जेतासौ भोक्ता च परमार्हतः॥३५२॥
अणहिल्लपुरं प्रायादनायासोत्सवोदयम्। अन्तर्दूनः सुताभावप्रजापीडनशङ्कितः॥३५३॥

14. इतः श्रीकर्णभूपालबन्धुः क्षत्रशिरोमणिः। वेवप्रसाव इत्यासीत् प्रासाद इव सम्पदाम्॥३५४॥
तत्पुत्रः श्रीत्रिभुवनपालः पालितसद्व्रतः। कुमारपालस्तत्पुत्रो राज्यलक्षणलक्षितः॥३५५॥
अथ श्रीसिद्धभूमिशः पुत्राशाभंगदुर्मनाः। आह्वययतं दैवज्ञानं परमज्ञानिसंनिभान्॥३५६॥
ग्रहवारायसद्भाव-प्रश्नचूडामणिक्रमैः। केवलीभिश्च संवाद्य तेऽप्याचख्युः प्रभोः पुरः॥३५७॥
स्वामिन्! कुमारपालोऽसौ युष्मद्बन्धुसुतो ध्रुवम्। अलंकरिष्यते राज्यमनुत्वा न चलेदिदम्॥३५८॥
प्रतापाक्रान्तदिक्कक्रोऽनेकभूपालजित्वरः। भविष्यति पुनस्तस्य पश्चाद् राज्यं विनश्यति॥३५९॥
श्रुत्वेति भूपतिर्भाव्यं भवतीति विदन्मपि। तत्र द्वेषं परं वोढा वधेच्छुरभवत् ततः॥३६०॥
कथंचिदिति स ज्ञात्वाऽपसृत्य शिवदर्शने। जटामुकुटवान् भस्मोद्भूलनः सत्तपो दधे॥३६१॥
विज्ञप्तमन्यदा चारैर्जटाधरशतत्रयम्। अभ्यागादस्ति तन्मध्ये भ्रातृपुत्रो भवद्विपुः॥३६२॥
भोजनाय निमन्त्र्यन्ते ते सर्वेऽपि तपोधनाः। पादयोर्यस्य पद्मानि ध्वजश्छत्रं स ते द्विषन्॥३६३॥
श्रुत्वेत्याह्वय्य तान् राजा तेषां प्राक्षालयत् स्वयम्। चरणौ भविततो यावत् तस्याप्यवसरोऽभवत्॥३६४॥
पद्मेषु दृश्यमानेषु पदयोर्दृष्टिसञ्ज्ञया। ख्यातेऽत्र तैर्नृपो ज्ञानात् कुमारोऽपि बुबोध तत्॥३६५॥
ततः कमण्डलुं हस्ते कृत्वा प्रश्नावदम्भतः। बहिर्भूय नृपावासादुपलक्षणभीर्दिने॥३६६॥
वसतिं हेमसूरीणां त्रस्तः स्वस्तवपुर्बलः। आययौ भूपतो रक्ष रक्षेत्याख्यन् स्वलद् गिरा॥३६७॥
प्रभुभिः साहसात् ताडपत्रलक्षान्तराहितः। राजमत्यैः पदायातैर्व्यालोकितं नतु चेक्षितः॥३६८॥-युग्मम्।
निश्याकृष्य प्रेषितश्च प्रायाद् देशान्तरं पुनः। प्राग्जदागात् साहसिक्यमहो भाग्यस्य लक्षणम्॥३६९॥
तथा निर्गत्य तस्मात्तु वामदेवतपोवने। तत्तीर्थस्नानदम्पेन जटी प्रायादपायभीः॥३७०॥
आलिनाम्नः कुलालस्य यावदालयसन्निधौ। आययौ पृष्ठतो लग्नान् सादिनस्तावदैक्षत॥३७१॥
आह प्रजापते! रक्ष शरणागतवत्सलः। मां संकटादतो रक्ष तन्त्रमागतमेव यत्॥३७२॥
स च सञ्चितनीवाहकोणे संस्थाप्य तं तदा। मुमोच वह्निमह्नाय विमुच्य तदवस्थितिम्॥३७३॥
स तुरङ्गिभिरायातैः पृष्ठः कोऽपि जटाधरः। तत्रायातो नवाऽजल्पि न व्यग्रत्वान्मयैक्ष्यत॥३७४॥
निर्विद्यानादराच्चैते व्यावृत्य प्रययुस्तदा। रात्रौ सोऽपि बहिः कृष्टस्तेन देशान्तरेऽचलत्॥३७५॥

15. स्तम्भतीर्थपुरं प्रायाद् द्विजेनानुगतस्ततः। तदा वीसरिणा श्रीमान् कुमारः स्फारवृत्तभूः॥३७६॥
श्रीमालवंशभूतत्र व्यवहारी महाधनः। समस्त्युदयानाभिख्यस्तस्य पार्श्वेऽगमद् बटुः॥३७७॥
एकान्तोऽस्य स्ववृत्तान्ते तेन सत्ये निवेदिता। अवादीद् वणिजां श्रेष्ठः किञ्चित्प्रार्थितशम्बलः॥३७८॥

अनभीष्टो महीशस्य यस्तेनार्थो न नः स्फुटम्। तद् द्रागपसरेह त्वां भा द्राक्षु राजपूरुषाः॥३७९॥
 बटो! स्वामिनमात्मीयं पुरः सीमां प्रहापय। एवमुक्तः स नैराश्यं प्राप प्राप्तभयोदयः॥३८०॥
 श्रुत्वा कुमारपालोऽपि तत्पुरं प्राविशन् निशि। बुभुक्षाक्षामकुक्षिः सन् चतुर्थे लंघने तदा॥३८१॥
 सूरिः श्रीहेमचन्द्रश्च चतुर्मासकमास्थितः। तदा चारित्रसज्ज्ञानलब्धिभिर्गौतमोपमः॥३८२॥
 उद्यद्वाख्यानलोलाभिर्वारिदस्येव वृष्टिभिः। शीतीकुर्वन् सदा भव्यमनोभूमिं शमिप्रभुः॥३८३॥
 कथंचिदपि तत्रागात् कुमारोऽपीक्षितश्च तैः। आकृत्या लक्षणैश्चायमुपालक्षि विचक्षणैः॥३८४॥
 वरासन्त्युपवेश्योच्चै राजपुत्रास्व निर्वृतः। अमुतः सप्तमे वर्षे पृथ्वीपालो भविष्यसि॥३८५॥
 स प्राह पूज्यपादानां प्रसादेन भविष्यति। सर्वं कथं तु स प्राप्यः कालो निःकिञ्चनैः क्षुधा॥३८६॥
 द्वात्रिंशतमथ द्रम्मानस्य श्रावकपाश्वरतः। दापयित्वा पुनः प्राहुः शृण्वेकं नो वचः स्थिरम्॥३८७॥
 अद्यप्रभृति दारिद्र्यं नायाति तव सन्निधौ। व्यवहारैरमोच्योऽसि भोजनाच्छादनादिभिः॥३८८॥
 एवं भावीति चेद् राज्ये प्राप्ते मम कृतं विभोः। अवलोक्यमिदानीं तु बहूक्तैः फल्गुभिः किमु॥३८९॥
 इत्युक्त्वा प्रययौ देशान्तरं गूढो नराधिपः। घनं घनाघनैश्छन्न इव पार्वणचन्द्रमाः॥३९०॥
 कापालिकव्रते कौले शैवे चित्रपटोत्तरे। चरन् कदापि कुत्रापि कृत्रिमे कृत्रिमक्रमः॥३९१॥
 ततो वर्षाणि सप्तापि दिनानीवात्यवाहयत्। गुरुवाक्यैर्मनो बिभ्रत् सङ्कटेऽपि विसङ्कटम्॥३९२॥
 तस्य भोपलदेवीति कलत्रमनुगाऽभवत्। छायेव सर्वावस्थास्वमुज्ज्वन्ती सविधे स्थितिम्॥३९३॥

द्वादशस्वथ वर्षाणां शतेषु विरतेषु च।

एकोनेषु महीनाथे सिद्धाधीशे दिवं गते॥३९४॥

ज्ञात्वा कुतोऽपि सत्त्वाढ्यः कुमारोऽगानिजं पुरम्। अस्थादासन्नदेशस्थो वासके श्रीतरोरधः॥३९५॥
 दुर्गादेव्याः स्वरं तत्र मधुरं शुश्रुवे सुधीः। तामाजुहाव भाग्यस्य जिज्ञासुः प्रमितिं तदा॥३९६॥
 मम पश्यसि चेद् राज्यं देवि ज्ञाननिधे! ततः। उपविश्यैव मे मूर्ध्नि स्वरं श्रुतिसुखं कुरु॥३९७॥
 वचनानन्तरं साऽपि तथैवाधादतिस्फुटम्। 'तू राज' इति संरावं तच्चेतः सौधदीपकम्॥३९८॥
 आयात् पुरान्तरा श्रीमत्सांवस्य मिलितस्ततः। चित्ते सन्दिग्धराज्याप्तिनिमित्तान्वेषणादृतः॥३९९॥
 स तेन सह संगत्य पार्श्वे श्रीहेमसुप्रभोः। तन्निषद्यावृते पट्टे उपविष्टो विशिष्टधीः॥४००॥
 भविष्यत्येव ते राज्यं यन्निविष्टोऽस्मदासने। एतदेव निमित्तं न इत्यमुष्य गुरुजंगौ॥४०१॥
 राज्येच्छया पादपातीति विगानभिया नहि। नतोऽहमिति शंक्यो न प्रभो दुर्विनयो मयि॥४०२॥
 तत्रास्ति कृष्णदेवाख्यः सामन्तोऽश्वायुतस्थितिः। स्वसुः पतिः कुमारस्य मिलितो निशितस्य च॥४०३॥-युग्मम्
 श्रीसिद्धराजमेरौ च संजग्मुः शिवमन्दिरे। प्रधाना राज्यसर्वस्वं राज्ययोग्यपरीक्षणः॥४०४॥
 कुमारोऽपि पुरस्यान्तराऽऽजगाम चतुष्पथे। एकत्र संगतानां च प्रधानानां तदाऽमिलत्॥४०५॥
 कृष्णः प्रवेशायमास प्रासादे तं करे कृतम्। तत्रापरौ च तस्थाते राजपुत्रौ प्रवेशितौ॥४०६॥
 तयोरेकः प्रणम्यात्र पार्षद्यान् स उपाविशत्। अपरोऽपि स्वसंव्यानपटं मुत्कुलमातनोत्॥४०७॥
 अथ श्रीकृष्णदेवेनोपविशेत्युदिते सति। संवृत्य वस्त्रयुग्मं स्वमुपाविशद् वरासने॥४०८॥
 व्यचारयन्त नीतिज्ञा एकस्तावत् कृतानतिः। निस्तेजाः परिभूयेत स्वैः परैरपि निन्द्यधीः॥४०९॥
 सम्भ्रान्तलोचनं पश्यन्परो मुत्कलाञ्जलः। तस्य पार्श्वान् परैर्भूपैर्विश्वं राज्यं ग्रहीष्यते॥४१०॥
 असौ कुमारपालश्च दैवज्ञानुमतः पुरा। धीरं पश्यन्निहायातः संवृत्याञ्जलमण्डलम्॥४११॥
 निग्रहीता विपक्षाणां विग्रहीता दिगन्तरान्। भविष्यति महाभाग्यः सार्वभौमसमः श्रिया॥४१२॥

अभिषेकमिहैवास्य विदध्वं ध्वस्तुदुर्द्धयः। आसमुद्रावधिं पृथ्वीं पालयिष्यत्यसौ ध्रुवम्॥413॥
अथ द्वादशधा तूर्यध्वनिङ्गबरिताम्बरम्। चक्रे राज्याभिषेकोऽस्य भुवनत्रयमंगलम्॥414॥
प्रविवेशोत्सवै राजा राजसौधं नृपासनि। निविष्टो गोत्रवृद्धाभिरक्षतैरभ्यवर्द्धयत्॥415॥
कृतप्रशमनाचारः प्रतापोग्रः परंतपः। कुमारपालभूपालः पालयामास मेदिनीम्॥416॥

16. सपावलक्षभूमीशमर्णोराजं मदोद्धतम्। विग्रहीतुमनाः सेनामसावेनामसज्जयत्॥417॥
हास्तिकाशवीयपादातरथ्याभिरभितो वृतः। धिष्ण्यग्रहौषधीतारानिकरैरिव चन्द्रमाः॥418॥
चचाल लघु सामन्तमण्डलीकमहाधरैः। अन्यैश्च क्षत्रियैः सेव्यपादाम्भोजयुगस्ततः॥419॥
दिनेः कतिपरैरवाजयमेरुं सुदुर्ग्रहम्। लंकादुर्गमिवागम्यं नृपः प्राकारमासदत्॥420॥-विशेषकम्।
परितोऽस्य च बबूलबदिरीखदिरदुमैः। करीरैर्गुपिलं नृणां दुर्गमं योजनद्वयम्॥421॥
बहुधा बहुभिर्मर्यैश्छिद्यमानमपि क्षयम्। प्राप्नोति न ततः खिन्नो व्यावर्तत नराधिपः॥422॥
उपवर्ष समागत्याणहिल्लपुरमध्यतः। चतुर्मास्यां पुनः सैन्यं जातशोषमपोषयत्॥423॥
प्रावर्तत च तस्यान्ते पुनर्ग्रीष्मे न्यवर्ततः। एवमेकादश समा व्यतीयुः पृथिवीपतेः॥424॥
मम पीतपराम्भोधेरपि भाग्याधिकः कथम्। अर्णोराज इति ध्यायन् क्षणं तस्यै नराधिपः॥425॥
तस्य वाग्भटदेवोऽस्ति मन्त्री मन्त्रीव नाकिनाम्। नीत्या क्षत्रेण मन्त्रेणोदयनस्यागभूस्तदा॥426॥
अपृच्छत् तं नराधीशः संकटेऽस्मिन् समागते। अस्ति सप्रत्ययः कश्चित् सुरो यक्षोऽथवा सुरी॥427॥
प्रातिहार्यप्रभावेण भवामो जितकाशिनः। यस्य तस्य मनोऽवश्यं वश्यं नो भवतु ध्रुवम्॥428॥
व्यजिज्ञपदथ श्रीमान् वाग्भटस्तस्य वाग्भटः। अवधार्य वचः सावधानेन प्रभुणा मम॥429॥
यदा श्रीस्वामिपादानामादेशात् प्रभुसोदरः। कीर्त्तिपालो महाबाहुः सुराष्ट्रमण्डलं ययौ॥430॥
तद्देशाधीश्वरं निग्रहीतुं नवघनाभिधम्। अनेकशो विग्रहैश्च खेदिताद्यनराधिपम्॥431॥
तदा मज्जनकस्तत्र श्रीमानुदयनाभिधः। स्तंभतीर्थपुरावासी जज्ञे सैन्यबलप्रदः॥432॥
अन्यदा गच्छता तत्र पुंडरीकाद्रिरुद्धुरः। द्रष्टव्यस्यावधेर्दृष्टेन दुष्प्राप्यदर्शनः॥433॥
आचख्ये च निजेशस्य तस्य माहात्म्यमद्भुतम्। धर्मश्रद्धाश्रिताश्चर्यादथ सोऽप्यारोह तम्॥434॥
श्रीमद्युगादिनार्थं च नमस्कृत्यातिभक्तितः। मेने कृतार्थमात्मानं स ध्यानादनुजः प्रभोः॥435॥
प्रासाद आलुलोके च तेन सोऽप्यतिजर्जरः। ततः श्रीकीर्त्तिपालेन प्रोचेऽसौ भांडशालिकः॥436॥
प्रासादस्यास्य नश्चेतस्युद्दिधीर्षा स्थिता ध्रुवम्। जित्वामुं विग्रहं प्रत्यावृत्तैः सर्वं विधास्यते॥437॥
पर्वतादवतीर्याथ प्रतस्थे पुरतोऽधिपः। अभ्यमित्रोणतां प्राप नृपः सोऽपि मदोद्धतः॥438॥
तत आसीन्महायुद्धं कुन्ताकुन्ति गदागदि। सैन्ययोरुभयोः शौर्यावेशादज्ञातघातवान्॥439॥
तस्मिन्नुदयनोऽपि स्वस्वामिनः पुरतः स्थितः। प्रजहं प्रहृतश्चासौ न्यपतद् भूमिमण्डले॥440॥
युद्धे जिते हते शत्रौ शोध्यमाने रणे प्रभुः। निरीक्ष्योदयनं श्वासावशेषायुष्मूचिवान्॥441॥
अनित्यो भौतिको देहः स्थिरेण यशसा त्वया। व्यक्रीयत स्फुटं साधु वणिगव्यवहतिः कटः॥442॥
किंचिद् यदस्ति ते चित्ते शल्यं खुरखुरायितम्। ब्रूहि तद् विदधानोऽहं किंचित् ते स्यामृणातिगः॥443॥
अथ स प्राह नाथ स्मो वयं स्वामिवशाः स्थिताः। तत्कार्यादपरं नैव जानीमोऽनन्यचेतनाः॥444॥
श्रीमत्सिद्धाधिपाद् बिभ्यद् भवद्बन्धुः क्षितीश्वरः। बटुमेकं समीपे मे प्रैषीत् स न्यक्कृतो मया॥445॥
श्रीमान् कुमारपालोऽपि क्षुणं मयि तदा घनम्। अधारयिष्यदत्युग्रमूरीचक्रे मयापि तत्॥446॥
इदानीं तु त्वदंहीणामग्रेऽसून् मुञ्चतो मम। उभौ लोकौ निजाम्नायः श्रुतं शीलं पवित्रितम्॥447॥

मृत्यौ विप्रतिसारो नास्माकं विज्ञापयामि तु। किञ्चिन्मनन्दनस्यास्य वाग्भटाख्यस्य कथ्यताम्॥४४८॥
 शत्रुञ्जयमहातीर्थे प्रासादस्य प्रतिश्रुतः। जीर्णोद्धारस्ततः श्रेयोहेतुर्मे स विधीयताम्॥४४९॥
 ओमित्युक्त्वा ततः कीर्तिपालेनांगीकृते तदा। परासुरभवत् तत्र श्रीमानुदयनः शमी॥४५०॥
 कृते तत्रानृणो वप्सुरहं स्यामधुना पुनः। स्वां देवकुलिकामेकां नगरान्तर्व्यधापयम्॥४५१॥
 तथाऽत्रैव पुरे वासी व्यवहारी महाधनः। श्रीछद्दक इत्याख्यः श्रेष्ठी नवतिलक्षकः॥४५२॥
 मन्मैत्र्या तेन चाकारि धर्मस्थानेऽत्र खतकम्। श्रीमत्तत्राजितस्वामिबिम्बं चास्थाप्यतामुना॥४५३॥
 प्रतिष्ठितं च श्रीहेमसूरिभिर्ज्ञानभूरिभिः। तदीयहस्तमन्त्राणां माहात्म्यात् सकलं ह्यभूत्॥४५४॥
 तत्रोपयाचितं स्वामी चेदिच्छति ततो ध्रुवम्। विजयोऽस्याभिधाऽपीदृगपराजितताकरी॥४५५॥
 इति विज्ञापनां श्रुत्वा मामकां नायको भुवः। विदधतु विचार्यैव ननु प्रभुपुरो मतिः॥४५६॥
 विज्ञप्तेऽत्रावनीनेता ध्यातामात्यवचःक्रमः। ऊचे मन्त्रिन् भवद्वाक्यात् कार्यजातं मया स्मृतम्॥४५७॥
 सखे! शृणु यदा पूर्वं वयं सामान्यवृत्तयः। स्तम्भतीर्थमगच्छाम दिनत्रयमुपोषिताः॥४५८॥
 बोसरिर्बटुरस्माभिः प्रैष्यतोदयनान्तिके। अकृतार्थस्ततश्चागात् तदागः स्फुरितं न मे॥४५९॥
 एतेऽहो! स्वामिनो भक्ता इति चेतस्यभून्मम। परेषु रोषणः स्वीयाभाग्यदर्शी कृती न सः॥४६०॥
 तथा श्वेताम्बराचार्यो हेमसूरिर्मया तदा। प्रदोषसमयेऽदर्शि कल्पद्रुमसमः श्रिया॥४६१॥
 पाथेयं कृपया किञ्च न दद्याद् यद्यसौ प्रभुः। राज्यं कः प्राप्स्यदानान्दि भवत्सङ्गमसुन्दरम्॥४६२॥
 तथा तद्वचनं तथ्यमभूद् दैवतवाक्यवत्। अद्यापि ध्वनति ध्मातव्यण्टाटङ्कारवद्बुद्धम्॥४६३॥
 बिम्बस्यास्य प्रतिष्ठातृव्याजात् स्मारयता गुरुम्। ममोपकृतमत्यर्थं कृतावेदी नराधमः॥४६४॥
 तथा श्रीसिद्धराजोऽपि हत्वा खंगारभूपतिम्। तज्जातीयबहुत्वेन शक्तो देशं न वासितुम्॥४६५॥
 इदानीं त्वत्पितुर्बुद्ध्या शत्रवस्ते विनाशिताः। सर्वेऽपि च यथा तेषां नामापि नहि बुध्यते॥४६६॥
 भुक्तौ न्यक्षेपि देशश्च मुक्तास्तत्राधिकारिणः। ईदृग् धीमान् भवद्दृष्टा स्वामिभक्तिफलं हि तत्॥४६७॥
 कीर्तिपालकुमारोऽसौ पदातिर्विग्रहादिषु। अबुधः सांयुगीनेन त्वत्पित्रैव बुधः कृतः॥४६८॥
 तीर्थोद्धारश्च सन्दिष्टस्तेन ते तदपीह नः। कार्यं ततोऽधुनैवायमादेशो भवतात् तव॥४६९॥
 राजकोशात् समादाय धनान्यापूर्णतावधि। पूर्य तस्य प्रधानस्य स्वस्यास्माकं च वाञ्छितम्॥४७०॥
 इदानीं त्वस्य देवस्य बिम्बं मे दर्शय द्रुतम्। पुण्यैर्लभ्यं समभ्यर्च्य प्रस्थानं कुर्महे ततः॥४७१॥
 ततः सन्दर्श्यमानाध्या श्रीमद्वाग्भटमन्त्रिणा। संचचालचलाधीशः प्राप चास्य जिनालयम्॥४७२॥
 श्रीमन्तं पार्श्वनाथं प्रागानतो मूलनायकम्। ददर्श मन्त्रिणा ख्यातमजितं तदनु प्रभुम्॥४७३॥
 कुंकुमागुरुकर्पूरकस्तूरीचन्दनद्रवैः। सुगन्धकुसुमैश्चार्चा विदधे वासनावशात्॥४७४॥
 व्यजिज्ञपच्च तीर्थेशं त्वत्प्रभावानृपं रिपुम्। अस्मिन्नवसरे नाथ! विजेष्ये त्वत्प्रसादतः॥४७५॥
 ततो मम भवानेव देवो माता गुरुः पिता। अत्र साक्षी भवान् मन्त्रिन् पाल्यमेतद्वचो मया॥४७६॥-युग्मम्।
 इत्युक्त्वाऽऽनम्य तं भूपः पुलकाङ्कितविग्रहः तदा विजययात्रायै सैन्यानि समवाहयत्॥४७७॥

17. उपचन्द्रावति प्रायात् प्रयाणैरप्रमाणकैः। आवासान् दापयामास तत्र भूवासवो मुदा॥४७८॥
 तत्र विक्रमसिंहोऽस्ति राज्ये मुख्यमहाधरः। राज्ञः कटकसेवाया निर्विण्णो गमनामनाः॥४७९॥
 प्रशस्तैः स महामात्यैर्निजैः समममन्त्रयत्। वयं खेदं परं प्राप्ता निर्जीवनृपसेवया॥४८०॥
 कः प्रतापो बलं किं वा भ्रान्तदेशान्तरे नरे। अत्र चित्रपटाजीवे गमस्कारोऽतिदुष्करः॥४८१॥

भस्माधारः पुटोपात्रं जटा मूर्ध्नि शिवार्चनम्। एवं वेषे प्रणामो नः काऽत्र राज्यविडम्बना॥482॥
 तस्मात् कथंचिदत्रैव यद्यसौ साध्यते नृपः। असौ हि शशकः खज्जो रुणमिन्नष्पाववाटकम्॥483॥
 कोऽपि चौलुक्य-वंशीयः क्षात्रतेजोभिरद्भुतः। राज्यं निवेशयतेऽस्माकं तदाज्ञां कर्तुमौचिति॥484॥
 प्राहुस्तस्य प्रधानाश्च नोचितं भवतां कुले। स्वामिद्रोहो यतोऽधोऽशसिद्धाधिपपदस्थितः॥485॥
 अस्माकं सर्वथाऽऽराध्यो युद्धेष्वनियतो जयः। दुर्गरोधविशेषेण विमृश्यं तदिदं घनम्॥486॥
 उवाच च कथं वध्यो भूपालोऽसौ भविष्यति। कृतं वोऽपरशिक्षाभिरुपायं वदत ध्रुवम्॥487॥
 वयं हि तस्य वक्तारः स्वाभिना करणे पुनः। प्रमाणं स्वरुचिर्नाथः तत्कुरु प्रतिभासितम्॥488॥
 अथाह विक्रमो वह्निव्रतं प्रकुरुताधुना। मत्सौधेऽसौ यथावश्यमक्लेशेन विनश्यति॥489॥
 व्यचारयन्मित्रं ते निजावासेऽग्निदीपनम्। प्रागल्भ्यात् कुमतेरेतद् विनाशस्त्यैव सूचकम्॥490॥
 किं च प्रविदधामोऽत्र दुर्लभ्या भवितव्यता। राज्योच्छेदोऽस्य सम्पन्नो भूपालो विजयी पुनः॥491॥
 श्रीसिद्धाधीशपट्टे यः प्राच्यपुण्यैर्निवेशितः। एतत्सदृशभृत्यानां नासौ योग्यो भविष्यति॥492॥
 एवं विमृश्य तेऽवोचन् हस्तस्पृष्टललाटकाः। स्वाम्यादेशः प्रमाणं नः कार्या नाऽत्र विचारण॥493॥
 सूत्रधारैस्ततो भूम्यन्तरा सौधं निवेशितम्। ऊर्ध्वं च स्तम्भपट्टादि चलं वस्त्राञ्चलोपमम्॥494॥
 तस्योपरि प्रतिसीराप्रावारास्तरणास्तृताः। मण्डिता विततोल्लोचाऽवचूलैः पद्मकैस्तथा॥495॥
 मौक्तिकैः कुसुमैर्गुच्छैर्विच्छन्दकशतैरपि। सुन्दरा तत्र शय्या च सूत्रतन्तुमयाऽरचि॥496॥-युग्मम्।
 एकत्र कीलकैः कृष्टे तत्सर्वं गर्तमन्दिरे। खदिरांगारसंपूर्णे भस्मीभवति तत्क्षणात्॥497॥
 एवं निवेद्य ते नेत्रे नेत्रे बाष्पप्लुते दधुः। तन्नायकोऽप्युवाचैवं मतिः कार्यप्रसाधिका॥498॥
 असौ यथा तपस्वीदृक्शय्यायां चंगर्भगिभिः। आक्षिप्ताक्षो निवेशयेत् तदास्याधोगते मृतिः॥499॥
 इति प्रातर्विचिन्त्यायमायाच्छिबिरमध्यतः। राजपादान् नमश्चक्रेऽवनीलुठनपूर्वकम्॥500॥
 विज्ञो विज्ञपयामास मारवो मण्डलेश्वरः। दम्भात् सुधां मुखे बिभ्रद् विषपूर्णो घटो यथा॥501॥
 अलंकुरुत हर्म्यं मे प्रसादः क्रियतां प्रभो॥ तत्र प्रत्यवसानेनावसानेनाद्य दुःस्थिते॥502॥
 ध्यात्वेति धीनिधिर्भूषो मारवेषु न विश्वसेत्। प्राह नः परिवारः प्राग् भुक्तामनु वयं ततः॥503॥
 क एवं हि हितान्वेषी स्वामिभक्तश्च दृश्यते। परमारकुलोद्भूतं भवन्तमभयं विना॥504॥
 तत्र कः प्रतिषेद्धास्ति शुभे कार्ये महाधरः। अस्माकं भवदावास एव योग्यो विलोकिताम्॥505॥
 स्वाम्यादेशः प्रमाणं मे इति प्रोच्य परिच्छदम्। भक्तोऽसौ भोजयांचक्रेऽपराह्णवध्यबाधया॥506॥
 अंगरक्षास्ततः स्वामिमूर्तिरक्षासदोद्यताः। आहूतास्तत्समस्तं च कुट्टिमं प्रकटीकृतम्॥507॥
 यत्रासन्नः पुमानेको वृद्धो मतिमतां पतिः। आजिघ्रन् गन्धमत्युग्रं ध्यातांगारगणस्य सः॥508॥
 विममर्श निजस्वान्ते विज्ञानं किंचिदद्भुतम्। तत्रास्ते वह्निसम्बद्धं प्रभुद्रोहस्य कारणम्॥509॥
 ततस्तं विक्रमः साभिप्रायं दृष्टिविकारतः। परिज्ञायातिसच्चक्रे वक्राशयशिरोमणिः॥510॥
 ययौ विक्रमसिंहोऽथ सह तेनैव मन्दिरम्। राज्ञः प्राह च मत्सौधे नाथ! पादोऽवधार्यताम्॥511॥
 अथ भूसञ्ज्ञया तेन न्यपेधि गमनं प्रति। भूपतिः प्राह तन्त्र मे समस्तं भोजितं त्वया॥512॥
 वयं तु प्राक्त्रियामायां चिन्ताजागरपीडिताः। अधुनाऽभ्यवहारेषु नाभिलाषुकचेतसः॥513॥
 मुहूर्त्तश्चापि दैवज्ञैः प्रयाणाय विचारितः। संप्रत्येव ततो ढक्का वाद्या प्रस्थीयते यथा॥514॥
 त्वमपि स्वां चमूं सज्जीकृत्य कृत्यविशारदः। शीघ्रमागच्छ न च्छेका जुम्भायन्ते त्वरायिते॥515॥
 अन्तःशङ्कां वहन्नोमित्युक्त्वा च प्रययौ स्वकम्। धाम ज्ञातमिवायं स्वं विमृशन् चेतसि क्षणम्॥516॥

इतित्येव प्रतस्थे च स्कन्धावारः प्रभोस्तदा। अचिराद् रिपुदुर्गस्योपकण्ठे शिविरं दधौ॥517॥
 स यथास्थानमातस्थौ शिविरस्य निवेशनम्। अहर्दिवं प्रहरके जाग्रदव्यग्रभटोद्धुरम्॥518॥
 अर्णोराजोऽप्यजानानः सिद्धकुम्भभवव्रतम्। अवमेनेऽवलेपोग्रव्याहारोर्मिभिरेव तम्॥519॥
 अथैकादश वर्षाणि विजुगोप पदोरधः। ममाथ द्वादशेऽप्यस्तु काऽत्र भूपालकल्पना॥520॥
 हतसत्त्वोद्धृतैर्भीत्या कृत्रिमैरपि दर्शनैः। जीव जीवेति जल्पदिभर्मतो राजा स्वसेवकैः॥521॥
 तथा चारुभटः श्रीमत्सिद्धराजस्य पुत्रकः। हक्काढक्कास्वरभ्रान्तहस्ती मामुपतिष्ठते॥522॥
 इत्यनल्पविकल्पैः स यन्त्रान् नासज्जयत् तदा। दुर्गे स्वर्ग इवासीन उदासीनोऽकुतोभयः॥523॥
 कुन्ततोमरशक्त्याद्यैः पूर्णेष्वटालकेष्वपि। विलेभे न भटव्रातं निजभाग्यकदर्थितः॥524॥
 श्रीमान् कुमारपालोऽपि ज्ञात्वेति प्रणिधिब्रजैः। अनौकिनीं निजां दानमानाद्यैः समपूजयत्॥525॥
 गजानां प्रतिमानानि शृङ्खलान् मुकुरांस्तथा। अश्वानां कविका-वल्गा-दाम-पल्लयनानि च॥526॥
 रथानां किंकिणीजालचक्रांगयुगशम्बिकाः। योधानां हस्तिका-वीरवलयानि च चन्द्रकान्॥527॥
 सुवर्णरत्नमाणिक्यसूचीमुखभयान्यपि। चतुरंगेऽपि सैन्येऽसौ भूषणानि ददौ मुदा॥528॥-विशेषकम्॥
 रोहणद्रुमकपूर्कश्मीरजविलेपनैः। स्वयं विलिप्य वक्त्राणि भटानां पटुताभृताम्॥529॥
 सहस्रपत्रचापेयजातोविचिकिलस्त्रजः। कामं धम्मिल्लमालासु बबन्ध स्वयमोशिता॥530॥-युग्मम्।
 हेमन्तसितपत्राभैः शातकुम्भसमैरसौ। स्कन्धानभ्यर्चयद् योधप्रधानानां प्रमोदतः॥531॥
 सान्धकारे निशीथे च राजा तेजःप्रतापभूः। तानुत्साह्य सुधासध्रीचीभिर्वचनवीचिभिः॥532॥
 चचाल संमदोत्तालकलकेलिकुलावनिः। अतूर्यवक्त्रनिर्घोषं रहो योगीव निध्वनिः॥533॥
 पर्वताधित्यकाभूमिं गत्वा तूर्यरवान् समम्। व्यस्तारयत् तथा चक्रे भूपः सूकरिकास्तथा॥534॥
 तदा च वाग्भटामात्यस्तेनादिष्टः समानय। आप्रभातात् पंचशतीमार्द्राणां सैरिभत्वन्नाम्॥535॥
 तेनानीताश्च ताः संवर्म्मिणोऽथ रथमण्डपः। खंडीः प्रपातयामासुस्तन्मध्यथा भटोत्कटाः॥536॥
 एके च दशनैः खड्गान्युत्पाह्यारुरुर्दुर्गम्। प्राकारकपिशीर्षाणि तच्छीर्षाणीव विक्रमात्॥537॥
 व्यद्रवन्नथ तेऽन्तस्था विहिते संप्रसारणे। ह्रस्वीकृताः कुमारेण भूपेनाख्यातवेदिना॥538॥
 विवृत्य गोपुरद्वारं बहिर्निरसरत् प्रगे। अर्णोराजोऽपि तत्राजौ स्वजीवे विगतस्पृहः॥539॥
 वाद्यमानेषु संग्रामतूर्येषु प्रतिशब्दितैः। शब्दाद्वैतं बभूवात्र पक्षयोरुभयोरपि॥540॥
 कातराणां तदा तत्र देहान्नाशाक्षमानिव। परित्यज्य ययुः प्राणाः पातालं शरणार्थिनः॥541॥
 ततः प्रववृते युद्धं खड्गाखड्गि शराशरि। बाहूबाह्वि सर्वत्रादृश्यमानजनास्यकम्॥542॥
 शूरसंक्रान्तिकाले च भूधरा अस्मया इव। बहुशः खण्ड्यमानांगा अदृश्यन्त गजेश्वराः॥543॥
 पक्वकूष्माण्डकानीवाखण्ड्यन्तात्र तुरंगमाः। शालिपर्पटवद्रथ्याः समचूर्यन्त निर्भरम्॥544॥
 परिपक्त्रमकालिङ्गवत् पत्तिजठरावलिः। पाटिता तत्र कालेयप्लीहफुप्फुससंकुलाः॥545॥
 विचेरुर्गने गृध्रा नूनं मांसाभिलाषुकाः। विमानस्थाप्सरो दूता इव प्राणेशसंगमे॥546॥
 इत्येवमन्वयख्यातिमामोदघट्टनपूर्वकम्। युद्धे भवति शान्तासु धूलीषु मदवारिभिः॥547॥
 पट्टवारणयोस्तत्र दन्तादन्ति विलग्नयोः। दृष्टश्चारुभटो राज्ञोऽरिनिषादितया स्थितः॥548॥
 श्यामलाधोरणस्तत्र हस्तिहक्काभयापहृत्। उत्कील्याच्छपटीं द्विः स कृत्वा तस्य श्रुती प्यधात्॥549॥
 ततश्चारुभटो गर्वाद्धस्तिदन्ते पदं दधौ। यत् कियान् प्रतिमातंग इति चेतसि चिन्तयन्॥550॥
 पक्षयोगूर्जरिशोऽपि लोचने संन्यवीविशत्। बलं विधटितं सर्वं महाधरमुखं तदा॥551॥

शङ्कितेन तदाऽजल्पि **शामल!** त्वमपीह किम्। भेदितो वारणं पश्चाद् व्यावर्तयसि यत्सखे॥५५२॥
 स प्राह नाथ। नो शक्यं स्वप्नेऽपि त्रयभेदनम्। निषादी श्यामलः स्वामी गजः कलभकेसरी॥५५३॥
 पश्चात्क्रमैर्गतो नीचैस्ततः प्रतिगजात् पतन्। शत्रुराज्यस्य सर्वस्वं ग्राह्यश्चारुभटस्त्वया॥५५४॥
 यावदेवं वदत्येष तावद्विघटितौ रदौ। अन्तर्द्वयोर्जवात् तत्रापतत् स्वस्वामितेजसा॥५५५॥
 जगृहे तलवर्गीयैः सुभटैः संयतश्च सः। **अर्णोराजश्च** राज्ञापि कुन्तेन निहतोऽलिके॥५५६॥
 प्रणाशाभिमुखः कादिशीकश्चारुभटं विना। व्यावर्तयद् गजं सेनाप्यस्य व्याजुधुटे ततः॥५५७॥
 जितं जितमिति प्रोच्य पटमभ्रमयत् प्रभुः। मन्यमानश्च राजानं स्वं तदा विक्रमोर्जितात्॥५५८॥
 सामन्ताश्चाययुः सर्वे मङ्क्षु तं पर्यवारयन्। जितो भवदिभरेवासावित्यावर्जयदत्र तान्॥५५९॥
 देशः कोशश्च लुण्ठाकैस्तस्य सेनाप्यलुण्ठयत्। सुलूषणाः सत्त्वहीना युद्धे पृष्ठप्रदायिनः॥५६०॥
 ततश्चमूचराः सर्वे तदीयद्रविणैर्घनैः। स्वयं ग्रहणतोऽतृप्यन्नासप्तपुरुषावधि॥५६१॥
 जितकाशीं ततो भूपो न्यवर्तत पुरं प्रति। यच्छन् यथार्थं दानमर्थिभ्यः कल्पवृक्षवत्॥५६२॥

18. **अष्टादशशतीदेशप्रख्यपतनमासदत्।** पूर्ववत् वृत्तमत्युग्रं तदीशस्याप्यबुध्यत॥५६३॥
 नृपतिर्विजये सौविदल्लान् मल्लानथादिशत्। ततो निमन्त्रणायातः पश्चाद्बाहुन्ययञ्चत॥५६४॥
 प्रेष्य प्रेष्यान् निजास्तस्य भन्दिरं मन्दुरावरम्। अज्वालयत् क्षणादेव यथाभवदसत्सदृक्॥५६५॥
 शकटेऽनास्तृते क्षिप्तः स्वस्थानाच्चालिताङ्कः। हुंकारेऽप्यनलंभूष्णुः सोऽभूत् का वच्चे कथा॥५६६॥
 नद्युत्तारेषु पाषाणोद्घाटसंकटभूमिषु। अभूदसुग्विलिप्ताक्षः स षट्कारस्फुरच्छिराः॥५६७॥
परमारान्वयै राजपुत्रैरुत्तार्य भूपतिः। सम्यक्प्रणयन् विज्ञप्तोऽन्वमन्यत तृणास्तृतिम्॥५६८॥
 मञ्जातिमञ्चकलितमुत्तुङ्गकृततोरणम्। **अणहिल्लपुरं** प्राप क्षमापः प्राप्तजयोदयः॥५६९॥
 महोत्सवे प्रवेशस्य गजारूढः सुरेन्द्रवत्। वाग्भटस्य विहारं स ददृशे दृग्गसायणम्॥५७०॥
 तत्र प्रविश्य श्रीमन्तमजितस्वामिनं नृपः। आर्चयत् सुरभिद्रव्यैरत्यासन्नोपकारिणम्॥५७१॥
 श्रीपार्श्वमथ च स्मृत्वा संपूज्य च ततोऽवदत्। प्रागुक्तं यन्मया नाथ। तत्तथैवावधार्यताम्॥५७२॥
 ततः प्रणम्य सोत्कण्ठं कण्ठीरववरासने। पट्टकुञ्जरकुम्भस्थे स्थितोऽगाद् भूभृदालयम्॥५७३॥
 गोत्रवृद्धाङ्गनावर्गसङ्गीतस्फुटमङ्गलः। प्रतीच्छन् शिरसा वद्धापिनायनबभूव सः॥५७४॥
 ततो **विक्रमसिंहस्य** स्थाने सन्धीनिवेश्य च। आनाय्यनतिदूरे तं भूपालः प्राह सस्मितः॥५७५॥
 भो **विक्रमाग्नि**यन्त्रेण भूपाला एव पञ्चताम्। प्रायान्ति नैव सामन्ता इति त्वं केन शिक्षितः॥५७६॥
 तत्रैव यद्यहं त्वां भो। वद्धौ होता ततो भवान्। भस्मीभूतः क्व दृश्येत सपुत्रपशुबान्धवः॥५७७॥
 यादृशाश्च भवन्तः स्युर्गृहकर्मकरा मम। मलिना न वयं नाथास्तादृशास्तदसून् वह॥५७८॥
 अक्षेपि बंदिशालायां ततोऽसौ निजकर्मतः। इह लोके हि भोज्यन्ते राजभिस्तामसास्तमः॥५७९॥
 तथा श्रीरामदेवाख्यतद्भ्रातुर्नन्दनं नृपः। श्रीयशोधवलं चन्द्रावत्यामेष न्यवीविशत्॥५८०॥

19. अन्येद्युर्वाग्भटामात्यं धर्मात्यन्तिकवासनः। अपृच्छदार्हताचारोपदेष्टारं गुरुं नृपः॥५८१॥
 सूरैः श्रीहेमचन्द्रस्य गुणगौरवसौरभम्। आख्यदक्षामविद्यौघमध्यामोपशमश्रियम्॥५८२॥
 शांघ्रमाहूयतामुक्तो राज्ञा **वाग्भटम**त्रिणा। राजवेश्मन्यनीयन्त सूरयो बहुमानतः॥५८३॥
 अभ्युत्थाय महीशेन ते दत्तासन्नुपाविशन्। राजाह सुगुरो। धर्म दिश जैनं तमोहरम्॥५८४॥
 अथ तं च दयामूलमाचख्यौ स मुनीश्वरः। असत्यस्तेनताब्रह्मपरिग्रहविवर्जनम्॥५८५॥

निशाभोजनमुक्तिश्च मांसाहारस्य हेयता। श्रुति-स्मृति-स्वसिद्धान्तनियामकशतैर्दृढा॥586॥

उक्तं च योगशास्त्रे-

चिखादिषति यो मांसं प्राणिप्राणापहारतः।

उन्मूलयत्यसौ मूलं दद्याच्छ्वं धर्मशास्त्रिनः॥587॥

अशनीयन् सदा मांसं दयां यो हि चिकीर्षति।

ज्वलति ज्वलने वल्लीं स रोपयितुमिच्छति॥588॥

हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्त्ता भक्षकस्तथा।

क्रेताऽनुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः॥589॥

‘अनुमन्ता विशसिता नियन्ता क्रयविक्रयी।

संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः’॥590॥

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥591॥

इत्यादिसर्वहेयानां परित्यागमुपादिशत्। तथेति प्रतिजग्राह तेषां च नियमान् नृपः॥592॥

श्रीचैत्यवन्दनस्तोत्रस्तुतिमुख्यमधीतवान्। वन्दनक्षामणालोचप्रतिक्रमणकान्यपि॥593॥

प्रत्याख्यानानि सर्वाणि तथा गाथाविचारकाः। नित्यं द्वयशनमाधत्त पर्वस्वेकाशनं तथा॥594॥

स्नात्राचारप्रकारं चारित्रिकस्याप्यशिक्षत। जैनं विधिं समभ्यस्य चिरश्रावकवद् बभौ॥595॥

प्राक्कृते चामिषाहारे परमानुशयं गतः। उवाचावाच्यमेतन्मे पातकं स्वभ्रपातकम्॥596॥

निक्रयोऽस्याहसो नास्ति पुनरेतद् ब्रवीम्यहम्। अपराधी निगृह्येत राजनीतेरिति स्थितिः॥597॥

दशनान् पातयाम्यद्य मांसाहारापराधिनः। सर्वत्र सहते कर्त्ता दृष्टमिदं स्मृतावपि॥598॥

गुरुशह महाराज! रूढं स्थूलमिदं वचः। सकृद्देहापदा न स्यान्निःकृतिः कृतकर्मणः॥599॥

तत आर्हतधर्मेच्छापवित्रितमना भवान्। प्रवर्त्ततां तथा पंकः समस्तः क्षाल्यते यथा॥600॥

दन्ता द्वात्रिंशतः पाप्ममोक्षाय त्वं विधापय। द्वात्रिंशतं विहाराणां हाराणामिव तेऽवने॥601॥

निजवपुस्त्रिभुवनपालस्य सुकृताय च। मेरुशृङ्गोन्नतं चैत्यं श्रीजैनेन्द्रं विधापय॥602॥

अथाह मेदिनीपालः सुरीतिरियमुज्ज्वला। भवकान्तारनिस्तार एतदेव च शम्बलम्॥603॥

अथो परमया भक्त्या प्राहिणोत् प्रभुमालये। अपरेद्युश्च संप्राप वाग्भटस्य जिनालयम्॥604॥

तत्रायातस्य भूपस्य ययौ नेपालवेशतः। श्रीबिम्बमेकविंशत्यंगुलं चान्द्रमणीमयम्॥605॥

प्राभृतेऽप्रावृते तत्र मूर्ते चिन्तामणाविव। सर्वतो व्यकसद् राजा पूर्णमासीनिशीथवत्॥606॥

ततो मन्त्रिणमाकार्य प्रसादविशदाननः। कुत्राप्यमात्य! कार्येऽहमधमर्णो भवामि वः॥607॥

इत्याकर्ण्य स च प्राह प्राणाः स्वामिवशा मम। परिच्छदो धनं भूमिरास्था कान्येषु वस्तुषु॥608॥

राजाह प्राञ्जलिर्याचे प्रासादो मे प्रदीयताम्। सनाथं करवै मित्र! यथा प्रतिमयानया॥609॥

महाप्रसादो मे नाथ! भवत्वेवं धृतिर्मम। श्रीकुमारविहारोऽतः परं स्वाम्याख्ययाऽस्तु तत्॥610॥

20. किञ्चित् स्वामिने विज्ञापये तदवधार्यतान्। श्रीकीर्तिपालतः पित्रा सन्दिष्टं मम यद्वचः॥611॥

श्रीशत्रुञ्जयतीर्थस्य प्रासादः श्रेयसे मम। जीर्णशीर्णस्त्वयोद्धार्य इति मे कृत्यमस्त्यदः॥612॥

प्रभुपादैस्तथादिष्टं यात्रायाः प्रक्रमे तदा। देवतास्मृतिवेलायां कीर्तिपालप्रतिश्रुतात्॥613॥

अस्मत्कोशधनं लात्वा कार्या चैत्योद्धृतिस्त्वया। स आदेशो ममास्तु स्वैः पितुरानुग्रहेतवे॥614॥

श्रुत्वेत्याह नृपोऽस्माकं कार्येऽस्मिन् सोदरादरात्। एवमप्यस्त्वनुल्लङ्घ्यवचनस्त्वं हि नः सखे॥615॥
 स्वामिन्! महाप्रसादोऽयमित्युक्त्वा तत्र धीसखः। विमलाद्रौ ययौ श्रेष्ठिव्यापारिपरिवारितः॥616॥
 तत्र तीर्थे प्रभुं नत्वा नाभेयं भक्तिनिर्भरः। गुरुदरान् प्रदाप्यास्थात् प्रतिसीराश्च सर्वतः॥617॥
 विमानकानि मंचाश्च प्रादात् करभिकास्तथा। वाटिकानि चतुष्पाटीः पट्टशाटकमण्डिताः॥618॥
 चञ्चलचतुरकाश्चापि स्वर्विमानोपमद्युतीन्। अनेकभटसंघातसंकीर्णाकृतपर्वतान्॥619॥-विशेषकम्।
 तत्र चैको वणिक् प्रत्यासन्नग्रामात् समागतः। निधिदौस्थ्यस्य घृष्टातिपटच्चरयुगं दधत्॥620॥
 षट्द्रम्भनीविकस्तैश्च क्रीताज्यकुतपं वहन्। कटके ग्राहकव्यूहबाहुल्याद् रूपकाधिकम्॥621॥
 द्रम्भं स चार्जयित्वाऽतितुष्टः श्रीवृषभप्रभुम्। कुसुमै रूपकक्रीतैः पूजयामास भक्तितः॥622॥
 सप्त द्रम्भान् सप्त लक्षानिव ग्रन्थौ वहन् मुदा। वीक्षकः सचिवाधीशं तत्कटीद्वारमागतम्॥623॥
 ददृशे तेन मन्त्रीन्दुरीषज्जवनिकान्तरात्। कूर्मेनेव हृदे बद्धजालशेवालरन्ध्रतः॥624॥
 स व्यमुक्षत् प्राच्यपुण्य-पापयोरेतदन्तरम्। पुरुषत्वे समेऽमुष्य मम चानीदृगाकृतिः॥625॥
 स्वर्णमौक्तिकमाणिक्वाभरणांशुदुरीक्ष्यरुक्। व्यापारि-व्यवहार्यस्त्रजीवि-व्रातपरिच्छदः॥626॥
 चक्रीव मुकुटाबद्धमण्डलः। ध्यर्चितक्रमः। श्रीनाभेयमहातीर्थजीर्णोद्धारमनोरथः॥627॥
 अहं तु स्वगृहिण्याप्यभिभूतो निर्धनत्वतः। सन्ध्यावध्यपि सन्दिग्धाहारप्राप्तिमुधाश्रमः॥628॥
 कुतपोद्वहनक्लिष्टशिरा आशैशवादपि। एकरूपकलाभेन धन्यमन्यो दिनं प्रति॥629॥
 एवं विचिन्तयन् द्वारपालेन परतः कृतः। श्रीमद्वाग्भटदेवेन मंत्रिणादर्शि दैवतः॥630॥
 वणिगाह्यतामेषेत्युक्ते स द्वारपालकः। दूरप्रयातमपि तमाह्वास्तादेशतः प्रभोः॥631॥
 तत्पुरः पर्वदन्तः स ऊर्ध्वोऽस्थात् स्थाणुवत् स्थिरः। अनभिज्ञः प्रणामादौ ग्रामणीत्वाद् ऋजुस्थितिः॥632॥
 कस्त्वमित्युक्तिभाजि श्रीमंत्रिणि प्रकटाक्षरम्। प्रागुक्तनिजवृत्तं स आख्यदक्षामदुःखभृत्॥633॥
 मन्त्रीश्वरः पुनः प्राह धन्यस्त्वं क्लेशतोऽर्जितम्। यद्रूपकं व्ययित्वाचां श्रीजिनस्य समाचरः॥634॥
 इत्युक्त्वा स करे धृत्वा स्वाद्धांसि निवेशितः। धर्मबन्धुर्भवान् मे तत् कार्यं किञ्चिद् ब्रवीहि भोः॥635॥
 सोऽस्य प्रभोः प्रियैर्वाक्यैः प्रीणितोऽचिन्तयन्मुदा। संप्रापितः परां कोटिमनेनाकिञ्चनोऽप्यहम्॥636॥
 तदा साधर्मिकास्तत्र व्यवहारिनियोगिनः। इष्टे तीर्थसमुद्गारेऽनन्त पुण्यभरार्थिनः॥637॥
 वहिकां मण्डयामासुर्द्रव्यमीलनिकाकृते। प्राग्मंत्रिणस्ततो ज्येष्ठानुक्रमादभिधा व्यधुः॥638॥
 दृष्ट्वा नामान्यसौ दध्यौ चेद् द्रम्भाः सप्त मामकाः। कार्येऽस्मिन्पकुर्वन्ति तत्र धन्यो मया समः॥639॥
 वक्तुकामोऽसि किञ्चित् किमित्युक्ते मंत्रिणा स च। प्राह सप्त गृहीत्वाऽमृत द्रम्भान् प्रीणय मां प्रभो॥640॥
 तदाचारात् परानन्दमेदुरः सचिवोऽवदत्। त्वं मे धर्मसुहृद् भ्रातस्तत्तानपर्य सत्वरम्॥641॥
 श्रीतीर्थजीर्णोद्धारस्य निष्पत्त्याशाऽद्य मेऽभवत्। नीवीं जीवितवत्स्वीयां यदक्लेशत्वमव्ययः॥642॥
 वहिकादौ च तन्नाम लिखित्वाऽथ निजाभिधाम्। अधस्तस्य ततो नामान्यन्येषां धनशालिनाम्॥643॥
 वयं तु कोटिसंख्यस्य द्रव्यस्य खरकर्मभिः। उपात्तस्य व्यये तन्नाभूतोऽन्यधनमिच्छवः॥644॥
 स्वकीयकोषादाहारीत् ततः पट्टांशुकत्रयम्। द्रम्भपंचशतीं चैवं प्राहैतद्धि गृहाण भोः॥645॥
 मंत्रीशेन स चेत्युक्तः स्मित्वाऽवादीदसौ वणिक्। न विक्रीणे ध्रुवं पुण्यमस्थिरद्रव्यलेशतः॥646॥
 भवन्तः स्वामिनः प्राच्यपुण्यसम्पन्नवैभवाः। कुर्वन्तः किं न लज्जन्ते मादृशां विप्रलम्भनम्॥647॥
 इत्याकर्ण्योद्धुषद्रोमा मन्त्रीन्दुः प्राह वाणिजम्। भक्तो धन्यस्त्वमेवासि यत्सेदृग् निःस्पृहं मनः॥648॥
 ततः केलिमपूगैः सपत्रैर्नागरखण्डकैः। बीटकं प्रददावस्य कर्पूरपरिपूरितम्॥649॥

तद् गृहीत्वा स सम्मानपूरितः स्वं गृहं ययौ। गेहिन्या बिभ्यदभ्यस्तदुर्वाक्यालीकुलक्षितेः॥650॥
 अकस्मात् सा च तं स्वादुवचनैः पर्यतोषयत्। आजन्मादृष्टपूर्वं तद् दृष्ट्वा विस्मयमाप सः॥651॥
 तेनोक्ते च यथावृत्ते साऽवादीत् पारितोषिकम्। यन्न त्वया गृहीतं तन्निर्वृतिं मे व्यधाद् घनम्॥652॥
 यदि त्वं मंत्रिणः पार्श्वे लोहटंकार्धमप्यहो। अग्रहीष्यत् ततो नाहमस्थास्यं त्वद्गृहे ध्रुवम्॥653॥
 धेनुयोग्यं ततः स्थाणुं श्लथं गाढं कुरुष्व तत्। तथेत्युक्तः कुशीं प्रार्थ्य दरमत्राखनत् ततः॥654॥
 खाते चाल्पे खनित्रं च खटत्कृतमतः स तु। भार्यामाकार्य कथयामास सा च ततोऽवदत्॥655॥
 रात्रौ निर्व्यञ्जने किञ्चिद्विधेयं नतु सांप्रतम्। खेलां विलम्ब्य तत्तस्मात्तदाऽकृष्यत यत्नतः॥656॥
 चत्वारि हैमटंकानां सहस्राणि स चासदत्। अल्पाया अपि पूजायाः फलमेतज्जिनेशितुः॥657॥
 अर्पयिष्याम्यहं मंत्रिवाग्भटस्य धनं ह्यदः। इदृशि व्ययितं तीर्थे तद्धि कोटिगुणं भवेत्॥658॥
 पत्न्याप्यनुमतः प्रातर्गिरिमारुह्य मंत्रिणम्। वीक्ष्य तद्दर्शयामास गृहीतेत्यवदच्च तम्॥659॥
 श्रुत्वेति धीसखस्वामी प्राह मद्बचनं शृणु। सत्त्वात्ते सप्तभिर्द्रमैः पूर्णो मम मनोरथः॥660॥
 अतः परं भवद्द्रव्यं ग्रहीतुं नाहमीशिता। अनेन भविता यस्मात् सौवर्णः सकलो गिरिः॥661॥
 अभिसन्धिर्न मे सोऽस्ति तत् स्वं द्रव्यं यथारुचि। व्ययवर्धय भुक्ष्वाथ धर्मं वाऽऽर्धेहि शोघ्रतः॥662॥
 स प्राह कुतपोद्वाहभाग्यस्य कनकं किमु। स्थाता मे निलये तत्कः क्लेशोऽङ्गीक्रियतेऽस्य तु॥663॥
 भवान् यथातथाकर्तुमिमं शक्तः प्रभुत्वतः। तत्प्रसद्य गृहाणेदं तुष्टोऽस्तु कुतपो मम॥664॥
 प्राह मन्त्री ततो द्रव्यं न गृह्णामि निरर्थकम्। एनं भारं न वोढाऽस्मि वहीक इव दुर्वहम्॥665॥
 एवं विवदतोर्मन्त्रि-वणिजोर्दिनमत्यगात्। रात्रौ च श्रीकपर्दीशः साक्षाद् वाणिजमभ्यधात्॥666॥
 श्रीयुगादिप्रभो रूपकार्चातुष्टो धनं ह्यदः। अहं प्रादर्शयं ते तत् त्वं व्ययस्व निजेच्छया॥667॥
 क्षयं यास्यति नैवेतद् दानभोगैर्धनैरपि। अन्यस्येदं हि नाधीनमत्रान्यन्मा विचार्यताम्॥668॥
 अत्र चैतदभिज्ञानं त्वत्पत्नी दुर्मुखाऽप्यलम्। अकस्मात् प्रियवाक्याऽभूद् भक्तिप्रद्व्या च विद्धि तत्॥669॥
 इदं समीक्ष्य च प्रातः श्रीनाभेयप्रभुं स च। सुवर्णरत्नपुष्पाद्यैस्तद्भयानः समपूजयत्॥670॥
 अभ्यर्च्य श्रीकपर्दीशं ततः स्वगृहमागमत्। स्वकृतैः सुकृतैर्जन्म पवित्रं व्यतनोत्तराम्॥671॥
 श्रीमद्वाग्भटदेवोऽपि जीर्णोद्धारमकारयत्। सदेवकुलिकस्यास्य प्रासादस्यातिभक्तितः॥672॥
 घनद्रव्यव्ययाचिन्तावशादक्षेपतस्तदा। पर्यपूर्यन्त कुम्भश्चात्रारुरोह मुदा सह॥673॥

शिखीन्दुरविवर्षे च (1213) ध्वजारोपे व्यधापयत्।

प्रतिष्ठां सप्रतिष्ठां स श्रीहेमचन्द्रसूरिभिः॥674॥

21. इतश्च स्वर्विमानश्रीस्ततः प्रभृति विश्रुतः। श्रीकुमारविहारोऽयं भव्यदृक्पुण्यलक्षणम्॥675॥
 पटुवैकटिकश्रेणिघटनाकोटिकितम्। बिम्बं श्रीपार्श्वनाथस्य निष्पन्नं रम्यतावधि॥676॥
 प्रातिष्ठिपत् शुभे लग्ने मन्त्री श्रीहेमसूरिभिः। अतिचिन्तामणिं प्राणिवाञ्छितातीतवस्तुदम्॥677॥
 प्रासादशुकनासे च भूपतिर्मोक्षकाभिधम्। छिद्रं विमोचयामास विश्वोपकृतितत्परः॥678॥
 पूर्णमासीनिशीथे च रोगिप्रार्थनया ततः। प्रकटीकृततच्छिद्रेऽमृतमस्त्रावि बिम्बतः॥679॥
 तच्चक्षुरादिरोगाणामपहारं जनेऽतनोत्। उपचक्रे क एवं हि नृपतिः सर्वतो मुखम्॥680॥
 प्रासादैः सप्तहस्तैश्च यथावर्णैर्महीपतिः। द्वात्रिंशतं विहाराणां साराणां निरमापयत्॥681॥
 द्वौ शुभ्रौ श्यामलौ द्वौ च द्वौ रक्तोत्पलवर्णकौ। द्वौ नीलौ षोडशाथ स्युः प्रासादाः कनकप्रभाः॥682॥

चतुर्विंशतिचैत्येषु श्रीमन्तो ऋषभादयः। सीमंधराद्याश्चत्वारश्चतुर्षु निलयेषु च॥683॥
 श्रीरोहिणिश्च समवसरणं प्रभुपादुकाः। अशोकविटपो चैवं द्वात्रिंशत् स्थापितास्तदा॥684॥
 द्वात्रिंशतः पुरुषाणामनृणोऽस्मीति गर्भितम्। व्यजिज्ञपत् प्रभोर्भूपः पूर्ववाक्यानुसारतः॥685॥
 सपञ्चविंशतिशतांगुलमानो जिनेश्वरः। श्रीमत्तिहुणापालाख्ये पञ्चविंशतिहस्तके॥686॥
 विहारेऽस्थाप्यत श्रीमान्नेमिनाथोऽपरैरपि। समस्तदेशस्थानेषु जैनचैत्यानचीकरत्॥687॥-युग्मम्।

22. क्षणे धर्म्मोपदेशस्य सप्तव्यसनवर्णनम्। घनदौर्गत्यदुर्योनिभवभ्रमणकारणम्॥688॥
 उपादिक्षत् प्रभू राज्ञे स्वदेशेऽसौ न्यषेधयत्। अचीकरदमारिं च पटहोद्घोषपूर्वकम्॥689॥
 पुरा देशधर्मस्थेन राज्ञा मृतवणिक्प्रिया। सपादलक्ष ऐक्षिष्ट खेदिता राजपूरुषैः॥690॥
 तदा निषेधं जग्राह तस्या एवानुकम्पया। निर्वाणस्त्वेन नो कार्यं राज्यं चेन्मे भविष्यति॥691॥
 अधुनाऽत्र मृते क्वापि व्यवहारिणि विश्रुते। अपुत्रे तद्धनं कान्तानीयतास्याधिकारिभिः॥692॥
 स्वामी पप्रच्छ तान् कस्य विपुत्रश्रीर्भवेदियम्। तेऽवदन् रूढिरंशाऽस्ति तत्पुत्रस्य नृपस्य वा॥693॥
 स्मित्वाऽह भूपः पूर्वेषां राज्ञामेषाऽविवेकधीः। यत्कौटिल्यं विना वाच्या दोषा निजगुरोरपि॥694॥
 अशाश्वतश्रियः सर्वाधीनाया हेतवे नृपाः। उत्तमाधममध्यानां पुत्रतामनुयान्ति यत्॥695॥
 तस्मान्नाहं भविष्यामि विश्वलोकस्य नन्दनः। विश्वस्यानन्दनो भावी निर्वाणधन उज्झितः॥696॥
 मृतभर्तृसुताद्रव्यमित्यौज्ज्वलं भूपतिः सुधीः। अमुक्तं नल-रामाद्वैरपि प्राक्कालराजभिः॥697॥
 प्रभुर्निजोपदेशानां सत्यत्वात् परितोषवान्। भूपवृत्तलसद्दृतिस्थेभ्यो वृत्तमुदाहरन्॥698॥
 तद्यथा-

नयन्मुक्तं पूर्वैरधुनघुषनाभागभरत-

प्रभृत्युर्वीनाथैः कृतयुगकृतोत्पत्तिभिरपि।

विमुञ्चन् सन्तोषात् तदपि रुदतीवित्तमधुना

कुमारक्षमापालः त्वमसि महतां मस्तकमणिः॥699॥

एवं सान्तःपुरो राजा प्रत्याख्यानी निरन्तरम्। राज्यं बभार देवेन्द्र इव स्फोटं विकण्टकम्॥700॥

23. अन्येद्युजैनधर्मस्थं भूपालं प्रणिधिब्रजैः। बलहीनं द्विधा ज्ञात्वा कल्याणकटकाधिपः॥701॥
 भूपोऽप्यमित्रयन्नाधात् प्रयाणं बलकोटिभिः। कुमारपालस्तज्ज्ञात्वा चारैश्चिन्तामवाप च॥702॥
 विज्ञप्तं च प्रभूणां तत् प्रभोजैनस्य मे किमु। अस्मात् पराभवो भावी प्राप्तशासनलाघवः॥703॥
 प्रभुराह महाराज! त्वां श्रीशासनदेवताः। पाप्मि जानाति लग्नस्तत् सप्तमे वासरे भवान्॥704॥
 श्रुत्वेति सन्नमत्कारं ययौ भूपः स्वमन्दिरम्। अध्यायद् रजनौ सूरिर्विधिना परमाक्षरम्॥705॥
 तदधिष्ठायकस्तस्यादेशं साक्षाद् ददौ तदा। भाग्यात् कुमारपालस्य शत्रुरस्तंगतोऽद्य सः॥706॥
 सप्तमे वासरे चारैरिमृत्पांः स वर्द्धितः। नृपोऽवददहो ज्ञानं मदगुरोर्नारपत्र तत्॥707॥

24. अन्यदाऽल्लिख्यमाने च स्वगुरुग्रन्थसञ्चये। प्राग्रीत्या शास्त्रविस्तारविधये निधये धियाम्॥708॥
 ताडपत्रत्रुटिर्जज्ञे शलभेभ्यो दवेन च। देशान्तरादनायातैस्तैश्चिन्ता भूपतेरभूत्॥709॥
 मदगुरोः करणे शक्तिर्लेखनेऽपि न मे पुनः। शास्त्राणां ब्रीडिता अद्य ततस्ते पूर्वजा मया॥710॥
 गत्वारामे निजे तालजाले स्थित्वाऽस्य पूजनम्। गन्धद्रव्यैर्व्यधाद् भूपः सुगन्धकुसुमैस्तथा॥711॥
 उवाच तृणराज! त्वं पूज्यो ज्ञानोपकारतः। सर्वदर्शनिशास्त्राणामाधारस्त्वं दलैः कलैः॥712॥

पुस्तकावस्थितौ चेन्मे भाग्यं जागर्ति निर्भरम्। तदा भवन्तु श्रीतालाः सर्वेऽमी तालभूरुहः॥713॥
इत्युक्त्वा ग्रथितं मुक्तामाणिक्यैः स्वर्णनिर्मितम्। ग्रैवेयकं तरोः स्कन्धे न्यवेशयदशकधीः॥714॥
व्यावृत्य सौधमूर्द्धानमधितस्थौ नराधिपः। प्रातः प्रावर्द्धयंस्ते चारामपालाः प्रभुं मुदा॥715॥
सर्वे श्रीताडतां जग्मुः स्वामिन्नत्र तलदुमाः। यथेच्छं लेखकैः शास्त्रसमूहो लिख्यतां ततः॥716॥
वस्त्राभरणभोज्यादि तेषां सत्पारितोषिकम्। ददावदन्यदं दानमनादीनवचेतनः॥717॥
ततः प्रववृते पुस्तकानां लेख्यविधिस्तदा। भूपालयशसां भाग्यसंघात इव संगतः॥718॥
राजा सान्तःपुरो गेहिव्रतं बिभ्रदनिन्दितम्। सम्यग्बभार साम्राज्यं स चक्रीव त्रयोदशः॥719॥

25. अन्यदा भूपतिं श्रीमदजितस्वामिसंस्तवम्। कुर्वन्तं प्राग् रिपूच्छेदसंकल्पपरिपूरितः॥720॥
तत्प्रासादविधानेच्छुं प्रभुरादिक्षत स्फुटम्। गिरौ तारंगनागाख्येऽनेकसिद्धोन्नतस्थितौ॥721॥
विहार उचितः श्रीमन्नक्षय्यस्थानवैभवात्। शत्रुञ्जयापरामूर्तिगिरिरेषोऽपि मृश्यताम्॥722॥
चतुर्विंशतिहस्तोच्चप्रमाणं मन्दिरं ततः। बिम्बं चैकोत्तरशतांगुलं तस्य न्यधापयत्॥723॥
अद्यापि त्रिदशव्रातनरेन्द्रस्तुतिशोभितः। आस्ते संघजनैर्दृश्यः प्रासादो गिरिशेखरः॥724॥

26. आसीदुदयनस्यापि द्वितीयो नन्दनाग्रणीः। अंबडाभिधया श्रीमानमानवपराक्रमः॥725॥
श्रीमत्कुमारपालस्यादेशतो नृपतेरसौ। कुंकणाधिपतेर्मल्लिकार्जुनस्याच्छिनचिह्नः॥726॥
लाटमंडल-भंभेरीसहस्रनवकं तथा। कुंकणा-नंदपत्रं च राष्ट्रं पत्नीवनानि च॥727॥
भुंक्ते देशानिमान् स्वामिप्रसादान्निजविक्रमात्। 'राजसंहार' इत्युग्रं सान्वयं विरुदं वहन्॥728॥-युग्मम्।
अथ श्रीभृगुकच्छेऽसौ श्रीसुव्रतजिनालयम्। चिरंतनं काष्ठमयं जर्जरं परिदृष्टवान्॥729॥
घूणोत्कीर्णजरत्काष्ठपतच्चूर्णास्तुतावनिः (नि?)। श्लथायःकीलकभ्रश्यत्पट्टकच्छाद्यकावृतम्॥730॥
अतिवृष्टिगलत्तोयं पतद्भिस्त्रिजं तदा। गर्भागारेऽपि निश्च्योतदाशातितजिनेश्वरम्॥731॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
पूर्वप्रासादमुत्कील्य स्वस्थानस्थं प्रभुं ततः। प्रक्रान्तजीर्णोद्धारश्च गर्तापूरमचीखनत्॥732॥
अत्रान्तरे छले कस्मिंश्चिदस्मिन् योगिनीगणः। द्वात्रिंशल्लक्षणत्वेनाच्छलयन् श्रीमदम्बडम्॥733॥
सर्वागीणव्यथाक्रान्तस्ततः प्रभृति रुग्णरुक्। अक्षुत्तृष्णो विलीनांगः केवलं क्षीयतेतराम्॥734॥
पद्यावतीति तन्मन्त्राऽऽराद्धा पद्यावती सुरी। उपादिशदिदं स्वप्ने शृणु सत्यं वचः सुते॥735॥
महापीठमिदं विश्वयोगिनीरंगसंगतेः। तद्ग्रस्तं मोचयेन्नान्यो हेमचन्द्रं गुरुं विना॥736॥
ततः प्रातः प्रभोरेषाऽऽकारणायादिशन्नरान्। वेगात् तेऽपि प्रभुं दृष्ट्वा यथादेशं व्यजिज्ञपन्॥737॥
क्षुते नष्टे भानुरेव शरणं नापरस्ततः। जीवितव्यं सपुत्राया मम देहि प्रभो! ततः॥738॥
श्रुत्वेति गुरुराश्वेव यशश्चन्द्रसमन्वितः। आययौ पादचारेण समीपेऽम्बडमंत्रिणः॥739॥
गणी गणितनिष्णातश्चेष्टामैक्षिष्ट तस्य च। चित्ते विचिन्त्य तन्मातुर्ददौ शिक्षामलक्ष्यधीः॥740॥
नरं निशीथे विश्वासपात्रं प्रैषय मेऽन्तिके। चपलान्नबलिव्यग्रकरं सौगन्धसंगतम्॥741॥
प्रातौलिकानामादेशे दापिते निशि सूरयः। दुर्गाद् बहिः प्रचेतुस्ते गणिना सह तेन च॥742॥
उद्घाट्य गोपुरद्वारा तत्र निर्गत्य ते ततः। गच्छन्तो ददृशुर्मागं कलविककदम्बकम्॥743॥
चगच्चगिति शब्दाद्वये तन्मुखे बलिमक्षिपन्। यशश्चन्द्रस्ततो दृष्टनष्टं तत् तत्क्षणादभूत्॥744॥
गच्छन्ति कियदध्वानं तावत्ते कपिपेटकम्। अद्राक्षुर्मक्षु तत्रापि सपर्यक्षिपदक्षतान्॥745॥
असत्तुलं तदाभूत्तत् ततोऽप्यग्रे च ते ययुः। श्रीसैन्धवीसूरीवेशमपार्श्वं कातरभीषणम्॥746॥

अग्रे व्यलोकयन् यावत् तावन्मार्जारमण्डलम्। अविच्छिन्नमहारौद्रशब्दभीषितबालकम्॥747॥
 पुष्पाणि तत्र रक्तानि चिक्षेपाथ ननाश तत्। तोरणाग्रे महादेव्याः प्रभुरूर्द्धवदमः स्थितः॥748॥
 अनाकुलं गणी प्रोचे हेमसूरिस्तवांगणे। आयासीदतिदूरेण पादचारेण कष्टभूः॥749॥
 अभ्युत्थानादिका पूजा कर्तुं समुचिता तव। एषोऽर्चितो यतः सर्वैः पीठैर्जालन्धरादिभिः॥750॥
 एवं वदत एवास्य चलच्चञ्चलकुण्डला। पुरः श्रीसैन्धवीदेव्यस्थाद् योजितकरद्वया॥751॥
 आतिथ्यमतिथीनां नो विधेहि विबुधेश्वरि॥ अम्बडं मोचय स्वीयपरिवाराद् बलादपि॥752॥
 श्रुत्वेति सद्गुरोर्वाक्यं प्राह सा परमर्थ्यताम्। सहस्रधाविभक्तश्च स परं योगिनीगणैः॥753॥
 गण्यथाह महाक्षेपादित्यमप्यस्तु चेत्तव। व्यावृत्य निजकं स्थाने उपवेष्टुं समर्थता॥754॥
 प्रभोः श्रीहेमचन्द्रस्य दीयतां मानमद्भुतम्। ततो यथोभयो रूपमवतिष्ठेत मण्डले॥755॥
 इत्याकर्ण्य भयोद्भ्रान्ता देवी शब्दं दधौ गुरुम्। यदाहूतः सुरीवर्गोऽमुज्ज्वलहाय मंत्रिणम्॥756॥
 प्रदापयामि वाचो वः किं देव्येत्युदिते सति। ब्रह्मादिवाग्भिरास्था का परब्रह्मनिधेः प्रभोः॥757॥
 भवत्याः प्राभूतं किञ्चिद् विधास्यामः पुनः प्रगे। विसृज्येति सुरीं स्थानं स्वं ययौ प्रभुरप्यतः॥758॥
 श्रीमदम्बडमन्त्रीन्दोर्निद्रा रात्रौ तदाययौ। प्रातः साहस्रिकं भोगं स श्रीदेव्या व्यधापयत्॥759॥
 इत्थं श्रीसैन्धवीदेव्याः प्रभुभिर्मोचितोऽम्बडः। श्रीमत्सुव्रतचैत्यस्य जीर्णोद्धारमकारयत्॥760॥
 हस्ताष्टादशकं चैत्यमप्रतिच्छन्दधाटभृत्। अनेकदेववेशमादयं बभौ हेमाद्रिकूटवत्॥761॥
 ध्वजारोपोत्सवं तत्राकारयत् सचिवाग्रणीः। तं समीक्ष्याशिषं प्रादाद् गुरुस्तुष्टिभरैर्गुरुः॥762॥
 तथा हि-

किं कृतेन न यत्र त्वं यत्र त्वं तत्र कः कलिः।

कलौ चेद्भवतो जन्म कलिरस्तु कृतेन किम्॥763॥

तज्जयाचन्द्रसूर्यं त्वं निजवंश्यमनोरथान्। पूरयन् चूरयन्नन्तर्बहिःशात्रवमण्डलम्॥764॥
 तमापृच्छ्य समागत्य स्वस्थाने भूपतिं प्रभुः। प्रधानायुः प्रदानेन विदधे मेदुरं मुदा॥765॥
 दुस्साधसाधिका यस्य गुरोरीदृग्मानुषी। शक्तिस्तत्कृतपुण्यत्वं मय्येवेति नृपोऽवदत्॥766॥

27. अन्येद्युरपदिष्टे च सम्यक्त्वे संघसाक्षिकम्। राजा गृहीते गुरुभिर्गाथाभेनां स जल्पितः॥767॥
 तथा हि-

तुम्हाण किंकरो हं तुम्हे नाहा भवोयहिगवस्या।

सयलघणाइसमेओ मई तुम्ह समप्पिओ अप्पा॥768॥

व्याख्यातायामथैतस्यामर्थं सत्यापयन्नृपः। राज्यं समर्पयामास जगद्गुरुवस्ततः॥769॥
 निस्संगानां निरीहाणां नार्थो राज्येन नो नृपः। आपिबामः कथं भोगान् खान्ताननुचितं ह्यदः॥770॥
 एवं विवादसम्बाधे दानाग्रहणकारणे। गुरु-भूपालयोर्मन्त्री वैशिष्ट्यमकरोदिदम्॥771॥
 सर्वाणि राजकार्याणि कार्याण्यश्रावितानि न। अतः परं प्रभो राज्ये भूयादनुमतं ह्यदः॥772॥
 प्रतिपन्ने ततः श्राद्धव्रतसद्भयानहेतवे। भूपस्याध्यात्मतत्त्वार्थावगमाय च स प्रभुः॥773॥
 योगशास्त्रं सुशास्त्राणां शिरोरत्नमसं व्यधात्। अध्याप्य तं स्वयं व्यक्तं तत्पुरश्च व्यचारयत्॥774॥-युग्मम्।

28. जग्राह नियमं राजा दर्शनी जिन्दर्शने। यादृशस्तादृशो वा मे वन्द्यो मुदेव भूपतेः॥775॥
 चतुरंगचमूमध्ये राजा राजाध्वना व्रजन्। गजारूढोऽन्यदाऽद्रक्षीज्जैनर्षिं वेश्यया समम्॥776॥

क्षुरलूनशिरःकेशं सितवैकक्षकावृतम्। कस्तीरास्तीर्णसध्वानपन्नद्धारूढपादकम्॥१७७७॥
अतुल्यफणभृद्वल्लीदलबीटकहस्तकम्। आलम्बितभुजादण्डमसेऽस्या मन्दिशद् बहिः॥१७७८॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
कुम्भयोर्न्यस्य मूर्द्धानं तं ननाम महीपतिः। पृष्ठासनस्थितश्चक्रे नड्डूलनृपतिः स्मितम्॥१७७९॥
ददर्श चाभटामात्यस्तत् प्रभोश्च न्यवेदयत्। ततो राज्ञः पुरः पूज्या इत्थं धर्मकथां व्यधुः॥१७८०॥
तथा हि-

पासत्थाङ्गं वंदमाणस्स नैव किञ्चि न निज्जरा होइ।

कायकिलेसं एमेव कुणइ तह कम्मबंधं वा॥१७८१॥

व्यमृशद् भूपतिः केनाप्यद्य वृत्तं निवेदितम्। व्यजिज्ञपच्च पूज्यानां शिक्षाभिर्निर्वृतोऽस्यहम्॥१७८२॥
इतश्च पृथिवीशक्रनमस्कारमुदीक्ष्य सः। दध्यावध्यामचैतन्यं का मय्यस्ति नमस्यता॥१७८३॥
विध्वस्तवीतरागज्ञे त्यक्तभोगपुनर्ग्रहे। अदृश्यास्ये प्रतिज्ञाया भ्रष्टे दुर्ग्राह्यानामनि॥१७८४॥-युग्मम्।
अमुचद् भुजनस्याश्च चापतुल्यं मनोभुवः। कुधियां पेटकं वाथ बीटकं व्रतकण्टकम्॥१७८५॥
नरकाध्वनि यानाभे मुमोचायमुपानहौ। विरागी स्वाश्रयेऽगच्छदतुच्छं स्वल्पभर्तृकः॥१७८६॥
पुनर्व्रतं समुच्चार्य गुरुपान्ते महामनाः। संगत्यागादनशनप्रत्याख्यानी बभूव सः॥१७८७॥
निजैरेकघाऽप्युक्तो दृढो नासौ निजाग्रहात्। पश्चाद् व्याजुष्टे द्रोणीमब्धौ लब्धां हि कस्यजेत्॥१७८८॥
अनशन्याश्रयास्तत्र प्रावर्तन्त प्रभावनाः। वरिवस्यां तपस्यायाः श्रेयोधी कः करोति न॥१७८९॥
विज्ञप्तेऽधिकृतैस्तत्र भूपो नन्तु तपोनिधिम्। अभ्याययौ प्रमोदेन सान्तःपुरपरिच्छदः॥१७९०॥
यावत् पश्यति तद्वक्त्रं तावद् दृष्टः स एव यः। पण्यांगनागृहद्वारे कुवेषोऽपि नतस्तदा॥१७९१॥
तद्गुरून् मुनिवर्गं च नत्वा भूपालपुंगवः। तत्पादौ प्रणमंस्तेन निविद्धो भुजधारणात्॥१७९२॥
महाराज! गुरुस्त्वं मे भवाब्धेस्तारितस्त्वया। तव विश्वेऽपि वन्द्यस्य प्रणामो ह्यतिदुर्जरः॥१७९३॥
मादृशा भ्रष्टचारित्रा विराधितजिनोक्तयः। आराधकाः कथं नु स्युः स्फुरन्नरकदौहदाः॥१७९४॥
भवादृशः पृथिव्यां चेन्नाथोऽपूर्वपितृप्रभुः। न स्याल्लोकद्वयापायसंहर्ता प्राणभृद्गणे॥१७९५॥-युग्मम्।
अवन्द्यं वन्द्यमानेन मां निस्तारयितुं त्वया। पुपूरे समसंवेगकासना संगमोचिनी॥१७९६॥
निजैर्गृहस्थैर्यतिभिरभियुक्तोऽपि जीवितुम्। क्लीबो व्रतस्य कष्टानि न सोढा प्रायमासदम्॥१७९७॥
उवाच भूपतिर्धीमन्! मुनीशः कस्त्वया समः। निमित्तदेकतस्त्यक्तसंगः प्रत्येकबुद्धवत्॥१७९८॥
तीर्थकृद्दर्शनाधारं प्रणामं मे स्वभावजम्। मानयन्नुपकाराय कृतज्ञमुकुटायसे॥१७९९॥
ममाथ वन्दनामात्रार्जितमप्यप्रतीच्छया। अदित्सन् सुकृतं संविभागार्हं मां न मन्यसे॥१८००॥
उदरभरिता युक्ता सतां नैतदिति बुवन्। तद्वचोऽवसरादानात् प्रणनाम बलादपि॥१८०१॥
अथाहानशनी धन्यो देशः पुण्यश्रियः प्रजाः। क्षाल्यते यत्र पंकस्त्वदर्शनामृतवृष्टिभिः॥१८०२॥
श्रुत्वेत्यानन्दसम्भेदगद्गदाक्षः क्षमापतिः। प्रभोः श्रीहेमचन्द्रस्य गत्वा वृत्तमथावदत्॥१८०३॥
युष्माभिरुपदिष्टानां नियमानां प्रपालना। प्रभो! कामदुषैवेयं समस्तहृदभीष्टदा॥१८०४॥
अवोचन् गुरवः पुण्यदर्शयं तव जाग्रती। प्रकाशयति वस्तूनि गुरुभक्त्यर्चिर्वर्चिता॥१८०५॥
एवं कृतार्थयन् जन्म सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन्। चक्रे संप्रतिवज्जैनभवनैर्मण्डितां महीम्॥१८०६॥

29. श्रीशलाकानुगां वृत्तं स्वोपज्ञं प्रभवोऽन्यदा। व्याचख्युर्नृपतेर्धर्मस्थिरीकरणहेतवे॥१८०७॥
श्रीमहावीरवृत्तं च व्याख्यान्तः सूरयोऽन्यदा। देवाधिदेवसम्बन्धं व्याचख्युर्नृपतेः पुरः॥१८०८॥
यथा प्रभावती देवी भूपालोदयनप्रिया। श्रीचेटकावनीपालपुत्री तस्या यथा पुरा॥१८०९॥

धारिधौ व्यन्तरः कश्चिद् यानपात्रं महालयम्। स्तम्भयित्वाऽर्पयच्छाङ्गस्यार्द्धं संपुटं दृढम्(?)॥810॥
 एनं देवाधिदेवं य उपलक्षयिता प्रभुम्। स प्रकाशयिता नान्य इत्युक्त्वाऽसौ तिरोदधे॥811॥
 पुरे वीतभये यानपात्रे संघटिते यथा। अन्यैर्नोद्घाटितं देव्या वीराख्यायाः प्रकाशितम्॥812॥
 यथा प्रद्योतराजस्य हस्तं सा प्रतिमा गता। दास्या तत् प्रतिबिम्बं च भुक्तं पश्चात् पुरे यथा॥813॥
 ग्रन्थगौरवभीत्या च न तथा वर्णिता कथा। श्रीवीरचरितान्द्रेया तस्यां श्रुतिसकौतुकैः॥814॥-षड्भिःकुलकम्।
 तां श्रुत्वा भूपतिः कल्पहस्तान्निपुणधीरसौ। प्रेष्य वीतभये शून्येऽचीखनत् तदभुवं क्षणात्॥815॥
 राजमन्दिरमालोक्य भुवोऽन्तस्तेऽतिहर्षतः। देवतावसरस्थानं प्रापुर्बिम्बं तथार्हतः॥816॥
 आनीतं च विभो राजधानीमतिशयोत्सवैः। स प्रवेशं दधे तस्य सौधदैवतवेशमनि॥817॥
 प्रासादः स्फाटिकस्तत्र तद्योग्यः पृथिवीभृता। प्रारेषेऽथ निषिद्धश्च प्रभुभिर्भाविवेदिभिः॥818॥
 राजप्रासादमध्ये च नहि देवगृहं भवेत्। इत्थमाज्ञामनुल्लङ्घ्य न्यवर्तत ततो नृपः॥819॥
 एकातपत्रतां जैनशासनस्य प्रकाशयन्। मिथ्यात्वशैलवज्रं श्रीहेमचन्द्रप्रभुर्बभौ॥820॥

30. तथा लोलार्कचैत्यस्याग्रतः क्षेत्राधिपालये। अपश्यदामिषापूर्णं शरावं तण्डकाधिपः॥821॥
 तेन त्रिलोचनस्येव संहर्तुरनयस्पृशाम्। तत् त्रिलोचननाम्नश्च तलारक्षस्य दर्शितम्॥822॥
 असंख्यजनसंचारानुपलब्धपदस्ततः। अन्वेषयन्नुपायं स लेभे मतिमतां वरः॥823॥
 कुलालवृन्दमाकार्यं प्रत्येकं तदुदैक्षयत्। शरावं घटितं केन पप्रच्छेति कुशाग्रधीः॥824॥
 एकस्तेषामभिज्ञाय व्याहरद् घटितं मया। अचीकरच्च तं लक्षो नङ्गूलेशस्थगीधरः॥825॥
 विसृज्य तान् महीशाय तलारक्षो व्यजिज्ञपत्। व्याजहे तत्क्षणान्नाथ [ः] केतूहणं मण्डलेश्वरम्॥826॥
 आज्ञाभंगापराधेन देशः श्रीकरणे त्वया। उदगप्यतां स चावादीन् जाने किमिदं प्रभो॥827॥
 द्वारावलगकाख्याते स्थगीशचरिते ततः। लक्षं विलक्षं हत्वा च तोषं चक्रे प्रभोरसौ॥828॥
 चैत्रमाघाश्वयुग्मासमहेष्वपि सुरीगणः। अहिंसया मुदं प्राप गुणे को मत्सरं वदेत्॥829॥
 कर्पूरप्रमुखैर्भोगैर्बलिभिर्मोदकादिभिः। तुष्टोऽसौ मद्य-मांसेषु पिच्छिलेषु श्लथादरः॥830॥
 शैवाचार्या अपि तदा मिथ्याधर्मेष्वनादृताः। जटान्तः स्थापनाचार्यमवहन् कृतिकर्मणे॥831॥
 श्रीवीतरागमभ्यर्च्य परमेष्ठिनमस्कृतीः। परावर्तन्त धर्मोऽपि राजार्च्यः क्रियते जनैः॥832॥

चराचरवपुर्भूतामभयवानदानेश्वरो

जडाखिलवृगापगाचरणरत्नराशिप्रदः।

लसन्निज-परागमाप्रकटतत्त्वपारंगमः

शशांककुलशेखरो जयति हेमचन्द्रप्रभुः॥833॥

व्याकरणं पंचांगं प्रमाणशास्त्रं प्रमाणमीमांसा।

छन्दोऽलंकृतिचूडामणी च शास्त्रे विभुर्व्यधित॥834॥

एकार्थानेकार्था देश्या निर्घण्ट इति च चत्वारः।

विहिताश्च नामकोशाः शुचिकवितानद्युपाध्यायाः॥835॥

व्युत्तरषष्टिशलाकानरेतिवृत्तं गृहिव्रतविचारे।

अध्यात्मयोगशास्त्रं विदधे जगदुपकृतिविधित्सुः॥836॥

लक्षण-साहित्यगुणं विदधे च ह्याश्रयं महाकाव्यम्।

चक्रे विंशतिमुच्चैः सवीतरागस्तवानां च॥८३७॥

इति तद्विहितग्रन्थसंख्यैव नहि विद्यते। नामापि न विदन्त्येषां मादृशा भन्वमेधसः॥८३८॥

31. व्याख्यामन्यदा श्रीमच्छत्रुंजयगिरेः स्तवम्। श्रीमदरैवतकस्यापि प्रभुराह नृपाग्रतः॥८३९॥

उपदेशप्रदीपेन विध्वस्तान्तस्तमा नृपः। तीर्थायात्रां ततश्चक्रे शक्रेभोज्ज्वलकौर्त्तिभृत्॥८४०॥

प्रयाणैः पंचगव्यूतैः पादचारेण सोऽन्यदा। अनुपानत्कगुरुणा प्रापोपबलभि द्रुतम्॥८४१॥

तत्रास्ति स्थाप ईर्ष्यालुरिति भूमिधरद्वयम्। तदधो गुरवः प्रीताः प्रातरावश्यकं दधुः॥८४२॥

भूपतिस्तत्र चागत्य वासनामोदमेदुरः। प्रभुत्वान्निर्जितात्मीयगुरुनिष्ठः विशिष्टधीः॥८४३॥

प्रणनाम प्रभोः पादौ प्रक्रान्तेऽतः प्रयाणके। प्रासादौ कारयामास भूपोऽत्र गुरुभक्तितः॥८४४॥

श्रीनाभेय-त्रयोविंशजिनविम्बे विधाप्य च। प्रतिष्ठाप्य प्रभोः पार्श्वोदस्थापयत चात्र सः॥८४५॥

विमलाद्रौ जिनाधीशं नमश्चक्रेऽतिभक्तितः। निजानुमानतोऽप्यर्च्य यथौ रैवतकाचलम्॥८४६॥

दुरारोहं गुरुं पद्याभावाद् दृष्ट्वा स दाम्भटम्। मंत्रिणं तद् विधानाय समादिक्षत् स तां दधौ॥८४७॥

तत्र छत्रशिलाशंकावशाच्छैलाधिरोहणम्। राज्ञो विघ्नाय तदधोभूस्थः श्रीनेमिमार्चयत्॥८४८॥

ततो व्यावृत्य स प्राप नगरं स्वं नराधिपः। जैनयात्रोत्सवं कृत्वा मेने स्वं पुण्यपूरितम्॥८४९॥

शर-वेदेश्वरे (1145) वर्षे कार्तिके पूर्णिमानिशि।

जन्माभवत् प्रभोर्व्योम-बाण-शम्भौ (1150) व्रतं तथा॥८५०॥

रस-षट्केश्वरे (1166) सूरिप्रतिष्ठा समजायत।

नन्द-द्वय-रवौ वर्षे (1229) ऽवसानमभवत् प्रभोः॥८५१॥

इत्थं श्रीजिनशासनाभ्रतरणेः श्रीहेमचन्द्रप्रभो-

रज्ञानान्धतमःप्रचारहरणं मात्रादृशां मादृशाम्।

विद्यापंकजिनीविकाशि विवितं राज्ञोऽतिवृद्ध्यै स्फुरद्

वृत्तं विश्वविबोधनाय भवताद् दुष्कर्मभेदाय च॥८५२॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरिपट्टसरसीहंसप्रभः श्रीप्रभा-

चन्द्रःसूरिरनेन चेतसि कृते श्रीरामलक्ष्मीभुवा।

श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ श्रीहेमचन्द्रप्रभा-

श्रीप्रद्युम्नमुनीन्वुना विशदितः शृंगो द्विकद्विप्रमः॥८५३॥

॥ इति श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रबन्धः ॥



ग्रन्थकारकृता स्वकीया प्रशस्तिः

भास्वत्पात्रं कविमुनिबुधभ्राजितो राजसेव्यः

सर्वेष्टार्थप्रदगुरुलसत्कल्पवृक्षावदातः।

श्रीजैर्नाहि श्रयशुचि शिराः सिद्धिमद्भद्रशालो

गच्छश्चान्द्रः सुरगिरितुलामश्वनुवानः समस्ति॥१॥

प्रद्युम्नसूरिरिति तत्र पुरा बभूव मन्दारपादपतुलः कलितोरुशाखः।

यत्संगमामृतरसैर्बहवः सुधर्माधीशा भवन्ति सुधियः सुमनोभिरामाः॥२॥

अल्लूसभायां विजिते दिगम्बरे तदीयपक्षः किल कोशरक्षकः।

दातुं प्रभोरेकपटं समानयत् तमेकपटं जगृहे सुधीषु यः॥३॥

शिष्योऽस्याभयदेवसूरिरभवज्जाडयान्धकारं हरन्

गोभिर्भास्करवत् परां विरचयन् भव्याप्तवर्गे मुदम्।

ग्रन्थो वादमहार्णवोऽस्य विदितः प्रौढप्रमेयोर्मिभृत्

दत्तेऽर्थं जिनशासनप्रवहणे सांयात्रिकाणां ध्रुवम्॥४॥

त्रिभुवनगिरिस्वामी श्रीमान् स कर्दमभूपति-

स्तदुप समभूत् शिष्यः श्रीमद्धनेश्वरसञ्ज्ञया।

अजनि सुगुरुस्तत्पट्टेऽस्मात् प्रभृत्यवनिस्तुतः

तदनु विदितो विश्वे गच्छः स 'राज' पदोत्तरः॥५॥

सुगुरुरजितसिंहस्तत्पदाम्भोजभानुः समजनि जनितश्रीर्भव्यपंकेरुहाणाम्।

वचनकरवितानं यस्य देदीप्यमानं जडगतमपि सोढुं दुर्दृशोर्न क्षमन्ते॥६॥

श्रीवर्द्धनानसुगुरुः कर्कोन्तधामसंगतस्तदनु।

मतसंघचारिशरणः समजनि जनलग्नदोषहरः॥७॥

तत्पट्टभूमिरुहपोषतपात्ययश्रीः श्रीशीलभद्र इति सूरिपदं प्रपेदे।

धर्मोपदेशजलवाहजलैर्यदीयः प्रापोन्नतिं जगति कीर्तिलतावितानः॥८॥

तदहिसरसीहंसः सूरिः श्रीचन्द्र इत्यभूत्।

विवेचकः शुचिः सद्गीस्तद्वाचानुपजीवनात्॥९॥

अर्थप्रकाशिका शास्त्रचक्षुषाममृताञ्जनम्।

घनसाररसाद्या यन्मतिः पुन्नागरंगभृत्॥१०॥

सूरिः श्रीभरतेश्वरस्तदनु च प्रामाणिकग्रामणी-
र्यन्नामस्मृतितोऽप्यर्घं हरति च श्रीधर्मघोषप्रभुः।
कल्याणावलिकन्दलालिजलदः श्रीसर्वदेवो गुरु-
श्चत्वारः किल शीलभद्रसुगुरोः शिष्या नरेन्द्रार्चिताः॥११॥

श्रीपात्रं स जिनेश्वरप्रभुरभूत् संघाम्बुधौ चन्द्रमाः।
सूरिः श्रीजिनदत्त इत्युदितधीरुन्निद्रविद्याद्युतिः।
चारित्रामलशैलनन्दनवनं श्रीपद्मदेवप्रभुः
श्रीश्रीचन्द्रमुनीश्वरस्य जयिनः शिष्या अभूवन्नमी॥१२॥
श्रीसंघरोहणधराधरचारुत्वं श्रीपूर्णभद्रगुरुरभ्युदितः पदेऽस्य।
यत्सन्निधिस्थितिभृतो भुवि भव्यसार्था वस्तूनि विश्वविषयाणि विलोकयन्ति॥१३॥

तत्पट्टोदयपर्वतामृतरुचिः प्रीणंश्चकोरत्रजं
श्रीचन्द्रप्रभसूरिरद्भुतमतिज्योत्स्नानिधानं बभौ।
आश्चर्यं न कलंकधाम तमसानुल्लङ्घ्यमूर्तिं भवं
पाथोधिं क्षणुते विनम्रकमलोत्लासी न दोषाकरः॥१४॥

आचार्यः श्रीप्रभाचन्द्रस्तत्पादाम्भोजषट्पदः।
चित्रं यः सुमनःस्थोऽपि सदानवगुरुक्रमः॥१५॥
श्रीहेमचन्द्रसूरीणामनुध्यानप्रवृत्तिः।
पर्वणः परिशिष्टस्य दृष्टेः सम्पुटवासनः॥१६॥
श्रीवज्रानुप्रवृत्तप्रकटमुनिपतिप्रष्ठवृत्तानि ततद्
ग्रन्थेभ्यः कानिचिच्च श्रुतधरमुखतः कानिचित् संकलय्य।
दुष्प्रापत्वादमीषां विशकलिततथैकत्र चित्रावदातं
जिज्ञासैकाग्रहाणामधियतविधगऽभ्युज्ज्वयं स प्रतेने॥१७॥-त्रिभिर्विशेषकम्।
अत्र क्षूणं हि यत्किञ्चित् संप्रदायविभेदतः।
मयि प्रसादमाधाय तच्छोधयत कोविदाः॥१८॥

यतः-

आराधितं मया शून्यं यथा तुष्टं स्वतामदात्।
निजोक्तौ स्थापितं तत् प्राक् कथाकन्थी कृतास्ततः॥१९॥

रोदोरन्ध्रगसिद्धकिन्नरगणानुल्लङ्घ्यशृंगस्थिति-
स्तुंगत्वोदितवृत्तशेवधिरतिप्रौढार्थसंपत्तिकृत्।
पूरत्नप्रभया तिरस्कृतपरज्योतिः प्रकाशोदयः
श्रीपूर्वर्षिचरित्ररोहणगिरौ स्यादारवीन्दुब्रुवः॥२०॥

श्रीप्रद्युम्नगुरोर्हिमांशुविशदो बोधः शुचेः संगतो
 मिश्रो रक्तरुचा मम प्रतिपदास्फूर्जद्यशःपूरुषः।
 ज्ञानश्रीपुरतः पदार्थघटनाबिम्बद्वयोदटंकेनात्
 जातो ग्रन्थमिषेण साक्षरशुचिर्द्रुमश्चिरं नन्दतु॥21॥
 वेदानल-शिखि-शशधर (1334) वर्षे चैत्रस्य धवलसप्तम्याम्।
 शुक्ले पुनर्वसुदिने सम्पूर्ण पूर्वऋषिचरितम्॥22॥
 शिक्षाप्रसादवशतः स्वगुरोर्मयैनमायासमत्र दधता यदवापि पुण्यम्।
 व्याख्यानसक्तमनसः श्रवणादराश्च श्रेयस्सुसंगममनुत्तरमवाप्नुवन्तु॥23॥
 ग्रन्थस्य मानमस्य प्रत्यक्षरगणनया सुनिर्णीतम्।
 पञ्चसहस्राः सप्त च शतानि चतुरधिकसप्ततियुतानि॥24॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥



हिन्दी भाषानुवाद

श्रीप्रभाचन्द्रसूरि-विरचित

प्रभावकचरित

॥ श्रुतदेवता को नमस्कार ॥

प्रास्ताविक

मैं, विश्व-शासन को उत्कर्ष प्रदान करनेवाले आर्हत तत्त्व की स्तुति करता हूँ, जिस (अर्हत) की कृपा से पूर्व काल में भी (लोगों ने) महोदय (अतिश्रेष्ठ) पद को प्राप्त किया।।1।।

सब प्रकार से श्रीसम्पन्न मंगल के विधायक, वृषभध्वज, कामान्तक, भूतगणों के पति आदि तीर्थनाथ शिव आप सबको पवित्र (पाप-मुक्त) करें।।2।।

मृग-लाञ्छन से युक्त, भोगलक्ष्मी से रहित, जनता के पाप का विनाशक तथा विस्मित करनेवाली सुनिश्चित स्थितिवाले महाबली प्रभु शान्तिनाथ रक्षा करें।।3।।

मनोरम अंजन जैसी कान्तिवाले दशावतार आपकी रक्षा करें। क्या श्रीपति ही प्रदीप (जड़ता-रूप अन्धकार को दूर करनेवाले) हैं, तीर्थकर श्रीपार्श्वनाथ नहीं।।4।।

भव्यजन-रूप गोचर (भूमि) पर गौ की तरह विचरण करते हुए जो (भिक्षा) पात्र को पूरा करते हैं, वह इन्द्रियजयी वर्द्धमान कल्याण-रूप अमृत से (सबकी) रक्षा करें।।5।।

वह गोदावरी पूर्वांग-परिमित हैं। सरस्वती सुन्दर मनवालों (फूलों) द्वारा अर्चनीय हैं। जिन्होंने बहुत बार अपने उत्कर्षकारी चरण इस धरती पर रखे, उन गौतम को मैं नमन करता हूँ।।6।।

जिनकी कृपा से सत् पदार्थों की प्राप्ति होती है, जीवों के लिए संजीवनी-स्वरूप उन भारती को और लक्ष्मी को मैं नमन करता हूँ।।7।।

जिनके द्वारा प्रदत्त एकार्थ-रूप (सम्पदा) की करोड़-गुनी वृद्धि हो जाती है, उन चन्द्रप्रभसूरि से मैं उद्घृष्ट कैसे हो सकता हूँ?।।8।।

जो मिथ्यात्व के आदर में तत्पर रहता है, वह जयशील सज्जन कैसे हो सकता है? सज्जन व्यक्ति दूसरे के दोष को कई गुना करके दोष (अर्जन) के प्रति उद्योगशील नहीं होते हैं।।9।।

जो स्तुति के प्रति अतिशय अनादर का भाव रखते हैं, वे असज्जन (पुरुष) क्या स्तुत्य होते हैं? अभ्यासी व्यक्ति सूक्ष्म दृष्टि से क्षण भर में (सज्जन-असज्जन को) परख लेते हैं।।10।।

पुराकाल में, कलियुग में युगप्रधान प्रभु श्रीहेमचन्द्र ने राजाओं के बोधकारी श्रीशलाकापुरुषों का वृत्त प्रस्तावित किया।।11।।

इन्होंने छह श्रुतकेवलियों और दस पूर्वधारियों के चरित भी वज्रस्वामी के

वृत्त-सहित प्रस्तुत किये॥12॥

उनके नाम के ध्यान की कृपा से संस्कार-सम्पन्न होकर इन्होंने मानो हिमालय पर पैदल चढ़ने जैसा समग्र विश्व के लिए हास्यजनक कार्य किया॥13॥

श्रीवज्र के बाद प्रवर्तित शासन की उन्नति करनेवाले कतिपय प्रभावक मुनिश्रेष्ठों के वृत्त भी प्रस्तुत किये॥14॥

(श्रीप्रभावचन्द्रसूरि कहते हैं) बहुश्रुत मुनिवरों से सुनकर और प्राचीन ग्रन्थों से कतिपय इतिवृत्त जानकर उनका (मैं) वर्णन करूँगा॥15॥

श्रीदेवानन्द के शिष्य कनकप्रभ के प्रमुख शिष्य श्रीप्रद्युम्न प्रभु इस ग्रन्थ के संशोधक हैं। (इस ग्रन्थ के अन्य प्रस्तावकों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं)– श्रीवज्र, रक्षित, श्रीमान् आर्यनन्दिल, श्रीकालकाचार्य सूरि, पादलिप्त प्रभु, रुद्रदेव प्रभु, श्रमणसिंहसूरि, आर्यखपुट, प्रभावक महेन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि, मुनीश्वर जीवदेव, वादिश्रेष्ठ सिद्धसेन, हरिभद्र प्रभु, प्रभु मल्लवादी, श्रेष्ठ विद्वान् बप्पभट्टि, श्रीमान्तुंगसूरि, मुनिश्रेष्ठ श्रीमानदेव, सिद्ध व्याख्याता विद्वान् श्रीमान् वीरगणि, वादिवेताल उपाधिवाले शान्तिसूरि प्रभु, श्रीमान् महेन्द्रसूरि, श्रीधनपाल, राजा भोज के सभाविजयी विद्वान् प्रभु सूर्याचार्य, श्रीमान् अभयदेव, कवीश्वर वीराचार्य, गुरु देवसूरि तथा श्रीमान् हेमचन्द्र प्रभु। मेरे (प्रभावचन्द्रसूरि) जैसे अल्पमति की, इन विद्वानों के गुण-कीर्तन में वही स्थिति है, जैसे गूँगा भी चीनी के आस्वाद में (मुँह से) अस्फुट स्वर निकालता है। मैं इस चरित-रूप वृक्ष से वृत्त-रूप सुमन-समूह जुटाकर उन वृत्त-सुमनों की बड़ी माला, गुरु की आज्ञा से, गूँथता हूँ॥16-25॥



वज्रस्वामी-चरित

1. सौभाग्य-रूप भाग्य के निधिस्वरूप जिनका नाम आदिमंगल है, उन वज्रस्वामी विभु का वृत्त (चरित) मैं पहले कहता हूँ॥26॥

पृथ्वी-रूप सरोवर के कमल-स्वरूप अवन्ती नाम का देश है, जिसके गुण-समूह-रूप रंगमंच के साथ लक्ष्मी और सरस्वती ने मैत्री स्थापित कर ली थी॥27॥

वहाँ तुम्बवन नाम का स्थान (नगर) था, जो (सांसारिक) दुःखों से मुक्त था। उस नगर में रहने के लिए देवता भी इच्छुक होते थे॥28॥

वहाँ धन नाम का सेठ था, जिसने अपनी अपरिमित दानशीलता से मानो स्वर्ग में स्थित काधेनु और कल्पवृक्ष को जीतकर (अपने यहाँ) ले आया था॥29॥

उस सेठ के पुत्र का नाम धनगिरि था, जो शरीर से कामदेव के समान था और याचकों की दुःस्थिति रूप मोथे* के उच्छेदन में महावराह के समान था॥30॥

बचपन से ही वह (धनगिरि) प्रौढ़ मनवाला विवेकशील नागरिक था। महात्माओं के प्रति प्रीति रखनेवाला वह विवाह का अभिलाषी नहीं था॥31॥

वहाँ (तुम्बवन में) धनपाल नाम का महाधनी व्यापारी था, जिसकी लक्ष्मी (धन-सम्पदा) को देखकर लक्ष्मीपति (विष्णु) समुद्र में प्रविष्ट हो गये॥32॥

उस व्यापारी के आर्य समित नाम का पुत्र तथा सुनन्दा नाम की पुत्री हुई। इन दोनों में लक्ष्मी और कौस्तुभ के समान मेल था॥33॥

यौवन के उद्गम से गदराये शरीरवाली सुनन्दा को देखकर उसके पिता धनपाल ने धन सेठ के पुत्र धनगिरि को उसके गुण-गौरव से प्रभावित होकर सुनन्दा के वर के रूप में सोचा॥34॥

उस (धनपाल) का पुत्र समित गृहवास में भी संन्यासी की तरह रहता था। क्षणस्थायी भोगों के प्रति उसे अतिशय वैराग्य हो आया था॥35॥

उसने श्रुत-रूप श्रीखण्ड के मलयगिरि-स्वरूप तथा मुक्ति के आवास-सदृश प्रभु सिंहगिरि के निकट दीक्षा ग्रहण कर ली॥36॥

एक दिन सुधी धनपाल ने धनगिरि से कहा— सुनन्दा तुमसे विवाह करके सागर से मिलनेवाली रेवा (नदी) के समान बने॥37॥

उसने उस (धनपाल) से कहा— आप तो तत्त्वार्थ के ज्ञाता हैं और फिर एक

* 'मोथा' घास एक प्रकार की वनौषधि है, जिसकी स्वाद में तीखी जड़ सूअरों को बहुत प्रिय है, जिसे वे खाने के लिए अपने धूथन से जमीन कोड़कर निकालते हैं। -अनुवादक

सहृदय सुहृद् भी हैं, तो फिर (मुझे) भवचक्र में बाँधना आपके लिए उचित है क्या?॥38॥

धनपाल ने भी (उत्तर में) कहा- पुराकाल में श्रीऋषभ प्रभु ऋण के समान इस भोगकर्म को भोगकर भव-सागर से मुक्त हुए॥39॥

'तो, हे अभिमानी! यह अनुचित नहीं है। मेरी बात मानो।' अतिविरक्त मन होने पर भी उस (धनगिरि) ने उस (धनपाल) के आग्रहवश उसकी बात मान ली॥40॥

निरन्तर उत्सवों में संलग्न, शुभ लग्न में (उस धनगिरि ने) सुनन्दा से विवाह कर लिया। अनासक्त होते हुए भी उसने मृत्युलोक में दुर्लभ विषयों का उपभोग किया॥41॥

कालान्तर में वह वैश्रमणजातीय सामानिक देव हो गया। अष्टापद गिरि के शिखर पर इन्द्रभूति ने उसे प्रतिबोधित किया॥42॥

अपनी आयु का क्षय होने पर वह सुनन्दा की कोख-रूप सरोवर में उतरा, यानी सुनन्दा की कोख में आया। पूर्वजन्म के प्रेमवश उसे शुभ स्वप्न हुए, बुरे स्वप्नों से वह दूर ही रहा॥43॥

तब, धनगिरि ने अपने को धन्य माना और अवसर पाकर पुत्र-प्राप्ति से सन्तुष्ट व्रत में स्थित पत्नी से पूछा॥44॥

शीघ्र ही उसने पुरानी रस्सी जैसे प्रेम के बन्धन को काट डाला और, उसके ही पुण्य से वहाँ आये हुए (दीक्षामुरु) सिंहगिरि के पास वह चला गया॥45॥

वहाँ उसने सामायिक के बाद लुंचनपूर्वक व्रत स्वीकार किया और लगातार दुस्तर तप करते हुए प्रसन्न रहने लगा॥46॥

2. समय पूरा होने पर एक दिन सुनन्दा ने उत्तम पुत्र प्रसव किया। वह (पुत्र) रत्नदीप के समान तेजोमय था तथा अपनी माता सुनन्दा की सपलियों के लिए दुःखदायी था। वहाँ अपने लोगों ने हर्षपूर्वक पुत्र-जन्मोत्सव मनाया और, अपलक देखने से अपना सार्थक नाम रखा। वहाँ कोई बोला - कदाचित् इसका पिता इसे प्रव्रजित नहीं होने देगा, इस बात से वहाँ के उत्सव में अतिशय अधिक हर्ष छा गया। संसार के ज्ञाता प्राच्य देवों के अंश से उस पुत्र ने जाना कि मेरे पिता संयम-ग्रहण के कारण अतिशय पुण्यवान् हैं। यदि समय से बह सम्भव है तो मेरा भी भव-निस्तार (दुनियादारी से मुक्ति) सम्भव है। तब यह उपाय सोचा कि रोना शैशव के योग्य है॥47-51॥

अनेक प्रकार की बातचीत, स्नान, देह-मालिश आदि और फिर हाथी, घोड़े आदि को देखने जैसे अन्य मनोविनोद के साधनों से अतिशय प्रलोभित किये जाने के बावजूद क्षणभर भी वह सुखी नहीं हुआ। जो झूठी नौद में जागते हुए भी सोया रहता है, वह कैसे बात करेगा? माता सोमश्री ने भी ध्यान से देखा कि नवजात शिशु आँखों को तृप्ति देनेवाला है और, जिसकी क्लेशदायी ऊँची अवाज मुझे कष्ट देती थी। इस प्रकार, छह मास, छह महीने के समान बीत गये। तभी गुरु सिंहगिरि उसके घर आये॥52-55॥

वहाँ गोचर-चर्या करते हुए मुनि धनगिरि को पक्षियों के शब्दज्ञान के निमित्त गुरु ने आदेश किया - आज सचित्त और अचित्त जो भी द्रव्य प्राप्त करोगे, उसे हे मुनि! विना

विचार किये तुम ग्रहण कर लेना। उसने गुरु के आदेश को यथावत् स्वीकार कर लिया और आर्य समित से युक्त अतिश्रेष्ठ बुद्धिवाला वह पहले सुनन्दा के घर गया॥56-58॥

उसके धर्मलाभ की बात सुनकर बन्धुजन वहाँ आ पहुँचे। और उन्होंने सुनन्दा से कहा—तुम अपने पुत्र को धनगिरि को सौंप दो। (सुनन्दा) अतिशय विषाद में पड़ गई और अपने पुत्र को कलेजे से लगाकर उनसे कहा — रोते हुए पुत्र से मुझे खेद हो रहा है। तो आप (सखीजन) इसे स्वीकार करें और अपने पाख रखें। इससे यदि आप सुखी होंगे तो मुझे भी आनन्द प्राप्त होगा। तो फिर इतने से वह (आनन्द की प्राप्ति) आपको हो॥59-61॥

धनगिरि ने स्पष्ट कहा— मैं अपने पुत्र को ग्रहण करता हूँ, परन्तु स्त्री की बात पंगु मनुष्य के समान एक पैर से दूसरे पैर को नहीं जाती है, अर्थात् स्थिर होती है। इस सम्बन्ध में विवाद को दूर करने के निमित्त साक्षी रखा जाय। आज से पुत्र के लिए तुम्हें कुछ नहीं बोलना है। वह (सुनन्दा) अतिशय खिन्न होकर बोली—यहाँ आर्य समित मुनि साक्षी हैं; सखीगण भी साक्षी हैं। अतः मैं कुछ नहीं कहूँगी॥62-64॥

उसने पाप के बन्ध से रहित उसे पात्र के बन्ध में लगाकर रोने से रोक दिया और उसके सामने अपने को सन्तोष से पुष्ट दिखलाया और फिर शत्रु-रूप अन्तक को बाहर निकालकर और स्वयं घर के आँगन से बाहर जाकर टूटी हुई भुजा का भार लिये वह गुरु के समक्ष आया। टूटी भुजावाले उसे देखकर (गुरु) उसके सम्मुख आ गये और उसकी टूटी भुजा एवं पात्र बन्ध को अपने हाथ में रख लिया। तुमने वज्र के समान यह क्या मेरे हाथ पर रख दिया। किन्तु भार-स्वरूप वह हाथ से छूट गया। मैंने उसे अपने आसन पर रख लिया॥65-68॥

यह कहकर गुरु ने चन्द्रमा की कान्ति के समान उसे देखा। अमृत के प्रवाह से युक्त चन्द्र के समान उसका (मनोहर मुख था)। गुरु ने उसका 'वज्र' नाम रखकर उसे साध्वी को सौंप दिया। साध्वी के पास से अपहरण कर श्राविकाएँ उसे अन्यत्र ले गईं। गुरुभक्तिवश या फिर उस (शिशु) के सौभाग्यवश वश में आई हुई धार्मिक स्त्रियों ने मुख्यतः दूध पिलाकर उस शिशु की सेवा की। उन्होंने उसे अपनी सन्तान से भी अधिक वात्सल्य-क्रीड़ा के साथ पाल-पोसकर बड़ा किया। रात में, साध्वियों के आश्रय में आनन्दपूर्वक कपड़े से बने झुले में वह झूलता रहा। वहाँ तन्त्रा-रहित स्थिति में रहते हुए उसने साध्वियों द्वारा गुने जाते हुए ग्यारह अंगों को सुनकर उन्हें अधिगत कर लिया। तदनन्तर, साध्वियों की सेवा-शुश्रूषा से परिवर्धित आकारवाले उस (शिशु) को देखकर सुनन्दा वहाँ आ गई और उसने उसे स्पृहापूर्वक देखा॥69-74॥

उस (सुनन्दा) ने उन साध्वियों से प्रार्थना की कि यह पुत्र मुझे दे दें। एकवसना और मात्र एक पात्रवाली तथा गुरु की आज्ञानुवर्तिनी उन साध्वियों ने कहा— विना गुरु की अनुमति के यह बालक हम कैसे दे सकती हैं? अतएव यह यहीं रहते हुए पाला-पोसा जायेगा और गुरु की अनुमति के बिना पराये घर में नहीं ले जाया जायेगा॥75-76॥

3. एक दिन गुरु और बच्चे की माँ भी उस नगर में पहुँचे। गृहिणी के समान उस बच्चे की माँ ने पति से बच्चे को माँगा॥77॥

वह बोला—राजाज्ञा के समान, अच्छे आदमी के वचन के समान, या फिर कन्यादान के समान महान् लोगों का वचन बराबर एक समान रहता है॥78॥

बच्चे के पहरावे के समान, लिया और छोड़ा जैसा, नहीं होता है। हे धर्मज्ञे! इस प्रकार विचार करो, यहाँ साक्षी नहीं है। विचारहीन आग्रहवाली उसने जब अपनी जिद नहीं छोड़ी, तब संघ के प्रधान पुरुषों ने सुभाषितों के द्वारा उसे समझाया। उनकी बातों को मूल्य न देकर वह राजा के पास चली गई। राजा ने संघ के साथ संन्यासियों को बुलवाया॥79-81॥

न्यायालय के न्यायविदों ने दोनों पक्षों से पूछ-ताछ की। दोनों पक्षों की स्वीकृति सुनकर वे (धर्माधिकरण के न्यायविद्) मोह में पड़ गये। एक ओर अपने आग्रह को छोड़ने में कठिनाई अनुभव करनेवाली माता पुत्र को माँग रही है, दूसरी ओर श्रीतीर्थकरों द्वारा परिरक्षित संघ है। ऐसी स्थिति में राजा ने विचार किया कि यह बालक अपनी रुचि से जिसके पास जाता है, उसी का यह हो जाय। इस सम्बन्ध में दूसरों के विचार-बाहुल्य से क्या लेना-देना? ॥82-84॥

तदनन्तर, राजा ने पहले माँ को आदेश दिया। माँ ने बहुत सारे खिलौनों और मीठे आहारों से (उसे) सन्तुष्ट किया। उस पुत्र के वैसी स्थिति में रहने पर राजा ने उसके मुनि पिता को जो आज्ञा दी, तदनुसार उसने रजोहरण (यात्रा की स्थिति में मार्ग-शोधन के लिए मुनि द्वारा व्यवहृत उपकरण-विशेष) उठाकर मायारहित वाणी में कहा-वत्स! यदि तुम तत्त्वज्ञ, संयमी और अध्यवसायी हो, तो कर्म-रज के विनाश हेतु इसे ग्रहण करो॥85-87॥

यह सुनकर वह (बालक) हिरण की तरह उछलकर उसकी (पिता की) गोद में आ गया और उसके चारित्र-रूप राजा के चैवरूप रजोहरण को पकड़ लिया। तब मंगलध्वनि-पूर्वक तुर्यनाद के साथ उच्च स्तर में 'जय-जय' का शब्द गूँजने लगा। तदनन्तर राजा ने संघ की पूजा की, उसके बाद उसके गुरु धार्मिक जन-समूह द्वारा की गई अगवानी-पूर्वक अपने स्थान पर चले गये॥88-90॥

सुनन्दा ने सोचा—मेरे सहोदर भाई, आर्यपुत्र और (अन्य) पुत्र संन्यासी हो गये तो अब मेरा (यह) पुत्र भी संन्यासी हो जाय॥91॥

तीन वर्ष के वज्र ने व्रत की कामना से माँ का दूध भी नहीं पिया। गुरुओं से दीक्षित होकर माता-समेत उसने उस स्थान को छोड़ दिया॥92॥

4. तदनन्तर, आठ वर्ष के वज्र को साध्वी के आश्रम से अलग कर परिवार-सहित श्रीसिंहगिरि अन्यत्र विहार को चले गये॥93॥

तब, प्रतिबन्ध-रहित भाव से ईर्या-समिति-पूर्वक पर्वत के निकटवर्ती धरती पर वे सज्जन विहार करने लगे॥94॥

वज्र के पुनर्जन्म के मित्रों के साथ उसे (वज्र को) देखकर उसकी परीक्षा के लिए जूम्भक देवों ने मेघमाला, विक्रिया के रूप में, उत्पन्न कर दी॥95॥

तब, सारस के क्रेँकार और मयूर के केकारव के तिल-तण्डुल न्याय से मिश्रित नाद कानों से आस्वाद्य सुधा की तरह हो गया॥96॥

उद्दाम भाव से लगातार बरसते हुए जल से पृथ्वी लबालब होकर एकाकार जैसी (सम-विषम या ऊँची-नीची स्थिति से रहित) हो गई॥97॥

गुरुजन जल-जीवों का विरोध नहीं करना चाहते थे, इसलिए वे विशाल गिरि-कन्दरा में (उनके साथ) एकत्र ठहर गये॥98॥

इस प्रकार, घनघोर बादल के कुछ-कुछ छँटने पर उपवास में रहते हुए भी वे मुनि (गुरुजन) आनन्द से तृप्त की तरह ठहरे हुए थे॥99॥

सांसारिक जीवन के लुट जाने की आशंका से सूर्य संसार में रस (जीवन) की स्थापना के निमित्त प्रकट रूप से उदित हुए॥100॥

समुद्र से जल लाकर धरती को आप्लावित कर देने के कार्य से थका हुआ मेघ आकाश में जैसे सो गया॥101॥

तदनन्तर, अनुकूलित स्थितिवाले उसने हृदय को प्रभावित करनेवाले लेखों के (पत्रों के) व्यापार करने के बहाने इस (वज्र) को पारण के लिए निमन्त्रित किया॥102॥

तीन प्रकार की एषणाओं (धर्म, अर्थ और मोक्ष) में संलग्न तथा भोग के प्रति आदर (आग्रह) से रहित वज्र गुरु की अनुमति पाकर वहाँ से वहीं चला गया॥103॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के उपयुक्त उसने कूष्माण्डपाक आदि द्रव्य तथा क्षेत्र के रूप में मालवदेश प्रदान किया॥104॥

ग्रीष्म का समय था, भावों और विचारों में ये वस्तुएँ दीर्घकालीन थीं। पृथ्वी पर पद-न्यास का स्पर्शन ही होता था और फूल की पहनी हुई माला कभी मुरझाती नहीं थी॥105॥

चरित्रवानों के लिए देवान्न का उपभोग उचित नहीं। इसलिए उसका उपयोग निषिद्ध कर देने पर उसे परम हर्ष प्राप्त हुआ॥106॥

तब वहाँ उपस्थित होकर उसने मुनि को प्रणाम किया। वह वज्र सदाचार के तेज से चमकते सूर्य की तरह दीप्तिमान् था॥107॥

एक दिन अन्यत्र ग्रीष्म ऋतु में विहार करने के क्रम में उसे पहले की तरह देवों ने घेवर खाने के लिए निमन्त्रित किया॥108॥

वज्र के वहाँ उपस्थित होने पर उन्होंने उसे आकाशगामिनी विद्या प्रदान की। उसके जैसे सुन्दर भाग्यवानों के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥109॥

5. अब, दूसरे दिन, बाह्यभूमि पर पूज्यों के प्रस्थान करने पर, सदेष्टा के उपयुक्त विद्वान् मुनि ने इन्द्रियगम्य अवकाश बचपन की चपलतावश प्रदान करते हुए, सबकी उपाधि और नाम लेकर और भूमि पर बैठकर वज्र ने श्रुतस्कन्ध की वाचना प्रस्तुत की। प्रत्येक को अतिशय श्रमपूर्वक गुरुमुख से कहा गया॥110-112॥

इसी बीच गाँव के समीप श्रीमान् सिंहगिरि आये, जिनका सिंह-गर्जन उस (वज्र) ने सुना॥113॥

उसने सोचा कि संन्यासी आये हैं, जो मेरा स्वाध्याय के द्वारा पालन करते हैं। एकमात्र वज्र की बात का निश्चय कर वे (संन्यासी) सन्तुष्ट हो गये॥114॥

फिर सोचा— यह गच्छ (परिवार) धन्य है, जहाँ ऐसा शिशु है। इसे किसी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा सोचकर उन्होंने ऊँची आवाज में (शिशु के लिए) कष्ट-निवारक निषेधाचार सम्पन्न किया॥115॥

वज्र भी गुरु की आवाज सुनकर लज्जा एवं भय से व्यग्र होता हुआ, यथास्थान वेषटिका रखकर (पगड़ी पहनकर) उनके सामने गया॥116॥

तब उनके पैरों को पोंछकर, फिर (उन्हें) शुद्ध जल से धोकर, चरणोदक को सिर से लगाया। गुरु ने भी प्रसन्न होकर उसे देखा॥117॥

इस लघुजन से गुरु की सेवा-शुश्रूषा में त्रुटि या अनादर न हो, ऐसा सोचकर गुरुओं ने शिष्यों से कहा— हम विहार कर रहे हैं॥118॥

तब उन शिष्यों ने कहा कि हमें वाचना कौन प्रदान करेंगे। उन (गुरुओं) ने कहा कि अब यहाँ वज्र ही आप सबको कृतार्थ करेंगे॥119॥

उन (शिष्यों ने, जैसा आप कह रहे हैं, वैसा ही (विना विचारे) किया जायेगा, ऐसा कहकर गुरु की बात स्वीकार कर ली। इस प्रकार के गुरुभक्त शिष्यों को बार-बार नमस्कार है॥120॥

निषद्या (साधुओं के बैठने के स्थान) को निरूपित कर उसे वक्रता (उबड़-खाबड़पन) से रहित बनाया गया। तब उन यति-समूह (गुरुओं) ने वाचना (व्याख्यान) देना प्रारम्भ किया॥121॥

उन (गुरुओं) ने शास्त्र के तात्पर्य को ऐसी सहज, सरल और आयास-रहित शैली में कहा, जिसे मन्दबुद्धि जन भी बहुत आसानी से हृदयंगम कर सकते हैं॥122॥

कुछ दिनों के बाद सूरि वहाँ आये। शिष्यों ने उनका आदर किया। सूरि ने उनसे उनका समाचार पूछा। उन शिष्यों ने सम्मिलित रूप में कहा॥123॥

आप पूज्यपाद की कृपा से हमने वाचना का सुख प्राप्त किया। हमारे लिए वज्र ही सदा वाचनाचार्य हों॥124॥

यह सुनकर गुरु ने कहा— मैंने यह मान लिया है। इस वज्र के (अद्भुत) गुण-गौरव से आप सबको अवगत कराता हूँ॥125॥

तब तपस्या की विधि से पूर्णतः शुद्ध वज्र ने वाचनापूर्वक गुरु से समस्त आगम का अध्ययन किया॥126॥

6. वज्र को दशपुर-स्थित अवन्ती में श्रुतशेष शास्त्र पढ़ने के लिए भद्रगुप्त के निकट भेजा गया॥127॥

वह (वज्र) रात्रि के समय गया और नगर के बाहर ठहरा। गुरु ने हर्षित होकर अपने शिष्यों के समक्ष (रात्रि में देखे) सपने के बारे में कहा॥128॥

कोई अतिथि मेरे पात्र में भरे दूध को पी गया। (इससे ज्ञात होता है) कोई समग्र दशपूर्वी (दस पूर्व-ग्रन्थों) को पढ़ने (यहाँ) आयेगा॥129॥

गुरु ऐसा बोल ही रहे थे कि वज्र सामने आ पहुँचा। गुरु ने उसे अपने द्वारा अधीत और श्रुत शास्त्र-ग्रन्थों को पढ़ाया॥130॥

श्रीभद्रगुप्त सूरि ने उसे पढ़ाकर, पुनः उसे समय की अनुज्ञा के लिए (अपने) गुरु के पास भेजा॥131॥

देवताओं ने अपने ज्ञान से यह जानकर कि वज्र मेरा पूर्वजन्म का मित्र है, उसके आचार्य की प्रतिष्ठा में अद्भुत उत्सव आयोजित किया॥132॥

गुरु ने शुभ लग्न में उसे सभी अनुयोगों को प्रदान किया, सभी प्रकार अर्हता भी दी और फिर उसमें प्रसन्नतापूर्वक तैजस तत्त्व की स्थापना की॥133॥

7. गुरु के दिवंगत हो जाने पर वज्रस्वामी प्रभु पाटलिपुत्र नामक नगर में गये। वहाँ उद्यान में ठहरे॥134॥

एक दिन उस प्रभु ने कुरूप होते हुए भी धर्म की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की। लोगों ने कहा- गुण के अनुरूप इनका रूप नहीं है॥135॥

दूसरे दिन, अच्छी तरह धर्म का आख्यान करने पर लोगों ने कहा कि सूरिजी नगर में क्षोभ (हलचल) उत्पन्न हो जाने के भय से कुरूप हो गये॥136॥

पहले से ही सूरिजी के गुणों का गान करने से साध्वियों द्वारा आदृत होनेवाली धनसेठ की कन्या रुक्मिणी उनके (सूरिजी के) प्रति अनुरक्ता हो गई॥137॥

वह अपने पिता से बोली कि मेरी सच्ची बात सुनें- मुझे वज्र के लिए दे दें, अन्यथा अग्नि ही मेरी शरण होगी॥138॥

तदनन्तर, उस (बेटी) के आग्रह से सौ करोड़ के धन से युक्त, बेटी को साथ लेकर वह (धन सेठ) निर्ग्रन्थ के नाथ (वज्र) के निकट गया और उसे सूचित किया कि यह मेरी रूप-यौवन से सम्पन्न पुत्री आपको पति के रूप में चाहती है, तो इसे स्वीकार करें। यथेच्छ दान-भोग से अधिक आजीवन निर्वाह के लिए यह धन स्वीकार करें। मैं आपके पैर पखारता हूँ॥139-141॥

अनन्तर, श्रीवज्र बोला- हे वणिक्श्रेष्ठ! तुम बहुत सीधे हो। स्वयं बन्धन में पड़े हुए हो और दूर में स्थित दूसरे को भी बन्धन में डालना चाहते हो॥142॥

धूल से रत्नराशि की, तृण से कल्पवृक्ष की, गड्ढे के सूअर से हाथी की और कौए से हंस की, चाण्डाल के घर से विशाल भवन की और खारे पानी से अमृत की तुलना करना चाहते हो और फिर निकृष्ट द्रव्य-रूप विषय के आस्वाद से तुम मेरी तपस्या को नष्ट करना चाहते हो॥142-144॥

विषय, रेवड़ (भेड़ के झुण्ड) से उत्पन्न कम्बल के आनन्द के समान हैं। सब धन कारागार के समान है, जो साँप के फन से कम नहीं है॥145॥

अगर यह रुक्मिणी मुझपर अनुरक्ता है, तो छाया के समान अनुगामिनी होकर मेरे द्वारा स्वीकृत ज्ञान-दर्शन से युक्त व्रत को धारण करे॥146॥

यह सुनकर उस (सेठ की पुत्री) की अभिलाषा (कामना)-रूप विष का प्रभाव दूर हो गया और वह जैसे होश में आ गई और संयम स्वीकार कर साध्वी की शरण में

चली गई॥147॥

तब, आचारांग के अन्तर्वर्ती महापरिज्ञा (आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का सातवाँ अध्ययन) के अध्ययन द्वारा श्रीवज्र ने आकाशगामिनी विद्या का उद्धार (आविष्कार) किया॥148॥

8. एक समय अनावृष्टि के कारण उस देश (पाटलिपुत्र) में अतिशय क्षयकारी दुर्भिक्ष की स्थिति आ गई, जिससे पृथ्वीतल के चराचर जीव अधिक कष्ट में पड़ गये॥149॥

कष्ट से ग्रस्त संघ 'हमें बचाओ, बचाओ,' कहते हुए प्रभु (वज्र) के पास गये, तब वज्र प्रभु ने उनके कष्ट को हृदयंगम किया॥150॥

तब, वज्र प्रभु ने कपड़े को फैलाया और प्रसन्न भाव से उसपर संघ को बैठाकर आकाशगामिनी विद्या के बल से आकाश में गरुड़ की तरह वह उड़ चले॥151॥

वहाँ तृण की खोज में (कपड़े पर बैठा हुआ) संघ दूर चला गया। फिर दीन की तरह बोलता हुआ वह संघ भी पीछे लौट आया और सूरि ने उसके कष्ट को दूर कर दिया॥152॥

शीघ्र ही वह संघ सुप्रतिष्ठित देश में स्थित तथा बौद्ध शासन के पक्षपाती राजाओं द्वारा अधिष्ठित महापुरी चला आया॥153॥

राजा की सुस्थिता से और भिक्षा की सुलभता (सुभिक्ष की स्थिति) से संघ वहाँ सुखपूर्वक रहने लगा। तभी, सभी पर्वों में श्रेष्ठ पर्युषण नाम का पर्व आया॥154॥

राजा ने दुष्टतावश या शत्रुतावश फूल तोड़ने से मना कर दिया। जिन-पूजा का अवसर न मिल पाने की चिन्ता से पीड़ित संघ ने इसकी जानकारी वज्र (स्वामी) को दी॥155॥

तब विद्वानों के सूर्य-स्वरूप एवं काश जैसे उज्ज्वल कीर्ति के धारक (वज्र) आकाश में उड़कर महेश्वरी नगरी के ऊपर आ गया॥156॥

बाग में स्थित, बागवानी के गुणों में अग्रगण्य बकुलसिंह ने पिता के मित्र वज्र को देखकर उसे प्रणाम किया और उससे कहा—॥157॥

हे नाथ! मेरे लिए किसी कार्य का आदेश करें। तब, सूरि (वज्र) ने कहा कि हे आर्य! मेरे लिए सुन्दर मन से फूल सुलभ करने का कार्य करें॥158॥

कहीं बाहर निकलने के समय फूज्यों द्वारा अनुमत होना अपेक्षित है, यह सुनकर वह (बकुलसिंह) क्षुद्र हिमवान् पर्वत पर स्थित श्रीदेवी के निकट गया॥159॥

धर्मलाभ के आशीर्वाद से आनन्दित कर (उसने) उस देवी को अपने कार्य के बारे में बतलाया। तदनन्तर, उस (देवी) ने उसे अपने हाथ में स्थित कमल-पुष्प को देव-पूजा के लिए प्रदान किया॥160॥

उसे लेकर प्रभु वज्र पिता के मित्र के पास आया। उसने बीस लाख फूल उसके पास पहुँचाये॥161॥

दिव्य सामर्थ्य से उत्पन्न किये गये विमान पर बैठकर वह अपने नगर में आ गया। वहाँ आकाश-मण्डल में जृम्भक देवों ने संगीतोत्सव आयोजित किया॥162॥

बजते हुए देववाद्य के सधन स्वर फैल रहे थे। ऊपर आकाश में आते हुए उसे देखकर बौद्ध लोग चमत्कृत हो उठे॥163॥

वे धर्म के माहात्म्य की चर्चा करते हुए कि 'ओह! हमारे शासन में देवता आ रहे हैं!' उनके सामने ही जिन-मन्दिर में गये॥164॥

श्रद्धालु संध ने अतिशय प्रसन्नतापूर्वक जिनेन्द्र की पूजा करके, उस धर्मदिन में सद्गुरु वज्र से धर्म (धार्मिक प्रवचन) सुना॥165॥

(वज्र के) इस सत्कार-विशेष से सन्तुष्ट राजा वहाँ आया। वज्र ने राजा को प्रतिबोधित किया और बौद्ध लोग मुँह लटकाये बैठे रहे॥166॥

9. एक दिन विहार करता हुआ वज्रस्वामी दक्षिणापथ गया और वहाँ कहीं उद्यान के शुद्ध भूमिभाग में ठहरा॥167॥

कफ रोग के निवारण के लिए उसने विश्वभेषज मँगवाया और उपयोग के बाद बचे हुए (भेषज को) कान में धारण किया॥168॥

अपराह्न (दिन के तीसरे पहर) में विचार करते समय वहाँ रखा हुआ वह (भेषज) मुख-पट्टिका से सरकते हुए कानों में चला गया॥169॥

सोचा-ओह! आयु क्षीण हो गई! मैंने जो कहा, उसे भूल गया। फिर से दुर्भिक्ष आ गया, जो पूर्वकथित से भी अधिक (भयंकर) है॥170॥

वज्रसेन के आदेश से, वंश की रक्षा के लिए वज्रसूरि द्वारा भेजा गया वह धीरे-धीरे अतिशय समृद्ध कुंकुण देश चला गया॥171॥

दुर्भिक्ष के कारण भिक्षा दुर्लभ हो गई थी। विद्या-ग्रहण के निमित्त प्राप्त अन्न का भोजन कराये गये साधुओं से कहा- यह नित्य बारह वर्षों तक भोजन कराने योग्य है॥172॥

अथवा अनशन व्रत ग्राह्य होगा। इसे सुनकर उन्होंने प्रायोपवेशन स्वीकार कर लिया। श्रीवज्र साधुओं के साथ कहीं पहाड़ पर चला गया॥173॥

रास्ते में जाते समय एक जगह गाँव में विद्वानों को एक शिष्य मिला। शिष्य ने यह जानकर परम वैराग्य धारण कर लिया॥174॥

उसने सोचा- मुझे छोड़कर वह चले गये। वह जीवित रहें। मैं सत्त्वहीन कैसे देख लिया गया, इसलिए मैं प्रभु का अनुसरण नहीं करूँगा॥175॥

ऐसा सोचकर उसने गरम पत्थर पर पादपोषगमन (तप-विशेष) किया, तब वह मोम की तरह तुरत ही पिघल गया॥176॥

उस विपत्ति की घड़ी में देवों द्वारा उत्सव मनाये जाने पर मुनिश्रेष्ठ ने यतियों के समक्ष कहा कि यह शिशु के प्रभाव की ही महिमा है॥177॥

यह सुनकर सभी मुनि परम वैराग्य की स्थिति में आ गये और अलग-अलग चबूतरे पर खड़े हो गये॥178॥

वहाँ विघ्न उपस्थित करने को आई विरोध-भावनावाली देवी ने दिन को अर्द्धरात्रि में बदल दिया और उनके समक्ष दही बहा दिया॥179॥

अप्रीतिकर स्थिति जानकर वे (मुनि) वहाँ से अन्यत्र पर्वत-शिखर पर चले गये। फलतः उनके लिए जीवन-मरण की आशंका उपस्थित हो गई। ऐसी स्थिति में भला देवता क्या करते?॥180॥

वे मुनि यथायोग अपने प्राण त्याग कर स्वर्ग चले गये। श्रीवज्र भी ध्यानावस्थित होकर स्वर्ग चला गया॥181॥

पूर्वभव के स्नेहवश इन्द्र वहाँ आ गये और उसकी (श्रीवज्र की) पीड़ा को जानकर उन्होंने चारों दिशाओं में अपने रथ को घुमाया॥182॥

और उन्होंने वहाँ के पेड़ों के जंगलों को काटकर जमीन को बराबर किया और सुन्दर पर्वत-श्रेणियों से युक्त उस (पहाड़ी) स्थान पर वह क्षणभर ठहर गये॥183॥

तभी से वह पहाड़ 'रथावर्त्त' नाम से प्रसिद्ध हो गया। श्रेष्ठजन जिसे प्रसिद्ध कर देते हैं, वह (स्थान) अचल हो जाता है॥184॥

10. वज्रसेन वहाँ से 'सोपार' नाम के शहर में चला गया। चार बेटोंवाली ईश्वरी नाम की स्त्री जिनदत्त की प्रेयसी (पत्नी) थी॥185॥

प्रखर ज्ञानवाले गुरु की शिक्षा से सम्पन्न वह (श्रीवज्र) उसके (ईश्वरी के) घर चला गया। चिन्तामणि (इच्छित वस्तु की पूर्ति करनेवाली मणि) के समान उसे (श्रीवज्र को) घर में आया हुआ देखकर वह (ईश्वरी) हर्षित हो गई॥186॥

उस (स्त्री) ने उस (श्रीवज्र) से कहा-आज हमने कष्ट-कल्पनापूर्वक सोचा है कि इस हाँड़ी को एक लाख से भरा जाय॥187॥

द्रव्य-सम्पत्ति के रहते हुए भी अन्न की दुःस्थिति से मृत्यु सुनिश्चित है। इसलिए इस पकी हुई खीर में घातक विष डाल दिया जाय॥188॥

उसी समय पुण्यवश पूज्य (व्यक्ति) के दर्शन हुए। सम्प्रति, कृतार्थ हुई मैं परलोक (भावी जीवन)-सम्बन्धी कार्य करूँगी॥189॥

यह सुनकर गुरुशिक्षा से चमत्कृत मुनि बोले- हे धर्मशीले! श्रीमान् वज्रस्वामी से कही गई बात सुनें- लाख मूल्यवाली इस हाँड़ी में प्राप्त होनेवाली भावी सुभिक्षा को ध्यान में रखते हुए विषयुक्त पाक मत करें, क्योंकि वह व्यर्थ होगा॥190-191॥

वह बोली- इसे प्रसाद मानकर ग्रहण करें। यह कहकर उसने मुनि को बरतन भरकर प्रसाद दिया॥192॥

ऐसा होने पर सन्ध्या में जलपूर्ण देश के बीच से नौकाएँ आईं, तभी तत्क्षण सुभिक्षा आ गया। तब वह (स्त्री) सपरिवार सोचने लगी- ओह! बेवजह मृत्यु हो जायेगी। इसलिए, संयम के साथ रहकर जीने का फल क्यों नहीं लिया जाय? जैनधर्म के आदिगुरु वज्रसेन मुनि के निकट ऐसा चिन्तन कर उसने आग्रहपूर्वक अपने पुत्र के साथ व्रत स्वीकार कर लिया। नागेन्द्र, निर्वृत्ति, चन्द्र और श्रीमान् विद्याधर ये चारों, ही दस पूर्व से कुछ कम के ज्ञाता तथा जिनेन्द्रजी के मत के धुरन्धर उद्धारक हुए। आज भी इस भूमंडल पर इनके नाम से गच्छ हैं और उस तीर्थ में इनकी पूज्य प्रतिमाएँ भी विराजमान हैं॥193-198॥

श्रीमान् वज्रस्वामी का यह चरित देवों के लिए भी स्तुत्य है, जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट यत्किंचित् तत्त्व भी कल्याण का हेतु है और फिर, भवसागर से पार जाने के लिए सेतु-स्वरूप है। जबतक चन्द्र-सूर्य विराजमान रहेंगे, तबतक जिनोपदेश आनन्द प्रदान करें॥199॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप राम-लक्ष्मी से उत्पन्न श्रीप्रभाचन्द्रसूरि-कृत अपने मनोभाव के अनुरूप, पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिचन्द्र द्वारा प्रकटित श्रीवज्रस्वामीचरित नाम का पहला शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥200॥

हे श्रीमान् प्रद्युम्नसूरि! करोड़ों गुणों से जयशील आप साक्षात् तीर्थरूप ही हैं। आपकी मूर्ति अष्टापद गिरि की शोभा धारण करती है। विमलगिरि के प्रति आपका सहज अनुराग है। श्रीसम्पन्न आप उद्धारक भी हैं। दुःख-पीड़ितों के लिए आप पावापुरी-सदृश हैं। आपका प्रभाव असद्बुद्धि का अवरोधक है। आपका अनुपम यशःशरीर चित्त को उज्जयन्त जैसी स्थिति प्रदान करता है॥1॥

॥ वज्रस्वामी-चरित समाप्त ॥



आर्यरक्षित-चरित

1. वह श्रीमान् आर्यरक्षित भव्यजनों की निर्बाध रूप से रक्षा करें, जिस (भव्यजन) के अन्तर्वर्त्ती शत्रु, धर्म को समूल नष्ट कर देते हैं॥1॥

जिसके, अमृत (के आस्वाद) जैसे, जीवन-वृत्त का वर्णन विद्वज्जन भी नहीं कर सकते, (उसके सम्बन्ध में) विचक्षणता के विलेप जैसी मेरी बुद्धि क्या विचार कर पायेगी?॥2॥

फिर भी, मैं वातापि के सन्तापक (अगस्त्य मुनि) द्वारा एक चुल्लू में पीये गये समुद्र के समान अन्धकार-रूप समुद्र जैसे उनके (आर्यरक्षित के) वृत्तान्त को स्मृति में लाकर (संक्षेप में) कह रहा हूँ। प्रेम में ही प्रेम की अवधि होती है॥3॥

चिरस्थायी आनन्द की बहुलता से देवलोक को भी नीचा दिखानेवाला, सात प्रसिद्ध पुरों (नगरों) में दशपुर है, जिसका अन्य नाम अवन्तिका है॥4॥

वहाँ, निष्कलंक तथा सोलहों कलाओं से पूर्ण नवीन चन्द्रमा के समान उदायन नाम का राजा हुआ। वह अन्धकार से सर्वथा अस्पृष्ट कभी क्षीण न होनेवाली कला से शोभित राजा हुआ॥5॥

वह मंगलकारी पद पर प्रतिष्ठित, अतिविशिष्ट बुद्धिवाला, उत्तमवर्ण एवं श्रेष्ठ कुल का क्रियानिष्ठ कलावन्त राजा था॥6॥

उसके मन्त्री का नाम सोमदेव था, जिसकी मन्त्रणा से उसका अपरिमित शत्रु-समूह सदा शान्त रहता था। उसके सैन्यों का समूह केवल (राज्य की) शोभा के लिए था॥7॥

उस (राजा) की पत्नी का नाम रुद्रसोमा था। उसने अपने प्रियवचनपूर्वक व्यवहार और भरपूर दान के द्वारा याचकों की दरिद्रता को दूर किया था॥8॥

सूर्यरथ के दो घोड़ों जैसे दो यमज पुत्र उन दोनों के हुए। प्रथम पुत्र का नाम आर्यरक्षित तथा दूसरा पुत्र फल्गुरक्षित नाम का था॥9॥

राजपुरोहित ने राजा के उन दोनों पुत्रों को वेदांग-सहित वेदों को पढ़ाया। अपने विनीत पुत्रों को पढ़ाने के लिए कोई अपनी धन-सम्पदा को खरचने में कंजूसी करता है क्या?॥10॥

शास्त्र-रूप अमृत को पीने में अतृप्त आर्यरक्षित विद्वान् होकर भी शास्त्र-विशेष का अध्ययन पूरा करके पाटलीपुर के लिए प्रस्थान किया॥1१॥

थोड़े ही समय में उसकी कुण्डलिनी का बल जागरित हो गया और गोपनीय वेद-उपनिषदों का अध्ययन करके वह उत्तम बुद्धि से सम्पन्न हो गया॥12॥

इसके बाद उपाध्याय से आज्ञा लेकर वह अपनी भूमि पर (अपना देश) लौट

आया। अश्वारूढ की तरह वह गया और फिर अपने परिसर में लौट आया॥13॥

राजा को जब यह समाचार मालूम हुआ और फिर उसके पिता से भी इसकी सूचना मिली, तब स्वयं सम्मुख जाकर राजा ने उसे हाथी पर बैठाकर नगर में प्रवेश कराया॥14॥

घर-घर में कुल की प्रधान बूढ़ियों से आशीर्वाद प्राप्त कर वह (आर्यरक्षित) अपराह्न में अपने आवास के प्रांगण में आया॥15॥

2. उस श्रमणोपासिका रुद्रसोमा ने, जो जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों के अर्थ को विस्तार से जानती थी, अपना सामायिक सम्पन्न करके, उत्कण्ठा से विह्वल पुत्र को सिर से भूमि-स्पर्श की मुद्रा में प्रणत देखकर भी सामायिक के खण्डित हो जाने के भय से आशीर्वाद से संवर्द्धित नहीं किया, तब बुद्धिमान् आर्यरक्षित अतिशय खिन्न होकर बोला—॥16-18॥

मेरे अनेक शास्त्रों के अध्ययन को धिक्कार है। बहुत होते हुए भी वह मन्दप्रभ है; क्योंकि (मेरे गहन अध्ययन से भी) मेरी माँ सन्तुष्ट नहीं हुई है॥19॥

ऐसा मन में सोचकर वह बोला— तुम्हें (मेरे वैदुष्य से) परितोष नहीं हुआ क्या? उसकी माँ बोली—मैं दुर्गति देनेवाले उन पाठों से कैसे सन्तुष्ट हो सकती हूँ? वह बोला— अच्छा होगा, तुम मुझे अविलम्ब वह बताओ, जिसके अध्ययन से तुम्हें तुष्टि होगी, अन्य किन्हीं कार्यों से मुझे कोई सरोकार नहीं॥20-21॥

कंचुकी का उद्भेदन करनेवाले रोमांच से गदराई हुई माँ, पुत्र के अनुरोध को मूल्य देकर बोली—॥22॥

उपस्थित अकल्याण के निवारण में समर्थ उस 'दृष्टिवाद' का व्यापक रूप से वह अध्ययन करे, जो अपने को जैन मनीषी माननेवालों की बुद्धि से भी अगम्य है॥23॥

उसे सुनकर पुत्र ने सोचा कि 'दृष्टिवाद' यह नाम भी सुन्दर है। सम्प्रति, इसका अध्ययन मुझे अवश्य करना चाहिए॥24॥

समस्त तीर्थों में मूर्धन्य हे मेरी माँ, मुझे उस अध्यापक के बारे में आदेश करो, मैं शीघ्र उनके पास जाकर शास्त्र का अभ्यास करूँगा॥25॥

रुद्रसोमा बोली— हे अतिविनीत वत्स! तुम्हारी स्मृति को उद्भावित कर रही हूँ, सावधान होकर सुनो॥26॥

जैन ऋषि महासत्त्व से सम्पन्न होते हैं, वे अब्रह्म (मैथुन) का परिग्रह नहीं रखते, उनका अन्तःकरण परमार्थ में स्थित रहता है और वे ज्ञान की श्रेष्ठ भूमि होते हैं॥27॥

इस ग्रन्थ के जाननेवाले वे अभी ईख के खेत में होंगे। तोसलिपुत्र नाम के विद्वान् अतिशय ज्ञान से सम्पन्न हैं॥28॥

हे शठता-रहित बुद्धिवाले! तुम अभी उनके समीप रहकर इस श्रेष्ठ ग्रन्थ को पढ़ो। ताकि, तुम्हारे चारित्रिक आचरण से मेरी कोख ठण्डी (कृतार्थ) हो॥29॥

(माँ के मुख से) यह सुनकर, उसकी बात को ही सोचने में लगा हुआ (आर्य-रक्षित ने) 'प्रातःकाल चला जाऊँगा' यह कहकर रात बिताई और सुबह नींद खुलते ही वह बाहर निकल गया॥30॥

आधे रास्ते में पिता का ब्राह्मण मित्र उसके सामने आ पड़ा। वह ईख की नई (ताजा) डौड़ उसके लिए अपने कन्धे पर ढो रहा था॥31॥

आर्यरक्षित ने प्रेमपूर्वक उसका अभिवादन किया। उस (पिता के मित्र) ने उसे अंकपाश में भर लिया, फिर उससे कहा— लौटकर तुम मेरे घर आना॥32॥

माँ के आदेश से मैं मित्र के यहाँ जा रहा हूँ, शीघ्र ही लौटूँगा। अपने बन्धु के प्रति शिष्टाचार निभाने के लिए पूज्यों को उसके (अपने मित्र के) घर जाना चाहिए॥33॥

यह कहकर (वह) चल पड़ा। मित्र ने ईख के खेत के सामने ही मित्र का आदर किया। पुनः उस मित्र (आर्यरक्षित) ने मन में सोचा—इस भजबूत इरादे से मैंने अवश्य ही साढ़े नौ परिच्छेद या अध्याय इस ग्रन्थ के प्राप्त किये हैं। इससे अधिक अवश्य ही नहीं॥34-35॥

प्रातः और सन्ध्याकाल में वहाँ मुनि, स्वाध्याय के प्रदर्शन के क्रम में शब्दाद्वैत-रूप इसे सुनकर घर के द्वार पर आये। जैन परिश्रम को न जानने के कारण वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और तेज आवाज में सूरियों की वन्दना करनेवाले को देखकर वहाँ आ गये। उसके पीठ पीछे वह भी गये और उन्होंने वन्दन आदि किये। महाप्राज्ञ वैसे ही होते हैं। वैसे लोगों के लिए कोई भी कार्य दुष्कर है क्या?॥36-38॥

सब साधुओं के प्रति प्रणाम-निवेदन के बाद ही श्रावकों की वन्दना करनी चाहिए। अशिक्षित होने के कारण क्या अकार्य है और क्या अनाख्यात है, यह कुछ भी समझ में नहीं आता॥39॥

तब, विद्वानों ने इस लक्षण से उन्हें नया जानकर उनसे आदरपूर्वक पूछा—धर्म की प्राप्ति कैसे सम्भव है?॥40॥

उनमें से ढङ्ढर को दिखलाते हुए कोई बोला— इन्हीं धार्मिक-श्रेष्ठ से मुनि को लक्षित किया जाता था॥41॥

राजा ने कहा— कल दिन में, महोत्सव के बाद, इस रुद्रसोम से उत्पन्न पुरोहित-पुत्र को (राजदरबार में) प्रवेश कराया जाय॥42॥

चार वेदों का ज्ञाता, समस्त श्रेष्ठ गुणों का धारक और जिसका आना सम्भव नहीं है, वह भी किस कारण यहाँ (दरबार में) आ जाय, यह जानना सम्भव नहीं है॥43॥

इसके बाद आर्यरक्षित, स्वस्थ मन से, माँ की कही हुई बात को दुहराते हुए बोला, जिसे सुनकर राजा उसके चरित्र से चमत्कृत होकर सोचने लगा— यह तो कुलीन आस्तिक ब्राह्मण है, कुल के अनुकूल स्वभाव में मृदुता भी है, पवित्र पुण्य आचरण की सम्भावना भी इसमें आभासित होती है। यह लक्षण जैन धर्म के उचित है॥44-45॥

पूर्व पाठ के उचित शास्त्र का उपयोग करनेवाला, श्रीवज्र के बाद भावी प्रभावक आर्यरक्षित ही हैं। इसे सोचकर विद्वानों ने कहा कि जैन प्रक्रिया के बिना सर्वत्र सुन्दर विधि से दृष्टिवाद (किसी को भी) नहीं दिया जाता है॥46-47॥

उस (श्रीवज्र) ने कहा— मेरे सभी संस्कार पूर्व से (जन्मकाल से) ही हैं, मुण्डन से प्राप्त संस्कार नहीं हैं। इसलिए, मेरे शरीर को जैनेन्द्र के संस्कार से अलंकृत करें॥48॥

परन्तु, मुझे कुछ और भी जानकारी देनी है, जिसे मन में बैठा लें। सभी लोग मिथ्यामोह से मेरे प्रति अनुराग रखते हैं॥49॥

राजा को भी जब इस बात का पता चलेगा, तब वह मेरी दीक्षाविधि नहीं होने देंगे। बुद्धिहीन स्वजनों का ममत्व दुस्त्याज्य होता है॥50॥

इसलिए, प्रसन्नतापूर्वक मुझे शिष्य के रूप में दीक्षित होने पर अन्य देश में विहार करना चाहिए, जिससे कि शासन का अनादर न हो॥51॥

‘हाँ’, ऐसा कहकर गुरु ने सर्वज्ञ से सम्बन्धित सर्वोत्तम मन्त्राक्षरों से उसके मस्तक को अभिमन्त्रित किया और उसके वस्त्रों को हटाकर दूर फेंक दिया॥52॥

मुनीश्वर ने बारहवें अंग-ग्रंथ के विभाग-विशेष के अध्ययन के अभिलाषी (आर्यरक्षित) के, सामायिक व्रत के उच्चारणपूर्वक, अशेष क्लेश-रूप केशों को भी काट दिया॥53॥

ईशान कोण में गार्हस्थ्य-वेश को छुड़वाकर श्वेत वस्त्र पहनाकर यति-वेश स्वीकार कराया॥54॥

अब नवदीक्षित आर्यरक्षित सामने था। तत्क्षण वह अन्य मुनियों के साथ विहार के लिए दूसरे नगर में चला गया॥55॥

3. (गुरु ने उसे) मूल अंग-उपांग-सहित आदिग्रन्थों को पढ़ाया। उसकी तपस्या से सन्तुष्ट सूरियों ने उसे कतिपय पूर्व-ग्रन्थों का भी अध्यापन कराया॥56॥

उसने पूर्व-ग्रन्थों और शास्त्रों का अध्ययन किया, हित-अहित को समझने की बुद्धि प्राप्त की, विनयपूर्वक अपने आचारों का पालन किया और ज्ञानपूर्वक व्रतों का अनुष्ठान किया॥57॥

गुरुओं ने शेष पूर्व-ग्रन्थों के अध्ययन के लिए उस आर्यरक्षित को उज्जयिनी नगर में श्रीवज्रस्वामी के निकट भेजा॥58॥

आर्यरक्षित वहाँ चला गया, जहाँ अपवाद, उत्सर्ग आदि नियम-विशेष के ज्ञाता मुनि सत्र का संचालन करते थे। वहाँ वह भद्रगुप्तसूरि के आश्रय में प्रविष्ट हुआ॥59॥

वहाँ उन मुनियों ने (आर्यरक्षित का) परिचय पाकर उसका स्नेहपूर्वक आलिंगन किया और पूछा-‘हे पूर्व-ग्रन्थों के अध्ययन के अभिलाषी आर्यरक्षित! तुम्हारा कल्याण तो है?’॥60॥

आप मेरे प्रायोपवेशन (आमरण अनशन) की विधि में सहायक हों। उसकी वेला आ गई है। मैं निकलता हूँ। क्योंकि कुलीनों की यही मर्यादा है॥61॥

‘वैसा ही हो’- ऐसा स्वीकार कर उसने प्रभु की सेवा की। इस कार्य में उसे यह भान ही नहीं रहा कि सूर्य का कब उदय हुआ और कब अस्त हुआ॥62॥

परम समाधि में लीन भद्रगुप्तसूरि ने एक दिन हर्षित होकर उस (आर्यरक्षित) से कहा- हे वत्स! तुम्हारी सेवा-भक्ति से मैंने भूख-प्यास को कभी जाना ही नहीं॥63॥

इहलोक में भी देवत्व विद्यमान है। उसके आनन्द को गोपनीय रखना चाहिए। मैं तुम्हें कुछ शिक्षा देता हूँ, इसलिए सावधान होकर सुनो॥64॥

पढ़ने की इच्छा के धारक तुम्हें श्रीवज्रस्वामी के श्रीचरणों में रहते समय नित्य पृथक् उपाश्रय में भोजन करना और सोना होगा॥65॥

क्योंकि, उस मण्डली में जिसने एकत्र रूप से भोजन किया है या जो रात में सोया है, उसके साथ कोई न कोई अत्यय (दुःखद घटना) अवश्य हुआ है॥66॥

(हे मुने!) आप तो प्रभावशाली हैं, आर्हत (जैन) शासन-रूप समुद्र के कौस्तुभ-स्वरूप हैं, संघ के भावी आधार हैं, अतएव मेरे लिए उपदेश करें॥67॥

(उपदेश सुनना) चाहता हूँ, ऐसा कहकर उसने प्रभु के चरणों को अपने माथे पर रख लिया। प्रभु ने भी स्वीकृति दे दी। अति विनीत व्यक्ति की यही स्थिति होती है॥68॥

4. अनन्तर, श्रीभद्रगुप्त के कालगत हो जानेपर आर्यरक्षित सुनन्दा-पुत्र (वज्रस्वामी प्रभु) के पास चला गया॥69॥

और तब, उसने स्वप्न में देखी बात कही कि पीकदान खीर से भर गया है। आये हुए अतिथि ने उसी से पारण किया है और कुछ (खीर) बच गई है। यही बात मेरे मन को बार-बार कुरेद रही है॥70-71॥

आज मेरे निकट कोई विद्वान् अतिथि आकर समग्र शास्त्र ग्रहण करेगा और तब कुछ ही बचा रहेगा॥72॥

ऐसा बोला ही जा रहा था कि आर्यरक्षित वहाँ आ गया। महान् लोगों द्वारा देखा गया स्वप्न सद्यः फल देनेवाला होता है॥73॥

अपूर्व अतिथि को देखकर स्वागत में सब उठ खड़े हुए और उन्हें नमस्कार किया। तब सभी प्रभु से बोले—॥74॥

कहाँ से आपका आगमन हुआ है? वह बोले— मैं तोसलिपुत्रों के पास से आ रहा हूँ॥75॥

यह सुनकर प्रभु श्रीवज्र ने जिज्ञासा की—क्या आप आर्यरक्षित हैं? पूर्वशेष पाठ के लिए यहाँ हमारे पास आये हैं? ॥76॥

पात्र, संधार आदि आपके उपकरण कहाँ हैं? उन्हें ले आयें। आज आप हमारे अतिथि हैं, इसलिए गोचर (भिक्षार्थ भ्रमण) न करें॥77॥

यहाँ भोजन कर अध्ययन आरम्भ करें। उनकी बात सुनकर वह बोला— मैं अभ्यर्थी हूँ। मेरा उपाश्रय अलग है॥78॥

वहीं शयन और भोजन करके आपके निकट अध्ययन करूँगा। श्रीवज्र बोले— अलग रहकर अध्ययन कैसे सम्भव है? ॥79॥

अनन्तर, आर्यरक्षित ने गुरु भद्रगुप्त की बात कही। ऐसा कहने पर श्रीवज्र शास्त्र के उपयोग में संलग्न हुआ॥80॥

शयन और भोजन, यहाँतक कि मरण भी मेरे साथ ही होगा। यह समुचित ही कहा गया है कि जन्म भी साथ ही हो॥81॥

श्रीवज्रसूरि ने उसे (आर्यरक्षित को) पढ़ाया, तब उसने दसवें पूर्व के आधे भाग को घोखना शुरू किया॥82॥

इस ग्रन्थ में कठिनाई से अध्ययन के योग्य भूमिमाओं, दुर्गम गमों (क्षण-क्षण बदलनेवाले अर्थों से युक्त प्रयोगों), दुर्वचनीय पर्यायों और सादृश्य-युक्त शब्दों से समन्वित

जविकावलियाँ हैं। उस (आर्यरक्षित) ने चौबीस जविकाओं का अध्ययन किया। अध्ययन में किया गया उसका प्रयास अद्भुत था॥83-84॥

5. अनन्तर उसकी (आर्यरक्षित की) माता रुद्रसोमा सोचने लगी-ओह! मेरा अविमर्श-रूप वृक्ष अनुताप से फलित हुआ है। हृदय को आनन्द देनेवाले, सुधी, चन्दन जैसे शीतल शील से युक्त आर्यरक्षित जैसे पुत्र को मुझ जैसे अल्पबुद्धि ने (बाहर) भेज दिया॥85-86॥

मैंने प्रकाश की बात सोची थी, लेकिन अन्धकार प्राप्त हुआ। अब उसे वापस बुलाने के लिए फल्गुरक्षित को भेजना होगा॥87॥

रुद्रसोमा के पूछने पर सरल श्रोत्रिय सोमदेव ने कहा-इसमें मैं तुम्हें ही प्रमाण मानता हूँ। जो तुम्हें अच्छा लगे, वही करो॥88॥

तब उसने (रुद्रसोमा ने) अपने दूसरे पुत्र फल्गुरक्षित को भेजते हुए उससे कहा-हे वत्स! तुम जाकर अपने भाई (आर्यरक्षित) से मेरी बात कहना-माँ ने तुम्हें अपने भाई के सम्पर्क से अलग कराया है, परन्तु वात्सल्य की बुद्धि को जिनेन्द्र ने भी स्वीकार किया है॥89-90॥

श्रीवीर प्रभु भक्ति की बहुलतावश अपनी माँ के गर्भवास में जब थे, तब माँ ने उनसे निवेदन किया था-गर्भवास से शीघ्र बाहर आकर अपना मुख दिखलाओ॥91॥

तब वह जो मार्ग आपने अपनाया, उसके बाद अपने पिता का वह मार्ग पुनः पुत्र-पुत्रियों के लिए स्वीकार्य होना चाहिए। यदि हमारे प्रति स्नेह-बुद्धि हो तो खुशी से एक बार उसी प्रकार आयें और मुझे कृतार्थता प्रदान करें॥92-93॥

इस आख्यान के आधार पर, आप पुनः मेरी देह के मार्ग से जाने का यत्न करें। आपके शरीर के सम्बन्ध में यही विचार है; क्योंकि हम भाग्योपजीवी हैं॥94॥

माँ की यह बात सुनकर अति विनम्र फल्गुरक्षित ने बन्धु के पास जाकर उससे माँ की बात कही॥95॥

आपके जैसा माँ के प्रति स्नेहशील सहोदर भाई कौन होगा; आपके पिता भी नहीं, जो कुल की लाज बचाने को मुझे कोसेगा॥96॥

तो हे वत्स! अत्यन्त स्वच्छन्दता से तुम (मेरे पास) आओ। तुम्हारे दर्शन-रूप अमृत से तृप्त मैं तृष्णा-रहित होऊँगी॥97॥

अपनी माता रुद्रसोमा से मेरी बात कहना, इसलिए हे मातृवत्सल (माँ के प्रति स्नेहशील)! तुम प्रसन्नतापूर्वक माँ के पास जाओ॥98॥

बन्धु (फल्गुरक्षित) की बात सुनकर आर्यरक्षित ने वैराग्य-भाव से कहा-हे फल्गुरक्षित! इस असार संसार के प्रति मोह कैसा?॥99॥

या फिर, कौन समझदार (व्यक्ति) अध्ययन में विघ्न उपस्थित करेगा? असुन्दर के लिए सुन्दर को कौन छोड़ना चाहेगा?॥100॥

तुम यदि मेरे प्रति स्नेहशील हो, तो मेरे पास ही रहो। दीक्षा के विना यहाँ रहना यदि सम्भव न हो तो उसे ग्रहण करो॥101॥

जब उसने 'ऐसा ही हो' कहा, तब उसी क्षण उसे दीक्षा दे दी गई। कल्याणकारी कार्य को पूरा करने में कौन देर करता है?॥102॥

6. जविकों से अत्यन्त घुमाये गये समझदार आर्यरक्षित ने श्रीमान् वज्रप्रभु से कहा कि इस स्थिति के बाद अब बचा ही क्या रहता है?॥103॥

तुम अध्ययन करो, प्रश्न या प्रतिप्रश्न से तुम्हें क्या आवश्यकता? ऐसा कहने पर वह पढ़ने लगा। कुछ समय बीतने पर फिर उसने गुरु से पूछा॥104॥

तब श्रीवज्र ने कहा- अभी तुमने सरसों बराबर पढ़ा है, मेरु बराबर पढ़ना बाकी है, तो मेरी एक बात सुनो॥105॥

काँजी से क्षीर की, नमक से कपूर की, कुसुंभ से कुंकुम की, गुंजा से सोने की, काँच से हीरे की और धतूरे से चन्दन की तुलना की तरह पूर्वग्रन्थों के अध्ययन को अपने स्वल्पमोह से जो छोड़ना चाहते हो, वह ठीक नहीं। इसलिए अध्ययन करो। शास्त्र-समुद्र के बीच प्राप्त फल की तरह सद्ज्ञानशक्ति-रूप रत्नसमूह को, लिप्ता के बिना, कैसे लाभ करोगे?॥106-108॥

यह सुनकर, ऊँचे स्वर से पढ़ते हुए उसके कुछ दिन बीत गये। फिर, छोटे भाई ने स्वच्छन्दता से आह्वान करनेवाली वाणी से (पढ़ने को) प्रेरित किया॥109॥

फिर, सूरि से पूछा, और फिर दृढ़तापूर्वक प्रयास किया- हे स्वामिन्! सम्बन्धी से मेल के लिए आपने उत्कण्ठित जन को प्रेरित किया॥110॥

शीघ्र ही उन (सम्बन्धियों) से मिलकर पाठ के लिए फिर प्रयास करूँगा। यह सुनकर प्रभु ने पुनः शास्त्र में मन लगाया॥111॥

फिर आकर यह जानकारी प्राप्त की कि फिर वह मुझे नहीं मिलेगा। मेरी आयु की स्वल्पता के कारण इसकी इतनी ही योग्यता होगी॥112॥

दसवाँ पूर्व मुझमें ही स्थित रहेगा, यह निश्चित है। इसलिए कहता हूँ- वत्स! तुम जाओ। तुम्हारा दुष्कृत मिथ्या हो॥113॥

तुम सत्कुल में उत्पन्न मेधा का निधिस्वरूप हो। तुम्हारे जैसा दूसरा नहीं है। इसीलिए तुम्हारे अध्यापन की विधि में हमारा आग्रह है॥114॥

ऐसे पात्र की प्राप्ति विरल ही होती है। तुम्हारे लिए सभी मार्ग कल्याणमय हो। यह सुनकर उसने प्रभु की चरण-वन्दना की और फिर अपने देश के लिए चल पड़ा॥115॥

अप्रतिहत भाव से शुद्ध और संयमपूर्ण यात्रा करते हुए वह बन्धु-सहित पाटलिपुर पहुँच गया॥116॥

वह कल्याणमय तोसलिपुत्रों से परम प्रसन्नतापूर्वक मिला और विभिन्न गुणों से युक्त साढ़े नौ पूर्वों का संग्रह उसने किया॥117॥

7. अनन्तर, गुरुओं ने उसे सूरि-पद पर प्रतिष्ठित किया और फिर स्वयं वह परलोक के लिए प्रस्थित हो गये। तदनन्तर आचार्य आर्यरक्षित दशपुर नगर के लिए चल पड़े॥118॥

फलगुरक्षित आगे बढ़कर अपने घर आ गया। गुरुओं ने, 'हे माता, तुम्हारा पुत्र आ गया', कहकर उसकी वर्द्धापना की॥119॥

माँ ने मुँह चूमकर उसके लिए देवपूजा की। आर्यरक्षित नाम का जो पुत्र है, वह सर्वत्र कहाँ मिलता है?॥120॥

मैं ऐसी पुण्यात्मा हूँ, जो वैसे पुत्र का मुँह देख रही हूँ, इस प्रकार बोलती हुई उस माँ के समक्ष आर्यरहित आ उपस्थित हुआ॥121॥

जैनचिह्न को धारण किये हुए उसे आदर से देखती हुई माँ के खड़े हुए सघन रोंगटे उसकी कंचुकी को भेदकर बाहर आ गये॥122॥

उससे मिलने के लिए उत्सुक सोमदेव भी वहाँ आ गये। अपने पुत्रस्नेह से मुग्ध सोमदेव ने उसका कसकर आलिंगन करते हुए कहा—॥123॥

हे वत्स! तुम जल्दी कैसे चले आये? प्रवेश के लिए उत्सव भी नहीं आयोजित हो पाया। हाँ, मैं जान गया, पुत्र-वियोग से पीड़ित अपनी माँ से मिलने को तुम उत्सुक हो गये थे॥124॥

इस समय भी तुम बाह्योद्यान में चले जाओ, ताकि राजा को इसकी जानकारी हो और वह उत्साह और उत्सवपूर्वक तुम्हारा नगर में प्रवेश करायें॥125॥

तदनन्तर, श्रमण-वेष का परित्याग कर (तुम) पुनः घर में द्वितीय आश्रम (गार्हस्थ्य) के पालन में व्यस्त हो जाओ॥126॥

मैंने तुम्हारे योग्य कन्या के बारे में भी सोच लिया है। वह रूप-यौवन से सम्पन्न है, अनुरागवती एवं यज्ञकर्ता के कुल में उत्पन्न हुई है॥127॥

तुम वेदविहित विधि से महोत्सवपूर्वक उससे विवाह करो, ताकि तुम्हारी माँ अपने पुत्र के विवाह का स्वाद ले सके॥128॥

तुम्हें कतई चिन्ता नहीं करनी है; क्योंकि मेरा धन राजा से पूज्य सात पीढ़ियों का अर्जित है॥129॥

तुम्हारे द्वारा घर का उद्धार और संसार का विस्तार स्वीकार करते हुए देख लेने पर मैं वानप्रस्थाश्रम में मन लगाऊँगा॥130॥

मुझसे स्वयम्भू मुनि ने कहा है कि तात! तुम मोहवात से आक्रान्त हो। भार ढोनेवाले की तरह तुम दुर्धर भार का वहन करते हो॥131॥

पिता, माता, भाई, पत्नी और पुत्री तो प्रत्येक भव में तिर्यक् योनि के भी प्राणियों के होते हैं। इसमें हर्षित होने की कोई वजह तो नहीं है॥132॥

राजा की कृपा से नौकरी द्वारा अर्जित द्रव्य के प्रति गर्व कैसा? द्रव्य तो अनेक उपद्रवों से युक्त होते हैं॥133॥

यह मर्त्यजन्म रत्न के समान दुष्प्राप्य होता है। घर के मोह में पड़कर इस रत्न को नश्वर धूल के समान कौन विद्वान् खोना चाहेगा?॥134॥

तब परीक्षण के बाद, उसे छोड़कर मैंने आर्हती प्रक्रिया (दीक्षा) स्वीकार कर ली। अब मैं सौंप के फण की तरह विषैले भोगों को छोड़ने के बाद उसे पुनः ग्रहण नहीं करूँगा॥135॥

दृष्टिवाद को पूरी तरह पढ़ने के बाद, हे पिता! सच्चे पुरुष के लिए भी दुःख से छोड़ने योग्य विषय को मैं पुनः कैसे स्वीकार करूँगा?॥136॥

मेरे प्रति यदि आपको मोह है, तो हम सभी प्रव्रज्या स्वीकार कर लें। पित्त के उपद्रव को नष्ट करनेवाली चीनी भ्रम से भी खा ली जाती है॥137॥

सोमदेव ने कहा कि सम्प्रति मेरे लिए यही उचित है कि तुम्हारे अपने कुलीन सदस्यों के लिए मैं दुःखसाध्य तप करूँ॥138॥

तुम्हारी माता अपने बेटी-दामाद और उनके शिशुओं के पालने के क्रम में, मूढ़-बुद्धि होने के कारण मोह-तरंगोंवाले भव-सागर को कैसे पार करेगी?॥139॥

8. अनन्तर, आर्यरक्षित ने सोचा कि पिता यदि किसी तरह मिथ्यात्व के आश्रयभूत संसार को समझ लें तो वह उसे तपस्याओं द्वारा पार कर सकते हैं॥140॥

मेरी माँ दृढ़ सम्यक्त्व-रूप हीरे से भरी हीरे की खान जैसी है। यह जानने के बाद ही, उसके प्रभाव से, मेरे मोक्ष का मार्ग प्रकट हुआ॥141॥

रुद्रसोमा ने अपनी माँ से कहा- तुम पिता की बात पर विचार करो। वह तुम्हें कष्ट से समझनेवाली मानते हैं, लेकिन तुम तो ज्ञान की निधि हो॥142॥

तुम्हारे आदेश से ही दृष्टिवाद पढ़ते हुए मुझे भवसागर तैर कर पार करने की मन में इच्छा हुई और फिर, प्रभु श्रीवज्रस्वामी भी प्राप्त हुए॥143॥

कलियुग में सुनन्दा जैसी माता धन्य है, जिसने श्रीवज्र जैसे पुत्र को जन्म दिया। हे माता, मैं तुम्हें एक गुण से उससे भी अधिक मानता हूँ॥144॥

रोदन से खिन्न उसने आर्जववश पहले पुत्र प्रदान किया, फिर मुनितुल्य पिता से उसके निमित्त से विवाद भी किया॥145॥

संसार-सागर से पार पाने को इच्छुक श्रीमान् तोसलिपुत्रों के पास अध्ययन के लिए मुझे तुमने रख दिया॥146॥

श्रीवज्रपाद के निकट रहकर (मैंने) अत्यन्त दुर्लभ पूर्वा और अंगों का अध्ययन किया, फिर तुम्हारे पास आ गया॥147॥

अतः, अपनी तदबीर से सपरिवार तुम व्रतपूर्वक रहकर भव-रूप मरुभूमि से पार हो गई॥148॥

पुरोहित की पत्नी बोली-सरलचित्त ब्राह्मण का कथन है कि कुटुम्ब की पीड़ा से विकल के लिए व्रत का भार उठाना उसकी क्षमता से परे है॥149॥

अतः शीघ्र पहले मुझे दीक्षा प्रदान करें, बाद में मेरे प्रति प्रगाढ़ स्नेह रखनेवाला मेरा परिवार भी प्रव्रजित होगा॥150॥

मेरी माँ की बात सुनकर आचार्य आर्यरक्षित बोले- इस लोक में आप तीर्थ-रूप हैं, अतः आपके कथन के अनुसार ही मैं करूँगा॥151॥

तदनन्तर, 'मैं पहले' इस प्रकार परस्पर स्नेहपूर्वक निवेदन करनेवालों के अनुसार, श्रोत्रिय-परिवार दीक्षा के लिए उपस्थित हुआ॥152॥

तब, उनके केशों को हटाकर उन्होंने उन्हें एक साथ सम्मानपूर्वक सामायिक प्रदान किया॥153॥

9. और विना किसी विचार के उन सबने स्थविर-कल्प जीर्ण वेश धारण किया। तब सोमदेव ने कहा—॥154॥

वत्स! हमारा परिधान कच्छे के समान हो; क्योंकि अपने पुत्र-पुत्री के समक्ष नग्न रहना कैसे सम्भव है?॥155॥

यह सुनकर गुरु ने सोचा—यह तो दुष्कर और चिन्तनीय विषय है। अस्तु, इन्हें धीरे-धीरे समीचीन आचार पालन करने का अभ्यास कराया जाय॥156॥

फिर, बोले—मेरे पिता की इच्छा पूरी की जाय। मैं आपका गुरु हूँ, इसलिए अपने अभिप्राय को कहता हूँ॥157॥

मेरी तरह ही जूते हों, तथा कमण्डलु हो, छाता और जनेऊ हो, इन सबके व्यवहार का नियम तुम्हारे लिए भी होगा॥158॥

दोनों पैरों और शिर का ताप जबतक दूर न हो, तबतक शुचिता का खयाल रखूँगा और, आजन्म विवाहित रहूँगा, उसे कैसे छोड़ा जा सकता है?॥159॥

सूरि के आग्रह को निषेधरहित अनुमति से स्वीकार करूँगा। अपने पिता को (वह) स्वयं स्वाध्याय सिखाते थे॥160॥

एक दिन, गुरुओं की शिक्षावश, शव-रूप से सम्बद्ध श्राद्धकार्यवश चैत्य में जाते हुए साधुओं को प्रणाम के लिए मैं उपस्थित हुआ॥161॥

छत्रधर मुनि को छोड़कर सबको प्रणाम करूँगा। उपाश्रय में आने पर उन्होंने पूछा— हे पुत्र! क्या मैं वन्दनीय नहीं हूँ?॥162॥

हे तात! यदि आप वन्दनीय होना चाहते हैं, तो छत्र का परित्याग कर दें। गरमी से तीव्र ताप होने पर शिर पर पैर रखा जाना चाहिए॥163॥

सम्मान्य पुत्रों के स्नेहवश वृद्ध ने कहा— ऐसा ही हो। इस बात से उन्होंने छत्र और जूते, दोनों का परित्याग कर दिया॥164॥

गरमी के विपरीत दिनों में बाहरी (खुली) धरती पर चलनेवाले परिग्रहयुक्त तथा बाहरी लोगों को (ब्राह्मणत्व का) विश्वास दिलानेवाले पुरुष आपका यज्ञोपवीत धारण करना व्यर्थ है॥165॥

अथवा, यह कौन नहीं जानता कि हम श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। इस प्रकार, धीरे-धीरे उससे गार्हस्थ्य का वेश छुड़वा दिया॥166॥

एक दिन बालकों ने पहले की तरह पहनावे के लिए कहा। तब ब्रह्मतेज से दीप्त उसने बालकों से कहा—॥167॥

मैं नग्न नहीं होऊँगा, पूर्वज-सहित आप सभी मेरी वन्दना नहीं करें। आपके पूजन से जो स्वर्ग मिलनेवाला है, वह भी मत हो॥168॥

एक दिन अनशन के कारण साधु के परलोक चले जाने पर प्रभु ने दृढ़तापूर्वक देहोत्सर्ग के लिए मुनियों को चेताया॥169॥

तब, विद्वान् संन्यासियों ने ऋषियों के साथ शरीर के उत्सर्ग के लिए 'पहले मैं', 'पहले मैं' की स्पर्धा करना शुरू किया॥170॥

कृत्रिम क्रोध दिखलाते हुए गुरु बोले—आपलोगों को अधिकाधिक पुण्य उपार्जन करना चाहिए, किन्तु हमारे स्वजनों के साथ नहीं॥171॥

यह सुनकर पिता ने कहा—यदि महान् पुण्य होगा, तो मैं उसे लेना चाहूँगा। प्रभु बोले—ऐसा ही हो, फिर भी सुनो—॥१७२॥

इस पुण्य के लेने में बहुत विघ्न होते हैं। इसलिए, इस दुष्कर कार्य में मैं अपने पिता की अनुमति लेना चाहूँगा॥१७३॥

विघ्नों से यदि क्षुब्ध हो उठा तो हमारा अमंगल होगा। यह जानकर जो उचित हो, उसे गम्भीर चिन्तनपूर्वक करो॥१७४॥

अथवा, सत्त्वहीन और दुर्बल होकर भी मैं इस (पुण्य को) अर्जित करूँगा। यह मुझसे ही सम्बद्ध (कार्य) है। अतः, किसी प्रकार की बेचैनी का अनुभव नहीं करता है॥१७५॥

पहले मैंने वेद-मन्त्रों से विघ्नों को नष्ट किया है। यहाँतक कि राज्य, राष्ट्र और राजा के भी विघ्नों का निवारण किया है॥१७६॥

तदनन्तर, शव के रथ (मुरदा ढोने की गाड़ी) पर स्थित शव को इसी के कन्धे पर ढोने के लिए पूर्वशिक्षित बच्चों ने वस्त्रहीन (शव को) खींच लिया॥१७७॥

पुत्र के विघ्न में पड़ जाने के भय से वह आन्तरिक पीड़ा से व्यथित होकर उसे (शव को) नहीं छोड़ा, वरन् चबूतरे पर उसे रखकर वेग से घूमा और चला गया॥१७८॥

गुरु ने पूछा—तब! क्या तुम नग्न हो? उसने उत्तर दिया—विघ्न आ पड़ा है। आपकी बात झूठी नहीं है॥१७९॥

मैंने ऐसा बोलते हुए उसे दृढ़तापूर्वक रोका। वह (गुरु) बोले—यह, लम्बा-चौड़ा वस्त्र लो॥१८०॥

उसे सुनकर पिता बोले कि दृष्ट (वस्तु) ही द्रष्टव्य है। हमारे लिए परिग्रह ही क्या है? इसके बाद तो नग्नता ही नग्नता है॥१८१॥

प्रायः इसी प्रकार के प्रपञ्चों से गर्व का परिहार करते हुए गुरु इसकी शिक्षा-सामग्री के प्रति मन को नियोजित करने में समर्थ हैं॥१८२॥

गुरु के द्वारा अनेक उपायों से समझाये जाने पर भी यह तुच्छ वस्तु का त्याग नहीं कर पाता है॥१८३॥

कदाचित् हमारी आयु का क्षय होगा, तभी निस्तार होगा। इसलिए, क्षीणता की स्थिति में उससे कैसे शिक्षा ग्रहण कराई जायेगी॥१८४॥

ऐसा सोचकर वह एकान्त में मुनि श्रेष्ठों को सिखाते थे। मण्डली में एक-एक को भोज्य आहार नहीं देना चाहिए॥१८५॥

चित्त के लिए अरुचिकर भी उसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। गुरु-वचन के प्रति निष्ठावान् उन मुनियों को बार-बार नमस्कार है॥१८६॥

एक दिन वह गुरु अन्यत्र बाहर विहार करने चले गये। मण्डली में संन्यासियों ने उस वृद्ध मुनि को निमन्त्रित किया॥१८७॥

दूसरे दिन गुरु आये और आर्य को बुलाया। तब वह क्रोधपूर्वक बोले— हे पुत्र! मेरी बातें सुनो॥१८८॥

बहुत दिन तक तुम संसार से बाहर रहे। मैं तो असमय ही अवश्य ही प्राणों को त्यागूँगा॥१८९॥

ये मुनि भी आपके द्वारा आदिष्ट बात को नहीं मानते हैं। प्रभो! मैं, इसमें क्या कारण है, नहीं जानता॥190॥

तब उन्होंने कृत्रिम क्रोधवश शिष्यों से कहा—तात को आपने भोजन के लिए निमन्त्रित क्यों नहीं किया? (यह सुनकर) वे बोले—पूज्यपाद के विना शून्य चित्तवाले हमारी अज्ञतावश हुई इस त्रुटि को क्षमा करें॥191-192॥

उनकी उस बात को सुनकर सूरियों ने कहा—हे पिता! सुनो। पराभव में मूल कारण—स्वरूप दूसरे की आशा नहीं करनी चाहिए॥193॥

हम आपके योग्य आहार की खोज में स्वयं नहीं जायेंगे। इनका यह आचरण स्पष्ट ही लज्जाजनक है॥194॥

यह कहकर स्वयं उठकर (उन्होंने) अपने पात्र को ले लिया और चल पड़े और (वहाँ उपस्थित) वयोवृद्धों ने साहसपूर्वक यह बात कही—॥195॥

मैं ही भिक्षा के लिए जाऊँगा। वत्स! मेरे रहते तुम गच्छ के मुखिया भिक्षु भिक्षा के लिए भ्रमण करोगे? ॥196॥

यह कहकर बहुत अधिक उत्साहपूर्वक सूरियों द्वारा मना किये जाने पर भी पात्र के साथ चल पड़ा और एक व्यापारी के घर जा पहुँचा॥197॥

भिक्षा और शिक्षा में अकुशल वह अविहित द्वार से घर में प्रविष्ट हुआ। तब गृहस्वामी ने पूछा— मुख्य द्वार से क्यों नहीं आये?॥198॥

तब, बूढ़े गृहस्थ ने तत्काल मन में यह धारणा बना ली कि कल्याणमयी लक्ष्मी अविहित द्वार से भी घर में प्रवेश करती है॥199॥

तब उसने सन्तुष्ट होकर बत्तीस लड्डू सुलभ किये और उपाश्रय में आकर सूरि के समक्ष उसकी चर्चा की॥200॥

इस प्रथम लाभ के सन्दर्भ में गुरु ने सगुण विचार किया कि संख्या में बत्तीस शिष्य मेरे अनुगत होंगे॥201॥

और फिर, पूछा—तात! जब राजकुल से धन का लाभ होगा, तब भुक्तशेष धन को किस भाव से देंगे॥202॥

आर्य बोले—गुणवान् श्रोत्रियों को दिया जाता है; क्योंकि सत्पात्र के लिए दी गई लक्ष्मी पुण्य की भूमि होती है॥203॥

वैयावृत्य (सेवा) आदि सद्गुणों के कारण साधु ही हमारे लिए मुख्य हैं। इन्हीं को धन देकर, हे तात! अपने जन्म को सफल करें॥204॥

बच्चे, रोगी आदि और फिर साधुओं के लिए यदि मैंने भोजन लाया तो इन्हीं के लिए उपकारी होगा, (ऐसा करके) मैंने क्या नहीं लाभ किया?॥205॥

एकमात्र गच्छ में दान करके शुद्ध बुद्धिवाले तथा भिक्षा के प्रति आदर रखनेवाले वह वृद्ध ऐसा (यथोक्त रूप में) बोलकर परम आराध्य हो गये॥206॥

10. वहाँ, गच्छ में इन्द्र के समान तेजस्वी तीन पुण्यमित्र थे। वे तीनों अपनी प्रज्ञा से शास्त्र के अर्थ का ज्ञाता एवं सन्तोष की भूमि (परम सन्तोषी) थे॥207॥

उनमें पहला घृतपूर्व, दूसरा वस्त्रपूर्व और तीसरा पुष्यमित्र दुर्बलिका-पूर्व थे॥208॥

उनमें प्रथम पुष्यमित्र को चार प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त थीं—द्रव्यलब्धि, क्षेत्रलब्धि, काललब्धि तथा भावलब्धि॥209॥

द्रव्य से घी होगा, क्षेत्र से अवन्तिमण्डल; काल से ज्येष्ठाषाढ नक्षत्र होगा और भाव से यह कहा जा रहा है कि दुर्गति को प्राप्त ब्राह्मणी छह महीने में ही प्रसूति बनेगी। उसके पति ने यह विचार कर भिक्षा में घी प्राप्त कर जमा किया॥210-211॥

जब ब्राह्मणी के प्रसव का समय निकट आया, तभी भूख से पीड़ित ब्राह्मण ने सब ओर से निराश होकर (भूख मिटाने के लिए) घी को माँगा। चूँकि मुनि ने माँगा है, इसलिए ब्राह्मणी ने प्रसन्नतापूर्वक यह सोचकर दे दिया कि गच्छ के लिए जितना दिया जाता है, उतना ही उस देने वालों को (वापस) प्राप्त होता है॥212-213॥

पुष्यमित्र के वस्त्र आदि से यह लक्षण दृष्टिगत होता है कि द्रव्य से वस्त्र का लाभ होती है और क्षेत्र से मथुरापुरी मिलती है। और फिर, काल से वर्षा, शिशिर तथा हेमन्त संकेतित होता है। उसका यह लब्धिविशेष क्षयोपशम से ही सम्भव हुआ है॥214-215॥

कोई अनाथ महिला चाण्डाल-कर्म करनेवालों के घर में, कपास के ढेर के मूल्यानुसार रूई जमाकर, सूत कातने का काम करके उनके लिए उससे कपड़ा बुना और किसी निर्वस्त्र स्त्री के माँगने पर उसके लिए उस (वस्त्र) को दे दिया॥216-217॥

दुर्बल पुष्यमित्र यथाप्राप्त जमे हुए घी को स्वेच्छापूर्वक बराबर खाता रहा। किन्तु पाठ के अभ्यास करने में श्रम के कारण वह दुर्बल हो गया॥218॥

वह अपनी विशिष्ट बुद्धि से दिनरात यथागृहीत नौ पूर्वों का अभ्यास करता और मुझसे प्राप्त श्रुत को कभी विस्मृत नहीं करता॥219॥

उसके प्रसिद्ध सहोदर दशपुर में ही रहते थे। वे सभी बुद्ध के उपासक सूर के पास गये॥220॥

उन्होंने कहा कि आप लोग इस धर्म के प्रति ध्यान नहीं देते। वह बोला—हमारा जैसा ध्यान है, वैसा उनका नहीं है॥221॥

यह पुष्यमित्र आपका ही है, किन्तु यह बेचारा किसी के खयाल में नहीं है। उन्होंने कहा—इसके व्रत में रहने से, मधुर आहार के अभाव की स्थिति ही दुर्बलता का कारण है॥222॥

गुरु ने कहा—वृद्धों की कृपा से घी में डूबा हुआ यथेच्छ भोजन करता है, फिर भी बराबर चिन्ता करने से ही यह दुर्बल हो गया है॥223॥

इसे घृतसिक्त सामग्री कहाँ से प्राप्त होती है, ऐसा पूछने पर गुरु ने उत्तर दिया—पुष्यमित्र प्रचुर मात्रा में घी ले आता है॥224॥

अब यदि विश्वास न हो तो इसे अपने घर ले जाइए और कुछ दिनों तक स्नेहाक्त भोजन कराइए॥225॥

आप स्वयं जान जाइएगा कि इसकी दुर्बलता और सबलता का कारण क्या है? उनसे आहुत और स्वीकृति-प्राप्त वह गुरु के साथ उनके घर चला गया॥226॥

उत्तम आहार से पोषण प्राप्त करने पर भी वह दुर्बल होने लगा। दिन-रात अध्ययन में लगे रहने के कारण उसे भोजन के रस का स्वाद नहीं मिलता था॥227॥

उसके स्वजनों ने विचार किया कि इसके द्वारा खाया गया अन्न भस्म में होम करने जैसा है। वे (स्वजन) उसे बहुत (भोजन) देते थे, पर उसके लिए न कुछ के बराबर होता था॥228॥

अन्तिम सीमा तक आहार प्रदान करनेवाले उसके स्वजनों ने विपरीत परिणाम देखकर उसे अध्ययन करने से मना कर दिया, परिणामतः वह पहले जैसा (पुष्ट) शरीर-वाला हो गया॥229॥

उसे प्रतीत हुआ कि अपने स्वजन सम्बन्धि प्राप्त करेंगे, इसलिए वह पुनः शान्तचित्त बैठे गुरु के पास आ गया॥230॥

11. वहाँ, उस गच्छ में चार प्रज्ञावान् मुनिश्रेष्ठ थे— दुर्बल पुष्यमित्र, विन्ध्याख्य, फल्गुरक्षित और एक गोष्ठामाहिल थे, जिन्होंने शुक्राचार्य की बुद्धि को जीत लिया था। उनमें मेधावी विन्ध्य ने गुरु को यह ज्ञापित किया कि अनुयोग की महती मण्डली में पाठ के छोड़ने में मेरा स्खलन होता है, इसलिए सुने हुए पाठ को मुझे अलग से कहिए॥231-233॥

सूरि बोले—इसे मैं स्वयं तुम्हारे समक्ष बखानता हूँ। बड़ी व्याख्यान-मण्डली का उल्लंघन मैं कैसे कर सकता हूँ?॥234॥

इसलिए तुम्हारे वाचनाचार्य दुर्बल पुष्यमित्र महाबुद्धिमान् उपाध्याय हैं। तुम उनके समक्ष शीघ्र ही अध्ययन शुरू करो॥235॥

ऐसा करने पर, कुछ दिनों के बाद उस विन्ध्य अध्यापक ने एकान्त में कृताञ्जलि होकर गुरु से कहा— प्रभो! मेरी बात सुनें॥236॥

मैं वाचना-कार्य से व्यग्र रहता हूँ, इसलिए अपने पढ़े हुए को भूल जाता हूँ। उस कारण से खिन्न रहकर सोचता हूँ कि मैं क्या करूँ?॥237॥

पूज्यों द्वारा, गुनने पर रोक लगा देने के बाद, जब मैं अपने घर भेजा गया, तब पहले पढ़े हुए में भी कुछ स्खलन हुआ॥238॥

अब यदि इसके बाद की वाचना देंगे तो मैं निस्सन्देह नवम पूर्व भूल जाऊँगा॥239॥

यह सुनकर सूरि ने सोचा—यदि ऐसी मेधारूप निधि है कि आगम का विस्मरण हो जाता है, तो दूसरा कौन इसे धारण करेगा?॥240॥

इसके बाद मैंने आगम को इस प्रकार विभाजित किया—चार अनुयोग, बारह अंग, बारह उपांग, मूलसूत्र, छेदसूत्र। इसे ही चरणानुयोग और करणानुयोग कहा गया। समीचीन धर्मकथाओं में 'उत्तराध्ययन' पहला है। गणित के ग्रन्थों में 'सूर्यप्रज्ञप्ति' गणित का मुख्य ग्रन्थ है और 'दृष्टिवाद, द्रव्य-विचार का ग्रन्थ है। इस प्रकार चार अनुयोग हैं॥241-242॥

सूरियों ने 'विन्ध्यार्थम्' इस सूत्र की व्यवस्था की। पुराकाल में एकत्रित सूत्र में चार अनुयोग हुए॥244॥

12. एक दिन, मथुरापुरी में आर्यरक्षित सूरि उसकी भूमि को अधिष्ठित करने के लिए, देव-विशेष के आश्रम में जा बसे॥245॥

इधर, विदेहभूमि में तीर्थंकर श्रीसीमन्धरस्वामी विराजित थे। उनकी उपासना के लिए इन्द्र गये और उनके प्रति समर्पित मन से (आगम की) व्याख्या सुनी॥246॥

केवली ने उनके लिए तत्त्वपूर्ण निगोद की कथा कही। इन्द्र ने प्रश्न किया—भरतक्षेत्र में उन आगमों पर विचार करनेवाला दूसरा कौन है?॥247॥

उत्तर में तीर्थंकर ने कहा—मथुरानगरी में आर्यरक्षित मेरी तरह ही निगोद की व्याख्या कर सकते हैं। तब वह (इन्द्र) अतिशय विस्मित हो गये॥248॥

विश्वस्त होते हुए भी वह आश्चर्य उत्पन्न करने के लिए वृद्ध ब्राह्मण का रूप धरकर जल्दी-जल्दी दोनों हाथ धुनते हुए गुरु के पास आ गये॥249॥

उस (वृद्ध) का केश काश के फूल के समान (सफेद) था, उसका शरीर छड़ी के सहारे टिका था, वह चलते समय खूब जोर से हाँफ रहा था, आँखों से लगातार पानी गिर रहा था॥250॥

इसी रूप में उस वृद्ध ने निगोदों पर विचार करने के लिए प्रश्न किया। गुरु ने उसकी यथावत् व्याख्या की, जिससे वह चमत्कृत हुआ॥251॥

जिज्ञासु ने ज्ञान का माहात्म्य (महिमा) और अपने जीवन के विषय में पूछा। तब गुरु ने शास्त्र का उपयोग करते हुए यह सोचा—॥252॥

उसकी आयु सौ, हजार, लाख दिनों, पक्षों, महीनों और वर्षों में भी नहीं मापी जा सकती है॥253॥

और फिर, लाख, करोड़ पूर्वों और सैकड़ों पत्नियों एवं लाखों-करोड़ों सागरों से भी उसका अन्त पाना सम्भव नहीं है॥254॥

दो सागरोपम आयु की पूर्णता ज्ञात होने पर भी आप सौधर्म (प्रथम देवलोक) और सुत्रामा (इन्द्रलोक) की परीक्षा के बारे में क्यों नहीं विचार करते हैं?॥255॥

मनुष्य के देखने योग्य अपने रूप को प्रकट कर, और यथास्थिति को कहकर इन्द्र अपने स्थान को चल पड़े॥256॥

यतियों के आने तक कुछ प्रतीक्षा के लिए आग्रह करने पर साधुओं के निदानानुसार रूप-ऋद्धि के दर्शन का निषेध कर दिया गया॥257॥

तथापि कुछ निशान छोड़ जायँ, इसलिए घर को विस्तृत कर विपरीत द्वार से स्वर्ग चले गये॥258॥

द्वार पर आने के बाद इन्द्र को न पाकर मुनियों से गुरु ने कहा— वे (इन्द्र) विपरीत रास्ते से चले गये, इसलिए हम सब अतिशय विस्मित हुए॥259॥

हड़बड़ी में क्या-क्या बोले, यह वे मुनि समझ गये। उन्होंने इन्द्र के वृत्तान्त को गुरु से यथावत् निवेदित किया॥260॥

इन्द्र के दर्शन न हो पाने से मानो कुछ खिन्न जैसे वे बोले— बदनसीब लोगों को इन्द्र का दर्शन कैसे सम्भव है?॥261॥

13. अनन्तर वे गुरु अन्यत्र विहार के लिए चले गये। प्रभव पुनः मथुरा आ गया। उसे नास्तिवादी गोष्ठामाहिल ने शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया॥262॥

उसने वहीं पर संघ के साथ चातुर्मास व्रत का पालन किया। वादलब्धि से युक्त वैसे पुरुष को कौन नहीं टिकने देगा?॥263॥

आर्यरक्षित सूरि ने विचार किया—कौन (व्यक्ति) पद के योग्य है। उनके विचार में दुर्बल पुष्पमित्र आया॥264॥

सूरियों के अपने वर्ग के लोगों ने फल्गुरक्षित के बारे में विचार किया, परन्तु मोहवश गोष्ठामाहिल को गच्छ का आधिपत्य सौंप दिया॥265॥

वहाँ— आचार्यों ने वायुयुक्त तेल और घी से भरे तीन घड़े मँगवाये और फिर उन्हें खाली करवा दिया॥266॥

सभी वस्तुएँ तो निकल गईं, फिर भी थोड़ा तेल रह गया। और घी भी बहुत लगा रह गया। (आचार्य ने कहा कि) इन घड़ों को उदाहरण के रूप में देखो॥267॥

मैं दुर्बल मुनि मैं शिम्बीधान्य (दलहन) के सौ घड़ों की समानता मानता हूँ, बन्धु तेल के कुप्पे के समान हैं और मातुल घी के घड़े के समान॥268॥

उन्होंने गुरु के वचन को इष्ट मानकर कहा कि मेरे पद पर यही (गोष्ठामाहिल) हो॥269॥

तब गुरु ने आदेश किया कि नया प्रभु दुर्बल और मेरे मातुल-बन्धु के प्रति मेरे और मेरे पिता के समान ही बरताव करना चाहिए॥270॥

गच्छ में स्थित दूसरे यति भी और साध्वियों एवं एक पिता के दो सहोदर मधुर वचनों से शिक्षित किये गये कि आप सभी मुझसे भी अधिक विनय के साथ मेरे प्रति जैसा ही बरताव करें और इस स्मृत या विस्मृत व्रत के आचरण में या फिर कृत और अकृत कार्य के प्रति सब कुछ मैं सहन करूँगा। फिर भी, यह नवीनता के साथ न किये हुए के समान दिखाई पड़ेगा॥271-273॥

तदनन्तर यह वाक्य (बात) सामने आया कि उद्यमशीलों द्वारा सदा कार्य करना चाहिए और मृत्यु-पर्यन्त इनके (गुरु के) पादमूल को नहीं छोड़ना चाहिए॥274॥

उन आर्यरक्षित सूरि द्वारा ऐसी ही गच्छ-व्यवस्था की गई और अन्तिम समय में अनशन व्रत का पालन किया गया॥275॥

विद्वान् जैन मुनियों द्वारा उद्धार-प्राप्त वह देवलोक चले गये और अलग-अलग रूप से सभी अनुयोगों के अनुसरणकर्ता हुए॥276॥

14. और, श्रीपुष्पमित्रसूरि गच्छ के प्रवर्तक के रूप में गुरु से भी अधिक चित्त की एकाग्र अवस्था (शुभ ध्यान) में लीन हो गये॥277॥

वहाँ, परस्पर मतों की असंगति की भूमि वह गोष्ठामाहिल सातवाँ रहस्य बन गया, जिसे दूसरे शास्त्र से जानना चाहिए॥278॥

प्रभु आर्यरक्षित का विशद चरित्र अद्भुत है, तीनों लोकों को पवित्र करनेवाला गंगाजल के समान है। विद्वज्जनों के कानों के लिए कुण्डल जैसा बना हुआ यह पुष्पदन्त की रुचि-पर्यन्त वन्दनीय को आनन्दित करे॥279॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु परम्परा-रूप सरोवर के हंसस्वरूप श्रीराम-लक्ष्मी से

उत्पन्न श्रीप्रभाचन्द्रसूरि-कृत अपने मनोभाव के अनुरूप, पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिचन्द्र द्वारा प्रकटित ऋषि (सन्त) सोमदेव के पुत्रों (आर्यरक्षित और फल्गुरक्षित) की कथा नाम का दूसरी शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥280॥

॥ आर्यरक्षित-चरित समाप्त॥



श्रीआर्यनन्दिल-चरित

1. आर्यरक्षित के वंश में उत्पन्न श्रीमान् आर्यनन्दिल, जो संसार-रूप जंगल को पार कराने में पथ-प्रदर्शक की भूमिका का निर्वहण करते हैं, आप सबको पवित्र करें।॥१॥

आर्यनन्दिलस्वामी के गुणों के वर्णन में कौन समर्थ है? जिसकी आज्ञा को नागों के आठ कुलों ने अपने माथे चढ़ाया था॥२॥

जिसकी कृपा से और वैरोट्या देवी के उपदेश से नागेन्द्र की पत्नी प्रकट हुई, जो नाम-मन्त्र के प्रभाव से विष का असर दूर कर देती थीं॥३॥

गुरु द्वारा अतिशय समादृत उनका ही कुछ वृत्तान्त मैं गुरुकृपा से प्रस्तुत करता हूँ। मृगांक (चन्द्रमा) में स्थित मृग क्या आकाश में विहार नहीं करता॥४॥

पद्मिनीखण्ड नाम का एक नगर है, जो कल्याण का भाण्डार है, श्री-सम्पन्न है, श्रेष्ठ सरोवरों और कमलपुष्पों से सुशोभित है॥५॥

वहाँ पद्मप्रभ नाम का राजा था। उससे उसका समस्त शत्रुपक्ष अतिशय त्रस्त रहता था। वह स्वयं लक्ष्मी का आवास-स्वरूप था। उसका मुख कमल के समान (सुन्दर) था॥६॥

उसकी पत्नी का नाम पद्मावती था। वह सैकड़ों कामिनियों की शिरोमणि-स्वरूप थी। उसने अपनी देह-कान्ति से स्वर्गपति (इन्द्र) की पत्नी (इन्द्राणी) को भी जीत लिया था॥७॥

वहाँ अतिशय प्रसिद्ध पद्मदत्त नाम का सेठ था। वह अपरिमित लक्ष्मी का पात्र था। श्रेष्ठ कलाओं का केन्द्र था। याचक-रूप चातकों के लिए (स्वाती नक्षत्र के) जल की बूँद के समान था॥८॥

उस सेठ के पद्मयशा नाम की रतिकुशल पत्नी थी। उन दोनों के पद्म नाम का पुत्र था, जो रूप और गुण में इन्द्र के पुत्र (जयन्त) के समान था॥९॥

उसे (पद्म को) विविध कलाओं से पूर्ण मानकर सार्थवाहों के सुखिया वरदत्त ने वैरोट्या नाम की अपनी पुत्री से उसका विवाह कर दिया॥१०॥

एक दिन दुस्सह जंगली आग फैल गई, जिससे उस (वरदत्त) के विश्वासियों का अन्त हो गया, जगत् के अमंगलकारी अधम जनों का पक्ष मजबूत हो गया, पुण्य और नैपुण्य दोनों का क्षय हो गया, ऐसी स्थिति में वह पुण्यात्मा (वरदत्त) परिवार के साथ अपने समवर्ती (साथी) के नगर में जा पहुँचा॥११-१२॥

तभी से, तुच्छ भावना के कारण, वैरोटी द्वारा सेवा किये जाने पर भी, उसकी सास, पिता के घर से रहित वैरोटी को अपमानित करने लगी॥१३॥

रूप, अलंकार, धन, तेज, सौभाग्य और प्रभावशालिता—ये सब पैतृक प्रभाव से ही स्त्रियों को निश्चित रूप से सुलभ होते हैं॥14॥

सास के वचनों से दुःखी, विनीता स्त्रियों की शिरोमणि-स्वरूप वह (वैरोटी) दिन-रात अपने कर्म (भाग्य) को कोसती हुई दुबली हो गई॥15॥

अनन्तर, दूसरे दिन शेषराज वासुकि ने स्वप्न में जैसा सूचित किया, तदनुसार रत्नगर्भा धरती की तरह उसने शुभ और अद्भुत गर्भ में (पुत्र) रत्न को धारण किया॥16॥

तीसरा महीना पूरा होने पर श्रेष्ठ भ्रूण से सम्पन्न उसे खीर खाने का तीव्र दोहद हुआ। उसका वह दोहद शत्रुओं में द्रोह उत्पन्न करनेवाला हुआ॥17॥

2. अनन्तर, आर्यनन्दिलसूरि (उस नगर के) उद्यान में पधारे। वह सूरि प्रभु साधु-वृत्त से घिरे रहनेवाले और साढ़े नौ पूर्वों के धारक थे॥18॥

उसके गर्भवती होने पर भी सास उसके प्रति अनुकूल नहीं थी। बराबर जो कुछ भी कटु वचन ही बोलती थी और प्रतिकूल आचरण करती थी॥19॥

इस अति अभागिन को पुत्र कैसे होगा? दरिद्रता की बावड़ी-स्वरूप इस पितृहीन को पुत्री ही होगी॥20॥

इस प्रकार कटु वचनों से दुःखी वह प्रभु के चरणों में आई यह विचार कर कि चैत्यगृह ही मेरे लिए पितृगृह है॥21॥

प्रभु की वन्दना करके वह अश्रु-विगलित स्वर में बोली— प्रभो! मैंने पूर्वजन्म में क्या अपनी माँ (सास) का विरोध किया था, जो वह मुझसे विरोध-भाव रखती है?॥22॥

प्रभु बोले— मनुष्य पुराकृत कर्म के अनुसार ही दुःख या सुख भोगता है, तो विवेकी जन इसमें दूसरे को दोष देते हैं क्या?॥23॥

दुर्लभ मनुष्य-जन्म मिलने पर (मनुष्य द्वारा) सुखप्रद क्षमाभाव की प्रशंसा की जाती है। इसलिए अपनी माँ (सास) को आदर देने पर तुम्हारा सबकुछ धीरे-धीरे शुभ ही होगा॥24॥

बेटी! मैंने अपने ज्ञान से जान लिया कि तुम्हें खीर खाने का दोहद हुआ है। अशिशु पुण्यवश (तुम्हारे गर्भ में) जो आया है, वह भी तुम्हारी आशा को पूर्ण करेगा॥25॥

प्रभु द्वारा इस प्रकार के वचनामृत से उसकी क्रोधाग्नि को बुझाये जाने पर उसका हृदय शीतल हो गया और वह उनकी बात को मन में स्मरण करती हुई घर चली गई॥26॥

चैत्र की पूर्णिमा के दिन उपवास में रहकर पद्मयशा ने पुण्डरीक तप किया और उस व्रत का उद्यापन भी शुरू किया॥27॥

उस दिन पायस से पूर्ण पीकदान प्रदान किया जाता है और समधर्मा गुरुओं के लिए स्नेह प्रदर्शित किया जाता है॥28॥

वैसा सब कुछ करने पर भी कदन्न दे दिया, तो सास की अवज्ञा के कारण वधू के गुण को दूषित करनेवाले ऐसे दर्प (घमण्ड) को धिक्कार है॥29॥

वधू दोहद के माहात्म्यवश, कुछ बचे हुए पायस (खीर) को कपड़े में बाँधकर और उसे घड़े में रखकर जल में फेंकने के लिए बाहर गई॥30॥

घड़े को पेड़ के पास छोड़कर पैर धोने के लिए जब वह जलाशय के समीप गई, तभी खीर का स्वाद लेने के मन से अलिंजर नागराज की नागिन पाताल से निकल कर वहाँ आई और खीर के लोभवश घूमती हुई (उसने) घड़े में उसे (खीर को) देखा॥31-32॥

(जिसमें खीर बँधी थी, उस) वस्त्रखण्ड को हटाकर उस (नागिन) ने खीर खाई और फिर जैसे आई थी, वैसे ही वह नागिन पाताल चली गई॥33॥

(पैर धोकर) वैरोट्या जब लौटी, तब घड़े में खीर न देखकर वह साध्वी न सोच में पड़ी, न क्रुद्ध हुई, किन्तु यह बोली-॥34॥

जिसने यह खीर खाई है, उसका मनोरथ पूरा हो, जिस प्रकार मेरा (मनोरथ) पूरा हुआ है, इस प्रकार शान्त मन से उसने आशीर्वाद दिया॥35॥

3. इधर नागराज की पत्नी ने अपने पति के समक्ष सब कुछ निवेदित किया और तब नियत समय जानकर नागराज ने उस (नागिन) को फटकारा॥36॥

तब, उस (नागिन) को बड़ा अनुताप हुआ, और गृह-स्थिति की संरक्षा के लिए क्षमा-भाव से प्रसन्न होकर उसने उस स्त्री को यह सपना दिया॥37॥

मैं अलिंजर नाग की पत्नी हूँ और वैरोट्या मेरी पुत्री है। इसके दोहद की पूर्ति के लिए इसे खीर देनी चाहिए॥38॥

और फिर, मेरी बात उससे कहना कि मैं तुम्हारे मायके को सास से मिले अपमान से निश्चय उबारूँगी॥39॥

तब उस पुण्यवती ने भक्तिपूर्वक (वैरोट्या को) खीर खिलाई। इस प्रकार दोहद पूरा होने पर प्रसन्न उसने अद्भुत पुत्र को जन्म दिया॥40॥

नागपत्नी ने भी सौ उत्तम नागों को जन्म दिया। वे सभी अपनी तेजोमयी कान्ति से बढ़ने लगे॥41॥

वैरोट्या ने पुत्र के नामकरण-पर्व में नागिन का ध्यान किया। तदनन्तर माँ के आदेश से नागश्रेष्ठ ने—हम-उसके मायके जायेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा करके वह मनुष्य-लोक में आये और हर्षपूर्वक, उसके घर को अलंकृत किया॥42-43॥

कुछ देवता हाथी पर सवार होकर, तो कुछ घोड़े पर सवार होकर, कुछ सुखासन पर और कुछ मानुषी विमान पर वहाँ आये। अपने वैक्रिय अतिशय से वे सभी सैकड़ों रूप धारण किये हुए थे। उन्होंने उस (वैरोट्या) के घर को सँकरा कर दिया था और शहर को भी पाट दिया था॥44-45॥

माँ ने वैरोट्या की रक्षा के लिए ढक्कन से मुँह-बन्द घड़े में रखकर सँपोले दिये थे॥46॥

वधू के पितृकुल में अद्भुत कलाश्री से सम्पन्न उस पुत्र के आने पर सास उस (वैरोट्या) का स्नान आदि से सत्कार करने लगी॥47॥

अहा! लोक में लक्ष्मीवानों का पक्ष ही अपेक्षाकृत अच्छा और विजयी होता है। पैदा होते ही जिसे पहले बुरा-भला कहा गया, वही अब गौरव का पात्र बन गई॥48॥

पर्व के कामों में व्यग्र किसी कार्यकर्त्री ने अँगीठी पर रखी हाँड़ी के मुँह पर साँपवाला घड़ा रख दिया॥47॥

यह देखकर व्याकुल वैरोट्या ने घड़े को (अँगीठी से नीचे) उतार दिया और माँ के कथनानुसार स्नान करके केश से टपकते जल से उस हाँड़ी को भिगो दिया॥50॥

वे सभी (साँपोले) उस (केशजल) के प्रभाव से स्वस्थ हो गये, लेकिन एक (सर्प)-शिशु जल-बिन्दुओं के स्पर्श के अभाव में क्षणभर में पूँछ से रहित हो गया॥51॥

भूख आदि की स्थिति में यत्र-तत्र उसकी लड़खड़ाहट को (देखकर) वह उसके स्नेह से मोहित होकर यह बात बोल रही थी कि वह बण्ड (चिरकाल तक) जीये॥52॥

उन नागरूप बन्धुओं ने सबके लिए रेशमी वस्त्र, सोना और मोती के आभरण प्रदान किये॥53॥

पर्व समाप्त होने पर वे सभी अपने-अपने स्थान पर चले गये और उस प्रभाव से सभी नाग अपने घर में गौरवान्वित हुए॥54॥

एक दिन नागराज अलिंजर अपने पुत्रों को देखने के क्रम में बण्ड को देखा और उसके अंग-भंग के कारण क्रुद्ध भी हुआ॥55॥

अवधि-ज्ञान से यह जानकर वह वैरोट्या के घर में गया और निश्चय किया कि मैं अपने पुत्रद्रोही को अवश्य ही डसूँगा॥56॥

पति की इस प्रतिज्ञा को सुनकर उसकी रक्षा के लिए भक्तिपूर्ण नागिन 'वैरोट्या'-'वैरोट्या' बोलती हुई आई॥57॥

पत्नी (नागिन) की इस बात को सुनकर पति (नाग) शान्तभाव से उसकी परीक्षा के लिए भीतरी घर के किवाड़ के पीछे छिपकर खड़ा रहा॥58॥

साँझ के झुटपुटे में, किवाड़ के आगे के अवरोध को न देख पाने से वेग से जाती हुई उसने टखने में जोरों का दर्द महसूस किया॥59॥

'बण्ड जीये' ऐसा बोलती हुई उस नागिन ने पति सर्प को तत्क्षण सन्तुष्ट किया और सन्तुष्ट पति ने उसे पाजेब प्रदान किया॥60॥

और, अपने पाताल-स्थित घर में जाने-आने की अनुमति भी प्रदान की। फलतः, सभी नाग उसके घर में जब-तब जाने-आने लगे॥61॥

तभी से सामान्य लोग-बच्चे, स्त्री आदि भय-भ्रान्त हो गये, और नाग-गृह दुर्गम कहलाने लगा॥62॥

पद्मदत्त ने गुरुजनों को यथास्थिति की जानकारी दी। उन्होंने (गुरुजनों ने) कहा- इस बात की जानकारी नागिनों को भी दी जानी चाहिए॥63॥

वे (नाग) मेरे घर में लोकानुग्रह की कामना से वास करेंगे। मेरी अनुमति से वे वास करेंगे और किसी को काटेंगे भी नहीं॥64॥

वैरोट्या से आदिष्ट तुम साँपों के घर जाओ और नागिन के बेटों से कहो कि मेरी आज्ञा का उल्लंघन वे नहीं करेंगे॥65॥

पाताल में जाकर उसने सभी श्रेष्ठ साँपों को इसकी जानकारी दी। प्रभु (मालिक) की यह अद्भुत सूचनीय आज्ञा उन्हें मान्य हुई॥66॥

सैंकड़ों नाग-नागिन जीयें और उनके पिता नागराज अलिंजर, जिसके विष की ज्वाला से आकाश व्याप्त है, वह भी जीवन प्राप्त करें॥67॥

मैं अनाथ सनाथ हो गई, जिन्होंने मेरे पैरों को नूपुर से युक्त किया और आशीर्वाच्य-रूप अमृत का सागर प्रदान किया॥68॥

देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् के छत्र, ध्वज एवं आवरण (वस्त्र) के ध्यान से सर्प, भूत, प्रेत, अग्नि, चोर, दुर्जन आदि का भय नहीं रहता है॥69॥

डाकिनी, शाकिनी और योगिनियाँ उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं, जिनके शिरपर जैनशासन का मुकुट है॥70॥

जो उसके गुरु की आज्ञा तथा वैरोट्या की स्तुति पर प्रतिदिन ध्यान देता है, उसे क्षुद्र संसार का भय नहीं होता॥71॥

जो गुड़, घी और पायस की स्वादिष्ट बलि तीर्थकर और जैन साधु को अर्पित करता है, उसकी रक्षा वह वैरोट्या करती है॥72॥

प्रभु के इस उपदेश को सुनकर दूसरे सर्प भी शान्त हो गये और सती वैरोट्या सबके लिए पूजनीया हो गई॥73॥

भाग्य और सौभाग्य की रंगभूमि-स्वरूप नागदत्त और उसके पुत्र ने, जो धर्म-कर्म में कार्यशील थे, उस कुल की उन्नति कर दी॥74॥

एक दिन, सद्गुरु के वचन के अनुसार, संसार की अनित्यता की सम्भावना कर, गुण-सम्पन्न नागदत्त को अपने पद पर स्थापित कर दिया॥75॥

पत्नी और पुत्र-सहित पद्मदत्त ने व्रत स्वीकार कर लिया और उग्र तप करके पुत्र-सहित सौधर्म नामक स्वर्गलोक में चला गया॥76॥

और, पद्मयशा पूज्य (गुरु) के आदेश से अपनी वधू (पुत्रवधू) के साथ, अपने मिथ्या दुष्कृत को ध्यान में रखकर वहीं देवी के रूप में प्रतिष्ठित हो गई॥77॥

वैरोट्या भी सर्पराज का ध्यान करती हुई धर्म के प्रति उद्यत होकर मृत्यु को प्राप्त हुई और (आगामी जन्म में) धरणेन्द्र की पार्श्वसेविका देवी हो गई॥78॥

उसने भी प्रभु के प्रति भक्ति रखनेवालों की अद्भुत सहायता की। वह देवी विष, अग्नि आदि से डरे हुए को निश्चित रूप से शान्ति प्रदान करती हैं॥79॥

तब, श्रीआर्यनन्दिल स्वामी ने वैरोट्या देवी की स्तुति को 'पार्श्वनाथ तीर्थकर को नमस्कार है' इस मन्त्र के साथ सम्पन्न किया॥80॥

जो व्यक्ति इस स्तुति का, एकचित्त होकर तीनों कालों में, पाठ करते हैं, उन्हें विष आदि से होनेवाले सभी उपद्रव कभी नहीं होते॥81॥

वैरोट्या का यह पवित्र आख्यान क्षान्ति (धैर्य) और अक्षय कल्याण का मूलाधार है। इसे सुनकर जो मनुष्य क्षमा-भाव को आदर देते हैं, उनके लिए स्वर्ग और मोक्ष दुर्लभ नहीं हैं॥82॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप श्रीराम-लक्ष्मी से उत्पन्न, पूर्व के ऋषियों के चारित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिचन्द्र द्वारा प्रकटित श्रीनन्दिलाख्यानक नाम का तीसरा शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥१८३॥

श्रीप्रद्युम्न-रूप रसधारा-वर्षा सघन मेघ-रूप प्रभो! आपके विना सद्गुरु-रूप अविनाशी विषय की तृष्णा से तरल, सर्वसुलभ अन्य श्रीसम्पन्न संसार से निरपेक्ष विशद शब्द-धारा से चातक शिशु रूप अपने शिष्य को तृप्त करें (शब्द-धारा का पान करावें)॥१८४॥

॥ तीसरा श्रीनन्दिलाचार्य-प्रबन्ध (चरित) समाप्त ॥



श्रीकालकसूरि-चरित

1. अपने विशाल गुणों से श्रीसीमन्धर तीर्थंकर-रूप में विख्यात विद्वत्-श्रेष्ठ वह आचार्य कालक आपकी रक्षा करें॥1॥

बहुश्रुत प्राच्य विद्वानों द्वारा पर्युषण पर आश्रित जिसका वृत्त समादृत है, उसका ही मैं (उसी प्रकार) बखान करता हूँ, जिस प्रकार एक छकड़ा दूसरे छकड़े का अनुगमन करता है॥2॥

श्रीधरावास नाम का नगर (न-गर) है, जहाँ साधुओं के वचनामृत से सर्पमुख से उगला हुआ विष भी (दुर्जन के मुख से निकला हुआ विषतुल्य वचन भी) प्रभावशाली नहीं होता॥3॥

उस नगर की कीर्तिपताका सभी दिशाओं को आश्रित कर श्री-सम्पन्न बनी हुई थी, सुदृढ़ रूप से आकाश की ऊँचाई को छू रही थी और पूरे आकाश में व्याप्त थी तथा श्रेष्ठता की डोरी से बँधी हुई थी॥4॥

उस नगर में श्रीवैरिसिंह नाम का पराक्रमी राजा था, जिसके प्रताप ने शत्रु की स्त्रियों के शरीर में लगे सुगन्धित चन्दन, केसर आदि के लेप को सुखा दिया था॥5॥

उस राजा की, सौंदर्य-श्री से सम्पन्न सुरसुन्दरी नाम की पत्नी थी, जो महान् विषय-सुख में विराजनेवाले सौभाग्य की उद्भव-भूमि थी॥6॥

इन्द्र का जयन्त के समान, समुद्र का चन्द्रमा के समान उनके (राजा-राजपत्नी के) कालक नाम का पुत्र हुआ, जो काल के समान भयंकर धनुष से (अपने) शत्रुओं का संहार करनेवाला था॥7॥

उनके सरस्वती नाम की पुत्री हुई, जो ब्रह्मज्ञान की भूमि-स्वरूप तथा विश्व को पवित्र करनेवाली थी, जिसके आने से विशाल समुद्र भी सबके लिए आश्रय हो गया॥8॥

एक दिन कालक अश्वक्रीड़ा के क्रम में नगर के बाहर के प्रदेश में अनायास ही घोड़े को फेरने के लिए गया॥9॥

वहाँ, वह दुलकी, उछल-कूद और दौड़ जैसी चाल से घोड़े को फेरते हुए उसे उत्तेजित करता एवं उछल-कूदवाली चाल से दौड़ाता रहा॥10॥

घोड़ा थककर पसीने से तर-बतर हो गया। तभी, रूप में गन्धर्व के समान (कालक) ने उद्यान के बीच कोमल और मनोहर स्वर सुना॥11॥

राजकुमार (कालक) ने मन्त्री से पूछा कि यह कैसा स्वर है? मेघ-गर्जन के समान गम्भीर यह स्वर किसका है, इसकी जानकारी प्राप्त करें॥12॥

उस (मन्त्री) ने जानकारी प्राप्त कर राजकुमार को बताया कि हे स्वामी! प्रशान्त और पवित्र मूर्ति के स्वरूप गुणाकर नाम के वह विद्वान् धर्मोपदेश कर रहे हैं॥13॥

राजोद्धान में विश्राम करते हुए हम सबको उन विद्वान् का वचनामृत सुनाई पड़ता है। अवश्य, ऐसा ही हो, सब कुछ जान लेने पर वह (कालक) वहीं चला गया॥14॥

वह गुरु को प्रणाम कर बैठा और उसने उनकी विशेष रूप से उपासना की और फिर उनके ज्ञानोपयोग से धर्म नाम की योग्यता का ज्ञान प्राप्त किया॥15॥

धर्म, अर्हत् और गुरुतत्त्व को सम्यक् रूप से जानकर वह उनका आश्रित हुआ और ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इस रत्नत्रय के बारे में विचार करने की शक्ति प्राप्त की॥16॥

(उसने जाना कि) धर्म जीवदया का मूल है, 'जिन' (तीर्थंकर) सर्वज्ञ देवता हैं। राग के प्रति आसक्ति का भेदन करनेवाले ब्रह्मचारी गुरु अनासक्ति की केन्द्र-स्थली हैं॥17॥

पाँच व्रतों से समन्वित, यतियों के संयम के आश्रित, दस प्रकार के पावन संस्कारों से सम्पन्न धर्म, कर्म-बन्धन से मुक्त करनेवाला है॥18॥

जो एक दिन भी एकचित्त होकर इस (धर्म) की आराधना करता है, वह मोक्ष और वैमानिक देवत्व को प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं है॥19॥

बारह व्रतों से युक्त, दानशील तपोभाव-भंगी द्वारा अपरिमित कल्याणकारी गृहस्थ-धर्म का सम्यक् अनुपालन करनेवाले मनुष्यों के लिए (वह धर्म) मोक्षप्रद होता है। एक भी जैनोपदेश संसार-सागर के पार जाने में नाव के समान है॥20-21॥

यह सुनकर कुमार ने कहा कि जैनांग-रूप नाव के बारे में बतायें, ताकि मैं दीक्षा, मोक्ष और ज्ञान-रूप समुद्र का किनारा पा सकूँ॥22॥

(गुरु ने कहा)- 'अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर आओ; तुम्हारी इच्छा पूरी हो।' वह आदरपूर्वक आदेश का पालन करके पत्नी-सहित वहाँ आया॥23॥

स्वयं गुरु ने सपत्नीक उसे प्रव्रज्या (दीक्षा) प्रदान की। वह प्रज्ञा की अतिशयता से सकल शास्त्रों का अधीती हो गया॥24॥

तब गुरु श्रीमान् गुणाकरसूरि ने योग्य शिष्य कालक को अपने पद पर प्रतिष्ठित कर प्रेत्य-कार्य को पूरा किया॥25॥

2. एक दिन श्रीकालकाचार्य विहार करते हुए उज्जयिनी नगरी पहुँचे। वहाँ बाह्य उद्धान में ठहरे॥26॥

वहाँ मोहान्धकार में भग्न भव्यजनों को सम्यक् अर्थ का ज्ञान होने पर, मणिदीप के समान वे प्रभापूर्ण हो गये॥27॥

उस नगर में गर्दभिल्ल नाम का महाबली राजा रहता था। किसी समय नगर के बाह्य प्रदेश में राजकीय उत्सव आयोजित किया गया था॥28॥

कर्म-संयोग से वहाँ स्वयं (राजा ने) कालकाचार्य की बहन को जाते हुए इस प्रकार देखा, जिस प्रकार कौआ दही की हौड़ी को देखता है॥29॥

उसे उग्रकर्मा (उग्रवादी) पुरुष हरण कर ले जा रहे थे और वह 'हे भाई, बचाओ, बचाओ' कहती हुई करुण स्वर में रो रही थी॥30॥

साध्वियों से यह जानकर कालकाचार्य ने स्वयं राजसभा में जाकर राजा के आगे कहा-॥31॥

फल-सम्पत्ति की रक्षा के लिए जलीय भूमि की व्यवस्था की जाती है। जब रक्षक ही फलों का भक्षक हो, तब इसे किसके आगे कहा जाय?॥३२॥

हे राजन्! आप सभी वर्णों और दर्शनार्थियों के रक्षक हैं। अगर आप ही ऐसा न करें तो आपके लिए दर्शनार्थियों को दर्शन देने के नियम का उल्लंघन युक्त (उचित) नहीं होगा॥३३॥

उन्मत्त एवं भ्रान्त उन्मत्त की तरह उन्मत्त अधम राजा इस पृथ्वी को सम्मान नहीं देता, वरन् म्लेच्छ के समान उसे ध्वस्त करता है॥३४॥

मिथ्या मोह में पड़कर जिसकी मति भ्रष्ट हो गई है, ऐसा राजा मन्त्रियों और पुरवासियों से भी दृढ़तापूर्वक चेताये जाने पर भी (सदाचार की बलात्) अवहेलना कर देता है॥३५॥

क्षात्रतेज के प्रकट होने के पूर्व आचार्य की नींद उचट गई। उन्होंने कायरों को सन्तप्त करनेवाली कठोर प्रतिज्ञा की॥३६॥

जैनों को अपमानित करनेवालों, मुख्यतः ब्राह्मणों और बालकों की हत्या करनेवालों तथा तीर्थंकरों की प्रतिमा तोड़नेवालों को मैं स्पष्टतः पापी समझता हूँ॥३७॥

अन्याय के कीचड़ में मग्न, अपने को राजा कहनेवालों का मैं, पुत्र, पशु और बान्धव-सहित शीघ्र ही विनाश कर दूँगा॥३८॥

सामान्यजन के लिए दुष्कर और असम्भव इस बात को बोलकर दम्भपूर्वक घर से निकलकर (उसने) उन्मत्त का वेष धारण कर लिया॥३९॥

अकेला वह सन्ध्या में चौराहे, तिराहे और खुले प्रांगण में असम्बद्ध रूप से बकता हुआ चेतना-शून्य की तरह घूमता रहा॥४०॥

गर्दीभिल्ल राजा है, तो इससे क्या? अगर (राजा का) वह देश समृद्ध है, तो भी इससे क्या?॥४१॥

उसे ऐसा बकते हुए सुनकर सभी लोग कृपाभावपूर्वक कहने लगे—बहिन से रहित होने के कारण ही सूरि अतिशय उग्र हो गये हैं॥४२॥

कुछ दिनों के बाद अकेला ही वह निकल गया और पश्चिम दिशा की ओर चलकर धीरे-धीरे समुद्र-तट पर जा पहुँचा॥४३॥

३. वहाँ शाखिदेश था, जिसके राजा शाखि थे। दूसरे शक नाम के राजा थे, जो छियानब्बे अर्गलाओं के बीच रहते थे॥४४॥

उनमें एक अधिराजा था, जो सात लाख घोड़े रखता था। दूसरे भी राजा थे, जो दस हजार घोड़ोंवाले थे॥४५॥

उनमें एक माण्डलिक था, जिसे कालकसूरि ने देखा। वहाँ और भी अनेक कौतुकों को उसने विस्मित चित्त से देखा॥४६॥

उस राजा के अनेक विश्वासी मित्र थे, जिनके 'विना उसे चैन नहीं मिलता था। उनके साथ अनेक प्रकार की बातचीत से उसका समय बीतता था॥४७॥

(एक दिन) वह मण्डलेश्वर की सभा में सूरि के साथ सुखपूर्वक बैठा था। तभी, गोष्ठी में एक राजदूत आया॥४८॥

द्वारपाल ने सूचनापूर्वक उसे प्रवेश कराया। प्रवेश के बाद वह बोला—पुरानी परम्परा के अनुसार, (आप) भक्तिपूर्वक राजशासन ग्रहण करें॥49॥

अनन्तर, राजा ने उठकर (राजशासन के प्रतीक) तलवार को तत्क्षण अपने माथे पर रखा और स्वयं उसकी प्रशंसा की॥50॥

ऐसा करने के बाद राजा का मुख मलिन हो गया, और वह कुछ बोलने में भी असमर्थ हो गया। और, शब्दहीन आषाढ़ के मेघ की तरह उसका शरीर श्याम रंग का हो गया और वह आत्मचिन्तन में डूब गया॥51॥

मुनीन्द्र ने चकित होकर पूछा कि स्वामी की स्पष्ट प्रसन्नता के बावजूद वह मलिन पड़ गये—वर्षाकाल के आने पर भी हर्ष के विपरीत यह स्थिति कैसी?॥52॥

उसने कहा—मित्र! स्वामी का यह कोप है, प्रसन्नता नहीं। अपने इस शस्त्र से इसका सिर काटकर मुझे भेजना है॥53॥

ऐसा करने पर, हमारे वंश में प्रभुता टिकी रहेगी। अन्यथा, राष्ट्र और राज्य का विनाश उपस्थित है॥54॥

इस तलवार में छियानब्बे का अंक दिखाई पड़ता है, इससे मैं ऐसा मानता हूँ कि राजा छियानब्बे सामन्तों के प्रति क्रुद्ध है॥55॥

4. सभी ने गुप्त रूप से विद्वानों को बुलाकर वहाँ मिला दिया। नाव से समुद्र को पारकर वे सभी सौराष्ट्र देश आ गये॥56॥

वर्षाकाल आने पर इन मुनियों के मार्ग अवरुद्ध हो जाने से वे छियानब्बे अंशों में बँटकर उस देश में ठहर गये॥57॥

वह राजा तथा अन्य वीर, सेना के व्यूह की वृद्धि से, तलवार की नदी में राजद्रोही हंस की तरह लगते थे॥58॥

शत्रु-विनाशकारी धनुष पर शीघ्रगामी उल्लासपूर्ण तीर की भाँति बलिष्ठ शत्रु से, मेघ से आसमान जैसे, राजद्रोही घिर गये॥59॥

उपस्थित उग्र उपसर्ग (विघ्न) के प्रभाव से निकलकर, कमल के मुख को विकसित करनेवाले सूर्य की तरह राजा लोग वर्षाऋतु के अन्त में यानि शरद् ऋतु में आ गये॥60॥

उन राजाओं को आनन्दित करने के लिए एक सुधी पुरुष की तरह शरद् का मौसम आ गया, परिपक्व शालि ही उस सुधी की वाणी जैसी थी और सभी प्रसन्न दिशाएँ उसके मुख की भाँति थीं॥61॥

अनन्तर, सैनिक अभियान में मित्रराजा से सूरि ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि हमारे पास रसद नहीं है और रसद के बिना सेना का कल्याण नहीं हो सकता॥62॥

यह सुनकर राजा एक कुम्हार के घर गया। वहाँ उसने आग में पकाई जाती ईंट के पाक को देखा॥63॥

वहाँ आक्षेप-शक्ति से सम्पन्न गुरु ने कानी ऊँगली के नख में किसी चूर्णयोग को भरकर फेंका॥64॥

इस विधि से वह राजा के आगे चला गया और राजा से बोला कि हे मित्र!

यात्रा-निर्वाह के लिए यह सोना बाँटकर ले लें॥65॥

'ऐसा ही हो' कहकर राजा ने हाथी, घोड़े और सेना का पूजन-पूर्वक प्रास्थानिक पर्व मनाया॥66॥

पंजाब और लाट राष्ट्र के स्वाभी राजाओं को सब ओर से पराजित कर, शत्रु पर चढ़ाई किये हुए शक राजा मालव देश की सीमा पर पहुँच गये॥67॥

सेना के आने की बात सुनकर भी विद्या के सामर्थ्य से गर्वित राजा गर्दभिल्ल ने अपने नगर के किले को सैन्यसज्जित नहीं किया॥68॥

शाखिराजा की सेना विशाला नगरी की धरती पर आ पहुँची। वह सेना टिड्डियों के दल की तरह सभी प्राणियों के लिए भयंकर थी॥69॥

अनन्तर, माध्यस्थ भाव में स्थित वह राजा गर्दभी विद्या के बलपर आदर और आवेश की स्थिति में अपने सैन्य को सज्जित नहीं करता था॥70॥

महल के कंगूरों पर, परकोटों के कोनों में और छज्जों पर शत्रुओं को चूर्ण-विचूर्ण करनेवाले शस्त्रों की भी पूर्ति नहीं की गई थी॥71॥

नगर के मुख्य मार्गों पर सैन्य-रूप किवाड़ी भी नहीं लगाई गई थी। गुप्तचरों से यह जानकर गुरु ने अपने मित्र राजा से कहा—॥72॥

किले को आवरण-रहित देखकर उद्यम-रहित नहीं होना है। क्योंकि, यह (शत्रु राजा) अष्टमी और चतुर्दशी के दिन गर्दभी की पूजा करता है॥73॥

एकाग्र मन से एक हजार आठ बार (मन्त्र का) जप करता है। जप के अन्त में वह विद्या गर्दभी की तरह रेंकती है॥74॥

उस रेंकने के भयंकर स्वर को जो भी दुपाया (मानव) अथवा चौपाया (पशु) जीव सुनता है, वह मुँह से फेन उगलता हुआ मर जाता है॥75॥

आधी और तीसरी गव्यूति (दो कोस की दूरी की माप) के बीच किसी को नहीं ठहरना चाहिए। कुछ लोगों को आवास देकर बलवान् राजा ठहर सकते हैं॥76॥

यह सुनकर सद्गुरु कालकाचार्य ने शब्दवेधी वाण चलाने में निपुण एक सौ आठ वीरों की माँग की और उन अचूक लक्ष्यवाले सुशिक्षित (धनुर्धरों को) अपने पास रखा और, गर्दभी के रेंकने के समय उसके मुख को वाणों से भरकर तरकस जैसा बना दिया॥77-78॥

उस गर्दभी ने गर्दभिल्ल के माथे पर ईर्ष्यावश मल-मूत्र विसर्जित किया और रोषवश दुलती से आहत कर वह अन्तर्हित हो गई॥79॥

यह दुर्बल है, ऐसी घोषणा कर अभिमानी गुरु ने उनके आगे सभी सैन्य को लाकर उस किले में प्रवेश किया॥80॥

गुरु के आगे गिराकर पकड़ा और फिर गिराकर और बाँधकर गर्दभिल्ल को सेनाओं ने छोड़ दिया। फिर प्रभु कालकाचार्य ने उससे कहा—॥81॥

वाह! वाह! अरे पापी! तुम बाज द्वारा पकड़े गये गौरैया पक्षी की तरह भारी और झुके हुए इस कर्म-कुसुम को ले आये॥82॥

फलस्वरूप, नरक जाकर और उससे उबरकर एवं सम्प्रति इस तथ्य को जानकर शान्त हो जाओ और शुभकारक प्रायश्चित्त को स्वीकार करो॥83॥

परलोक का आराधक होकर अपनी रुचि के अनुसार कार्य करो। यह सुनकर (वह) दुःखी हुआ और उसका परित्याग कर दिया गया, तदनन्तर वह जंगल में भटकने लगा॥84॥

भटकते हुए उसे बाघ खा गया, इस प्रकार उसकी दुर्गति हो गई। साधुओं से द्रोह करनेवालों की ऐसी गति उसके लिए कम ही कर्मफल है॥85॥

सूरि के आदेश से स्वामी राजा उन (कालकसूरि) का मित्र हो गया। दूसरे शाखिराजा भी देश को बाँटकर रहने लगे॥86॥

अनन्तर, गुरु ने साध्वी सरस्वती को व्रतनिष्ठ कर दिया। फलस्वरूप, अपने कर्म की आलोचना करके उसने घर का परित्याग कर दिया और गुणस्थान को प्राप्त किया॥87॥

चूँकि सभी विद्या-देवियाँ, अनिच्छा से भी स्त्रीव्रत को भंग करनेवालों के प्रति क्रुद्ध होती हैं, इसलिए रावण ने भी सीता के प्रति ऐसा हठाचरण नहीं किया था॥88॥

इस प्रकार की, शासन की उन्नति से जैनतीर्थ को प्रभावित करते हुए और शाखि-राजाओं को प्रतिबोधित करते हुए कालक सूरिेश्वर के रूप में प्रतिष्ठित हो गये॥89॥

5. कुछ ही समय में शकों के वंश को उन्मूलित कर राजा श्रीविक्रमादित्य सार्वभौम पद के अधिकारी हो गये॥90॥

उन्नत महासिद्धि से सम्पन्न उन राजा (विक्रमादित्य) ने पृथ्वी को ऋणमुक्त करके अपने नाम से संवत्सर का प्रवर्तन किया॥91॥

तदनन्तर, पैंतीस सौ वर्षों से भी अधिक समय के बाद उस राजा के वंश का विनाश कर शकों ने अपना संवत्सर प्रवर्तित किया॥92॥

प्रसंगवश इतना कहने के बाद प्रस्तुत विषय कहा जा रहा है। राजपूजित कालक अपने देश में विहार करने लगे॥93॥

6. ललाट के तिलक के समान लाट नाम का देश था। वहाँ भृगुकच्छ (भड़ौँच) में बलमित्र नाम का राजा था॥94॥

वहाँ कालक प्रभु की बहन का बड़ा बेटा भानुमित्र रहता था। उन दोनों की बहन भानुश्री थी। उसका पुत्र बलभानु था॥95॥

एक दिन उन्होंने लोगों से कालकाचार्य का वृत्तान्त सुना। उन्होंने सन्तोषपूर्वक उन्हें बुलाने के लिए अपने मन्त्री को भेजा॥96॥

विहार करते हुए वे सभी अप्रतिबद्ध जनों को उद्बोधित करने के लिए नगर में पधारे और नगर के बाहर ठहर गये॥97॥

राजा बलमित्र उनके आगमन को जानकर उनके सम्मुख गये और हर्ष के साथ अतिशय उत्सवपूर्व उनके लिए सूरि-प्रवेश आयोजित किया॥98॥

उन प्रभु ने अपने उपदेशामृत से भव्यजनों को सिंचित करते हुए पुष्कर और आवर्तक नाम के मेघ की तरह उनके समस्त ताप का शमन कर दिया॥99॥

(और फिर उन्होंने) श्रीसम्पन्न शकुनिकातीर्थ में स्थित श्रीमुनिसुव्रत को प्रणाम कर उनकी चरित्र-चर्चा आदि से राजा को प्रतिबोधित किया॥100॥

एक दिन राजा के पुरोहित ने, जो मिथ्यात्व के ग्रह से ग्रसित और संशयापन्न था, यह कहते हुए कि मैंने शास्त्रार्थ में मुनि को जीत लिया, और अपने अनुकूल व्यवहार से मुनि को विघ्नित करते हुए दम्भपूर्ण भक्तिवश सरलहृदय राजा से कहा- हे नाथ! ये गुरु देवता की भाँति जगत्पूज्य हैं, इनकी पवित्र पादुकाएँ लोगों के लिए शिरोधार्य हैं॥101-103॥

मैं लोक और राजा की हित-कामना से कुछ निवेदन कर रहा हूँ- आप उसे हृदय में धारण करें, यदि मुझे पूज्य मामा के प्रति भक्ति है। नगर में प्रवेश करनेवालों के जो चरण रास्ते में उगे हैं, उनका अन्य सामान्य जन उल्लंघन करते हैं, जो बहुत पाप की बात है॥104-105॥

हे महामते! इसमें धर्म का अर्जन बहुत कम है। दूसरी बात, ऋजुतापूर्ण भाव की प्रतीति है। तब तो महान् संकट का विषय है- ऐसा राजा ने कहा॥106॥

विद्वान् मामा तीर्थस्वरूप हैं, यह सर्वपूजित हैं, इन्हें वर्षाकाल में रोककर रखने के बाद भेजा जा सकता है क्या?॥107॥

ब्राह्मण ने कहा-हे राजन्! आपकी सलाह हितकारक है और सुखद भी। आपका यश और धर्म स्वयं सुखपूर्वक फैलेगा॥108॥

नगर में सर्वत्र ढुंगढुगी पिटवा दी जाय कि राजशासन के अनुसार, स्वामी से पूजित गुरुजनों को श्रेष्ठ आहार-लाभ कराया जायेगा॥109॥

एषणा-रहित आहार आदि कर्म को देखकर वे स्वयं निर्गमित होंगे। इसमें फिर उनकी श्लाघा की कमी नहीं होगी॥110॥

ऐसा ही हो, इस प्रकार राजा के कहने पर नगर में वैसा ही उसने कराया। और, एषणा-रहित आहार आदि का आयोजन किया गया। इस अनेषणा को देखकर उन यतीजनों ने गुरु से कहा-॥111॥

प्रभो! सर्वत्र मिथ्यान् का आहार अति सुलभ है। गुरु ने कहा- यह उपसर्ग काल-वैपरीत्य के कारण उपस्थित हुआ है॥112॥

इसलिए, संयमपूर्वक की गई यात्रा के क्रम में प्रतिष्ठानपुर जाना चाहिए। वहाँ दृढ़ निश्चयवाले श्रीसातवाहन नाम के जैन राजा रहते हैं॥113॥

7. तदनन्तर, सूरियों ने दो यतियों को संघ के लिए (यह कहकर) वहाँ भेजा कि सुबह हमें निश्चय ही पर्युषण-पर्व का आयोजन करना है॥114॥

संघ के प्रति सम्मान-भाव रखनेवाले उन दोनों ने एक साथ मिलकर गुरु की बात मान ली और गुरु ने भी अतिशय हर्षपूर्वक उनकी बात को स्वीकृत किया॥115॥

तदनन्तर, प्रभु श्रीकालक क्रमशः उस नगर में पहुँचे। और वहाँ उन सातवाहन का प्रवेशोत्सव मनाया॥116॥

वहाँ राजा ने पर्युषण-पर्व के अवसर पर गुरु से निवेदन किया कि प्रभो! इस देश में इन्द्रध्वज-महोत्सव होनेवाला है॥117॥

भाद्रपद की शुक्ल-पंचमी तथा षष्ठी को यह पर्व मनाया जाय। इस धार्मिक लोकपर्व में हम सभी की एकचित्ता नहीं है॥118॥

प्रभु ने कहा— हे प्रजापालक! पुराकाल में अर्हत के उपासकों ने गुरु के वचन से इस पर्व का अतिक्रमण कभी नहीं किया॥119॥

यद्यपि मेरु-शिखर काँपने लगे, सूर्य पश्चिम में उगने लगे, तथापि लोग भादो की शुक्ल पंचमी की रात्रि में आयोजित होनेवाले इस पर्व का अतिक्रमण नहीं करते॥120॥

राजा ने कहा— वह पर्युषण-पर्व चतुर्थी में होगा। गुरु ने कहा— ऐसा ही हो। पूर्वजों ने भी इस तिथि का समर्थन किया है॥121॥

क्योंकि पहले भी यह पर्व आयोजित होता था, ऐसी श्रुति है। तब, राजा ने कहा—यह अतिशय प्रिय और हर्षप्रद कार्य है॥122॥

क्योंकि, अमावास्या के दिन पर्वोपवास के अवसर पर पौषध (व्रत के लिए निर्धारित आवास) में स्थित मेरे अन्तःपुर की स्त्रियाँ पक्ष के प्रारम्भ में पारण करती हैं॥123॥

वहाँ अष्टम भक्त करनेवाले निर्ग्रन्थ महात्माओं का प्राशुक (दोष-रहित) आहार से श्रेष्ठ पारण होता है॥124॥

प्रभु ने भी कहा कि यह पंचमहादान (स्वर्णदान, गोदान, गजदान, भूमिदान और कन्यादान) देनेवाले जीव (मनुष्य) को दुष्कर्म के समुद्र से पार लगा देता है॥125॥

थके राहगीरों, रोगियों, लुंचन-कर्म किये हुए व्यक्तियों तथा बहुश्रुत विद्वानों और फिर उपवासोत्तर पारण करनेवालों के लिए दिया गया दान महाफलदायी होता है॥126॥

तभी से कषाय के उपशम में हेतुभूत यह महान् सांवत्सरिक पर्व पंचमी की अपेक्षा चतुर्थी में मनाया जाने लगा॥127॥

इस प्रकार परम तुष्टि के साथ शासन (जैन शासन) की उन्नति करते हुए श्रीमान् कालकाचार्य के कुछ दिन बीत गये॥128॥

8. किसी समय वैसे सूरियों के भी कर्मदोष से, दुर्गति की स्थिति में इच्छापूर्ति करनेवाले कुछ विनय-विहीन शिष्य थे॥129॥

अनन्तर, सूरि ने उपाश्रय के मालिक से सत्य बात कही कि हम कर्मबन्ध से विमुक्ति के लिए अन्यत्र जायेंगे॥130॥

इन शिष्यों को प्रिय किन्तु कर्कश बातों से तुम्हें कहना चाहिए— इस प्रकार उन्हें शिक्षित कर, शिक्षा के अन्त में गुरु विशाला (उज्जयिनी) चले गये॥131॥

शिक्षा देने की बात कहकर प्रभु जब चले गये, तब सुबह पौ फटते ही उनके शिष्य गुरु को न देखकर मुँह लटकाये हुए वे आपस में कहने लगे—॥132॥

यह उपाश्रय का मालिक पूज्य की शुद्धि के बारे में यथार्थ को निश्चित रूप से जानता है। यह दुर्विनय सम्प्रति हमारी ही शाखाओं से विस्तार को प्राप्त हुआ है॥133॥

उनसे पूछे जाने पर उपाश्रय के मालिक ने प्रभु की स्थिति के बारे में यथोचित कहा। तदनन्तर वे (शिष्य) वेगपूर्वक उज्जयिनी के लिए चलने लगे॥134॥

रास्ते में चलते हुए वे लोगों द्वारा पूछे जाने पर झूठ बोलते थे और फिर पीछे चलनेवाले आगे हो गये और आगे चलनेवाले पीछे हो गये॥135॥

रास्ते में जाते हुए वे नाम के शृंगारवश लोगों से पूजित हुए। स्वामी के बिना नारी, सेवक और शिष्यों की अवमानना होती है॥136॥

इधर, वस्त्र में लिपटे रत्न के समान कालकाचार्यसूरि उज्जयिनी-स्थित यतियों के आवास में मलिन वेश लिये प्रविष्ट हुए॥137॥

वहाँ उनका प्रशिष्य सागरसूरि आगम की व्याख्या कर रहा था। उसने आचार्य के प्रति अभ्युत्थान (उठकर खड़ा होना) आदि किसी भी प्रकार का विनय प्रदर्शित नहीं किया॥138॥

तदनन्तर, वह अनासक्त विचारवाले (आचार्य) ईर्या (संचरण) को रोककर कहीं निर्जन (एकान्त) कोने में परमेष्ठी का ध्यान करते हुए ठहर गये॥139॥

उपदेश के बाद, भ्रमण करते हुए वहाँ के सूरि ने कहा- हे वृद्ध तपस्वी! अपने सन्देह के प्रति आग्रहशीलता के साथ कुछ प्रश्न पूछें॥140॥

बहुत कम जाननेवाला मैं वार्धक्य के कारण आपकी बात को बहुत कम समझ पा रहा हूँ। फिर भी, आप पूछें, ताकि मैं आपके संशय के निराकरण में समर्थ हो सकूँ॥141॥

अनन्तर, दुर्गम होते हुए भी सुगम जैसी अष्टपुष्पी के बारे में पूछा। गर्व के कारण उसने अनादर का भाव रखने के कारण थोड़ी बहुत व्याख्या की॥142॥

तदनन्तर, वह कुछ दिनों के लिए जाकर उसी गच्छ (उपाश्रय) में लौट आये और सूरि द्वारा उठकर स्वागत किये जाने पर वह कुछ बोले, फिर सभी गुरु के समक्ष गये॥143॥

वहाँ के निवासी बोले-एक वृद्ध को छोड़ कोई भी नहीं आया। उनके आने पर सूरि और सत्र के पति ने उठकर उनका स्वागत किया॥144॥

गच्छ ने गुरु से क्षमा करा दी और वहाँ स्थित सूरि ने भी उन्हें क्षमा कर दिया और उन सभी को अनुशासित कर सूरि ने इस प्रकार प्रबोधित किया-॥145॥

बालू से भरी समतल भूमि को जगह-जगह खाली कराया गया। खाली होने पर सूरि बोले-वत्स! इस सन्दर्भ में ऐसा दृष्टान्त जानो॥146॥

श्रीसुधर्मा, फिर जम्बू, फिर सभी श्रुतकेवली, सभी वे छह जगह स्खलित हुए, फलतः वे श्रुत में न्यूनत्व को प्राप्त हुए॥147॥

तदनन्तर, क्रमशः उनके प्रवृत्त होने पर शास्त्र न्यून से न्यूनतर होता गया। हमारे गुरु में जैसी शास्त्रीयता थी, वैसी प्रभाहीन मुझमें नहीं॥148॥

जैसा मेरा है, वैसा तुम्हारे गुरु में नहीं है और जैसा उनका है, वैसा तुम्हारा नहीं है। इसलिए हे वत्स! सबको बुरा लगनेवाला गर्व मत करो॥149॥

उसने अष्टपुष्पी के विषय में पूछा, तब प्रभु ने उसकी व्याख्या की- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अकिंचनता और फिर राग-द्वेष का परिहार, फिर सातवाँ धर्मध्यान और आठवाँ शुक्लध्यान। फूलों द्वारा आत्मार्चन करने से कल्याण होता है॥150-151॥

इस प्रकार शिक्षित होकर, मार्दव (धर्म) की अतिशयता में स्थित उससे पूछकर पवित्र बुद्धिवाला वह निस्संग भाव से अन्यत्र विचरण करने लगा॥152॥

सीमन्धर जैसे श्रेष्ठ तीर्थ में निगोद के आख्यानपूर्वक आर्यरक्षित की कक्षा के माध्यम से इन्द्र के प्रश्न आदि को जानना चाहिए॥153॥

श्रीजैनशासन-रूप समुद्र से उद्धार करने में आदिकच्छप-रूप इन्द्रियजयी श्रीकालकप्रभु इच्छामृत्यु की आकांक्षा के साथ देवभूमि के लिए प्रस्थित हो गये॥154॥

श्रीमान् कालकाचार्य सूरि संयम की निधि थे। उनकी श्रुत-परम्परा से प्रवर्तित वृत्तान्त, जो अपने गुरु के मुख से सुना हुआ है, जिसमें उनके प्रभावोदय का यथार्थ वर्णन है। अन्धकार-समूह को नाश करनेवाला (वह वृत्तान्त) श्रेय और प्रेय का जनक बने और उसे श्रीसंघ के करोड़ों-करोड़ विद्वान् पढ़कर आनन्दित हों॥155॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप श्रीराम-लक्ष्मी से उत्पन्न श्रीप्रभाचन्द्रसूरि द्वारा प्रकटित अपने मनोभाव के अनुरूप, पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत के आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिचन्द्र द्वारा विस्तारित श्रीकालकाख्यानक-रूप चौथा शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥156॥

॥ श्रीकालकाचार्य-प्रबन्ध (चरित) समाप्त ॥



श्रीपादलिप्तिसूरिचरित

1. प्रभु पादलिप्तिसूरि की उस चरण-धूलि की जय हो, जो उनके प्रति प्रणत जनों की श्री-प्राप्ति में वशीकरण-चूर्ण बन जाती है॥1॥

मैं उनके गुणों के एक भाग का भी वर्णन करने में समर्थ हूँ क्या? मैं जड़ हूँ, तथापि उनके प्रति भक्ति इहलोक और परलोक, दोनों लोकों के लिए उपकार करनेवाली है॥2॥

(मैं) इस प्रकार विचार कर कहता हूँ, पूज्यों द्वारा मेरे माथे पर (आशीर्वाद का) हाथ रखा गया है। खण्डशः सुना गया उनका आश्चर्यकर वृत्त कौतुकपूर्वक (आप सभी) सुनें॥3॥

अपने विस्तार में कुशल कोशला नाम की नगरी है, जहाँ सरयू और गंगा नदियों के जल के सेवन को इच्छुक मनुष्य (रहते हैं)॥4॥

वहाँ विजयब्रह्म नाम से विख्यात राजा था, जिसने हाथी, घोड़े और पदाति सेना द्वारा शत्रुओं को पराजित कर दिया था॥5॥

वहाँ श्रेष्ठ गुणों का पात्र, प्रसन्न लक्ष्मी से सम्पन्न फुल्ल नाम का सेठ था। उसका यश खिली हुई चमेली की लता के फूल की तरह प्रोद्भासित था॥6॥

उसकी अतिशय प्रिय प्रतिमा नाम की पत्नी थी, जो रूप में अप्रतिम थी और जिसकी वाणी इतनी मीठी थी कि उसके समक्ष सुधा (अमृत) भी व्यर्थ होकर रसातल चली गई थी॥7॥

सन्तान की इच्छा से युक्त मनवाली उस (सेठानी) के हाथ को (रेखाओं को) देखना, ज्योतिष विद्या और वन्ध्या को गर्भ प्रदान करनेवाले महामन्त्र तथा लाख मनौतियाँ भी निष्फल हो गई थीं॥8-9॥

लोगों के कथनानुसार तीर्थों में स्नान का भी प्रयोग किया गया। ओह! सन्तान के लिए स्त्रियों का मोह लोक में आत्मतुष्टि के समान होता है॥10॥

श्रीपार्ष्वनाथ के चैत्य में वैराट्या नाम की शासनदेवी थी। निर्वेद से युक्त तथा साधु-सन्तों एवं देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा रखनेवाली सेठानी ने उस देवी का ही आश्रय लिया॥11॥

उस (सेठानी) ने कपूर, कस्तूरी आदि भोगों (नैवेद्यों) से उस देवी की पूजाकर एकाग्र मन से उपवास और अष्टाहिका व्रत किया॥12॥

आठवें दिन पूजा से सन्तुष्ट उस देवी ने प्रकट होकर उस सेठानी से कहा- 'वर माँगो'। उस सेठानी ने कुल को प्रकाशित करनेवाला (कुलदीपक) पुत्र माँगा॥13॥

अनन्तर, शेषनाग की नागिन पत्नी ने उस सेठानी को आदेश किया—बेटी! सुनो। पुराकाल में विद्याधर के श्रेष्ठ कुल में नमि और विनमि नाम के दो विद्याधर हुए॥14॥

श्रुत-सागर के पारगामी विद्वान् कालिकसूरि और फिर, गच्छ में विद्याधर और आर्य नागहस्ती नाम के विद्वान् भी हुए॥15॥

वे सभी खेल आदि लब्धि से सम्पन्न और त्रिभुवन-पूजित हैं। यदि पुत्र चाहती हो तो उनके चरण-स्पर्श से शुद्ध जल पियो॥16॥

यह सुनकर प्रातः काल में वह (सेठानी) अपने चैत्य से उन विद्वानों के उपाश्रय में गई। उपाश्रय में प्रवेश करते समय उसने किनारे में खड़े एक साधु को देखा॥17॥

प्रभु के चरण-कमल को धोने के निमित्त जलपात्र उसके हाथ में था। वह उन (साधु) के पास गई और प्रार्थना-पूर्वक उनके चरण-जल को खुश होकर पी गई॥18॥

अनन्तर, आगे जाकर उसने प्रभु के दोनों चरणों को नमस्कार किया। सद्गुरु ने धर्मलाभ का आशीर्वाद देकर संकेतपूर्वक कहा—॥19॥

हमसे दस हाथ दूर रहकर तुमने जल पिया, अतः दस योजन के अन्दर तुम्हारा पुत्र संवर्द्धित होगा॥20॥

यमुना के अपर तट पर स्थित मथुरा में उसकी प्रभाव-भूमि का विस्तार होगा और फिर तुम्हारे दूसरे महागौरवशाली नौ पुत्र होंगे॥21॥

वह बोली— अब मैंने पहला पुत्र आपको अर्पित किया। वह पूज्य पार्श्वनाथ के पास में रहे, दूर रहने पर इसे कौन-सा गुण प्राप्त होगा?॥22॥

यह सुनकर संघ-रूप पृथ्वी के उद्धार में आदिशूकर (आदिवराह)-रूप प्रभु ने कहा—तुम्हारा पुत्र अपनी बुद्धि से इन्द्र का सचिव होगा॥23॥

इस प्रकार के प्रभु-वाक्य को मानकर सगुन की गाँठ बाँधती हुई वह घर चली गई और सर्व-सन्तुष्ट उसने अपने गृहपति से यह बात बताई॥24॥

नागेन्द्र द्वारा स्वप्न में दी गई सूचना के अनुसार उसने उसी दिन गर्भ-धारण किया। वृद्ध पति ने विभिन्न मनोरथों के साथ उसके गर्भ के उचित कृत्य पूरे किये॥25॥

दिन पूरा होने पर उसने शुभ लक्षणोंवाले पुत्र को जन्म दिया। रूप से श्रीसम्पन्न वह कामदेव को भी मात करनेवाला था और तेज से सूर्य को भी अतिक्रमित करता था॥26॥

तदनन्तर, वैरोट्या देवी की पूजा करके, उनके चरणों के समक्ष ही उसने उसे गुरु के चरणों में मुक्तभाव से अर्पित कर दिया॥27॥

उन गुरु ने, मेरे अधीन रहकर वृद्धि प्राप्त करे, ऐसा कहकर उस बालक को प्रत्यर्पित किया। अतिशय वात्सल्य तथा गुरु-गौरव से वह बढ़ने लगा॥28॥

उत्फुल्ल नेत्रोंवाले फुल्ल ने उसे नागेन्द्र नाम दिया। गर्भ के आठवें वर्ष में गुरुओं ने आकर उसके लिए (शुभ जन्म की) कामना की॥29॥

संगमसिंह सूरि उसके गुरुभाई थे। प्रभव ने शुभ घड़ी में उन्हें आदेश दिया॥30॥

शुभ लग्न और स्वरोदय (श्वास की गति) में उसे (गुरु ने) प्रक्रिया दी। शिष्य के प्रभाव से गुरु का हाथ उसका अवलम्बन बना॥31॥

उस (प्रभव) के गण के अलंकार स्वरूप गणाध्यक्ष का नाम मण्डन था। उसकी शुश्रूषा, अध्यापन आदि के लिए गुरु ने उसे (मण्डन को) आदिष्ट किया॥32॥

अतिशय बुद्धिमत्ता के कारण अन्य पाठकों के लिए जो कहा जाता था, उसे भी वह ग्रहण कर लेता था, फिर अपने पाठ्य के विषय में क्या कहना है?॥33॥

शुभ लक्षणोंवाले साहित्य, प्रमाण, समय आदि अनुपम शास्त्रों को एक वर्ष के बीच ही जानकर वह विज्ञेश (श्रेष्ठ जानकार) हो गया॥34॥

गुणों द्वारा श्रेष्ठता प्राप्त कर मनुष्यों में वह प्रथम श्रेणी का बन गया। नये-नये विश्व-लक्षणों से भी अधिक गुणों को उसने अपने अधीन कर लिया॥35॥

2. तब एक दिन गुरु ने उसे माँड़ लाने को भेजा। विधिवत् उसे लेकर वह पुनः उपाश्रय में आ गया॥36॥

तत्सम्बन्धी ईर्ष्या (भिक्षार्थ भ्रमण) का पथिक होने के पूर्व स्थिर भाव से उसने विद्वद्वर्ग के भी हृदय को उन्मथित करनेवाली गाथा के द्वारा सोचा। गाथा इस प्रकार है—

अंबं तंबच्छीए अपुफ्फियं पुफ्फवंतं पंतीए।

नवसालिकजियं नववहुड कुडएण मे दिन्ना॥38॥

अर्थात्, ताप्रवर्ण की आँखोंवाली एवं फूल की कली जैसी दन्तपंक्तिवाली नई बहू ने सेर भर नये चावल की काँजी (माँड़) मुझे दी॥38॥

गुरु ने यह सुनकर कहा कि वह प्राकृत (भाषा) के शब्द से प्रदीप्त (पूर्ण परिचित) है, इसलिए उसका कथन शृंगार की अग्नि से प्रदीप्त है॥39॥

पूज्यों ने उसे बताया कि शिष्य कान से यह सुनकर प्रसन्न हो। यह सुन गुरु उसकी प्रज्ञा से अतिशय सन्तुष्ट हुए॥40॥

उसके समक्ष वे गुरुजन ऐसा विमर्श कर हार्दिक हर्ष से भर गये। (और कहा—) आकाश-गमन की सिद्धि से विभूषित आप 'पादलिप्त' हैं॥41॥

इस प्रकार, दसवें वर्ष में गुरु ने अतिशय गौरवपूर्वक अपने प्रभावशाली पट्ट (पद) पर उसे प्रतिष्ठित कर दिया॥42॥

एक दिन तेज के विस्तार एवं संघ के उपकार के हेतु असंख्य अतिशय के आश्रयभूत उसे गुरु ने मथुरा पुरी में भेजा॥43॥

3. कुछ दिन वहाँ रहकर वह पाटलीपुर चला गया। वहाँ 'मुरण्ड' नाम से प्रसिद्ध राजा रहता था॥44॥

किसी ने उसे आश्चर्यित करने के लिए उसके वृत्त को एक सूत्र में गूँथा। सूत्र के छोर आपस में इस प्रकार सघनता से मिले हुए थे कि उनका जानना सम्भव नहीं था॥45॥

पादलिप्त गुरु के आगे कन्दुक (गेंद) पहुँचा दिया गया, जिसे राजा ने बुद्धि की परीक्षा कर देखने के प्रयास में उछाला था॥46॥

अनन्तर, तत्क्षण उत्पन्न बुद्धि से सूरि ने गरम जल के छींटे से सींके को भिगोकर और उसे अच्छी तरह पेखकर उसकी रस्सी के छोर को प्राप्त कर लिया॥47॥

और फिर, उस सीके को खोलकर राजा के पास भेज दिया। राजा उसकी बुद्धि से चमत्कृत हुआ। बुद्धि से तत्त्व को जानने की कला से क्या नहीं जाना जाता है?॥48॥

राजा ने गंगातरु की बनी, एक समान चिकनी छड़ी, उसके मूल और अग्रभाग को पहचानने के लिए दी॥49॥

पानी में (उस छड़ी को) डालने पर, उसका मूल भाग भारी रहने के कारण डूब गया। इस प्रकार (छड़ी के) अग्रभाग एवं मूलभाग को जानकर राजा से वह बात कही॥50॥

अनन्तर, सूरि को एक डिब्बा दिखलाया गया, जिसके ढक्कन का जोड़ दिखाई नहीं पड़ता था। सूरि ने गरम पानी के प्रयोग से ढक्कन को खोलकर उसके जोड़ को बता दिया॥51॥

श्रीपादलिप्ताचार्य ने धागे से गूँथे हुए तूँबे को मांसपेशी के कोश जैसा गोल बनाकर राजसभा में भेज दिया॥52॥

राजसभा में उस तूँबे को खोला नहीं गया, न ही किसी ने उसे खोला। जिसने इसे गुप्त रूप दिया, वही इसे खोलेगा, दूसरा कोई नहीं, ऐसा वहा के लोगों ने कहा॥53॥

तब राजा द्वारा बुलाने पर उस योगीश्वरसूरि ने आकर डिब्बा खोल दिया। तब राजा मुरण्ड वहाँ जाकर सोचने लगा-॥54॥

यह बालक आचार्य इस प्रकार के कुहेतुओं से खेलता है, किन्तु मैं सोचता हूँ, यह शिशु सिंह के समान है, अतः धर्षित करने योग्य नहीं है॥55॥

यह प्राचीन वचन सत्य है कि तेजस्वी की उम्र कोई कारण नहीं है। छोटा रूप होने पर भी बल में सिंह-शिशु की उपेक्षा कौन कर सकता है?॥56॥

एक दिन, शिरोवेदना से आक्रान्त उस राजा ने प्रधान प्रभु से निवेदन किया—छींक नष्ट होने पर सूर्य का स्मरण किया जाता है॥57॥

प्रभु ने (निम्नांकित मन्त्रात्मक गाथा को पढ़ते हुए) अपनी तर्जनी को तीन बार अपने घुटने पर फेरा। तभी राजा की शिरोवेदना शान्त हो गई। प्रभु के लिए दुष्कर क्या है?॥58॥

मन्त्र-गाथा इस प्रकार है—

जह जह पएसिणिं जाणुयमि पालित्तउ भमाडेइ।

तह तह से सिरवियणा पणस्सई मुरण्डरायस्स॥

प्रभु पादलिप्त जैसे-जैसे अपने घुटने पर तर्जनी को फेरते गये, वैसे-वैसे मुरण्ड राजा की वह शिरोवेदना दूर होती गई॥59॥

आज भी इस मन्त्रस्वरूप गाथा को पढ़ते हुए जिसके सिर का स्पर्श किया जायेगा, उसकी अतिशय दुस्सह शिरोवेदना शान्त हो जायेगी॥60॥

तत्काल उपकार से उस राजा का अन्तःकरण प्रभावित हो गया, अतः वह सूर्य-समान उस बालक सूरि के पैरों को प्रणाम करने को इच्छुक हुआ॥61॥

शीघ्र ही उनका आश्रय लेकर (राजा) आश्रम में गया और फिर आ गया। कान-वाला कौन आदमी छोटों से भी सच्चा गुण ग्रहण नहीं करेगा?॥62॥

4. प्रभु के निकट बैठे हुए राजा ने रहस्य पूछा। हमारे भृत्य वेतन के अनुसार कार्य करें॥63॥

हे प्रभो! उस (वेतन) के बिना ये आपके हैं? अनुशासनीय कैसे? जिनकी वृत्ति एकमात्र भिक्षा है, वे कार्य करने को कैसे तैयार रहते हैं?॥64॥

हमें सूरियों ने कहा है कि हे राजन्! बिना दान (पुरस्कार) के भी सदा तैयार रहकर वे लोक-परलोक की हितकामना से ही कार्य करते हैं॥65॥

राजा ने कहा— मैं इसे नहीं मानता; क्योंकि लोक की स्थिति द्रव्य पर निर्भर है। मृग जैसे जले हुए जंगल को छोड़ देता है, वैसे ही धनहीन मनुष्य भी त्याज्य है॥66॥

अनन्तर सूरि ने कहा— हे पृथ्वीपते! आपके भृत्य अनेक वृत्तियों से निर्वाह करते हैं। वे वैसा कहा हुआ नहीं करते, जैसा मेरे द्वारा दान पाने के बाद करते हैं॥67॥

हे राजन्! इस लोक के विषय में यदि विश्वास है, तो कौतुकपूर्वक अवलोकन करें। दक्ष, पवित्रात्मा और गुणी व्यक्तियों में कोई-कोई ही प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं॥68॥

ताम्बूल, आभरण और रेशमी वस्त्र से सम्मानित, सदा आत्मीय के जैसा देखा गया, परम विश्वासपात्र तथा अपनी ही दूसरी आकृति के समान, अतिशय प्रिय और सुन्दर किसी भृत्यराज को बुलाइए, जिसे मेरी बात पर अधिक विश्वास हो॥69-70॥

राजाधिराज ने श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्रमुख भृत्य को वहाँ बुलाया। वह (भृत्य) अपने दोनों हाथों को माथे पर रखे हुए आया॥71॥

वह बोला—मालिक! मुझ क्षुद्र भृत्य पर अतिशय दुष्कर कार्य के लिए भी आदेश की कृपा करें॥72॥

राजा ने कहा—मित्र! यहाँ गंगा किस ओर बहती है? राजा के ऐसा कहने पर वह उपहासपूर्वक मन ही मन हँसता हुआ सोचने लगा—॥73॥

ओह! बालक ऋषि के संसर्ग से राजा में भी शिशुता आ गई है। 'गंगा किस मुख बहती है', यह बात तो बच्चे और स्त्रियाँ भी कह सकती हैं?॥74॥

इस बात का प्रमाण दें— कहकर राजा बाहर चला गया। (भृत्य ने सोचा) राजा ऐश्वर्य से ग्रस्त हैं, किन्तु मैं तो वैसा नहीं हूँ॥75॥

अनन्तर, निरर्थक बातों से अपना सुख क्यों छोड़ूँ? यह सोचकर व्यसनी जुआरी वहाँ राजा के निकट आया॥76॥

वहाँ उस भृत्य ने चार-पाँच दाँव खेल को निबाहकर स्वामी के आगे गया और उत्तर में बोला—'गंगा पूरब मुँह बहती है'॥77॥

यतिस्वामी ने धीरे-धीरे राजा के पास जाकर इस बात को हँसकर कहा—॥78॥

राजन्! मैंने धन और मान से बढ़े हुए, अपने वित्त से प्रसन्न जनों की क्रियाशीलता देखी है, फिर और दूसरों की बात ही क्या है?॥79॥

आधुनिक अविनीत और अशिक्षित की जीवन-शैली में चित्त के भीतर अजीब-सी स्थिति उत्पन्न करनेवाले मद को नष्ट होते हुए देखो॥80॥

'ओ अभिनव क्षुल्लक! आओ'— इस प्रकार सूरि द्वारा बुलाये जाने पर 'इच्छामि' ऐसा बोलते हुए रजोहरण के साथ वह शीघ्र ही उठ खड़ा हुआ॥81॥

विनय से सिर झुकाये हुए, वह भूमि को (अँगूठे से) कुरेदते हुए, घुटने को जमीन पर टिकाकर और मुख पर पट्टिका रखकर गुरु के आगे आया॥82॥

‘प्रभो! अनुशास्ति चाहता हूँ’, ऐसा कहने पर प्रभु बोले-‘वत्स! गंगा किस मुँह बहती है? इस सम्बन्ध में अपना निर्णय कहो।’॥83॥

तब वह आवश्यकी-पूर्वक कन्धे पर कम्बल रखकर और हाथ में दण्ड लेकर आश्रय से बाहर निकल गया॥84॥

बच्चे, बूढ़े और जवान स्त्रियों के प्रश्न के अनौचित्य को जानते हुए उसने मध्यम वय के प्रवीण पुरुष से पूछा॥85॥

‘गंगा किस मुँह बहती है?’ इस प्रश्न का उत्तर- ‘गंगा पूरब मुँह बहती है’ पाकर भी उसने तीन बार प्रश्न किया और इसका एक समान ही उत्तर मिला॥86॥

फिर भी, उसने निश्चय के लिए गंगा के जल की सन्निधि में हाथ में स्थित दण्ड को अपने आगे पानी के बीच फेंका। स्रोत के अतिशय वेग से दण्ड पूरब की ओर बह चला, जिससे उसे (उक्त बात पर) विश्वास हो गया॥87-88॥

अनन्तर, आश्रय में आकर उसने ईर्या-पथिक होने के पूर्व यथाघटित बात के विषय में चिन्तन किया, फिर अपने काम में लग गया॥89॥

भाष्यकार श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने कहा है- राजा के पूछने पर कि ‘गंगा किस मुँह बहती है?’ गुरु ने उत्तर दिया। इसी प्रकार-शिष्य को भी यत्र-तत्र-सर्वत्र करना चाहिए॥90॥

पहले की तरह गुप्तचरों द्वारा सच-सच निवेदित करने पर विश्वस्त होकर राजा ने कहा- तुम्हारा वृत्त कथा को अतिक्रान्त करनेवाला है॥91॥

इस प्रकार, प्रभु-कृत सर्वलोकोपकारी चित्रों से राजा चमत्कृत हुए। बीतते हुए समय का बोध नहीं होता है॥92॥

एक दिन, महायशस्वी सूरि ने मथुरा जाकर श्रीसुपाश्व तीर्थकर के स्तूप के निकट श्रीपाश्व को विधिवत् नमस्कार किया॥93॥

5. अनन्तर, प्रभु लाटदेश के अन्तर्गत ओंकारपुर आये। वहाँ राजा भीम ने उनका स्वागत किया॥94॥

एक दिन, वह विश्ववत्सल एकान्त में शरीर-स्थित बचपन को बाँटते हुए-से छोटे बच्चों के साथ खेल रहे थे॥95॥

जब वह खूब मनोयोग के साथ खेल रहे थे, तभी अकुण्ठ उत्कण्ठा के साथ उनकी वन्दना के लिए उत्सुक श्रावक दूसरे देश से वहाँ आये॥96॥

कलियुग में युगप्रधान पादलिप्त प्रभु का उपाश्रय कहाँ है, यह शिष्य-तुल्य उनसे उन्होंने पूछा॥97॥

तब, वहाँ प्रत्युत्पन्न मतिवाले सूरि ने दूर भ्रमण के हेतु-भूत प्रकट अभिज्ञान से उन्हें कहा--॥98॥

परदे को फैलाकर और उससे स्वयं अपने को ढककर वह चतुर जल्दी से आचार्य के ऊँचे आसन पर जा बैठा॥99॥

तभी कुछ श्रद्धालु वहाँ आये और उन्होंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उन्होंने क्रीड़ा करते हुए राजा को देखा और उन्होंने होशियारी से यह लक्ष्य किया॥100॥

विद्यावृद्ध, श्रुतवृद्ध और वयोवृद्ध के योग्य धर्मोपदेश करके उस (राजा) के अज्ञान को छिपाकर उसके समक्ष बोला॥101॥

बहुत दिनों से साथ लगे हुए शैशव को छूट-देनी चाहिए- इस प्रकार की, शिशु-रूप प्रभु की सच्ची वचोभंगी से वे (आगन्तुक) हर्षित हुए॥102॥

दूसरे दिन, प्रौढ़ साधु-समूह के विहार के लिए चले जाने पर वह (राजा) गली में जाती हुई गाड़ियों के बीच एकान्त में चला गया॥103॥

पहले की तरह वानरी क्रीड़ा करते हुए राजा से आश्रय पूछा गया। दूसरों का विरोध करनेवालों द्वारा दूर देश से ही इनको उदाहृत किया॥104॥

अतिशय भ्रम और श्रम से सम्पन्न वह जभी देर से आते हैं, तभी परदे में ढके गुरु सिंहासन पर सो जाते हैं॥105॥

उन्होंने प्रातःकाल होने की सूचना देनेवाले मुरगे जैसी बाँग दी तो सूरि ने उसके विरोध में बिलाव की आवाज निकाली॥106॥

उनका द्वार खोलकर प्रभु सिंहासन पर बैठ गये। उन्होंने विस्मित हँसी के साथ उनकी अद्भुत मूर्ति को देखा॥107॥

तर्कपूर्ण उक्ति से वह पराजित हो गये। तब इन्हें (और भी) पराजित करने की इच्छा से उन्होंने गाथा द्वारा एक दुर्घट प्रश्न किया-॥108॥

गाथा इस प्रकार है-

पालित्तय कहसु फुडं सयलं महिमंडलं भ्रमतेण।

दिट्ठो सुओ व कत्थवि चंवणरससीयलो अग्गी॥109॥

अर्थात्, हे पादलिप्त! समस्त भूमण्डल का भ्रमण करते हुए आपने कहीं भी चन्दन-रस की तरह शीतल अग्नि को देखा या सुना है?॥109॥

श्रीपादलिप्तसूरि ने भी तत्क्षण शीघ्र एक गाथा द्वारा उत्तर दिया। प्रज्ञावान् और बलवान् व्यक्ति विलम्ब कहाँ करते हैं?॥110॥

वह गाथा इस प्रकार है-

अयसाभिओगसंदूमियस्स पुरिसस्स सुद्धहिययस्स।

होइ वहन्तस्स फुडं चंवणरससीयलो अग्गी॥111॥

अर्थात्, अयश के अभियोग से सन्तप्त शुद्ध हृदयवाले पुरुष के लिए आग छूटे ही वह स्पष्टतः चन्दन-रस के समान शीतल हो जाती है॥111॥

सूरि के इस उत्तर से वह पराजित होकर भी हर्षित हो गये। सत्पात्र द्वारा प्राप्त पराजय भी महिमाशाली होता है॥112॥

तदनन्तर, सद्गुण से प्रसन्न संघ द्वारा सूचित पादलिप्त प्रभु ने शत्रुंजय गिरि की यात्रा की॥113॥

6. (वहाँ से चलकर वह) राजा कृष्ण से रक्षित मानखेटपुर पहुँचे। राजा ने भक्तिपूर्वक प्रभु पादलिप्त का सम्मान किया॥114॥

वहाँ, पांशुपुर से श्रीरुद्रदेवसूरि पहुँचे। वह योनिप्राभृत शास्त्र के तत्त्वार्थ-ज्ञाता थे॥115॥

एक दिन उन्होंने अपने शिष्यों के आगे शास्त्र-विधि से पाप का सन्ताप देनेवाली शफर (मत्स्य) की उत्पत्ति की व्याख्या की॥116॥

दीवार के पीछे छिपे कंक्ट से उसने (वह व्याख्या) साफ-साफ सुनी। तब विश्वलोक-भयंकर अनावृष्टि का प्रकोप शुरू हुआ॥117॥

तब वहाँ श्रुति-विहित प्रयोग से मत्स्यों की उत्पत्ति रुक गई। अनेक सारे मत्स्यों को एकत्र कर वह (कैवर्त) अपने बन्धु-समूह की जीविका चलाता था॥118॥

एक दिन प्रभु के उपकार से प्रसन्न धीवर (कंक्ट) वहाँ आया और भक्तिपूर्वक प्रणाम करके बोला॥119॥

आपके द्वारा कहे गये उपाय से मैं मत्स्यों को पकड़ता हूँ और दुर्भिक्ष में उन्हें ही खाकर कुटुम्ब का निर्वाह करता हूँ॥120॥

यह सुनकर सूरि पश्चात्ताप से तप्त हुए कि मैंने यह क्या किया; क्योंकि वध का उपदेश देकर हमने पाप अर्जित किया॥121॥

यह जीव-वध के कारण जीवित रहते हुए ही बहुत पाप अर्जित करेगा। इसलिए ऐसा कुछ करना चाहिए कि जिससे वह स्वयं पाप नहीं करे॥122॥

यह सोचकर सूरि ने कहा— रत्न-स्वरूप सन्तति की जीविका के सन्दर्भ में प्रयोग सुनो, जिससे कभी दरिद्रता नहीं सतायेगी॥123॥

यदि मांस-भक्षण और जीव-हत्या दोनों को करना छोड़ दोगे तो पाप नहीं लगेगा॥124॥

यह मैं तुम्हें कह रहा हूँ। यह सुनकर मैंने कहा कि मैं जानता हूँ, जीव-वध का पाप कुटुम्ब को नहीं लगता है॥125॥

हे नाथ! यदि आपकी कृपा से बिना पाप किये धन प्राप्त हो तो मुझे परलोक में सद्गति प्राप्त होगी, इसमें पूज्यों की बात प्रमाण है॥126॥

इसके बाद मेरे घर और गोत्र में मांस-भक्षण बन्द हो गया। ऐसा कहने पर उन्होंने रत्नयोग के बारे में वर्णन किया, फलतः वह धार्मिक हो गया॥127॥

7. भक्षण के बाद शिक्षित उसने सिंहयोग किया; क्योंकि अल्प दोष से बहुत पुण्य क्यों नहीं अर्जित किया जाता है॥128॥

और भी—

पुराकाल में विलासनगर में प्रजापति नाम के राजा हुए। वहाँ श्रमणसिंह नाम के सूरि आये॥129॥

उन्हें बुलाकर राजा ने कहा कि कुछ भी आश्चर्य दिखलाइए। सूरि ने कहा—इस संसार में सूर्य का संक्रमण कौन जानता है?॥130॥

उस राजा ने सिद्ध दैवज्ञों को बुलाकर कहा—हमारे सामने सूर्य-संक्रान्ति का समय बताइए॥131॥

नाड़ी, पल और संख्या के अनुसार उसे (सूर्य-संक्रान्ति को) स्पष्टतः देखकर वे दैवज्ञ बोले— आचार्यों ने कहा था कि एक सूर्य-सहित पत्थर हमें अर्पित करें॥132॥

तब राजा ने संवत्सर में छेद कर दिया। सूरि ने उस सूक्ष्म समय को जानकर उस सूची (सूर्य) को जल में फेंक दिया॥133॥

और कहा- हे दैवज्ञ! इस सूची (सूई) को (जल से) निकालो; क्योंकि संक्रान्ति के समय सबकुछ जलमय हो जायेगा॥134॥

अनन्तर, दैवज्ञ ने कहा- मुझे ज्ञान से ऐसी स्थिति प्राप्त हुई है। सूरि के उस विज्ञान को देखकर राजा विस्मित हुए॥135॥

एक दिन राजा ने फिर वृष्टि की विधि के सम्बन्ध में सूरि से पूछा। सोचकर कहूँगा- ऐसा बोलकर सूरि अपने आश्रय में चले गये॥136॥

उन्होंने (सूरि ने) अपने देवेन्द्र नाम के शिष्य को राजा के समक्ष देखा। बात कुछ असंगत (विरोधात्मक) थी, जिससे उसका अनादर होता॥137॥

इस प्रकार उस (सूरि) से शिक्षित पण्डित राजा के पास गया और वहाँ बोला-आज से पाँचवें दिन उत्तर दिशा से वृष्टि होगी॥138॥

किन्तु, उस दिन स्पष्टतः पूरब दिशा से वर्षा हुई। दिशा-विरोध के कारण राजा का आदर (सूरि के प्रति) कुछ कम हो गया॥139॥

कर्मबन्ध के निषेध के लिए राजा के पास जाकर उन्होंने वैसा ही किया; क्योंकि राजकाज के बारे में बार-बार बोलना अशुभ का विनाशक होता है॥140॥

अनन्तर, कुछ समय के बाद वे (सूरि) मानखेटपुर पहुँचे। ज्योतिष-ग्रन्थ में निष्णात वे अपनी कलावश राजा की जानकारी में आ गये॥141॥

8. विद्या के उपहार से सम्पन्न आर्य दैवज्ञ वहाँ रहते थे। यहाँ जैनेन्द्र-मत के प्रकाशक उनके वृत्तान्त का विस्तार किया जा रहा है॥142॥

वह वृत्तान्त इस प्रकार है-

विन्ध्य समुद्र की सीमा पर, लाट देश का शीर्ष-स्वरूप तथा रेवा नदी से पवित्र श्रीभृगुकच्छ (भड़ौच) नाम का नगर है॥143॥

जहाँ, भवसागर के पार जाने के लिए जलयान-स्वरूप श्रीमुनिसुव्रतस्वामी रहते थे। वह स्वर्ग में और धरती पर उत्पन्न लोगों की पाप के आतंक से रक्षा करते थे॥144॥

वहाँ बलमित्र नाम का राजा था, जो बल की बराबरी में था। वह कालिकाचार्य का भगिना था। बलवान् तो था ही, वह कल्याणकारी बुद्धि का भी निधान था॥145॥

संसार के पथिक भव्यजनों के लिए वह विश्राम की भूमि था। वहाँ आर्यखपुट नाम के विद्वान् सूरि रहते थे॥146॥

उनका अतिशय विनीत भुवन नाम का भगिना था। उसने काम से सुनकर सब जगह से विद्या ग्रहण की थी, जिससे वह पण्डित हो गया था॥147॥

सूर्य के प्रतिरूप जिसने शास्त्रार्थ में बौद्धों को पराजित कर, संघ के साक्षीभूत तीर्थ को, बौद्धों के ग्रह-रूपी अन्धकार से मुक्त किया था॥148॥

तभी, 'वड्डकर' नाम के एक बौद्ध आचार्य जैन शासन पर विजय प्राप्त करने की इच्छा के साथ गुडशस्त्रपुर से वहाँ पहुँचे॥149॥

पुराकाल में वहाँ गुडपिण्ड से शत्रुसेना पराजित हुई थी, इसलिए वह स्थान 'गुडशस्त्र' के नाम से प्रसिद्ध था॥150॥

सब वस्तु को अनित्य कहनेवाला वह चतुरंग सभा के समक्ष जैनाचार्य के स्याद्वादी शिष्य से पराजित हो गया॥151॥

तब, किंकर्तव्यविमूढ़ तथा क्रोध से भरा मनवाला वह कोपवश अगशन करके मर गया और मरकर-यक्ष के रूप में पुनर्जन्म लिया॥152॥

अपने स्थान पर अवतीर्ण होकर क्रोध से आविष्ट वह श्वेताम्बर भिक्षुओं को अपमानित करने लगा तथा उनके लिए उसने अनेक विघ्न भी उत्पन्न किये॥153॥

तब आर्यखपुट प्रभु ने उसके नगर में स्थित संघ के माध्यम से वहाँ दो व्रतियों को भेजकर उसके (यक्ष के) पराभव को सूचित किया॥154॥

हे वत्स! इस 'कपलिका' (ज्ञान का एक उपकरण) को कदापि मनोविनोद की स्थिति में भी नहीं उखाड़ना, ऐसी शिक्षा भगिना को देकर चल पड़ा॥155॥

नगर में पहुँचा हुआ वह वहाँ यक्ष के आयतन में ठहर गया और उस यक्ष के दोनों कानों में अपने दोनों जूतों को लटकाकर सो गया॥156॥

यक्ष के पूजक वहाँ आये तो उन्होंने उस यक्षमूर्ति को वैसी स्थिति में देखकर राजा को इसकी सूचना दी। राजा उसके (वड़डकर के) प्रति बहुत कुपित हुआ॥157॥

(राजा ने) आकर सोये हुए उसे सब ओर से मजबूती के साथ कपड़े से ढककर अपने आदमियों द्वारा उठवाया। उन्होंने (उठानेवालों ने) उसे चारों ओर से सिकुड़ा हुआ देखा॥158॥

उन उठानेवालों ने (उसकी उस स्थिति को) पुनः राजा से कहा तो राजा ने क्रुद्ध होकर उसे ढले मारे और छड़ी से पीटा, लेकिन उसे आघात की प्रवृत्ति तक की भी जानकारी नहीं हुई॥159॥

क्षण भर में नगर में और अन्तःपुर में भी कोलाहल (शोरगुल) मच गया और नगर के रक्षक लोग शोर करते हुए वहाँ आ गये और बोले—॥160॥

'प्रभो! रक्षा करें, रक्षा करें'; किसी नीच ने अन्तःपुर (रनिवास) को ढले और छड़ी द्वारा अदृष्ट रूप से किये गये प्रहार से जर्जर कर दिया है॥161॥

यह सुनकर राजा ने सोचा—निश्चय ही, वह कोई विद्यासिद्ध है, जो अन्तःपुर में प्रहार का संचार कर रहा है, किन्तु स्वयं को प्रहार से बचा रहा है॥162॥

इसलिए, वह अधिष्ठाता देवता की भाँति मेरे लिए माननीय है, ऐसा सोचकर राजा ने उसे विशिष्ट श्लाघापूर्ण वचनों से सान्त्वना प्रदान की॥163॥

अनन्तर, आर्य खपुटाचार्य कपटनाटक करके, भूमि पर सिर रखकर उठ खड़े हुए। राजा उनके समक्ष प्रणत हुआ॥164॥

और, यक्ष से कहा— मेरे साथ चलो और वह चल पड़ा। अन्य देवरूप जन भी उनके पीछे चलने लगे॥165॥

वहाँ दो द्रोणियाँ (जल रखने का अण्डाकार पड़ा पात्र) थीं, जिन्हें एक हजार मनुष्य मिलकर उठाते-रखते थे। यक्ष ने उसे विनोदी मानसिकता से ही हिला-डुलाकर रख दिया। अनन्तर उसका प्रवेशोत्सव आयोजित हुआ॥166॥

उसके अद्भुत प्रभाव को देखकर राजा और सामान्य जन भी जिन-शासन के भक्त हो गये और, उन्होंने जिनोत्सव का आयोजन किया॥167॥

राजा ने सूरि को सूचित किया। फलतः सूरि ने यक्ष को उसके स्थान पर स्थापित कर दिया। वह शान्त हो गया और दोनों द्रोणियों को पुनः वहीं रख दिया गया॥168॥

9. इधर श्रीभृगुक्षेत्र से दो यति आये। उन्होंने कहा-प्रभो! संघ ने हम दोनों को आपके पास भेजा है॥169॥

वह आपका भगिना विनयी है, जो बलपूर्वक कपलिका का विस्तारक है। उसने एक पत्र खोलकर, प्रियजनों द्वारा रोके जाने पर भी, उसका वाचन किया॥170॥

वहाँ पाठ-मात्र से ही सिद्ध होनेवाली 'आकृष्टि' नाम की महाविद्या मिल गई। उसके प्रभाव से उत्तम भोजन लाकर उसका स्वाद लेने लगा॥171॥

स्थविरों द्वारा शिक्षित वह कुपित होकर स्वयं बौद्धों के अन्तःपुर में चला गया। वह भोजन का अतिशय लोभी और अपनी विद्या के गर्व से भरा था॥172॥

उसके प्रभाव से सभी पात्र आकाशमार्ग से चले गये। भोज्यसामग्री बौद्धोपासकों के घर से आती थी॥173॥

श्राद्धगृह में पात्रों के समक्ष उगलदान रख दिया जाता था। उसे, प्रधान आसन पर रखकर अन्य पात्रों के साथ भरा जाता था॥174॥

इस सम्मान-विशेष को देखकर उससे श्रद्धालु जन भी समादृत हुए। अनन्तर, इसकी मलिनता को वेगपूर्वक आकर हरण कर लिया गया॥175॥

वे सभी गुडशस्त्रपुर से भृगुकच्छ चले गये। भुवन के द्वारा श्राद्धगृह में पात्र भेजे गये॥176॥

परिपूर्ण भोज्य पदार्थ आकाशमार्ग से आते थे, जो गुरुओं द्वारा उपस्थापित अदृश्य शिला से आकाश में प्रकट होते थे॥177॥

इस चिह्न से प्रभु को आया हुआ जानकर भयपूर्वक उन्हें प्रसन्न किया गया। अनन्तर वे पूज्य जन बौद्धों के आश्रय में चले गये॥178॥

बुद्ध की स्तुति में बौद्धों द्वारा तथा सूरियों द्वारा निर्दिष्ट रूप में कहे गये—हे वत्स! शुद्धोदन-पुत्र! मुझ अभ्यागत की वन्दना करो॥179॥

अनन्तर, प्रतिमा-स्थित बुद्ध आकर चरणों में जा गिरे। उस द्वार पर बुद्धाण्ड है—ऐसा उनके द्वारा उसे कहा गया है, अतः उनके पैर पड़ो॥180॥

आकर वह भी प्रभु के दोनों चरण-कमलों पर अवनत हुआ। 'उठो'—सूरि के इस वचन से आधी झुकी हुई मुद्रा में वह स्थित रहा॥181॥

आज भी वह 'निर्ग्रन्थ-नमित' नाम से उसी प्रकार अवस्थित है। उनके आदेश से वह बुद्ध के स्थान पर एक पार्श्व से स्थित है॥182॥

10. कोई महेन्द्र नाम का शिष्य था, जो उन (गुरुओं) के ही प्रभाव-क्षेत्र में था। वह 'सिद्धप्राभृत' में निष्णात था। उसका वृत्त प्रस्तुत कर रहे हैं॥183॥

इन्द्रपुरी के समान पाटलीपुत्र नगर है। वहाँ 'दाहड' नाम का राजा था, जो मिथ्यादृष्टि के कारण निकृष्ट बुद्धिवाला था॥184॥

दर्शन और व्यवहार (व्यावहारिक दृष्टि) के विलोप हो जाने पर भी वह आनन्दित रहता था। बौद्धों के बीच उसकी नग्नता बनी रहती थी और शैवों के बीच रहकर भी वह जटाधारी नहीं था॥185॥

वैष्णवों के बीच भी उसने विष्णुपूजा त्याग दी थी। कौल दर्शन (वाममार्गी दर्शन) का वह अनुरागी था। माथे पर वह जूड़ा बाँधता था। उसकी आस्तिकता नास्तिकों में थी॥186॥

ब्राह्मणों को वह प्रणाम करता था, किन्तु जैन ऋषियों के लिए वह पाप की भूमि था। धर्म के प्रति शंकालु वह उन (जैनों) के लिए मदिरा-पान की इच्छा रखता था॥187॥

वह सबको आज्ञा देता था। आज्ञा नहीं मानने (आज्ञा-भंग करने) पर उन्हें प्राण हर लेने का दण्ड देता था। इससे बचने का कोई उपाय नहीं था॥188॥

राजा (दाहड) ने नगर में स्थित संघ को आदेश दिया था कि आप (संघ) के लिए सभी ब्राह्मण पूज्य और प्रणम्य हैं। जो इसमें अन्यथा भाव रखेगा, उसका वध कर दिया जायेगा॥189॥

धन, प्राण आदि के लोभवश सभी प्रजाओं ने उसकी बात मान ली थी और फिर, निरुपाय दीन जैनों ने उस सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया॥190॥

हमें देह-त्याग से दुःख नहीं है, किन्तु शासन की प्रभावना नहीं हो पायेगी, यही बात पीड़ा देती है, अन्यथा यायावर (नश्वर) देह के प्रति मोह कैसा?॥191॥

विमर्श करके गुरुओं ने श्रीआर्यखपुट प्रभु से कहा—महेन्द्र शिष्यों में अग्रणी है, वह सिद्धप्राप्त से सम्पन्न है॥192॥

तो, संघ गीत के लिए दो स्थविरों को भेजे। वे ही इस विषय में कोई व्यवस्था करेंगे॥193॥

संघ के वैसा कहने पर, संघ के पूज्य जनों ने उसे भेजा। वह करवीर (कनैल) की दो अधिमन्त्रित लताओं को ले आया॥194॥

और बोला— राजाज्ञा प्रमाण है? गणकों द्वारा उस मुहूर्त को देखना चाहिए, जो भविष्य में शुभकारक हो॥195॥

उस कृति-कुशल ने इस बात से राजा को अवगत कराया। उस राजा ने मेरे अपूर्व कार्य के प्रति शक्ति और अहंकार प्रदर्शित किया॥196॥

दैवज्ञों (ज्योतिषियों) द्वारा चर्चित लग्न में अपनी प्रज्ञा के अनुमान से, महेन्द्र से अधिकृत सूरि उन आदमियों के साथ सभा में गये॥197॥

उस सभा में दीक्षित याज्ञिक, वेदनिष्ठ उपाध्याय, हवनकर्ता, सुबह-शाम व्रताचरण में संलग्न गृहस्थ, स्मार्त और ऋत्विक् थे, जो गंगा की मृत्तिका तथा चन्दन के आलेप एवं तिलक से पवित्र, काषाय-वस्त्र से विमण्डित थे और यज्ञोपवीत तथा पवित्री धारण किये हुए थे॥198-199॥

वे सभी गद्दी बिछे हुए विचित्र सिंहासनों पर बैठे थे, तभी मनीषी महेन्द्र ने उन्हें देखा॥200॥

वह बोला— हे राजन्! हमारे लिए यह तो अपूर्व है। मैं पहले पूर्वाभिमुखों का पुनः पश्चिमाभिमुखों का नमन करता हूँ॥201॥

ऐसा बोलता हुआ वह हाथ से करवीर की लता को सम्मुख बैठे हुए पर घुमाया और फिर पश्चिमाभिमुखों की पीठ पर घुमाया॥202॥

(लता को घुमाते ही) वे सभी मृत की तरह निश्चेष्ट हो गये और उनके सिर लटक गये। दिन में ही राजा का चन्द्रमा-जैसा मुख मलिन पड़ गया॥203॥

उनकी कृपाभूमि-रूप सम्पन्न और सम्बन्धी-वर्ग नाम ले-लेकर बोलने लगे। अचेतन रहते तो कैसे बोलते? कौन अचेतन बोलता है?॥204॥

सभी स्वजन (यह कहकर) रो रहे थे कि हमारा दुष्कर्म ही फलीभूत हो रहा है। जैन ऋषियों का पर (देवता) के प्रति नमस्कार न देखा गया है, न ही सुना गया है॥205॥

यह काल राजा के रूप में दृष्टिगत हुआ है। पुस्तकस्थ पुराणों में भी ऐसी कथा नहीं सुनी है॥206॥

राजा पश्चात्ताप में पड़ गया। अपने आसन से उठकर वह महेन्द्र (इन्द्र) जैसे धीरे महेन्द्र के पैरों पर गिर पड़ा॥207॥

हे महाविद्या-सम्पन्न! मेरी रक्षा करें, रक्षा करें। मुझ पर प्रसन्न हों। मेरे एक मिथ्यात्व को क्षमा करें। सज्जन पुरुष अपने प्रणत को प्यार करनेवाले (नतवत्सल) होते हैं॥208॥

इन ब्राह्मणों को जीवित करें। इनकी स्त्रियाँ और सम्बन्धी सभी रो रहे हैं। कौन विद्वान् व्यक्ति भी आपके माहात्म्य की महिमा का पार पा सका है॥209॥

यह बात सुनकर शान्त पुरुषों के अधिपति-स्वरूप महेन्द्र ने कहा-ओ अनात्मज्ञ राजा, तुम्हें कौन-सा मिथ्या का ग्रह लग गया है?॥210॥

आनन्द-चिन्मय-स्वरूप तीर्थंकर निर्वाण को प्राप्त हो गये। ओह! तथापि उनके प्रति ऋण के धनी उनके अधिष्टायक (पूजक) लोग हैं॥211॥

कौन ऐसा सर्वसाधारण व्यक्ति भी इस विडम्बना (मिथ्यात्व) को बरदाश्त कर पाता है कि व्रत में स्थित जनों द्वारा ब्राह्मणों और गृहस्थों को प्रणाम किया जाता है॥212॥

ये सभी तुम्हारे अन्याय के प्रति प्रकोप करनेवाले देवों द्वारा शिक्षित हैं। किन्तु, मुझे कोई क्रोध नहीं है। शमभाव ही मेरे जैसों का अलंकार है॥213॥

पुनः निश्चयपूर्वक राजा ने कहा- आप ही मेरी शरण हैं। देवता, गुरु और माता-पिता भी आप ही हैं। पुनः अन्य लल्लो-चप्पो बतियाने से क्या लाभ?॥214॥

हे जीवनदाता! इन्हें जीवित करें। जीवों के प्रति दया करें। अनन्तर, कृती पुरुष ने कहा-क्रोधी देवों को मैं शान्त करूँगा॥215॥

सोलह विद्या-देवियाँ कुल संख्या में चौबीस हैं और फिर, जैन यक्ष-यक्षिणी भी हैं। मैं उन्हें तुम्हारे लिए कहता हूँ॥216॥

अज्ञानवश राजा ने जिनशासन के प्रति अपराध किया। इन ब्राह्मणों द्वारा वे क्षम्य हैं। फिर, मानव की दृष्टि ही कितनी होती है?॥217॥

ऐसा कहने पर, दुर्लभ दैवी वाणी प्रकट हुई। प्रव्रज्या द्वारा ही इनका मोक्ष सम्भव है, अन्यथा इनका जीवन समाप्त है॥218॥

अभिषेक द्वारा उनकी वाणी उत्कृष्ट कला से पूर्ण हो गई। पूछने पर उन्होंने स्वीकार किया कि अपनी प्राणरक्षा कौन नहीं चाहता है?॥219॥

‘उठो’- कहकर दूसरी लता उसके शरीर पर फेर दी। वे जैन पहले जैसा सजीव होकर अमित शक्ति से सम्पन्न हो गये॥220॥

रोमांच से राजा के रोंगटे खड़े हो गये। पुलकित राजा के द्वारा आयोजित उत्सव के साथ मुनि अपने आश्रय में प्रविष्ट हुए॥221॥

संघ ने उन ब्राह्मणों के प्रव्रज्योत्सव का आयोजन किया। संघ कर्ता है, ऐसा बोलने-वालों को आर्यखपुट प्रभु ने रोक दिया॥222॥

प्रभो! आपकी प्रभावभूमि का गुरु कैसा है? ऐसा बोलने पर श्रीमहेन्द्र ने कहा-उनके समक्ष मैं कौन होता हूँ?॥223॥

बिलाव से दूध की तरह सौगतों से श्रीभृगुकच्छपुर में अश्वावबोध तीर्थ की रक्षा वांछित है॥224॥

श्रीआर्यखपुट प्रभु की महिमा अद्भुत है। वादी-रूप हस्ती के लिए सिंह की श्री धारण करनेवाले उनकी स्तुति के लिए कौन समर्थ है?॥225॥

चारित्र-रूप पत्थर पर कामदेव को पीसकर स्नेह (तेल) से लबालब भरे बड़े पात्र में, तप-रूप अग्नि की ज्वाला में अच्छी तरह परिपक्व, आकाश-पताल-रूप हस्तिकुण्ड में उज्ज्वल कान्तिवाली ज्योत्स्ना-रूप आँवले के आकार के संसार में सज्जनों के लिए आस्वाद्य जो यशोराशि आकाश-विवर से टपकती हो, वह (विवर) सज्जनों की रक्षा करे॥226॥

अनन्तर, वह ब्राह्मणों के साथ, संघ की अनुमति से चला गया। तदनन्तर प्रभु ने पूजनीय वाडवों को दीक्षित किया॥227॥

आर्यखपुट ने शासन की प्रभावना की और उपाध्याय महेन्द्र ने अद्भुत प्रसिद्धि प्राप्त की॥228॥

अश्वावबोधतीर्थ में आज भी प्रभावकों की परम्परा है, जिसके विस्तार में सूरि-मण्डली संलग्न है॥229॥

11. श्रीपादलिप्त सूरि ने पहले से प्रसिद्ध गुरु के निकट प्रतीति और प्रातिहार्य शास्त्रों का अध्ययन किया॥230॥

साथ ही (सूरि ने) विद्वानों के लिए ‘संकेत-संस्कृत पादलिप्ता’ नाम की भाषा का आविष्कार किया, जिसका अर्थ दूसरों के लिए अपरिज्ञेय तथा अन्वेष्य था॥231॥

राजा कृष्ण संसद्-सहित उस ओर आकृष्ट हुआ। गुणग्राही राजा मुनिश्रेष्ठ को बाहर नहीं जाने देता था॥232॥

अनन्तर, आर्यखपुट सूरि ने अनेक प्रभावनाएँ पूरी कीं। अन्त में अनशन करके स्वर्ग का आश्रय ग्रहण किया॥233॥

तदनन्तर, श्रीमहेन्द्र उनको परम्परा में सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए और उन्होंने संयम-यात्रा द्वारा क्रमशः तीर्थयात्रा पूरी की॥234॥

पुराकाल में, पाटलिपुत्र में जो ब्राह्मण बलपूर्वक प्रव्रजित किये गये, उन्होंने जाति-वैर के कारण मन में ईर्ष्या धारण कर ली॥235॥

संघ ने पादलिप्त के विज्ञ आदिमियों द्वारा इसे विज्ञापित कराया। प्रभु पादलिप्त ने विमर्श करके उन्हें आदेशित किया—॥236॥

मैं कार्तिकी (पूर्णिमा) में आऊँगा-ऐसा कहकर उन्हें उन्होंने विदा किया। तदनन्तर, वह राजा से अनुमति लेकर भृगुकच्छ चले गये॥237॥

पूर्वाह्न में, आकाश-मार्ग से रत्न के समान प्रभापूर्ण आकृतिवाले एवं पापरहित वह (पादलिप्त) सुव्रत तीर्थकर के आश्रय में अवतीर्ण हुए॥238॥

भूमि पर आये हुए प्रभा से भास्वर उन्हें देखकर लोगों ने उनके दुर्लभ दर्शन से चक्रवाक की तरह आनन्द प्राप्त किया॥239॥

आश्चर्यित राजा वहाँ आया और उसने उन गुरु को नमस्कार किया और, संघ-समन्वित उसने वहाँ भक्तिपूर्वक महादान किया॥240॥

याचकों के लिए गुरु द्वारा दिये गये अद्भुत द्रव्य को तथा आकाशमार्ग में स्थित उन्हें देखकर सभी ब्राह्मण अतिशय भय से नष्ट हो गये॥241॥

राजा कृष्ण ने कहा—पूज्य जन जिसका त्याग नहीं करते, वह पुण्यात्मा है। हम तो दर्शन के भी योग्य नहीं हैं। हम मूल (आदिपुरुष) में कैसे आ गये?॥242॥

हमारे सुख के लिए कुछ दिन यहाँ ठहरें। पूज्यों ने कहा है, आपके समीप रहना उचित ही है॥243॥

संघ का आदेश और राजा का स्नेह दोनों ही अनुत्सङ्घनीय हैं। अपराह्न के पूर्व आने की प्रतिज्ञा करता हूँ॥244॥

तदनन्तर, सम्प्रति मुझे शत्रुञ्जय, रैवतक, संमेतपर्वत और अष्टापद की तीर्थयात्रा करनी है॥245॥

महाराज! आपने पूछा है तो जैन के प्रति भक्ति करनेवाला बनें। यह कहकर प्रभु आकाश-मार्ग से अपनी रुचि के अनुसार चले गये॥246॥

12. एक दिन, पैदल तीर्थयात्रा करते हुए अपार शास्त्र के पारंगत विद्वान् वह सौराष्ट्र देश पहुँचे॥247॥

वहाँ आतंकरहित ढंका नाम की महानगरी थी। विहार करते हुए श्रीपादलिप्त व्रत की लीला से वहाँ आये॥248॥

वहाँ रस-सिद्धि के श्रेष्ठ ज्ञानकार, उन गुरु के भावी शिष्य नागार्जुन रहते थे। उनका वृत्तान्त कहा जा रहा है॥249॥

वहीं, क्षत्रियों के शिरोमणि तथा युद्धकर्म में कुशल संग्राम नाम का पुरुष बड़ा प्रसिद्ध था। उसकी पत्नी का नाम था सुव्रता॥250॥

शेषनाग द्वारा स्वप्न में दी गई सूचना के अनुसार उन दोनों के पुण्यवान् पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम नागार्जुन रखा गया॥251॥

तीन वर्ष की उम्र में एक दिन वह कुछ बच्चों के साथ खेल रहा था, तभी वह सिंह के बच्चे को चीरकर खाते हुए आया॥252॥

पिता ने उसे रोका कि क्षत्रिय-कुल में नखवाले पशु का मांस भक्ष्य नहीं है। तभी वहाँ आये हुए एक सिद्ध पुरुष ने कहा—॥253॥

हे नरश्रेष्ठ! अपने पुत्र के द्वारा किये गये कार्य के लिए विषाद न करें। वह पुत्र जिस (वस्तु) का आस्वाद लेना अशक्य है, उसका आस्वाद प्राप्त करेगा॥254॥

वह (पुत्र) बचपन से ही सतत जागरूक, उद्यमी और तेज से सूर्य की तरह चमकता था। वह सदा अद्भुत कलावन्त एवं प्रवृद्ध पुरुषों के संग में रहा॥255॥

पर्वत और नदियाँ जिसके लिए घर के आँगन की तरह थे। कला के प्रति अतिशय आदर के कारण उसके लिए दूर देश भी दूसरा घर जैसा था॥256॥

राँगा और सीसा धातुओं की सिद्धि में वह अभ्यस्त था। 'सोने में सुहागा' जैसी कहावत के अनुसार वह विभिन्न धातुओं का ज्ञाता और विद्वान् था। रससिद्धि करनेवालों के लिए विभिन्न औषधियों का संग्रही था॥257॥

हरताल, सीसा, गन्धक, अभ्रक, पारा आदि धातुओं के जारण, मारण और छेदन-कर्म में निपुण वह भावी अतिशय दुःखद स्थितियों का भी पूर्ण ज्ञाता और निवारण-कर्त्ता था॥258॥

उसने हजार, लाख और करोड़ अंशों में रसायन को धूमविद्ध और पिण्डबद्ध किया था। इस प्रकार वह रस की साधना में अतिशय निपुण था॥259॥

समस्त पृथ्वी-मण्डल का भ्रमण कर वह एक दिन अपने नगर में पहुँचा। इसकी जानकारी उसने वहाँ के निवासी असंख्य सिद्धियों के ज्ञाता पादलिप्त को दी॥260॥

पर्वत-प्रदेश की भूमि पर आवसित, पादलेप का इच्छुक उसने अपने शिष्य के माध्यम से इसकी सूचना गणधर-पति को दी॥261॥

नागार्जुन के छात्र ने श्रीपादलिप्त प्रभु के समक्ष तृण और रत्न से निर्मित पात्र में सिद्ध रस पहुँचाया॥262॥

वह बोले—इस रससिद्ध ने अपने को अन्तर्हित करनेवाला यह रस बनाया है। ओह! इसमें तो उसका ही स्नेह है—इस प्रकार हँसते हुए उन्होंने कहा॥263॥

पात्र को हाथ में लेकर और दीवार से टकराकर उसे खण्ड-खण्ड कर दिया। यह देखकर वह (रसवाहक) आदमी मुँह टेढ़ाकर विषाद में पड़ गया॥264॥

विषाद मत करो, श्राद्ध के उपलक्ष्य में तुम्हें उत्तम भोजन दिया जायेगा, ऐसा कहकर उसे सम्मानपूर्वक भोजन कराया॥265॥

उस जिज्ञासु रसवादी के लिए उसने काँच के पात्र को पेशाब से भरकर उपहार के रूप में दिया॥266॥

निश्चय ही, मेरे गुरु मूर्ख हैं, जो इससे स्नेह की इच्छा रखते हैं, इस प्रकार विचार करने के बाद वह स्वामी के समीप चला गया॥267॥

पूज्यों के साथ इसकी मैत्री है, ऐसी पूरी सूचना हँसते हुए उसने दी और (सम्बद्ध) वृत्तान्त को जानकर वह पात्र उसे अर्पित कर दिया॥268॥

दरवाजा खोलकर जभी वह आँख के सामने आता है, तभी उस बुद्ध को खारा और विसायँध गन्ध सूँघने में आता है॥269॥

ओह! यह लोभहीनता तथा मूढ़ता का स्पर्श भी नहीं कर सकता, ऐसा विचार कर विषाद से उसने उसे पत्थर पर (पटक कर) तोड़ दिया॥270॥

दैव-संयोग से वहाँ एक ने भोजन पकाने के निमित्त आग जलाई। भूख सिद्ध लोगों के लिए भी दुःसह होती है॥271॥

नरमूत्र के वेध से वह्नियोग होने पर सोना सिद्ध होता है। सोना को सिद्ध देखकर सिद्ध का शिष्य विस्मय में पड़ गया॥272॥

उसने सिद्ध गुरु से निवेदन किया— प्रभो! आपकी सिद्धि तो अद्भुत है। जिसके मल-मूत्र आदि के संयोग से पत्थर भी सोना हो जाता है॥273॥

तदनन्तर, विस्मय से विकसित मनवाले सिद्ध नागार्जुन ने सोचा—सदा दरिद्रता में रहनेवाले मेरी सिद्धि क्या होगी?॥274॥

यहाँ लाल चीता (औषधि) और वह कृष्णमुण्डी कहाँ? शाकम्भरी का लवण और वज्रकन्द भी कहाँ?॥275॥

इस प्रकार दूर देश में स्थित औषधियों का संकलन तथा भिक्षा में प्राप्त भोजन के कारण मैं सदा के लिए मुरझाया हुआ शरीरवाला हो गया हूँ॥276॥

यह आचार्य शैशव से ही पूजा पाते रहे हैं। आकाशगामिनी सिद्धि के द्वारा साध्य-साधन करते हुए सुखी हैं॥277॥

वह देह में स्थित मल-मूत्र आदि से सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, तो फिर मिट्टी, पत्थर आदि द्रव्यों की क्या बात है?॥278॥

तदनन्तर वह विनय से नतमस्तक तथा मद के भार से रहित होकर, रस के उपकरणों को छोड़, प्रभु के निकट गया॥279॥

सर्वतः सिद्धि के गर्व से युक्त वह प्रणाम करके बोला—नाथ! और स्पृहाजयी देहसिद्ध प्रभु के निकट जा लगा॥280॥

(और फिर बोला—) मैं प्रभु के चरण-कमलों से सदा संलग्न रहूँगा! अगर मिठाई मिलती हो, तो कदन्न किसे रुचेगा?॥281॥

इस प्रकार प्रशान्त वाणी बोलनेवाला वह नित्य श्रीपादलिप्त के पैर धोने और देह मालिश करने का काम करता रहा॥282॥

तब, मुनियों के विहारार्थ चले जाने पर वे सूरि पूर्वोक्त पंचतीर्थ में आकाशमार्ग से गये और वहाँ प्रणाम किया॥283॥

(वे) एक क्षण में ही नियमपूर्वक चले आते। वे कलियुग में विद्या और आकाश-विचरण की लब्धि में एक समान समर्थ थे॥284॥

उनके आने पर चरण धोना निश्चित था। उन जिज्ञासु ने इस संसार में औषधों को निर्विकार बना दिया॥285॥

उन्होंने सूँघकर, विचार कर, देखकर, चखकर और छूकर अपने प्रज्ञाबल से एक सौ सात औषधों की जानकारी प्राप्त की॥286॥

औषधों को आपस में मिलाकर उन्होंने लुगदी तैयार की और पैरों में उसको लेप कर आकाश में उड़ने लगे॥287॥

वह गुणी पुरुष मुरगे की तरह उड़ने के क्रम में गिर पड़े। ऊँची जगह से गिरने के कारण उनके घुटने और टखने चोटिल हो गये॥288॥

ब्राह्मणश्रेष्ठों ने लहलुहान धाव से भीगे पाँववाले (गुणी पुरुष को) देखकर कहा— ओह! गुरु के बिना पादलेप कहाँ सिद्ध हुआ?॥289॥

उस गुणी पुरुष ने हँसकर कहा— गुरु के बिना सिद्ध नहीं होती है, किन्तु मैंने अपनी बुद्धि के बल पर परीक्षा की॥290॥

श्रीपादलिप्त ने कहा— मैं उसकी सचाई से प्रसन्न हुआ। सुनो, मैं तुम्हारी नम्रता और इस (अधूरी) रस-सिद्धि से तुष्ट नहीं हूँ॥291॥

और, तुम्हारी ऐसी शूश्रूषा से भी तुष्ट नहीं हूँ। किन्तु तुम्हारे बुद्धि-बल से मुझे सन्तोष है। केवल पैर धो लेने से ही वस्तु-तथ्य को कौन समझ पाता है॥292॥

इसलिए मैं तुम्हें (आकाशगामिनी) विद्या प्रदान करूँगा। पर, मेरी गुरु-दक्षिणा कौन देगा? वह बोला— प्रभो! मुझे आप जो आदेश देंगे॥293॥

गुरु ने कहा— ओ सिद्ध! तुम्हारे प्रति मेरा मन स्नेहपूर्ण है। मैं तुम्हें हितकर तथ्य का उपदेश करूँगा। इसलिए यह गाथा सुनो—॥294॥

दीहरफणिंदनाले महिहर केसरविसाबहुदलिल्ले।

ओपियइ कालभमरो जणमयरन्वं पुहइपउमे॥295॥

अर्थात्, लम्बे सर्पराज के फण पर स्थित पर्वत पर उगे केसर से व्याप्त दिशा-रूप वधू के भाल पर स्थित काल-रूप भौरा पृथ्वी-रूप कमल के निवासी मनुष्य-रूप पराग को पीता है॥295॥

इसलिए, विश्वकल्याणकारी धर्म के केन्द्र-रूप जिनाश्रय के प्रति आदर-भाव रखो। उसके 'ऐसा ही हो'— कहकर स्वीकार करने पर गुरु ने उसे आदेश किया॥296॥

काँजी से धुले चावल को तथा यथाविहित औषधों को निर्मल जल के साथ पीसकर पैरों में लेप करो और आकाशमार्गगामी बन जाओ॥297॥

वैसा ही करने पर वह पक्षिराज (गरुड़) की तरह उड़कर आकाश-मार्ग से अपनी अभिलाषा के अनुसार संसार में परिभ्रमण करने लगा॥298॥

अनन्तर कृतज्ञतापूर्वक विमलगिरि की तराई में जाकर वहाँ पादलिप्त नाम के अति समृद्ध नगर को बसाया॥299॥

उस अतिशय साहसी सिद्ध ने चैत्य का निर्माण कराया। वहाँ पुराकाल से ही पर्वत की ऊर्ध्वभूमि पर महावीर की प्रतिमा अधिष्ठित थी॥300॥

वहीं पर उसने प्रभु और गुरु की मूर्ति भी स्थापित की। तीर्थंकरों की अन्य मूर्तियों को भी मँगवाकर वहीं स्थापित किया॥301॥

श्रीपादलिप्तसूरि ने श्रीवीर के समक्ष खड़े होकर दो गाथाओं द्वारा उनकी उत्तम स्तुति की॥302॥

गाथाओं द्वारा सुवर्ण-निर्माण और आकाश-गमन की सिद्धियाँ सुरक्षित हो गईं। प्रभु ने कहा—अत्याधुनिक भाग्यहीन लोग प्रबोधित नहीं होते॥303॥

और, रैवतक पर्वत के नीचे स्थित दुर्ग के समीप वैसे प्रभु के मुख से श्रीनेमि-चरित सुनकर कौतुकपूर्वक आवास आदि सबकुछ वैसा ही उसने बना दिया।

दशार्ह-मण्डप तथा राजा उग्रसेन के भवन के निर्माण के साथ ही वेदिका पर विवाह आदि की भी व्यवस्था की। आज भी धार्मिक जन वहाँ जाने पर उक्त सभी वस्तुओं को यथावत् देखते हैं॥304-306॥

13. इधर, पृथ्वीप्रतिष्ठान नगर में सर्वगुणसम्पन्न, सार्वभौम उपमा से युक्त राजा श्रीसातवाहन थे। और फिर, श्रीकालकाचार्य का श्री और यश के निधि-स्वरूप भागिनेय बलमित्र नाम का राजा भृगुकच्छपुर का पालन करता था॥307-8॥

एक दिन, वहाँ राजा सातवाहन ने इस नगर को अधिकृत कर लिया और वह बारह वर्षों तक वहाँ जम गया, बाहर नहीं निकला॥309॥

दुर्ग को मुक्त कराने में असमर्थ वह (बलमित्र) बहुत दिनों तक निर्वेद में पड़ा रहा। श्रीपादलिप्त के शिष्य और उसके मन्त्री ने अपने प्रभु से निवेदन किया— मैं भेदपूर्वक आपको दुर्ग वापस दिलाऊँगा। आप मुझे वहाँ भेजिए। उस प्रभु के 'एवमस्तु' कहने पर वह शिबिर से निकलकर चला गया॥310-311॥

उसने भागवत वेष में नगर में प्रवेश किया और, राजा के भवन में जाकर वहाँ उसके स्वामी (राजा) को देखा॥312॥

जीर्ण मन्दिर का उद्धार, महादान और सत्कर्म ये सभी पुण्य के लिए होंगे और दुर्गरोध जैसी विपत्ति से मुक्त करेंगे॥313॥

दुर्गरोध से दुःखी उस राजा ने मन्त्री के परामर्शानुसार ही कार्य किया। आपत्काल में धर्मोपदेश कार्यपक्ष को पुष्ट करता है॥314॥

बाहर जहाँ पत्थर के गोलों से धर्मस्थान तोड़े जाते हैं, (वहाँ) राजा धर्मोपदेश से (प्रभावित होकर) उन धर्मस्थानों को (फिर से) बनवाता है॥315॥

बार-बार तोड़े जाते थे और बार-बार बनवाये जाते थे, इस प्रकार बलमित्र का सर्वस्व समाप्त हो गया॥316॥

श्रीसातवाहन ने अपने मन्त्री के बुद्धि-कौशल से बलमित्र के दुर्ग को अधिगृहीत कर लिया (हथिया लिया)। और, वहाँ के उस राजा को बन्दी बनाकर खुशी-खुशी अपने नगर में चला गया॥317॥

14. राज्य करते हुए उस राजा के द्वार पर एक दिन चार शास्त्रज्ञ कवि आये॥318॥

प्रतीहारी द्वारा राजा को सूचित किये जाने पर वे भवन के भीतर गये। उन्होंने राजा के समक्ष एक श्लोक के एक-एक चरण को रखा॥319॥ श्लोक इस प्रकार है—

जीर्णो भोजनमात्रेयः; कपिलः प्राणिनां दया।

बृहस्पतिरविश्वासः पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्॥320॥

अर्थात्, आत्रेय ऋषि के अनुसार, पूर्वभुक्त के पचने पर ही पुनः भोजन लेना चाहिए; कपिल मुनि ने प्राणियों पर दया करने का आदेश दिया है; बृहस्पति ने स्त्रियों में

विश्वास नहीं करने को कहा है और पांचाल ने स्त्रियों के साथ मृदु व्यवहार करने का निर्देश किया है॥320॥

प्रभु (राजा) ने पहले उन कवियों की प्रशंसा की, तदनन्तर उन्हें महादान दिया। (आपका) परिवार क्या स्तुति नहीं करता है? ऐसा उन (कवियों) के कहने पर राजा ने कहा—॥321॥

भोगवती नाम की वेश्या की स्तुति आप सब करें। मेरे लिए तो पादलिप्त के सिवा कोई दूसरा स्तुत्य नहीं है, ऐसा राजा ने कहा॥322॥

आकाश-मार्ग से पैदल चलनेवाला, विद्यासिद्ध और महाक्रियावान् पादलिप्त के सिवा दूसरा कोई ऐसे गुणों की आधारभूमि है?॥323॥

राजा का, सन्धि और विग्रह (सम्बन्धी बातों) का निर्णय करनेवाले का नाम शंकर था। वह ईर्ष्यालु और असहिष्णु था। किसी की प्रशंसा वह नहीं सुनना चाहता था॥324॥

मरकर भी जो जीवित रहता है, उसी के पाण्डित्य को हम प्रत्यक्ष मानते हैं। वे विद्वान् आकाशचारी सुगमे जैसा होते हैं॥325॥

भोगवती वेश्या ने कहा—यह भी निश्चित रूप से सम्भावित है। अद्वितीय प्रभाववाले जैन महर्षि देवता के समान होते हैं॥326॥

उस राजा ने मानखेटपुर के राजा कृष्ण से पूछकर इसी कौतुक से ही श्रीपादलिप्त को बुलवाया॥327॥

जैन मुनीश्वर नगर के बाह्योद्यान में पधारे। (राजा ने) इन्हें बृहस्पति जैसा विद्वान् जानकर इनकी परीक्षा की॥328॥

पिघले हुए घी से भरा चाँदी का कटोरा (प्याला) होशियार आदमी द्वारा भेजा गया, जिसमें उसे प्रभु को (प्रतिबिम्बित) दिखलाया॥329॥

धारिणी विद्या के प्रभाव से जिसकी नोक ऊपर उठी रहती थी, ऐसी सूई उस कटोरे में रखकर भिजवाई, जिसे उस विद्वान् ने देख लिया। इससे बृहस्पति-तुल्य वह विद्वान् विषाद में पड़ गया॥330॥

अनन्तर राजा ने आकर प्रवेशोत्सव आयोजित किया और उस गुरु के महनीय उपाश्रय को भी प्रदर्शित किया॥331॥

उस विद्वान् ने राजा के समक्ष 'तरंगलोला' नाम की नई कथा की व्याख्या प्रस्तुत की। वहाँ उपस्थित कवि पांचाल अतिशय असूया (ईर्ष्या) से भर गया॥332॥

इसने कथा की प्रशंसा नहीं की, उल्टे कथा में दोष दिखलाते हुए बोला— गंधे के मुँह से क्या शान्तिजल निकल सकता है?॥333॥

मेरे ग्रन्थों से अर्थबिन्दु को चुराकर इसने यह कथारूप कन्था सिलवाई है। इसकी बात सदा बाल-गोपांगना के साथ विनोद से जुड़ी जैसी होती है॥334॥

इसलिए इसकी वह बात विद्वानों के चित्त में स्वाभाविक आनन्द नहीं उत्पन्न कर सकती है। उन जैसों के लिए उचित यह स्तुति भोगवती ही कर सकती है॥335॥

15. एक दिन प्रभु ने अपनी कपट-मृत्यु प्रदर्शित की। हाय! हाय! के साथ पुष्पाफाड़ क्रन्दन करते हुए बहुत सारे लोग वहाँ आ जुटे॥336॥

पालकी के भीतर शरीर को अच्छी तरह रखकर बजते हुए अनेक वाद्यों के साथ लोग जब पांचाल-भवन के आगे गये, तभी वह (प्रभु) शोकपूर्ण हो घर से बाहर आकर बोले- ओह! हाय! हाय! महासिद्धि के पात्र सूरि स्वर्ग चले गये॥337-38॥

असुया से आक्रान्त मेरे जैसे व्यक्ति ने सत्यव्रत सत्पात्र के प्रति आँखें लाल कीं, तो ऐसे पाप-कृत्य के लिए मोक्ष सम्भव नहीं॥339॥

क्योंकि कहा गया है-

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः।

गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम्॥ 340॥

और फिर-

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्सा।

जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोला नई वृद्धा॥341॥

अर्थात्, सकल शास्त्रों के आकर (खान) तथा रत्नों के सागर जैसे पुरुष के गुणों से परितोष नहीं होता, क्योंकि हम ईर्ष्यालु हैं॥340॥

पादलिप्त का हरण करते समय यम का सिर कैसे नहीं फट गया? जिसके मुख-निर्झर से 'तरंगलोला' नाम की कथा-रूप नदी प्रवाहित हुई॥341॥

पांचाल के सत्य-वचन से मैं जीवित हुआ, ऐसा बोलते हुए सूरिराज जनता की हर्षध्वनि के साथ उठ खड़े हुए॥342॥

अनन्तर, वह ईर्ष्यालु गुणी व्यक्ति राजा के वचनानुसार जनता के आक्रोश के बीच सभा से धिक्कारपूर्वक निर्वासित कर दिया गया॥343॥

तब, बन्धु-बान्धवों और मित्रों ने उसकी रक्षा की और उसे सम्मानित किया। श्रीपादलिप्त के, गुरुविद्या के मद से रहित गुरुओं ने भी उसे संरक्षण और सम्मान दिया॥344॥

दीक्षापूर्वक श्रावकों और यतियों की प्रतिष्ठा की गई। पुनः देवों और तीर्थकर-प्रतिमाओं की भी उत्थापना और प्रतिष्ठा की गई॥345॥

उक्त विधि से समझकर सूरियों द्वारा प्रतिष्ठा-कार्य किया जाना चाहिए। अनन्तर प्रभु ने कृपापूर्वक 'निर्वाणकलिका' शास्त्र की रचना की॥346॥

'प्रश्नप्रकाश' नाम के ज्योतिष-शास्त्र का भी निर्माण किया। लाभ-हानि आदि की पृच्छा होने पर 'सिद्धादेश' ही मान्य होता है॥347॥

आयु का अन्यथात्व जानकर नागार्जुन के साथ वे सभी विमलाद्रि पर चले गये और वहाँ उन्होंने श्रीनाभिपुत्र (आदिनाथ तीर्थकर) की वन्दना की॥348॥

शम और संवेग की निधि से सम्पन्न उन्होंने सिद्धिक्षेत्र की ऊर्ध्वभूमि पर अवस्थित सिद्धिशिला के तुल्य एक शिला का आश्रय प्राप्त किया॥349॥

उन्होंने तत्क्षण प्रायोपवेशन स्वीकार किया और चन्द्रकान्ति जैसा उज्ज्वल धर्मध्यान-रूप जल से रागादि की अग्नि को बुझा दिया तथा मन, वचन और काय की चेष्टाओं को सब ओर से समेटकर शुक्लध्यान में अन्तःकरण को रखकर स्थिर कर दिया॥350॥

बत्तीस दिनों तक सम्यक् रूप से मन की गति को लयलीन रखने के बाद प्रभा

प्रकट हुई और जीर्ण कुटी जैसी देह को त्यागकर श्रीपादलिप्त सूरि ने द्वितीय कल्प में देवेन्द्र के सामानिक शरीर को धारण किया, जिसकी अर्चना सभी राजाओं द्वारा की गई॥352-53॥

वह गुरु रुद्रदेवसूरि सिद्धि की उत्पत्ति (प्राप्ति) में पटु हैं, श्रमणश्रेष्ठ हैं, निमित्तसिद्ध हैं। विद्या के धारक यह आर्यखपुट प्रभु सिद्ध उपाध्याय हैं। प्रकट अतिशय से सम्पन्न महेन्द्र हैं॥354॥

चार असीम विद्याओं की प्रभा से पूर्ण सिद्ध हैं। श्रीपादलिप्त के साथ इन सभी की वन्दना मैंने की है। मैं (प्रभाचन्द्रसूरि) ने यहाँ जो कुछ चरित्र अज्ञानतापूर्वक कहा है, उसमें कुछ शेष रह गया हो, तो सम्बद्ध वृत्त के जानकार मुझे क्षमा कर देंगे॥355॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप श्रीराम-लक्ष्मी से उत्पन्न, पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिचन्द्र द्वारा प्रकटित श्रीपादलिप्तचरित नाम का यह पाँचवाँ शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥356॥

पूर्व के मुनिवृत्त की समाप्ति में, मेरी गौ (बाणी) चरित-चित्रण की अतिशय तृप्ति से मत्त है। कूटपथ पर जाती हुई वह (गौ) प्रद्युम्न जैसे गोपति से वशीभूत कर ली गई है॥357॥

॥ पाँचवाँ श्रीपादलिप्ताचार्य-प्रबन्ध (चरित) समाप्त ॥



श्रीविजयसिंहसूरिचरित

1. श्रीविजयसिंहसूरि गुटिकासिद्ध हैं। वह वाणी के पथ पर कैसे आ सकते हैं? दर्शन करने मात्र से ही तुष्ट अम्बा ने जिन्हें दैवी गुटिका प्रदान कर दी॥१॥

अष्ट महासिद्धि की निधि उनके वृत्त का कुछ अंश मैं कह रहा हूँ। मैं वृद्धों के कृति-वचन सुनने और गुमने के वशीभूत हूँ॥२॥

नर्मदा नदी के तट पर अश्वावबोध नाम का तीर्थ प्रसिद्ध है। वहीं वह गुरु उत्पन्न हुए। उनका ही वृत्तान्त मैं कह रहा हूँ॥३॥

पुरायुग में सुमेरु पर्वत के शिखर के समान ऊँचे परकोटे से घिरा श्रीपुर नाम का नगर था, जो समस्त नगरों का मुकुट-स्वरूप था॥४॥

उस नगर के बाह्य उद्यान में दूसरे तीर्थकर श्रीमान् अजितस्वामी आकर रहे। वह स्थान तीर्थ के रूप में पहले से ही जाना जाता था॥५॥

अनन्तर, बहुत समय बीतने के बाद प्रभु चन्द्रप्रभ वहाँ आकर रहे। इस उद्यान का नाम 'सरस्वतीपीठ' था॥६॥

पुनः बहुत समय बीतने पर ख्यातनामा महर्षि भृगु वहाँ आकर रहे। तबसे वह स्थान भृगुपुर हो गया॥७॥

जहाँ चन्द्रमा और सूर्य की किरणें फैली रहती थीं, ऐसा पर्वतराज मेरु के जैसा एक वंश था। जिस वंश की कीर्ति रूपी नटी शिष्ट जनों की दुनिया में नृत्य करती थी॥८॥

वहाँ का राजा जितशत्रु नाम का हुआ। वह अपने शत्रु-रूप पतंगों के लिए दीपक की तरह था। आत्मज्ञ राजा कलिकाल के पापान्धकार के विनाश में कुशल था॥९॥

एक दिन उस राजा ने विप्रों का उपदेश पाकर यज्ञ-विधि के निमित्त तीन कम छह सौ बकरों को निर्ममतापूर्वक हवन कर दिया॥१०॥

अन्तिम दिन उन (हवनकर्त्ता) ब्राह्मणों ने हवन के लिए वहाँ लगाम और जीन से कसा हुआ घोड़ा मँगवाया। तभी नर्मदा नदी के दर्शन से घोड़े को पूर्वभव का स्मरण हो आया॥११॥

अनन्तर मुनिसुव्रतनाथ ने उस घोड़े को, पूर्वजन्म का मित्र जानकर, एक रात उसे बीस सौ गव्यूति (चालीस सौ कोस) दूर ले गये॥१२॥

उस (घोड़े) के प्रबोधन के लिए प्रतिष्ठान नाम के नगर से (चलकर), सिद्धपुर में विश्राम कर एक क्षण में वहाँ (निर्धारित स्थान पर) पहुँचे॥१३॥

वहाँ एक हजार तीन सौ मुनियों से घिरे 'कोरिण्टक' नाम के बाह्योद्यान में आम्रवृक्ष के नीचे ठहर गये॥१४॥

उन्हें सर्वज्ञ मानकर राजा घोड़े के साथ चलकर वहाँ पहुँचे। राजा ने उन्हें प्रणाम करने के बाद उनसे यज्ञ का फल पूछा॥15॥

जिनेश्वर (सुव्रतनाथ) ने कहा—प्राणिवध के कारण तुम्हें नरक-फल प्राप्त होगा और, प्रभु-दर्शन से घोड़े की आँखों में आँसू उमड़ने लगे। तब जिनेश्वर ने उस घोड़े को प्रबोधित करते हुए कहा—सुनो तुरंग! तुम बुद्धिपूर्वक सावधान होकर अपने पूर्वभव को जानो॥16-17॥

2. पहले इस नगर में समुद्रदत्त नाम का जैन बनिया रहता था। उसका सागरपोत नाम का मित्र था, जो मिथ्या दृष्टि रखनेवाला था॥18॥

समुद्रदत्त द्वारा जीव-अहिंसाप्रधान धर्म के प्रति प्रबोधित वह (सागरपोत) बारह व्रतों को धारण करनेवाला और फिर धीरे-धीरे श्रेष्ठ सुकृती (पुण्यात्मा) हो गया॥19॥

एक दिन उसे पूर्वजन्म में अर्जित कर्मवश क्षयरोग हो गया। उसके अपने लोग कहने लगे कि अपने धर्म को त्याग देने के कारण इसे यह रोग हुआ॥20॥

रोग-ग्रस्त उसके भावों (मनोभावों) में भी गिरावट आ गई। अपने जन की बातों या फिर चाटुकारिता में कुशल लोगों से कौन नहीं धोखे में पड़ता है?॥21॥

‘उदगयन’ नाम के पर्व में, लिंगपूरण-महोत्सव करते समय ब्राह्मणों द्वारा प्रचुर घी का आहरण किया जाता है॥22॥

रास्ते पर छोड़े गये घी के लेश से युक्त घी के अपरिमित घड़े-उसने घृणित मन से नौकरों के पैरों की ठोकर से फूटते हुए देखे॥23॥

लौटकर आये हुए दयालु सागरपोत ने उस धर्म की निन्दा की। तब उन निष्ठुरों ने उसे डण्डों और मुक्कों से पीटा॥24॥

आर्तध्यान से मरकर और तिर्यक् गति के सैकड़ों भव में परिभ्रमण कर आपने घोड़े के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण किया। अब आप मेरे विस्मयकारी पूर्वभव को सुनो॥25॥

मैं पुराकाल में चन्द्रपुर में श्रीवर्मा नाम का ख्यातयशा राजा हुआ। बोधिज्ञान के तत्त्वबोध की प्राप्ति से मैं सप्तम भव में श्रीमान् के रूप में उत्पन्न हुआ॥26॥

आगम में कहा गया है—

शिवकेतु सौधर्म (स्वर्ग) में, कुबेरदत्त सनत्कुमार के भव में, श्रीवज्रकुण्डल-स्वरूप श्रीवर्मा ब्रह्मलोक कल्प में और मुनिसुव्रत प्राणत कल्प में, नवम भव में तीर्थ के अधिपति हुए। यह संक्षेप में कहा गया। इसके बाद इसका विस्तार कहूँगा॥27-28॥

समुद्रदत्त नाम का व्यापारी भृगुपुर से वहाँ (चन्द्रपुर में) आ गया। उसके, असंख्य क्रय-विक्रय की वस्तुओं से लदे जलयान थे। वह समस्त लक्ष्मी का केन्द्र बन गया था॥29॥

उसने राजा के दर्शन किये। उसके द्वारा अर्पित विभिन्न उपहारों से राजा मन से प्रसन्न हुआ और, राजा ने भी दान, गुण-गान आदि से उसका स्वागत किया॥30॥

राजा की प्रसन्नता में वृद्धि हुई तथा उस वणिक् के प्रति उचित व्यवहार से दोनों में मैत्री हो गई और फिर इससे राजा को जिन-धर्म का बोध हुआ॥31॥

बोध के सन्दर्भ में समानधर्म होने के कारण वहाँ आये उसके (सागरदत्त के) मित्र सागरपोत के साथ राजा की मैत्री हो गई॥32॥

अन्त में राजा समाधिमरणपूर्वक प्राणतकल्प में देव हो गया। वहीं मैं वहाँ से च्युत होकर भरतक्षेत्र में राजा हो गया॥33॥

इस प्रकार, प्रभु से धर्मकथा सुनकर वह तुरंग राजा की अनुमति से सात दिनों का अनशन धारण कर समाधिमरणपूर्वक सहस्रार लोक में चला गया॥34॥

वहाँ उसने इन्द्र की सामानिकता प्राप्त कर सत्रह सागर आयु का भोग किया और अवधिज्ञान से पूर्वभव का स्मरण किया॥35॥

वहाँ साढ़े बारह करोड़ के सोने की वर्षा हुई। राजा और नगर के लोक श्रेष्ठ जैनधर्म के प्रति प्रबोधित हुए॥36॥

तब, माघ की पूर्णिमा को उस पुण्यात्मा ने सोना और रत्न से निर्मित श्रीमुनिसुव्रत प्रभु के चैत्य की स्थापना कराई॥37॥

माघ शुक्ल प्रतिपदा को प्रभु अश्वरत्न के प्रबोधन के लिए आये। माघ शुक्ल अष्टमी को ही उस तुरंग ने सुरलोक को प्राप्त किया॥38॥

नर्मदा के तट पर भृगुकच्छ में यह वाक्या हुआ, इसलिए यह तीर्थ 'अश्वावबोध' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह तीर्थ समस्त तीर्थों में श्रेष्ठ है॥39॥

श्रीसुव्रतस्वामी के निर्वाण से बारह हजार वर्ष से भी अधिक समय में चक्रवर्ती (राजा) पद्म हुए। पुनः दसवें चक्रवर्ती (राजा) हरिषेण ने इस तीर्थ का उद्धार किया। इस प्रकार ग्यारह लाख वर्ष से अधिक समय बीत गया॥40-41॥

कुल छियानबे हजार वर्षों में इस तीर्थ का सौ बार उद्धार हुआ। अनन्तर सुदर्शन ने इसका उद्धार किया। यहाँ उनकी ही उत्पत्ति-(कथा) कही जा रही है॥42॥

3. वैतादय पर्वत पर स्थित रथनूपुरचक्रवाल नाम के नगर में राजा विजयरथ हुए। उनकी पत्नी का नाम विजयमाला था॥43॥

उनकी पुत्री विजया तीर्थों की वन्दना के लिए जा रही थी कि उसने अपने आगे कुक्कुट सर्प को आया हुआ देखा॥44॥

अपशकुन हुआ— ऐसा मानकर सेना द्वारा मारे जाते हुए उस सर्प की उपेक्षा उसने की। उसने शान्तिनाथतीर्थ जाकर (तीर्थकर को) भावपूर्वक प्रणाम किया॥45॥

वहाँ विद्याधर चारण यति तथा अनिकेत साधुओं के प्रति एकनिष्ठ चरित्रवाले थे, उन्हें उसने नमस्कार किया और जीव-वध (रोकने) की उपेक्षा के सन्दर्भ में अनुतप्त हुई॥46॥

अनन्तर, अपने जीवन के अन्त में उस कर्म के (दायरे को) छोटा किया और अपने घर एवं धनमोह के आर्तध्यान से मरकर पक्षी हो गई॥47॥

वह कुक्कुट सर्प मरकर व्याध हुआ। अनन्तर एक दिन भादो महीने में बहुदिन-व्यापी वर्षा के शान्त होने पर बरगद के पेड़ पर बैठी वह (विजया) भूख से पीड़ित हुई॥48॥

अपने सात बच्चों और अपने लिए आहार ढूँढती हुई उस पक्षिणी (ने) उस व्याध के घर में अपनी चोंच से मांस का टुकड़ा उठा लिया॥49॥

उड़कर अन्तरिक्ष में जाती हुई उसे उस व्याध ने बाण से वेध दिया। उसके प्राण कण्ठगत हो गये और वह सुव्रतस्वामी के चैत्य के आगे आ गिरी॥50॥

उसके पुण्य से भानु और भूषण नाम के दो यति (संन्यासी) वहाँ आये। उन दोनों ने कृपापूर्वक उसे आश्वस्त किया और उसपर पानी का छिड़काव किया॥51॥

उन दोनों संन्यासियों ने उसे पंच परमेष्ठी का मन्त्र सुनाया। उन तीर्थियों के ध्यान में तत्पर वह पक्षिणी परलोक चली गई॥52॥

दक्षिणखण्ड में समुद्र-तट पर सिंहलद्वीप है। वहाँ कामदेव के समान आकारवाला चन्द्रशेखर नाम का राजा हुआ॥53॥

उसकी पत्नी चन्द्रकान्ता थी, जो अपने रूप से रति की प्रीति को भी मात करती थी। उक्त पक्षिणी मरकर उस (चन्द्रकान्ता) की पुत्री हुई, जो सुदर्शना नाम से जानी गई॥54॥

अनन्तर जिनदास नाम का, भृगुपुर के व्यापारियों का मुखिया जलयान द्वारा वहाँ आया। उसने उपहारों के साथ वहाँ के राजा के दर्शन किये॥55॥

तब उसने आयुर्वेदोक्त कफशामक चूर्ण राजा को दिया। वह चूर्ण तीखे त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरीच) से युक्त था। उस चूर्ण का थोड़ा-सा अंश उड़कर उस बनिया की नाक में चला गया। अब तो बनिया को जबरदस्त छींक आने लगी। तब उस (राजा) ने अतिशय प्रभावकारी परमेष्ठी का मन्त्र पढ़ा॥56-57॥

उस (घटना) को सुनकर राजपुत्री मूर्च्छित हो गई। उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। (होश आने पर) पिता ने उस सन्दर्भ में उससे पूछा तो उसने अपने पूर्वजन्म का चरित कह सुनाया॥58॥

तब, तथाकथित तीर्थ के प्रति उत्कण्ठित राजपुत्री ने अपने पिता से आग्रहपूर्वक पूछा। गुरु के नहीं भेजने पर उसने अनशन करने की प्रतिज्ञा की॥59॥

जिनदास सार्धवाह ने अपनी अतिशय प्यारी होते हुए भी पुत्री को (तीर्थ के लिए) भेजा। उसके साथ अट्ठारह सखियाँ थीं, सोलह हजार पैदल सेना थी, मणि, सोना, चाँदी और मोतियों से भरी अट्ठारह गाड़ियाँ थीं, आठ कंचुकी (जिरह-बख्तर से सुसज्जित जनानी ड्योढ़ी का द्वारपाल) और उतने ही अंगरक्षक थे॥60-61॥

अशेष परिवार से घिरी वह सहसा चल पड़ी और तीर्थ पहुँच गई। वहाँ उसने एक महीने का तीर्थोपवास किया॥62॥

उसने मुनि सुव्रतनाथ की वन्दना की और वहाँ उत्सव का आयोजन किया। वहाँ उसने पुण्यात्माओं के मुकुटमणि-स्वरूप भानु मुनि और भूषण मुनि की वन्दना भी की॥63॥

वह, उन दोनों मुनियों के लिए कृतज्ञतापूर्वक धन ढोकर ले आई, किन्तु निःसंगता के कारण उन दोनों मुनियों ने उस धन को लेने से मना कर दिया। फलतः राजपुत्री संसार से विरक्त हो गई॥64॥

उसने सोने और चाँदी के पत्तर से मढ़वाकर तीर्थ में स्थित जीर्ण चैत्य का उद्धार कराया। उस चैत्य का नाम 'श्रीशकुनिका-विहार' हो गया॥65॥

बारह वर्षों तक कठिन तप करके अन्त में अनशन द्वारा मृत्यु प्राप्त कर वह 'सुदर्शना' नाम की देवी हो गई॥66॥

एक लाख देवियों से घिरी वह विद्यादेवी की सखी बन गई। पूर्वभव का स्मरण करके वह देवयोग्य फूलों से तीर्थकर की अर्चना करती थी॥67॥

उसकी अट्टारह श्रेष्ठ सखियों ने इस नगर में दुर्गा का पद प्राप्त किया। संसार में रहते हुए उसका आवास जम्बूद्वीप के समान था॥68॥

अनन्तर, वह विदेह के नन्दीश्वर आदि तीर्थों में तीर्थकरों की प्रतिमाओं की वन्दना करती थी और सुव्रतस्वामी के चरण-कमलों के ध्यान में मग्न रहती थी॥69॥

एक दिन उसने श्रीवीर जिन के आगे उत्तमनाट्य किया। वहाँ सुधर्मा के अधिपति ने जिन से पूछा कि यह क्या है?॥70॥

तब सर्वज्ञ ने उनके समक्ष उस (सुदर्शना) के पूर्वभव की सारी बातें रखीं और कहा कि वर्तमान जन्म से तीसरे जन्म में यह निर्वाण प्राप्त करेगी॥71॥

इसी के सामर्थ्यवश यह भृगुपुर (कभी) नहीं उजड़ता। यह श्रेष्ठ नगर अतिशय सुरभित फूलों और फलों से रमणीय बना रहता है॥72॥

प्रतिदिन वह जिन की अर्चा के लिए सभी प्रकार के फूलों को चुनती थी। संसार में इतर देव के पूजन के फलस्वरूप सन्तापकारी विघ्न उपस्थित हुआ॥73॥

श्रीसंघ की प्रार्थना पर श्रीमान् कलहंस सूरि एवं आर्य सुहस्ती के शिष्यों ने बलपूर्वक उसे रोका॥74॥

पुनः राजा सम्प्रति ने इस तीर्थ का जीर्णोद्धार किया। वहाँ मिथ्या दृष्टिवाला व्यन्तर देव-समूह उपस्थित हुआ॥75॥

श्रीगुणसुन्दर के शिष्य कालिकाचार्य ने अपने प्रभाव से एक सौ पचीस योजन के भीतर उन देवताओं का निवारण किया॥76॥

श्रीसिद्धसेन दिवाकर सूरि से बोध प्राप्त कर राजा श्रीविक्रमादित्य ने इस तीर्थ का उद्धार किया॥77॥

कालिकसूरि ने जिस प्रतिमा को पहले सुदर्शना को दिया था, आकाश में जाती हुई उसे सिद्धसेन ने रोक दिया॥78॥

श्रीवीर की मुक्ति के चार सौ चौरासी वर्ष में श्रीमान् आचार्य खपुटगुरु हुए, जिन्होंने उस समय मिथ्या दृष्टिवाले देवों तथा बौद्धमतानुयायी वादियों से सुव्रतस्वामी के तीर्थ को मुक्त कराया॥79-80॥

श्रीवर्द्धमान संवत्सर से आठ सौ वर्ष बीतने के बाद पाँच सौ चालीस वर्ष से भी अधिक समय में वह बलभी में उत्पन्न हुए॥81॥

तुर्कों द्वारा किये गये तोड़-फोड़ और उससे भृगुपुर के विनाश के लिए आनेवाले लोगों का देवी श्रीसुदर्शना ने निवारण किया॥82॥

अनन्तर, श्रीवीर संवत्सर से आठ सौ चौरासी वर्ष में मल्लवादी ने बौद्धों और व्यन्तर देवों को पराजित किया॥83॥

पुनः श्रीसातवाहन नाम के राजा ने इस तीर्थ का उद्धार किया और वहाँ श्रीपादलिप्तसूरि के ध्वज की प्रतिष्ठा की॥84॥

इन दोनों के बीच सुदर्शना देवी ने बीसवें तीर्थंकर के समय अतिशय मान और शृंगार के साथ प्रत्यक्ष होकर नाट्य प्रस्तुत किया॥85॥

4. श्रीआर्यखपुट के वंश में श्रीविजयसिंह सूरि हुए थे। वह शम, दम, नियम और तपस्या-रूप कमला के (आवास) कमल के समान सुन्दर थे॥86॥

एक दिन उन्होंने संयमपूर्वक शत्रुंजय, रैवतक प्रभृति प्रमुख तीर्थों में तीर्थेश्वर को प्रणाम करने के लिए विहार किया॥87॥

(पहले) सौराष्ट्र गये, क्रमशः वहाँ से रैवतक पर्वत पर पहुँचे और तीर्थस्वामी के ध्यान में एकाग्र मन से लीन वह उस पर्वत पर चढ़ गये॥88॥

श्रीनेमिनाथ-तीर्थ में शासन-रक्षा में विचक्षण अम्बा नाम की देवी हैं। प्रसंगानुसार उनका आख्यान कहा जा रहा है॥89॥

वह आख्यान यह है—

5. काश्यप द्वारा स्थापित कासहृद नाम के नगर में भूदेव (ब्राह्मण) रहते थे। उनका नाम श्रीसर्वदेव था। वह चारों वेदों के पारगामी ज्ञाता थे॥90॥

उनके सत्यदेवी नाम की अतिशय प्यारी पत्नी थी। वह सती स्त्रियों में रत्न-स्वरूप थी। उन दोनों के अम्बा देवी नाम की पुत्री थी, जो पुण्यवती स्त्रियों में शीर्षस्थ थी॥91॥

अम्बा जब युवती हुई, तब उसे कोटिनगर-वासी अतिथि ने वरण कर लिया। उस (अतिथि) का नाम सोमभट्ट था। वह कुलीन, शीलसम्पन्न एवं रूपवान् था॥92॥

सोमभट्ट ने विवाह कर स्त्रीजनों में सुन्दर उसे अपने नगर में ले गया और, क्लेश-रहित होकर उत्सवपूर्वक अपने नगर में प्रवेश किया॥93॥

उस निष्पाप अम्बा ने कुछ समय बीतने पर दो पुत्रों को जन्म दिया। प्रथम पुत्र का नाम विभाकर और दूसरे पुत्र का नाम शुभंकर रखा॥94॥

वहाँ श्रीनेमि तीर्थंकर के पड़ोसी श्रीसुधर्मसूरि के घर में भिक्षा के लिए निर्मल चरित्रवाले दो मुनि गये॥95॥

अम्बा देवी ने भी निर्मल मन से समस्त भोजन को तैयार किया। दान की विधि से हर्षित उसे वासना ने अपने वश में कर लिया॥96॥

दोनों साधुओं (मुनियों) को प्रणाम कर उन्हें जब विदा किया, तभी उसके पिता सोमभट्ट आ गये। (पिता ने सोचा—) वैश्वदेव-कृत्य किये विना इसने रसों का स्पर्श कैसे किया?॥97॥

इस प्रकार अपराध की उद्भावना करते हुए (पिता ने) उसे (अम्बा को) अनेक दुर्वचन कहे और, विना मुखविकारवाली उसके मुख पर थपड़ों से प्रहार किया॥98॥

घर के लोगों ने अनुकम्पावश उसे (पिता के प्रहार से) छुड़ाया। अनन्तर वह वनिता (अम्बा) अपमान के कारण दोनों पुत्रों को साथ लेकर घर से निकल गई॥99॥

छोटे पुत्र को कमर पर रखकर तथा बड़े पुत्र की उँगली पकड़कर विचार किया— जिन मुनि को भोजन-दान करने में मैं वासना से पराभूत हुई॥100॥

अतएव वही जैनविधि से निर्मल मार्ग मेरी शरण (रक्षक) हो। इस प्रकार अभिमान से ग्रस्त वह तुरत रैवतक पर्वत के सम्मुख चली गई॥101॥

वह भूखी, प्यासी और थकी हुई थी, फिर भी ऊँचे पर्वत पर चढ़ गई और पुण्यार्थिनी उसने अरिष्टनेमि तीर्थंकर का ध्यान कर उन्हें प्रणाम किया॥102॥

चैत्य से निकलकर थकी हुई (अम्बा से) आम्रवृक्ष के नीचे स्थित भूखे पुत्र ने पके फलों का गुच्छा (खाने को) माँगा॥103॥

उसने उसे वह दिया और पुनः श्रीनेमिस्वामी का स्मरण करके पुत्र-सहित उस गिरि-शिखर से कूद गई॥104॥

श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर की स्मृतिवश उस (अम्बा) ने देवता की ऋद्धि प्राप्त की। उधर क्रोध का घमण्ड भूलने पर ब्राह्मण को भी अनुताप हुआ॥105॥

घर में बिना किसी से कुछ बात किये उस ब्राह्मण ने भी उस (अम्बा) का अनुगमन किया। रैवतक पर्वत पर चढ़कर उस भयंकर आम्रवृक्ष के नीचे जा खड़ा हुआ॥106॥

उन तीनों (अम्बा और उसके दो पुत्र) की मृत्यु मानकर मुझ हत्या के दोषी का जीना व्यर्थ है। मैंने अँगुलियों से अपनी सिकुड़ी हुई नाक को दिखलाया है॥107॥

इसलिए तीर्थंकर से पवित्र इसी पर्वत पर मेरी भी मृत्यु श्लाघ्य है। इन (तीनों) की जो गति हुई है, वही मेरी भी हो। इसमें अन्यथा प्रलाप से क्या होना है?॥108॥

ऐसा सोचकर वह उस अतिशय भयावने पर्वत से नीचे कूद पड़ा और व्यन्तर देव होकर सिंहयोनि में गया और देवता का वाहन बना॥109॥

वह अम्बा देवी श्रीनेमिनाथ के तीर्थ में भक्तों की सहायता करती हैं और उस पर्वत पर वह आज भी विराजमान हैं॥110॥

6. अनन्तर, वहाँ विजयसिंह सूरि ने साष्टांग प्रणाम किया और यथाविहित तीर्थोपवास करके तीर्थंकर को अच्छी तरह स्तुति से सन्तुष्ट किया॥111॥

वहाँ उसकी अनुपम चारित्र-निधि को देखकर अम्बिका देवी ने रात्रि में प्रकट (प्रत्यक्ष) होकर उसके पैरों को प्रणाम किया॥112॥

अम्बा, तुम द्विजपत्नी थी, पति से अपमानित होकर तुमने तीर्थंकर के चरण-कमलों को स्मरण कर देवत्व प्राप्त किया। तुम्हारे पीछे पति भी इसी विधि से वैसा ही हुआ (अर्थात् देवत्व-लाभ किया)॥113॥

उसका यह वचन सुनकर वह हर्षित हुई और बोली- मेरे लिए कुछ आदेश करें। उन (मुनियों) ने कहा- हे शुभे! निष्काम व्यक्तियों के लिए कुछ भी आकांक्षित कार्य नहीं है॥114॥

स्पृहा-रहित भाव से तुष्ट वह देवी बहुत सम्मान के साथ विशेष रूप से उनसे कहा-हे प्रभो! चिन्तित कार्य को सिद्ध करनेवाली यह गुटिका ग्रहण करें॥115॥

यह गुटिका आँख से अदृश्य करने, आकाशचारी बनाने और रूप बदल देने तथा कविता-लब्धि से सम्पन्न करने, विष-हरण करने तथा बन्धन से मुक्ति दिलाने की शक्ति प्रदान करती है। मनुष्य स्वेच्छा से हलका या भारी होने की शक्ति भी इससे अवश्य ही

प्राप्त करता है। इसको मुख में रख लेने से पहले विकृत शरीर और बाद में सहज शरीरवाला हो जाता है॥116-117॥

सद्गुरु के न चाहते हुए भी उनके हाथ में गुटिका रखकर देवी अन्तर्हित हो गई। उसे मुँह में रखकर गुरु ने पहले श्रीनेमितीर्थकर की यह स्तुति की—॥118॥

‘नेमिः समाहितधियाम्’ इत्यादि अमरवाक्य-सदृश काव्यों द्वारा श्रीमान् नेमिनाथ की स्तुति की। वह स्तुति आज भी है॥119॥

अनन्तर सूरिजी तीर्थयात्रा करके जब भृगुक्षेत्र आये, तब संघ के प्रवेश-प्रमुखों ने महोत्सवपूर्वक उनकी अर्चना की॥120॥

7. एक दिन, अंकुलेश्वर नगर से, प्रबल हवा के झोंके से सातिशय जलता हुआ वंशकट उस नगर में पहुँचा॥121॥

जलती लपटों के गोले से परिव्याप्त करोड़ों मकान, दुकान, महल और चैत्यों में आग सीमातीत समुद्र के समान फैल गई॥122॥

प्रथम ग्रास में तृण से आच्छादित तथा कावेल्लुक (आच्छादन-वस्तुविशेष) से आवृत घर एवं मध्य आकार में छोटे घर इस अग्नि की तृप्ति के लिए थे। जलते हुए मनुष्य एवं पशु-पक्षी के क्रन्दन का भयंकर स्वर हो रहा था। शरत्कालीन मेघ की तरह गरजनेवाली उस आग से आकाश बहरा हो रहा था। उस आग ने समूचे नगर को भस्मीभूत कर दिया। वह नगर गोपुर (मुख्यद्वार), दुर्ग, शत्रु से रक्षा करनेवाले यन्त्र से सज्जित था। किसी भी उपक्रम से असाध्य इस प्रकार का उपसर्ग नियतिवश शान्त हो गया। काष्ठ-निर्मित मुनि सुव्रत का चैत्य भस्मसात् हो गया॥123-126॥

पाषाण और पीतल से बनी देव-प्रतिमाओं का सर्वांग छिन्न-भिन्न हो गया। एकमात्र सुव्रतस्वामी की प्रतिमा सर्वांग से सुरक्षित रह गई॥127॥

विश्वप्रकाश-रूप इस प्रतिमा की मिट्टी नई थी, इसलिए जलानेवाली आग में भी सुरक्षित रह गई, जैसे समरांगण (युद्धभूमि) में जहाँ वीरों का मर्दन हो रहा हो, वहाँ कोई पुरुष स्थिरतापूर्वक टिका रहे॥128॥

अनन्तर, विजयसिंहसूरि गुटिका को मुँह में रखकर, सत्पात्र को हाथ में लेकर तीर्थोद्धार के लिए गोचरी विहार करने लगे॥129॥

धर्मलाभ के वक्ता वह पहले इभ्यों (वणिक्) और ब्राह्मणों के घरों में गये और श्रीसुव्रतमुनि के चैत्य के उद्धार के लिए भिक्षा की याचना की॥130॥

किसी ने पचास, किसी ने सौ-दो सौ सोना दिये। इस प्रकार महर्षि के पास पाँच हजार सोना एकत्र हो गया॥131॥

जो अष्ट महासिद्धि धारण करते हैं, उनके लिए धनागम असाध्य नहीं है। चारित्र-रूप धन की रक्षा करते हुए अदत्त का आदान भगवान् ने नहीं किया॥132॥

प्रधान काष्ठकर्म करनेवाले सूत्रधर वर्द्धकिरत्न (श्रेष्ठ बढई) ने शीघ्र ही जिन-मन्दिर का पुनरुद्धार कर दिया॥133॥

इस (बढई) के हाथ की गन्ध से उत्पन्न प्रभाव से आग उस प्रतिमा को जलाने में असमर्थ है। अमृतनिधि-रूप उसके मन्त्र से आग का प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु आग

बुझ जाती है॥134॥

ग्यारह लाख पचासी हजार छह सौ छियासी वर्ष बीतने पर बीसवें सिद्ध तीर्थंकर की प्रतिमा का उपजिह्विका से जीर्ण काष्ठ चिरकाल तक रहा। पुनः श्रीमान् अम्बड राणक ने प्रस्तर-प्रतिमा बनवाकर उसका उद्धार किया॥135-136॥

जिन-समय-रूप नौका के संचालन की कला के कर्णधार-स्वरूप श्रीविजयसिंह सूरि ने अपनी आयु के अन्त में अनशन-व्रत स्वीकार कर स्वर्ग प्राप्त किया। आज भी उसके वंश में प्रभावकारी सूरि उत्पन्न होते हैं, जिनके प्रसरणशील तेज के प्रभाव से शासन (जैनशासन) उत्कर्ष प्राप्त करता है, उसकी जय होती है॥137-138॥

इस प्रकार प्रभु विजयसिंह मुनीश्वर का पवित्र वृत्त (चरित) अल्पसत्त्व जीवों के लिए दुष्कर (दुस्साध्य) है। अश्वावबोधतीर्थ का रमणीय चरित्र सुदर्शना देवी के चरित से अतिशय सुन्दर है॥139॥

उन्नत अम्बा देवी का रमणीय पवित्र चरित्र यहाँ संघ के लिए पुष्टिकर है। इसके अभ्यास से अतुल प्रभाव प्रकट होकर समस्त जिन-शासन के लिए उत्कर्षकारी सिद्ध हो, ऐसी कामना है॥140॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप श्रीराम-लक्ष्मी से उत्पन्न, पूर्व के ऋषियों के चारित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिचन्द्र द्वारा प्रकटित (ईक्षित) गुटिका-सिद्ध प्रभु का यह वृत्त-रूप छठा शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥141॥

॥ श्रीविजयसिंहसूरि-प्रबन्ध (चरित) समाप्त ॥



श्रीजीवसूरिचरित

1. अर्हत्-रूप ब्रह्म (संसार) में स्थित जीवों में प्राण का उल्लासपूर्वक जिनके चरणों का उदय हुआ, वह श्रीजीवदेव प्रभु समृद्धि (कल्याण) प्रदान करें॥1॥

पूर्वकाल में भी जिन्होंने अपने प्राणों से दूसरे के प्राणों की रक्षा के लिए अपने अंग धारण किये, जीवों के प्राण-स्वरूप वह अक्षत देवता जीवदेव के समान दूसरा नहीं है॥2॥

आज के या प्राचीन काल के मेरे जैसा कोई भी उस (प्रभु) के वर्णन में (समर्थ नहीं है), परन्तु मुझे मुखर करने के लिए उनकी भक्ति से इतर कोई समर्थ नहीं है॥3॥

जड़ता-रूप सूखे वृक्ष को काटनेवाले, पाप के समुद्र से पार लगानेवाले तथा दुःख-रूप घाम से छुटकारा दिलानेवाले उस देव का चरित्र-कीर्तन किया जा रहा है॥4॥

पुराकाल में देवता जगत् के प्राण थे, जगत् को प्राण-दान करते थे। स्वयं सदा अनवस्थित रहते हुए वह संसार में स्थान पाना चाहते थे॥5॥

गुजरात की धरती के अलंकार-स्वरूप 'वायट' नामका महास्थान है। उस भूमि को मूर्तिमान् ब्रह्मस्वरूप ब्राह्मण के लिए दान कर दिया गया॥6॥

तब मरुत् ने शाला और ताला के सम्बन्ध-निवेश के कारण ब्रह्मशाला और चैत्य में परमेष्ठी को स्थापित किया॥7॥

मलयाचल पर जैसे समस्त वृक्ष चन्दन-वृक्ष बन जाते हैं, वैसे ही वहाँ ब्राह्मण और बनिया सभी 'वायट' के नाम से जाने जाते हैं॥8॥

वहाँ की जाति खिले हुए चमेली फूल के सौरभ से व्याप्त जैसी थी। सभी ब्राह्मण जाति उसी (वायट) नाम से भ्रमर-रूप सभी जनों द्वारा जानी जाती थी॥9॥

लक्ष्मी का आवास-स्वरूप धर्मदेव वहाँ महासेठ के रूप में विख्यात था। न्याय से अर्जित धन का दान करने के कारण वह साक्षात् धर्म के समान था॥10॥

उसके शीलवती नाम की पत्नी (साक्षात्) शील की आश्रयभूमि थी। वह अपनी आनन्ददायिनी बातों से चन्द्र और चन्दन जैसी (शीतल) प्रतीत होती थी॥11॥

उन (सेठ-सेठानी) के महीधर और महीपाल नाम के दो पुत्र थे। दोनों ही कर्मठ तथा कल्याणकारी कार्यों में संलग्न रहते थे॥12॥

कर्मदोष से महीपाल देश-देशान्तर का भ्रमण करनेवाला हुआ और महीधर सहोदर भाई के स्नेहवश वैरागी हो गया॥13॥

वहाँ पुराकाल में जिनदत्त प्रभु जंगम तीर्थ के समान हुए। वह संसार-रूप समुद्र में नाव की पाल की तरह थे और काम, क्रोध आदि शत्रुवर्ग के विनाश के लिए कौतु ग्रह के समान थे॥14॥

वह, सत्कर्म-रूप काष्ठ की श्रेष्ठता को पहचाननेवाले सूत्रधर (बढ़ई) के समान थे। सम्पूर्ण सिद्धि-रूप भवन के मध्य आधारभूत आश्रय (थूनी) के तुल्य थे॥15॥

एक दिन महीधर ने उद्विग्न भाव से प्रभु को नमस्कार किया और भाई के वियोगजन्य वैराग्यवश जैनधर्म की संगति के लिए प्रार्थना की॥16॥

उसे (दीक्षा के) योग्य जानकर तथा उसके माता-पिता से पूछकर सूरि ने, जिसकी सेवा भाग्यहीनों के लिए दुर्लभ है, ऐसी दीक्षा (प्रव्रज्या) उसे प्रदान की॥17॥

दोनों प्रकार की (सैद्धान्तिक और व्यावहारिक) शिक्षा गुरु से प्राप्त कर, अनेक प्रकार की विद्याओं के समुद्र का पारगामी वह अतिशय प्रज्ञा के बल से परधर्म (जैनतर धर्म)-वादियों के लिए अपराजेय हो गया॥18॥

संसार में संसारियों को भवसागर पार कराने के लिए जलयान-स्वरूप उस शिष्य को अपने पद पर प्रतिष्ठित कर गुरु परलोक की लक्ष्मी को भोगने चले गये॥19॥

तदनन्तर शाखानुगत नाम के अनुसार श्रीराशिल गुरु विद्या के विनोद में समय को बीतते हुए नहीं जान सके॥20॥

2. महीपाल तथा उसका बन्धु (महीधर) राजगृह नगर में दिगम्बर आचार्य श्रुतकीर्ति के पास पहुँचे, ऐसा सुना जाता है॥21॥

उन प्रभु (आचार्य) ने उसे (महीपाल को) प्रतिबोधित कर व्रत करने का आदेश किया और उसका नाम सुवर्णकीर्ति रखकर उसे अपनी धार्मिक क्रिया की शिक्षा दी॥22॥

एक दिन गुरु श्रुतकीर्ति ने उसे अपने पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और पृथ्वीवासियों द्वारा पूजित 'अप्रतिचक्रा' (दूसरों द्वारा अकाट्य) की श्री-सम्पन्न विद्या भी प्रदान की॥23॥

और फिर, कलियुग में दुर्लभ परकाय-प्रवेश की भाग्यसिद्ध कला भी प्रभु ने प्रदान की; क्योंकि वैसा पुरुष वैसी ही योग्यता रखता है॥24॥

अनन्तर, उसकी माता अपने पति के स्वर्ग चले जाने पर, उस नगर से आये हुए व्यापारियों द्वारा जानकर उस (सुवर्णकीर्ति) से मिलने गई॥25॥

जब वह मिली, तब उस (पुत्र) के घरवालों ने सम्मान की निधि-स्वरूप उस (माता) का सम्मान किया। गुरुतुल्य माता की दृष्टि रत्न की खान की तरह किसके लिए पूजित नहीं होती?॥26॥

तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित धर्मतत्त्व किसी के लिए भी निर्विवाद होता है। किन्तु, उसे अपने ही दोनों पुत्रों में विचार-वैभिन्य दिखाई पड़ा॥27॥

वह शक्ति मन से (दोनों पुत्रों से) बोली—हे वत्स! तुम्हें जैन धर्म में अन्तर (दिखाई पड़ता है)? श्वेताम्बर तो अतिशय निष्ठा की भूमि हैं; क्योंकि वे निष्परिग्रह होते हैं॥28॥

पूजा के प्रति चंचल और बहुत परिग्रहवाले तुम (दोनों) सुखी तो हो? तो, मुझसे कहो—(कर्म में) संलग्न मनुष्यों द्वारा सिद्धि कैसे पाई जाती है?॥29॥

इसलिए, तुम दोनों भाई आर्यसम्मत धर्म को अच्छी तरह विचार कर मेरे साथ पूर्वजों के स्थान पर आ जाओ॥30॥

शास्त्रों और प्रमाण-सिद्धान्तों द्वारा परस्पर समझो और फिर एकमत होकर मुझे धर्म में स्थापित करो॥31॥

उन पुत्रों ने माता के अनुरोध से वायट नगर में विहार किया। नाक के दो विचर की भाँति वे दोनों अभिन्न रूप से मिलकर रहने लगे॥32॥

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही आचार्य सदोहर की तरह हैं। दोनों ही अपने-अपने आचार और तत्त्व-विचार को स्पष्ट रूप से कहते हैं॥33॥

दिगम्बर (सांसारिकता के प्रति) सर्वथा निर्मम होते हैं और श्वेताम्बर भी सद्ब्रती होते हैं। निष्पाप (आचार्य के) प्रौढ़ वचन की शक्ति से (वे दोनों) प्रतिबोधित हुए॥34॥

एक दिन भिक्षावृत्ति के लिए और कुछ उनके आचार को देखने के लिए माता ने बड़ी भक्ति से उन दोनों को निमन्त्रित किया॥35॥

एक ने सम्मानित भाव से थालियों में सामान्य रूप से भोजन-विधि सम्पन्न की और फिर दूसरे पुत्र ने मध्यम रूप से॥36॥

पहले दिगम्बर रूप में आये पुत्र ने दो प्रकार के आचरण दिखलाये। उसने पात्र-समूह में से रमणीय बरतन में रखी वस्तु को आदर दिया॥37॥

जभी वह कुत्सित, शीतल, दग्ध और संस्कारहीन दिखाई पड़ा, तभी उसने भाँ को भी विकृत मुख धारण किये हुए देखा॥38॥

उस माँ ने दूसरे पुत्र को, तथा (वहाँ) आये हुए दो साधुओं को दो भोज्य वस्तुओं को दिखलाकर हर्षपूर्वक कहा-इन दोनों भोज्य वस्तुओं में आपके लिए जो उचित हो, उसे ग्रहण करें। साधुओं ने विचार कर कहा-जो वस्तु शुद्ध होगी, वही मेरे लिए ग्राह्य होगी॥39-40॥

हिंसाकर्म-सम्बन्धी दोष या फिर सन्देह की स्थिति में भी भोज्यवस्तु ग्राह्य नहीं होती। वे दोनों श्रेष्ठ मुनि उक्त दोनों प्रकार की भोज्य वस्तुओं को बिना ग्रहण किये चले गये॥41॥

धर्म-कर्म का आचरण करनेवाली जननी ने दिगम्बर-आचार्य पुत्र से कहा-‘तुमने भ्रातृव्रत देखा?’॥42॥

बाहर रमणीय और शुभ आभास की स्थिति में आसक्त जनों को स्वल्प फल प्राप्त होता है। आहार के समान धर्म में भी सोचकर अपनी रुचि के अनुसार (कार्य) करो॥43॥

उस सुबुद्ध पुत्र ने माँ और बन्धु की बातों से प्रतिबोध प्राप्त किया। सूर्य भी तो उत्सव के दिनों में निर्मल आकाश का आश्रय लेते हैं॥44॥

श्रीराशिल प्रभु के पास दीक्षा और शिक्षाक्रम आदि तथा जैनागम के रहस्यों को जानते हुए उसने उपदेश की सार्थकता प्राप्त की॥45॥

एक दिन सद्गुरु ने (उस) योग्य बन्धु को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया, जिससे वह जीवदेव नाम से विख्यात होकर सद्गुरु के रूप में सुशोभित हुआ॥46॥

3. पाँच सौ यतियों के परिवार से सुशोभित, अन्तर्हृदय में अवस्थित द्वेष को निर्दयता से कुचलनेवाले उन सदय गुरु को, एक दिन, वीरायतन में, श्री की उत्कृष्टता के साथ (जैनधर्म की) व्याख्या करते समय योगियों और भोगियों ने जहरीली दृष्टि से

देखा॥47-48॥

और फिर ध्यानपूर्वक देखा कि समग्र रूप से वह श्वेताम्बर गुरु महातेजस्वी हैं और लोगों को विस्मित करते हुए सार्वभौम की तरह आभासित होते हैं॥49॥

प्राकृतिक उपद्रव में जो शक्ति होती है, वह शक्ति यदि मुझमें हो तो मेरे जैसा पुरुष सृष्टि और ध्वंस कुछ भी कर सकता है॥50॥

ऐसा विचार कर, सभा के बीच बैठा हुआ वह स्वयं की चंचलतावश पलंग को डोर से बाँधकर पृथ्वीतल पर जा बैठा॥51॥

और उस मौनी ने बोलनेवाले की जीभ को स्तम्भित कर दिया और उसके इंगित से गुरु ने जान लिया कि यह योगियों का कर्म है॥52॥

अपनी (योग-)शक्ति से अपने शिष्य को बोलने में समर्थ बनाकर शान्तचित्त प्रभु ने समय पर व्याख्या मुखरित की॥53॥

उस (पलंग) की पीठ पर स्थित आसन वज्रलेप की तरह स्थिर हो गया और ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे वह पत्थर से बनाया गया हो॥54॥

तदनन्तर वह दोनों हाथ जोड़कर बोला— हे महाशक्ति! मिथ्या प्रणाम से मुझे विमुक्त करो॥55॥

किन्हीं श्रद्धालु द्वारा कृपापूर्वक सूचित प्रभु उससे मुक्त होकर चले गये। हाथी को ईख खाने से (रोकने में) कौन समर्थ है?॥56॥

प्रभु ने साधु-साध्वियों को कुयोगी द्वारा स्वीकृत उत्तर दिशा में जाने से मना कर दिया॥57॥

तदनन्तर धर्मकर्म की आवश्यकता से दो साध्वियाँ उसी ओर चली गईं, जिन्हें सरोवर के सेतु पर बैठे योगी ने देख लिया॥58॥

फुरती रखनेवाले उस निर्दय (योगी) ने सामने आकर फुरती से एक साध्वी के माथे पर कुछ चूर्ण फेंका॥59॥

वह साध्वी उस (चूर्ण फेंकनेवाले) की पीठ के पीछे जाकर बगल में बैठ गई। वृद्धा के कहने पर भी नहीं हटी। पूज्यों की आज्ञा का उल्लंघन धिक्कार और कष्ट का कारण होता है॥60॥

साधु ने आकर उस वृत्त (घटना) को, सूरियों को बताया। प्रभु ने कहा— विषाद में मत पड़ो। मैं इस काम में सहयोग करूँगा॥61॥

तदनन्तर उन्होंने कुश से बना पुतला उन्हें दिया। अनन्तर चार श्रावकों को शिक्षा देकर वे चले गये॥62॥

चैत्य से बाहर निकलकर उन्होंने उसकी कानी अँगुली काट दी। उसके पार्श्ववर्तियों ने उसके हाथ को एक अँगुली से रहित देखा॥63॥

उन्होंने पूछा—अकस्मात् यह कैसे हो गया? वह बोला— प्रभु ने कहा है कि बहुत विघ्न करनेवाली साध्वी का परित्याग कर दो॥64॥

फिर भी उसने उनकी बात की अवमानना कर दी। तब उसकी कानी अँगुली के बाद की दूसरी अँगुली भी देखते-देखते बिना काटे ही स्वयं टूट गिरी॥65॥

अनन्तर प्रभु बोले— नीच लोग दण्डसाध्य होते हैं। मैंने कृपापूर्वक अँगुली ही

काटी है, अन्यथा मैं तुम्हारा शिर भी काट लेता॥66॥

तुम साध्वी का परित्याग कर दो, अन्यथा तुम जैसे पापी का शिर भी काट दूँगा। अरे चेतनाशून्य! अपनी या दूसरे की शक्ति के अन्तर को नहीं जानते हो?॥67॥

अनन्तर, अच्छी तरह डरा हुआ वह बोला—इसके शिर को जल से सींच दें, ताकि शान्त भाव से अपने स्थान पर चला जाय॥68॥

उनके द्वारा वैसा किये जाने पर साध्वी होश में आ गई और, अपने स्थान पर आकर अदृश्य हो गई॥69॥

अतिशय भय से त्रस्त योगी भागकर दूसरे देश में चला गया। वैसे नीच आदमियों के गुरु अगम्य (अज्ञेय) नहीं होते॥70॥

4. इधर, राजा श्रीविक्रमादित्य ने अवन्ती में शासन करने के क्रम में पृथ्वी को ऋणमुक्त करते हुए संवत्सर का प्रवर्तन किया॥71॥

उन राजा ने प्रजा को ऋणमुक्त करने के लिए लिम्ब नाम के अमात्य को वायट नगर में भेजा। उन्होंने वीरों के उस श्री-सम्पन्न प्राचीन धाम को देखा॥72॥

उन्होंने स्वयं अपने और अपने वंश के साथ अर्हत् (तीर्थकर) के स्वर्ण-निर्मित घट और ध्वज-दण्डों को धारण करनेवाले मन्दिर का उद्धार किया॥73॥

संवत्सर-प्रवर्तन के छह वर्ष बीतने पर सातवें वर्ष के भीतर ध्वज और घट की प्रतिष्ठा की गई॥74॥

श्रीजीवदेवसूरि द्वारा उन राजा के लिए वहाँ स्थापित वह तीर्थ आज भी सुरक्षित है, उसे इसी रूप में प्रतिष्ठित किया गया॥75॥

5. इधर, महास्थान में व्यापारियों में प्रधान तथा दरिद्रता-रूप शत्रु को जीतने में मल्ल-स्वरूप एवं कलामर्मज्ञ लल्ल नाम का सेठ था॥76॥

वह महान् शिवभक्त और प्रभा की अतिशयता से सम्पन्न करोड़पति था। एक बार उसने सूर्य-ग्रहण के पर्व पर प्रसन्न भाव से महादान किया॥77॥

तथा हवनकर्म आरम्भ करते हुए उसने श्रेष्ठ ब्राह्मणों, यज्ञकार्य में दीक्षित तथा निरन्तर यज्ञकार्य में लीन ऋत्विकों को आमन्त्रित किया॥78॥

उसने उन यथामन्त्रित वेदविद्या-विशारदों का सम्मान किया। तदनन्तर प्रौढ़ मन्त्र-स्वर से ऊर्जित हवन प्रारम्भ हुआ॥79॥

वहाँ होमकुण्ड के निकट ही उसके ऊपर स्थित इमली के पेड़ से, आँखों में धुआँ लगने से व्याकुल एक साँप 'फटफट' आवाज के साथ आ गिरा॥80॥

वह महासर्प आहुति लेने स्वयं आ गया था, किन्तु उन वाचाल (यज्ञकर्ता) ब्राह्मणों में किसी ने उस साँप को हवन की आग में डाल दिया॥81॥

उसे आग में जलता हुआ देखकर कृपा से कम्पित अंगवाले सुधी यजमान ने (ब्राह्मण से) कहा— यह आपने क्या दुष्कार्य किया?॥82॥

पंचेन्द्रिय-सम्पन्न, स्पष्ट दीखते सचेतन जीवित जीव को जलती आग में सहसा

ही फेंक दिया गया, यह कौन-सा धर्म है?॥83॥

यज्ञकर्ता ऋत्विक् ने कहा- हे सेठ! इसमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि पुण्यवान् साँप श्रेष्ठ मन्त्र से सुसंस्कृत अग्नि में गिरा है॥84॥

क्योंकि, इस यज्ञाग्नि में मरकर यह महापापी हिंसक जीव देवत्व को प्राप्त करेगा, अन्यथा मनुष्यत्व को तो निश्चय ही प्राप्त करेगा॥85॥

इसलिए इस (यज्ञकर्ता) बटुक ने उपकार का ही कार्य किया है, अतएव आपको थोड़ा भी सन्ताप करना उचित नहीं है॥86॥

आप यदि कृपालु आस्तिक हैं तो प्रायश्चित्त करें, इसलिए उस साँप का दुगुना सोना ब्राह्मणों को दान में दें॥87॥

उस अध्वर्यु के आदेश से शीघ्र ही सोने का साँप बनवाया गया। मन्त्रों से संस्कृत उस सोने के साँप को (सोনার द्वारा) काँट-छाँट किये जाते हुए देखकर उससे कहा-॥88॥

पहले के साँप की हिंसा का पाप मैंने कराया, अब इस (स्वर्ण-सर्प) के वध से दूसरा पाप-कार्य होगा, इसलिए अनवस्था-दोष प्राप्त होगा॥98॥

इसलिए मैं इस धर्म को नहीं जान पा रहा हूँ कि यह मिथ्या कैसे हो सकता है? इसलिए मुझे क्षमा करें, मैंने समग्र हिंसा-कार्य को छोड़ दिया है॥90॥

जलती आगवाले कुण्ड को बुझा दिया गया और ब्राह्मणों को वापस भेज दिया गया। मद्य का असर खत्म होने पर कोई भी असदृश (अनुचित) आचरण नहीं करता॥91॥

तभी से वह (श्रेष्ठ) धर्म-दर्शन के बारे में चिन्तन करने लगा। और तभी, उसके घर में भिक्षा के लिए दो श्वेताम्बर मुनि पहुँचे॥92॥

उन्होंने उस श्रेष्ठ से कहा-निश्चय ही चरित्रवान् पात्रों से प्राप्त संस्कृत अन्न मुझे दें। इससे भिन्न अन्न मेरे योग्य नहीं है॥93॥

जिस भोजन-कार्य में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा सभी वनस्पति और त्रस जीव की हत्या होती है, वैसा अन्न हम ग्रहण नहीं करते॥94॥

अनन्तर सेठ सोचने लगा-ओह! यह मुनि तृष्णा-रहित होने के कारण ममत्वहीन, निरहंकार तथा सदा शान्तचित्त रहने वाले हैं॥95॥

तदनन्तर उस सेठ ने कहा-मुझे स्पष्ट रूप से धर्म की बात कहें। तब उन दोनों प्रभुओं ने उस सेठ से कहा-चैत्य में जब वे ठहरेंगे, तभी उस धर्म की बात कहेंगे॥96॥

यह कहकर वे दोनों (मुनि) अपने स्थान पर चले गये। दूसरे दिन सेठ लल्ल प्रभु के पास गया (और वहाँ) धर्म का अनुयोजन किया॥97॥

उन (प्रभुओं) ने कहा-दया धर्म है, तीर्थंकर देव सर्वज्ञ हैं। महाव्रतधारी धीर गुरु हैं। उन्होंने अन्तर्मन के द्वेष को ध्वस्त कर दिया है॥98॥

देवता राग आदि को अंकाश्रित करते हैं, गुरु परिग्रही होते हैं, और पशु-हिंसा से धर्म होता है- यह बहुत बड़ा मिथ्याधर्म है॥99॥

इसलिए, हे धार्मिक! धर्म को परीक्षापूर्वक ही स्वीकार करें। आपलोग रुपये को भी तो परीक्षापूर्वक ही स्वीकार करना चाहते हैं॥100॥

यह सुनकर उसने सम्यक्त्व-सहित व्रतों को स्वीकार किया और, चार प्रकार के धर्म को जानकर उनका दिन-रात पालन करने लगा॥101॥

और फिर बोला— हे प्रभो! सम्प्रति कुछ अवधारणा करें। सूर्य के ग्रहण-पर्व में लाख द्रव्यों का संकल्प विहित है॥102॥

वेद और स्मृति में प्रोक्त धर्माभास में लाख द्रव्यों का आधा मैंने व्यय कर दिया है। शेष आधा भाग मैं कहाँ व्यय करूँ, इसे बताइए॥103॥

मेरे चित्त में (ऐसी भावना है कि) पूज्यों को दिया गया (दान) बहुत फलदायक होता है। इसलिए हे प्रभो! आप मेरे द्वारा आदरपूर्वक दिया गया यथेच्छ दान ग्रहण करें॥104॥

अनन्तर गुरु ने कहा— हम जैसे अकिंचनों को धन आदि का स्पर्श भी उचित नहीं है। फिर, धन-संग्रह के विषय में क्या कहना?॥105॥

आप चिन्ता न करें। सुबह और शाम एक पैर धोकर आप जो उपहार प्रस्तुत करेंगे, उसे हमारे सामने ले आयें, तब मैं कुछ कहूँगा। यह सुनकर वह गुरु की बात पर विचार करते हुए घर चला गया॥106-107॥

दूसरे दिन यथोक्त समय में कोई बड़ई हमारे लिए, राजा के लिए भी परिग्रह-स्वरूप उस शय्या-पालिका को ले आया॥108॥

गुरु की बात का स्मरण करते हुए सेठ ने उसके साथ उपाश्रय में जाकर, विस्मयपूर्वक पूज्यों के समक्ष निवेदन किया॥109॥

पुनः प्रभव ने आकर, अलगनी पर कपड़ों को रखकर उसे ठहराया और उसे साफ शब्दों में आदेश दिया॥110॥

ये दोनों धुरन्धर (मुनि) जहाँ जाकर स्वयं ठहरें, वहाँ इस द्रव्य से रमणीय जैनालय का निर्माण करायें॥111॥

‘ऐसा ही हो’ कहकर स्वीकार करने पर वे दोनों ही धुरन्धर उस स्थान को छोड़कर मुत्कलि-स्थित पिप्पलानक नामक गाँव में चले गये॥112॥

वहाँ वे धूलि-धूसर देश में ठहर गये और फिर वहाँ से कहीं नहीं गये। ग्रामाधिपति ने गौरवपूर्वक उनके लिए भूमि प्रदान की॥113॥

वहाँ सूत्रधरो (बड़इयों) ने काम के बीच में, शीघ्र ही शिखर-मण्डपयुक्त भवन का निर्माण पूरा कर दिया॥114॥

दूसरे दिन कोई अवधूत पुरुष आया। उसने भवन को देखकर नाक सिकोड़ते हुए उसकी प्रशंसा की॥115॥

लोगों ने उससे भवन के दोष के बारे में पूछा। उसने प्रकट रूप से कहा—विश्व को दूषित करने में अग्रणी स्त्री का अस्थि-शल्य (हड्डी-रूप काँटा) इस भवन की नींव में है॥116॥

इस प्रकार सूचित करने पर, पूज्यों का निर्देश मानकर उन्होंने आदेश किया कि शल्य को उखाड़कर उसे हटा दें तथा पुनः चैत्य का निर्माण आरम्भ करें॥117॥

हे लल्ल! द्रव्य के अभाव से उत्पन्न चिन्ता आप न करें। उस भवन की अधिष्ठात्री देवियाँ प्रचुर द्रव्य पूरा करेंगी॥118॥

उखाड़ना शुरू करते ही रात में स्वर सुना गया— शल्य नहीं उखाड़ना है—यह जभी अवगत हुआ, तभी वहाँ ढेले गिरने लगे॥119॥

पुनः वही बात कहे जाने पर, वन्दनीय चरणोंवाले पुरुषों ने ध्यान लगाकर देव का आह्वान किया तो वहाँ देवी साक्षात् प्रकट होकर उनसे बोली—॥120॥

मैं कान्यकुब्ज के राजा की पूजित पुत्री हूँ। अपनी 'सुखादिका' (पाठान्तर : सूखडी') नाम के देश में, जिसे गुर्जर कहते हैं, रहती हूँ॥121॥

प्लेच्छों द्वारा नष्ट किये जाने के भय से मैं कुएँ में जा पड़ी। और, मरकर भूमि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में उत्पन्न हुई। मेरे अपने अनेक रूप हैं॥122॥

इसलिए, मैं अपने अंग के अस्थि-शल्य को उखाड़ने की अनुमति नहीं दे सकती। मेरी अनुमति के बिना कोई भी कुछ भी करने में समर्थ नहीं होंगे॥123॥

इसी कारण धर्मस्थानों में मैं अपनी पूज्यता का निवारण करती हूँ। इन देवी का अनुनय करनेवालों के वचनामृत से (देवी) शान्त हो गई॥124॥

और बोली—यदि मुझे अभी अधिष्ठात्री देवी के रूप में प्रतिष्ठित करें तो द्रव्य-सहित यह भूमि धर्मस्थान के लिए ले लें॥125॥

गुरुओं (पूज्यों) द्वारा इसे स्वीकार कर लिये जाने पर तथा श्रेष्ठ चैत्य के निर्मित हो जाने पर उन्होंने उस देवी के योग्य अलग से देवकुल का निर्माण कराया॥126॥

और, उस देवी का नाम भवनदेवी किया। अचिन्त्य शक्ति-स्वरूपा वह देवी आज भी वहाँ धार्मिकों द्वारा पूजी जाती हैं॥127॥

6. अनन्तर, ब्राह्मणों ने जिनधर्म के प्रति एकनिष्ठ आदर से युक्त लल्ल को देखकर, अपने स्वभाव से अनभिज्ञ वे (ब्राह्मण) जैनों के प्रति ईर्ष्यालु हो उठे॥128॥

साधुओं के गोचर आदि के लिए मार्ग में चलते समय वे उद्वेगजनक आचरण करते थे। किन्तु, साधु हाथी के समक्ष पर्वत जैसे अडिग रहते थे॥129॥

इस प्रकार, उन ब्राह्मणों द्वारा आलोचना किये जाने पर गुरु ने क्षमाभावपूर्वक कहा—उपसर्ग (विघ्न) तो विलीन हो जाते हैं, हमारे लिए यही रहस्य है॥130॥

एक दिन, पाप करने में पटु बटुक लोग किसी गाय को सताकर मृत्यु-दशा की स्थिति में पहुँचा दिया॥131॥

(उन्होंने) उस अत्यन्त दुर्बल गाय को, रात्रि में उसके पैरों को उखाड़-उखाड़ कर हठात् श्रीमहावीर के चैत्य के अन्दर घुसा दिया॥132॥

उस गाय को मरी हुई मानकर वे (बटुक) चैत्य के बाहर ही रहे और अतिशय हर्षित हो बोले— यहाँ जैनों के महान् वैभव को जानना चाहिए॥133॥

श्वेताम्बर को विडम्बित करनेवाले इस विनोद को लोग सुबह देखेंगे। इस प्रकार के कौतुक से आविष्ट लोग देवकुल आदि में (प्रायः) रहते हैं॥134॥

ब्राह्म मुहूर्त में उठकर यति लोग चित्त में अकस्मात् विस्मय उत्पन्न करनेवाली उस मरी हुई गाय को जब आँगन में देखते हैं, तभी चित्त को विकल करनेवाले इस समाचार ने, गुरुओं को सूचित करने पर भी, अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न सिंह-सदृश उन गुरुओं के हृदय को क्षुब्ध नहीं किया॥135-136॥

मुनियों को छोड़कर, अंगरक्षा के लिए मठ के भीतर स्थित पट्ट के नजदीक मनुजेतर द्वारा प्रचारित इस घटना पर स्वयं उन (गुरुओं) का शुभ ध्यान गया॥137॥

मुहूर्त (क्षण) भर में ही वह गाय स्वयं उठ खड़ी हुई, और पूर्ण चेतना-सम्पन्न होकर चैत्य के बाहर चली गई॥138॥

तब, प्रवीण ब्राह्मणों ने उस गाय को जाते हुए देखकर सोचा— रात में मरी पड़ी (यह गाय) चैत्य से कैसे निकल गई?॥139॥

इसमें कोई बड़ा कारण है, कोई बड़ा अनिष्ट दिखाई पड़ता है। क्योंकि ब्राह्मण जाति निर्वन्ध होती है और बटुक-मण्डली को समझ पाना कठिन है॥140॥

वे ऐसा विचार ही कर रहे थे कि वह गाय ब्रह्म-भवन की ओर उन्मुख हो गई और खुर का निशान छोड़ती हुई मानो पितृगृह के स्नेह में बहुत जल्दी चली गई॥141॥

प्रातःकाल उस (गाय) की पूजा करनेवाले जभी दरवाजा खोलते हैं, तभी वह उत्सुक गाय ब्रह्म-भवन में प्रवेश कर गई॥142॥

बाहर दोनों सींगों को चलाते हुए और घर की दीवार को ढाहते हुए वह गर्भगृह में प्रविष्ट होकर ब्रह्ममूर्ति के आगे जा गिरी॥143॥

तदनन्तर प्रभु जीवदेव का ध्यान उधर गया और पूजक लोगों ने झाँझ की आवाज से महास्थान को गुंजायमान कर दिया॥144॥

तदनन्तर, सभी विस्मित और भतिमूढ़ ब्राह्मण बोले—क्या यह स्वप्न है या सबको मतिभ्रम हो गया है॥145॥

क्योंकि, मरी हुई गाय भी (पैरों से) चली, इतना ही नहीं, स्वयं चलकर ब्रह्म-भवन में आ गई॥146॥

दैव द्वारा दुर्घटित घटना पर विचार करना सम्भव नहीं। ज्योतिर्विदों के लिए भी यह कार्य ज्ञानातीत है॥147॥

ब्राह्मण से इतर लोगों ने भी कहा—बटुकों के दुर्नीति-रूप समुद्र पर क्या विचार करना? अवश्य ही, वे मर्यादा की सीमा का उल्लंघन कर उत्पात मचायेंगे॥148॥

(बटुकों के) स्थान पर रहनेवाले ब्राह्मण अन्यत्र स्थान ले लें। वायु से वायु के समान ही कीर्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है॥149॥

और किसी दूसरे ने कहा— बड़े दुःख की घड़ी में चैत्य में अवस्थित सिंह के समान विक्रमी श्वेताम्बर (पुरुष) के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है॥150॥

उन सत्यनिष्ठ पुरुष को प्रणाम कर वेग से उनका शरण गहिए। यह अपार चिन्ता का समुद्र उसी सत्यनिष्ठ पुरुष-रूप जलयान से पार किया जा सकता है॥151॥

दूसरे ने कहा— दम्भयुक्त आपके बच्चों (शिष्यों) ने विरोध किया है। दिन-रात आसक्ति का कारणभूत उन्हें आप क्यों प्राश्रय देते हैं?॥152॥

इस प्रकार उपद्रव करनेवालों को प्राकृत (सर्व-सामान्य) जन भी माफ नहीं करते हैं। मूर्तिमान् विधाता-स्वरूप दैविक सामर्थ्यवालों का फिर क्या कहना?॥153॥

एक ने कहा—फिर भी सम्प्रति मैं इसका विरोध करता हूँ; क्योंकि उत्तम प्रकृति के लोग प्रणाम-मात्र से वैर का त्याग कर देते हैं॥154॥

इस प्रकार द्विधाभाव के ब्राह्मण एकमत होकर धार्मिकों द्वारा सुशोभित पूज्यों का स्थान-स्वरूप श्रीवीर के मन्दिर में गये॥155॥

अनन्तर दोनों हाथों को माथे (ललाट) पर सम्पुटित कर बोले—पीड़ा-रूप पिंजरे में आबद्ध हमारी बात को तरजीह न दें॥156॥

पहले वायु नाम के देवता इस स्थान पर अधिष्ठित हुए। उनके ही समान जीवदेव नाम के देवता आपके सदृश श्रेष्ठ हैं॥157॥

तदनन्तर इनके व्यसन-ग्रस्त हो जाने पर बटुक के मिथ्यापराध से आपका ही प्रतिकार करने के लिए इससे दूसरी शक्ति इस धरती पर नहीं है॥158॥

इसीलिए हे प्रभो! आप उसी के अवतारस्वरूप हैं। मेरा पालन करें, पालन करें। जन-जन को जीवदान करते हुए अपने यश को स्थान दें॥159॥

यदि आप अपने नामान्तर का साक्ष्य चाहते हैं तो मेरी रक्षा करें। नहीं तो, आपका स्थिर यश अन्यथा होकर अस्थिर एवं दुर्यश में परिणत हो जायेगा॥160॥

यह सुनकर सूरि के मौन रह जाने पर फैले हुए यश से युक्त लल्ल ने कहा—आप सभी ब्राह्मण मेरी एक सच्ची विज्ञप्ति को सुनें॥161॥

जीव-वध को देखकर मैं आपके धर्म से विरक्त हो गया हूँ। किन्तु दयाप्रधान इस धर्म (जैनधर्म) में संलग्न मैंने अपनों से जाना है कि जैनों के प्रति ईर्ष्या के कारण आपलोग लगातार उपद्रव करते हैं। जो स्वल्प (कम) शत्रु है, वह प्रतिमल्ल कैसे हो सकता है?॥162-163॥

यदि आप किसी स्थिर मर्यादा को प्रदर्शित करें तो मैं पूज्यपाद से कुछ निवेदन कर सकूँगा॥164॥

तब प्रधान ने उनसे कहा—आप उचित कह रहे हैं। हमारे दुर्वार उपद्रव में इन्हें क्षमा करने में कौन समर्थ है?॥165॥

सम्प्रति (वह) अपनी रुचि से जैनधर्म के सम्बन्ध में सतत उत्सवों का आयोजन करनेवाले धार्मिकों के लिए किसी प्रकार का भी विघ्न नहीं करेगा॥166॥

श्रीवीरव्रतियों के लिए प्रथम ही बण्ट (बण्ड) है, अतः इसके बाद ब्राह्मणों को सदैव फर्क नहीं करना चाहिए॥167॥

प्रतिष्ठित नवीन आचार्य के निर्देशन में सुवर्ण-निर्मित जनेऊ पहनकर ब्राह्मणों को ब्रह्ममन्दिर में अभिषेक करना चाहिए॥168॥

इस प्रकार उनके निकट जाने पर लल्ल ने सद्गुरु के पैरों पर माथा रखकर निवेदन किया—महास्थान का उद्धार करें॥169॥

उपशम से कवचित श्रीजीवदेवसूरि ने कहा—तीनों कालों में जन के प्रति द्वेष के सूचक रोष-तोष मुझमें नहीं हैं। शासन-देवता विघ्नों के समूह का पूर्णतः विनाश करनेवाले हैं। इस समय भी वही मेरी स्मृति में विराज रहे हैं॥170-171॥

यह कहकर मठ के भीतर ध्यानासन पर स्थित होकर सूरियों ने नाक के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर कर कुम्भक के द्वारा रेचक को नियन्त्रित किया॥172॥

तभी वह गाय क्षणभर ब्रह्म-भवन में ठहरकर और पैरों को उठाकर निकल गई॥173॥

हर्ष से उत्ताल (आकुल) ब्राह्मणों द्वारा देखी गई वह (गाय) सामने की, बाह्य प्रदेश की भूमि पर शीघ्र ही बेसहारा होकर गिर पड़ी॥174॥

अपने गुणों से बड़े गुरुजन पुनः अपने स्थान पर आ गये। ब्राह्मणों ने वेदविहित आशीर्वचनों के साथ जयध्वनि की॥175॥

तभी से मानो सौन्दर्य-सम्बन्ध से, जैनों द्वारा वहाँ स्थापित स्नेह आज भी पूरी तरह सुरक्षित है॥176॥

7. समय को जानकर वे पूज्य जन पुनः अन्यत्र विहार करने चले गये। योग्य शिष्य को पट्ट पर प्रतिष्ठित कर पुनः अपने स्थान पर आ गये॥177॥

सूरियों ने स्वयं सबका परित्याग कर तथा मन को आर्जव भाव में लगाकर गण के नये सूरियों को शिक्षा प्रदान की॥178॥

अनन्तर, गच्छ-प्रवर्तक को रहस्यपूर्ण आदेश दिया— हमने, जो पहले से ही सिद्ध थे, वैसे योगी को इनकार कर दिया है॥179॥

अनेक सिद्धियों से युक्त, एक कपाल-खण्ड के धारक (योगीजन) हमारी मृत्यु को जानकर वे यहाँ निश्चित ही आयेंगे॥180॥

वे पाप-बुद्धिवाले यदि हमारे कपाल को प्राप्त कर लेंगे तो वे तथाकथित रूप में शासन के लिए विघ्न उपस्थित करेंगे॥181॥

इसलिए, ममत्व (स्नेह) का परित्याग कर मेरे इस निर्जीव कलेवर-रूप कपाल को चूर कर दें, ताकि कोई उपद्रव न हो, (स्थिति निरुपद्रव रहे)॥182॥

अतएव, इस अर्थ में, मेरी आज्ञा का पालन आपकी कुलीनता होगी। जैनशासन की रक्षा के लिए यह कार्य निश्चित रूप से करना चाहिए॥183॥

ऐसी शिक्षा, इस (योगी) के लिए प्रदान कर उसके प्रत्याख्यान की भी विधि बताई। उसने परमेष्ठी को नमस्कार कर उस शिक्षा की आराधना में मन को लगाया॥184॥

गुण के सागर-स्वरूप (योगियों ने) वायु को माथे में रोककर, प्राणवायु को मुक्त कर वे वैमानिक देवों के श्री की अधिकता से सम्पन्न आवास में आश्रित हो गये॥185॥

लक्ष्य की प्राप्ति के बाद, खूब मजबूत लाठी लेकर उसके कपाल को इस प्रकार चूर कर दिया कि उसका आकार भी नहीं दिखाई पड़ता था॥186॥

लोक के शोक से युक्त एवं उत्सव से व्याप्त शब्द के इस अद्वैत की स्थिति में, पालकी में स्थित गुरु के शरीर को गीत के साथ वहन किया गया॥187॥

डमरू के भयंकर स्वर से युक्त वातावरण में योगी वहाँ आया। यह कौन पुरुष अतीत काल में चला गया, ऐसा उस आदमी (योगी) से पूछा गया॥188॥

कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण था, ऐसा उसके समक्ष योगी ने कहा। गीली दाढ़ी-भूँछवाले उसने आँसू गिराते हुए गद्गद स्वर में कहा—॥189॥

मुनीश्वर जीवदेव वायु की दूसरी मूर्ति के समान हैं। महास्थान की धरती (पृथ्वी) के उद्धार में वराह (अवतार) के समान वह अब स्वर्ग चले गये॥190॥

सुनकर वह कपट-शोक में छाती पीटने लगा और पुक्का फाड़कर खूब जोर से रोते हुए बोला—हे प्रभो! एक बार अभी मेरे मालिक का मुँह दिखला दें। अन्यथा, मैं अपना सिर फोड़कर निश्चय ही प्राण त्याग दूँगा॥191-192॥

तभी प्रवर्तक ने कहा- पालकी को जमीन पर रखें। प्रभु का वह मित्र योगी (प्रभु का) मुँह देखकर अत्यधिक काल तक जीवित रहेगा॥१९३॥

पालकी से अलग कर (प्रभु का) मुँह दिखलाने पर, उसे कुचला हुआ देखकर वह हाथों को मलते हुए यह बोला-राजा श्रीविक्रमादित्य के कपाल का एक खण्ड मेरे आचार्य का होगा; क्योंकि इनका लक्षण पुण्यात्मा पुरुष जैसा है॥१९४-१९५॥

मेरे हाथ में इनका कपाल यदि रखा जायेगा तो मेरे मनोरथ पूरे होंगे। क्या करूँ, सौभाग्य से ही ऐसा (अवसर) प्राप्त होता है॥१९६॥

जीवन्मृत स्थिति में ही मेरे मित्र ने मेरे हाथ को घिस दिया है। मर्त्य लोगों में वही एक पुरुष हैं, जिन्हें मैंने अपनी बुद्धि से जीता है॥१९७॥

लेकिन फिर भी लोग इनके संस्कार में मुझे निर्देश करें। मेरा भी आज पुण्यात्मा गौण मित्रों से अलग स्थान हो॥१९८॥

ऐसा करने पर उसने आकाशमार्ग द्वारा मलयाचल से उनका पार्थिव शरीर यहाँ ले आया। श्रीखण्ड और अगुरु की लकड़ी से उनके अंग को भस्मसात् कर दिया॥१९९॥

आज भी उनके प्रभाव से उनके वंश में देवतुल्य सूरि अपने तेज से कला के निधि और प्रभावशाली (पुरुष) होंगे॥२००॥

इस प्रकार, श्रीजीवदेव सद्गुरु का पापनाशक और महाप्रभावशाली चरित्र को जानकर अवहितचित्त धीर विद्वान् उनका नित्य स्मरण करें और सूरि की गरिमा के विस्तार के एकमात्र कारण रूप में प्रसन्नता अनुभव करें॥२०१॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप श्रीराम-लक्ष्मी से उत्पन्न श्रीप्रभाचन्द्रसूरि ने अपने मन में पूर्व के ऋषियों के चारित्र-रूप पर्वत पर चढ़ने का संकल्प किया और उसी पर्वत पर आरोहण के क्रम में, प्रद्युम्न प्रभु द्वारा शोधित श्रीजीवदेव प्रभु का सुचरित-रूप सातवाँ शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥२०२॥

वाणी के दारिद्र्य को दूर कर, आनन्दित मन के, प्रेम-रूप लता का दृढ़ आधार-स्वरूप श्रीमान् प्रद्युम्न-रूप कल्पतरु के फूलों के प्रसार का उत्साह होता रहे॥२०३॥

॥ सातवाँ श्रीजीवसूरि का प्रबन्ध (चरित) समाप्त ॥



श्रीवृद्धवादिसूरिचरित

1. शम और दम की तरंगों से युक्त एवं सारभूत सारस्वत प्रवाह से समुद्र की तरह शोभाशाली वृद्धवादिमुनीन्द्र को नमस्कार है॥1॥

विश्व का निस्तार करनेवाले स्वामी सिद्धसेन (हमारी) रक्षा करें, जिन्होंने ईश के हृदय का भेदन करनेवाले ब्रह्ममय अर्हत् (तीर्थकर) का तेज धारण किया है॥2॥

कलिकाल-रूप पर्वत को ध्वस्त करने में वज्र-स्वरूप उन दोनों का (वृद्धवादी और सिद्धसेन का) विचित्र चारित्र से युक्त चरित को मैं यहाँ प्रस्तावित करता हूँ॥3॥

जैनशासन-रूप नन्दनकानन के अपार माहात्म्यशाली पारिजात-पुष्प-स्वरूप सर्वशास्त्रानुयोग-रूप वृक्ष में अंकुर की उत्पत्ति में मेघ-स्वरूप श्रेष्ठ विद्याधरों के आम्नाय (कुल) में चिन्तामणि के समान इष्ट (अभिलषित वस्तु) को देनेवाले श्रीस्कन्दिलाचार्य पादलिप्तप्रभु के कुल में उत्पन्न हुए थे॥4-5॥

असंख्य शिष्य-रूप माणिक्य के पर्वत पर आरोहण में चूलिका (शिखर)-स्वरूप उन मुनीश्वर ने एक दिन गौड़ देश में विहार किया॥6॥

वहाँ, कोशलाग्राम के निवासी मुकुन्द नाम के श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। वह बल-वीर्य की दृष्टि से साक्षात् मुकुन्द (कृष्ण) के समान थे॥7॥

ग्राम की बाह्य भूमि पर विहार करने के क्रम में उन्हें वह (ब्राह्मण) मिल गये। सबके सभी कार्यों में भवितव्यता प्रबल होती है॥8॥

शान्ति प्रदान करनेवाला, प्राणियों के प्रति दया-रूप धर्म को उनसे सुना। वह धर्म संयमी जीवन जीनेवाले अतिशय वैराग्य से युक्त लोगों के लिए सुकर है॥9॥

उन्होंने कहा-अनार्य दुर्जनों के समान अकार्य करने से, हम भटकाव में डालनेवाले विचित्र विषयों से उगे गये हैं॥10॥

हे अनासक्ति के स्वामी! हे काम, क्रोध आदि शत्रुओं के विध्वंसक! उन विषयों से मेरी रक्षा करें। पलायन की दृष्टि से भी मुझ क्लीब को विनाश से बचायें॥11॥

इस प्रकार निवेदन करनेवाले उस (मुकुन्द) को उन (मुनीश्वर) ने जैनदीक्षा से अनुगृहीत किया। कल्याण-कार्य में शीघ्रता ही श्रेष्ठ होती है, विलम्ब तो निश्चय ही अनेक विघ्नों का कारक होता है॥12॥

दूसरे दिन, विहार करते हुए वह मुनीश्वर लाट-मण्डल के मण्डन (अलंकार)-स्वरूप तथा रेवा नदी के सामीप्य से पवित्र श्रीभृगुकच्छ नगर पहुँचे॥13॥

वहाँ शास्त्र-पाठ के महाघोष से आकाश को गुँजानेवाले तथा समुद्र की लहरों की ध्वनि को सपत्नी-भाव का दुःख देनेवाले मुकुन्द ऋषि रहते थे॥14॥

स्वाध्याय का अतिशय अभ्यास करनेवाले यह मुनि वार्धक्य के बावजूद दिन-रात शास्त्राभ्यास के आग्रहवश निद्राप्रमादियों को भी उन्निद्र करते रहते थे॥15॥

एक युवा और तीव्र बुद्धिवाले यति ने उन्हें यह शिक्षा दी कि हे मुनि! विनिद्रता तो हिंस्रजीवों तथा जीवों से द्रोह करनेवालों को होती है॥16॥

इसलिए ध्यानमय आभ्यन्तर तप अच्छी तरह आप करें। ध्वनिहीनता के क्षण में साधु का वाग्योग ही संकुचित होने में समर्थ है॥17॥

यह सुनकर भी, बुढ़ापे के कारण, जड़ता से युक्त साधु शिक्षा ग्रहण न कर तथावत् (पाठ में) स्पष्ट उद्घोष करते रहते थे॥18॥

तदनन्तर कही गई अच्छी बात को न करने की तारुण्योचित असूयावश अनादर से क्षुब्ध अनगर (साधु) ने खरी बात कही॥19॥

वय के अन्त को न जानते हुए, उग्र पाठ के आग्रह से पीड़ित तुम जो चमेली की लता की तरह प्रफुल्ल होओगे, वह कष्टकर कैसे होगा?॥20॥

चारित्र की दृढ़ता में कुंजर (हाथी) के समान वह यह सुनकर विषाद में पड़ गये और मन में सोचा-ज्ञानावरण से दूषित मेरी उत्पत्ति (जन्म) को धिक्कार है॥21॥

इसलिए मैं भारती देवी की आराधना करूँगा। ताकि, उग्र तपस्या से मेरा असूयापूर्ण वचन सत्य हो जाय॥22॥

यह सोचकर वह 'नालिकेरवसति' नाम के जिनालय में कला-सहित देवी भारती की आराधना करने लगे॥23॥

उन दृढ़व्रत ने शरीर के आधारभूत चार प्रकार (चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय) के आहार का प्रत्याख्यान कर गंभीर ध्यान की अग्नि में जड़ता के भय को जलाकर भस्म कर दिया था॥24॥

उनकी बुद्धि संकल्प-विकल्प के कालुष्य का नाश कर शुद्ध हो गई थी। उन्होंने समता-भाव का आश्रय ले लिया था। उन्होंने निष्कम्प-शरीर होकर देव-मूर्ति के चरण-कमलों में अपनी दृष्टि लगा रखी थी॥25॥

वहाँ वह इक्कीस दिनों को एक मुहूर्त के समान बिताकर रहे। उनके आन्तरिक बल से सन्तुष्ट देवी ने साक्षात् प्रकट होकर कहा-॥26॥

उठो, मैं प्रसन्न हूँ, तुम्हारे मनोरथ पूरे हों। तुम्हारी इच्छाओं में स्वलन नहीं होगा, तो अपने हित की बात कहो॥27॥

यह सुनकर देवता की वाणी प्रकट हुई और देखा कि किसी गृहस्थ के घर में मुसल (मुशल) पहुँचा हुआ है॥28॥

पूर्वोक्त यति के उत्प्राप्त-युक्त वाक्य सुनने के अपमान से सुने हुए श्लोक की प्रतिज्ञा की परिपूर्ति के लिए (उन्होंने एक) श्लोक कहा॥29॥ वह यह है-

अस्मादृशा अपि यदा भारति! त्वत्प्रसादतः।

भवेयुर्वादिनः प्राज्ञा मुशलं पुष्यतां ततः॥30॥

हे भारती! तुम्हारी कृपा से यदि मेरे जैसे व्यक्ति भी प्रज्ञा-सम्पन्न वादी (वक्ता) हो सकते हैं, तो मुशल भी परिपुष्ट हो जाय॥30॥

यह कहकर मुनि ने प्रासुक (विशुद्ध) जल से मुसल (मुशल) को सिक्त कर दिया। जिस तरह आकाश तारों से जगमगा उठता है, उसी तरह मुसल (मुशल) पुष्पित और पल्लवित हो गया॥31॥

और फिर-

इन्द्रधनुष के बराबर मदगु (जंगली जानवर की एक जाति) का सींग, शीतल अग्नि, कम्पनरहित वायु-जिसके लिए जो भा जाता है, वह कुछ नहीं है, कौन वृद्धवादी क्या बोलता है, यही ध्यातव्य है॥32॥

तब, इसकी इस प्रतिज्ञा (दृढ़ोक्ति) से अकालवादी (असमय बकवाद करनेवाले) निराश, पराजितबुद्धि और सन्नस्त जैसे हो गये॥33॥

तदनन्तर, गुरुवत्सल गुरु ने उसे सूरि के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। वर्धनशील गुण-रूप अर्थ के समान उसे पात्र (योग्य व्यक्ति) में नियोजित कर दिया॥34॥

प्रौढ़ वयवाले वादमुद्रा को धारण करनेवाले ही संसार में विख्यात होते हैं। परिजन-सहित वह प्रभु वृद्धवादी के रूप में प्रसिद्ध हो गये॥35॥

श्रीजैनशासन-रूप कमल-वन के भास्वर भास्कर-स्वरूप श्रीस्कन्दिलाचार्य प्रायोपवेशन करके अस्त हो गये॥36॥

2. गच्छ-रूप पर्वत के उद्धार में आदि कच्छप-रूप वृद्धवादी प्रभु, गुण-परम्परा की शाला-रूप विशाला में विहार करने लगे॥37॥

तभी राजा श्रीविक्रमादित्य वहाँ की भूमि के पालक बने। वह दारिद्र्य-रूप अन्धकार के भार के सम्भार में सूर्य-स्वरूप थे॥38॥

श्रीकात्यायन-गोत्रीय ब्राह्मण पिता देवर्षि के पुत्र एवं माता देवश्री की कोख से उत्पन्न विद्वान् सिद्धसेन नाम से प्रसिद्ध हुए॥39॥

सर्वशास्त्रों के अर्थ के पार जाने की मति की स्थिति से युक्त वह एक दिन वहाँ आये और श्रीमान् वृद्धवादी प्रभु से मिले॥40॥

आज सुबह इस नगर में वृद्धवादी प्रभु थे अथवा नहीं, ऐसा उनसे पूछने पर वह बोले-मैं ही वह (प्रभु) हूँ, ऐसा जानो॥41॥

मैं विद्वद्गोष्ठी में सम्मिलित होने को प्रबल अभिलाषी हूँ, इसलिए कहता हूँ कि हे मित्र! मेरा यह चिरकालिक संकल्प है, जैसे भी यह पूरा हो, वैसा करें॥42॥

अपने मन की तुष्टि के लिए विद्वत्पर्षद् में क्यों नहीं जाते हैं? यह पूछने पर बोले-सुवर्ण की प्राप्ति की स्थिति में पीतल कौन लेना चाहेगा?॥43॥

जब उसने वहाँ ऐसा कहकर भी शास्त्रार्थ के आग्रह को नहीं छोड़ा, तब सूरि ने 'ओम्' (स्वीकृति-सूचक शब्द) कहकर सभ्य गोपों से कहा॥44॥

सिद्धसेन ने पहले कहा-निश्चित ही कोई सर्वज्ञ नहीं होता- जो प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाण आदि से प्राप्त किया जाय॥45॥

इसमें आकाश-कुसुम दृष्टान्त है, यह कहकर वह चुप हो गया। तब वृद्धवादी ने गोपों से सान्त्वना-पूर्वक कहा-॥46॥

उन्होंने यह कहा, किन्तु आप (गोपों) ने कुछ समझा या नहीं? उन्होंने कहा—पारसियों जैसा अव्यक्त (रूप से कहा गया) कैसे समझा जा सकता है?॥47॥

वृद्धवादी ने कहा— हे गोपजनो! मैं तो यह बात समझ गया हूँ। तीर्थकर नहीं है वह, इसलिए कह रहा हूँ। वह सत्य है, इस विषय में आप कहें॥48॥

आपके गाँव में वीतराग सर्वज्ञ हैं या नहीं? तब उन्होंने कहा— जैन चैत्य में जिन के रहने पर इसकी बात मिथ्या है॥49॥

अवगत नहीं होने की स्थिति में, द्विज-वचनों में मेरा आदर नहीं है। सूरि ने पुनः कहा—हे विप्र! मेरी तथ्यपूर्ण बात सुनें॥50॥

मनीषा की अतिशयता का तारतम्य कहीं नहीं है। अतिशय की इयत्ता परिमाण में जैसे स्पष्ट दिखाई पड़ती है॥51॥

आकाश का भी परिमाण के सन्दर्भ में छोटा या बड़ा होना सम्भव है। प्रज्ञा का अवधि-ज्ञान तो केवल सिद्धों के सम्बन्ध में ही सम्भव है॥52॥

ज्ञान और गुण का आधार कुछ-कुछ द्रव्य भी होता है, ऐसा सोचा जाना चाहिए। जो सर्वज्ञ हैं, उनकी यही (सर्वज्ञता ही) सिद्धि है॥53॥

इस प्रकार के वाक्यप्रपंच से वृद्धवादी ने ब्राह्मणों पर विजय प्राप्त कर लिया। पण्डितमन्य ब्राह्मण की इनके प्रति कैसी आस्था?॥54॥

हर्षाश्रु से डबडबाये नेत्रों से युक्त सिद्धसेन ने कहा—प्रभो! आप ही सर्वज्ञ हैं। पूर्व-सत्य तीर्थकर भी आप ही हैं॥55॥

पहले से ही प्रतिज्ञात मुझे शिष्य के रूप में स्वीकार करें। जिनका उत्तर देने में समर्थ नहीं हूँ, उनका ही मैं नौसिखिया छात्र हूँ॥56॥

उन वृद्धवादी ने जैन विधि से उस उपस्थित (शिष्य) को दीक्षित किया और उसका दीक्षा-नाम कुमुदचन्द्र रखा॥57॥

वह आशुगामी तीर की तरह, अपनी तीक्ष्ण-प्रवर प्रतिभा से तत्सामयिक सिद्धान्त का पारदृश्या बन गया॥58॥

गुरु ने हर्षपूर्वक उसे तृतीय परमेष्ठी के पद पर प्रतिष्ठित किया। और, पहले से प्रसिद्ध नाम से ही संज्ञित किया॥59॥

उसे गणाधार में रखकर गुरु स्वयं अन्यत्र विहार करने लगे। दूर-स्थित होकर भी गुरु शिष्य के प्रभाव देख लेते हैं॥60॥

3. एक दिन श्रीसिद्धसेनसूरि बाह्य प्रदेश में विचरण कर रहे थे, तभी राजा श्रीविक्रमार्क ने, जो स्वयं राजपथ से जा रहे थे, सूरिजी को देखा॥61॥

राजा ने उनको अलक्ष्य रूप से भूमिष्ठ प्रणाम निवेदित किया। गुरु ने उच्चतर स्वर से धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया॥62॥

उनकी दक्षता से तुष्ट राजा ने प्रतिदान में एक करोड़ स्वर्णटक देने का उल्लेख अपने दानपत्र में किया॥63॥

वह इस प्रकार है—

धर्मलाभ इति प्रोक्ते दूरादुद्धृतपाणये।

सूरये सिद्धसेनाय ददौ कोटिं नराधिपः॥६४॥

अर्थात्, 'धर्मलाभ' इस आशीर्वाच्य के कहने पर दूर से उठाये हाथवाले सिद्धसेन सूरि के लिए राजा ने एक करोड़ (का स्वर्ण) प्रदान किया॥६४॥

[राजा ने सिद्ध को बुलाकर कहा—आप धन स्वीकार करें। तब सिद्ध ने कहा—हमें धन के प्रति कोई आग्रह नहीं है। आप स्वयं जैसा चाहें, इस धन का उपयोग करें।]

उस द्रव्य से उस सिद्ध ने बुरी स्थिति में पड़े हुए धार्मिक स्थल, चैत्य आदि के उद्धार-हेतु साधारण धन-पेटिका बनवाई॥६५॥

एक दिन मुनीश्वर चित्रकूट पर्वत पर विहार करने चले गये। पर्वत के शिखर पर एक जगह उन्होंने एक स्तम्भ देखा॥६६॥

वह स्तम्भ न तो काष्ठ-निर्मित था, न ही मिट्टी से बना था। इस सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने उसे औषध-चूर्ण से निर्मित समझा॥६७॥

उसके रस, स्पर्श और गन्ध के निरीक्षण में प्रयुक्त बुद्धिबल से उसे औषधि जानकर उसमें उसके जोड़ की औषधि मिला दी। अनन्तर बार-बार घिसकर उसने उस स्तम्भ में छेद बना दिया और उसके बीच में उसे हजारों पुस्तकें दिखाई पड़ीं॥६८-६९॥

तदनन्तर प्रभु ने एक पुस्तक लेकर, उसके एक पृष्ठ को खोलकर उसकी एक पंक्ति का वाचन किया॥७०॥

उस पृष्ठ में वह सुवर्ण-सिद्धि का योग देखकर विस्मित हो उठे। एक श्लोक में सरसों से सुभटों की उत्पत्ति के बारे में लिखा गया था॥७१॥

हर्षित होकर वह सावधानी से उस पृष्ठ को सामने रखकर उसका वाचन कर रहे थे, तभी श्रीशासनदेवता ने उस पृष्ठ का और पुस्तक का भी हरण कर लिया॥७२॥

वैसे पुराने ग्रन्थ के वाचन की योग्यता किसी में नहीं है; क्योंकि काल की दुस्थिति के कारण ऐसे लोगों की भी सत्त्व-हानि हो जाती है॥७३॥

४. दूसरे दिन उन्होंने पूरे पूर्वदेश का परिभ्रमण किया। परा और अपरा दोनों लिखाओं से युक्त सुधी प्रभु कर्मारनगर पहुँचे॥७४॥

वहाँ देवपाल नाम का प्रसिद्ध पराक्रमी राजा रहता था। श्रीसिद्धसेन सूरि उसे नमस्कार करने के लिए जल्दी से उसके पास पहुँचे॥७५॥

आक्षेपणी आदि चार धर्मों (विद्याओं) के प्रभाववश प्रभु ने उसे प्रतिबोधित किया और इलापति का मित्र बनाया॥७६॥

एक दिन कामरूप के राजा ने उसपर चढ़ाई कर दी। उसका नाम विजयवर्मा था। उसका इतर धर्म में विश्वास था॥७७॥

वह असंख्य वनवासी 'नासीरों' द्वारा जब अधिक उपद्रुत हुआ, तब राजा देवपाल ने प्रभु को इसकी सूचना दी॥७८॥

इसके शलभों जैसे अद्भुत सैन्यबल मेरे अल्प कोशबलवाले सैन्यबल को परास्त कर दूँगे॥७९॥

ऐसी स्थिति में आप ही मेरी शरण हैं। यह सुनकर प्रभु ने कहा—इस संकट में डरो मत, मैं उसका प्रतिकार करूँगा॥80॥

उसने सुवर्ण-सिद्धि के योग से अपार द्रव्य प्राप्त किया तथा सर्षप-योग से बहुत सारे वीर योद्धा तैयार कर लिये॥81॥

राजा देवपाल ने युद्ध करके शत्रु को पराजित कर दिया। प्रभु की कृपा से और उनके जैसों की उपासना से क्या नहीं हो सकता है?॥82॥

राजा ने कहा— मैं शत्रु के भयजनित अन्धकार में पड़ गया। हे भवतारक नाथ! आपने अपने प्रभाव से मेरा उद्धार किया है॥83॥

तदनन्तर प्रभु का प्रसिद्ध नाम दिवाकर हो गया। तभी से वह श्रीसिद्धि(द्ध)सेनदिवाकर नाम से पुकारे जाने लगे॥84॥

5. उस राजा को सुखासन और हाथी आदि अधिक प्रिय हैं। उसे बलपूर्वक गद्दी पर बैठाया गया। वह भक्तिपूर्वक राजभवन जाता था॥85॥

गुरु वृद्धवादी सूरि को इस जनश्रुति की जानकारी हो गई और राजसत्कार के दर्प से भ्रान्त मनःस्थिति वाले शिष्य के दुर्ग्रह आग्रह को शिक्षण द्वारा दूर करने के लिए वह रूप को बदलकर कर्मारपुर आये॥86-87॥

तदनन्तर, सुखासन पर बैठे हुए, राजमार्ग के बीच अनेक लोगों से घिरे राजा की तरह उसे प्रभु ने देखा। प्रभु ने उससे कहा—हे रूप-सम्पन्न! तुम मेरे सन्देह का निवारण करो। यहाँ आये हुए तुम्हारी ख्याति दूर दिगन्त तक सुनी जाती है॥88-89॥

सिद्धसेनसूरि के कहने पर वह समीप में स्थित विद्वानों को विस्मय में डालनेवाली ऊँची आवाज में बोला, जो इस प्रकार है—॥90॥

अणुहुल्लीय फुल्ल म तोडहु मन आरामा म मोडहु।

मण कुसुमहिं अच्चि निरञ्जणु हिण्डइ काहुं वणेण वणु॥91॥*

अर्थात्, बिना खिले हुए फूल को मत तोड़ें, मन के बाग में अपने को मोड़ दें। मन के फूल से निरञ्जन की अर्चना करें। एक वन से दूसरे वन में क्यों भटकते हैं?॥91॥

अज्ञात विषय के सम्बन्ध में विचार करके भी विकृत उत्तर उसने दिया— दूसरा कुछ पूछो। उसने उत्तर में कहा—इसी पर ही विचार करो॥92॥

अनादरपूर्वक उसने जो कुछ असम्बद्ध कहा, उसे यदि नहीं मानते हो तो तुम्हीं कहो, ऐसा वह बोला॥93॥

वृद्धवादी प्रभु ने कहा—कानों से सावधान हो जाओ। मार्गभ्रष्ट हो जाने पर भी इसके तत्त्व को पुनः प्राप्त कर लो॥94॥

वृद्धवादी ने उपर्युक्त गाथा की अनेक अर्थवाली व्याख्या प्रस्तुत की। मति का प्रतिकार तो हम जानते हैं, इसके सम्बन्ध में जड़ लोग क्या जानें?॥95॥

इस प्रकार, उनके कथन-रूप मेघ के गर्जनपूर्वक वर्षण के बाहुल्य से सिद्धसेन की मनोभूमि बोध (ज्ञान) से अंकुरित हो गई॥96॥

* यहाँ यथा-उपरिलिखित गाथा के तीन अर्थ व्याख्यान-शैली में किये गये हैं, जिनका हिन्दी-अनुवाद यहाँ आवश्यक नहीं। -अनुवादक

हमारे धर्माचार्य के अतिरिक्त ऐसी शक्ति किसी दूसरे की नहीं है, ऐसा सोचकर झुकते हुए उसने उन गुरु के चरणों को प्रणाम किया और बोला—मानसिक विद्वेष से हम अतिशय पराजित हो गये। प्रभु के चरणों के प्रति हम आशान्वित हैं, अतः महाशय हमें क्षमा करें॥97-98॥

यह सुनकर गुरु बोले थे— हे वत्स! तुम्हारा क्षण क्षीण नहीं हुआ है। प्राणियों के लिए दुष्माकांक्ष उनकी सद्गति को नाश करनेवाला शत्रु है॥99॥

मैंने इच्छा की सन्तृप्ति-पर्यन्त आपको जैन सिद्धान्त से तृप्त किया है। मन्दाग्निवालों के लिए स्निग्ध (तैलीय) भोज्य के समान आपको भी जो नहीं पचेगा॥100॥

(और फिर), दूसरे जड़ता-रूप वात से उत्पन्न पीनस रोग के कफ से व्याप्त हृदयवालों के समान अल्पसत्त्ववाली अग्नि (पाचकाग्नि)वालों द्वारा विद्या-रूप अन्न को पचाने के बारे में क्या कहना?॥101॥

सन्तोष-रूप औषध से संवर्द्धित, शुभ ध्यान-रूप आन्तरिक अग्नि से पका हुआ शास्त्र आस्वाद्य है। मेरे द्वारा दिया गया (शास्त्र रूप अन्न) ज्ञान के भूखे व्यक्ति को पच जाय॥102॥

(यथोक्त) स्तम्भ से प्राप्त पुस्तक और उसके एक पृष्ठ को शासनदेवता ने चुरा लिया। सम्प्रति, आधुनिक लोग वैसी शक्तियों से सम्पन्न हैं क्या?॥103॥

गुरु की इस बात को सुनकर वचन के संयम में मूर्धन्य (मुनि) ने कहा— हमारे शिष्य भ्रम में पड़कर दुष्कृत न करें॥104॥

हे नाथ! उन शिष्यों के लिए प्रायश्चित्त के शास्त्र चरितार्थ हो सकते हैं क्या? मुझ अविनीत को प्रायश्चित्त से शुद्ध करें॥105॥

वृद्धवादी ने इसके आलोचना-तप के सम्बन्ध में विचार कर और इसे अपने स्थान पर रखकर प्रायोपवेशन-पूर्वक स्वर्ग के लिए प्रस्थान किया॥106॥

मुनीश्वर सिद्धसेन भी शासन की प्रभावना करते हुए तथा राजा द्वारा प्रशंसित होकर धरती पर विहरने लगे॥107॥

6. एक दिन, लोक के कथनानुसार तथा जातिगत विश्वास से बचपन से संस्कृत का अभ्यास करनेवाले (सिद्धसेन) कर्मदोष से प्रबोधित हुए॥108॥

सिद्धान्त को संस्कारयुक्त करने की इच्छा से उन्होंने संघ को सूचित किया कि केवलज्ञानी का, प्राकृत में बोलने पर, निरादर होता है॥109॥

उनके प्रभाव की गरिमा से अनभिज्ञ तथा मोहासक्त एवं चित्त की मलिनता से कर्कश संघ-प्रधान ने कहा—॥110॥

आज भी, युगप्रधान का अलंकरण धारण करनेवाले नये यति-समूह के शिरोरत्न की प्रभा से भास्वर पूज्य व्यक्तियों की चित्तवृत्ति अज्ञान-जनित शत्रुभाव से आक्रान्त है, तो फिर हम जैसों की क्या बात है?॥111-112॥

पहले के (प्राचीन) सम्प्रदाय से जैसा कि हमने सुना है, पुराकाल में भी चौदह पूर्वों को संस्कृत (संस्कार युक्त) किया गया है॥113॥

प्रज्ञा की अतिशयता से साध्य वे 'पूर्व' काल के प्रभाववश विनष्ट हो गये। अधुना सुधर्मास्वामी द्वारा प्रोक्त ग्यारह अंग सुरक्षित हैं॥14॥

बालक, स्त्री, मूढ़, मूर्ख आदि लोगों के अनुग्रह के लिए उन (सुधर्मास्वामी) ने उक्त अंगों को प्राकृत में रचा। इसमें आपलोगों की अनास्था कैसी?॥15॥

वचन-दोष से पूज्यों ने प्रचुर कल्मष (पाप) अर्जित किये हैं। स्थविरों ने शास्त्र के माध्यम से इस सन्दर्भ में प्रायश्चित्त का विधान किया है॥16॥

उन्होंने कहा-बारह वर्षों तक गच्छ का त्याग करके जैनचिह्न को छिपाकर वह दुःसाध्य तप करते रहे हैं॥17॥

जिनकी आज्ञा से किये गये 'पारांचिक' नामक प्रायश्चित्त द्वारा इस महापाप की शुद्धि सम्भव है। अन्यथा तिरस्कार झेलना पड़ेगा॥18॥

आप यदि कोई अद्भुत जैन प्रभावना करते हैं, तो उन पूज्यों द्वारा कथित अवधि के भीतर ही अपने पद को प्राप्त कर लेंगे॥19॥

तब वह सात्त्विक-शिरोमणि सिद्धसेन संघ से पूछकर अपने व्रत को धारण करते हुए गण का त्याग कर दिया॥20॥

और, इस प्रकार विहार करते हुए उनके सात वर्ष हो गये। एक दिन विहार के क्रम में वह उज्जयिनी नगरी गये॥21॥

राजा के भवन के पास जाकर उन्होंने द्वारपाल से कहा-मेरे शब्दों में विश्वविख्यात राजा को मेरे आने की बात सूचित करो॥22॥

बात इस प्रकार है-

दर्शन की इच्छा से भिक्षु द्वार पर आकर खड़ा है। वह हाथ में चार श्लोक लिये हुए है। क्या वह भीतर आये या चला जाये॥23॥

तब राजा ने गुण के प्रति पक्षपातवश उन्हें बुलवाया। स्वामी की अनुमति से वह दरबार में प्रवेश कर बोले॥24॥

कथन इस प्रकार है-

यह अपूर्व धनुर्विद्या आपने कहाँ सीखी है? खोजनेवाला उस (विद्या) के पास जाता है तो वह दूसरी दिशा में चला जाता है॥25॥

ये सातों जलराशि (समुद्र) पानपात्र के समान हैं और तीनों भुवन जिसके यश-रूप राजहंस के पिंजरे के समान हैं॥26॥

सब समय सबकुछ देनेवाले हैं, ऐसा विद्वान् लोग मिथ्या स्तुति करते हैं। शत्रु लोग अपने शत्रु की स्त्रियों की पीठ ही पा सकते हैं, वक्ष नहीं॥27॥

आपके अनेक भय में एक ही वह भय प्रमुख है-जिसे सदा आप शत्रुओं को देते हैं, पर वह (भय) आपको है ही नहीं, यही बहुत बड़े विस्मय की बात है॥28॥

इन श्लोकों द्वारा पूज्यादरणीय राजा की स्तुति करने पर राजा ने उन (सिद्धसेन) से कहा- जहाँ आप हैं, वह सभा धन्य है। मेरे दरबार की भी यही स्थिति है॥29॥

राजा के समीप जब वह थे, तभी उस (राजा) ने, सम्मानपूर्वक यह कहा। वह दक्ष कृती राजा उनके साथ कुडंगेश्वर के पास गया॥30॥

एक दिन द्वार खोलकर राजा के पीछे-पीछे आते हुए उनसे राजा ने पूछा-देवता

के प्रति आप अवज्ञा क्यों करते हैं? और उन्हें प्रणाम क्यों नहीं करते हैं? तब वह बोले- हे राजन्! सुनें-महान् पुण्यवान् पुरुष आपके समक्ष ही मैं कहता हूँ॥131-132॥

प्राकृत जनों से बात करके कौन अपनी धूक सुखाये? असहिष्णु वह मुझे क्यों प्रणाम करेंगे?॥133॥

जो मेरे प्रणाम के प्रति सहिष्णु हैं, वे कुछ और ही देवता हैं। क्या होनेवाला है, यह सोचने के पहले आप प्रणाम करें- इस प्रकार कौतुकी राजा ने कहा॥134॥

आप अपने प्रणम्य देवता को दिखायें-इस प्रकार बोलते हुए राजा ने कहा। (सिद्धसेन ने कहा-) हे राजन्! इसमें यदि कुछ उत्पात हो तो मेरा दोष नहीं है॥135॥

राजा ने कहा- देशान्तरवासी अद्भुतवादी होते हैं। हे मुनिवर! देवता धातुनिर्मित देही को प्रणाम करने में असमर्थ होते हैं क्या?॥136॥

यह सुनकर (आसन पर) बैठे हुए प्रभु ने शिवलिंग की स्तुति के श्लोक उच्च स्वर में उच्चारित करने लगे॥137॥

स्तुति का अर्थ इस प्रकार है-

एक आपने जिस प्रकार तीनों भुवनों को प्रकाशित किया है, उस प्रकार हे नाथ! समस्त श्रेष्ठ तीर्थों के अधिपतियों द्वारा भी वैसा नहीं किया जा सका है॥138॥

जिस प्रकार एक चन्द्रमा समस्त लोक को उजागर करते हैं, उस प्रकार क्या समस्त तारक-समूह भी वैसा कर पाते हैं?॥139॥

आपकी बात से भी किसी को बोध नहीं होता, यह मेरे लिए विस्मय की बात है; सूर्य की किरणें किनके लिए अबोध होती हैं?॥140॥

स्वभावतः अपरिष्कृत चित्तवाले उल्लू को सूर्य की चमकती किरणें भी अन्धकार जैसी लगती हैं- यह हमारे लिए अद्भुत बात है॥141॥-इत्यादि।

‘न्यायावतारसूत्र’ तथा ‘वीरस्तुति’ के अतिरिक्त बत्तीस और तीस श्लोक-प्रमाण अन्य स्तुतियाँ एवं चौबालीस वृत्तों की स्तुति भी उन्होंने प्रस्तुत की और फिर जिनशासन में प्रसिद्ध ‘कल्याणमन्दिरस्तोत्र’ से भी (‘जिन’ की) स्तुति की॥142-143॥

इस स्तोत्र के ग्यारह वृत्त (छन्द) पढ़ते-पढ़ते धरणेन्द्र आ उपस्थित हुए। ऐसे लोगों की दृढ़ भक्ति से साध्य क्या नहीं है?॥144॥

उस स्तुति के प्रभाव से शिवलिंग से धुआँ निकलने लगा। घने अन्धकार से दोपहर में भी रात हो आई॥145॥

सभी लोग विह्वल हो उठे, दिशा का ज्ञान भी नहीं रहा, पत्थर के स्तम्भों और दीवारों में लोग बार-बार टकराने लगे॥146॥

तदनन्तर, धरणेन्द्र की कृपा से उन स्तम्भों से आग की लपट (ज्वाला) निकलने लगी। वह लपट ‘ज्वाला’ समुद्र में संवर्तक नाम की लहर जैसी थी॥147॥

तदनन्तर, पुरुषोत्तम विष्णु के हृदय में स्थित कौस्तुभ (मणि) के समान प्रभु श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हो आई॥148॥

तदनन्तर, परम भक्तिपूर्वक नाथ को स्तुतिपूर्वक प्रणाम निवेदित कर मेरे प्रणाम के प्रति सहिष्णु इन मुक्तात्मा देवों ने राजा को प्रतिबोधित कर शासन की प्रभावना की तथा विशाला नगरी में प्रवेशोत्सव आयोजित किया॥149-150॥

तदनन्तर, पाँच वर्ष के बाद, संघ ने इस उत्सव के आयोजन को स्थगित कर दिया और श्रीमान् सिद्धसेन दिवाकर को प्रकट किया॥151॥

कुछ दिनों तक शिवलिंग से साँप के फण-निकलते रहे। बाद में मिथ्यावादी लोग उस फण को कुचलते रहे॥152॥

एक दिन, बलपूर्वक की जानेवाली बुद्धि की प्रतिबद्धता से रहित प्रभु संघ-रूप सरोवर के कमल-स्वरूप राजा से पूछकर (अनुमति लेकर) विहार करने चले गये॥153॥

7. विद्वान् जैन यतियों के साथ दक्षिण में संचरण करते हुए वह (प्रभु) भृगुकच्छ नगर के निकट स्थित प्रदेश में पहुँचे॥154॥

तब, वहाँ बिल्कुल निकटवर्त्ती ग्राम में गोशाला के रक्षक, जो धर्म सुनने के आकांक्षी थे, सूरि के साथ आ मिले॥155॥

कहीं भी रह जानेवाले हमें आप स्थिर आश्रय प्रदान करें। मार्ग-परिभ्रमण के श्रम से क्लान्त हम श्रान्ति को दूर करनेवाले आपसे क्या कहें?॥156॥

वे आग्रहपूर्वक बोले-पेड़ की छाया में विश्राम करके हम आपके लिए गोरस-तुल्य व्याख्यान प्रस्तुत करेंगे॥157॥

तब, अतिशय अभ्यस्त सूरिजी गीत-विशेष के साथ तालमेल-पूर्वक घूम-घूमकर ताली देते हुए संचरण करने लगे॥158॥

प्राकृत में निबद्ध रास तत्क्षण प्रस्तुत कर वे बोले- वैसे लोगों के प्रति बोध के लिए ऐसी ही प्रस्तुति उचित है॥159॥

जैसे-

नवि मारिअइ नवि चोरिअइ

परवारह अत्थु निवारिअइ।

थोवाइवि थोवं दाइअइ

तउ सगिग दुगुदुगु जाइअइ॥160॥

अर्थात्, न मारें, न चोरी करें, न ही परस्त्री के साथ सम्बन्ध रखें। थोड़ा-थोड़ा ही दान करें तो स्वर्ग-प्राप्ति सुलभ हो जायेगी॥160॥

उन वचनों से प्रतिबोधित वे वहाँ के गाँव में प्रविष्ट हुए। वह गाँव धन-धान्य आदि से परिपूर्ण था और उस (गाँव) का नाम 'तालारासक' था॥161॥

तब सूरि ने वहाँ नाभिपुत्र आदिनाथ की प्रतिमा से युक्त जिनाधिपति के गगनचुम्बी मन्दिर का निर्माण कराया॥162॥

स्थायी रूप से स्थापित उस मन्दिर को आज भी भव्यजन प्रणाम करते हैं। उस मन्दिर की वैसी प्रतिष्ठा है कि इन्द्र भी उसकी अवहेलना नहीं कर सकते॥163॥

8. इस प्रकार प्रभावना करके वह भृगुपुर चले गये। वहाँ श्रीबलमित्र के पुत्र राजा धनंजय रहते थे॥164॥

भक्तिपूर्वक उसने उनको सम्मानित किया। एक दिन वह शत्रुओं से उत्पीड़ित हुआ। और अमर्यादा के सागर-स्वरूप उन शत्रुओं ने शीघ्रता से नगर को घेर लिया।॥६५॥

कम सेना के कारण भयभीत वह राजा धनंजय प्रभु की शरण में आ गये। उन्होंने (प्रभु ने) तेल के कुएँ में एक सेर सरसों अभिमन्त्रित करके फेंका।॥६६॥

उन सभी सरसों से असंख्य योद्धा बनकर कुएँ से बाहर निकल आये। शत्रुबल के नष्ट होने पर वे विरोधी भी मारे गये।॥६७॥

उनका सिद्धसेन यह नाम पूरे कुल में श्रेष्ठ था। राजा ने वैराग्यवश उनके निकट व्रत ग्रहण कर लिया।॥६८॥

इस प्रकार प्रभावना करते हुए वे कवि-समूह में सम्मान प्राप्त करके दक्षिणापथ-स्थित प्रतिष्ठानपुर पहुँचे।॥६९॥

आयु के क्षय को जानकर सिद्धसेन दिवाकर योग्य शिष्य को अपने पद पर प्रतिष्ठित कर प्रायोपवेशनपूर्वक स्वर्ग चले गये। फलतः, संघ को अनाथता की व्यथा प्राप्त हुई। वैसे पुरुषों के विरह में कौन सचेतन ऐसा है, जो दुःखी न होगा?॥७१॥

कोई वैतालिक (चारण) उस नगर से विशाला गया। वहाँ वह प्रभु की सिद्धश्री नाम की बहन से मिला।॥७२॥

वहाँ उसने अनुष्टुप् के दो आनन्द-हीन पद कहे और अपनी बुद्धि से अनुमान कर उत्तरार्द्ध भी कहा।॥७३॥

जैसे-सम्प्रति दक्षिणापथ में वादी खद्योत की तरह फड़फड़ा रहे हैं। सिद्धसेन दिवाकर जैसे वादी निश्चय ही अस्त हो गये।॥७४॥

उस (सिद्धश्री) ने भी शरीर की नश्वरता को सोचकर अनशन व्रत धारण कर लिया और विद्वान् जैनमुनि द्वारा विहित आराधना से सद्गति प्राप्त की।॥७५॥

यहाँ, प्रभु श्रीपादलिप्त तथा गुरु वृद्धवादी एवं श्रीविद्याधर के वंशजों के कर्णधारों के सम्बन्ध में कहा जा रहा है।॥७६॥

श्रीविक्रमार्क से एक सौ पचास संवत्सर से भी आगे जाकुटियों के उद्धार के लिए श्राद्ध आयोजित करने पर, श्रीरैवत पर्वत के शिखर पर स्थित नेमि-भवन के वर्षा से ढहे हुए मठ की प्रशस्ति से यह उद्धृत है।॥७७-७८॥

इस प्रकार, प्राचीन कवि द्वारा निर्मित शास्त्र में से सुनकर कविश्रेष्ठ वृद्धवादी तथा कवीन्द्र सिद्धसेन इन दोनों शास्त्रार्थकुशल विद्वानों का चरित्र आपके लिए बुद्धि और मोद का दायक हो।॥७९॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप, श्रीराम और लक्ष्मी से उत्पन्न श्रीप्रभाचन्द्रसूरि ने अपने मन में पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर चढ़ने का संकल्प किया और उसी क्रम में प्रद्युम्नसूरि द्वारा अवलोकित एवं वृद्ध सिद्धों द्वारा आश्रित (उक्त मनीषियों के) सुचरित का आठवाँ शृंग (शिखर) समाप्त हुआ।॥८०॥

॥ श्रीवृद्धवादिसूरि का प्रबन्ध (चरित) समाप्त ॥



श्रीहरिभद्रसूरिचरित

1. उन हरिभद्रसूरि की जय हो, जिन्होंने कार्तिकेय के समान अपनी शक्ति से शत्रुओं को अधिकृत कर लिया था; जिन कार्तिकेय की उत्कृष्ट बुद्धि के मद का लक्ष्य तारकासुर का भेदन था; कृतिका नक्षत्र में जन्म लेने से उस (नक्षत्र) की शोभा उन कार्तिकेय के अंग में थी॥1॥

काम-मोह-रूप शत्रु के समुद्र का विनाशक के रूप में जो अतिशय प्रसिद्ध थे और स्थिर परिचय के कारण अति समृद्ध मिथ्याग्रह के जल में उगते पर्वत की वृद्धि में भी विघ्नस्वरूप थे॥2॥

मुनियों में कुबेर की तरह विराजनेवाले 'जिनघट' मुनि-रूप कलश से हरिभद्रसूरि उत्पन्न हुए थे। उनके ही श्रेष्ठ चरित का वर्णन यहाँ मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिन्होंने बचपन से ही अपनी भक्ति की लघुता को मूल्यहीन कर दिया था॥3॥

पूरा अमावस कर देने के उपकार से (प्रसन्न) चन्द्रमा ने सूर्य को निमन्त्रित किया (आदर दिया)। क्योंकि अपनी रमणीय कान्ति से दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली रत्नराशि रात्रि में ही चमकने में समर्थ होती है॥4॥

अपने शिर (शिखर) पर निवास देनेवाला चित्रकूट पर्वत (प्रसिद्ध) है, जिसपर देवगण आश्रय लेते हैं। संसार के उपकारक सूर्य और चन्द्र को बहिष्कृत करनेवाला वह (पर्वत) मेरु पर्वत को शिथिल भाव से देखता है (अर्थात् चित्रकूट पर्वत मेरु पर्वत को भी मात करता है)॥5॥

वह चित्रकूट पर्वत पुरुषोत्तमेश (राम) का बहुत बड़ा लीला-भवन है। अतएव, वह अनेक जीवों का आश्रय है। उस चित्रकूट पर जो श्रेष्ठ नगर है, वह स्वर्ग को भी तृणवत् (तुच्छ) मानता है॥6॥

वहाँ जितारि नाम का राजा राज्य करता था। वह शरीर से हरि-हर का ही रूप धारण करता था। पृथ्वी की रक्षा की दक्षता में उसका अखण्ड नाम था। उसने असुर-स्वामियों के समूह का विनाश कर दिया था॥7॥

वह चौदह प्रकार की विद्याओं के अध्ययन की उन्नति में लगा रहता था। अग्निहोत्र के द्वारा यज्ञाग्नि को जागरित रखता था। उसकी बुद्धि अतिशय तरल थी। वह राजा का जाना-सुना पुरोहित स्वनामधन्य हरिभद्र नाम से प्रसिद्ध था॥8॥

दूसरे को पराभूत करने की बुद्धि के भारी घमण्ड के कारण धरती, आकाश और जल में रहनेवाले बुधजनों को जीतने का अभिलाषी उसने पराभव की खिड़की की सीढ़ी के बावजूद तीसरा ही मार्ग अपनाया था॥9॥

शास्त्र के प्रवाह से पेट न फट जाय, यह सोचकर उसने पेट पर सोने का पट्टा डाल रखा था। इस जम्बूद्वीप के क्षिति-मण्डल में मेरे समान बुद्धि का कोई नहीं है, इसलिए जम्बूलता को धारण करता था॥१०॥

इस संसार में, मेरे जानते, ऐसा कोई नहीं पैदा हुआ है, जिसका मैं शिष्यत्व प्राप्त करूँ। इस प्रकार की गई उसकी प्रतिज्ञा दुस्तर थी। वह अपने को कलिकाल का सर्वज्ञ मानता था॥११॥

2. अनन्तर, वह मार्ग में भ्रमण करता था, सुखासन पर बैठता था, बहुत सारे पाठक-वर्ग से घिरा रहता था, उसकी कपोल-पालि भ्रमर-कुल से व्याप्त थी और मदजल के कीचड़ से धरती दुर्गम हो गई थी॥१२॥

बाजार और घरों के टूटने (ध्वस्त होने) के भय के भ्रम से लोग अतिशय शोक से व्याकुल दिखते थे। वे कुमरण के भय से डरे हुए थे, और शीघ्र नष्ट होते हुए मनुष्य और चौपायों से राह सूनी हो जानेवाली थी॥१३॥

विपत्तियों के सामूहिक चीत्कार के प्रवाह से मर्त्य गृहवासी अतिशय खेद अनुभव कर रहे थे, सिर के जल्दी-जल्दी हिलाने से कम्पित सवारोंवाले हाथियों के झुण्ड दिख रहे थे॥१४॥

बन्दर जिस प्रकार पेड़ की ऊँची फुनगी से तीखी सूर्य-किरणों से तप्त फूलों को चुनकर चंचल स्वभाववश उन्हें फेंक देता है, उसी भाव से वह ब्राह्मण तीर्थंकर के घर में प्रविष्ट हुआ॥१५॥

मुख्यद्वार की परिधि को देखने के लिए ऊपर नजर उठाये हुए उस ब्राह्मण ने किसी तरह तीर्थपति को देखा। उत्तम अर्थतत्त्व से अनभिज्ञ उसने भुवनपति (तीर्थंकर) के प्रति उपहासपूर्वक कहा-॥१६॥

जैसे-

आपका शरीर ही स्पष्ट कह रहा है कि आपने मिष्टान्न का भोजन किया है। जिस पेड़ के कोटर में आग रहती है, वह हरा-भरा नहीं होता है॥१७॥

श्रेष्ठ राजमार्ग पर हाथी को प्रबोधित कर वहाँ घूमते हुए बटुकों ने व्यवधान पैदा कर दिया। सब कुछ को तृणवत् (तुच्छ) मानते हुए पुरोहित अपना घर चले गये॥१८॥

दूरे दिन, राजभवन से, (राजा को) सलाह देने के कामों को निबटाकर अपने घर की ओर जाते हुए मध्यरात्रि में (पुरोहित ने) एक बूढ़ी स्त्री का मधुर स्वर सुना॥१९॥

स्पष्टबुद्धि और दृढ़प्रतिज्ञ उस पुरोहित ने निःशब्द रात की घड़ी में मन ही मन सोचा कि उसने सुनी हुई, विषम अर्थ से कदर्थित गाथा को (गाथा के मर्म को) नहीं जान पाया है॥२०॥

चक्रधारी (केशव को वन्दनामूलक) वह कूटगाथा इस प्रकार है-

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की।

केसव चक्की केसव दुचक्की केसी य चक्की य॥२१॥

और बोले- हे मातः! इसमें आपने बहुत ही चाकचिक्क भर दिया है। वह बोली-

हे पुत्र! सुनो! यह कहकर उसने गीले गोबर से लिप्त समुचित उत्तर दिया॥22॥

विहित समीचीन उत्तर से चमत्कृत होते हुए वह बोले—तुम यहाँ स्वपठित विचार रखो। हे माँ! मैं तुम्हारे अर्थ को नहीं जान पाया॥23॥

वह बोली—जिनागमों की अध्ययन-विधि में हमारे गुरु की अनुमति है—यदि विवृति प्रस्तुत करने में विचार का इच्छुक नहीं हो तो प्रभु के निकट जायँ॥24॥

यह बात सुनकर उस पुरोहितश्रेष्ठ ने अहंकार छोड़कर सोचा—गुरु-पुरुषों द्वारा उपस्थापित दुष्प्राप्य विषय के बीच इस वाङ्मय में कोई विचार-विधि नहीं है॥25॥

यदि यह जैन साध्वी जिनमत ग्रहण करनेवालों के घर की अटारी में पहुँचती है तो जिनपति मुनि इसके गुरुत्व को मूल्य देते हैं कि यह हमारे लिए वन्दनीया है॥26॥

(यहाँ) आई हुई यह (साध्वी) मेरे लिए सकल परिहारपूर्वक तिरस्करणीया नहीं है। क्योंकि उनके वचन की अपनी प्रतिष्ठा है। घर आकर उन्होंने इस सम्बन्ध में विचार करने में जागकर रात बिताई॥27॥

3. अनन्तर, सुबह होते ही एकाग्रचित्त से वह तीर्थनायक के घर गये। हृदय में वीतराग की प्रतिमा की अवस्थिति के बावजूद बाहर भी प्रतिमा देखकर वह हर्षित मन से स्तुति करने लगे॥28॥

जैसे—

हे भगवन्! आपका शरीर ही आपकी वीतरागता का बखान कर रहा है। जिस पेड़ के कोटर में आग हो, वह हरा-भरा कैसे हो सकता है?॥29॥

अपने अभिमान से कदर्थित-मूर्ति बने तथा दिन की गिनती को व्यर्थ मानते हुए उन्होंने मण्डप में अवस्थित जिनभट सूरि मुनीश्वर को देखा॥30॥

देवेन्द्रों द्वारा वन्दनीय तथा शम की निधि साधुओं की सेवा में तत्पर उन गुरु को देखकर उन्हें तोषण और पोषण (सन्तुष्टि और पुष्टि) की प्राप्ति हुई तथा उनकी कुवासना का अवसान (अन्त) हो गया॥31॥

क्षणभर के लिए वह हक्का-बक्का रह गये। तत्पश्चात् उन ब्राह्मण ने उन गुरु से विमर्श किया, जो अपने शास्त्र और मन्त्र में प्रकट बुद्धि से सम्पन्न थे तथा राजा से समादृत और यशस्वी भी थे॥32॥

मदमत्त हाथी से अवरुद्ध राजमार्ग पर भ्रान्तिवश जिनमन्दिर के भीतर स्थित जिनपति को देखकर अहंकार से व्याप्त हृदयवाला वह उपहासपूर्वक बोला—॥33॥

अब यहाँ उन्होंने पुनः जिनपति की प्रतिमा को आदरपूर्वक देखकर उनकी पूज्यातिशयता से तरंगित मन से पुरानी स्तुति को अन्यथा रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा—॥34॥

अवश्य ही, इसके आगे अवलोकनीय हो, पर उसके बाद मुनीश्वर ने ब्राह्मणश्रेष्ठ से कहा— हे अनुपम बुद्धि के निधि! आपका शुभ हो। कहें, यहाँ आपके आने का निमित्त क्या है?॥35॥

अनन्तर, पुरोहित ने विनम्रतापूर्वक कहा— हे पूज्य जनो! क्या मैं अनुपम

प्रतिभाशाली हूँ? जिनमत का एक प्राचीन वचन मैंने सुना है, जिसका विवरण यहाँ प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है॥36॥

जैनतर शास्त्रों के सम्बन्ध में मैं विचार कर रहा हूँ, न कि चक्री और केशव के सम्बन्ध में। उससे, क्रमशः कहे गये वचन से प्रबोध प्राप्त होता है। मुझे उसका अर्थ स्पष्ट रूप से बतायें॥37॥

अनन्तर, गुरु ने कहा- हे साधु! मैं जिन-समय के विचार की व्यवस्था बता रहा हूँ। हे पुण्यमति! सुनें। दीक्षा लेकर तदनुकूल तपस्या की जाती है॥38॥

यथाविहित विनयकर्म के द्वारा शीर्ष-प्रणत होकर ही अनुयोग प्राप्त किया जाता है। उसकी प्राप्ति अन्यथा न हो, इसलिए उचित आचरण अपेक्षित है, इसलिए आप जल्दी-बाजी न करें॥39॥

अनन्तर, उसने समस्त आसक्ति का परित्याग कर दिया, समस्त परिग्रह को साक्षी बनाकर गुरु के समक्ष घरेलू वेश-भूषा छोड़कर केशलुंचनपूर्वक चारित्र को स्वीकार कर लिया॥40॥

गुरु ने कहा-जाकिनी नाम से प्रसिद्ध मेरी एक गुरु-भगिनी है। वह आगम में प्रवीण एवं यमी और यतिनी (साध्वी) जनों का शिरोभूषण-स्वरूप है। वह महत्तरा (साध्वी जनों की मुखिया) है॥41॥

अनन्तर पुरोहित ने कहा-इसके द्वारा मैं भवशास्त्र में विशारद बनाये जाने पर भी मूर्ख हूँ। अतिशय पुण्यवश अपनी कुलदेवता जैसी उस धर्ममाता से मैं प्रतिबोधित हुआ हूँ॥42॥

गुरु ने कहा- यह मेरा शिष्य साधु-धर्म के सार का जानकार है, सभी महाव्रतों के भार को वहन करने में पटु है, अर्थात् श्रीसम्पन्न धर्म-धुरन्धर है। प्रवर्तमान आगमों के सार के विचार में पारदृष्टा (पारगामी) है॥43॥

राजनयिक शास्त्र में प्रसन्नतापूर्वक पैठने में गतिशील मतिवाला यह इतने दिनों तक रमा रहा। हे मुनीश! आपके अपरिचय से मूर्च्छित यह अपने प्रवाहशील बल को प्रकट करना चाहता है॥44॥

अधुना आप धैर्यशील हैं; शुभ अनुभाव (विश्वास) से शास्त्र-समुद्र के (अवगाहन में) संलग्नचित्त रहते हैं। लक्ष्मी (धन) की अप्राप्ति से भी चिन्ता-विमुक्त और लक्ष्मी के अभाव में भी आप व्यथाहीन हैं॥45॥

गुरु ने यह विचार कर धर्मशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन-कर्म द्वारा प्राप्त भाग्य-रेखा एवं पुण्य कार्य के उपदेश की लीला-रचना द्वारा अच्छे लग्न में अपने पद को मण्डित किया॥46॥

पुरातन परम्परा के अनुचरण में प्रमुख पादलिप्त (आचार्य) के समान यह हरिभद्रसूरि कलिकाल के युगप्रधान के रूप में पैदल चलकर धरती को अतिशय पवित्र करते हैं॥47॥

दूसरे दिन दो भगिनी-पुत्र, पितृकुल के कर्कश वचन से विरक्त हो गये तथा सौ शास्त्रों से युद्ध करनेवाले दोनों ही कुमार चिन्तित होकर बाहर धरती की ओर देखने लगे॥48॥

अनन्तर, गुरु के दोनों चरणों को प्रणाम कर वे दोनों घर से विरक्त हो गये। उन दोनों से उन (गुरु) ने कहा—अगर इच्छा है तो मेरे निकट व्रत का भार वहन करो॥49॥

तत्पश्चात् हंस (परमात्मतत्त्व) को प्राप्त करने पर गुरु ने उन्हें परमहंस की दीक्षा दी। प्रमाणशास्त्र एवं औपनिषदिक शास्त्र के अध्ययन से शुद्ध बुद्धिवाले उन दोनों ने उक्त शास्त्रों की रचना की॥50॥

4. अनन्तर, बौद्ध तर्कशास्त्र के तत्त्वज्ञान की अति उत्कट इच्छा से, धरती से माथा सटाकर (प्रणाम निवेदित कर) दोनों ने अपना सुललित निवेदन विस्तार से प्रस्तुत किया॥51॥

दुष्प्राप्य बौद्धशास्त्र को जानने के लिए सदा श्रम करनेवाले उन दोनों (शिष्यों) ने नगर की ओर संकेत किया कि हम दोनों अपनी बुद्धि के परीक्षण के लिए वहाँ जायेंगे॥52॥

गुरु ने निमित्तशास्त्र से, मन में उत्तर जानकर उनसे कहा—वहाँ जाने से तुम्हारा कल्याण मैं नहीं देखता हूँ, अतः यहीं रहकर अपनी बौद्धिक उपलब्धि का आदर करो॥53॥

वत्स! आप दोनों गुणवान् यतिश्रेष्ठ के निकट रहकर अपने देश में ही अध्ययन करें। अतिशय भास्वर बुद्धि के बावजूद किन्हीं-किन्हीं को ही पराये आगम का ज्ञान होता है॥54॥

कौन ऐसा कुलीन व्यक्ति है, जो गुरु के विना निर्विघ्न रहकर रास्ते में नहीं भटकता है? दुर्निमित्त को कौन जानता है? इसलिए इस दुरन्त (दुःखान्त) कार्य के लिए हमारी अनुमति नहीं है॥55॥

हंस नाम के शिष्य ने हँसकर कहा—यह वात्सल्य तो गुरुजन के उपयुक्त है। फिर भी क्या पूज्यों ने अपने चरणों के प्रभाव से युक्त शिशुओं का परिपालन नहीं किया है?॥56॥

पराये नगर में भी चेतना-सम्पन्न जनों को रास्ते में अपशकुन क्या नहीं होता? आपके नाम का मन्त्र चिरकाल तक जपने से वह हमें खतरे से निरन्तर रक्षा करता है॥57॥

दुर्गम और दूरस्थ देश के शास्त्र की जानकारी या प्राप्ति वहाँ जाने से तथा आगम द्वारा भी सम्भव है। कृतज्ञता की क्षति करने से बढ़कर और कोई दुर्गुण नहीं है। इसलिए यह कृतज्ञता आवश्यक है॥58॥

अनन्तर गुरु ने दोनों शिष्यों से कहा—हित-कथन उचित नहीं होगा। अतएव, इच्छा की पूर्ति के निमित्त चाहे उत्तम कार्य करें, चाहे निन्दित कार्य करें॥59॥

सद्गुरु के गौरवपूर्ण उपदेश को मूल्य न देकर वे दोनों शिष्य सुगतपुर के लिए प्रस्थित हो गये। उन दोनों ने जैन चिह्न को अतिशय गुप्त रखा था। भवितव्यता निश्चित नहीं होती॥60॥

कुछ दिनों में वे दोनों सुगतमत (बौद्धमत) के प्रति प्रतिबद्ध राजधानी पहुँचे। यथा-निर्मित अवधूत-वेष में वे दोनों विद्यार्थी के रूप में मठ में पहुँचे॥61॥

वहाँ अध्ययन-विधि के लिए पवित्रबद्ध विहार थे। वहाँ बहुत बड़ी दानशाला थी। वहाँ सुगत मुनियों के अधिपति शिष्यों को अनवरत यथेच्छ पाठ पढ़ाते थे॥62॥

वहाँ अतिशय सुखभोगपूर्वक अतिविषम बौद्ध शास्त्रों को पढ़ते हुए उन दोनों ने अन्य विद्वज्जनों के लिए दुर्गम अर्थतत्त्व को कुशलता से सूखपूर्वक (आसानी से) प्राप्त कर लिया॥63॥

जिनपति (तीर्थंकर) के मत में स्थित निहितार्थ में जिन दूषणों को दरसाया गया, उन्हें यतियों के निरीक्षण (-शक्ति) की अतिशयतावश अपने आगम-प्रमाणों से खण्डित कर दिया गया॥64॥

उन अतिशय विशद हेतुओं का तीर्थंकर के तर्क-कौशल से दृढ़तापूर्वक परिहार कर तथा दृढ़ता से ही बौद्धमत का निषेध कर उसे दूसरे पत्रकों पर लिखा गया॥65॥

इन्हें तभी एकान्त में लाया गया, तभी जोरों की हवा से ये तितर-बितर हो गये। यहाँ से अन्यत्र चले जाने पर इन्हें दूसरों ने प्राप्त कर लिया। केवल दो पत्रक गुरु के सम्मुख लाये गये॥66॥

इसके कारण की दृढ़ता को देखते हुए, अपने तर्क में उत्कट दूषण की स्थिति से तथा भूषण-स्वरूप जिनपति-मत के पक्ष में, मन में बड़ा भ्रम उत्पन्न हो गया॥67॥

उसने विस्मय के अतिरेकवश कहा—तीर्थंकर का कोई उपासक इसे पढ़ना चाहता है। यहाँ दूसरा कौन फिर मेरे दूषण को भूषित करने में समर्थ बुद्धिवाला है?॥68॥

इस प्रकार की जानने की विधि में कौन-सा उपाय अपेक्षित है, ऐसा वह सोचता रहा। इस प्रकार के अनुष्ठान में निर्मल बुद्धिवाले भी कहीं-कहीं स्थलित हो जाते हैं॥69॥

अनन्तर, मिथ्या आग्रह-रूप समुद्र में पूर्ण चन्द्र की भाँति शोभित होनेवाले इसकी बुद्धि में यह बात आई तो वह अपनी से बोला—नगर में मुख्य द्वार पर रास्ते में जिनेश की प्रतिमा स्थापित की जाय॥70॥

तदनन्तर, उस प्रतिमा के माथे पर दो पैर रखकर समागम (सम्मिलन) करना चाहिए। इसे यहाँ यदि कोई प्रमाणित नहीं करेगा, तो मेरे समक्ष वह अध्ययन मत करें॥71॥

विश्रुतल और खल (दुष्ट) उन सभी बौद्धों ने इस गुरु-वचन को यथावत् स्वीकार कर लिया। अनन्तर मन में महती पीड़ा-प्राप्ति की स्थिति में उन दोनों ने विचार किया कि यह तो हमारे लिए प्रकट संकट है॥72॥

जब प्रतिमा के माथे पर काँटेदार पैरों को लक्ष्य किया, तब फिर इस निर्वय मानस-पाठकों से जीवन की आशा नहीं रही॥73॥

उन सद्गुरु हरिभद्र मुनिश्रेष्ठ के चरणों की हम पूजा करते हैं। अनागत पापातिशय को विचार कर पहले ही जिन्होंने यात्रा-विधि का निषेध कर दिया था॥74॥

हम दोनों के लिए उस विनय का ही उग्र फल प्रकट हुआ है, यह निश्चित है। दैव का निर्णय नियम-पूर्वक नहीं चलता है, अपने जन्म में कलंक की स्थिति मृत्यु के बराबर है॥75॥

श्रीजिनपति के माथे पर पैरों का रखना नरक-फल के समान है, इसलिए ऐसा नहीं करूँगा। मेरे पैर भले ही सड़ जायँ, नष्ट हो जायँ, पर उन्हें जैन (तीर्थंकर) के शरीर में नहीं लगा सकता हूँ॥76॥

मैं जैसे-तैसे मृत्यु को प्राप्त कर लूँ, यह मेरा साहस ही माना जाना चाहिए, यह मेरा अतिशय दृढ़-निश्चय है। मेरे लिए यही प्रतिकार-परक विधेय (कर्तव्य) है॥77॥

तदनन्तर, दोनों ही जनेऊ को खड़िया जैसा बनाकर, स्पष्ट रूप से जिन-प्रतिमा की छाती तथा सिर पर पैर रखकर चले गये, जिन्हें पूर्ण संयम में स्थित बौद्धों ने देखा॥१७८॥

क्रोध एवं घमण्डपूर्वक भेंगी आँखों से उन अति-कुशल बौद्धों ने उन दोनों को देखा। गुरु ने कहा-ओह! मैं पुनः बौद्ध द्वेषियों की दूसरी परीक्षा लूँगा (करूँगा)॥१७९॥

मैं आज अतिशय स्थिर मन से कहता हूँ, प्रतिक्रिया या प्रतिशोध के प्रति आदरभाव नहीं रखना चाहिए। देवता के माथे पर पैर रखने जैसे कार्य को समता-बुद्धि के निधिस्वरूप पुरुष कभी पसन्द नहीं करेंगे॥१८०॥

अनन्तर, इस सन्दर्भ में धारण किया गया जनेऊ प्रतिकार के लिए दृढ़ता का चिह्न है। दूसरा कोई दृढ़ मतिवाला ऐसा नहीं करेगा, जैसा घोर दुष्कर्म से डरा हुआ मनुष्य करता है॥१८१॥

दूसरे नगर से आये हुए विद्यार्थियों को यहाँ मुझे कदर्थित नहीं करना चाहिए। इसमें कुयश (अपयश) होता है। प्रतिक्रिया में कुत्सित मानसिकता से परीक्षा नहीं करनी चाहिए॥१८२॥

उनकी वह बात सुनकर वे स्थिर हो गये। गुरु ने उन लोगों को रोक लिया। सोने की जगह पर या घर के ऊपरी भाग में रहनेवालों के लिए, हर दिशा में, एक ही पहरेदार को रखा॥१८३॥

तब, रात्रि में, तीर्थकर-रूप गुरु की शरण में परमेष्ठी का स्मरण करते हुए दोनों ही सो गये। उन दोनों की अनिच्छा के बावजूद विकलता की घड़ी में भी सुलभ निद्रा आ गई॥१८४॥

तभी, पृथ्वीतल से ऊपर उठी विस्तृत घटाओं को उन्होंने विमुक्त कर दिया। 'खडखडखड' आवाज के साथ अतिशय कर्कश स्वर में चिल्लाते हुए उन्होंने शय्या का त्याग कर दिया॥१८५॥

वे दोनों अद्भुत उतावली के साथ अपनी-अपनी कुलदेवी का नाम लेने लगे। उनका जैन नाम नरयुगल माना गया है, ऐसी आवाज हुई॥१८६॥

अनन्तर, साहसिकता के कारण उत्पन्न मृत्यु-भय से उन्होंने श्रेष्ठ उपाय सोचा-बड़े-बड़े छातों से दोनों ने अनवरत रूप से अपनी देह को आवृत कर लिया॥१८७॥

अनन्तर, उन दोनों ने दो रोएँ के समान अपने अंग को ऊपरी भूमि से पृथ्वी पर छोड़ दिया। अपनी उदग्र बुद्धि से वे दोनों अक्षत शरीर रहकर सकुशल नरम बिछावन से जैसे उठ खड़े हुए॥१८८॥

धीरे-धीरे डग भरते हुए दोनों उस नगर से जल्दी ही निकल गये। मन की शक्तिवश का गई अज्ञात यात्रा में अच्छी तरह प्रयोग में लाई गई बुद्धि भी किसे नहीं छलती है?॥१८९॥

'मारे गये, मारे गये' ऐसा बोलते हुए उनके ये योद्धा उनके पीछे-पीछे चल पड़े। अत्यन्त समीप आने पर हंस ने अपने छोटे भाई से कहा-॥१९०॥

जल्दी जाओ और प्रणामपूर्वक गुरु से कहो कि हमारे दुष्कृत मिथ्या हों। कुविनय से अकथित रूप में किया गया मेरा अपराध क्षन्तव्य है॥१९१॥

यहाँ सूरपाल नाम का शरणागतवत्सल राजा रहता है। यह नगर सदा इस राजा की

दृष्टि में रहता है। इसलिए (तुम) इसके सन्निकट जाओ॥92॥

इस प्रकार, तत्क्षण उसे विदा कर दिया गया, फिर भी हजार शत्रुओं से एक साथ युद्ध करनेवाला वह एक क्षण के लिए ठहरा रहा। हंस इनके साथ शरीर के भ्रमत्व का त्याग कर हठपूर्वक (शत्रु से) हरण किये गये धनुष और बाणों से युद्ध करता रहा॥93॥

अत्यधिक बाण लगने से उसका शरीर छलनी हो गया। शत्रुओं के बाणों से उसका वन्दनीय रक्त पृथ्वी पर गिरा, तदनन्तर वह निष्प्राण हो गया॥94॥

मोहवश भाई इसके सामीप्य को न छोड़ता हुआ, उसके मृत्यु-काल की दयार्द्र बातों के अनुसार, जल्दी-जल्दी पैदल चलकर सूरपाल राजा के पास पहुँचा॥95॥

जब वह राजा की शरण में पहुँचा, तभी पीछे-पीछे हजारों शत्रु पहुँच गये और उन्होंने राजा से कहा कि यहाँ आये हुए हमारे शत्रु को हमें सौंप दें॥96॥

वह राजा बोला-मेरी भुजा-रूप पिंजरे में स्थित इसे बलपूर्वक कौन ले जा सकता है? अन्यायी हो या एकनिष्ठ न्यायी हो, मैं इसे उसके हाथों नहीं सौंप सकता॥97॥

सुगत-मत के अनुयायी योद्धाओं ने कहा-पराये देश के राजा के लिए तुम हमारे राजा का कोपभाजन बनकर धन, सोना और समृद्ध राष्ट्र और राज्य को क्यों गँवाना चाहते हो?॥98॥

राजा ने उत्तर में कहा- मेरे श्रेष्ठ पुरुषों ने जो व्रत लिया है, तदनुसार मैं मरूँ या जीऊँ, पर शरणागत की रक्षा का नियम नहीं छोड़ूँगा॥99॥

मेरी बुद्धि स्पष्ट है, और मुझे प्रमाणशास्त्र भी ज्ञात है, इसलिए इसे मैंने संरक्षण दिया है। दूसरा उपाय यही है कि युद्ध की रीति से इसे पराजित कर जय या पराजय का निर्णय किया जाय॥100॥

अनन्तर, उनके उस वाक्पटु अधिपति ने हमें यह प्रियवचन कहा-जिसने सुगत के माथे पर अपने दोनों पैर रख दिये, उसका मुख नहीं देखना चाहिए॥101॥

फिर भी यदि उसमें शक्ति है, तो वह शीघ्र अन्तवर्ती कारणों को प्रस्तुत करे। अगर वह अपने कौशल से जीत भी जाता है, तो भी वह निश्चित ही पराजित है और वध के योग्य है॥102॥

अनन्तर, घड़े के मुख से निकलनेवाले स्वर में जैसे बोलनेवाली, एकान्त में स्थित, तथागत के शासन की अधिष्ठात्री देवी ने कहा-यहाँ स्वयं हरिभद्रसूरि का शिष्य उपस्थित है, फिर भी दोनों (गुरु-शिष्य) में मेल नहीं है॥103॥

फिर उसने विचार किया-छल में एकनिष्ठ विद्वान् भी सुगत के मत की जानकारी में समर्थ नहीं है। यदि यह घटना सत्य होती है तो मेरा वचन भी उनके आगे असत्य नहीं होगा॥104॥

अनन्तर, बहुत दिनों तक होनेवाले वाद-विवाद से दुःखी वह कृती पुरुष परमहंस विषाद में पड़ गये। अपनी गणशासनदेवता अम्बा भी उन्हें भारी संकट में पड़ा हुआ जानकर विषाद में पड़ गई॥105॥

तब जिनमत के रक्षण को अपना एकमात्र लक्ष्य बनानेवाली इस देवी ने स्मरण-वश कहा- हे गुरु-सत्त्व के मूलाधार-स्वरूप वत्स! इस पाप-भार से मुक्ति के बारे में सुनो॥106॥

तारा सुगतमत की देवी के समान है। वह सदा त्रुटिहीन वचन बोलती है। देवताओं के साथ विवाद करनेवाले समृद्ध सत्त्व से सम्पन्न आपके सिवा दूसरा कौन मनुष्य है?॥107॥

आज ही तुम, दम्भपूर्ण बात करनेवालों में अद्वितीय उसे प्रत्युत्तर में कहो कि प्रतिकथनपूर्वक बोलना चाहिए, इसके बिना वाद (शास्त्रार्थ) की प्रक्रिया या पद्धति कैसी?॥108॥

अधुना वह छल ही है कि उससे पूर्ण प्रकट रूप से जय सम्भव होता है। वह बोला—हे माता, यहाँ आपके बिना मेरा कौन है, जो सिद्धि प्रदान कर सकती है?॥109॥

इस प्रकार समुचित उत्तर देकर दूसरे दिन उसने देवी के निदेश का पालन किया। प्रतिवादी के मौन हो जाने पर उसने ऊपर परदा तान दिया॥110॥

वैपरीत्य का आश्रय लेकर उसने पैर के प्रहार से कलश को टुकड़े-टुकड़े कर दिया और बोला—सज्जनों के अभाव में अनाप-शनाप बोलनेवाले आप सभी अधम विद्वज्जन हैं॥111॥

उस राजा ने कहा— वध करने की बुद्धि रखनेवाले सभी के सभी अमित्र (शत्रु) हैं॥112॥

अनन्तर, आप कुनीति का विस्तार करें, और मैं उसे नहीं सहन कर सकूँ तो यह सुनिए—युद्धभूमि में पराजित कर मुझे जो पकड़नेवाला है, उसकी यथाप्राप्त लक्ष्मी पतनशील है॥113॥

तदनन्तर, आँख के इशारे से विद्वान् ने पलायन का मन बना लिया और फिर, धीरे-धीरे पलायन कर गया। मृत्यु के भय से व्याकुल कौन नहीं विनाश को प्राप्त करता है?॥114॥

तेज पगों से बाहर जाते हुए उसने एक धोबी को देखा। घुड़सवारों के नजदीक आने पर उनसे कहा कि यहाँ से तुम सभी चले जाओ; क्योंकि यहाँ आकस्मिक आक्रमण होनेवाला है॥115॥

अपनी बुद्धि-रूप धन के नष्ट हो जाने पर उसने कपड़ा धोने का काम शुरू किया। चंचल घुड़सवार ने कहा कि इस रास्ते से एक भी आदमी नहीं गया है॥116॥

उसने वहाँ एक त्वरायुक्त धोबी को दिखलाया। उसने उसे पकड़कर शीघ्र ही अपने सैन्य-समूह को सौंप दिया और उसकी बात से सेना को कूच करने का आदेश दिया॥117॥

अपने स्पष्ट बुद्धि-बल के तत्त्वावधान में निर्भय मन से वह चित्रकूट की ओर चल पड़ा। गुरु के चरण-कमल के दर्शन के लिए उत्कण्ठित वह कुछ ही दिनों में वहाँ पहुँच गया॥118॥

कुछ और ही है, इस भाव के साथ अपने प्रभु की कार्यसिद्धि से उसने उस राजा को सान्त्वना प्रदान की। उग्र पौरुष से सम्पन्न होते हुए भी कौन पुरुष छोटे कामों में भी मजबूत सहायक का परित्याग करता है॥119॥

अनन्तर अपने गुरु के सम्पर्क-रूप अमृत से तृप्त इन्द्रियोंवाला उसने (गुरु के) चरणों को सिर से लगाकर प्रणाम किया। गुरु ने उसका दृढ़ता से आलिंगन किया और तब

आँसू बहाते हुए उसने तत्क्षण गुरु से कहा॥120॥

मैं गुरुजन की बात को स्मरण करता हूँ, जिन्होंने परदेश जाने का निषेध किया था। प्रभो! इस वाक्या को सुनें— जो कुविनयवश शिष्यजनों के मुख से निकला है॥121॥

उसने अपने गुरु और बन्धु की निर्जीवता (मृत्यु)–पर्यन्त चरित को कह सुनाया। कहने के क्रम में ही उसका कलेजा फट गया। इस प्रकार, बलवान् मोह ही जानलेवा सिद्ध हुआ॥122॥

5. हरिभद्रसूरि ऐसा विचार करते हैं— क्या मेरा संकट अद्भुत रूप में उपस्थित हुआ है? उपचार–रहित वीतराग की भक्ति का ही यह निस्सन्तानता–रूप मानसिकता का फल है॥123॥

(वे दोनों शिष्य) अतिनय निर्मल कुल में उत्पन्न हुए थे, विनीत तथा यम–नियम के प्रति उद्यमशील और प्रवीण थे, जैनतर मत के विजय से प्रकाशित सदसद्विवेकिनी बुद्धि के सौरभ से वे सुशोभित थे तथा उनके चरण विद्वानों द्वारा पूजित थे॥124॥

पराये देश में स्थित शास्त्रज्ञान के रसवश (अनुरागवश) वे दोनों दूर की यात्रा पर गये। दोनों ही मद के सुकृतवश जीवन के अन्त को प्राप्त हुए। दुरन्त कर्म को धिक्कार है?॥125॥

विनय और शम को मैं स्मरण करता हूँ। गुरुपद की सेवा यहाँ क्या अद्भुत है? यहाँ मेरे जैसे मन्दभाग्य द्वारा की गई सेवा अवश्य ही उनके जैसा के लिए विचारणीय है॥126॥

मुख के ग्रास से जिसकी देह की वृद्धि हुई है, अभी जिसके पंख निकल रहे हैं, ऐसे गौरैया पक्षी के शिशु के समान सपक्षता के अवसर को पूरी तरह जानकर वे दोनों दृष्टि–पथ के अतीत हो गये॥127॥

यह देह पापों का निवास है, सुचरित–रूप शुष्क तृण के लिए दवानल की लपट है, वियोगपूर्णता की स्थिति में भी सुशिक्षा की प्राप्ति के लिए ही अधुना यह (देह) धारण की जाती है॥128॥

अज्ञान–नाशरूप किसी निर्वृति (मोक्ष)–विशेष को प्राप्त करने के लिए धारणीय प्राण सुललित वचन और विनेयता—इन दोनों के विना कष्टदायक बोझ के समान है॥129॥

इस प्रकार विमर्श करते हुए ही सौगतों पर अपने कुलानुरूप प्रकाश–निक्षेप हुआ। सुविहित कर्म के द्वारा भी सहज अभिजनता बड़े–बड़ों के लिए भी साध्य नहीं है॥130॥

अनन्तर उसने कहा—गृहस्थ द्वारा अतिशय विनयी और विनेय को कष्ट पहुँचाने की अपराधपूर्ण चित्त–निवृत्ति अद्भुत है॥131॥

शास्त्र–विहित नीति में भी उचित ही कहा गया है कि शत्रुओं का निवारण समस्त बल से करना चाहिए। जो इस लोक में मन में शल्य (कष्ट) के साथ मृत्यु को प्राप्त करता है, उसकी परजन्म की गति निर्मल नहीं होती है॥132॥

जिनपति के शासन में भी यह सम्यक् रूप से कहा गया है कि (शरीर से) नहीं निकाला गया शल्य भारी दोष का उत्पादक होता है। बहन के पुत्र (भागिनेय) के धर्षण

(सताने) से उत्पन्न रोषवश सुगतमत के माननेवाले मृत्यु के पात्र हैं॥133॥

इस प्रकार, बुद्धियुक्त चित्त से, स्वेच्छापूर्वक गुरु से अनुमति लेकर वह विना सहायक के चला गया। संयम और अनुकम्पा से रहित हृदय से वह उस राजा के नगर में पहुँचा॥134॥

शीघ्रतापूर्वक उस राजा के निकट जाकर, जैनचिह्न को प्रकट रूप में प्रदर्शित करते हुए हरिभद्र सूर ने जिनमत के अनुकूल आशीर्वाच्य से अभिनन्दनपूर्वक कहा—135॥

हे शरणागत के लिए वज्रपंजर-स्वरूप! दृढतर सत्त्व-सम्पन्न! आप मेरी बात सुनें। यहाँ मेरा अनुशासनीय पात्र उज्जीवित हुआ; वह आपके द्वारा परमहंस के रूप में प्रसिद्ध किया गया॥136॥

हे राजन्! आपका साहस क्यों नहीं प्रशंसनीय होगा? क्योंकि शरणागतों की रक्षा ही आपका लक्ष्य है। आपने शत्रुओं के बल की कोई गिनती नहीं की; आपकी जैसी उन्नतिशील ऊर्जा है, वैसी दूसरे किसी की नहीं है॥137॥

आपकी यौद्धिक वृत्ति यहाँ स्पष्ट है। कृती जनों की नीति से वह उन्नत प्रमाणवाली है। आप अतिशय सुदृढ़ वाक्प्रबन्ध से युक्त बौद्धमत के विद्वानों को पराजित करने को इच्छुक हैं॥138॥

उस राजा सुरपाल ने कहा—मेरे और आपके विजेय भाव के स्थान पर छल का सहारा लेने में माहिर वे (विद्वान्) अजेय हैं और संख्या-बहुलता के कारण शलभ-समूह के समान हैं॥139॥

पर यहाँ, प्रपंच में अग्रणी किसी को भी मैं आपका विपक्ष बनाना चाहता हूँ। वे स्वयं भी विलय प्राप्त करेंगे। अतः मेरे प्रतिकूल वचन की गणना नहीं करनी चाहिए॥140॥

हे अतिशय सावधान! मेरी एक बात सुनें। आपको कोई अजेय शक्ति प्राप्त है। अनन्तर पुनः बोला— मुझे जीतनेवाला कौन है? अम्बिका देवी मेरे वृत्तान्त को वहन करती हैं॥141॥

यह बात सुनकर राजा ने उस दूत को सुगतपुर भेज दिया। वचन में विचक्षण और प्रपंच को मूल्य देनेवाला वह दूत शीघ्रतापूर्वक विदा हुआ॥142॥

अनन्तर, गुरु सुगत को प्रणाम कर वह राजा सुरपाल बोला—फड़कती जैसी देहवाली तुझ सुरभारती को दृढ़ भक्तिपूर्वक सूचित किया जाता है॥143॥

बुद्धिमानों द्वारा प्रशंसित एक विद्वान् मेरे इस नगर में आया है। यह तीनों भुवनों में प्रसिद्ध है। इसके लिए 'वादी' शब्द किसको तप्त नहीं करता है?॥144॥

यहाँ यह महान् लज्जाशील को प्रभावित करता है। जैसा उसका व्यक्तित्व है, वैसा कार्य भी है। वह पराजय को मृत्युतुल्य मानता है। वह जैसा करता है, वैसा कदाचित् ही दूसरा कोई कर सकता है॥145॥

वह दशबल-मत का नायक है। सम्मान के मुकाबले ही उसका यश भी है। वह प्रमोदपूर्वक अपने को बखानता है। इस दुनिया में समस्त देशों के अनेक विद्वानों को उसने तिरस्कृत किया है॥146॥

जिनमत में विशारद कोई भी नौसिखिया यहाँ वावदूक (वाक्पटु) होगा। तदनन्तर मैं गहन विकल्पों की कल्पनाओं से उसे विनयी बनाऊँगा, यह मेरा वचन है॥147॥

मैंने अपनी मृत्यु के बारे में स्वयं प्रतिज्ञा की है। वह क्या होगी, यह आप ही कहें। वह दूत वाक्पटु है, इसीलिए बोलता था, अन्यथा प्रभु के समक्ष मेरी बोली निकल सकती थी क्या?॥१४८॥

अथवा, आपके चरण-कमलों की कृपा से मेरा अद्भुत शुभ होनेवाला है। मैंने अपनी बुद्धि से कुछ व्यक्त किया है, लेकिन प्रभु स्वयं विचार करके कार्य करें।॥१४९॥

आप यह बात लिख दें, जो बाजी जीत जायेगा, वह गरम तेल के विशाल कुण्ड में प्रवेश करेगा। अपनी बार-बार कही गई प्रशंसा के अनुसार मैं गुरु के विचार से हर्षित होकर ही करूँगा॥१५०॥

प्रगल्भ दूत विपुल बुद्धि से सम्पन्न था। दृढ़ता के लिए पुनः उसने अपनी बात कही। प्रभु के चरणों का स्मरणपूर्वक मैं धृष्टतावश यहाँ कुछ निवेदित करता हूँ॥१५१॥

सुनें! वसुन्धरा रत्नगर्भा है। इस धरती पर कभी न कभी कोई न कोई विद्वान् उत्पन्न होता ही है। क्योंकि, तीर्थंकरों की बुद्धि अतिशयता-सम्पन्न है। इसलिए, आप जैसे विद्वानों की अवमानना न हो॥१५२॥

यह मेरी कल्पना मिथ्या है—आकाश-कुसुम की तरह। आप जैसे विजयी पुरुष से यह धरती सनाथ हो, यही हमें दृढ़तापूर्वक विचार करना चाहिए॥१५३॥

वह गुरु बोले—भय किस बात का? यहाँ कोई भ्रम हो तो वह व्यर्थ है। मेरे द्वारा चिरसेवित आप लोगों को दूसरों के द्वारा पराजित होने की आशंका मन में क्यों आती है?॥१५४॥

मेरे समक्ष कोई भी वैसा विद्वान् है, जिसने स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण के तत्त्व को अधिगत न किया हो? अगर मैंने उसे मद के रोग से मुक्त नहीं किया, तो मेरा नाम नहीं॥१५५॥

वादी के पौरुष को नियन्त्रित करनेवाले मेरी बात को राजा के समक्ष रखें। हम अन्य वादियों के उपलब्ध होने पर सन्तुष्ट होते हैं। क्योंकि, वे मेरे अनुगामी ही होते हैं॥१५६॥

उस (राजा) का दूत यह बात सुनकर प्रसन्न मन से अपने नगर लौट आया। इस प्रकार से सम्पन्न बौद्धिक विप्रलम्भ से भरी बातों से राजा सूरपाल भी संवर्द्धित हुए॥१५७॥

तीन-चार दिनों के भीतर ही उन प्रभु ने बौद्धमत को अधिगत कर लिया। अतिशय श्रेष्ठजनों द्वारा पूजित चरणकमलोंवाले प्रभु ने पूर्वकृत प्रतिज्ञा के अनुसार शास्त्रार्थ के लिए सभा का आयोजन किया॥१५८॥

इन्द्र ने सोचा—मैं किस प्रकार इसके लिए तारा (देवी) का स्मरण करूँ? स्मरण करने पर भी क्या यह तत्क्षण शत्रु-समूह का विनाश करनेवाली नहीं होगी?॥१५९॥

इस प्रकार विचार कर वाद-सभा में हरिभद्र सूरि के समीप आकर इन्द्र बोले—सब कुछ अनित्य ही है। सत् है, ऐसी बात परिसंस्कृत होने पर ही सम्भव है॥१६०॥

इस पक्ष में हेतु भी है। यहाँ भाव मेघ के समान हैं। मूल पक्षों के बारे में ऐसा कहा गया है, प्रतिवादी तो मूल का अच्छी तरह अनुवाद करके ही बोलता है॥१६१॥

यदि सब कुछ विनाशशील है, तो स्मरण और विचार (विषय-वस्तु का) कैसे सम्भव है? जो सबकुछ पहले देखा गया है, उनकी समन्विति कैसे सम्भव होगी?॥१६२॥

बुद्धि की परम्परा सदैव एक समान होती है, ऐसा सनातन मत है। जैसी शक्ति

अनुसंहति (समुदाय) की होती है, वैसा उसका व्यवहार भी होता है॥163॥

जैन विद्वान् इस सन्दर्भ में हर्षपूर्वक कहते हैं कि यदि बौद्धिक परम्परा विनाशशील नहीं है, तो वह सत् है, ऐसा सुविदित ही है। यदि ध्रुवत्व अनुमान पर आधृत है तो यह आत्मवचन के विरुद्ध है॥164॥

यह (विचार) दृढ़ भाव से विद्वानों के लिए अभीप्स्य नहीं है। आप अपने उस मत के सम्बन्ध में मूढमति हैं, जिसके आप इच्छुक हैं। अतएव, चिरकाल से प्रचलित सब कुछ की विनाशशीलता की स्थिति का त्याग कर दें॥165॥

इस प्रकार की बात से निरुत्तर हुए वह सुगत-मतवादी प्रभु मौन हो गये। पराजित हो गये, ऐसा लोगों से जानकर शीघ्र ही वह खौलते तेल के कुण्ड में कूद गये॥166॥

अनन्तर, बौद्ध विद्वान् रूप शत्रु की मृत्यु से वहाँ के लोगों के बीच कोलाहल मच गया। इस प्रकार आपके अपमान के भार से झुके, भय से विह्वल ये सभी स्वामी-विहीन नष्ट हो गये॥167॥

अनन्तर, उनके बीच के ही एक 'वदनमति' नाम के थे, जो विशुद्ध विद्वान् थे। उसी प्रकार और भी पाँच-छह आये, जो इनसे पराजित होकर मृत्यु को प्राप्त हो गये॥168॥

बौद्ध मत की एक शासनदेवी थीं। उन्हें उन्होंने रूखे वचनों से उलाहना दिया। रोषवश प्रसारित दर्प के विनाश से, युद्ध के दिनों में, देवता को याद करने की घड़ी आती है॥169॥

अरी कटपूतने! (एक प्रकार की प्रेतात्मा) सुनो! सुधी राजा तुम्हें बराबर पूजते रहते हैं। अपमृत्यु की विधि से वह मृत्यु को प्राप्त हुए। हे तारे! सम्प्रति आप कहाँ चली गई हैं?॥170॥

चन्दन, कपूर, कुंकुम आदि प्राकृतिक विलेपन और श्रेष्ठ धूप एवं भोग (नैवेद्य) से तथा सुगन्धित पुष्प-मालाओं से पत्थर की जैसी आपकी पूजा अच्छी तरह मैने की॥171॥

भाव की दृढ़ता के साथ परिपूजित आपके दर्शन घोर विपत्ति की घड़ी में भी आवश्यक है। यदि विस्तार नहीं करती हैं तो अपनी देह के लिए सुन्दर वस्तु का भोग क्यों नहीं किया जाता है॥172॥

देवी तारा अपने पूजकों पर अतिशय दयापूर्ण मन की इच्छावाली हैं। समीपतर भूमि पर अवस्थित हैं। अनुचित बोलनेवाले की भी बात सुनकर रोषरहित मन से वह मृदु वाणी में बोली-॥173॥

अतिशय शुद्धता को पाकर भी आप सभी नीच के समान अयोग्य बात बोलते हैं। कुवचन भी मेरे लिए कोई मूल्य नहीं रखता। आप सभी मेरी यह एक बात सुनिए॥174॥

अतिशय पराये देश से आये हुए आप दोनों जैनेतर मत की प्राप्ति के लिए एकत्र हुए हैं। तीर्थंकर के सिर पर पैर रखने के जैसा पाप की प्राप्ति के बाद भी आप दोनों ने सहज स्वभाव को नहीं छोड़ा है॥175॥

उसके लिए प्रतिक्रिया में आकर भागते हुए दोनों को उन्होंने शीघ्र ही मार डाला। नीति-पथ के पथिक वे महामुनि थे। उनके उस पाप का यही प्रतिकार है॥176॥

तदनन्तर मेरे द्वारा पूरी तरह उपेक्षित वह अपने ही उस पाप से विनाश को प्राप्त

हुआ। जो उसका दृढ़ता से पक्ष लेते हैं, वे मेरे लिए सदा उपेक्षणीय हैं॥१७७॥

उसके लिए शोक का परित्याग कर आप सभी धीर पुरुष अपने-अपने स्थान पर जायें। मैं आप सबके पाप का भार हर लूँगी। जो अपनी सन्तान के समान हैं, उनपर क्रोध कैसा?॥१७८॥

यह वचन कहकर वह देवी अन्तर्हित हो गई। अन्य सभी लोग अपने-अपने देश चले गये। इस श्रुत की प्रवृत्ति से अन्यान्य देशों के वृद्ध बौद्ध उपशम को प्राप्त हुए॥१७९॥

इस सन्दर्भ में कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि श्रेष्ठ मन्त्रजप के प्रभाव से सुगत-मत के विद्वानों को पराजित कर प्रभु हरिभद्र ने उन्हें खोलते तेल (के कड़ाह) में होम कर दिया॥१८०॥

6. अनन्तर जिनभद्रसूरि ने क्रोधपूर्वक शिष्यजन के बीच इस अद्भुत घटना को सुनकर उस मुनीश्वर हरिभद्र को शान्त करने की प्रक्रिया-स्वरूप यह समाचार भिजवाया॥१८१॥

कोमल वचनों के प्रयोग से शिक्षित कर दो यतियों को भेजा और उनके ही हाथों क्रोध की शान्ति के लिए समरदिनेश के मूल वृत्त-स्वरूप तीन गाथाएँ भी भिजवाईं॥१८२॥

वे दोनों उस राजा के नगर में गये और वहाँ उस विद्वान् से मिले। गुरु ने उनके लिए प्रिय जिस बात का निदेश किया था, उसे उनसे कहा-॥१८३॥

आप भारी क्रोध के फल के उदाहरण-स्वरूप इन गाथाओं पर ध्यान दें- यह वे दोनों कह ही रहे थे कि उसने गुरु द्वारा लिखित उन गाथाओं को भक्तिपूर्वक बाँच दिया॥१८४॥

गाथाओं के भावार्थ इस प्रकार हैं-

गुणसेन, अग्निशर्मा, सिंहानन्द ये पिता-पुत्र एवं शिखी, जालिनी ये माता-पुत्री और फिर धन और धनश्री ये पति-पत्नी, जय और विजय ये सहोदर भाई और फिर धरण और लक्ष्मी ये पति-पत्नी और फिर सेन-विषेण ये चाचा सातवें जन्म में हुए॥१८५-१८६॥

गुणचन्द्र-वान-व्यन्तर (वन में उत्पन्न देवजाति-विशेष) और समरादित्य-गिरिसेन-प्राण इनमें एक को मोक्ष प्राप्त हुआ और अन्य सबको अनन्त संसार मिला॥१८७॥

चतुर बुद्धिमान् हरिभद्र प्रभु ने मन में ऐसा सोचा कि वन में मुनि के पारण के भंग होने पर, नये जन्म में भी वैर पीछा करता है। फिर इस लोक में तो क्रोध-रूप दावाग्नि की जोरदार लपट से चेतना के विलुप्त होने की स्थिति आ जाती है। बौद्धमत के प्रति आसक्तजन प्रपंच रचते हैं और इस पृथ्वी से ही बाहर हो जाते हैं॥१८८-१८९॥

अतिशय विरत और चिरकाल से प्रवर्द्धित मिथ्या आग्रह से पूर्ण मत से प्रतारित चित्तवाले जिनमत के बोध का आकलन करके भी पापवश अन्धकार (अज्ञान) में प्रवेश करते हैं॥१९०॥

ओ जीव! नरक-गमन की आकांक्षा का त्याग कर। यह आकांक्षा परिणाम में दुरन्त (दुःखान्त) है। इस प्रकार अपने जीव को प्रबोधित कर उन्होंने तपोधन मुनि के समक्ष स्पष्ट कहा॥१९१॥

इस संसार में गुरुजन की उस वात्सल्यपूर्ण बुद्धि से ऋणमुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है, जो नरकगति के निकट जाते हुए मुझे उद्धार की इच्छा की अतिशयता से प्राप्त

होती है॥192॥

अनन्तर, विविध विरोधों को त्याग कर इच्छा की महत्ता से युक्त सूरि राजा से बार-बार पूछकर यात्रा में विलम्ब किये बिना गुरु के चरणों के पास शीघ्र ही पहुँच गये॥193॥

अनन्तर, गुरु-चरणों को माथे पर रखकर नीचे की ओर मुँह किये हुए वह गद्गद स्वर में बोले-विशद गुणवाले शिष्य के मोह से ही मैं प्रभु के चरण-कमलों की सेवा से अलग हुआ॥194॥

अवश्य ही, शास्त्रोक्त तपस्या-विधि को बताकर शीघ्र ही मेरे पाप का शोधन करें। अविनय का घर तथा विनय का पाश मेरे प्रति उत्कृष्ट गुणशाली बुद्धि का विस्तार करें॥195॥

गुरु ने उनका गाढ़ आलिंगन करके, किये हुए पाप के (प्रायश्चित्त के) योग्य तपस्या-विधि बताई। पाप और पुण्य की विधि को जानने में समर्थ हरिभद्र के समान शिष्य कहाँ हैं?॥196॥

कठोर तपस्या से शरीर को विशोधित करते हुए शरीर-रहित वह शिष्यों से वियुक्त हो गये। प्रकाशस्तम्भ-स्वरूप पृथ्वी जिस प्रकार समुद्र की वड़वाग्नि के ताप को धारण करती है, उसी प्रकार उनका मन अतिशय अन्तर्दाह से दग्ध हो रहा था॥197॥

अतिशय पीड़ा से ग्रस्त अम्बा अतिशय धैर्य-धारण के लिए यह बात बोली-घर, धन और आनन्द के आसंग से रहित तुम्हारी, गुरुविरह-रूप पीड़ा के समान और दूसरी पीड़ा क्या हो सकती है?॥198॥

जिनमत के बहुविध शास्त्रों की सेवा में निपुण हे विशुद्धमतिवाले! अपना कर्मविपाक ही फल देता है, वह फल चाहे अपना हो या पराया। विद्वानों के लिए भी यह एक विडम्बना ही है॥199॥

गुरुचरणों की भक्ति से अभिराम अपने जन्म को शुद्ध तपस्या से सफल करें। शरत्कालीन मेघ के समान यह विकर्म विलीन हो जाता है, जिस प्रकार आपका शरीर भी विलीन हो जानेवाला है॥200॥

मेरे जैसे जड़मति शिष्य हरिभद्र सूरि के अवलम्ब-स्वरूप हे अम्बे! यह जानें कि पूर्ण आज्ञाकारी विनयी शिष्य की मुख्यतः मृत्यु मेरे हृदय को कुछ भी पीड़ा देनेवाली नहीं है॥201॥

इस संसार में सन्तानहीनता निश्चय ही दुःख का कारण है। निर्मल गुरुकुल भी मेरे लिए क्या हानिकर है? ऐसा बोलते हुए देवी ने कहा— मेरी एक सुनृत (सच्ची) बात सुनें। कुलवृद्धिकारक कोई पुण्य आपका नहीं है, शास्त्र-समूह की परम्परा से भी आप नहीं जुड़े हैं। यह बोलती हुई 'वह' देवी अन्तर्हित हो गई। उस श्रमणपति ने शोक का परित्याग कर दिया॥202-203॥

मन में गुरु-विरोध बढ़ानेवाली ये तीन गाथाएँ गुरु-कृपा से गुरु ने कही हैं। उन्होंने पहले इसकी समीक्षा करके समरार्कचरित्र का विस्तार किया॥204॥

फिर यहाँ उन्होंने एक सौ कम डेढ़ हजार (श्लोकों के) 'प्रकरण' (कृति-विशेष का छोटा प्रभाग) की रचना की। निश्चय ही, यह जिनमत के श्रेष्ठ उपदेश से रमणीय

है, और यथोक्त प्रकरणों की ही परम्परा में इसे मान्यता दी गई॥205॥

हृदय के लिए अतिशय अभिराम यथोक्त दोनों शिष्यों के विरह की लहरों के भार से तप्त शरीरवाले उन्होंने अपनी समस्त कृतियों की रचना की, जो मुख्यतः विरह-पद से ही युक्त थीं॥206॥

7. प्रकरणों का अर्थ-विस्तार हृदय को बाधित करनेवाली चिन्ता से व्याप्त था। उसने 'कार्पासिक' नाम के इस भव्य अतिशय लघु जिनवासन को देखा॥207॥

शुभ शकुनवश अपने शास्त्र के प्रसार के कारण के सम्बन्ध में विमर्श किया। तदनन्तर, हृदय के लिए प्रिय विद्या से सम्पन्न महाभारत आदि सुनने के लिए सतृष्ण हृदयवाले विरल ही हैं, ऐसा कहा॥208॥

जैसे-

यह लौकिक काव्य गदह की लीद की तरह बाहर से ही चिकना है, भीतर से देखने पर सब कुछ भूसे से भरा हुआ है॥209॥

अनन्तर, वणिक् ने कहा- इसकी स्पष्ट विवेचना की जाय। तब उस सूरि ने कहा-ओह! मिथ्यात्व से भरे हुए इतिहासों में लोगों की प्रीति जैसी-तैसी होती है॥210॥

इस प्रकार की मूढ़ता के विखण्डन के लिए पाँच धूर्तों की कथा कही गई है। सँपेरों के मन्त्र के समान साँप के विष के विस्तार को रोकने में कारगर होना मिथ्या कदाग्रह ही है॥211॥

केवल सुनने से ही जैनधर्म के प्रति उसकी बुद्धि स्पष्ट हो गई, उसे बोध हो गया, तदनन्तर वह बोला- यह जैनधर्म वितरण (दान करने) की ओर प्रवृत्त होता है। धन के बिना वह कैसे किया जा सकता है?॥212॥

अनन्तर गुरु बोले- धर्मकार्य करने से तुम्हें प्रचुर धन प्राप्त होगा। अनन्तर उसने कहा- यदि ऐसी बात है तो मैं सपरिवार प्रभु की बातों के अनुसार ही कार्य करूँगा॥213॥

अनन्तर गुरु ने कहा- तुम एकाग्रचित्त से मेरी बात सुनो। इस शहर के बाहर आज से तीसरे दिन दूसरे देश के व्यापारियों का समूह स्पष्ट रूप से यहाँ द्रव्य का खजाना प्राप्त करेगा॥214॥

थोड़ी ही दूर जाने पर जमीन के कुछ ही नीचे प्रचुर धन प्राप्य है। यहाँ से व्यापार द्वारा प्रचुर धन बहुत पुण्योदय से ही प्राप्त होगा॥215॥

यहाँ मैंने अनेक शास्त्रों की रचना की है; जो आपके द्वारा भी पुस्तक-रूप में लेखनीय हैं। तदनन्तर यतिजन उन शास्त्रों को इस प्रकार वहन करेंगे कि वे सभी लोगों के बीच व्यापक रूप से प्रसार प्राप्त करेंगे॥216॥

तदनन्तर, पुण्यवान् लोगों के शिरोमणि-स्वरूप उसने गुरु के अनुत्प्लंधनीय वचनों का पालन किया। उसके द्वारा लिखित वह शास्त्र भव-सागर के पार जाने के लिए नाव की तरह प्रवर्तित हुआ॥217॥

अनन्तर, सुमतिसूरि ने अन्य जनों को भी प्रबोधित कर एक पीठ में चौरासी जिन-सदनों और मंहालयों का निर्माण कराया और उनके ऊँचे सिंहद्वार (प्रवेश-द्वार) भी बनवाये॥218॥

वहाँ उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक जैनों के औपनिषदिक 'महानिशीथशास्त्र' का भी उद्धार किया, जो पुस्तक-रूप में प्राचीन काल में लिखा गया था और जिनके पन्ने जीर्ण-शीर्ण हो गये थे, अक्षर घिस गये थे और वे पन्ने छिद्रित भी हो गये थे॥219॥

शास्त्र-परिचयवश अपनी आयु का अन्त जानकर गुरु-परम्परा से प्रभावित उनका चित्त अपने गण के विषय में निराश हो उठा था और उनका अंग-अंग विनाशजन्य विराग-विशेष से भर गया था॥220॥

पुण्यमय अनशन करके, भवसागर से पार लगानेवाले श्रेष्ठ कर्णधार की स्मृति से अपने हृदय-स्थित सभी बाधाओं को उन्होंने विस्मृत कर दिया था। और, आयु के अन्त में देवोपवन जैसी समाधि में स्थित होकर उन्होंने स्वर्गलाभ किया॥221॥

इस प्रकार, सद्गुरु हरिभद्रसूरि का चरित्र अतिशय निर्मल, अद्भुत और विस्मयकारी है, जिसका स्मरण प्रज्ञापटु विद्वानों के हृदय को प्रसन्न करनेवाला है। मेरे जैसे अल्पज्ञबुद्धि के लिए यह जीवन-पाथेय की तरह है। इसे सुनें और प्रकट रूप से पढ़ें। यह चरित्र चन्द्र और सूर्य की स्थिति-पर्यन्त विजयी बना रहे॥222॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप, श्रीराम और लक्ष्मी से उत्पन्न श्रीप्रभाचन्द्र सूरि ने अपने मन में पूर्व के ऋषियों के चारित्र-रूप पर्वत पर चढ़ने का संकल्प किया और उसी क्रम में मुनीश्वर प्रद्युम्न द्वारा व्याख्यात श्रीहरिभद्रसूरि की कथा का यह नवम शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥223॥

हे पुरुषोत्तम! परमेष्ठिन्! गिरीश! गणनाथ! विद्वद्भ्यः के स्वामी! प्रद्युम्न! ब्रह्म में आसक्त! सुमनोमय! सूर्य-स्वरूप आप क्या नहीं हैं?॥224॥

॥ हरिभद्रसूरि का प्रबन्ध (चरित) समाप्त ॥



मल्लवादिस्वरि-चरित

1. दुस्तर संसार के वृद्धि-विस्तार से पार लगानेवाले जलयान के समान जो प्रभु श्रीमल्लवादिस्वरि हैं, वह हमारा उद्धार करें॥1॥

जिसकी इन्द्रिय सत् के उद्धार में समर्थ है, जो पूर्ण पक्ष से पृथ्वी पर चमकती है, मुख-रहित होकर भी लक्ष्य का भेदन करनेवाली है, सजीव और सुन्दर अंग को धारण करनेवाली है॥2॥

जड़ वस्तुओं के गहन अध्ययन में जिसकी प्रवृत्ति है। जिसका वृत्त (इतिहास) अद्भुत है, प्रमाण और अभ्यास से प्रसिद्ध उसका कुछ दृष्टान्त कहा जा रहा है॥3॥

रेणु-निर्मित उसका परकोटा इतना ऊँचा है कि रथ से आते हुए सूर्य का रथचक्र उसमें जैसे फँस गया था। शकुनीतीर्थ का वह नाभि-स्वरूप है॥4॥

महलों के समूह से युक्त, दुर्ग की दीवार से शोभित तथा कल्याण के आवास-स्वरूप भृगुकच्छ नाम का श्रीसम्पन्न नगर है॥5॥

वहाँ जिनानन्द नाम के स्वरि रहते थे। वह सुन्दर चरित्र-रूप समुद्र की शान्त लहरों की क्रीड़ा में रत, सदा आनन्दित तथा श्रीसम्पन्न थे॥6॥

एक दिन, धनदान की प्राप्ति से मत्त, चित्त में छल रखते हुए चतुरंग के स्वभाव के जानकार तथा मद की सनक से युक्त 'नन्द' नाम के सौगत मुनि ने अपनी वितण्डा (निरर्थक तर्क-वितर्क) से पूर्ण बुद्धि से चैत्य-यात्रा के क्रम में आये हुए मुनीश्वर जिनानन्द को (शास्त्रार्थ में) पराजित कर दिया॥7-8॥

पराजय के कारण प्रभु नगर का परित्याग कर 'वल्लभी' चले गये। किसी दूसरे से पराजित कोई गैवार व्यक्ति भी नगर में क्यों रहेगा?॥9॥

वहाँ (वल्लभी में) गुरु की दुर्लभदेवी नाम की सहोदरा (बहन) रहती थी। उसके तीन पुत्र थे। उनमें बड़े पुत्र का नाम अजितयश था॥10॥

दूसरे पुत्र का नाम यक्ष तथा तीसरे पुत्र का नाम मल्ल था। मामा ने इन्हें संसार की असारता के बारे में बताया॥11॥

उन सभी (भाइयों) ने माँ के साथ बोध प्राप्त कर दीक्षा ले ली। नाव मिल जाने पर कौन नहीं समुद्र के पार जाना चाहेगा?॥12॥

लक्षण आदि महाशास्त्र के अभ्यास से वे विद्वानों के अधिपति हो गये एवं संसार में विख्यात भी हो गये। प्रज्ञावानों के लिए दुष्कर क्या है?॥13॥

पूर्व के ऋषियों द्वारा तथा 'ज्ञानप्रवाद' नामक पाँचवें पूर्व के आधार पर उन्होंने अज्ञान-रूप अन्धकार को नाश करनेवाला नयचक्र महाग्रन्थ की रचना की॥14॥

वहाँ भी विश्राम-स्वरूप बारह आरक (अध्याय) थे। उनके आरम्भ और अन्त में चैत्य-पूजन किया जाता है॥15॥

कुछ तो पूर्व-गत होने से नयचक्र के बिना ही दूसरे को गुरुओं ने पढ़ाया, फलतः सभी कल्याणकारिणी बुद्धिवाले हो गये॥16॥

यह 'मल्ल' नामका (भाई) महाप्राज्ञ होगा, जो तेज में हीरा के समान होगा। बचपन से ही वह पुस्तक खोलकर स्वयं उसका वाचन करेगा॥17॥

उसके उपद्रव के कारण हमारा सन्ताप अतिशय दुस्तर हो गया है। उसकी माँ से गुरु ने प्रत्यक्ष रूप में कहा— वत्से! यह पुस्तक पहले से ही निषिद्ध है, इसे मत खोलो। निषेध कर दिया गया है, इसलिए तीर्थयात्रा करने को इच्छुक उन्होंने पुस्तक खोलने का विचार त्याग दिया॥18-19॥

उसने माँ के परोक्ष में पुस्तक के प्रति द्वेष न दिखाते हुए, पुस्तक को खोलकर उसके पहले पन्ने से जिस आर्या का वाचन किया, उस आर्या का अर्थ है—॥20॥

(उसने) विधि-नियम के भंग-व्यापार से भिन्न अनर्थक बात कही। जैनैतर शासन मिथ्या होता है, यही अन्य शासन से अन्तर है॥21॥

अर्थ के विषय में सोचने के क्रम में श्रुतदेवता ने इसकी पुस्तक को और पुस्तक के पन्ने को फाड़ डाला। गुरु की वाणी की क्षति दुरन्त होती है॥22॥

इस प्रकार किंकर्तव्यविमूढ़ मल्ल ने चिल्लाना शुरू किया और फिर शैशव की स्थिति जैसा वह रौने लगा। देवताओं के साथ बल क्या दिखलाना?॥23॥

माँ के 'यह क्या?' ऐसा पूछने पर बोला—मेरे व्यवहार से पुस्तक नष्ट हो गई। उस मल्ल के कारण यह स्थिति आई, यह जानकर संघ विषाद में पड़ गया॥24॥

अपने स्वयं को स्वयं वह सुधारता है, ऐसा विचार कर सुधी मल्ल ने श्रुतदेवता की आराधना की॥25॥

गिरिखण्डल नाम का पर्वत है, उसकी गुफा के भीतर उसने छठे पारण में रूखे धान्य-विशेष का भोजन लिया॥26॥

वात्सल्यपूर्वक जननी-सहित संघ ने सविनय निवेदन किया—इस प्रकार का, श्रुत का पात्र दुर्लभ होता है, इसलिए इसे नष्ट मत करिए॥27॥

चतुर्भासिक पारण में संघ ने पात्र में विकृति उत्पन्न कर दी। साधुओं ने वहाँ जाकर इसके लिए मुनि का भोजन प्रदान किया॥28॥

संघ द्वारा समाराधित श्रुतदेवता ने परीक्षा के तौर पर एक दिन पूछा— 'मीठे कौन हैं?' यही प्रश्न का वाक्य था। प्रफुल्लित तपस्वी मल्ल ने उत्तर दिया— 'बल्ला'। पुनः छह महीने के बाद वाक्य कहा— 'किसके द्वारा?' 'गुड़ और घी के द्वारा।' ऐसा वाक्य कहने पर वह (श्रुतदेवी) इस धारणा से सन्तुष्ट हो गई और, बोली— 'वर माँगो।' उस (मल्ल) ने कहा—पुस्तक प्रदान करें॥29-31॥

श्रुताधिष्ठात्री देवी बोली—सावधान होकर मेरी बात सुनो। इस ग्रन्थ के प्रकट (प्रकाशित) होने पर द्वेषशील देवता उपद्रव करेंगे। एक श्लोक से ही शास्त्र के सभी अर्थ ग्रहण कर लेंगे। यह कहकर देवी अन्तर्हित हो गई और मल्ल गच्छ में जा मिला॥32-33॥

उस (मल्ल) ने दस हजार श्लोकों का, नवीन 'नयचक्र' की रचना की। पहले ही ग्रन्थ का अर्थ प्रकाशित हो जाने से वह सबके लिए उपादेय हो गया॥34॥

संघ ने इस शास्त्र का प्रवेश-महोत्सव आयोजित किया। हाथी के कन्धे पर बैठे हुए प्रौढ़ राजा (इस ग्रन्थ को स्वयं धारण किये हुए थे)॥35॥

2. बहुत दिनों बाद, एक दिन श्रीजिनानन्द प्रभु वहाँ आये। श्रद्धापूर्वक सद्गुरु की अभ्यर्थना करके, मल्ल को सूरि-पद पर प्रतिष्ठित किया गया तथा अजितयश ने उस प्रमाण-ग्रन्थ को राजा अल्ल के सभासद श्रीनन्दक गुरु के आदेशानुसार धारण किया॥36-37॥

शब्दशास्त्रज्ञ 'विश्रान्तविद्याधर' ने अल्पधी जनों के बोध के लिए स्पष्ट अर्थ से युक्त (पुस्तक के) 'न्यास' की रचना की और यक्ष ने निमित्त (ज्योतिष) के अष्टांग का बोध करानेवाली संहिता का निर्माण किया। उस ग्रन्थ की जो 'दीपकलिका' टीका थी, वह ग्रन्थ के समस्त अर्थों को प्रकाशित करनेवाली थी॥38-39॥

मल्ल, मल्लिका के खिले-फूलोंवाली बेल की तरह फैले यश के निधिस्वरूप थे। उन्होंने अपने गुरु के, स्थविरों के आख्यान के अनुसार, बौद्धों द्वारा किये गये अपमान की बात सुनी॥40॥

असंख्य यान-वाहनों के साथ वह भृगुकच्छ गये। संघ ने प्रवेश आदि महोत्सवों द्वारा उनकी प्रभावना की॥41॥

बुद्धानन्द ने अद्भुत बौद्ध आनन्द का आचरण किया। 'मैंने शास्त्रार्थ में श्वेताम्बर को जीत लिया', इसका वह दर्प वहन कर रहा था॥42॥

घमण्ड के भार से भरी जिसकी भौंहें झुकती नहीं थीं, वह पूरे धरातल को अपना संसारभ्रष्ट कृपापात्र मानता था॥43॥

जैन ऋषियों के आने की बात सुनकर विशेष उपसर्ग (विघ्न) करनेवाले संघ के महाकोश ने (उस बात को) वैश्य-समूह से कहा॥44॥

श्वेताम्बर भिक्षुओं के पूर्वज, जो वाद-मुद्रा में बड़े समर्थ थे, परमतवादियों की स्याद्वाद-मुद्रा से पूरी तरह अजेय थे। परन्तु वह भी मेरे द्वारा प्रकटित आत्मीय सिद्धान्तों से उनकी वैसी स्थिति हो गई, जैसी स्थिति अगस्त्य मुनि द्वारा चुल्लू में रखे गये समुद्र की हो गई थी॥45-46॥

वह बालक (अज्ञान) क्या करेगा, जिसने विद्वानों को नहीं देखा है। वह तो घर में ही भूँकनेवाले कुत्ते के समान सारहीन पराक्रमवाला है॥47॥

अगर उसके भी कोई शक्ति है, तो वह राजसभा के समक्ष अपने को प्रदर्शित करे, जो भेड़िये की तरह मृग को अपना ग्रास बना सकता है॥48॥

मल्लाचार्य, यह सुनकर बड़ी आसानी से सिंह के समान स्थिर हो गये और द्वेष-दग्ध मनुष्यों के गर्व को ध्वस्त करनेवाले उन आचार्य ने गम्भीर वाणी में कहा— 'निर्विवाद और निर्मल बुद्धिवाले एवं शान्त कोई जैन मुनि—पराजित हो गये, पराजित हो गये, इस प्रकार का स्वेच्छावाद उन्हें (बोलनेवालों को) क्या चेष्टापटु प्रमाणित करता है?॥49-50॥

अथवा यह कि चित्त में स्थित शल्य की तरह कठोर गर्व तो व्यर्थ है। इसे पूरी तरह उखाड़ फेंकने के लिए जयशील मैं तैयार हूँ॥51॥

सन्तजन और मेरे मित्र भी यदि सामने रहेंगे तो जान लेंगे। अपने घर के भीतर रहनेवाले जन राजा के सम्बन्ध में भी कुत्सित बात बोलते हैं॥52॥

प्राशिनकों के समक्ष, राजसभा के बीच में, अतिशयता-पूर्वक ऐसा बोलें कि (वक्ता की) प्रज्ञा निश्चय ही प्रमाण बन जाय॥53॥

यह बात सुनकर बुद्धानन्द हैसते हुए बोले- बक-बक करनेवाले शिशुप्राय होते हैं, उनके साथ लड़ाई कैसी?॥54॥

अथवा यह कि निराकरण करनेवाले ही मेरे शत्रुवंशी होंगे। थोड़ा ऋण भी असाध्य तथा काल के लिए भी दुर्जय होता है॥55॥

तदनन्तर, प्रतिकूल मुहूर्त में वे दोनों वादी और प्रतिवादी सभा में आ गये। सभ्यों ने पूर्व के वाद को (दोनों में से) छोटे के समक्ष रखा॥56॥

उन मल्लाचार्य ने छह महीने तक आर्यप्राज्ञ से बात (शास्त्रार्थ) की। 'नयचक्रमहाग्रन्थ' के अभिप्राय में किसी बात की त्रुटि रह गई थी॥57॥

अवधारणा करने में असमर्थ वह सौगत घर चला गया। मल्ल ने प्रतिमल्ल को पराजित कर दिया, यह बात (सबके बीच) होने लगी॥58॥

श्रीशासनदेवी ने मल्लाचार्य पर पुष्पवृष्टि की। राजा ने महोत्सवपूर्वक उनको अपने आश्रय में प्रवेश कराया॥59॥

तदनन्तर, राजा ने मल्लिन कार्य करने के कारण बुद्धानन्द के परिवार को निर्वासित करने का आदेश दिया, किन्तु बहुत अनुनय करने पर उनका निर्वासन रुक गया॥60॥

राजा ने मुनिप्रभु को 'वादी' विरुद्ध प्रदान किया। अनेक कलाओं के निधि-स्वरूप सूरि 'मल्लवादी' उपाधि से विभूषित हुए॥61॥

बुद्धानन्द शोक से अतिशय निरानन्द और निष्प्रतिभ हो गये। रात में दीपक जलाकर उन्होंने लिखना शुरू किया॥62॥

लिखने में भी यक्ष और हेतुओं की विस्मृति हो जाने पर हीनभाव से ग्रस्त मल्लवादी का हृदय भय और लज्जाजनित सन्ताप से फट गया और लिखने की खड़ी हाथ में लिये हुए ही मरण को प्राप्त हुए। सुबह होने पर राजा ने उन्हें देखा और प्रतिमल्ल ने कहा- हाय! वह वादी दिवंगत हो गया॥63-64॥

उन (मल्लवादी) ने अपनी प्रगल्भ प्रज्ञा को किसके प्राण से प्रबुद्ध किया था? शिशुतावश वह हम सब की अवज्ञा करते थे और स्वयं भी ऐसे ही कातर थे॥65॥

प्रभु ने वलभी से श्रीजिज्ञानन्द को (अपने यहाँ) लाये थे। मल्लवादी सूरि ने संघ की अभ्यर्थना करके अपने पूज्य को बुलवाया था॥66॥

माता दुर्लभ देवी चरित्रवती और तुष्ट (महिला) थी। बन्धु और गुरु ने भी कहा कि तुम पुत्रियों में अग्रणी रहो॥67॥

गुरु ने गच्छ का भार अपने योग्य शिष्य को दिया। मल्लवादी प्रभु के सम्बन्ध में अपने औचित्य का उल्लंघन कौन कर सकता है?॥68॥

परमत(जैनेतर मत)वादी-रूप हाथी के कुम्भ के भेदन में सिंह-स्वरूप (गुरु) ने शिष्यों के समक्ष 'नयचक्रमहाग्रन्थ' की व्याख्या की॥69॥

और, श्रीपद्मचरित नामक रामायण को उदाहृत किया। ग्रन्थमान की दृष्टि से यह चौबीस हजार श्लोक-प्रमाण है॥70॥

तीर्थ को प्रभावित कर तथा वादिश्रेष्ठ शिष्यों को (चारित्रिक) निर्मलता प्रदान कर गुरु-शिष्य, गुरु के प्रेम-बन्धन से प्रभावित होकर, दिवंगत हो गये॥71॥

तदनन्तर, बुद्धानन्द मरकर विपक्ष (विरोधी) वेताल के रूप में उत्पन्न हुए। जिनशासन के प्रति वह विद्वेष-भाव रखते थे। उनकी मति अन्तकालिक थी। वह पूर्वजन्म के वैरवश दो ग्रन्थों में अधिष्ठित हो गये। पुस्तकस्थ विषय को वह किसी को भी बाँचने नहीं देते थे॥72-73॥

श्रीमल्लवादिप्रभु का यह वृत्त मेरी चेतना-लता पर छाये नये मेघ के जैसा है। प्रधान कवि इसकी व्याख्या करें, इसे सुनें और प्रसन्न दृष्टि से अवलोकन करें॥74॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप, श्रीराम और लक्ष्मी से उत्पन्न श्रीप्रभाचन्द्र सूरि ने अपने मन में पूर्व के ऋषियों के चारित्र-रूप पर्वत पर चढ़ने का संकल्प किया। उसी क्रम में मुनीश्वर श्रीप्रद्युम्न द्वारा व्याख्यात श्रीमल्लवादिसूरि का यह अद्भुत दशम (कथा-रूप) शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥75॥

॥ मल्लवादिसूरि का प्रबन्ध (चरित) समाप्त ॥



श्रीबप्पभट्टिसूरिचरित

1. श्रीमान् बप्पभट्टि कल्याणकारी हों, जिनके वृत्त-रूप आकाश के आँगन में राजा, वीर, कवि और विद्वान् पुरुष जाने-आने का खेल करते हैं॥1॥

जिस गाय के दूध को पीकर दृष्टिशाली कवि-रूप बछड़े तृप्त होते हैं, शृंग (अध्याय का संकेतक शब्द) धारण करनेवाले वे विज्ञ-रूप गोपालों के द्वारा भी अतिशय दुर्दम हैं॥2॥

मैं उन्हीं के चरित का, यथाश्रुत रूप में यत्किञ्चित् वर्णन करूँगा। मेरी प्रज्ञा-रूप आइने में सज्जनों के शृंगार-रूप आभूषण दृष्टिगत होते हैं॥3॥

कल्याण के कोष-स्वरूप गुजरात नाम का श्री-सम्पन्न देश है। वहाँ के लोग शालीनता और विवेक के धनी तथा शोक-रूप पर्वत के लिए वज्र-स्वरूप हैं, अर्थात् अशोक हैं॥4॥

जिसके एक अंश की प्रतिच्छवि आकाशस्थ मेघ-रूप आइने में प्रतिष्ठित है, शैव मुनियों के बाहुल्य से युक्त उस नगर का नाम पाटल है॥5॥

वहाँ समुद्र जैसी गम्भीरता से युक्त जितशत्रु नाम का राजा था। उसके बाहरी और भीतरी सभी शत्रु (उससे) भयाक्रान्त थे॥6॥

वह, चित्रशास्त्र के रहस्य-रूप (विशेष प्रकार के) गाँठदार पौधे के अँखुवाने में बादल की भूमिका का निर्वाहक था तथा परम ब्रह्म के विशाल सुधा-सागर में मग्न रहता था॥7॥

वहाँ सिद्धसेन नाम के प्रसिद्ध मुनिश्रेष्ठ थे। वह 'मोढ' नामक प्रौढ़ गच्छ की श्री के अविवाहित मन्दमति पति थे।

वह विश्व-विद्या की सद्गुण-सम्पन्न श्री थे। राजाओं के भी वह मान्य थे। एक दिन वह श्रीमहावीर को प्रणाम करने के लिए 'मोढेरे' नाम के स्थान पर गये॥8॥

तीर्थ (तीर्थकर) को विधिवत् प्रणाम करके एक अलग आश्रय में ठहर गये। रात्रि में योगनिद्रा में सोये हुए उन्होंने इस प्रकार का स्वप्न देखा कि एक सिंह-शावक क्रीड़ावश पूरी ताकत से उछलकर चैत्य-शिखर के अग्रभाग पर चढ़ गया है॥9॥

मुनिश्रेष्ठ इस अद्भुत स्वप्न को देखकर जग गये और प्रसन्न होकर सुबह में अन्य मुनिवरों को उन्होंने (वह स्वप्न) सुनाया॥10॥

कल्याणों का उपादान और विनय के हेतुभूत, स्वप्न को दुहराते हुए उन मुनिवरों से नम्रतापूर्वक पूछा तो उन्होंने उनके समक्ष उस (स्वप्न) का अर्थ कहा॥11॥

शिष्य, परमतवादी-रूप गजराज के कुम्भ (हाथी के मस्तक का ललाट-स्थल) को फाड़ने का उद्यम करेगा, तभी संघ के भाग्य से आज कोई महामति यहाँ आयेंगे॥12॥

भावी प्रभाव के सूचक स्वप्न के आनन्द से आनन्दित उन मुनियों के साथ अनगार साधु जैनालय में पधारे॥15॥

तीन बार प्रदक्षिणा करने के बाद जब नाथ (यथोक्त अनगार साधु) की वन्दना की जा रही थी, तभी एक छह वर्ष का बालक उनके समक्ष आया॥16॥

जब साधु ने उस बालक से पूछा— तुम कौन हो? कहाँ रहते हो? तब उसने उत्तर में कहा—पंचालदेशीय भट्टि का देहज मैं 'बप्प' नाम का पुत्र हूँ॥17॥

मेरे पिता का नाम 'सूरपाल' है। मुझे उन्होंने शत्रुओं को मारने से रोक दिया। वह (मेरी वीरता के बारे में) नहीं जानते थे, इसलिए वात्सल्यवश (उन्होंने समझाया कि) अकारण विक्रम की उम्र नहीं है॥18॥

अकेला मैंने माँ से भी नहीं पूछा, इसलिए मनस्ताप के आधिक्य से मैं प्रभु के चरणों में आ गया और अपने ही स्नेहवश मैं उनके पास रह गया॥19॥

इस बालक को दैवी तेज प्राप्त है, ऐसा गुरुदेव ने सोच कर हर्षित होते हुए कहा कि तुम मेरे समीप रहना चाहते हो?॥20॥

मेरे भाग्य से ही पूज्यजन का सामीप्य फलीभूत हुआ है। यह कहकर वह (बालक) वहाँ रह गया। कमल-पुष्प के खिलने पर भौरा क्या वहाँ नहीं रहता है?॥21॥

केवल एक बार सुनने से ही वह स्थिर रूप से उसी (श्रुत) विषय को ग्रहण कर लेता है। एक हजार अनुष्टुप् (श्लोकों) के ग्रहण करने में उसकी प्रज्ञा के बारे में क्या कहना?॥22॥

जड़तापूर्ण दुस्तर्क से दुःखी वाक् की अधिष्ठात्री देवी जिसकी मित्रता चाहती है, उसे दुर्बोध शास्त्र के मर्म में पैठने की शक्ति प्रदान करती है॥23॥

प्रेक्षाभियोग से सन्तुष्ट प्रभु ने उसके पितृगृह 'डुंवाउधी' ग्राम में जाकर उसके माता-पिता से उसकी याचना की॥24॥

उसके पिता ने कहा— मैं बूढ़ा हो गया हूँ। यह बालक अपनी माँ का एकमात्र पुत्र है। हम दोनों के लिए यह (जीवन का) आसरा और आधार है। इसे हम कैसे छोड़ सकते हैं?॥25॥

यदि पूज्यों का आग्रह है तो इसे हम दोनों (माता-पिता) 'बप्पभट्टि' नाम से विख्यात करते हैं। यह आपका ही पुत्र हो जाय॥26॥

माता-पिता के 'हाँ' कहने पर परम श्रद्धालु प्रभु ने उन दोनों के (माता-पिता के) लिए आजीवन भोजन-वस्त्र की व्यवस्था कर दी॥27॥

विक्रमाब्द के सात अधिक एक सौ आठ वर्ष बीतने पर वैशाख शुक्ल तृतीया, गुरुवार के दिन प्रभु ने मोढेरे ग्राम का परित्याग कर दिया और उस बालक को दीक्षित कर उसका नामकरण किया। तैत्तिरीयवे दिन से वह अपने में 'भद्रकीर्ति' नाम से प्रसिद्ध हुआ॥28-29॥

माता-पिता की स्वीकृति के बाद शिष्यों के मुकुटमणि तथा कला-समूह का आवास-स्वरूप उसका पूर्व का नाम ही प्रसिद्ध रहा॥30॥

उन प्रभु के गुणों की रमणीयता से प्रसन्न संघ ने उनसे यहीं रहने के निमित्त अभ्यर्थना की॥31॥

इसकी योग्यता के अतिशय को जानकर वहाँ अवस्थित सद्गुरु ने उसे सारस्वत महामन्त्र प्रदान किया॥32॥

उसने लौटते समय, एकान्त में इस भूमि पर, मध्य रात्रि में सरस्वती को स्वर्गगा की प्रवाहमयी धारा में खुली देह स्नान करते हुए देखा॥33॥

उस महामन्त्र के जप के माहात्म्य से उसने वैसे रूप में स्थित उस (सरस्वती) को झाँककर मुँह को घुमा लिया॥34॥

अपने रूप को विस्मृत करती हुई सरस्वती बोली—वत्स ! मुँह क्यों घुमा रहे हो, तुम्हारे मन्त्र-जाप से सन्तुष्ट होकर मैं आई हूँ॥35॥

‘वर माँगो’, ऐसा कहने पर बप्पभट्टि बोले— हे माता ! मैं आपके इस प्रकार के विकृत रूप को कैसे देखूँ?॥36॥

आप अपने में निर्वस्त्र (नग्न) शरीर को देखें— ऐसा कहने पर उन्होंने अपने को देखा। ओह! इसका महाव्रत अखण्ड है, यह स्पष्ट है॥37॥

मन्त्र के प्रबल माहात्म्य से मैं चेतना-शून्य हो गई थी— सुदृढ़ सन्तोष के साथ ध्यान करती हुई मैं तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुई हूँ॥38॥

यहाँ, वर के प्रति अतिशय निस्पृह, विस्मयातिरेक से मेरी अपनी गमनागमनेच्छा तुम्हारे अधीन है, इसलिए निश्चिन्त हो जाओ॥39॥

2. एक दिन वहाँ अवस्थित भद्रकीर्ति बाहर चले गये। वर्षा में देवकुल में आश्रय लेकर वह वहाँ बहुत ही स्थिरता के साथ रहने लगे॥40॥

वहाँ रहनेवाला एक पुरुष देवों के लिए अर्पित किये जानेवाले भोग का दुरुपयोग करता था। एक दिन वह प्रशस्त श्री की वृष्टि से व्याकुल होकर आया। वहाँ काले पत्थरों पर कुछ वर्ण (अक्षर) खुदे हुए थे, जो हार पहने स्त्री की भौति प्रतीत होते थे। उसमें (किसी की) स्वस्ति-प्रशस्ति अंकित थी, जो (पत्थर की) जड़ स्थिति को निराकृत कर रही थी॥41-42॥

उस विद्वान् ने यथांकित काव्य का वाचन किया और नवीन मित्र बप्पभट्टि से उसकी व्याख्या कराई॥43॥

उसकी व्याख्या से प्रसन्नहृदय वह वर्षा धमने पर अतिशय हर्षपूर्वक उनके साथ ही बस्ती में गया और उसी बस्ती में ठहर गया॥44॥

तदनन्तर, गुरु ने आशीर्वाच्य से अभिनन्दित कर पूछा। उसने संकोच-रहित होकर अपनी बात बताई॥45॥

श्रेष्ठ मौर्य महागोत्र में उत्पन्न अतिशय द्युतिशाली राजा चन्द्रगुप्त के वंश की मुक्तामणि जैसी शोभा से अलंकृत कान्यकुब्ज राजा यशोवर्मा के यशस्वी पुत्र पिता के द्वारा दी जानेवाली शिक्षा के क्रम में कही गई किसी बात से क्रुद्ध होकर वह यहाँ आया॥46-47॥

तदनन्तर, उसने धरती पर खल्ली से अपना प्रचलित नाम लिखा। (अपने मुँह से) अपना नाम न लेने के इसके विवेक से गुरुजन चमत्कृत हो गये॥48॥

वहाँ स्थित सूरि ने नख पर अँगुली फिराते हुए विचार किया— पहले यह, जब छह महीने था, तब श्रीराम की सेना में दिखाई पड़ा था॥49॥

पीलुवृक्ष की बड़ी डाल पर सघन छाँह में कपड़े के झूले में स्थित इसे देखकर हमने जान लिया था कि यह कोई पुण्यात्मा पुरुष है॥50॥

तदनन्तर, वन्य फलों को चुनती हुई उसकी माँ से हमने पूछा— वत्स ! तुम कौन हो और तुम्हारा कुल क्या है?॥51॥

तुम्हारी ऐसी दशा कैसे हुई? सब बात हमें बताओ। क्योंकि, हम विश्वसनीय तथा अनासक्त एवं परिग्रह से मुक्त हैं॥52॥

श्रीकान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा की गृहिणी बोली— प्रभो! आप जैसे पूज्यपाद के लिए नहीं कहने योग्य बात क्या है?॥53॥

मैं जब गर्भ में थी, तब राजा की सौतेली पत्नी (रानी) ने ईर्ष्यावश पुरालभ्य वर माँग कर राजा से मुझे निर्वासित करा दिया॥54॥

तदनन्तर, मनस्तापवश पिता और ससुर का घर छोड़कर मैं आपके राज्य में आ गई और हे प्रभो! अभी मैं वन्यवृत्ति से जी रही हूँ॥55॥

यह सुनकर हमने उसे सान्त्वना दी और कहा— चैत्य की सेवा में यहाँ स्थिर भाव से रहो और मेरे घर को अपने पिता के घर जैसा मानकर ही बच्चे की परवरिश करो॥56॥

उसकी सपत्नी किसी कालवश स्वयं नष्ट हो गई। और उस (वनवासिनी) को राजा ने गुप्तचरों से खोजवाकर अपने यहाँ बुलवा लिया॥57॥

अनन्तर, पहले के असंख्य गुणों के कारण (राजा ने) उसे बहुत सम्मान दिया। हम उसी देश से आकर यहाँ की भूमि पर रह रही हूँ॥58॥

उस देश के पुरुषों से यह वृत्तान्त सुनकर (राजा ने) सोचा—(इस स्त्री के) इस बुद्धिमान् पुत्र को सम्प्रति यहीं रहना चाहिए॥59॥

इसकी जो शारीरिक आकृति है और इसके जो ऐसे लक्षण हैं, उससे, नृत्य की दृष्टि से यह राजपुत्र आदरणीय है, ऐसा सोचकर उससे कहा—॥60॥

वत्स ! तुम अपने मित्र के साथ निश्चिन्त होकर यहाँ रहो। शीघ्र ही तुम शास्त्रों का ज्ञान ग्रहण करो और सभी श्रेष्ठ कलाएँ भी प्राप्त करो॥61॥

वे सभी श्रेष्ठ कलाएँ ये हैं— पढ़ना, लिखना, गणित का सम्यक् ज्ञान, गीत, नृत्य, वाद्य, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा, निरुक्त तथा निघण्टु-सहित कात्यायन व्याकरण, अत्रच्छेद्य और नखच्छेद्य कला के साथ रत्न-परीक्षा, आयुध के संचालन का अभ्यास, गजारोहण और घुड़सवारी, इन दोनों में प्रत्येक की अद्भुत शिक्षा, मन्त्रवाद, रसवाद, भूमि-खननवाद, रसायन, विज्ञानवाद, बुद्धिविबोधक तर्कवाद, सिद्धान्त, विष-निग्रह, मारुडी विद्या, शकुनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, आचार्यविद्या, आगमन, प्रासादलक्षण, सामुद्रिक, स्मृति, पुराण, इतिहास, श्रेष्ठ वेदविधि, अनुवाद-विद्या, दर्शन, संस्कार, खेचरी कला, अमरीकरण, इन्द्रजाल, पातालसिद्धि, धूर्त-शम्बल, गन्धयुक्ति, वृक्ष-चिकित्सा, कृत्रिम मणिकर्म, सर्ववस्तुकृति, वंशकर्म, पुष्पकर्म, चित्रकर्म, काष्ठपाषाण-कर्म, लेपकर्म, चर्मकर्म, यन्त्रकर्म, रसशास्त्र, काव्यालंकार, हसित, संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, कपट, देशभाषा, धातुकर्म का प्रयोग, उपाय, केवली विधि आदि ऐसी बहतर कलाओं का अध्ययन (बुद्धिमान् पुत्र ने) किया। विद्वत्सभा में उसके जैसा दूसरा विद्वान् नहीं हुआ॥62-73॥

अभ्यासवश उसके प्रज्ञा-रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित लक्षण, तर्क आदि शास्त्र-समूह उसका वंशवद हो गया॥74॥

ब्रह्मचर्य-काल से ही बनी मित्रतावश राजपुत्र ने यह प्रतिज्ञा की थी कि हे बप्पभट्टि! मैं निश्चय ही यथाप्राप्त राज्य तुम्हें दे दूँगा॥75॥

कुल काल बाद उसके आतंकी पिता ने राज्याभिषेक के हेतु अपने प्रधान पुरुषों को भेजा॥76॥

बहुत कष्ट से उसे (पुत्र को) राजी कर नगर में उसके पहुँचने पर पिता ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। पिता के स्वर्ग चले जाने पर उसने पिता का और्ध्वदेहिक कार्य सम्पन्न किया॥77॥

दो लाख घोड़े, चौदह सौ रथ और एक करोड़ पैदल सेना के द्वारा उसने राज्य का संचालन किया॥78॥

3. अनन्तर आम नाम के, श्रीसम्पन्न एवं अतिमानवी विक्रम से युक्त राजा ने अपने मित्र को बुलाने के लिए आदमियों को भेजा॥79॥

उसके प्रति अतिशय आदरवश, संघ की अनुमति से गुरु ने विद्वानों से घिरे बप्पभट्टि को प्रेषित किया॥80॥

तीर्थ-प्रभावना की उन्नति के लिए संयमपूर्ण यात्रा के क्रम में वह धीरे-धीरे अध्यात्म के श्रीसम्पन्न धाम-स्वरूप आम राजा के नगर में पहुँचे॥81॥

जिस प्रकार समुद्र चन्द्रोदय होने पर अपने तट को लौघने के लिए उतावला हो उठता है, उसी प्रकार (बप्पभट्टि के) आने की बात सुनकर आम राजा उद्वेलित हो उठे॥82॥

राजा समग्र सामग्री के साथ उस (बप्पभट्टि) के सामने आये। कुंजर (हाथी) पर आरोहण के क्रम में विद्वान्-रूप कुंजर की अभ्यर्थना की॥83॥

अनन्तर शान्तिशील पुरुषों में श्रेष्ठ बप्पभट्टि ने राजा से कहा— यहाँ सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त हमारी प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी॥84॥

राजा ने कहा—मैंने आपके लिए पहले जो प्रतिज्ञा की है कि मुझे जो राज्य मिलेगा, उसे मैं आपको दे दूँगा, उस वर के विरोध की यह निशानी है॥85॥

प्रभो! आपने मेरे लिए जो इच्छा की है, वह इच्छा मेरी ही है। किन्तु आसक्ति-रूप दोषजन्य पीड़ा देकर मुझे दुःखी करना युक्त (उचित) नहीं है॥86॥

राजा ने बलपूर्वक क्रोध आदि अभिज्ञान को जीतकर छत्र-चतुष्टय धारण किया था। श्रेष्ठ चामरों से हवा किये जाते हुए प्रभु को पूरे विश्व में प्रदर्शित करते हुए उत्सवपूर्वक उस शान्ति-कामी श्रेष्ठ पुरुष को नगर में प्रवेश कराया॥88॥

सिंहासन का आसन श्रेष्ठ राजचिह्न है। सौध (भवन) के भीतर राजा को बिना नमस्कार किये हम जैसे मुनि ने कहा—॥89॥

सूरिपद पर प्रतिष्ठित होने पर ही हमारे लिए सिंहासन की व्यवस्था होनी चाहिए। उनकी इस बात को सुनकर खिन्न राजा दूसरे आसन पर बैठे॥90॥

वहाँ गुरु के सान्निध्य में कुछ दिन के लिए अवस्थित प्रधान पुरुष-समूह के साथ मुनिश्रेष्ठ को राजा ने बुलवाया॥91॥

मोढेरक (नाम के स्थान) में अवस्थित श्रीमान् सिद्धसेन मुनीश्वर को विनम्र वाणी द्वारा प्रणामपूर्वक यह निवेदन किया॥92॥

चन्द्रमारहित आकाश में चकोर के समान, छोटे तालाब में हंस के समान, वन में अकेला मृग के समान, थोड़े पानी में मछली के समान, ग्रीष्म ऋतु में मयूर के समान, वर्षा में समुद्र के समान, युद्ध में कायर पुरुष के समान विद्वान् मूर्ख-मण्डल में प्रभावहीन हो जाता है॥93-94॥

कृष्णपक्ष में चन्द्रमा के समान विरहातुर व्यक्ति क्रमशः क्षीण होता जाता है। हमारे लिए प्रतिदिन पूजनीय स्वामी की इस मित्र के विना वैसी ही स्थिति हो रही है॥95॥

आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित कर निष्ठा-रूप इस अधिष्ठाता देवता को स्वामी की प्रसन्नता के लिए हमारे साथ भेजने की कृपा करें॥96॥

ताकि, इसके उपदेश से जैन मन्दिर में प्रतिष्ठित प्रतिमा आदि से प्राप्त पुण्यों के द्वारा राजा भव-सागर को पार कर जायें॥97॥

यह सुनकर उनके समक्ष वाक्संयम के धनी तथा चारित्र और आचार के अग्रणी मुनिवर ने सुधा-मधुर वाणी में कहा— जिस प्रकार घर में स्थित रत्नदीप घर के बाहर और भीतर के अन्धकार को दूर करता है, उसी प्रकार यह तेजस्वी और अचल स्थिरता से युक्त बाल ऋषि हमारे बीच हैं॥98-99॥

जिस प्रकार सूर्य के विना कमल, चन्द्रमा के विना रात्रि और मेघ के विना मयूर की स्थिति होती है, उसी प्रकार मुद्रा के विना मन्त्री की स्थिति होती है॥100॥

जिस प्रकार स्तम्भ से रहित घर और देह के विना प्राणी विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस (बाल ऋषि) के विना हमारी मनोवृत्ति मलिन पड़ जाती है॥101॥

प्रभु की यह बात सुनकर उन बुद्धिमान् ने कहा— सज्जन पुरुष परोपकार के लिए अपनी पीड़ा की कोई गिनती नहीं करते॥102॥

वृक्ष सूर्य के ताप को तथा मेघ को पार करने की क्लान्ति को एवं समुद्र नाव के श्रम को सहता है, तो कछुआ पृथ्वी के भार को वहन करता है॥103॥

मेघ वर्षा के क्लेश को और पृथ्वी विश्व के प्राणियों के भार-स्वरूप क्लान्ति को जो वहन करती है, उसका उपकार के विना और कोई फल नहीं दीखता है॥104॥

इसलिए, कृपा की प्रवीणता के आधार पर कार्यकुशल को भेजें। ऐसी स्थिति में, हमारे प्रभुत्व में स्वामी की बाधा पर्वत पर वज्रपात के समान होगा॥105॥

उनके निर्बन्ध सम्बन्ध के कारण, गुरु ने श्रीसम्पन्न संघ को बुलाकर उसकी प्रतिष्ठा के लिए आदेश दिया॥106॥

अनन्तर, उत्सव के इच्छुक निर्मल चरित्र एवं गच्छ-वत्सल श्रावकों द्वारा तत्क्षण जिनालय में समग्र सामग्री की व्यवस्था की गई। अनन्तर, षड्वर्ग से अधिष्ठित, सात ग्रहों के बल से युक्त, सौम्य लग्न में शास्त्रोक्त विधि से वाद्यवादनपूर्वक विश्वशिष्य-रूप शिष्य के चन्दनचर्चित कान में अर्हत्-तत्त्व का प्रवेश कराया गया॥107-109॥

तदनन्तर श्रीमान् बप्पभट्टि विद्वानों के बीच सूर्य एवं विपरीत मतिवाले वादिस्वरूप सिंह के लिए विश्वविश्रुत शरभ (अष्टापद मृग-विशेष) हो गये॥110॥

अनन्तर, गुरु से अनुशासित वह विधिवत् ब्रह्म की रक्षा में तत्पर रहने लगा। तारुण्य और राजपूजा ये दोनों ही बालक के लिए अनर्थकर होते हैं॥111॥

आप छले न जायें, इस बात को ध्यान में रखकर आत्मरक्षा करनी चाहिए। वाम बने हुए काम-पिशाच से बार-बार बचने का प्रयत्न अपेक्षित है॥112॥

भोजन किये हुए लोगों के लिए पुनः भोजन समस्त विकृतियों का भी जनक है, इसलिए ही आजीवन भोजन नहीं करूँगा, ऐसा नियम मैंने अपना लिया॥113॥

वाद्यों की ध्वनि हो रही थी, श्रद्धापूर्वक स्त्रियाँ मंगल-संगीत गा रही थीं। गौरवपूर्ण अभ्यर्थना किये जाते हुए संघ ने उपाश्रय में पदार्पण किया॥114॥

विक्रमाब्द के आठ सौ ग्यारह वर्ष बीतने पर चैत्र कृष्णाष्टमी के दिन वह सूरि उत्पन्न हुए॥115॥

4. श्रीमान् सर्वश्रेष्ठ आम राजा के अमात्य के अनुरोध से उसे, गुरु ने उनके साथ, संघ के न चाहते हुए भी, भेज दिया॥116॥

अनुकूल यात्रा करते हुए वह कान्यकुब्जपुर पहुँचे। वहाँ नगर के बाहर पवित्र एवं उपवन से संलग्न प्रदेश में ठहरे॥117॥

उद्यानपाल के द्वारा दी गई सूचना से मुनीश के आगमन को जानकर कर राजा पहनावे के भीतर से रोमांचित हो उठा॥118॥

तदनन्तर, प्रत्येक हाट-बाजार और गली शोभा-शोभित हो गई। प्रत्येक घर और द्वार पर वन्दनवार बँध गया॥119॥

धूपघटी से निकले धुएँ से काले मेघ का विभ्रम होने लगा। ताने गये चँदोवे से पूरी पृथ्वी एक छाया के भीतर आ गई॥120॥

कश्मीरी द्रव से सिक्त धरती कश्मीर की भूमि के समान हो गई। राजा ने नगर को पर्वत जैसे ऊँचे रंगमंच के समान विस्तार से विभूषित करा दिया॥121॥

प्रगाढ़ मैत्री से युक्त मित्र राजा स्तुति कर रहे थे। नगर की अटारियाँ, नगर की सुन्दरियों से आकुलित (व्याप्त) हो गईं॥122॥

छत्र-चामर-सहित प्रजाओं के अधिपति के समान आकाशस्पर्शी हाथी पर आरूढ़ मुनीश उपशम (शान्ति) की समस्त शोभा धारण किए हुए थे॥123॥

तदनन्तर राजा ने महल में सिंहासन पर बिछी गद्दी पर अपने मित्र-तुल्य मुनिश्रेष्ठ को आनन्दपूर्वक बैठाया॥124॥

शुद्ध प्रभावना से उत्पन्न प्रसन्नता के साथ संघ ने प्रभु की श्रेष्ठ सेवा निरन्तर निश्छल मन से की॥125॥

बराबर राजसभा में रहने पर भी कल्मष-विहीन श्रीसम्पन्न प्रभु बप्पभट्टि ने राजा के समक्ष अपने सुकृत का बखान किया॥126॥

कल्याण-रूप उपवन की जलनालिका में प्रवाहित जल के समान धर्म ही निराधार का आधार और परम पद का प्रदाता होता है॥127॥

धर्म के पहले दान का ही स्थान सात क्षेत्रों (स्थानों) में प्रसिद्ध है। उनमें पहला स्थान (क्षेत्र) सिद्धि प्रदान करनेवाला जिन-मन्दिर है॥128॥

दूसरा स्थान प्रतिमा-निर्माण का है। अनन्तर सिद्धान्त-लेखन है। इस प्रकार चातुर्वर्ण-रूप संघ के इन चारों (आयामों) को क्रमशः मूल्य देना चाहिए॥129॥

इनके बीच सबका आधार जैन मन्दिर है, जिनमें जिन और श्रुतधर संघ के प्रबोधक के रूप में विद्यमान हैं॥130॥

श्रीसम्पन्न पुरुषों को सामर्थ्य रहने पर जिन-प्रतिमा या जैन मन्दिर का निर्माण अवश्य ही विधिवत् कराना चाहिए, जिसके प्रभाव से बहुत सारे भव्यजन सद्गति को प्राप्त हुए॥131॥

इस प्रकार, उनकी बात को सुनकर कर्णवन्तों के शिरोमणि, हिमालय जैसे स्फुरित यश से विभूषित राजा आम बोले— पृथ्वी, देश, नगर, महल, तिथि, मास, ऋतु, वर्ष ये सभी धन्य हैं, जो आपके आदेश-रूप किरणों से उद्भासित रहते हैं॥132-133॥

यह कहकर (बप्पभट्टि ने) भूमि के लक्षणविदों और कोशकर्म में संलग्न मनुष्यों के अध्यक्ष पुरुषों को श्रीजिनमन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध में आदेश दिया॥134॥

विश्वकर्म के जानकारों और विश्वकर्म के कर्मठों ने महाविभूति के साथ पुण्योत्सवपूर्वक प्रासाद का निर्माण प्रारम्भ किया॥135॥

कुछ ही दिनों में एक सौ हाथ ऊँचे आकारवाला सब लोगों के आनन्द को अपने साथ समेटे हुए प्रासाद बनकर तैयार हो गया॥136॥

पूरे सुनहले रंग की, अट्टारह भार-प्रमाण की, श्रीमान् वर्द्धमान प्रभु की अप्रतिम प्रतिमा निर्मित हो गई॥137॥

यथाप्राप्त अनगिनत पुण्यात्मा जनों द्वारा धार्मिकों के मन में विचरण करती (अर्थात् धार्मिक जनों के मनोनुकूल) प्रतिमा का निर्माण कराया॥138॥

आसक्तिरहित श्रीबप्पभट्टि ने इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा करके अपने को भी परम पद पर प्रतिष्ठित कर लिया॥139॥

राजा ने गोपगिरि पर भित्तिचित्रित प्रतिमा से युक्त तेईस हाथ के श्रीवीर-मन्दिर का निर्माण कराया॥140॥

सवालाख टंक (परिमाण-विशेष) सोने से बने विशाल परकोटेवाले मण्डप को राजा ने अपने राज्य की तरह व्यवस्थित किया॥141॥

इस प्रकार (राजचिह्न) छत्र-चामर के साथ, मुख्य सिंहासन पर आसीन, राजकीय हाथी पर आरूढ़ होकर जाते हुए (मुनि) राजा द्वारा पूजित हुए॥142॥

सरल निश्चल चित्तवाले जनों द्वारा स्तुत प्रभु बप्पभट्टि के प्रति मिथ्यात्व से पूरित तथा भोगों के प्रति आसक्त लोग मत्सर-युक्त (ईर्ष्यालु) हो उठे॥143॥

पूज्य द्विजातियों के संसर्ग से उनका अनुवर्तन करनेवाले राजा ने 'सूरि' के लिए दूसरे राज्यासन का आधान किया॥144॥

तदनन्तर, उसके आशय को जानकर, पूर्व की आकृति को विकृत बनाकर, अतिशय अगाध सत्त्व के एकमात्र धारक राजा ने उसके प्रतिबोध के लिए कहा॥145॥

ग्रामीण सत्त्ववाले, दम्भ की कठोरता से युक्त हम जैसे जनशत्रुओं द्वारा आप जैसे

लोग कैसे लखे जा सकते हैं?॥146॥

जैसा कहा गया है -

मान-रूप (मत्त) हाथी के दर्प को तथा विनय-रूप शरीर का नाश करनेवाले सर्प को मसल डालो। दर्प क्षीण होने पर भी रावण के समान कोई भी दूसरा इस संसार में नहीं है॥147॥

इस धीर-गम्भीर बात को सुनकर और समझकर सूरि से निवेदन किया- प्रभो! आपके मन्त्रोपम वाक्य से मेरा अहंकार-विष दूर हो गया॥148॥

प्रभु ही समर्थ हैं, मेरे लिए तो (आपकी) मित्रता ही सम्पत्ति-स्वरूप है। ऐसी स्थिति में ही अन्न का परिसंस्कृत पाक आदि आस्वाद्य होता है॥149॥

5. तब, एक दिन अन्तःपुर में राजा ने मलिनमुखी प्रियतमा को देखकर सहज स्वेच्छा से प्रभु के समक्ष आधी गाथा कही-॥150॥

‘अञ्जवि सा परितप्पई कमलमुही अत्तणो पमाएण।’

अर्थात्, वह कमलमुखी आज भी अपने प्रमादवश परिताप पा रही है।

गुरु की वाणी, सार-स्वरूप सारस्वत उद्गार की सिद्धि के लिए होती है॥151॥

(राजा ने) मैत्री और स्नेह का साधिनय संवहन करते हुए गाथा का उत्तरार्द्ध कहा-

‘सुत्त विउद्धेण तए जीसे पच्छाडयं अंगं।’

अर्थात्, सूत्र (के श्रवण से) जागरित जिसका अंग आच्छादित है॥152॥

हृदय को प्रभावित करनेवाली बात से सन्तुष्ट प्रभु कविकर्म की प्रशंसा करते हुए, भ्रान्तिहीन दृष्टि से युक्त होते हुए भी कुछ भ्रान्त जैसा होकर रह गये॥153॥

निरुपम प्रेम की निधि राजा ने एक दिन शान्तिपूर्वक पाँव-पाँव संचरण करती हुई देवी (रानी) को देखा॥154॥

व्यथित होती हुई-सी, विकृत मुखमुद्रावाली देवी के प्रति मानो कृपा से परिष्कृत अन्तःकरणवाले किसी ने गाथा का शेष आधा भाग कहा॥155॥ वह इस प्रकार है-

“बाला चंकमंती पए पए कीस कुणइ मुहभंगं।” चंक्रमण करती हुई बाला पग-पग पर किसलिए मुँह टेढ़ा करती है।?

तब प्रभु ने सत्यवचन-रूप तरंग से मनोहर बात कही॥156॥

सिद्धवाणी बोलनेवाले कल्पान्त में भी कटुवचन नहीं बोले।

नूनं रमणपएसे मेहलया छिवइ नहपंती॥157॥

निश्चय ही, रमण-प्रदेश में मेघलता आकाश के सिलसिले का स्पर्श करती है॥157॥

यह सुनकर राजा ने किंचित् भ्रान्त होकर मुँह को विकृत कर लिया, जिससे उनका मुख हिम-तरंग से मलिन कमल जैसा हो गया॥158॥

यह देखकर स्नेह-मोह से पराजित न होनेवाले राजा उठकर उपाश्रय में चले गये और विहार करने के कारण पर विचार करने लगे॥159॥

और, बाहरी दरवाजे के किवाड़ पर यह निम्ननिर्दिष्ट काव्य लिखकर संघ से

विना पूछे ही नगर से बाहर निकल गये॥160॥

किवाड़ पर लिखित काव्य का अर्थ इस प्रकार है -

यह पहर आपके लिए कल्याणकर हो। मुझसे रोहणगिरि की स्थिति अच्युत बनी रहे। यह स्थिति बड़ी मुश्किल से बनी रहे-ऐसा स्वप्न में भी नहीं करें। हे श्रीमन्! आपके लब्धप्रतिष्ठ होने पर हम यदि मणि-स्वरूप (मूल्यवान्) हो जाएँ तो शृंगारपरायण राजे अपने माथो पर हमें रखेंगे॥161॥

6. कुछ दिनों तक गौड़ देश में विहार करते हुए गुरु लक्षणावती (लखनऊ) पुरी की उद्यान-भूमि में पहुँचे॥162॥

वहाँ की धर्मक्षमापर्षद् में वाक्पतिराज रहते थे। वह विद्वानों के मौलिमणि तथा अद्भुत प्रबन्ध-कवि थे॥163॥

मेघाच्छन्न आकाश में चन्द्रोदय की तरह प्रभु का आगमन जानकर, उनके आगमन की बात से वाक्पतिराज ने राजा को परितुष्ट किया॥164॥

वाग्देवी मेरे जिस कवि की वशवर्तिनी हैं, जो प्राच्य विद्वानों द्वारा संस्तुत हैं, वह मुनीश्वर बप्पभट्टि प्रभु के पुण्य से यहाँ आये हैं॥165॥

ज्योत्स्नाप्रिय चन्द्रमा के उदय के समान मुनि के आगमन को जानकर राजा ने हर्षपुलकित होकर विद्वन्मण्डल के मण्डन (अलंकार)-स्वरूप (मुनीश्वर) से कहा-॥166॥

यह जैन मुनीश्वर विश्व के विद्वानों के मुकुट-स्वरूप हैं। जहाँ जब यह पहुँचते हैं, वह दिन पुण्यमय हो जाता है॥167॥

किन्तु आमराज के साथ मेरा दुर्ग्रह विग्रह का आग्रह है। जब मेरे बुलाने पर जो पीछे हटता है, वह मेरे लिए तिरस्कार की बात हो जाती है॥168॥

तो मुनिस्वामी से पूछना चाहिए। वह राजा यदि साक्षात् आकर मुझसे पूछते हैं, तभी तुम्हें प्रस्थान करना चाहिए, अन्यथा नहीं॥169॥

सुधियों द्वारा वस्तुस्थिति के कहने पर तथा इसे सूरि द्वारा स्वीकृत करने पर ही प्रस्थान करने की बात जानकर धर्म-भूपाल अतिशय आनन्दित हुए॥170॥

आमराज के प्रवेश से आनन्द हजारगुना हो गया। नगर में आचार्य भूपति का प्रवेशोत्सव मनाया गया॥171॥

तब धर्मभूप साक्षात् धर्म के समान ही सामने स्थित हुए। और तभी, चक्रवर्ती ने सुधी-समूह से यह बात कही-॥172॥

रुचिर चरण (छन्द) के प्रति अनुरक्त तथा सदैव सद्गति के प्रति आसक्त सौम्य परम (श्रेष्ठ) कवि ही काम्य हैं। हम तो उज्ज्वल पक्षवाले तथा गुण-परिचय के प्रति हर्षित रहनेवाले एवं गुणातिशय का सम्यक् ग्रहण करनेवाले हैं। हे राजन्! सन्मति से संश्रित हम आपके शीघ्र ही नजदीकी हो जानेवाले हैं॥173॥

वहाँ भी काव्य के वक्तृत्व की लीला से आनन्दित करनेवाले पार्षद दोगुन्दग देव-विशेष के समान सुखपूर्वक रहने लगे॥174॥

7. सुबह में जब प्रभु नहीं आये, तब आमराजा ने नगर के भीतर और बाहर ग्राम, (धातुओं की) खान आदि में उन्हें ढूँढ़वाया॥175॥

बालमित्र (प्रभु) के नहीं मिलने पर राजा शोक के परवश हो गये और स्वर्ग से च्युत होने को उन्मुख देव के समान अक्षत उदासीनता में पूर्णतः मग्न हो गये॥176॥

उन्होंने एक दिन बाहर उद्यान में साँप से डँसा हुआ पिंगलवर्ण का चित्तीदार नेवला देखा। अच्छी तरह देखने पर उसके माथे पर मणि दृष्टिगत हुई। निर्भय राजा ने नेवले को निश्चेष्ट कर उसके थूथन को ले लिया॥177-78॥

राजा ने उस (थूथन) को ढक्कन से ढककर अपने घर में संगृहीत कर लिया और (सभा में) आकर उन्होंने विद्वानों के समक्ष इस श्लोकांश को पढ़ा -

‘शस्त्रं शास्त्रं कृषिर्विद्या अन्यो यो येन जीवति।’

अर्थात्, शस्त्र, शास्त्र, कृषि और विद्या इनमें से कोई एक है, जिससे (मनुष्य) जीवन-यापन करता है॥179॥

उन विद्वानों में सबने अपने-अपने अभिप्राय से इस समस्या की पूर्ति की। उनमें से एक भी (पूर्ति) ने राजा के हृदय को प्रभावित नहीं किया॥180॥

तब सबने भारती-पुत्र बप्पभट्टि को साग्रह स्मरण किया। जैसे बालभ्रमर मालती-पुष्प के सौरभ को पसन्द करता है॥181॥

जिस तरह जुगनू चन्द्रमा की, गधे हाथी की, उसी तरह मेरे विद्वान् मित्र की सोलहवीं कला को भी कोई विद्वान् नहीं पा सकते हैं॥182॥

मेरे अभिप्राय के अनुसार, जो इस समस्या की पूर्ति करेगा, उसे एक लाख स्वर्ण-टंक दिया जायगा, ऐसी डुगडुगी पिटवाई गई॥183॥

अनन्तर, जुआड़ी के पेशे से जीविका चलानेवाले एक व्यक्ति ने, जो अपना सर्वस्व गँवा चुका था, यह घोषणा सुनकर धन के उपाय-स्वरूप आधा श्लोक प्रस्तुत किया॥184॥

कहीं से जानकर वह गौड़-देशीय नगर में आया और बप्पभट्टि प्रभु को नमस्कार कर उनके समक्ष अपनी बात रखी और बिना तनिक भी क्लेश के श्लोक के आधे भाग को कह सुनाया; क्योंकि सरस्वती की कृपा विश्व के क्लेश-समुद्र को घटमात्र भूमि बना देती है॥185-86॥ यथोक्त श्लोकार्ध इस प्रकार है -

सुगृहीतं हि कर्त्तव्यं कृष्णसर्पमुखं यथा॥187॥

अर्थात्, किसी काम को अच्छी तरह समझ-बूझकर ही करना चाहिए। जैसे काले साँप के मुँह को कसकर दबाने पर ही वह विवश हो जाता है॥187॥

तब, राजा के प्रभु ने उसे ‘नागावलोक’ नाम दिया। और तभी से वह इसी नाम से विख्यात हो गया॥188॥

वह जुआड़ी उसी नाम के साथ आमराजा के समक्ष आया और हर्षित होकर उस चमत्कार के कारण को निवेदित किया॥189॥

राजा ने पूछा कि उस समस्या की पूर्ति कैसे की? उसने उत्तर दिया - हे प्रभो! श्रीबप्पभट्टि ने बताया था। तब राजा ने उसे उचित (पुरस्कार) दिया॥190॥

एक दिन राजा विरह की घड़ी में विनोद के लिए बाहर गये। वहाँ उन्होंने वटवृक्ष के नीचे एक मुसाफिर को मरा हुआ देखा॥191॥

उस वटवृक्ष की डाली से तलवार लटक रही थी, उससे टपकती हुई जल की बूँदों से यह आधी गाथा लिख गई॥192॥

वह आधी गाथा है -

‘तइया मह निगमणे पियाइ थेरंसुएहि जं रुत्रं।’

अर्थात्, तब उत्सव का समय निकल जाने पर प्रिया कुछ अश्रुपात-पूर्वक रोई। राजा की इस मनोहर समस्या की, पहले की तरह किसी भी विद्वान् ने पूर्ति नहीं की। सूर्य के बिना विश्व को कौन प्रकाशित कर सकता है?॥193॥

अलक्ष्य को लक्ष्य करनेवाली इस समस्या को लेकर वह जुआड़ी पुनः प्रभु बप्पभट्ट के पास गया और उससे इस समस्या को कहा॥190॥

विद्वानों में मूर्धन्य प्रभु ने अनायास ही उस समस्या की पूर्ति कर दी। उस समस्या-पूर्ति को लेकर वह पुनः राजा के पास गया॥195॥

यह समस्या-पूर्ति है -

करवत्तिबिंदुनिबडणमिहेण तं अज्ज संभरिअं।

अर्थात्, तलवार से (रक्त की बूँद) गिरने के बहाने उसे आज स्मरण किया गया॥196॥

किसी अन्य बटोही विद्वान् ने वह सब देखकर दोहे का आधा भाग अपनी बुद्धि के अनुसार कहा॥197॥

जैसे -

करवत्तयजलबिंदुया पंथिय हियइ निरुद्ध। (पथिकोक्तिः)

सा रोअंती संभरी नयरि ज मुंकी मुद्ध॥198॥ (बप्पभट्टेरुक्तिः)

इति पाठान्तम्

अर्थात्, तलवार से टपकते जल-बिन्दु से पथिक का हृदय अवरुद्ध हो गया। (पथिक की उक्ति)

रोती हुई वह मुग्धा नागरी दूती मूक हो गई। (बप्पभट्ट की उक्ति)। यह पाठान्तर है।

राजा ने यह सुनकर सोचा- ऐसी इस रस-पुष्टि का ग्रथन मेरे मित्र मुनिस्वामी के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं कर सकता॥199॥

राजा ने मुनीश्वर को बुलाने के लिए प्रधान पुरुषों द्वारा उपालम्भ (उलाहने) से युक्त आर्या (छन्द) में निबद्ध दोहा लिख भेजा॥200॥

समझ-बूझ से रहित उन पुरुषों ने प्रभु का दुर्लभ सामीप्य प्राप्त कर कुशल प्रश्न-पूर्वक सन्देश कह सुनाया॥201॥

वह सन्देश इस प्रकार है -

छाया के कारण श्री धारण कर पश्चिम की ओर प्रतिदिन भूमि पर पड़ते हुए पत्तों से सघन श्रेष्ठ तरु क्या करता है?॥202॥

गांगेय सुन्दर युवती के कपोल-स्थल पर स्थित गंगा और मुक्तामणि से मण्डित

उरोज के आस्वादरसिक व्यक्ति शक्ति को तथा करोड़ों से युक्त वसु अपनी जन्मभूमि पृथ्वी को स्मरण नहीं करता है। इसलिए मैं मानता हूँ, अपने सुख में संलग्न विश्व सच्चे स्नेह से रहित है॥203॥

जिसके पैर धूलि से मलिन हैं, मुख और मस्तक की शोभा फीकी पड़ गई है, यद्यपि वह गुणरत्न की निधि है, तथापि रास्ते पर का ऐसा राही मूर्ख ही है॥204॥

यह सुनकर गुरु ने उनके समक्ष स्थिरतापूर्वक यह बात कही—सौहार्द में अथवा दोर्हद (गर्भावस्था या चित्तद्वैधता) में मन से मन को लगाना चाहिए॥205॥

आम नाम के राजा के लिए आपलोगों द्वारा हमारी ये गाथाएँ निवेदनीय हैं॥206॥ [यहाँ गाथाओं का अर्थ प्रस्तुत है :]

हाथी को मानसरोवर, चन्दन को भ्रमर और रत्नाकर (समुद्र) को चन्द्र प्रिय है; ईख तो जड़ है; बप्पभट्टि ने सात* गाथाओं (सं० 207-219)की रचना की॥207॥

विन्ध्य के विना भी राजा के घर में हाथी गौरवजनक होते हैं। बहुत सारे हाथियों के चले जाने पर भी विन्ध्य (पर्वत) हस्तिविहीन नहीं हो सकता है॥208॥

जिस प्रकार राजहंसों के अभाव में मानसरोवर (का मध्य भाग) शोभित नहीं होता, उसी प्रकार उनके विना उस (मानसरोवर) का तट भी सुशोभित नहीं होता॥209॥

हंसों के न रहने पर भी मानसरोवर मानसरोवर ही है, इसमें सन्देह नहीं। अन्यत्र भी हंस जहाँ जाते हैं, हँस ही रहते हैं, बक नहीं कहलाते हैं॥210॥

हंस जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ की धरती मण्डित हो जाती है; उस महासरोवर की बात छोड़िए, जिसे हंस त्याग देते हैं॥211॥

मलय पर्वत के चन्दन का (अपना मूल्य है), चाहे नदी-तट पर चन्दन के पेड़ का समूह ही क्यों न हो। मलय पर्वत से अन्यत्र रहने पर भी चन्दन बहुमूल्य ही होता है॥212॥

कमल के प्रति आदर नहीं रहने पर भी भ्रमर उसके मकरन्द का आस्वाद लेता है। भ्रमर से रहित कमल-सरोवर क्या देखा या सुना गया है?॥213॥

एक कौस्तुभ (मणि) के विना भी समुद्र रत्न की खान है। कौस्तुभ रत्न जिसके वक्षःस्थल पर स्थित है, वह (विष्णु) भी महान् हैं॥214॥

खण्ड के विना भी पूर्णिमा का चन्द्र अखण्ड मण्डल से युक्त है। शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रखण्ड भी सुशोभित होता ही है न?॥215॥

और भी -

पत्तों से रहित श्रेष्ठ वृक्ष भी नष्ट हो जाता है, वह फिर पत्तों से युक्त नहीं हो पाता है। और फिर, उस वृक्ष की यदि छाया भी होगी तो वह भी वैसी ही होगी, अर्थात् घनी छाया नहीं होगी॥216॥

सर्वत्र जड़ पदार्थ की यही स्थिति है—सभी वृक्षों के ऊपर ही फूल लगते हैं। गुणी लोग वाद में विवाद करते हैं, प्रभु की प्रीति से करोड़ प्राप्त होते हैं॥217॥

इस पृथ्वी-मण्डल में जो कोई भी प्रभु हैं, वे ईख के डण्डे के समान हैं—जड़ में सरस होते हैं, किन्तु पत्तों में नीरस दिखते हैं॥218॥

* मूल पाठ में सात गाथाओं ('सत्तपगाहा') के रचने का उल्लेख है। किन्तु गाथाएँ तेरह हैं। -अनुवादक

प्रभु लोग ऋजुता-युक्त शील से अलंकृत तथा चरण-नत के प्रति मधुर वचन से शोभित होते हैं, गुणवान् प्रभु (प्रायः) दुर्लभ होते हैं॥219॥

तदनन्तर -

यदि हमें कुछ करना चाहिए, तो राजा के धर्म की सभा में चुपके आकर शीघ्र ही स्वयं पूछना चाहिए॥220॥

प्रतिज्ञा का निर्वाह होने पर आपके समीप हम जायेंगे, ऐसी शिक्षा के साथ पूज्यों द्वारा प्रधानों को भेजा जाना चाहिए॥221॥

अनन्तर वे कान्यकुब्ज-नरेश के पास पहुँचे और सूरि की माहात्म्य-मण्डित बातों से उन्हें अच्छी तरह अवगत कराया॥222॥

8. कुण्ठारहित उत्कण्ठा से युक्त तथा शत्रुभय से रहित राजा 'आम' हाथी पर यात्रा करते हुए गोदावरी नदी के तटवर्ती किसी गाँव में पहुँचे॥223॥

तब, वह उसके निकटवर्ती भूमि पर स्थित खण्डदेवकुल में, देवी का हृदय से स्मरण करते हुए, आवासित हुए॥224॥

मध्यरात्रि में वह (देवी) (मानवी) रूप धरकर आई और प्रार्थनापूर्वक राजा का भोग किया-भाग्य सब ओर से जागरित रहता है॥225॥

सुबह उठकर, सन्मित्र अयल्लक से उत्साहित वह (राजा) हाथी पर चढ़कर विना पूछे ही उस देवी के पास पहुँचे॥226॥

वह राजा विरह, रोग और शोक की सीमा-स्वरूप प्रभुपाद के निकट पहुँचे और निर्वेद की अग्निज्वाला-स्वरूप काव्य का उन्होंने कथन किया॥227॥

काव्य का अर्थ इस प्रकार है -

सोना-जागना आदि कार्यों में नित्य निरन्तरता से युक्त और फिर सोने में योगियों की तरह सूक्ष्म नयन-चेष्टा, उसी प्रकार अपने हृदय-स्वरूप सुहृदों के प्रति जब ऐसी निष्ठा हो, तब मित्र की आशा को पूरा करें और हे प्रभो! (मुझपर) प्रसन्न हों॥228॥

अनन्तर राजा ने सत्य वचन से विश्वस्त होकर कौतुकपूर्वक गाथा का परार्थ कहा, तदनन्तर गुरु ने पूर्वार्थ प्रस्तुत किया॥229॥

वह इस प्रकार है -

अज्जवि तं सुमरिज्जइ को नेहो एगराईए।

गोस्लानईए खंडेउलमण्झे पहिअ जं न वसिओ सि॥230॥

अर्थात्, आज भी उसे स्मरण करता हूँ। एकरात्रि के लिए कैसा स्नेह? गोदावरी नदी के खण्डकुल के बीच हे पथिक! तुम नहीं बसे हो॥230॥

यह कहकर सूरि ने राजा का कसकर ऐसा आलिंगन किया, मानो वे उसके भीतर प्रवेश कर उसके अविश्वास्य मन को देखना चाहते हों॥231॥

मित्र की दृष्टि में अतिशय तुष्टि देखकर कविकुल के नाथ-स्वरूप राजा ने यह काव्य कहा॥232॥

उस काव्य का अर्थ इस प्रकार है -

पुलकित अंगों से, आनन्द-जल झरते लोचनों से प्रसन्नात्मा सुधियों के स्वामी

आपसे अद्भुत कथा को सुनकर, सौजन्य-रूप अमृत के विशाल निर्झर में स्नान कर, विपत्ति के समुद्र के पार जाने के लिए हे अपारपौरुष! हम आपका दर्शन करने के लिए यहाँ आये हैं॥233॥

शालि-सौहार्द से युक्त उस आम राजा ने कौतुकपूर्वक खाली से विचित्र बन्ध में श्लोक को लिखा॥234॥

बन्ध इस प्रकार है -

अ ति अ ति अ न्म अ लं

द्य प्री द्य र द्य ज द्यु प द्य।

मे ला मे ला मे लं मे लं

फ स फ स फ स फ स॥235॥

उस गोमूत्रिका-बन्ध (में लिखित श्लोक) को जानकर स्वयं गुरु ने बाँचा। इसे दोषज्ञों ने ही जाना, दूसरों ने नहीं॥236॥

बन्ध में निरूपित श्लोक का निर्बन्ध रूप है -

अद्य मे सफला प्रीतिरद्य मे सफला रतिः।

अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं फलम्॥237॥

अर्थात्, आज मेरी प्रीति सफल हुई। आज मेरी रति सफल हुई। आज मेरा जन्म सफल हुआ। आज मेरा फल सफल हुआ॥237॥

अतएव, विद्वद्गोष्ठी में विनिद्रता के कारण रात्रि-विश्राम करके निःशंक सूरि भोर होते ही यथास्थिति में राजसभा में जा पहुँचे॥238॥

अनन्तर, मेघ में छिपे सूर्य की तरह स्वार्थनिष्ठ श्रीमान् आम राजा विशिष्टों के साथ पनडब्बा ढोनेवाले के बहाने सभा में गये॥239॥

गुरु ने धर्मराज को भावी वियोग की सुदुःसह अग्निज्वाला जैसी आमराज की विज्ञप्ति दिखलाई॥240॥

उस विज्ञप्ति को बाँचकर दूत से पूछा कि तुम्हारा राजा कैसा है? धर्मराज ने दूत से कहा-महाराज! ऐसा जानिए कि वह पनडब्बा ढोनेवाले के स्वामी के समान हैं।

बिजौरा नीबू हाथ में रखे हुए उससे सूरि ने पूछा- तुम्हारे हाथ में क्या है? उसने स्पष्ट कहा- 'बीजउरा'॥242॥

दूत द्वारा आढकी (वनस्पति -विशेष) का पत्ता दिखलाये जाने पर उन गुरु ने पनडब्बा ढोनेवाले को 'तूअरिपत्त' के रूप में पुरस्कृत कर कहा -॥243॥

सरल चित्तवाले धर्म के मनपसन्द रूप में अवबोध (जानकारी) के लिए प्राकृत में श्लेषयुक्त सूचना के जैसा उत्तर (सूरि ने) दिया॥244॥

अनन्तर, प्रधान ने कहा-यह सूरि हमारे प्रति आदर में शिथिल हैं - ऐसा कहकर निश्चित ही उन्होंने दुस्तर प्रतिज्ञा की॥245॥

प्रतिज्ञा करने पर भी पुण्य की प्रचुरता से यदि पूज्य आते हैं तो हमारे साथ सम्बद्ध देवता भी सन्तुष्ट होंगे, ऐसा विचार रखना चाहिए॥246॥

प्राकृत-निबद्ध उक्त उत्तर इस प्रकार है -

तत्ती सीअली मेल्लावा केहा,

घण उतावली प्रिय मंद सिणेहा।

विरहिहिं माणुसु जं मरइ तसु कवण निहोरा,

कं नि पवित्तडी जणु जाणइ दोरा॥247॥

राजा ने कहा—इस प्रकरण का अर्थ कैसा है? तब बुद्धि की निधि के रूप में प्रख्यात प्रभु बप्पभट्टि ने राजा के समक्ष यथोक्त प्रकरण की व्याख्या प्रस्तुत की॥247॥

इस प्रकरण का भावार्थ है -

एक लौहपिण्डी तप्त है और एक शीतल है। इनका परस्पर संसर्ग कैसा है? पत्नी उतावली है, किन्तु प्रिय मन्दस्नेही है। विरह से जो मनुष्य मर जाता है, उसकी कौन-सी बाधा है? कान पर रखी पवित्रिका मानो डोर जैसी ही है॥247॥

श्रीबप्पभट्टि ने इसके एक सौ आठ अर्थ प्रस्तुत किये। मतिमान् भी इसे नहीं जानते, तो फिर हम जैसों का क्या कहना?॥249॥

तदनन्तर, (एक विद्वान्) रात में उठकर वारवनिता के घर में ठहरे और उस वेश्या को अमूल्य कँगना देकर सुबह उसके घर से निकल गये॥250॥

दूसरे राजमहल का द्वार छोड़कर सूर्य के पथ के अवरोधक इन्द्रकील पर्वत पर चले गये और वहाँ एकान्त वन के बाहरी हिस्से में ठहरे॥251॥

तदनन्तर, सुबह में मुनिस्वामी राजा की सभा में आकर कान्यकुब्ज-प्रस्थान के लिए राजा से आज्ञा माँगी॥252॥

उन्होंने प्रतिज्ञा पूरी होने की बात से अनभिज्ञता की स्थिति में राजा के पूछने पर कहा— आम राजा यहाँ आए हुए हैं॥253॥

विद्वानों के कथन से यदि उसने ऐसा कहा है तो फिर, 'दो रा' शब्द से जानकारी करें कि यह वही है॥254॥

दोनों राजाओं ने स्पष्ट रूप से बिजौरा नींबू देखकर, यह क्या है? ऐसा पूछने पर उत्तर में 'बीज उरा' कहा गया॥255॥

इसी प्रकार 'तू अ रि पत्त' से 'तवारिपत्र' ऐसा संस्कृत के अनुसार संकेतित होता है - यह आपके समक्ष स्पष्ट है॥256॥

तदनन्तर इसका पश्चात्ताप पूरी तरह प्रसार पा गया। वह बोला— मेरी मूर्खता को धिक्कार है कि कहने पर भी मैं नहीं जान सका॥257॥

इसी अवसर पर वेश्या ने प्रभु के आगे अतिशय चमकदार कँगना रख दिया॥258॥

दासीपुत्र ने दूसरा कँगना राजा को सौंपकर निवेदन किया— हे नाथ! इन्द्रकील के द्वार पर किसी ने इसे छोड़ दिया था, जिसे मैं नहीं जानता हूँ॥259॥

राजा जबतक देखते हैं, तभी आम राजा ने भी देखा। कारण के प्रति विश्वासी प्रभु ने श्रीबप्पभट्टि से पूछा—॥260॥

घर में आया हुआ शत्रुराजा न तो पूजनीय है, न ही बातचीत करने योग्य है। दोनों स्थितियाँ चिरकालीन वैर की निवृत्ति में कारगर नहीं होतीं॥261॥

अनन्तर, पूज्यों से विरह की अतिशय दुःखद स्थिति उपस्थित हुई। हे प्रभो! अभी मैं क्या बोलूँ, जितना लभ्य है, लाभ किया जाय॥262॥

गुरु बोले— महाराज! इस स्थिति में खेद न करें। क्योंकि, हम हंस की तरह निर्बन्ध विहार करनेवाले हैं॥263॥

हे महाबाहो! पूछे गये हैं तो अपने नाम को सार्थक करें! जैसा दूसरे लोग करेंगे, हे मित्रवर! सब ठीक ही होगा॥264॥

9. यह कहकर वह आम राजा के साथ वहाँ से निकलकर चल पड़े। निर्भय हस्ती के समान गुरु यश से सुरभित हैं॥265॥

रास्ते में प्रभु के साथ आसन पर बैठकर यात्रा करते हुए वह (बप्पभट्टि) सरोवर में जल के बीच मुँह को डुबोये, एक पुलिन्द (बर्बर जाति का सदस्य) को बकरी की तरह जल पीते हुए देखकर अपूर्व ईक्षा और कौतुक के साथ प्राकृत में निबद्ध श्लोकार्द्ध गुरु के समक्ष कहा॥266-267॥

श्लोकार्द्ध इस प्रकार है -

पसु जेम पुलिन्दउ पीअइ जलु पंथिउ कमणिहिं कारणिण।

अर्थात्, पुलिन्द पथिक सीढ़ी रहने के कारण पशु की तरह (मुँह डुबाकर) पानी पी रहा है।

यह सुनकर प्रभु ने तत्क्षण श्लोक का उत्तरार्द्ध कहा— ॥268॥

सिद्ध सारस्वत पुरुष काव्य-रचना में विलम्ब नहीं करते—

करबेवि करंबिय कज्जिलिण मुद्धहि अंसु निवारणिण॥269॥

अर्थात्, हाथ में काजल लगे रहने के कारण सिर से आँसू पोंछते हैं॥269॥

विश्वास के लिए राजा ने पुलिन्द को बुलाया। पूछने पर उसने लज्जावन्त मुख से समाचार को यथावत् कह सुनाया॥270॥

हे नाथ! प्रवास की घड़ी में आपकी बहू को सान्त्वना देने के क्रम में, अंजनयुक्त आँसू पोंछने में मेरे दोनों हाथ काजल में सन गये॥271॥

इस वृत्तान्त से अतिशय हर्षित राजा सौधर्म (स्वर्ग) में सुरेन्द्र की तरह तत्क्षण कन्याकुब्ज (कान्यकुब्ज) पहुँचे॥272॥

अतिशय उत्सवपूर्वक प्राच्यों ने उन्हें प्रवेश कराया। तथा गुरु की करोड़ों-करोड़-गुनी पूजा सम्पन्न की॥273॥

10. इधर, अतिशय वार्धक्य से आक्रान्त श्रीसिद्धसेन सूरि कृतकृत्यता के कारण प्रायोपवेशन के इच्छुक हुए॥274॥

बप्पभट्टि के विनम्र शिष्य के मुख-कमल देखने को इच्छुक (लोग) मुनि को बुलाने के लिए समाचार भेजा॥275॥

वह समाचार यह है—

मेरा समस्त शारीरिक बल नष्ट हो गया, मेरी दृष्टि भी द्रष्टव्य के प्रति कष्ट से प्रवृत्त होती है। प्राण मानो पाहुन की तरह जाना चाहता है। सम्प्रति तुम्हारे प्रति मेरी आकांक्षा बनी हुई है। मुझे यदि देखना चाहते हो तो निस्सन्देह धीरे-धीरे आ जाओ॥276॥

इस समाचार को देखकर गुरु के प्रति बहुमान से द्रवित वह शीघ्र ही राजपुरुषों के साथ मोढेरक प्रभु के चरणों में आ उपस्थित हुए॥277॥

प्रभु के प्रथम दर्शन में वह पद-विन्यास को रोकते हुए उनके वात्सल्य के प्रति अतृप्त उन्होंने शान्तभाव से कहा॥278॥

जैसे—

शरीर कुबड़ा हो गया। देह धीरे-धीरे लाठी की शरण जाने लगी। दन्तपंकित झड़ने लगी, दोनों कान सुनने की शक्ति से हीन हो गये। आँख के आगे धुँधलका छा जाने से दृष्टि क्षीण हो गई। तो भी मेरा निर्लज्ज मन विषयों का अभिलाषी है॥279॥

अतएव, स्वच्छ मतिवाले हे वत्स! गच्छ के प्रति वात्सल्य-तत्पर हो, मेरी सहायता करके मेरे प्रति मरणोत्तर ऋणमुक्त हो जाओ॥280॥

तदनन्तर आराधना करके समाधि के द्वारा वे परलोक चले गये। और वह (उनके शिष्य) राजपूजित होकर गण का शासन करने लगे॥281॥

श्रीमान् गोविन्दसूरि और नन्नसूरि के प्रभु बप्पभट्टि गच्छ और संघ के प्रति समर्पित होकर तथा समादृत प्रधान राजाओं से घिरे हुए वह निर्ग्रन्थ-नायक पुनः आम राजा के घर आ गये॥282-283॥

11. एक दिन सूरि राजा के कौतुक के क्षणों में सभा में आसीन प्रवीण पुस्तिका हाथ में लिये मानो पुरुष-रूप सरस्वती जैसे लग रहे थे॥284॥

द्विधाक्षर पद में टिकनेवाली दृष्टि क्लेशनाशिनी होती है, तभी कदाचित् कंचुक पर दृष्टि टिक गई॥285॥

उसे देखकर राजा ने उस विषय में राग (प्रेम) हो जाने के विकल्पवश चित्त के अनुराग से सम्बद्ध इस गाथा को सोचा॥286॥

जैसे —

सिद्धंततंतपारंगयाण जोईण जोगजुत्ताणं।

जइ ताणं पि मयच्छी जयति ता तिच्चिय पमाणं॥287॥

अर्थात्, सिद्धान्त-तन्त्र के पारंगत योगयुक्त योगी के (मन को) मृगाक्षी यदि जीत लेती है, तो यही उसकी विजयशीलता का प्रमाण है॥287॥

अनन्तर तब ऐसे कार्य की निर्वहण-क्षमता को जानने के लिए स्नेहवश ही रात में उस पुरुष-वेश धारण करनेवाली को (राजा ने) उसके पास भेजा॥288॥

वह (मृगाक्षी) अपने स्थान पर स्थित वहीं भव्यगण में निलीन हो गई और एकान्त में धैर्य की दृढ़ता की परीक्षा के लिए सूरि की सेवा करने लगी॥289॥

स्त्री के हाथ के स्पर्श से उपस्थित विघ्न को जानकर उन्होंने विचार किया कि अवश्य ही यह अज्ञान के अन्धकार से युक्त राजा की चाल है॥290॥

इसलिए वह काम पर विजय पाने को तैयार हो गये। उन्होंने हर्षपूर्वक अष्टांग योग के सद्धर्म से अपने को कवचित कर लिया॥291॥

अखण्ड और अक्षत सन्तोष से युक्त हो वह शुभ ध्यान-रूप अश्व पर आरूढ़ हो गये। उन्होंने दृढ़ संयमरूप धनुष पर तप का बाण चढ़ा लिया॥292॥

सद्बोध की पुष्टि-रूपी चमकती तलवार और भाले की शक्ति से सख्त हाथवाले वह अन्तरंग शत्रु के विजय के लिए तटस्थ भाव से उठ खड़े हुए॥293॥

और उस स्त्री से कहा - बोलो, तुम कौन हो और यहाँ क्यों आई हो? ब्रह्मचर्य से कवचित यह भूमि तुम जैसी (स्त्रियों के लिए) नहीं है॥294॥

राहगीरों के लिए जैसे सर्पिणी, ब्राह्मण के घर में मंदिरा, दर्शन-गृह में मांस और राजकुल में हल, धर्मकार्य में प्राणिवध, वेद के उच्चारण में शूद्र (अन्त्यज), बन्दर के हाथ में नारियल, हाथी के लिए कैथ, चन्दन में मक्खी, कुंकुम में होंग और कपूर में लहसुन जैसे विकृतिकारक होते हैं, वैसे ही तुम यहाँ चित्त को प्रसन्न करनेवाली नहीं हो॥295-297॥

जीव के कान से रिसते हुए कच्चे मांस की गन्धवाले कीचड़ से कलुषित जैसी आकृति तथा लज्जा के स्थान-रूप स्त्री की देह में कृमियों के विना कौन अनुराग रखेगा?॥298॥

यह सुनकर उनसे उसने कहा - मैं पूज्यों की अभिलाषा नहीं रखती हूँ। मैं आपके मार्गभ्रष्टों को प्रबोधित करने के लिए यहाँ आई हूँ॥299॥

सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए दान-धर्म लोगों द्वारा किया जाता है। ऐश्वर्य के लिए तपस्या करनी पड़ती है, वह भी राज्य के विना सुलभ नहीं होता॥300॥

स्वर्गभूमि पर भी सारंगलोचना (मृगाक्षी) ही सार है, जिसके विना मनुष्य और देवता का भी समूह फलहीन वृक्ष के समान हो जाता है॥301॥

कहा गया है -

राज्य में पृथिवी सार है, पृथिवी पर भी नगर सार है और नगर में भवन सार है, भवन में भी शय्या सार है, और शय्या पर भी कामवती श्रेष्ठ नारी सार है॥302॥

संसार की राह में विपरीत आग्रह ग्रहण करनेवाले नहीं होते हैं। प्राप्ति की कामना से प्राप्त को छोड़नेवाले, लोगों के लिए हास्यास्पद होते हैं॥303॥

प्रभो! मैं आपके लिए दुर्बुद्धि की वृद्धि के कारण दैव से दण्डित के समान हूँ, ऐसा समझें। मैं पाखण्ड से खेदित जड़ नहीं होना चाहती॥304॥

आमराज ने अतिशय भक्तिवश विज्ञ, मनोहर प्रज्ञावाली तथा राजाओं को गुण से अनुरक्त करनेवाली मुझ प्राणप्रिया को भेजा है॥305॥

प्रभो! जैसा आपने कहा, शरीर बीभत्स रस की स्थिति के अधीन है। सेवा-सम्भार के विना स्त्रियाँ कुत्सित अंगवाली कुनारी हो जाती हैं॥306॥

विधाता ने हमें निरन्तर कपूर आदि की (सुगन्ध की) सुलभता से सम्पन्न बनाया है। हम दुर्गन्ध आदि की बातों से भी अनभिज्ञ हैं॥307॥

इसलिए, हे नाथ! आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे सफल करें। भोगवती के लिए भोगिराज की तरह मेरे लिए प्रचुर भोग सुलभ करें॥308॥

सूरि पहले तो आश्चर्यित हुए, किन्तु उसकी बात से विस्मित नहीं हुए। धैर्यधारकों के धुरन्धर वह धीर-गम्भीर स्वर में बोले- ॥309॥

जिसका अन्तर्भाग अशुचि पदार्थ से भरा है, ऐसी सोने की मूर्ति बाहर से चन्दन के लेप आदि तथा भूषणों से सुरभित-सुशोभित हुई तो क्या?॥310॥

मल-मूत्र आदि की पात्र मृगाक्षी के मलागार जैसे शरीर के प्रति कौन समझदार

प्रेम रखेगा?॥३११॥

हे तिरछी नजरवाली, आँख को बन्द कर लो, छाती को ढक लो, अनेक भगिमाओं से कुटिल रमणीय प्रदर्शनवाले वचन को रोक लो। दूसरे लोग मक्खन के पिण्ड जैसी स्त्रियों के वशीभूत हो जाते हैं। मुग्धे! शरीर को खेद पहुँचाना व्यर्थ है। हम तो पत्थर के समान हैं। अर्थात्, तुम्हारे अंग की भगिमाओं का मुझकर कोई असर नहीं होनेवाला है॥३१२॥

यह सुनकर भी अनसुना करके वह नहीं प्रबोधित हुई। उलटे प्रभु के स्वभाव-कठिन हाथों को निर्लज्ज भाव से अपने शरीर पर रख लिया॥३१३॥

साग के पत्तों के समान प्रभु के उन कोमल हाथों से उसने काम-कुंजर के कुम्भ-सदृश छूने में मृदुल अपने स्तनों का स्पर्श करवाया॥३१४॥

तदनन्तर, शृंगार के पर्वत-स्वरूप (स्तनों को) खैर के अंगार जैसा भार मानते हुए मुनीश्वर ने दम्भ-रहित, शोक से युक्त अहं के साथ फुफकारा॥३१५॥

‘यह क्या, यह क्या’, इस प्रकार वह (स्त्री) बोल उठी। उन मुनीश्वर ने उसके स्तनों के अग्रभाग से अपने हाथों को हटाकर किसी तरह अश्रु-रहित हकलाते हुए अव्यक्त स्वर में वह बोले-॥३१६॥

आज तुमने अपने अंग के स्पर्श से अमूल्य, अतुल्य वात्सल्य से संवर्द्धित मेरे जैसे देहधारियों को गुरुओं का स्मरण करा दिया॥३१७॥

उस स्त्री ने पूछा- यह कैसे? तो प्रभु पुनः बोले-रात्रि में स्वाध्याय-कार्य के बाद प्रभु का विश्राम होता है॥३१८॥

मैं सब समय भ्रमणशील रहा हूँ। सभी अंगों का साथ देनेवाली यात्रा के कटिभाग, यानी मध्य में विश्राम कर उसके नितम्बों यानी अनिम पड़ाव पर पहुँचता हूँ॥३१९॥

तो, गोलाई और कोमलता की समता के कारण तुमने आज उसी का स्मरण दिलाया है। जैसे तुम्हारे दोनों स्तन हैं, वैसे ही वे नितम्ब हैं॥३२०॥

यह सुनकर वह स्त्री अनुराग की स्थिति से विमुख हो गई और उसकी आशा की निधि छिन्न-भिन्न हो गई। कामान्धता के दूर हो जाने से उसने सोचा-क्या मेरा कर्मोदय हो गया है?॥३२१॥

यह श्वेताम्बर मुनि तो पत्थर, लोहा और वज्र (हीरा) के समान दुर्भेद्य है। पत्थर को तो आग, छेनी आदि से तोड़ा जा सकता है तथा लोहा भी तो आग में तपाने से ही टूटता है। जल, कोमल फल आदि के रस से हीरे का भी भेदन हो सकता है, पर इस मुनिश्रेष्ठ का कड़ापन तो अनन्य साधारण है॥३२२-३२३॥

घृतपिण्ड के समान (जल्द ही पिघल जानेवाले) पुरुष कुछ और ही होते हैं, जो अग्निपिण्ड जैसी महिला में विलीन हो जाते हैं। इनसे भिन्न (पुरुष) की सृष्टि ही कुछ और होती है॥३२४॥

बलिहारी विधाता की कि इनके समक्ष छोड़े भी कर्म-वेग के दास हैं। तीव्र ब्रह्मचर्य-व्रत के अनुपालन करनेवाले इनसे कर्म भी मानों भय खाता है॥३२५॥

जिसने आनन्द में निरानन्द कर दिया और मेरे काम-भाव को भी नष्ट कर दिया

तथा मेरा तिरस्कार भी कर दिया, उसमें दैव ही विजयी हुआ॥326॥

ऐसा सोचती हुई वह (वेश्या) सो गई। मुनिद्रोह के कारण उसका कामाग्रह भी समाप्त हो गया। बड़ा दुःख आने पर विश्रान्ति ही उपकार-कारिणी होती है॥327॥

सुबह में, पर्यकासन पर स्थित आचार्य के जगने पर उन्हें प्रणाम कर वह बोली- आप जैसे कृती पुरुष की विकृति में, मैं सम्मिलित नहीं हूँ॥328॥

पहले वीतराग प्रभु मुस्कराहट भरे कामदेव-रूप मुख्य शत्रु को जीतनेवाले थे। तुम्हारी इस घटना से यह ज्ञात सचमुच पहले से अधिक प्रसिद्ध हो गई॥329॥

तब उसने शीघ्र प्रश्न करके प्रभु से निवेदन किया- मेरी पीठ पर हाथ रख दें। आपके शाप से इन्द्र भी अपने आसन से च्युत हो सकते हैं, तो फिर दूसरों की क्या बात?॥330॥

अनन्तर, गुरु ने कहा - यह ज्ञात तुम्हारी अज्ञानता से भरी है। हम तो रोष और सन्तोष, दोनों के भार से मुक्त हैं तथा शाप आदि की बातों से भी अनभिज्ञ हैं॥331॥

यह सुनकर वह सुन्दरी राजा के समीप चली गई और उनके गुणों से क्षणभर के लिए भय और विकृति से भर गई॥332॥

हे नाथ! आपके इन श्वेताम्बर भिक्षु गुरु को वही विकारग्रस्त बना सकता है, जो समुद्र को अपने भुजदण्ड से तैरकर पार कर सकता है, महापर्वत को वेगपूर्वक खुशी-खुशी शिर से टकराकर तोड़ सकता है, दोनों पाँवों से चलकर अग्नि को रौंद सकता है तथा सोये हुए सिंह को जगा सकता है॥333-334॥

यह सुनकर राजा का शरीर रोमांचित हो गया, अपने गुरु के भारी सत्त्व से उनका (हर्षित) मन नर्तक की तरह नाच उठा। तब वह बोले - वचन को दृष्टिदोष से बचाने के लिए मैं न्योछने (टोटके) का काम करूँगा, अवतारण में आँखों की भागीदारी रहेगी और प्रिय सौहार्दपूर्ण हृदय के लिए बलि का विधान करूँगा॥335-336॥

जहाँ बप्पभट्टि प्रभु रहेंगे, वह पृथ्वी भरती का आधार बनेगी और मेरा नगर भाग्य और सौभाग्य से युक्त देश हो जायगा॥337॥

काम आदि के विमर्शविश अपने क्षेत्र से पृथक् होकर पराये क्षेत्र में गये हुए उन्होंने वहाँ लालसा का त्याग कर दिया॥338॥

पशुरूप हाथियों ने भी उन्हें सर्वथा त्याग दिया। इसलिए, मेरे गुरु की 'गजवर' यह आख्या प्रसिद्ध हो॥339॥

तदनन्तर, 'ग ज व र' और 'ब्र ह्य चा री' ये दो विरुद्ध भूत, भविष्य और वर्तमान के ज्ञाता के, श्रुतागम के अनुसार, प्रसिद्ध हो गये॥340॥

वैसी स्थिति में वहाँ तुमने क्या किया, यह पूछने पर वह (स्त्री) कटाक्ष-निक्षेप के साथ हाथ से स्तनों का स्पर्श आदि करती हुई बोली-॥341॥

बोधहीन होकर भी मैं एक दोहा कहती हूँ, जिसमें प्रज्ञा (बुद्धि) के अनुमान से कवित्व का विनिवेश हुआ है॥342॥

जैसे-

गयवर केरइ सत्थरइ पायपसारिउ सुत्त।

निच्चोरी गुजरात जिम्ब नाह न केणइ भुत्त॥343॥

अर्थात्, हे नाथ! हाथी बिछावन पर पैर पसारकर सोया है। विना चोरी का गुजराती जेमन किसी ने नहीं खाया है॥343॥

इस प्रकार, राजा आदि द्वारा सत्य गुण के कीर्तन से स्तुति किये गये बप्पभट्टि प्रभु ब्रह्मचर्य के प्रभाव की प्रगल्भता से जयशील हों॥344॥

12. एक दिन राजा ने परकोटे के बाहर राजमार्ग से जाते समय घर के पिछवाड़े में कृषक-पत्नी को देखा॥345॥

पाँच अंगुल के हाथीकन्द के पत्ते से स्तन के विस्तार को उसने ढक रखा था और उस पत्ते के छिद्र पर अपने प्रिय हाथों को रख लिया था॥346॥

वह हँसिया लाना भूल गई थी, इसलिए उसे लाने के लिए पीछे लौटकर घर के भीतर गई। वहाँ उसने स्तन-बिम्ब के आकार के पत्ते को देखकर कौतूहल-पूर्ण मन से आधी गाथा कही। इस क्रम में उसने अपनी चल-अचल दृष्टि को रेंड के उद्दण्ड तने पर रख लिया था॥347-348॥

आधी गाथा इस प्रकार है -

वइविवरनिगयदलो एरंडो साहइ व्व तरुणाण।

अर्थात्, भेड़िये की माँद से निकले हुए पत्तोंवाला एरंड मानों तरुणों से कहता है— सुबह में अपने गुरु के आगे संसद् में स्थित—॥349॥

उसने तुरन्त बाद उत्तरार्द्ध कहा—

इत्थघरे हलियवहू इहमिच्चत्थणी वसई॥350॥

अर्थात्, इस घर में चमकते सूर्य जैसे स्तनोंवाली कृषकवधू रहती है॥350॥

यह सुनकर उसने यथादृष्ट रूप में समस्या के पूरक प्रभु की स्तुति की— कलियुग में सद्गुरु के बिना कोई भी सिद्ध सारस्वत नहीं है॥351॥

तब, एक दिन सन्ध्या समय उसने एक प्रोषितभर्तृका (जिसका पति परदेशवासी हो, ऐसी स्त्री) को देखा। वह गरदन झुकाये और हाथ में दीपक लिये हुए थी॥352॥

गाथा का उत्तरार्द्ध तैयार कर मित्र के समक्ष सुबह उसने कहा। तदनन्तर पुनः शीघ्र ही पूर्व भाग को कहा॥353॥

जैसे -

पियसंभरणपलुट्टंत अंसुधारानिवायभीयाए।

दिज्जइ वंकगीवाइ दीवओ पहियजायाए॥354॥

अर्थात्, प्रिय के स्मरण में उमड़ते हुए आँसू की धारा के गिरने से डरी हुई पथिकवनिता गरदन को टेढ़ा करके दीपक रखती है॥354॥

इस प्रकार, अनेक प्रबन्ध-बहुल काव्य-गोष्ठी की गरिमा से गुरु और राजा का कुछ समय सुखपूर्वक बीता॥355॥

13. एक दिन, धर्म-रूप भूमि के धनी तथा दुष्कृतों के लिए सुबुद्धि के निधि -स्वरूप श्रीधर्म ने विपक्षी राजा श्रीआम के पास अपना दूत भेजा॥356॥

तदनन्तर, उस दूत ने (जाकर) राजा को प्रणाम किया। उसे राजसभा में उचित आसन दिया गया। सभासद उसे विस्मित आँखों से देख रहे थे। उसने अच्छे ढंग से राजा से निवेदन किया—॥३५७॥

प्रभो! मेरे नाथ (राजा) आपके निपुणता-पूर्वक राज्य-शासन की विधि से सन्तुष्ट हैं। उन्होंने विस्मित मनोभाव से स्पष्ट कहा है—॥३५८॥

आपके विद्वानों में अतिश्रेष्ठ रत्न-स्वरूप बप्पभट्टि के झूठे-सच्चे कवित्व के व्याख्यान से हम छले गये हैं॥३५९॥

जब वह हमारे घर आये हैं, तब भी न तो आतिथ्य के योग्य हैं, न ही पूजनीय हैं। हमारे रमणीय राजा आम हृदय से अतिशय अनुताप अनुभव करते हैं॥३६०॥

ओह! हृदय को प्रभावित करनेवाले वैदग्ध्य और वाणी के मार्ग का अतिक्रमण करनेवाले साहस से हम चमत्कृत और हर्षित हैं, इसीलिए कुछ कह रहे हैं॥३६१॥

आपके राज्य में वर्द्धनकुंजर नाम के जो सौगत (बुद्ध के अनुयायी) विद्वान् हैं, वह महावादी (महान् शास्त्रार्थी), दृढ़ प्रज्ञावाले तथा सैकड़ों वादियों के जय से ऊँचा उठे हुए हैं॥३६२॥

वह देश की सीमा पर आकर सभासदों के साथ शास्त्रार्थ करेंगे। हम कुतूहलपूर्वक वहाँ आयेंगे॥३६३॥

आपके जो कोई भी वादकोविद हों, वे भी बरसनेवाले मेघ की तरह उन्नत भाव से वहाँ आयें॥३६४॥

तो, वाग्युद्ध ही हो। जिसका वादी विजयी होगा, वही शास्त्रार्थ-जयी माना जायगा। दूसरे अनेक शस्त्रधारियों से मारे गये की क्या गिनती?॥३६५॥

आपकी बाहु, वचन और शौर्य में वे वादी यदि अपराजित ही रहेंगे, तो वह महावादी सौगताचार्य विजयी रहेंगे॥३६६॥

उनके जीतने पर, आपसे हम अनायास ही जीता हुआ हो जायेंगे। जैसे गाढ़ा घृतपिण्ड जल में हिमपिण्ड हो जाता है॥३६७॥

यह सुनकर आमराजा ने सन्देशवाहक दूत से कहा— राजा श्रीधर्म कभी अनुचित बोल सकते हैं क्या?॥३६८॥

फिर भी कुछ उपालम्भ है, जो सज्जनों के योग्य नहीं है। इस अवसर पर निश्चय ही दुर्लभ प्रस्ताव अवश्य कहें॥३६९॥

निश्चय ही, विद्वान् मित्र के बुलाने के व्याज से स्पष्ट ही मिलने का एक आयाम उपस्थित होगा, जिसके प्रति हमारी अभिरुचि है॥३७०॥

उस सन्दर्भ में 'बीजउरा-दोरा' इन दो वाक्यों (शब्दों) में पहला बन्धु की रीति से है और दूसरा राजा की तरह है, जो संस्कृत से सिद्ध है॥३७१॥

आढकीपत्र दिखाने पर और बप्पभट्टि द्वारा उसकी व्याख्या किये जाने पर यह 'तू अ रि प त्त' सिद्ध होता है, जिसे संस्कृत में 'अरिपत्र' कहते हैं॥३७२॥

तीन बार कहने पर भी ज्ञात नहीं हुआ अथवा भय से स्पष्ट नहीं किया गया? वह तीसरी बार कहने पर भी प्रकट (स्पष्ट) हो जायगा, नहीं जानता॥३७३॥

अज्ञानपूर्वक प्रकाशित किया गया यह (शब्द) पुलिंग है या नपुंसकलिंग है, इसे प्रभु की जानकारी में लाया गया, जिसे उन्होंने विशिष्ट रूप से जाना॥374॥

आपके राजा की यदि मेरे प्रति जीतने की इच्छा है, तो मैं आपकी श्रद्धा को अवश्य ही पूरा करूँगा, यह आपकी बात रहे॥375॥

परन्तु विजयी राजा को पराजित राजा द्वारा दर्परहित भाव से अपना सप्तांग* राज्य अर्पित करना पड़ेगा॥376॥

आपके स्वामी यदि इस प्रकार की शर्त को स्वीकार करते हैं, तो ऐसा ही हो; अन्यथा फल के बिना हमारा प्रयास व्यर्थ ही होगा॥377॥

यह सुनकर दूत ने कहा—हे राजन्! आपने मति की अपरिपक्वतावश अपने 'आम' (स्वीकृति-सूचक शब्द) नाम को सत्य (सार्थक) कर दिया है॥378॥

जड़ (मूर्ख) भी, या इससे इतर जन भी, बार-बार कहने पर घर में आये हुए शत्रुराजा को कौन नहीं जानता?॥379॥

आपने स्पष्ट कर दिया कि आतिथेय में (आपको) सम्मिलित नहीं किया जाय। यदि आप भय से सत्कार के लिए अपने नाम को सत्यापित कर रहे हैं॥380॥

बाहरी व्यक्ति के लिए हाथी पर चढ़कर भागनेवाला भी नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में हमारे प्रभु का नाम स्पष्ट ही असार्थक हो जाता है॥381॥

हे राजन्! निग्रह (दण्ड-विधान) में भी इन राजा की स्थिति निर्दोष की ही है। एकमात्र विचारपूर्वक कार्य करने को प्रवृत्ति ही इन्हें अपराधी बनाती है॥382॥

हमारे वादी द्वारा पराजित होने पर उस क्षमा करने में असमर्थ के लिए सर्वस्वविनाशी आप अपमान के पात्र हैं॥383॥

प्रसन्नता को ब्रह्मार्पित करनेवाले इनका पराजय सम्भव नहीं है। आप वादी के सम्बन्ध में विचार करें। अविचारिता विनाशकारी होती है॥384॥

यह सुनकर राजा ने बप्पभट्टि के मुख की ओर हास्यपूर्वक देखा। मुनीश्वर ने सदानन्द से निर्भर बात कही॥385॥

पूर्व-परिचित धर्म के प्रति कौन नहीं उत्कण्ठित होता है? श्रेय से वंचित इसका यदि धर्मानुरागियों के प्रति आग्रह न हो॥386॥

एकमात्र अनित्य के आग्रह में अनुरक्त भिक्षु के जय के प्रति आग्रहशील होने पर यदि वह राग नष्ट हो जाता है तो श्रेयोहीन राग-विजय-रूप मोक्ष कैसे सम्भव है?॥387॥

सर्वदर्शन-सम्मत वैराग्य ही यदि मुक्ति हो, तो इसमें अधीर नहीं होना चाहिए। उसके लिए की गई उन्नति से युक्त भिक्षु ही मेरे लिए जय-योग्य है॥388॥

धर्मराज के कुविचार के कारण ही इस तथ्य को सम्यक् आदर प्राप्त हुआ है; क्योंकि मुद्रपर निर्भर वाद ही उसे उपकृत करेगा॥389॥

अतएव, किसी अवसर पर वादपूर्ण युद्ध (शास्त्रार्थ) आयोजित हो। सम्मानपूर्वक प्रिय पुरुष को धर्मभूषित के पास भेजा जाय॥390॥

* सप्तांग—स्वामी (राजा), अमात्य, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग (किला), एवं सैन्यबल (सेना)।

ऐसा विचार कर आमराज ने उक्त राजा के पास आदेशवाह भेजने की व्यवस्था की। वह आदेशवाह गया और वहाँ के राजा के समक्ष बोला-॥391॥

14. राजा धर्म ने वाग्युद्ध के लिए वर्द्धनकुंजर नाम के श्रेष्ठ शास्त्रार्थी को भेजा-मानों इन्द्र ने बृहस्पति को भेजा हो॥392॥

राजा ने, जिनका यश चारों दिशाओं में फैला हो, ऐसे मित्रों को बुलाकर और उन्हें सम्मानित कर इस शास्त्र-सभा के सदस्य के रूप में नियुक्त किया॥393॥

परमार-महावंश में उत्पन्न क्षत्रियों के अग्रणी उस (राजा धर्म) की (सभा में) वाक्पतिराज रहते थे। वह अनुपम प्रभा से पूर्ण विद्वान् थे॥394॥

वह बप्पभट्टि प्रभु के पूर्व-परिचित थे। वाक्पतिराज के वाक्-मर्म को जानने के लिए उन्हें हर्षपूर्वक (सभा में) बुलाया गया॥395॥

निर्धारित दिन को, सभापति और सभा के सदस्यों के साथ वह वर्द्धनकुंजर देश की सीमा पर स्थित प्रदेश में पहुँचे॥396॥

कान्यकुब्ज से भी सदा प्रसन्न रहनेवाले तथा विद्वानों के निधिस्वरूप श्रीमान् राजा आम विद्वन्मण्डली-सहित श्रीबप्पभट्टि के साथ पधारे॥397॥

स्वर्गपुरी को आभासित करनेवाले आवासों की व्यवस्था (सबके लिए) करके स्वयं छत्र धारण किये (राजा आम) उस सभाभूमि में पहुँचे॥398॥

जिसका जन्म से ही सदा शस्त्र-युद्ध के प्रति आदर नहीं रहा, वह अदृष्टपूर्व वाग्युद्ध देखने के लिए कुतूहलपूर्वक आये॥399॥

‘हम पहले-हम पहले’ के भाव के साथ सिद्ध विद्याधर और देव-समूह अप्सराओं के साथ स्वर्ग-तुल्य गगनांगण में आ पहुँचे॥400॥

कौतुक से आकृष्ट चित्तवाले बहुश्रुत राजसभ्यों के साथ वादी-प्रतिवादी दोनों ही सम्मिलित रूप में आये॥401॥

शास्त्र के अधीन मनवाले सभासदों के बैठ जाने पर सभा चित्रलिखित जैसी शान्त हो गई॥402॥

सभ्यों की अनुमति से सभी ने आगम के अनुसार अपने-अपने राजा को आशीर्वाच्य से अभिनन्दित किया॥403॥

तदनन्तर, सौगताचार्य वर्द्धनकुंजर ने पहले विद्वेषी-समूह के लिए पीडाजनक आशीर्वाद प्रदान किया॥404॥

जो इस प्रकार है- सौगत (बौद्ध) धर्म कल्याणकारक हो। देखें, जिसने वाक्संयम से क्षण-क्षण-विनाशशील विश्व की आदरपूर्वक व्याख्या की॥405॥

अनन्तर, श्वेताम्बराचार्य विद्वत्पति बप्पभट्टि ने भी यथा-समागत राजा के लिए अपना आशीर्वाच्य व्यक्त किया॥406॥

(आपको) अर्हत् शान्ति और उन्नति प्रदान करें। (अप) नित्य आनन्द के पद पर प्रतिष्ठित रहें। (आपकी) ही बात से मिथ्यावादी एकान्त के माननेवाले

पराजित हुए॥407॥

तब पार्षदों ने दोनों के आशीर्वाद के श्लोकों की निरुक्ति प्रस्तुत की। वह धर्म चला गया और वादियों ने भी अपनी बात रोक ली॥408॥

जगत् को क्षणभंगुर कहा गया है। भंग की इसी बात से सौगत का अनुमान किया जाता है। सरस्वती सत्यवादिनी होती है॥409॥

नित्यानन्द पद की श्री प्रदान करनेवाले देव एकान्त के प्रति विग्रहशील हैं। श्वेताम्बर भिक्षु की बात मिथ्यावाद को जीतनेवाली सिद्ध हुई, इसीलिए वह विजयी हुए॥410॥

ऐसा निश्चय कर सभासद जभी मौन हो गये, तभी हाथ में कस्तूरी लेकर बौद्ध ने यह कहा-॥411॥

‘कसु तूरी उपगरइ’ ऐसा प्राकृत में बोलने पर आचार्य बोले-यह धोबी का उपकार करनेवाली है, ऐसा जाने॥412॥

ऐसा उनके प्रश्न-संकेत के उत्तर में निरुत्तर होने पर सबकी अनुमति से रक्ताम्बर-धारी ने यह पक्ष प्रस्तुत किया॥413॥

सभी बातों को अनुवाद के माध्यम से प्रस्तुत कर उस पक्ष के दूषकों के लिए प्रामाणिक-पति मुनि ने अपने भाषण उपस्थित किये॥414॥

तब, उक्ति-प्रत्युक्ति की रीति से, उत्तर से उत्तर के द्वारा विवाद करते हुए उन दोनों के छह महीने बीत गये॥415॥

एक दिन आम राजा ने सूरि से कहा- प्रभो! राजकाज में व्यवधान हो रहा है। यह वाद कब पूरा होगा?॥416॥

तब आचार्य ने कहा- हे कृती प्रभो! आपके वाग्विनोद-सुख के लिए इतना ही समय हमारे मन में था॥417॥

यदि यह आपके लिए बाधाकारक है तो आप देखें-सुबह में ही अपने को विद्वान् माननेवाले भिक्षु का निग्रह करता हूँ॥418॥

गुरु द्वारा पूर्व-प्रदत्त मन्त्र का विनिमय करते हुए मध्य रात्रि में स्वर्गगा की वेणी के बीच से एकान्त में स्नान करती हुई सद्यःस्नाता सरस्वती प्रकट हुई। ओह! मन्त्र का माहात्म्य अद्भुत है कि देवी भी चेतनाशून्य हो जाती है॥419-20॥

अनावृत शरीरवाली उसे (सरस्वती को) एक बार क्षण भर के लिए देखकर उन सूरि ने सूर्य की ओर जैसे अपने मुख को घुमा लिया था॥421॥

अपने रूप को भूलती हुई सरस्वती बोली- वत्स! क्यों मुँह घुमा रहे हो? तुम्हारे मन्त्र-जप से सन्तुष्ट मैं (यहाँ) आई हूँ॥422॥

‘वर माँगो’! सरस्वती के ऐसा कहने पर बप्पभट्टि बोले-हे माता! आपके इस प्रकार के विकृत रूप को मैं कैसे देखूँ?॥423॥

आप अपने निर्वस्त्र शरीर को देखें-ऐसा कहने पर उन सरस्वती ने अपने को देखा (और मन में सोचा) ओह! इसका ब्रह्मचर्य-व्रत पक्का है, यह स्पष्ट है॥424॥

मुझे ऐसी स्थिति में देखकर इसके चित्त में विकार नहीं उत्पन्न हुआ-ऐसा सोचती हुई वह अतिशय सन्तोष के साथ उन बप्पभट्टि के आगे सम्यक् रूप से उपस्थित हुई॥425॥

वर माँगने में भी निस्पृहतावश बप्पभट्टि आश्चर्यित होकर बोले- मेरी जाने-आने की स्वेच्छा आपके अधीन है। आप प्रसन्न हों॥426॥

तदनन्तर, सूरि ने सरस्वती की सुन्दर वचनों एवं 'अधरित' इत्यादि चौदह अद्भुत वृत्तों से स्तुति की॥427॥

सुन्दर वर्णों से युक्त कर्ण-कुण्डल-रूप (अर्थात् कर्ण-मधुर) इस स्तुति को स्वीकार करती हुई सरस्वती अतिशय सन्तोषपूर्वक यह बात बोली-॥428॥

वत्स! क्या पूछते हो?-ऐसा कहने पर वह विवादी सूरि बोले-सचमुच, प्रज्ञा के बल से कुछ विज्ञान की बात कहनी चाहिए॥429॥

देवी बोली-इसने सात जन्म तक मेरी आराधना की है, इसलिए मैंने इसे अक्षय वाक्-शक्ति प्रदान करनेवाली गुटिका (गोली) दी है॥430॥

हे योगिराज! इसके प्रभाव से इसका वचन कभी झूठा नहीं हो सकता। तब उस सूरि ने उपालम्भ-पूर्वक श्रीश्रुतदेवता से कहा-॥431॥

आप तीर्थंकर (जिनेन्द्र) के विरोधी का पोषण करती हैं क्या? पहले सुना था कि आप तो सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न हैं॥432॥

सरस्वती ने फिर कहा- मैं जैन का विरोध करनेवाली नहीं हूँ। उस विद्वान् को जीतने का उपाय बताती हूँ॥433॥

सभी पार्षद आदि तुम्हारे मुख की शुद्धि करेंगे। इसलिए इसे मुख से कुल्ला करना चाहिए॥434॥

यदि गुटिका मुख से निकल जाती है, तो अवश्य ही वह आपके द्वारा पराजित हो जायेगा। पुनः कभी वह चौदह वृत्त प्रकाशित नहीं कर पायेगा॥435॥

क्योंकि, शास्त्र (श्रुत) में मेरा साक्षात्कार निश्चय ही प्राप्त होगा। हे मुनीश्वर! मैं कितने ही पुण्यहीनों पर भी प्रसन्न होती रहती हूँ॥436॥

यह कहकर देवी (सरस्वती) अन्तर्हित हो गई। सूरि प्रच्छन्न रूप से विद्वान् वाक्पतिराज के समक्ष गये, जैसा कि उन्होंने आदेश किया था॥437॥

अनन्तर, उन्होंने आदेश स्वीकार कर, जल से भरे कमण्डलु लाकर सारी सभा की मुखशुद्धि कराई॥438॥

वैसा करते समय उनके मुख से गुटिका नीचे गिर गई। अपुण्यकर्मियों की श्री के समान (वह गुटिका) भिक्षु के मुख-जल से भीग गई॥439॥

मिथोवाद (रहस्य वचन)-रूप पथिक अविराम पथ-यात्रा से थककर मूक की वाणी जैसा विश्राम करने को इच्छुक हुआ॥440॥

सदस्यों ने बात कही कि गुटिका ही वचन बोलने में समर्थ है। यह अपने नाम को सार्थक करनेवाला वाग्विहीन मूक भिक्षु है॥441॥

वादी-रूप हाथी के लिए सिंह के समान श्रीबप्पभट्टि ने विरुद्ध उद्धोषित किया। राजा ने भी 'जय-जय' शब्द का उच्चारण किया॥442॥

राजा धर्म के वैभव-सहित राज्य को अपने बल से हड़पने के लिए आम राजा ने उपक्रम (आरम्भ) किया। कौन विजयशील अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ता है?॥443॥

अनन्तर, उसके गुरु बोले-मैंने पहले जो आपके समक्ष कहा था कि धर्मराज हमें अधिकृत कर राज्य को दाँव पर लगायेगा॥444॥

वह कदाचित् उसके ही उपकार के लिए होगा। राजन्! उसके वचन का समय आ गया है॥445॥

प्रमाणशास्त्र की यह मुद्रा (चिह्न) है, जिसके लिखे जाने के सम्बन्ध में निग्रह का कोई स्थान नहीं है; क्योंकि वह पराजय के जैसा ही है॥446॥

इनका राज्य इनका ही यथास्थित रूप में रहे। अनित्य वैभव के लिए शास्त्र की मुद्रा को कौन विलुप्त होने देता है?॥447॥

यह हर्षात्पुल्ल राजा आम गुरुभक्तिवश बलपूर्वक (राज्य लेने का) इच्छुक नहीं है। गुरुकृपा से ही धर्मात्मा धर्म का राज्य स्थिर है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ॥448॥

तदनन्तर सूरि ने उस वर्द्धनकुंजर नाम के बौद्ध का आलिंगन कर उसे निकटवर्ती गोपगिरि पर स्थित श्रीवीर-भवन में ले गया॥449॥

श्रीमहावीर की प्रतिमा को देखकर वह हृदय से हर्षित हुआ। तब वह प्रमुदित मन से 'शान्तो बेषः' इत्यादि स्तोत्र का पाठ किया॥450॥

इस प्रकार जिन (तीर्थंकर) की स्तुति करके अपने-आपकी निन्दा करनेवाले प्रभु सौगत की, सूरि ने उनके समक्ष जैन रहस्यों का प्रदर्शन किया॥451॥

मिथ्यात्व के विषय का त्यागकर निर्मल अमृतमयी वाणी से सूरि ने उनके चित्त में परीक्षापूर्वक आर्हत धर्म की स्थापना की॥452॥

एक दिन बौद्ध योगेश ने रात में गुरु के निद्रा से मुक्त चैतन्य रहने की स्थिति में, प्रत्येक पहर में कहा था- सूरिश्रेष्ठ ने चार अक्षर (शब्द) में निष्पन्न चार समस्याओं को उन्निद्रता की स्थिति में ही पूरा कर दिया। वे समस्याएँ दूसरे वाग्मियों द्वारा सारे प्रयत्न के बावजूद अपूरणीय थीं। उस सूरिश्रेष्ठ ने अपनी मन्द गति से इतर धर्मानुयायी को परास्त कर दिया था, इसलिए मन्दाक्रान्ता छन्द में ही समस्याओं की पूर्ति की॥453-455॥ समस्याएँ थीं - 1. 'एको गोत्रे'; 2. 'सर्वस्य द्वे', 3. 'स्त्रीपुंवच्च' और 4. 'वृद्धो यूना'।

गोत्र में एक ही वह पुरुष होता है, जो कुटुम्ब (परिवार) का भरण-पोषण करता है, सबकी पूर्वजन्म से अनुबद्ध सुगति और कुगति-ये दो गतियाँ हैं। जब स्त्री पुरुष की धर्म प्रभुता दिखलाने लगती है, तब घर विनष्ट हो जाता है; जो बूढ़ा जवान के साथ परिचय कर लेता है, उसे कागिनिषाँ त्याग देती हैं॥456॥

अनन्तर उन्होंने बारह व्रतों से शोभित सम्यक्त्व ग्रहण कराया। और, आलिंगनपूर्वक कुशल-समाचार पूछकर वह अपने स्थान पर चले गये॥457॥

पूर्व वैर के परित्याग से दोनों सहोदर के समान मिले। परस्पर उपहार (के आदान-प्रदान) से तुष्ट दोनों राजा अपने-अपने नगर में गये॥458॥

15. एक दिन एकान्त में उस सौगत ने धर्म राजा से कहा— बप्पभट्टि ने मुझे पराजित किया है, उसका खेद मेरे मन में (आज भी) बना हुआ है॥459॥

क्योंकि, वाग्देवी उनके कथनानुसार ही करती हैं। स्वप्न में या जागरित अवस्था में उनकी देह में स्वयं रहकर वह बोलती हैं॥460॥

किन्तु, आपके राज्य को भोगनेवाले वाक्पतिराज ने मुखशुद्धि के विधान से हमारा बहुत अपकार किया है॥461॥

यह सुनकर भी बौद्ध के प्रति छलवाद से शिथिल आदरवाले उन्होंने गुणग्राह्य वाक्पतिराज के प्रति स्नेह का त्याग नहीं किया॥462॥

एक दिन राजा यशोवर्मा ने राजा धर्म पर आक्रमण कर दिया। द्विगुण सैन्यशक्तिवाले उस बल्लो राजा ने युद्ध में राजा (धर्म) को मार डाला॥463॥

तब वाक्पतिराज ने उनसे निवेशित होकर उनकी वन्द्या की और 'गौडवध' काव्य की रचनाकर उनसे अपने को मुक्त करा लिया॥464॥

(और फिर) कान्यकुब्ज में आकर वह बप्पभट्टि के साथ मिल गये। वह राजसभा में लाये गये। उन्होंने राजा की स्तुति की॥465॥

आपका पैर कछुए के समान है; देह-यष्टि सर्प के शरीर की भाँति लचीली है; भूतधात्री (जीवों को धारण करनेवाली पृथ्वी) भाजन (दीपक) है; समुद्र तैल का प्रवाह है; यह कनकचल गोल बत्ती का प्ररोह है, सूर्य की प्रचण्ड किरण बत्ती की लौ की तरह है; आकाश का जलता हुआ नीलापन कज्जल (धुएँ) के समान है; शत्रुदल पतंग के समान हैं। हे राजन्! इस प्रकार आपके प्रताप का प्रदीप (सदा) जलता रहे॥466॥

(शत्रु के) चमड़े में 'चट-पट' की आवाज, निकलते लहू का 'छन-छन' स्वर, मेद में 'धगद्धग' तथा हड्डी में 'फट-फट' की ध्वनिवाली आकृति, देवशत्रु के नाथ के हृदय में निनादित ध्वनि तथा अंगुलि, पंजर की रगड़ से उत्पन्न अग्नि आपको पवित्र करे। अपने गुणों से आप राजा पृथु हैं; कीर्ति से आप राम, नल और भरत हैं; महासमर में शत्रुघ्न हैं; आप सदैव युधिष्ठिर हैं। आप अपने सुचरित से चिरन्तन राजाओं की ख्याति धारण करते हैं। आप राजा मान्याता कैसे नहीं हैं? त्रिलोक-विजयी देवता भी आप हैं॥467-468॥

राजा ने उस राजा का अतिशय सम्मान किया। घर में आई गंगा की पूजा कौन नहीं करेगा? आलसी भी नहीं चूकेगा॥469॥

वाणी के पति (बृहस्पति) को पाकर स्वर्ग के पति (इन्द्र) जिस प्रकार अपने को कृतकृत्य मानते हैं, उसी प्रकार वाक्पतिराज को पाकर राजा धर्म अपने को (इन्द्र से) कम नहीं मानते॥470॥

हे मित्र! धर्म के त्याग से मन में अस्वस्थता का अनुभव नहीं करें। घर में उचित रूप से पूजा (आदर) न करने में भी बड़ी बात होगी॥471॥

यह राज्य आपके अधीन है, इसलिए आप सुखपूर्वक विराजें। हे महामते! बप्पभट्टि और मेरे बाद तीसरा स्थान आपका ही है॥472॥

आमराज के इस कथन से वाक्पतिराज ने जैसे अपने को अमृत-सार से नहाया हुआ अनुभव किया, साथ ही गंगाजल से नहाकर वह जैसे प्रीति से पवित्र हो गये॥473॥

अनन्तर, वह राजा के मित्र सूरि के साथ ही उठे और अतिशय हर्षपूर्वक उपाश्रय पहुँचकर वहाँ ठहर गये॥474॥

वाक्पतिराज ने 'गौडवध' एवं 'महुमहविजय' इन दो काव्यों की रचना की। ये दोनों काव्य शास्त्रीय काव्यनिधि हैं॥475॥

धर्मभूपति बौद्ध-कृत द्वेष के समर्थक नहीं थे। गुरु ने उनके समक्ष कहा था कि सर्वत्र गुणी ही समादृत होते हैं॥476॥

लाख स्वर्ण टंक जो वृत्ति-स्वरूप प्रदान किया जाता था, उसे (राजा ने) दुगुना कर दिया। राजा के आश्रय में वह (वाक्पतिराज) अतिशय सुखपूर्वक समय बिता रहे थे॥477॥

16. एक दिन सभा में सुखपूर्वक बैठे हुए राजा ने गुरु से कहा— आपके समान विद्वान् धरती पर तो क्या, स्वर्ग में भी नहीं हैं॥478॥

गुरु बोले—आपके जैन शासन में पुराकाल में ऐसे विद्वान् हुए हैं, जिनकी प्रज्ञा श्रुतज्ञान-रूप महासमुद्र की पारदर्शी थी॥479॥

सौ, हजार अथवा लाख पदों को एक ही पद से जान लेते थे, ऐसे कुछ या अधिक भी विद्वान् हुए हैं॥480॥

आधुनिक काल में भी अद्भुत प्रज्ञाबलवाले हैं, जिनकी चरण-धूलि की भी बराबरी मैं नहीं कर सकता॥481॥

खेटकाधार-मण्डल में हमारे गुरु के दो शिष्य नन्नसूरि और गोविन्दसूरि हैं॥482॥

उनकी मूर्खता के कारण उनके समक्ष नहीं रहना चाहते हुए, विदेश में अवस्थित मेरे शृंगार के लिए आपकी मित्रता है॥483॥

इस बात से चमत्कृत राजा ने कहा—आपकी बात से विश्वस्त होकर भी मैं उस कौतुक को देखूँगा॥484॥

तदनन्तर उन्होंने गुर्जर-मण्डल में स्थित हस्तिजय नगर में जैन मन्दिर के समीप उपाश्रय में स्थित श्रीमान् नन्नसूरि को देखा—उनका वेष बदला हुआ था; भव्य-समूह उनकी सेवा में लगा था; राजा की तरह वह छत्र-चामर के चिह्न से युक्त थे और सिंहासन पर अवस्थित थे। उठे हुए हाथ को फैलाकर इशारे से उन्होंने कुछ कहा। यह देखकर आचार्य ने भी मध्यमा और तर्जनी इन दोनों अँगुलियों को उनके आगे शृंगाकार में फैला दिया॥485-488॥

तब, उठकर उनके समीप गये हुए लोगों ने पूछा - यह क्या है? तब सूरि ने स्पष्ट किया— वह कोई विद्वान् पुरुष हैं, जिन्होंने पूछा कि यतियों के लिए राज्य-लीला कैसी? आपके राजा के शृंग में क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दिया—॥489-490॥

एक दिन चैत्य में प्रवेश कर उन्होंने वात्स्यायन नामक शास्त्र की व्याख्या की। उसे देखकर राजा ने 'जिन' को नमस्कार किया और चले गये॥491॥

उन्होंने कामशास्त्र के व्याख्यान में गुरु को नमस्कार नहीं किया। गुरु ने सोचा— यह विद्वान् चरित्रवान् नहीं हैं॥492॥

जब उन विद्वान् को यह ज्ञात हुआ, तब उन्होंने खेद प्रकट किया-प्रकट अपयश से कलंकित हमारे वैदग्ध्य (वैदुष्य) को धिक्कार है॥493॥

श्रीगोविन्द ने इनसे कहा-क्यों खेद करते हैं? मेरी बात सुनें। गुप्त रूप में यह आमभूपति ही हैं। ऐसा दूसरा नहीं हो सकता॥494॥

तदनन्तर अतिशय रसोज्ज्वल कुछ धर्मशास्त्र प्रस्तुत करके उन्हें बप्पभट्टि प्रभु के समक्ष किसी नट के पास भेजा। वह नट उनके समक्ष यथातथ्य रूप में अभिनय करता है। किन्तु वह प्रभु के आगे दूसरा ही रसावेश अनुभव करता है॥495-496॥

(प्रभु ने) यथारूप स्वीकार कर उस सम्यक् शिक्षित श्रेष्ठ नट को विदा कर दिया। तब वह राजा आम के नगर में पहुँच गया॥497॥

वहाँ वह बप्पभट्टि से मिला। उन्होंने (बप्पभट्टि ने) उसे राजा से देखा-देखी कराई। उस नट ने आदि तीर्थंकर के वृत्त को नये ढंग से अभिनीत किया॥498॥

नन्नसूरि ने आनन्द के निमित्त सन्धि-बन्ध किया। नट ने नृत्य करते हुए प्राकृत-रूपक के माध्यम से उस कथा को विस्तार से कहा॥499॥

प्राकृत-रूपक का शीर्षक था-

‘कञ्चणड्डु सुवियड्डु गिरिवेयड्डु वेहावड्डु’

अर्थात्, सुवर्ण से सम्पन्न, स्वर्ग की सुन्दरता से युक्त वैताड्य पर्वत विभावित हो रहा है।

श्रीबप्पभट्टि ने इस आधा से कम दोनों रूपकों को कहा। विनोद-विधिवश नट ने भी उसे उनके समक्ष प्रस्तुत किया। और, नन्नाचार्य कवि के समक्ष आकर तथ्य का कथन किया। यह काम आसानी से समझ में आने योग्य नहीं है, ऐसा हर्षपूर्वक सोचा॥500-501॥

तदनन्तर, वह सिद्ध गुटिका आदि से रूप बदलकर गोविन्दसूरि के साथ कान्यकुब्ज के लिए प्रस्थित हुआ॥502॥

वहाँ पहुँचकर वह (नट) पट्टेश्वर (विशिष्ट राज्याधिकारी) बप्पभट्टि से मिला और राजसभा में नृत्य करते हुए वीर रस का विस्तार प्रदर्शित किया॥503॥

उसके प्रति एकान्त मन से ध्यानस्थ राजा ने अपनी छोटी छुरी निकाल ली और सिंह के समान क्रोध से ‘मारो-मारो’ कहकर दहाड़ने लगे॥504॥

तदनन्तर अंगरक्षकों ने (राजा के) इस तरह के नाट्य को रोका। चैतन्य की स्थिति में आने पर गुरु की उक्ति से (राजा) प्रतिबोधित हुए॥505॥

गोविन्दसूरि बोले- राजन्! आपने उचित कैसे किया? समस्त श्रेष्ठ शास्त्ररस का अनुभव सभी कोई नहीं कर सकते॥506॥

तदनन्तर, नन्नसूरि द्वारा वात्स्यायन की व्याख्या किये जाने पर श्रोताओं द्वारा कहा गया कि आप शंकालु मनीषी हैं। आपसे दूसरा कौन नहीं संशयापन्न होगा?॥507॥

तब लज्जित राजा ने दोनों विद्वानों को क्षमा कर दिया। मेरे मित्र ने कहा - निश्चय ही उसका वचन (कथन) सत्य है॥508॥

संयम, सुन्दर शील तथा विद्वत्तापूर्ण व्यवहार के कारण दोनों गुरुभाई पूज्य हैं। मेरे भ्रम को क्षमा किया जाय॥509॥

यह सुनकर गोविन्दसूरि ने कहा- आपके द्वारा किये गये व्यवहार को देखे जाने पर हमारा तप कलंकित न हो जाय॥510॥

क्योंकि -

दोषविद् आपके लिए कल्याणकारी हों। विशेषतः उनके वचन के प्रति एकनिष्ठ तथा गुणार्जन के प्रति उत्साहयुक्त मनुष्य, जिनके प्रवादजन्य अपवाद (कलंक) से त्रस्त हो जाते हैं॥511॥

और फिर- जो चरित्र से निर्मल हैं, वे पञ्चानन सिंह हैं; और जो विषय-रूप कष्टान से पीड़ित हैं, उन्हें लोण भरमाता हैं; इस प्रकार वे मियार के समान होते हैं; वे फिर विषय-रूप पिशाच से ऐसे छले जाते हैं, जैसे लक्ष्मी हाथी को मूर्छ बनाती है; जो अपनी शक्ति एवं उज्ज्वल वीरि से युक्त होते हैं, वे ही पञ्चानन सिंह होते हैं; वे निर्मल चरित्र से अपने कुल-रूप आकाश के चन्द्रमा हैं॥512॥

राजा ने यह सुनकर सन्तोषपूर्वक सुहृद्-स्वरूप गुरु से कहा- मैं धन्य हूँ, जिसे ऐसे गुरु का सान्निध्य प्राप्त हुआ॥513॥

राजा ने उन दोनों (विद्वानों) को और कुछ दिन (अपने पास) रखा। तदनन्तर बप्पभट्टि से पूछकर वे दोनों अपने स्थान पर आ गये॥514॥

उन दोनों मित्रों का, धर्म की व्याख्या, सन्तों की कथा और प्रश्नोत्तर आदि से और भी कुछ समय व्यतीत हुआ॥515॥

17. एक दिन संगीतकारों का समूह आया। उन संगीतज्ञों ने कर्णप्रिय महानाद-रस से द्रवगायक तुम्हारे को भी पराजित किया था। उनमें एक किन्नीरी थी, जो गीत की परिष्कार से साक्षात् मातंगी (सिद्धदेवी) थी। उसने अपने रूप से और रस आदि से भी राजा को प्रसन्न कर दिया॥516-17॥

राजा के प्रतिपक्ष को परास्त कर राग से द्वेष रखनेवाला वह विजयी हो गया। तब चित्तवृत्ति-रूप महानगर में हमला बोला॥518॥

शरीर में बसनेवाली इन्द्रियाँ भय से मानों बाहर चली गईं। उनसे ही मानों प्रेरित होकर राजा ने बाहर निवास किया॥519॥

और (मातंगी से) बोले-

हे चन्द्रमुखि! तुम्हारा मुख पूर्णचन्द्र के समान है; दोनों ओट सुधा-स्वरूप हैं; दाँत मणि की पंक्ति जैसे हैं; कान्ति लक्ष्मी-स्वरूप है; गति (चाल) हाथी जैसी है; तुम्हारी गन्ध पारिजात वृक्ष जैसी है; वाणी अभीष्ट इच्छा को पूरा करनेवाली है, कटाक्ष की लहरी कालकूट विष जैसी है; तो फिर देवताओं ने तुम्हारे लिए क्षीर-समुद्र का मन्थन क्यों किया?॥520॥

अनन्तर सूरि ने गुप्तचरों से हाल जानकर सोचा कि यह घुड़सवार का ही दोष है कि घोड़ा कुपथ पर चलने लगता है॥521॥

आम राजा के कुमार्गी होने पर विश्व-प्रकृति की दृष्टि से निश्चय ही अपयश होगा और यह कलंक स्पष्टतः मुझे ही लगेगा॥522॥

इसलिए, किसी उपाय से वह शिक्षणीय हैं; यह सोचकर दृश्य देखने के बहाने, कामार्त की दवा का स्मरण करते हुए घर के बाहर चले गये॥523॥

तदनन्तर गुरु ने पट्टशाला के नये पट्ट पर खाली से दुर्बोध काव्य (श्लोक) लिख दिये॥524॥

काव्यों (श्लोकों) का अनुवाद इस प्रकार है—

शीतलता नाम का गुण आपका ही है, उसके पश्चात् स्वच्छता स्वाभाविक है। शुद्धता के बारे में क्या कहें कि जिसके संग से दूसरे भी शुद्ध हो जाते हैं। इम्से अधिक या श्रेष्ठ आपका स्तुति-पद क्या होगा? आप देहधारियों के जीवन-स्वरूप हैं। यदि आप पानी के समान नीचे मार्ग से जा रहे हैं तो आपको रोकने में कौन समर्थ है?॥525॥

हे सच्चारित्र! सद्गुण-सम्पन्ना! अतिपूजनीय! अतियोग्य! अतिप्रिय! आप प्रियतमों के पीन स्तनमूल के स्पर्श-जनित आनन्द की अनुभूति से रमणीय आकृतिवाले हैं। ओह! चण्डालिन के कठिन कण्ठ में लगने से टूटे हुए हार के लिए अफसोस है! आपने उस हार की गुणशीलता हरण कर ली है!॥526॥

ऊबड़-खाबड़ स्थान में उत्पन्न, फल-फूल-पत्ते से रहित अशोभन आम्रवृक्ष को मूल्य देनेवाले हे पामर! आपको लज्जा नहीं आती!॥527॥

मातंग में आसक्त मनवाले, पृथ्वी का भोग करनेवाले आप धर्मभ्रष्ट की संगति को अनदेखी करते हैं। जिससे लोक लज्जित होता हो, अपना कुलकर्म मलिन होता हो, जीव कष्ट पाता हो, हे सुन्दर! वह काम आप नहीं करें!॥528-529॥

जीवन जलबिन्दु के समान है, सम्पत्ति तरंग के समान चंचल है, प्रेम स्वप्न के समान है, जिसे आप जानते हैं, वही करें!॥530॥

प्रभु बप्पभट्टि यह (काव्य) लिखकर हर्षपूर्वक अपने आश्रय में चले गये। दूसरे दिन राजा भी उस घर को देखने के लिए गये॥531॥

और, हृदय को प्रभावित करनेवाले उस काव्य का जैसे-जैसे वाचन किया, वैसे-वैसे दूध के साथ धतूरे के सेवन से उत्पन्न मोह के समान भ्रम में पड़ गये। अनन्तर श्याम मुख-कमलवाले श्रीमान् राजा आम अनुत्पन्न हो उठे और सोचा-मित्र के विना इस काव्य को कौन समझा सकता है?॥532-533॥

इस समय मैं न दिखाने लायक अपने मुँह को कैसे दिखलाऊँ? उनकी यह कष्टकर स्थिति विश्व के प्राणियों के लिए दोष का कारण बन गई!॥534॥

सम्प्रति बृहद्भानु ही मेरी शुद्धि कर सकेंगे। अन्यथा कलंक से पंकिल जीवन को मुझे त्याग ही देना चाहिए!॥535॥

यह सोचकर उन्होंने वहीं सेवकों को चिता सजाने का आदेश दिया। नहीं चाहते हुए भी सेवकों ने बलपूर्वक राजा के आदेश का पालन किया!॥536॥

यह राजलोक है, ऐसा जानकर वह करुण स्वर में पुक्का फाड़कर रो उठे। तब वह अपने गुरुमित्र के निकट गये!॥537॥

अनन्तर, गुरु बोले— हे राजन्! प्रारब्ध की बात तो स्त्रीजनोचित है। विद्वानों के लिए निन्दनीय यह कैसा कार्य है? तब राजा ने उनके समक्ष कहा—॥538॥

मेरे मानसिक प्रच्छन्न पापजनित मलिनता की स्थिति में अपना देह-त्याग ही उचित है। क्योंकि, दण्ड पाप का नाशक होता है॥539॥

जैसे हम दुष्कार्य करनेवालों को दण्ड देते हैं, उसी प्रकार कर्म के नाश के लिए अपने को हम दण्डित क्यों नहीं करें?॥540॥

गुरु हँसकर बोले— आप मन से विचार करें। मन से किया गया कर्म मन से ही विमुक्त हो जाता है॥541॥

धर्मशास्त्र में विहित कर्म करनेवालों के कष्ट के नाश के निमित्त पापियों के प्रायश्चित्त के बारे में पूछें; क्योंकि धर्मशास्त्रों में मनीषियों ने सबके मोक्ष की बात कही है॥542॥

न्यायनिष्ठों के समूह-स्वरूप राजा ने वहाँ वेदान्त, उपनिषद्, श्रुति और स्मृति के तात्त्विक ज्ञान में विशारदों को बुलवाया॥543॥

तब राजा ने घटना के अनुरूप मन की पीड़ा को उनके समक्ष कहा। तदनन्तर उन स्मृति-विशारदों ने शास्त्रानुसार सार तथ्य की बात कही॥544॥

तदनुकूल रूप और वर्णवाली, अग्निप्लव लोहे की पुतली का आलिंगन करने से चाण्डाली के संगम से उत्पन्न पाप से मुक्ति मिलती है॥545॥

यह सुनकर राजा ने यथाकथित रूप में लोहे की पुतली बनवाई और उसे अग्निप्लव करके उसके आलिंगन के लिए तैयार हो गये॥546॥

तभी, अपनी सिद्धि के लिए उस पुतली का आलिंगन करने को उद्यत राजा को पुरोहित और बप्पभट्टि ने वेगपूर्वक आकर अपने हाथों से पकड़ लिया॥547॥

और, बप्पभट्टि ने कहा—स्थिर आधारवाले हे राजन्! आप स्थिर हों। हे मित्र! करोड़ों का भरण-पोषण करनेवाले आप अपने को व्यर्थ विनष्ट मत करें॥548॥

और फिर कहा—साहस के अनन्य रूप तथा एकाग्रचित्तवाले आपने चित्त से जो कर्म बाँधा था, उससे आप मुक्त हो गये॥549॥

काले मेघ से सूर्य के समान आप इस पाप से मुक्त हो गये। अब आप सज्जनों के मन में विराजेंगे। इस दुष्कर्म का त्याग कर दें॥550॥

प्रभु की बातों से आनन्दित राजा ने अपना कुत्सित आग्रह त्याग दिया। ऐसा ज्ञात होने पर वहाँ हर्ष का पुनर्जन्म जैसा अनुभव हुआ॥551॥

श्री के साथ श्रीश के समान राजा ने देवों के लिए भी अपूर्व उत्सव के साथ नगर में प्रवेश किया। अमात्यों ने नगर को सब ऋद्धियों से अलंकृत कर दिया था। हाथी, गन्धर्व-समूह और पदातियों से गलियाँ आवृत कर दी गई थीं; मुनीश्वर राजकीय हाथी के शिर के अग्रभाग पर आसीन थे; चैवर, छत्र आदि की प्रक्रिया से प्रभा का विस्तार हो रहा था॥552-554॥

18. इधर वाक्पतिराज उस राज-विरूपता को देखकर आग्रहपूर्वक राजा से पूछकर वैराग्य-भाव के साथ मथुरा चले गये॥555॥

एक दिन धर्म-चर्चा के अवसर पर प्रभु राजा बोले और उन्होंने पार्षदों द्वारा उपस्थापित धर्म-तत्त्वों की विवृति प्रस्तुत की॥556॥

आज नवनीत के समान तथा विश्व के धर्मों में करुणानिधि-स्वरूप आर्हत धर्म है। उसे परीक्षापूर्वक ग्रहण करें॥557॥

राजा ने कहा-हमारे जैसे लोग आर्हत धर्म का निर्वाह तो करते हा हैं, पर शैवधर्म में भी मन दृढतापूर्वक लग गया है॥558॥

आपके कथनानुसार, मैं रंगशाला से कच्चे घड़े में जल-लाऊँगा, परन्तु सौहार्दवश इस धर्म का त्याग मत करें॥559॥

पैतृक आचार का त्याग मैं नहीं करता, किन्तु आपके समक्ष मैं कुछ कहना चाहता हूँ- यदि आप रोष नहीं करें, फिर भी गुरु के रोष का भय बना है॥560॥

‘कहिए’- गुरु के ऐसा बोलने पर राजा ने मुस्कराते हुए कहा- आप भी तो बाल-गोपांगना आदि को प्रबोधित कर सकते हैं॥561॥

किन्तु, शास्त्रार्थ से समन्वित बुद्धिवाले मित्र विद्वान् को प्रबोधित नहीं कर सकते; क्योंकि केला जिस तरह खाया जा सकता है, वैसा नीम का फल नहीं॥562॥

यदि आपको शक्ति है तो आज मथुरा में आये हुए अद्भुत पुराणपुरुष का मन से नित्य ध्यान करें॥563॥

उस पुराणपुरुष का शरीर जनेऊ से सुशोभित है, वह अपने नासाग्र पर दृष्टि जमाये हुए हैं, उनके वक्षःस्थल पर तुलसी की माला विराजित है, श्रीकृष्ण के गान की तृष्णा से युक्त वैष्णव ब्राह्मणों से घिरे हैं, उनका वक्षःस्थल पितौजिया की माला से मण्डित है, वह वराहस्वामिदेव के भवन के भीतर अवस्थित हैं, वैराग्य की अतिशयतावश प्रायोपवेशन कर रहे हैं। इसलिए पर्यकासन पर अवस्थित वाक्पतिराज के सामन्त को प्रतिबोधित कर उन्हें शीघ्र ही जैनमत में स्थापित करें॥564-567॥

तब उनके आने पर चौरासी वर्ष से अधिक उम्र के एक हजार सामन्तों और विद्वानों को राजा ने भेजा। वे सभी शीघ्रगामी वाहनों द्वारा आचार्यों के साथ तुरत ही मथुरा के वराहस्वामी मन्दिर में आ पहुँचे॥568-569॥

पूर्वोक्त उत्कृष्ट स्थिति में अवस्थित तथा परमात्मा में स्थित चेतना से सम्पन्न उस पुरुष को सूरि ने आदरपूर्वक देखा॥570॥

वहाँ श्रीबप्पभट्टि ने त्रयी की स्तुति में संलग्न काव्य-समूह को उनके चित्त की परीक्षा के लिए उदाहरणपूर्वक कहा-॥571॥ जैसे-

राम नाम के एक पुरुष हुए। पिता की आज्ञा से पंचवटी वन में विचरण करते समय उनकी स्त्री सीता का रावण ने हरण कर लिया। नौद के लिए माँ द्वारा कही जानेवाली कथा को सुनते समय हुँकारी भरनेवाले, पूर्व-स्मृति में निमग्न हरि के कोप से कुटिल भौंहों की वक्रता से युक्त दृष्टि हमारी रक्षा करे॥572॥

माया-निर्मित अपने स्त्री-रूप को दर्पण में निहित देखकर अपने प्रति ही अनुरक्त केशव आपको श्री-सम्पन्न करें॥573॥

रतिक्रिया के अन्त में (शय्या से) उठ खड़ी होती हुई लक्ष्मी की बाहु हमें पवित्र करे। (शय्या से उठते समय लक्ष्मी) एक हाथ से शेषनाग पर अपना भार डाले रहती हैं, दूसरे हाथ से अपने वस्त्र को पकड़े रहती हैं; कन्धे पर खुली हुई केशराशि वहन करती हैं; तत्क्षण उन (लक्ष्मी) के शरीर की कान्ति से जिनकी सुरत-जन्य प्रीति द्विगुणित हो जाती है; ऐसी स्थिति में कृष्ण द्वारा आलिंगनपूर्वक शय्या पर लाई गई लक्ष्मी की बाहु आपको पवित्र करे॥574॥

आप (शिव) लोक के समक्ष चरण पर गिरकर और हाथ जोड़कर सन्ध्या से याचना करते हैं। हे निर्लज्ज! आप मुझसे अतिरिक्त दूसरी स्त्री (गंगा) को शिर पर जो धारण करते हैं, उसे भी मैंने सहन कर लिया, अमृत-मन्थन में हरि को श्री प्राप्त हुई, किन्तु विष का भक्षण किसने किया? हे स्त्रीलम्पट! मुझे मत छुओ, ऐसा गौरी से कहे गये शिव आपकी रक्षा करें॥575॥

हे अज! आपने जल में जो अमोघ बीज बोया है, उससे समस्त चराचर विश्व उत्पन्न हुआ है। इसी कारण लोग आपका गुणगान करते हैं॥576॥

आन्तरिक ज्ञान के सुख-समुद्र में जो मग्न है तथा परब्रह्म में जिसका मन लगा हुआ है, ऐसे ही मनुष्य से कुल पवित्र होता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है, और पूरी धरती पुण्यवती हो जाती है॥577॥

वह, कर्णकटु बात सुनकर सिर धुनने लगे। नाक सिकोड़कर विकृत मन से उन्होंने यह बात कही—॥578॥

मित्र! इन रसपूर्ण काव्यों की प्रशंसा की क्या बात? आपके इस सौहार्द की यह कैसी घड़ी है?॥579॥

यह श्रीवपुष्पभट्टि के समान हो रहा है क्या? मेरा तो अभी परमार्थ की बातों से बोध प्राप्त करने का समय है॥580॥

तदनन्तर गुरु बोले— वाह! वाह! मैं आपकी चेतना का प्रशंसक हूँ। हे मित्रवर! मुझे आपसे कुछ पूछना है॥581॥

मैंने आपके समक्ष जो देवों का स्वरूप कहा है, वह तथ्यपूर्ण है या तथ्यहीन है? यदि तथ्यपूर्ण है तो फिर मन की दुष्टता कैसी?॥582॥

और फिर तथ्यहीन भी कैसे है? प्रत्यक्ष में सन्देह कौन करेगा? राज्य की इच्छा के अनुसार ही इस कार्य में प्रवृत्ति सम्भव है॥583॥

अथवा परमार्थ की उपलब्धि में? यदि पहला विकल्प है, तो हमें सम्मत है, तभी देवता और राजा भी आराधित होते हैं॥584॥

अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रेमियों को प्रिय वस्तु देनी चाहिए, इसमें संशय नहीं है। यदि आपकी इच्छा परमार्थ के प्रति है तो तत्त्व का विचार करें॥585॥

संसार की उपाधि में मग्न देवों द्वारा यदि मुक्ति प्रदान की जाती है, तो इसमें हमें कुछ भी ईर्ष्या नहीं है। आप स्वयं सर्वज्ञ हैं॥586॥

पंक को दूर करनेवाले जल के जैसे सद्गुरु के वचन को सुनकर गर्व दूर हो गया और भय से जैसे अकस्मात् घिघी बँध गई॥587॥

ओह! यह मेरे पुण्य का ही फल है कि मुझे प्रियमित्र मिले हैं। तो इस अवसर पर मेरा सच्चे अर्थ में उपकार करें॥588॥

वाक्पति ने यह कहकर मौन हो जाने पर सावधानीपूर्वक प्रभु ने उनके समक्ष धर्म, देव और गुरु के तत्त्वों का अन्वाख्यान किया॥589॥

तीनों कालों में विद्यमान रहनेवाला नौ पद-सहित द्रव्य छह प्रकार का है; जीव की छह कायलेश्याएँ हैं; अस्तिकाय पाँच प्रकार के हैं; व्रत, समिति, गति, ज्ञान और चारित्र इनके भेद हैं। त्रिभुवन में पूजित ईश्वर-रूप महापुरुषों ने इन्हीं को मोक्ष का मूल कहा है; जो मतिमान् इनपर श्रद्धा और विश्वास करता है, और अंगीकार करता है, वही निश्चय ही शुद्धदृष्टि होता है॥590॥

अब देवतत्त्व -

अर्हत् सर्वार्थ के ज्ञाता हैं, चाहे वह यदुकुल-तिलक केशव हों या शरीर में हर घड़ी गौरी को धारण करनेवाले शंकर हों, या अक्षसूत्र (रुद्राक्ष की माला) धारण करनेवाले ब्रह्मा हों, या अतिशय कृपालु बुद्ध हों या संसार को प्रकाशित करनेवाले सूर्य या अग्नि हों, राग आदि दोषों से जिसका हृदय कलुषित नहीं है, उस देव को मैं नमस्कार करता हूँ॥591॥

हर समय जहाँ-तहाँ, जैसे-तैसे, जिस-तिस नाम से जो हैं, सो हैं, यदि आप दोष और कलुष से रहित हैं, भगवन्! आप एक ही हैं, आपको नमस्कार है॥592॥

मद, मान, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार से पराजित देवों के लिए बलपूर्वक दूसरों के साम्राज्य के अपहरण को पीड़ा व्यर्थ ही है॥593॥

प्रायः जानिए कि भ्रान्त जन मणिनिर्मित तट की भी गिनती नहीं करते, अक्षय निरंजन परम पद को वे आज भी नहीं प्राप्त कर पाते॥594॥

अब गुरुतत्त्व -

गुरु पाँच महाव्रत से युक्त होते हैं, पंच परमेष्ठी के भक्त होते हैं, पाँचों इन्द्रियों के निग्रह में समर्थ होते हैं और जो पाँचों विषयों से विरक्त होते हैं। गुरु पाँच समितियों का निर्वाह करते हैं, निर्दोष गुणों से युक्त होते हैं, आगमशास्त्री होते हैं, कुविधि और कदाग्रह का परित्याग करते हैं। परमार्थी गुरु भव्यजनों के लिए जलयान-स्वरूप होते हैं, भवसागर से उद्धार करते हैं। अज्ञता-रूप दोष से रहित उनका आसन शुद्ध होता है। छह प्रकार के जीवों को वह निर्भय करते हैं, मत्सर-रहित होते हैं, त्रिगुप्ति से गुप्त होते हैं, केसरी स्पष्ट कहते हैं— जो ऐसे ही गुणोंवाले हैं, वही मेरे गुरु हैं॥595॥

उदर-मात्र 'अन्न' ही जिनका सम्बल है, जिन्होंने धन को त्याग दिया है, जिनका हाथ नित्य (दान में) उठा रहता है, इसी प्रकार के गुरु की किसी प्रकार खोज करो, जो उद्धार करने (तारने) में समर्थ हों॥596॥

दो ही गृहस्थ घोषित करने योग्य हैं, जो निरभिमान हैं और पात्र कहे जाते हैं। हिंसक हिंसक की पूजा करता है। कीचड़ से कीचड़ की शुद्धि क्या हो सकती है?॥597॥

इस प्रकार के हृदय को छूनेवाले सद्गुरु के वचनों से प्रसन्न (वाक्पतिराज ने) ध्यान दिलाकर पूछा कि मेरे मन में कुछ सन्देह रह गया है। यदि इस नरलोक से अनन्त प्राणी मुक्त हुए हैं, तो पूर्णता के कारण वह अनुराग-युक्त हो सकता है, किन्तु मुक्ति में उस (अनुराग) का कोई स्थान नहीं है॥598-599॥

गुरु बोले-महासत्त्व-सम्पन्न जैनवाणी (जिनवाणी) से युक्त बातचीत सुनें। यहाँ विद्वानों को यह दृष्टान्त सुनना चाहिए॥600॥ जैसे-

सम्पूर्ण संसार में बालुका-समूह को ढोनेवाली सैकड़ों नदियों से यदि पृथिवी भरी नहीं होती तो समुद्र भी स्थल-मात्र हो जाते॥601॥

अनन्तर, रोमांचित एवं कुवासना से मुक्त वाक्पतिराज बोले-जो ब्रह्मविदों के राजा हैं, इतने समय तक हम मोहलीला से भ्रान्त रहे और परमार्थ के परामर्शक तत्त्व से भी वियुक्त ही रहे॥602-3॥

आप जैसे पूज्यों से मेरा चिर परिचय भी निष्फल है। इतने दिन धर्म का आख्यान किये बिना ही रह गये॥604॥

उन्होंने कहा-- इस काम-कलुषित ललाट से क्या फल मिल सकता है? मैं इसे जिनवर के भूमिष्ठ प्रणाम-जनित घर्षण के व्रण से उत्पन्न चिह्न से युक्त करना चाहता हूँ॥605॥

मुझ मुमुक्षु के औचित्य का जिससे प्रायः उल्लंघन न हो, ऐसा आदेश करें। मैं यथादिष्ट रूप में कर्मनाशक आचरण करूँगा॥606॥

अनन्तर श्रीबप्पभट्टि ने कहा-यदि तुम्हारे कार्य में शंका है तो मन की शुद्धि करनी चाहिए और व्यवहार भी वैसा ही करना चाहिए॥607॥

इसलिए आप संन्यस्त होकर जैनमार्ग का आश्रय ग्रहण करें। तब यह सुनकर वह उनके साथ ही घर से बाहर चले गये॥608॥

अनन्तर, वह श्रीपार्श्व-मन्दिर में पार्श्व के स्तूप के पास चले आये और पूर्व-स्वीकृत मिथ्यादर्शन के वेष का परित्याग कर दिया॥609॥

जैन ऋषि का वेश स्वीकार कर वह संयम और आचार के शिक्षक, संसार का अन्तिम रूप से त्यागनेवाला और एकतान ध्यान के धारक हो गये॥610॥

तदनन्तर, सब ओर से अट्टारह पाप-स्थानों का परित्याग कर और आन्तरिक कल्मष (पाप) को विनष्ट कर चार शरणों को स्वीकार कर लिया॥611॥

पूर्वकृत पाप-पुण्य की निन्दा-स्तुति (उन्होंने) की। और फिर, मान के निरादर की भूमि-स्वरूप उन्होंने मन को परमेष्ठी-पद के अधीन कर दिया॥612॥

दुष्कृत के विनाश में प्रायः अट्टारह दिनों तक उपाय करते रहे। एकावतार में अन्तरित होने के बाद ही महानन्द का पद सुलभ हुआ॥613॥

सम्यक् आराधना से प्राप्त पाण्डित्य के सेवा-प्रकार से देहमुक्ति होने पर प्राचीन देवों का साम्य प्राप्त किया॥614॥

तदनन्तर, ब्राह्मणों के नायक ने मित्र के स्नेह से कुछ गद्गद होकर कहा, जिसे विश्वसामन्त-स्वरूप विद्वत्समूह सुन रहा था॥615॥

कथन इस प्रकार है—

स्वामी के स्वर्ग चले जाने पर सामन्त राजा विरक्त होकर भी तितर-बितर नहीं हुए। इन्द्र आदि ने स्वर्ग की लक्ष्मी का पहले ही वरण कर लिया है॥616॥

पुराकाल में नन्द से निवेशित गोकुलवास में विश्व-शान्ति के हेतु-स्वरूप श्रीशान्तिदेव और शान्तिदेवी थीं॥617॥

वहाँ श्रीबप्पभट्टि ने तीर्थेश्वर के नमस्कार के लिए जाकर शान्तिदेवता-सहित जिन की स्तुति की॥618॥

‘जयति जगद्रक्षाकर’ इत्यादि शान्ति-देवता का शान्ति-कारक एवं सर्वभयनाशक स्तवन आज भी प्रचलित है॥619॥

तदनन्तर, सामाजिक-समूह द्वारा संस्तुत बप्पभट्टि कुछ दिनों के बाद कान्यकुब्जपुर वापस चले गये॥620॥

गुप्तचरों द्वारा पहले से ही राजा वृत्तान्त जान गये थे। सम्मुख आने पर नगर की सीमा पर जाकर उन्हें (बप्पभट्टि को) शीघ्र ही (नगर में) प्रवेश कराया॥621॥

चमत्कृत राजा ने सभा में बैठे गुरु से कहा— आपका वाक्-सामर्थ्य प्रशंसनीय है, जिससे बप्पभट्टि प्रतिबोधित हुए॥622॥

प्रभु ने कहा—मेरी क्या शक्ति है कि जिसे आप नहीं जानते? राजा बोले— अच्छी तरह जान गया हूँ, निश्चित ही यह आपका धर्म ही है॥623॥

माहेश्वर धर्म को त्यागने में मुझे बड़ी पीड़ा अनुभव हो रही है। यह पूर्वजन्म से जुड़ा हुआ है, इसलिए मैं कर ही क्या सकता हूँ॥624॥

श्रुतज्ञान के निमित्त से जानकर प्रभु बोले—आपके पूर्वजन्मकृत कष्ट से राज्य (की प्राप्ति) बहुत ही कम फल है॥625॥

तब सभा के प्रधान पुरुष ने विस्मयपूर्वक राजा से कहा—हमारी जानकारी के लिए राजा के पूर्वजन्म की बात आग्रहपूर्वक कहें॥626॥

तब शास्त्र से जिसके अज्ञान का कोष समाप्त हो गया है, ऐसे प्रभु ने अच्छी तरह विचारकर श्रेष्ठ प्रश्नकर्ता (राजा) से यथाघटित घटना के बारे में कहा॥627॥

हे राजन्! सुनें। कलिंगराज पर्वत के नीचे चमकते शालवृक्ष के ऊपर की डाल से आपके दोनों पैर बँधे थे; मुख नीचे की ओर था; जटाओं के छोर धरातल का स्पर्श कर रहे थे; दो-दो दिनों पर परिमित आहार लेते थे; क्रोध, विद्वेष आदि का त्याग कर दिया था— इस प्रकार सौ वर्षों से अधिक समय तक दुष्कर तप करके, आयु के अन्त में शरीर त्यागकर आप राजाओं के नायक बने॥628-630॥

हे राजन्! यदि आपको विश्वास न हो तो आप प्रधान पुरुषों को भेजें। आज भी जटा वहाँ हैं, उसे उस पेड़ के नीचे से मँगवा लें॥631॥

इस प्रकार आचार्य के कथन के प्रत्यक्षीकरण के लिए राजा ने अपने मनुष्यों को जटा लाने के लिए भेजा। वे वहाँ जाकर उन जटाओं को ले आये॥632॥

यह मुनीश्वर महाज्ञानी हैं, कलियुग में भी कलानिधि-स्वरूप हैं। वह राजा पुण्यवान् है, जिसके ऐसे अद्भुत गुरु हैं॥633॥

पार्षद लोग (प्रशंसा में) अपने सिर हिलाने लगे, और उस घटना को उल्लसित भाव से बखानने लगे, और फिर सूरि के चरणों पर अपने मस्तक रखकर उनको उन्होंने सम्मानित किया॥634॥

19. एक दिन राजा महल की अटारी पर स्थित घर में कहीं थे। वह अपनी कलहान्तरिता (कलह के कारण वियुक्त) पत्नी से प्रणय-याचना के लिए उसके घर में गये॥635॥

(वहाँ) परब्रह्म के ध्यान के प्रति एकान्तभाव से आग्रहशील जैनभिक्षु को कामुकी स्त्री की अवहेलना कर उसके घर से निकलते हुए देखा। किवाड़ को जोर से पकड़ कर पाद-प्रहार के लिए समुद्यत होने पर मानों कुतूहलवश (कामुकी का) नुपूर भिक्षु के कमल जैसे पैर में जा अटका। वह कामुकी निर्लज्ज भाव से हँसती हुई देख रही थी, और मैं तुम्हें कुछ भी नहीं गितनी— ऐसा बोल रही थी॥636-638॥

एक दिन राजा ने गुरु के समक्ष प्राकृत-निबद्ध वृत्त का एक चरण कहा। तदनन्तर गुरु ने तुरत ही पद के शेष तीन चरण कह दिये॥639॥

वह वृत्त है—

कवाडमासज्ज वरंगणाए अब्भत्थियो जुव्वणमत्तिआए।

अमणिए मुक्कपयप्पहारे सनेउरो पव्वइयस्स पायो॥640॥

अर्थात्, किवाड़ पकड़कर यौवनमत्त वेश्या से प्रार्थना की। अवज्ञावश (वेश्या द्वारा) पदप्रहार के लिए उद्यत होने पर प्रव्रजित (भिक्षु) का पैर नुपूर-युक्त हो गया॥640॥

एक दिन प्रोषितप्रेयसी (वह नायिका, जिसका प्रेमी परदेश में हो) के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश किये हुए भिक्षु को, महल की छत पर धूमते हुए राजा ने देखा॥641॥

उस वेश्या ने अन्न से भरी हुई कलछी लाकर (देने के लिए) ऊपर उठाते समय उस भिक्षु के मुख को देखा। वह भिक्षु भी उस (वेश्या) की नाभि के सौन्दर्य पर टकटकी लगाये रहा॥642॥

तब, एकदिल हो जाने के कारण भिक्षु को दान लेने का स्मरण नहीं रहा। राजा उन दोनों की एकदृष्टि को ध्यान से देखते हुए मुस्कराहट के साथ बोले—॥643॥

कथन का अर्थ इस प्रकार है —

भिक्षु वेश्या के नाभि-मण्डल को देखता है, वह वेश्या उस भिक्षु के मुख-कमल को देखती है।

श्रीवप्पभट्टि ने यह सुनकर राजा के समक्ष यह वाक्य कहा — समुद्र के बुलबुले के समान ऐसे-वैसी की गिनती ही क्या है? दोनों के कपाल कलछी के समान है और काया विनश्वर है॥644-645॥

यह सुनकर राजा सन्तुष्ट हुए और कल्याण तथा बुद्धि के निधान वप्पभट्टि से उन्होंने कहा—विना मेरे मित्र के इस कामदृष्टि को कौन पूरा कर सकता है?

इस प्रकार के सच्चे सौहार्द की मृदुता के नष्ट होने के भय की भूमि-स्वरूप राजा ने गुरु के मुख-कमल पर भूंगी जैसा नित्य निरन्तर दृष्टिपात किया॥647॥

20. एक दिन, विश्वकला का आश्रय-स्वरूप, चित्रकर्म में अतिशय कर्मठ एक चतुर चित्रकार आया॥648॥

पहले उसने अच्छी तरह कपड़े पर चित्र अंकित किया। वह चित्र स्पष्ट ही अनेक रंगों और वर्णों से परिपूर्ण था॥649॥

अलक्षित रूप में भी चित्र की बनावट में निश्चय ही जीव-वध का अंकन नहीं होता है, इसको अपनी सजीव कला द्वारा (चित्रकार ने) सत्यापित किया था॥650॥

इस चित्रकार ने राजा के रूप को तेरह भागों में चित्रित किया था। उसने विकट पट पर अंकित उस चित्र को चित्र के चूड़ामणि (शिरोभूषण-स्वरूप) राजा को दिखलाया॥651॥

मित्र के गुणों की रमणीयता के प्रति आसक्त राजा ने अनास्थापूर्वक (चित्र को) देखकर कुछ भी उत्तर नहीं दिया॥652॥

इस प्रकार तीन बार रूप के चित्रित करने पर भी राजा से जब उत्तर नहीं मिला, तब निर्वेद से अतिशय दीन वचन से दूसरे प्रेक्षकों से (चित्रकार ने) कहा-॥653॥

मैं अपने हाथों को काट लूँ या अपना सिर फोड़ लूँ, मैं क्या कहूँ, मुझ भाग्यहीन से कला का विनाश हो॥654॥

तब किसी दयालु ने बप्पभट्टि से चित्र की समीक्षा करने को कहा। तदनन्तर उस चित्रकार ने जैन प्रतिमा बनाकर गुरु के हाथ में दिया॥655॥

तदनन्तर उन गुरु ने चित्रकला के निधिस्वरूप चित्रकार की प्रशंसा की। अनन्तर राजा के आगे उन्होंने उसे हर्षपूर्वक एक लाख टंक प्रदान किया॥656॥

एकमात्र कान्यकुब्ज नगर में (चित्रकार ने) श्रीवर्द्धमान की प्रतिमा से भासमान चार पट्ट निर्मित किये॥657॥

मथुरा में अणहिल्लपुर नाम का एक नगर है। वहाँ के सतारकपुर में एक प्रतिमा स्थापित कर उसकी प्रतिष्ठा-विधि सम्पन्न की॥658॥

श्रीपत्तन में मोढ चैत्य के अन्तर्भाग को म्लेच्छों ने बहुत पहले ध्वस्त कर दिया था, जिसे उस समय के धार्मिकों ने देखा था॥659॥

श्रीबप्पभट्टि ने शिक्षा से सम्बद्ध सारस्वत कवि के समान 'तारागण' आदि बावन प्रबन्ध निर्मित किये॥660॥

21. अनन्तर एक दिन राजा ने राजा समुद्रसेन से अधिष्ठित तथा शत्रु द्वारा अधि कृत राजगिरि दुर्ग पर चढ़ाई कर दी॥661॥

हाथी और घोड़े पर सवार तथा पैदल सेनाओं से आकाश में परिव्याप्त शब्दाद्वैत के समान नगर व्याप्त हो गया॥662॥

सब प्रकार की श्रेष्ठ सामग्री की बहुलता से उस नगर के वासियों के व्यय का परिग्रह स्पष्ट रूप से उजागर होता था। वह युद्धोत्सुक शत्रुओं के लाख प्रपंचों से भी दुर्ग्रह ही था॥663॥

वह सेना सभी प्रकार के सैन्योचित परिग्रह से व्याप्त थी; वह युद्धोत्सुक पाँच लाख शत्रुओं से भरी हुई थी; उसके पास भैरव आदि महायन्त्र थे, जो लाठी और पत्थर के गोले फेंकने में समर्थ थे। बाहरी प्रांगण के ध्वंसक अस्त्रों से अट्टालिकाओं के तट को तोड़ने का सामर्थ्य उनमें था। वह नगर पत्थर के बने गगनचुम्बी परकोटों से घिरा था। उसके कंगूरे भी बहुत ऊँचे थे, जो सूर्य और चन्द्र के संचरण में क्लेशदायक थे॥664-665॥

‘सुरंगा’ और ‘शूकरी’ जैसे मुख्य प्रपंचों से भी शत्रुओं के लिए वह नगर दुष्प्राप्य था। गिरते हुए गरम तेल से झूलसने के भय से शत्रुओं का विक्रम विफल रहता था॥666॥

आम राजा ने निर्वेदपूर्वक बप्पभट्टि से पूछा— पर्वताकार यह परकोटा कब और कैसे अधीनस्थ करने योग्य है?॥667॥

प्रश्नकर्ता के शिरोभूषण-स्वरूप राजा से शास्त्रानुसार अच्छी तरह विचार कर बप्पभट्टि ने कहा— आपके भोज नाम के पोता इस परकोटे को हथिया लेंगे, इसमें सन्देह नहीं॥668॥

अभिमान के कारण इस बात को सहन नहीं करते हुए राजा वहीं रुक गये। बारह वर्षों पर दुन्दुक के पुत्र के पुत्र पैदा हुआ॥669॥

पैदा होते ही जब वह (बालक) पलंग पर सोया था, तभी पर्वत का भेदन करनेवाले इन्द्र के वज्र के समान उसे प्रधान पुरुष उठा लाये॥670॥

उनकी दृष्टि दुर्ग के शिखर की ओर थी, अग्नितप्त तेल की ज्वाला की लपटों को रोकनेवाले उस बालक के मुख को उसी शृंग की ओर घुमा दिया॥671॥

वह दुर्ग नीचे की खोदी गई जमीन के कारण रण-मण्डप की भूमि जैसा बन गया था। उसकी अटारियाँ टूट रही थीं और गोपुर (बहिर्द्वार) भी ढह रहा था॥672॥

कुचले जाते मनुष्य, स्त्री, हाथी-घोड़ों, गाय-भैसों के आर्त क्रन्दन के स्वर से सब जगह शब्दमय हो रही थी। तीव्र आघात से सामान्य पर्वत चूर-चूर हो रहे थे, बड़े-बड़े पहाड़ भी भयभीत हो रहे थे, देवता स्वर्ग से नीचे गिर रहे थे॥673-674॥

राजा समुद्रसेन भी धर्मद्वार से बाहर चले गये। और आम नाम के राजा राजगिरि में प्रवेश कर गये॥675॥

दुर्ग का अधिष्ठाता यक्ष, स्वीकृत वर के कारण, आम राजा के निकटवर्तियों द्वारा सड़क पर से ही खींच (उठा) लिया गया॥676॥

अपने लोगों से इस बात को जानकर राजा वहाँ गये। उन्होंने कहा— मेरे प्रजाजन को छोड़कर मुझे ही मार डालो॥677॥

इस प्रकार के साहसपूर्ण वचन से उस (आमराजा) ने सन्तुष्ट होकर हिंसा के आग्रह का त्याग कर दिया। प्रशान्त आत्मावाले का सत्संग उपकारक होता है॥678॥

अनन्तर उन्होंने समुद्रसेन से मैत्री स्थापित कर ली। और, प्रभु के यथादेश का पालन करनेवाला बन गया। (बोला—) हे मित्र! मेरा जीवन कितना है, ज्ञान-दृष्टि से देखकर मुझे बताइए॥679॥

आयु के छह मास रहने पर मैं बताऊँगा— यह कहकर वह अन्तर्हित हो गये। पुनः अवसर आने पर उन्होंने कहा—मागध तीर्थ में गंगा के बीच नाव पर जाते समय मकार पूर्व

नामक ग्राम के समीप आपको मृत्यु होगी॥680-81॥

धुआँ निकलते जल को देखकर आपको पक्की जानकारी हो जायगी। जो जानना उचित है, मृत्यु के पूर्व उसे कर डालें॥682॥

22. मित्र (समुद्रसेन) के उपदेशानुसार राजा ने तीर्थ-यात्रा शुरू कर दी। कौन आलसी अपने कल्याण के लिए अपनी सद्गति नहीं चाहेगा?॥683॥

साहसपूर्ण यात्रा के क्रम में राजा पुण्डरीकाद्रि पहुँचे। वहाँ उन्होंने युगादिनाथ की अर्चना करके अपने को कृतार्थ समझा॥684॥

श्रीनेमिनाथ को हृदय में धारण किये हुए वह रैवतक पर्वत की उपत्यका-भूमि में पहुँचे। वह भूमि सुधियों द्वारा चिह्नित थी॥685॥

तीर्थ को प्रणाम करने के लिए आये अनेकानेक राजाओं को इस पर्वत ने देखा था। इसके दर्शन से घोड़े से युक्त हजारों सैन्य का आतंक नष्ट हो जाता है॥686॥

और फिर, ग्यारह व्यर्थ वागाडम्बरवाले राक्षस जैसे कलिनिष्ठ दिगम्बरों से व्याप्त शाखोट (सिरोह) के वृक्षों को देखा॥687॥

इलापति ने महातीर्थ को स्वीकार करनेवाले और पर्वतारोहण में समर्थ असंख्य सैन्यों को युद्ध के लिए आमन्त्रित किया॥688॥

उन सैन्यों को देखकर बप्पभट्टि ने अपने मित्रराजा से कहा-धर्म-कर्म के लिए उद्यम करने की घड़ी में युद्ध के द्वारा प्राणियों को कौन मारना चाहता है?॥689॥

हे राजन्! इन अकर्मण्य विद्वानों को मैं वाग्युद्ध में जीतूँगा। नख से छेदने योग्य कमल के पत्ते पर कुल्हाड़ी का प्रयोग कौन करेगा?॥690॥

वे सभी वाद-मुद्रा में अनायास ही जीत लिये जायेंगे। पतंगों को जलाने पर दीपक की स्तुति कैसी?॥691॥

तदनन्तर उन समीपी मित्रों से सर्वश्रेष्ठ प्रशान्त पुरुष (बप्पभट्टि) ने कहा- यदि आप सभी जीत लिये जाते हैं तो प्रतिज्ञा से भी नियन्त्रित नहीं होंगे॥692॥

श्रीनेमिनाथ के चरणकमलों की राजहंसिनी शासनदेवी अम्बा है। उनके चरणों की नखावली, असंख्य व्यन्तर देवों के अधीशों द्वारा चुम्बित रहती थी॥693॥

इन दोनों की दो कन्याएँ क्रम-विपर्यय से थीं, देवी इनके बीच रहकर इनसे बातचीत करती थी॥694॥

तीर्थ उसी का हो, जिसकी माता उसे क्रमशः समर्पित करेगी। पीड़ा के आधारभूत वाद-विवाद से क्या होने का?॥695॥

उन दोनों का यह व्यवहार उनके अभिमत के आधार पर निर्धारित था। दोनों पक्षों का घर में उदग्र प्रभाव था॥696॥

तदनन्तर बप्पभट्टि ने उनके लिए कुमारिका अर्पित कर दी और बारह पहर तक वह उन (यथाश्रुत) मन्त्रों से अधिवासित की गई॥697॥

वह बहरी-गूँगी की तरह किसी प्रकार भी बोल नहीं पाई तो वे (राजा) बोले कि यदि आपमें शक्ति है तो आज हमारे समक्ष कन्या से बोलवाइए॥698॥

बप्पभट्टि ने उस (कुमारिका) के माथे पर अपने कमल के समान कोमल हाथ को रख दिया। उसके मुँह में बैठी देवी अम्बा स्पष्ट रूप से बोली॥699॥

ऊर्जा-सम्पन्न पर्वत-शिखर पर जिनका दीक्षा-ज्ञान सम्पन्न हुआ एवं जिनकी निशीथिका (स्वध्याय-भूमि) भी रही, उन धर्म-चक्रवर्ती अरिष्टनेमि को मैं नमस्कार करती हूँ॥700॥

तदनन्तर, 'जय-जय' की ध्वनि के साथ दुन्दुभी बजने लगी। श्वेताम्बर-पक्ष को उन्नति प्रदान करनेवाली वह ध्वनि पूरे आसमान में गूँज उठी॥701॥

तभी से यह गाथा चैत्य-वन्दना के बीच सिद्ध-स्तवनकारी तीन गाथाओं से ऊपर समादृत हुई॥702॥

प्राचीन श्रुतवृद्धों द्वारा इन्द्रस्तुति के समान अष्टापद की स्तुति बच्चों और स्त्रियों के लिए पठनीय के रूप में मान्य हुई॥703॥

तदनन्तर रैवतक के आरोहण-क्रम में उस (बप्पभट्टि) ने जन्म का फल मानते हुए महाभक्ति-पूर्वक उस समुद्रविजय के पुत्र की पूजा की॥704॥

वहाँ पिण्डतारक, माधवदेव तथा शंखोद्धार में स्थित दामोदर हरि की पूजा करके वह चले गये॥705॥

तदनन्तर, वह द्वारका में श्रीसम्पन्न कृष्णमूर्ति को प्रणाम कर तथा दान आदि देकर सोमेश्वरपुर चले गये॥706॥

तदनन्तर, सोमनाथ की हेमपूजापूर्वक वासव द्वारा जीवनदान की तरह (उन्होंने) उस लोक को प्रसन्न किया॥707॥

श्रीआमराजा पुनः अपने नगर पहुँचे और यहाँ यथेच्छ दान दिया और धर्मस्थानों का निर्माण करवाया॥708॥

23. समय आने पर उन्होंने अपने पुत्र दुन्दुक को राज्य में प्रतिष्ठित किया। पहले से आनन्दित रहते हुए भी प्रजा से उन्होंने क्षमा-प्रार्थना की॥709॥

गंगा नदी के तटवर्ती मागध के लिए उसे विदा किया। इसी बीच उसने नाव पर चढ़कर तीर्थ जाने की इच्छा प्रकट की॥710॥

इसी बीच सूरि के साथ उसने (जलसे) धुआँ निकलते हुए देखा। लोगों से गंगा के समीपवर्ती 'मगटोडा' प्रदेश की जानकारी मिली॥711॥

व्यन्तर देवी की प्रतीति होने पर सूरि ने आमराजा से कहा— (जीवन के) अन्त में यदि विश्वास है तो जैन धर्म स्वीकार करें॥712॥

राजा ने कहा— मुझे स्वीकार है। सर्वज्ञ ही मेरी शरण हैं। कृपापूर्वक यदि आप देव, गुरु, ब्रह्मचारी और धर्म की ही बात करें॥713॥

देव, गुरु, और धर्म ने जिसे व्यावहारिक कहा है, उसे मैंने इतने दिनों तक तीनों-मन, वचन और कर्म की शुद्धि के फलस्वरूप त्याग दिया है॥714॥

सम्प्रति मेरी मित्रतावश यहाँ पूज्यपाद जनों के विधिवत् विग्रह-त्याग की स्थिति आपके लिए उचित नहीं है॥715॥

अन्यत्र भी लोक में जैसे समस्या-पूर्ति आदि के द्वारा समय बिताया जाता है, वैसी सुखद स्थिति निश्चित रूप से उपलब्ध होगी॥716॥

यह सुनकर मुग्ध करनेवाली बात बोलनेवाले प्रभु ने यह कहा- अपने-अपने कर्मों से कौन-कौन किस-किस गति को प्राप्त करेगा, इसे 'जिन' के बिना कौन जानता है?॥717॥

व्रत में स्थित जनों का अपने प्राण का निषेध उचित नहीं है। आज भी मेरी आयु के पाँच वर्ष शेष रह गये हैं॥718॥

विक्रम-संवत् के एक सौ आठवें वर्ष के भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की पंचमी तिथि, शुक्रवार को, चन्द्रमा जब चित्रा नक्षत्र में तथा सूर्य और चन्द्र तुला राशि में थे, तभी दिन के अन्तिम पहर में, पंच परमेष्ठी के लिए बार-बार नमस्कार शब्द को सुनते हुए, जिनेश, सन्मित्र और पूज्यपाद गुरु को स्मृति में रखते हुए श्रीमान् 'नागावलोक' नाम के राजा दिवंगत हो गये॥719-721॥

अनन्तर, कुछ मित्र मोहवश पार्श्ववर्ती प्रधान पुरुषों और बन्धुओं ने वहाँ रहकर (मृत राजा का) और्ध्वदैहिक कृत्य सम्पन्न कराया॥722॥

कुछ ने शोक की लहरों से सन्तप्त होकर तथा उन (राजा) की गुणों का बार-बार स्मरण करते हुए उद्देगपूर्ण करुण स्वर में कहा-॥723॥

आठ सौ नब्बे का वह संवत्सर और चित्रा नक्षत्र नहीं हो, उस भाद्रपद मास को भी धिक्कार है, उस दुष्ट शुक्लपक्ष का भी क्षय हो, सिंह नक्षत्र की संक्रान्ति भी आग में जल जाय तथा शुक्रवार की पंचमी भी गंगा के जल में डूब जाय; क्योंकि इन्हीं घड़ियों में राजा नागावलोक स्वर्ग चले गये॥724॥

24. अनन्तर मुनीश्वर बप्पभट्टि पे कान्यकुब्ज में उद्यम-हीन राजा दुन्दुक से अधिष्ठित (राज्य को) देखा॥725॥

राजा भोज ने अपने पुत्र को 'कण्टी' नाम की वेश्या में आसक्त देखा; वह कण्टी (कण्टिका) भाग्योदय-कला का केलि-विलास-स्वरूप तथा पाप की भूमि थी॥726॥

मूढ़ जन उस (वेश्या) की बातों से ही बेहोश (हतचेत) हो जाते थे, वह सबको हानि पहुँचाती थी, वह अविवेकों की धरती के बोझ-स्वरूप थी; ऐसे वेश्याजनों के संगम को धिक्कार है॥727॥

उस (दुन्दुक) की दुखिया माँ ने अपने बन्धुओं को सूचित किया कि संकट-काल में कुलस्त्रियों की रक्षक पिता की शरण ही होती है॥728॥

राजा ने पुत्र-जन्मोत्सव के बहाने तथा विचार-विमर्श के लिए उन बन्धुओं को बुलवाया, फिर अपने राजभवन में चहलकदमी करने लगे॥729॥

महल के द्वार पर शस्त्रधारियों को सूचित कर गुरु लौट आये और मातुलों के साथ पाटलिपुर चले गये॥730॥

एक दिन ईर्ष्यालु राजा दुन्दुक ने आचार्य से कहा-मुझपर प्रसन्न होकर उत्तम पुत्र ले आये॥731॥

तदनन्तर उसने उत्तरोत्तर ध्यान, योग आदि कार्यों से पाँच वर्ष बिताये। तदनन्तर मृत्यु के दिन, अन्त समय आने पर राजा ने पुत्र को लाने के लिए गुरु को अतिशय आदर और आग्रहपूर्वक भेजा॥732-733॥

गुरु नगर के नजदीक गये और मन में सोचा-यदि भोज को ले आता हूँ तो उसे राजा मार डालेंगे॥734॥

अगर कण्टिका (वेश्या) को साथ लाता हूँ तो यह (दुन्दुक) अतिशय मूर्ख उससे मिल जायेगा? पुनः शिष्यों को लाया जाय तो शासन की प्रभावना-हीनता के कारण उपद्रव (आतंक) को बढ़ावा देगा॥735॥

इसलिए, सम्प्रति प्रायोपवेशन-पूर्वक मृत्यु ही उचित है। ऐसा करने से अतिशय विद्वान् द्वारा की गयी आराधना ही आदृत होगी॥736॥

मुनीश्वर बप्पभट्टि ने स्वयं अध्यात्मयोग द्वारा इक्कीस दिन बिताकर; भूख, प्यास, नींद आदि शरीर-विद्वेषी कृत्य को त्याग कर अपने को दशम द्वार से निर्वासित कर दिया और (तपस्या के लिए) उद्यत होकर ईशान स्वर्गलोक में देवत्व प्राप्त किया॥737-738॥

विक्रम के आठ सौवें वर्ष में भाद्रपद की (शुक्ल) तृतीया को, रविवार के दिन, हस्त नक्षत्र में गुरु बप्पभट्टि का जन्म हुआ। छह वर्ष तक व्रत में रहे, ग्यारहवें वर्ष में सूरित्व प्राप्त हुआ। प्रभु की आयु पंचानबे वर्ष की समर्थित हुई। विक्रम के आठ सौ पंचानबेवें वर्ष में भाद्रपद शुक्ल अष्टमी के दिन स्वाती नक्षत्र में पंचत्व प्राप्त कर (बप्पभट्टि) आम राजा के गुरु के रूप में इस लोक में आये॥739-741॥

यह सुनकर आम राजा के, अतिशय गहन शोक की भूमि-स्वरूप पौत्र भोज अपने मुख-कमल को संकुचित कर विलाप करने लगे॥742॥

विवेक के बाहुल्य से सम्पन्न को अविवेक ने पराजित कर दिया; वाक्शक्ति नष्ट हो गई; घमण्ड-हीनता गायब हो गई; ज्ञान को जलांजलि दे दी॥743॥

इस प्रकार क्षण भर विचार करके (भोज ने) चिता तैयार करने का आदेश दिया। उनका चारित्र दोषरहित एवं गुरुभक्ति से पवित्र था॥744॥

पितामह के वियोग की स्थिति में भी उनकी मित्रता बढ़ गई थी; उनके दिवंगत होने पर लोक में अनाथ जैसी स्थिति हो गई॥745॥

तदनन्तर वह क्षण भर भी पृथिवी पर नहीं ठहर सके। अब उन्होंने पिता की तरह मित्र के पुत्र का अनुगमन करना उचित समझा॥746॥

मातृपक्ष के प्रधान पुरुषों के बोध की अवहेलना कर गुरु की मृत्युभूमि को प्राप्त किया, मानों लीलावन में गये हों॥747॥

माता की बाहु का सहारा लेकर तत्क्षण उन्होंने कहा कि गुरु की कृपा से राज्य वीर-विहीन नहीं है॥748॥

दो ससुरों का संहार हो जाने पर तुम्हारे विद्वेषी पिता अपने को विजयी मानते हैं। उनके जैसा महापापी तुम्हारी प्रजा को कष्ट पहुँचायेंगे॥749॥

हृदयहीनता से रहित भी आप दयालु हैं। मेरी प्रार्थना है कि इस (प्रजापीडन जैसे) कर्म से आप विमुख हों; क्योंकि आप पिता के हृदय को आनन्द देनेवाले पुत्र हैं॥750॥

माता की आज्ञा की अलंघ्यता के कारण भोज की आँखें आँसुओं से भर गई। उन्होंने चिता पर स्थित गुरु की पीठ पर चादर डाल दी॥751॥

भारी शोक के भार से क्लान्त देहवाले (भोज ने) अपने प्रभु का पितामह-तुल्य और्ध्वदेहिक कृत्य सम्पन्न किया॥752॥

25. एक दिन आकस्मिक वनाग्नि जैसे भोज मामा के साथ पिता को शान्त करने के लिए निश्चिन्त भाव से कान्यकुब्ज (कन्नौज) पहुँचे॥753॥

वहाँ नगर के मुख्य द्वार से शीघ्र ही प्रविष्ट होने पर राजा ने द्वार के निकट तीन बिजौरा नींबुओं के साथ मालाकार को देखा॥754॥

तब उन्होंने उन नींबुओं को स्वामिपुत्र के लिए उपहार-स्वरूप प्रदान किया। उन नींबुओं को लेकर वह प्रजाजन का धन्यवाद करते हुए अन्तःपुर के महल में चले गये॥755॥

वहाँ श्रेष्ठ आसन पर कण्टिका (वेश्या) के साथ स्वामिपुत्र को बैठा हुआ देखकर उन बीजपूर नींबुओं के आघात से उनके हृदय (छाती) को आहत किया॥756॥

महाप्राण में आघात के कारण दोनों ही प्राण-रहित हो गये। पूर्व-चिन्तित पुत्रहत्या के पाप से डरकर वह बाहर निकल गये॥757॥

घर के गोदड़ के समान दुन्दुक को अवैध द्वार से बाहर खींचकर उसकी गेंद जैसी स्थिति से प्रेरित लोग क्रीड़ा करने लगे॥758॥

निःशब्द ध्वनिपूर्वक वह सिंहासन पर बैठे। सभी सामन्त और पुरवासी एवं मन्त्रिवर्ग उनके समक्ष प्रणत हुए॥759॥

राजा श्रीसम्पन्न 'आमविहार' नामक तीर्थ को नमस्कार करने गये। वहाँ उन्होंने महामुनि बप्पभट्टि के दो शिष्यों को देखा॥760॥

विद्या के घण्टवश उन्होंने राज-सम्मान के योग्य कार्य-उठकर खड़े होना, नमस्कार करना आदि नहीं किये। तब श्रीभोज ने सोचा—॥761॥

व्यवहार से अज्ञ वे दोनों शिष्य प्रभु की पद-गरिमा के योग्य नहीं हैं। क्योंकि, संसार में व्यवहार ही महत्त्व का आधार होता है॥762॥

आचार्य श्रीनन्नसूरि और श्रीमान् गोविन्दसूरि दोनों को बुलाकर राजा ने सम्मानित किया और प्रभु के पट्ट पर प्रतिष्ठित किया॥763॥

राजा ने सूरि के गुणों से समृद्ध नन्नसूरि को मोढेर भेजा, और गोविन्दसूरि को अपने पास रखा॥764॥

तदनन्तर, अनेक राज्यों और राष्ट्र को अधिगृहीत करने के आग्रही भोजराज ने जैन प्रवचन के उत्कर्ष के लिए आम राजा से भी अधिक कार्य किया॥765॥

वादि-रूप गजेन्द्रों के लिए केसरी-स्वरूप बप्पभट्टि और भद्रकीर्ति ब्रह्मचारी होने के साथ ही राजपूजित गजपति थे॥766॥

अपनी यशोगाथा से विख्यात, जैनशासन-रूप क्षीरसागर के पुरुषोत्तम के

वक्षःस्थल पर रहनेवाला कौस्तुभ (मणि)-स्वरूप जगत्-रूप धरापृष्ठ पर स्थित धर्म रूप कल्पवृक्ष के किसलय-सदृश जिनका नाममन्त्र आज भी जड़ता-रूप विष को दूर करनेवाला है॥767-768॥

इस प्रकार, प्रभु बप्पभट्टि का यह चरित समस्त विश्वलोक में विख्यात है, मैं (प्रभाचन्द्राचार्य) ने पूर्व के विद्वानों में प्रसिद्ध शास्त्र से प्राप्त करके जो थोड़ा कुछ कहा है, उसमें निहित अनुचित कथन पूज्य (विद्वानों) द्वारा क्षम्य है; उन पूज्यों की कृपा से ही जो कुछ कहा गया है, वह सबके लिए अभिगम्य (जानने योग्य) हो और जिनमत स्थिरता का सुनिश्चित पात्र बने॥769॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप श्रीराम और लक्ष्मी से उत्पन्न श्रीप्रभाचन्द्र सूरि ने अपने मन में यथा-संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चारित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीमुनिचन्द्र प्रद्युम्न द्वारा व्याख्यात श्रीबप्पभट्टि की कथा-रूप ग्यारहवाँ शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥770॥

दुष्कर्म को जीतनेवाले, पुरुषोत्तम के शरीर से उत्पन्न अविशुद्ध अक्षर-हेतु के मूर्ति-स्वरूप पर्वतीय उच्च मार्ग के आगे स्थित श्री-रूप प्रद्युम्न का शरीर कल्याण करे॥771॥

श्रीकान्यकुब्ज-नरेश को प्रबोधित करनेवाले तथा पूर्वागत शास्त्र में वर्णित, विश्व में समस्या के नवीन पाठबन्ध से युक्त श्रीभद्रकीर्ति की कीर्ति नृत्य कर रही है॥772॥

॥ श्रीबप्पभट्टिसूरि-चरित समाप्त॥



श्रीमानतुंगचरित

1. प्रभु श्रीमानतुंग के चरित-निरूपण में ज्ञान के समुद्र (गणेश) की शारदीय चन्द्रमा के समकक्ष दन्त-कान्ति विजयी हो॥1॥

नित्य लाख योजन दूर से भी वर्णनीय सुवर्ण की कान्तिवाले सौमनस के आश्रय-स्वरूप मेरु-सदृश मानतुंग प्रभु हमारी रक्षा करें॥2॥

उत्तम तीर्थों के शृंगार-रूप यह ऐतिह्य तीर्थ संसार में आवाहनीय है, प्रिय है और आवास-योग्य है॥3॥

सदा गंगा की तरंग में पापों को धोनेवाली साक्षात् स्वर्गपुरी जैसी वाराणसी नगरी है॥4॥

वहाँ श्रीहर्षदेव नाम के निष्कलंक राजा थे। वह विद्वानों के शिरोमणि थे तथा याचकों के लिए गरीबी से मुक्ति की आश्रय-भूमि थे॥5॥

वहाँ ब्रह्मक्षत्रिय जाति के धनदेव नामक के सेठ रहते थे। वह सुधी थे तथा विश्व के राजा-प्रजा के लिए अर्थ की व्यवस्था करते थे॥6॥

उनका पुत्र मानतुंग नाम से प्रसिद्ध था। वह सत्त्व और सत्य का आश्रय था एवं पराये का द्रव्य एवं परस्त्री के प्रति आग्रह को मूल्य नहीं देता था॥7॥

वहाँ के चैत्य में कामपीड़ा से रहित जैन नग्न मुनि थे। एक दिन विवश होकर वह (मानतुंग) उस चैत्य में गया॥8॥

वीतराग प्रभु को नमस्कार कर उसने गुरु-चरणों के निकट जाकर उन्हें (मुनि को) प्रणाम किया। गुरु ने भी धर्मवृद्धि के आशीर्वाद से उसे संवर्द्धित किया॥9॥

और, पंच महाव्रतों के साथ ही नग्नता व्रण करने का उपदेश दिया, साथ ही ऊन, कपास, तसर एवं शैम्ब(?) से निर्मित वस्त्र पहनने का निषेध किया॥10॥

इस प्रकार अनेक प्रकार के धर्ममार्ग के श्रवण से व्रतार्थी मानतुंग वैराग्य के रंग में रँग गया॥11॥

उसके माता-पिता से पूछकर आचार्य ने उसे व्रत में दीक्षित किया और चारुकीर्ति महाकीर्ति नाम दिया॥12॥

उने विद्वान् आचार्य ने स्त्रियों के मोक्ष की मान्यता नहीं दी, केवल केवलियों की मुक्ति को ही मूल्य दिया। साथ ही बत्तीस अन्तरायों का निर्देश किया॥13॥

तदनन्तर उस (मानतुंग) ने लुचन-कार्य सम्पन्न किया; हाथ में जल-भरा कण्डलु लिम्बा; सभी प्रकार के आवरणों का त्याग कर दिया और ईर्यासमिति स्वीकार की॥14॥

गृहस्थ के घर से ऊपर स्थित स्थान में भोजन लेता था; हाथ में मोर की पिच्छी धारण करता था और मौन के समय में मौन रहता था॥१५॥

सदा निष्प्रतिकर्म (मालिन्य) और प्रतिक्रमण (जैन साधु और गृहस्थ का सुबह-शाम को करने का अनुष्ठान-विशेष) दोनों में वह दक्ष हो गया; छोटे-बड़े सभी प्रकार के दुष्कर व्रतों का पालन करने लगा॥१६॥

2. इसके भगिनीपति (बहनोई) लक्ष्मीधर नाम के थे। वह बहुत लक्ष्मीवान् थे, आस्तिकों के शिरोमणि थे। उनका यश चतुर्दिक् फैला हुआ था॥१७॥

एक दिन दृढभक्तिपूर्वक चर्या के लिए निमन्त्रित महर्षि उसी समय उसके घर आये॥१८॥

अशुद्धिजन्य प्रमादवश जल की खोज के कारण, उन (महर्षि) के कमण्डलु में अनेक सम्मूर्च्छित कीड़े पड़ गये थे॥१९॥

महर्षि ने कुल्ली करने के लिए जब उस जल को हाथ में लिया, तब उसमें उन कीड़ों को देखा; तभी श्वेताम्बर-व्रत में लीन उनकी बहन बोली-व्रत में दयालुता ही सार है। (जल में स्थित) दो इन्द्रियोंवाले त्रस जीव प्रमादवश विपद्ग्रस्त होंगे, इसलिए यह जल जैनों के योग्य नहीं है॥२०-२१॥

यहाँ लाज ढकने के निमित्त वस्त्र-खण्ड का परिग्रह उचित है। किन्तु स्वेच्छा-प्राप्त यह जल ताम्रपात्र में क्यों नहीं है?॥२२॥

प्राणियों की रक्षा में तत्पर श्वेताम्बर जैन धन्य हैं। अपनी (जीवदया की) क्रिया में तत्पर वे रात में जल भी नहीं लेते हैं॥२३॥

परमार्थ को आदर देनेवाले एवं अनासक्त सचेल और अचेल (श्वेताम्बर और दिगम्बर) जैन दुर्नय की अवधारणा को आदर नहीं देते हैं॥२४॥

पाँच आस्रवयुक्त इन्द्रियों के विषयों के परित्याग में तत्पर (जैन) तीन गुणित्यों से रक्षित होते हैं और पाँच समितियों में दृढ़ रहते हैं॥२५॥

यह सुनकर मुनि बोले-मेरा निश्छल वचन सुनें। पुण्य के इच्छुक मैंने घरवास का परित्याग कर दिया॥२६॥

और समाचार बाद रहे, जहाँ जीवदया नहीं है, सर्वज्ञ के विरोधी उस धर्म का क्या मूल्य है?॥२७॥

इस देश में दुर्लभ श्वेताम्बर भिक्षु आते हैं। वह (बहन) बोली- सम्प्रति मध्यदेश से वे भिक्षु आते हैं॥२८॥

मैं उनसे आपका निश्चित रूप से सम्बन्ध स्थापित कराऊँगी। ताकि, निर्मल तप से शीघ्र ही आप अपने जन्म को पवित्र (सार्थक) कर सकें॥२९॥

सम्प्रति कहीं भी एकान्त में स्थित कूप आदि के जल का परित्याग करें। ताकि, शासन की गरिमा को हल्का करनेवाली मलिनता न आये॥३०॥

और फिर, निश्चित ही जीवों का विरोध भी होगा, अन्यान्य जहाँ-तहाँ के जल में उत्पन्न जीव परस्पर द्वेष रखनेवाले होते हैं। उनका यह वचन सुनकर उसने अतिशय

पश्चात्ताप किया और श्रेष्ठ भक्ति के साथ उन्हें भोजन कराया और मुनि उसे प्रबोधित कर अपने आश्रय में चले गये॥31-32॥

एक दिन अजितसिंह नाम के सूरि नगर में आये। पुरा काल में वह नगर श्रीपार्श्वनाथ तीर्थकर के कल्याणक से पवित्र हुआ था॥33॥

वह गंगा-तटवर्ती, पर्वत-समूह से घिरे निर्बन्ध उद्यान में गये, जैसे ज्ञान-सम्पन्न देव नन्दन वन में प्रविष्ट होते हैं॥34॥

उस (बहन) के सूचित करने पर मनभावन श्रद्धा से सहोदर-समान मुनि यह सुनकर वहाँ गये, जहाँ गुरु की संगति उन्हें प्राप्त हुई॥35॥

पूर्व ऋषियों से घिरे शान्त आचरणवाले उन्होंने उनके समक्ष निवेदन किया, जिसे उन्होंने अमृत-तुल्य मानकर आदर दिया और सुना॥36॥

गुरु द्वारा दीक्षित उस चतुर और अनुभवी ने आगे भी तपस्या-विधिपूर्वक और आदर के साथ आगम का अध्ययन किया॥37॥

तदनन्तर उस विश्वस्त ने सम्यक् रूप से तप और शास्त्रानुशीलन द्वारा इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि गुरु ने उसे सूरि-पद पर प्रतिष्ठित किया और गच्छ ने भी आदर दिया॥38॥

क्लिष्ट काव्य के भ्रम से श्रान्त वाणी की अधीश्वरी देवी (सरस्वती) उसके वचनामृत से संसिक्त होकर परमानन्द की भूमि बन गई॥39॥

वह उस समय की गम्भीर ज्ञान-क्रिया से उन्नति प्राप्त करके अवान्तर (क्षुद्र या गौण) विद्वेषियों की उन्निद्रता का कारण बन गया॥40॥

3. इधर नगर में मयूर नाम से विख्यात विद्वान् थे। वह वेद-वेदांग के पारगामी तथा विद्वानों के शिरोमणि थे। मूर्तिमान् ब्रह्मा के समान वह राजा द्वारा पूजित भूदेव (ब्राह्मण) थे। विरोधी कवि-रूप सर्पों के लिए दर्पहारी मयूर की तरह थे॥41-42॥

दुहिता (पुत्री) रूप, शील और गुणों के उदय से अतिशय कल्याणकारिणी होती है। जिसको देखने से सचमुच उमा, गंगा और देवी लक्ष्मी उसके जैसी ही लगती हैं॥43॥

पंक में पंकज और अथाह जलवाले हृद में कुमुद, बाड़े के बाहर फैली बिम्बी लता और आकाश में उगे चन्द्रमा (जैसी स्थिति में), जिसके हाथ, आँख, होठ और मुख को देखकर ब्रह्मा को अपनी सृष्टि पुरानी और जूठन जैसी लगती है, दैव ने उसे (दुहिता को) वैसी ही बनाया है॥44॥

उसके कुल, रूप आदि की दृष्टि से अद्भुत और समुचित वर को सर्वत्र देखा-सुना गया। फिर भी (सुयोग्य) वर के न मिलने से सभी दुःख में पड़ गये॥45॥

तब, तर्कलक्षण एवं साहित्यरस के आस्वादन की एकान्त बुद्धि से युक्त वेदविद् महाविप्र प्राप्त हुए, जिनका नाम बाण था, और वह प्राच्यशास्त्रीय गुणों से युक्त थे॥46॥

वह प्रख्यात कवि थे, कामदेव के समान सुन्दर रूप से सम्पन्न थे, उनको देखते ही मयूर कवि भेघाडम्बर देखकर हर्षित मयूर के समान हो गये॥47॥

पिता ने उस पुत्री का, सम्मान और वैभवपूर्ण विवाह उनके साथ कर दिया। अनुरूप वर की प्राप्ति के बावजूद, पिता के लिए वह पुत्री दुःख से छोड़ने लायक हुई। तदनन्तर, पुत्री के पति को, राजा श्रीहर्ष को दिखाया गया। तब आशीर्वाच्य द्वारा उसे संवर्द्धित कर राजा ने सन्तोष का अनुभव किया॥48-49॥

उसके लिए अलग से धन-धान्य आदि से भरा-पूरा आवास बनवाया गया। इस प्रकार, राजा द्वारा सम्मानित उन दोनों ने सदा साथ रहने का आनन्द प्राप्त किया॥50॥

4. एक दिन बाण को अपनी पत्नी के साथ स्नेह-कलह हो गया। चीनी या मिसरी मरिच के चूर्ण के बिना देर से पचनेवाली होती है॥51॥

अतिशय घमण्डवाली बाण की पत्नी रुष्ट होकर पिता के घर (पीहर) चली गई। शाम को उसका पति उसके घर जाकर अनुनयपूर्वक बोला-॥52॥

जैसे-

हे स्वामिनि! स्वार्थ के विनाशक, जगत् के शत्रु-स्वरूप मान को त्याग दो। दूसरे जन्म में भी सुख चाहनेवाले कामुक सेवक अहंकारी नहीं होते॥53॥

वासगृह से बाहर निष्कासित उसने उस सखी को पण्डित (बुद्धिमती) कहा। तदनन्तर मान को त्यागनेवाली उसका प्रति मंदरहित उसने वचन की भंगिमाओं के साथ कहा-॥54॥

तिरस्कृत प्राणस्वरूप पति भूमि को (अँगूठे के नख से) कुरेद रहा है। निराहार सखियों की आँखें निरन्तर रोते रहने से सूज गई हैं। पिंजरे के सुग्गों ने हँसना-पढ़ना सब छोड़ दिया है। आपकी यह दशा (अत्यन्त शोचनीय) है। इसलिए हे कठोर हृदयवाली! सम्प्रति मान का त्याग कर दो॥55॥

वह भी बाहर आकर पण्डित से विदककर बोली- मैं जूते उतारकर इसके घर में प्रवेश करूँगी॥56॥

मौन धारण कर खड़ी उससे विद्वान् होकर भी अपने को मूर्ख मानते हुए उन कवि बाण ने बहुत सबेरा हो जाने पर काव्यमय श्लोक के द्वारा कहा-॥57॥

श्लोक का अर्थ इस प्रकार है -

रात प्रायः बीत गई। दुर्बल शरीरवाला चन्द्रमा मानों मलिन पड़ रहा है। यह दीपक भी मानों नींद के वशीभूत होकर ऊँघ रहा है। मैं प्रणाम में झुका हुआ हूँ, फिर भी तुम अपने क्रोध को नहीं त्याग रही हो। हे सुभ्रू! (सुन्दर भौहोंवाली) लगता है, तुम्हारे कठोर स्तनों के लगाव से हृदय भी कठोर हो गया है॥58॥

घर की दीवार के उस पार (खुले स्थान में उसके पिता सोये हुए थे। अत्यन्त श्रेष्ठ काव्य सुनकर वह हड़बड़ा कर जाग उठे और बोले-आपने (बाण ने) सही जगह पर 'सुभ्रू' शब्द को 'चण्डी' नाम (की स्त्री) के लिए उदाहृत किया है; क्योंकि इस अतिशय क्रोध करनेवाली के लिए यह शब्द (विशेषण) निश्चित ही उचित है॥59-60॥

पिता की यह बात सुनकर लाज से मुँह झुकाये हुए (बाण-पत्नी ने) विचार किया मेरे पिता ने रात की पूरी घटना को सुन लिया है॥61॥

‘बिना जाने मान करनेवाली भुझ भूखा को धिक्कार है!’ इस प्रकार उसने स्वयं अपने की निन्दा की। और तब, उसने पिता के प्रति तीव्र अमर्ष धारण किया॥62॥

अहंकार छोड़कर वह अपने पति से स्थिर प्रेम करने लगी। जैसे हिमालय की गंगा चन्द्रशेखर शिव के मस्तक पर विराजती है॥63॥

मैं बचपन से इस भ्रम में थी कि मेरे पिता विद्वानों में अग्रणी हैं। फिर भी वह अनुचित धारणावाले तथा हीन दृष्टिवाले कैसे हो गये?॥64॥

उनके जैसे कुलीनों के लिए यह कहना क्या उचित है? माता, बहन और बेटी के लिए अवाच्य वाच्य का आधार नहीं हो सकता है॥65॥

क्रोध के अहंकारवश उसने पिता को स्पष्ट शब्दों में शाप दे दिया— औरस के नाता को नहीं जाननेवाले क्रियाभ्रष्ट आप कुष्ठग्रस्त हो जायें॥66॥

उसके शील के प्रभाव से तत्क्षण उसका (पिता का) शरीर श्वेत चन्द्रकों (चन्द्रमा के आकार के गोल कुष्ठ के चिह्नों से) आच्छादित हो गया। तब वह चन्द्रकी (चन्द्रकों से युक्त) पिता मयूर सचमुच मयूर जैसा लगने लगे॥67॥

बाण के प्रति आसक्ति रखनेवाली वह आदर-भाव के साथ अपने घर चली गई। तब पिता का दुर्वचन उसके लिए सान्त्वनादायक हो गया॥68॥

तत्क्षण कुष्ठ को देखकर पश्चात्ताप की पीड़ा से आतंकित वह (पिता) मुँह झुकाये अपने घर में ही रह गये, राजसभा में नहीं गये॥69॥

पाँच-छह दिनों के बाद वह राजमहल में गये। बाण ने क्रुद्ध होकर उनके बहुत सारे दोषों का बखान किया। भोगियों के भोग के विनाश के लिए एकान्त रूप से प्रतिज्ञाबद्ध मलिन अंग से युक्त वह मित्र से मिलने पर सदा लज्जा की यथोक्त बात को प्रकट करते थे॥70-71॥

वह मेघ के मित्र मयूर के चन्द्रकों से युक्त शरीर में विचित्र चित्र के कारण भले ही राजसभा के अयोग्य थे, किन्तु पापों की निधि नहीं थे॥72॥

राजा ने जब सुना कि मयूर (कवि) सचमुच कुष्ठ से दूषित हो गये हैं, तब आश्चर्यित प्रभु ने उन्हें अपने आदमियों से बुलवाया॥73॥

उन्होंने कपड़े के घूँघट में अपने शरीर को सजाकर राजा के समीप आये, पर वहाँ उन्होंने अपने लिए बैठने की जगह की इच्छा नहीं की॥74॥

अनन्तर बाण ने मयूर को स्वाभाविक रूप में देखकर स्पष्ट कहा— यह ‘वर-कोढ़ी’ ठण्डक से शरीर की रक्षा के लिए वस्त्र से आच्छादित होकर सभा में आये हैं॥75॥

पुनः अपने घर जाकर (मयूर ने) स्थिर भाव से मन में विचार किया— कलंक से पंकिल मित्रों की बराबरी उचित नहीं है॥76॥

साथ खेले हुए (मित्रों) के इस संघ में जो कलंक से शक्ति जन रहते हैं, वे भौह-रूप खड्ग से कटे हुए अपने मस्तक को नहीं जानते हैं॥77॥

वैराग्यवश देह का जो त्याग है, वह भी सज्जनों के लिए उचित नहीं है। असह्य दुःख के कारण देहत्याग स्त्रियों जैसा कायरपन ही है॥78॥

कोई कलानिधि देव सनातन प्रीति से प्रसन्न करने योग्य होते हैं, जिनकी प्रसन्नता से आराधना की जाती है, (उनकी कृपा से) नई देह सुलभ होती है॥79॥

मुझे इस (रोग) से मुक्ति के लिए कर्मसाक्षी सूर्य की उपासना करनी चाहिए। आराधना और विराधना (विरोध) दोनों के प्रत्यक्ष फल देखे जाते हैं॥80॥

छह डोरियोंवाले छींके को लटकाकर उसमें वह (मयूर कवि) बैठ गये और नीचे गड़्हा खोदकर खैर (की लकड़ी) के जलते अंगार से उसे भर दिया॥81॥

शार्दूलविक्रीडित छन्द में (रचित) एक-एक श्लोक द्वारा वह स्तुति करते और श्लोक के प्रत्येक चरण के पूरा होने पर छींके की एक डोर को छुरी से काट देते। इस प्रकार पाँच श्लोक (काव्य) कहकर शेष चरण की पूर्ति पर डोरी को वह काट रहे थे कि प्रकट तेज के साथ सूर्य ने आकर तत्क्षण उन्हें (नवीन) देह प्रदान कर खैर की लकड़ी की आग को बुझा दिया॥82-83॥

तब उन्होंने (मयूर कवि ने) सौ श्लोकों की सूर्य-स्तुति की रचना की। जिसे (सूर्य-स्तुति का) एक श्लोक भी स्मरण में रहता, वह देवों का साक्षात्कार कर लेता था॥84॥

श्रीसूर्यदेव ने सन्तुष्ट होकर उन (मयूर कवि) को नीरोग देह प्रदान किया। वह देह साढ़े सोलह वर्षों से युक्त तथा चमकते सोने जैसा कान्तिमान् था॥85॥

सुबह में, अनावृत शरीर के साथ वह राजसभा में आये। श्रीहर्षराज ने पूछा—आपके नये रोग का क्या हुआ, कहें॥86॥

महाराज! मैंने सूर्यदेव की उपासना की। उन्होंने सन्तुष्ट होकर मुझे यह देह प्रदान किया है। भक्ति के द्वारा कोई कार्य दुष्कर नहीं है॥87॥

तब बाण-पक्ष के ईर्ष्यालु पण्डितों ने अतिशय उग्र स्वर में कहा—पुरानी घटना को सुनने से यह बात स्पष्ट हो जाती है॥88॥

जैसे—

मयूर (कवि) की मोठी बात यद्यपि हर्ष का उत्कर्ष देती है, तथापि बाण कवि के उत्कर्ष में पराये हिस्से का हिस्सेदार नहीं होती॥89॥

राजा ने कहा—यह बात सच है कि गुणी गुणी के प्रति ईर्ष्यालु होता है। आप सब भी इस सन्दर्भ में असूया (गुण में दोष का आरोप) से रहित नहीं है। ऐसी स्थिति में मैं क्या बोलूँ?॥90॥

वैद्य के औषध क बिना भी जिसने निर्मल चित्त से भक्तिपूर्वक सूर्य की कवित्व द्वारा आराधना की, उसके लिए सूर्य ने निर्मल देह प्रदान किया॥91॥

जिनके वचन-क्रम से सूर्यदेव अतिशय परितुष्ट हुए, उनकी तुलना में आहार आदि के कलुष से व्याप्त हम जैसे मनुष्य की क्या हैसियत है?॥92॥

बाण बोले—प्रभो! जिसका प्रायः आपने पक्ष लिया है, देवता की स्पष्ट अतिशयता की स्थिति में उसके शृंगार के बारे में क्या कहना?॥93॥

राजा ने कहा—इस प्रकार कोई-कोई ही आश्चर्य का अतिशय दिखला सकता है। यदि शक्ति है, तो इस प्रकार के शुभ अनुष्ठान में दूसरा कौन प्रतिगामी हो सकता है?॥94॥

राजा की यह बात सुनकर बाण ने अतिशय साहस के साथ कहा- मेरे हाथ-पैर को काटकर मुझे चण्डिकागृह की छत पर ले जाकर वहाँ से नीचे की ओर स्थिर भाव से छोड़ दें, ताकि मैं वहाँ से अतिशय साहसपूर्ण चमत्कार दिखा सकूँ॥95-96॥

मयूर ने कहा- इनके प्रति अनुकम्पावश तथा मेरे प्रति प्रसन्न होकर हे राजन्! इसकी वैसी हालत नहीं करे॥97॥

क्योंकि मेरी पुत्री को इनके विकृत अंग की सेवा करने में कष्ट होगा। और फिर प्रभो! आजीवन ये मुझसे पूर्णतया अलग हो जायेंगे॥98॥

यह सुनकर राजा ने मयूर के प्रति अद्भुत भक्ति प्रदर्शित की और बाण के प्रति कुपित होकर अतिशय कौतूहलपूर्वक कहा-॥99॥

वाणी ही जिसका प्राण है, ऐसे बाण कवि की बात मान लेनी चाहिए। यदि इनके हाथ-पैर नये हो जायेंगे, तो इनके यश का विस्तार होगा॥100॥

अन्यथा यदि इन विस्तारपूर्ण वाणी के धनी कवि के कथन को मूल्य दिया जाय तो राजसभा में मनमाना बोलनेवालों की कोई गुंजाइश नहीं होगी॥101॥

अथवा सूर्य की आराधना करके मद और विष से हीन सर्प जैसे इन पण्डित (कवि) के गुण को स्वीकार कर लेना ही ठीक होगा॥102॥

राजा के ऐसा कहने पर, बाण ने साग्रह सुनने योग्य उद्दाम आक्षरिक आडम्बर से युक्त श्लोकों द्वारा चण्डी देवी की स्तुति प्रारम्भ की॥103॥

तब, प्रथम छन्द का सातवाँ अक्षर पूरा होते ही अपने तेज के साथ देवी उनके सम्मुख आकर बोली- वर माँगो॥104॥

मेरे हाथ-पैर को नया कर दें- ऐसा बोलने के साथ ही उनके अंग-प्रत्यंग पूरे होकर जरा-रहित तथा शोभा-सम्पन्न हो गये॥105॥

तब महोत्सव-पूर्वक वह राजमहल में गये। राजा से पुरस्कृत वे दोनों (बाण और मयूर) प्रीतिपूर्वक एक ही जगह ठहर गये॥106॥

पहले कभी क्रोध में आकर झगड़ते हुए वे दोनों जब निवृत्त हुए थे, तब राजा ने कहा था कि आप दोनों के बीच के झगड़े का निर्णय सम्भव नहीं हैं॥107॥

मूलमूर्ति के रूप में स्थित वाग्देवी जहाँ हैं, वहीं, अर्थात् काश्मीर राज्य के प्रवरपुर में आप दोनों ही जायें॥108॥

जय या पराजय हो, दोनों का निर्णय वहाँ के स्वामी ही करेंगे। कौन सचेतन पुरुष अपने विघ्न को स्वीकार करना चाहेगा॥109॥

बाजी यह रखी गई कि जो पराजित होगा, उसके सारे ग्रन्थ मेरे (राजा के) प्रांगण में जलाकर नष्ट कर दिये जायेंगे॥110॥

न्यायालय में उन दोनों के पहुँचने पर पण्डितों ने तथा राजा के लोगों ने साथ मिलकर उन दोनों का सम्मान किया॥111॥

निरन्तर चलते हुए वे दोनों थोड़े ही समय में ब्राह्मी और ब्रह्मा के दैवी विचित्रता से पवित्र नगर में पहुँचे॥112॥

उन दोनों की दुष्कर तपस्या द्वारा की गई आराधना से सन्तुष्ट देवी ने परीक्षा के लिए दोनों को दूर हटाकर समस्यापूर्ति का पद प्रस्तुत किया। एक ने उसकी शीघ्र पूर्ति कर दी और दूसरे ने भी उसी तरह अक्षर-पंक्ति द्वारा समस्या पूरी की॥113-114॥

विलम्बित और द्रुत (देरी और जल्दी) के भेद से आधे क्षण में ही (समस्या-पूर्ति करके) बाण शीघ्रता के कारण विजयी हुए और दूसरे (मयूर) विलम्ब के कारण पराजित हो गये॥115॥

समस्यापूर्ति का श्लोक है-

दामोदरकराघातविह्वलीकृतचेतसा।

दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम्॥116॥

अर्थात्, कृष्ण के हाथों के आघात से विकल चित्तवाले मल्ल चाणूर को आकाश में (एक साथ) सौ चन्द्रमा नजर आये॥116॥

इस प्रकार, वाणी का निर्णय पाकर प्रधानों के साथ दोनों कवि अपने नगर आ गये और राजा के समक्ष जा खड़े हुए॥117॥

मयूर कवि ने खेद के साथ अपने ग्रन्थों-पुस्तकों को राजा के प्रांगण में लाकर उनमें आग लगा दी। वे सभी ग्रन्थ जलकर भस्म हो गये॥118॥

‘सूर्यशतक’ पुस्तक की राख ज्यों ही उड़ी, त्यों ही सूर्य की नई किरणों में उसके अक्षर प्रकट हो गये॥119॥

तब राजा ने इस पुस्तक के प्रभाव को जानकर इसे गौरव के साथ प्रकाशित कराया और दोनों विद्वानों का समान भाव से सम्मान किया॥120॥

5. एक दिन राजा ने दोनों कवियों की निरन्तर प्रशंसा करते हुए अमात्य से कहा- इन भूदेवों की प्रत्यक्ष महिमा दिखाई पड़ती है॥121॥

आपने यदि कहीं अन्यत्र दूसरे में ऐसी विशेषता देखी है, तो कहें। मन्त्री ने कहा- आप स्वामी यदि सुन रहे हैं तो कहता हूँ-॥122॥

मानतुंग नाम के श्वेताम्बर जैनाचार्य हैं। वह सुधी एवं महाप्रभाव से सम्पन्न हैं और आपके ही नगर में रहते हैं॥123॥

आपको यदि कुतूहल है तो उन गुरुश्रेष्ठ पुरुष को बुलवायें। आपके मन में जैसा करणीय है, वैसे ही उसकी पूर्ति होनी चाहिए॥124॥

यह सुनकर राजा ने कहा-उन सत्पात्र को सम्मानपूर्वक यहाँ ले आयें। ऐसे निस्पृह जन के समक्ष राजा की क्या हस्ती है?॥125॥

मन्त्री ने उन (श्रेष्ठ पुरुष) के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और कहा- राजा आपको वात्सल्यवश बुला रहे हैं। आप पधारें॥126॥

गुरुजन बोले- हे महामात्य! हमें राजा से क्या प्रयोजन? यह भूमि तो निरीहों की है, पराये वैभव के इच्छुकों के लिए नहीं॥127॥

मन्त्री ने कहा- प्रभो! भावना (चिन्तन) से प्रभावना (व्यक्त करना) श्रेष्ठ होती है। पूज्यों द्वारा शासन प्रभावना के योग्य है, वह भी राजा की प्रसन्नता से सम्भव है॥128॥

इस प्रकार, आग्रहवश श्रीमानतुंग सूरि राजमहल में आ गये। राजा ने खड़े होकर उनकी अभ्यर्थना की॥129॥

(श्रीमानतुंग) राजा को धर्मलाभ का आशीर्वाद देकर उचित आसन पर बैठे। राजा ने पूछा— इस धरती पर ब्राह्मण किस प्रकार अतिशय से सम्पन्न होते हैं?॥130॥

एक ने सूर्य की आराधना कर अपने शरीर को रोगमुक्त किया और दूसरे ने चण्डिका की सेवा करके, (नवीन) हाथ-पैर प्राप्त किये॥131॥

हे पूज्य यतिनायक! आपमें भी यदि शक्ति है तो अभी कोई चमत्कार दिखलाइए॥132॥

यह सुनकर उन्होंने कहा कि हे राजन्! हम गृहस्थ हैं। धन, धान्य, गृह, क्षेत्र, स्त्री और सन्तान की प्राप्ति के निमित्त राजा की प्रसन्नता, विद्या की प्राप्ति एवं लोकसेवा आदि जो क्रियाएँ करता हूँ, वह शासन के परम उत्कर्ष के लिए ही हमारे द्वारा करणीय है॥133-134॥

मानतुंग के ऐसा कहने पर राजा बोले— बेड़ी से बाँधकर इन्हें आपादमस्तक अन्धकार में डाल दिया जाय॥135॥

तब, अन्तःपुर में, कठोरहृदय राजपुरुषों ने लोहे की चौआलीस बेड़ियों में उन्हें बाँध दिया और फिर लौहयन्त्र के समान गुरु को उठाकर (कक्ष में) डाल दिया और (कक्ष के) द्वार तथा किवाड़ बन्द कर दिये॥136-137॥

और फिर (कक्ष में) अतिशय पुराना जाल-सहित ताला जड़ दिया। सूचीभेद्य अन्धकार से युक्त वह (कक्ष) पाताल जैसा प्रतीत होता था॥138॥

वह (मानतुंग) एकचित्त होकर प्राचीन 'भक्ताभिरस्तोत्र' का पाठ करने लगे। तभी तत्क्षण 'तड़ाक' की आवाज से बेड़ी टूट गयी॥139॥

पूर्व-निर्धारित संख्या में वृत्त पाठ करते ही श्रीमानतुंग सूरि शीघ्र ही बन्धनमुक्त हो गये॥140॥

द्वार-यन्त्र के स्वयं खुल जाने पर अतिशय संयत तथा सदा-निर्बन्ध रहनेवाले श्रीमान् (मानतुंग) का शरीर शृंखला-रहित हो गया॥141॥

अन्तःपुर की संसद् में आकर उन्होंने राजा को धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया। प्रातः काल में पूर्वाचल (उदयाचल) से उदित होते सूर्य के समान महामुनि ने राजा के लिए शान्ति और अतिमानुषी (दिव्य) शक्ति की कामना की। देवी-देवता के आधार के बिना ऐसा तेज किससे प्राप्य है॥142-143॥

(राजा ने कहा—) प्रभो! मेरा देश, नगर और मैं धन्य हुआ हूँ। मेरा दिन पुण्यमय हो गया है। जहाँ मैंने आपके प्रतिभोज्ज्वल मुख के दर्शन किये हैं॥144॥

हे स्वच्छता के निधि-स्वरूप! मुझे पुण्यमय आदेश प्रदान करें, ताकि आपका अनुग्रह मेरे लिए आजीवन रक्षा में सफल हो॥145॥

राजा की बात सुनकर वह अकिंचन (महामुनि) बोले— (आपसे प्राप्त) लब्धियों का उपयोग जहाँ कहीं भी मैं नहीं करूँगा॥146॥

हे गुणों के समुद्र श्रीमान्! आप इस पृथ्वी का प्रशासन करें। अकल्याण के विनाशक जैनधर्म का परीक्षण-पूर्वक पालन करें॥47॥

अनन्तर राजा ने कहा— रास्ते में जैन के विना पथिक जबतक नहीं दिखाई पड़ता है, तबतक हम अपने को पूज्यों से वंचित मानते हैं॥48॥

ओह! मुझे अहंकार हो गया कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ कलाओं से पूर्ण हैं, जिन्होंने देवों को सन्तुष्ट कर मुझमें अपना विश्वास प्रदर्शित किया॥49॥

अहंकारवश आपस में झगड़ते हुए वे दोनों कहीं मर गये। जो विद्या बोध की अपेक्षा दर्प (घमण्ड) के लिए होती है, वह मतिभ्रम ही होती है॥150॥

जिनका प्रभाव सर्वातिशायी (सबसे बढ़-चढ़कर) होता है, वैसी शान्ति और सन्तोष ही परीक्षित रूप से शुद्ध धर्म कहा गया है॥151॥

तो हम आपके उपदेशानुसार ही कार्य करेंगे। (लोग), कटु द्रव्य को छोड़ स्वादिष्ट वस्तु को ही ग्रहण करते हैं॥152॥

तो फिर आदेशामृत के पोषाहार से मुझे तृप्त करें। राजा की बात सुनकर सूरि ने कहा—आप दीनजन, सम्पन्न और दानोचित (व्यक्ति) के भेद से तीन प्रकार की दान-रुचि रखनेवाले बनें। जीर्ण चैत्यों का उद्धार करें और प्रतिमाओं का निर्माण करायें॥153-154॥

मन्त्री ने राजा से कहा—प्रभो! विप्र की प्रतिभा काजल को भी उजला कर देती है और वह काजल वश्यवाक् के आदेश-क्षीर से ही लुप्त हो जाता है॥155॥

इस प्रकार, राजा को सद्गति के आश्रय-स्वरूप धर्म का उपदेश देकर वे अपने आश्रय में चले गये॥156॥

तब उन्होंने सभी प्रकार के उपद्रव का विनाशक 'भक्तामरमहास्त्रोत्र' का पाठ किया। वह स्तोत्र आज भी भूतल पर विद्यमान है॥157॥

6. कभी कर्म की विचित्रतावश सूरि विचित्र रोग से ग्रस्त हो गये। क्योंकि शलाकापुरुष भी कर्मवश पीड़ित होते हैं। धरणेन्द्र की स्मृति में अनशन-हेतु पूछने पर राजा ने कहा— अभी तो आयु शेष है, उसे क्यों कम करना चाहते हैं?॥158-159॥

क्योंकि, आप जैसे लोगों की आयु बहुत लोकोपकारी है। ऐसा कहने के बाद उन्होंने उन्हें अष्टादशाक्षर (अट्ठारह अक्षरोंवाला) मन्त्र प्रदान किया॥160॥

स्मृति के योग से रोग आदि नौ प्रकार के भयों का निवारण किया जाता है। ऐसा कहने के बाद श्रीमान् धरणेन्द्र पृथ्वीतल के भीतर चले गये॥161॥

तदनन्तर, तदनुसार प्रभु ने स्तुति की—आप 'भयहर' नाम से प्रसिद्ध हैं, आज भी वह नाम लोक-प्रचलित है। हेमन्त ऋतु के कमल की तरह आपकी देह श्री-सम्पन्न है, आप पुण्य के महानिधि हैं। अहो! आप जैसे सूरि को ही ऐसा (वैशिष्ट्य) सुलभ होता है॥162-163॥

जो शुभ शुद्ध हृदय से इस स्तुति का सुबह-शाम पाठ करता है, उसके विविध उपसर्ग (विघ्न) दूर से ही चले जाते हैं॥164॥

श्रीमान् प्रभु मान्तुंग ने जिन-शासन में अनेक प्रकार के (विकास के) प्रयत्न किये और शिष्यों को सन्मति प्रदान की॥165॥

और, 'गुणाकर' नाम के शिष्य को चिन्तन और आचरण दोनों प्रकार से अपने पद पद प्रतिष्ठित कर 'इंगिनी' (अनशन-क्रिया विशेष) को आत्मसात् कर स्वर्ग चले गये॥166॥

इस प्रकार, श्रीमान् मान्तुंग प्रभु का चरित (चित्त को) अतिशय स्थिरता देनेवाला तथा जैन धर्म-रूप प्रासाद का स्तम्भ-स्वरूप है। कहीं से कुछ सुनकर तथा सम्प्रदाय से प्राप्त कर मैंने यह चरित कहा है। मेधा प्रधान जनों द्वारा यह अतिशय निपुणतापूर्वक शोधनीय है, न कि उपहसनीय है॥167॥

श्रीचन्द्रसूरि की गुरु-परम्परा-रूप सरोवर के हंस-स्वरूपश्री राम और लक्ष्मी से उत्पन्न श्रीप्रभाचन्द्र सूरि द्वारा अपने मन में यथासंकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनीन्द्र द्वारा व्याख्यात श्रीमान्तुंग का अद्भुत चरित-रूप बारहवाँ शृङ्ग (शिखर) समाप्त हुआ॥168॥

॥ श्रीमान्तुंगसूरिचरित समाप्त ॥



श्रीमानदेवसूरिचरित

1. श्रीमानदेवसूरि का प्रभाव-समुद्र नवीन है। श्री-सम्पन्न जया और विजया सदा जिनके चरणों की सेवा करती हैं॥1॥

जिनके चरण-कमलों के गुणानुसरण से हंसों ने मनोहर गति (चाल) प्राप्त की, वह मानदेव आपका कल्याण करें॥2॥

उन (मानदेव) के वृत्त-रूप समुद्र से कुछेक अंश की विभावना कर आख्यान-रूप व्यवसाय के विस्तार से मैं अपनी मूढ़ता से पार पाना चाहूँगा॥3॥

धर्म-कर्म का आश्रय-स्वरूप सप्तशती नाम का देश था, जिसके दानकर्म (हाथी के पक्ष में मद की अतिशयता) के स्वामी (राजा) के भय से हाथी स्वयं राजा की शरण में चले गये॥4॥

वहाँ उन्नत जनों के आश्रय-स्वरूप कोरण्टक नाम का नगर था। दो तरह की बात करनेवालों से रहित जहाँ की प्रजाएँ विनयी और प्रसन्नता से युक्त थीं॥5॥

वहाँ श्वेताम्बरों का महावीर-चैत्य था, जो अपनी दृढ़ता से तथा सबका आश्रय-स्वरूप होने से कैलास पर्वत के समान विराजता था॥6॥

वहाँ देवचन्द्र नाम से विख्यात उपाध्याय रहते थे। वह विद्वानों के शिरोरत्न थे तथा जनता के अज्ञानान्धकार को दूर किया करते थे॥7॥

संसार में नमन करने योग्य, आरण्यक तपस्या के प्रति आसक्त वह अन्तरंग शत्रुओं के विजय में समर्थ थे॥8॥

प्रभु सर्वदेव सदैव शुभ ध्यान में रहकर सिद्धि को धारण करनेवाले थे। सिद्धि-क्षेत्र में जाने के इच्छुक वह वाराणसी चले गये॥9॥

बहुश्रुत परिवार के साथ वहाँ कुछ दिन विश्राम किया। और, कुछ को प्रबोधित कर उन्हें चैत्य के व्यवहार से मुक्त कर दिया॥10॥

वह (उपाध्याय) परमार्थ से सम्बद्ध बारह प्रकार के तीव्र तप धारण करते थे। पूज्यों ने उन उपाध्याय को सूरिपद पर प्रतिष्ठित कर दिया॥11॥

तब वह (देवचन्द्र) देवसूरि नाम से प्रसिद्ध हो गये। आज भी वृद्ध जनों द्वारा वृद्ध देवसूरि के बारे में सुना जाता है॥12॥

वह श्री-सम्पन्न शत्रुंजय पर्वत पर सर्वदेवसूरीश्वर नाभिपुत्र आदिनाथ के प्रति एकनिष्ठ होकर आत्मप्राप्ति के लिए साधना में लीन हो गये॥13॥

वह श्रीमान् देवसूरि अतिचार-रहित चारित्र का पालन कर और प्रद्योतन को सूरि-पद पर प्रतिष्ठित कर अन्त में अनशन व्रत स्वीकार कर संयम के साथ सम्यक्त्व की आराधनापूर्वक श्रीदेवी का आश्रय ग्रहण किया॥15॥

2. अनन्तर श्रीप्रद्योतनसूरि 'नङ्गूल' नाम के देश-विशेष में विहार करने लगे। जनोपकार के लिए ही उनका पृथ्वी पर अवतार हुआ था॥16॥

वहाँ जिनदत्त नाम का अतिशय धनी सेठ रहता था। मान और दान दोनों में ही वह सर्वसाधारण रूप से मन बनाये रहता था॥17॥

उसकी प्रिय पत्नी का नाम धारिणी था, जो धर्म-कर्म में अतिशय रुचि लेती थी। धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थों के प्रति वह व्यावहारिक रूप से संलग्न थी॥18॥

उसके पुत्र का नाम मानदेव था, जो मान-सम्पन्न होते हुए भी मान (घमण्ड) को मूल्य नहीं देता था। उसका अन्तःकरण वैराग्य से रंजित था और आन्तरिक शत्रुओं की प्रान्तभूमि (विनाशकारी) था॥19॥

एक दिन वह प्रद्योतनसूरि के आश्रय में गया। उन्होंने उसे भवसागर से पार उतारनेवाले धर्म-रूप नाव के बारे में बताया॥20॥

संसार की असारता को जानकर मानदेव ने गुरुदेव से निवेदन किया कि मुझपर प्रसन्न होकर आप मुझे परिव्रज्या प्रदान करें॥21॥

परम्परानुसार माता-पिता से अनुज्ञा लेकर शुद्ध (शुभ) दिन में उसने चारित्र ग्रहण किया और उग्र व्रत के आचरण में संलग्न हो गया॥22॥

उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा छेद और मौल जैसे आगम-ग्रन्थों में निष्ठित (दक्ष) होने के साथ ही उपांगों में भी निष्णात (प्रवीण) हो गया। तदनन्तर वह बहुश्रुत कहलाने लगा॥23॥

एक दिन उसे योग्य और विज्ञ जानकर सद्गुरु ने चान्द्र गच्छ-रूप समुद्र से निकले चन्द्रमा की तरह उसे सूरिपद पर प्रतिष्ठित कर दिया॥24॥

तब, ब्रह्म के प्रभाव से प्रभु मानदेव के चरणों को जया-विजया देवियाँ नित्य प्रणाम करने लगीं॥25॥

इस प्रकार प्रभाव की प्रचुरता से शासन को प्रभावित करनेवाले वह प्रभु मानदेव संघ-रूप आकाश के आँगन में उद्योतित सूर्य के समान चमकने लगे॥26॥

3. अनन्तर तक्षशिला नगरी में पाँच सौ चैत्योंवाले धर्मक्षेत्र में जनसाधारण के बीच भारी अकल्याण की स्थिति उत्पन्न हो गई॥27॥

वहाँ के लोग अकाल-मृत्यु में डालनेवाले रोगों से उपद्रुत होने लगे। वैद्यों ने औषध की व्यवस्था की, पर वह (औषध) गुण (लाभ) पहुँचाने में समर्थ नहीं हुआ॥28॥

(निद्रा के अभाव में) जागने के कारण लोगों का शरीर श्रान्त होने लगा। घर में आकर वे रोग के कारण शीघ्र ही पलंग पर पड़ जाते थे॥29॥

किसी का कोई भी स्वजन समय पर साथ नहीं देता था। लोगों की भयंकर चीख-पुकार और क्रन्दन से उस नगरी ने रौद्र रूप धारण कर लिया था॥30॥

मैदानी धरती पर आग से हजारों चिताएँ जलती दिखाई पड़ती थीं। अधजले मुरदों की कतारें भयावनी लगती थीं॥31॥

गोध और मुरदाखोरों के लिए सुभिक्ष (सुकाल) उपस्थित हो गया था। लंका जैसी वह नगरी सूनी होने लगी॥32॥

पुजारियों के बिना विश्वदेवों की पूजा बन्द हो गई। सभी घर मुरदों की दुर्गन्ध से भर गये॥33॥

कितने ही संघ उठकर चैत्य में आ गये। (ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे) कल्पान्त (प्रलय) आज ही निश्चित रूप से आ गया है॥34॥

न तो शिव, न ही अम्बा और न ही यक्षराज ब्रह्मशान्ति (सहाय हो रहे थे)। आज अभाग्यवश संघ के विद्यादेवता भी साथ नहीं दे रहे थे॥35॥

क्योंकि भाग्यकाल में सभी देवी-देवता स्पष्ट ही सहाय होते हैं, किन्तु सम्प्रति सपरिवार वे निश्चित ही कहीं चले गये॥36॥

इस प्रकार उन सर्वसाधारण जनों के निराश हो जाने पर शासनदेवी ने आकर उपदेश किया— संघ इस प्रकार क्यों सन्ताप झेल रहा है?॥37॥

संघ ने कहा— म्लेच्छों के उग्र व्यन्तर देवों के कारण सभी देवी-देवता भाग गये हैं। अतः हम सभी अब क्या करें, बोलिए॥38॥

(देवी बोली—) इसके बाद तीसरे वर्ष में भी विनाश उपस्थित होगा। वह विनाश तुकों द्वारा किया जायगा। यह अच्छी तरह जानकर यथोचित कार्य करें॥39॥

पर, वस्तुतः एक उपाय है, जिसे मैं कह रही हूँ। आप सभी सावधान होकर सुनें, ताकि संघ की रक्षा हो॥40॥

अकल्याण की स्थिति के क्षीण होने पर इस नगर को छोड़कर, मेरी बात के अनुसार (सबको) अन्यान्य नगरों में चले जाना चाहिए॥41॥

यह सुनकर कुछ आश्वस्त हुए वे (नगरवासी) फिर बोले— हे महादेवी! आदेश करें। आपके सिवा हमारी रक्षा करनेवाला दूसरा कौन है?॥42॥

देवी बोली— नड्डूल नगर में श्रीमान् मानदेव नाम के गुरु रहते हैं। उन्हें यहाँ बुलायें और उनके पैर के धोवन से सभी घरों को अभिषिक्त करें, तभी यह भयानक उपद्रव शान्त होगा। यह कहकर शासनदेवी तिरोहित हो गई॥43-44॥

उन नगरवासियों ने श्रावक वीरदत्त को नड्डूल नगर में भेजा। नगरवासियों की ओर से प्रार्थना (अनुरोध) लेकर वह वहाँ शीघ्र ही चला गया॥45॥

तब प्रभु का आश्रय देखकर (आशय जानकर) उन्होंने नैवेधिकी क्रिया सम्पन्न की। मध्याह्न में सूरिपाद परदे के भीतर जाकर शुभ स्थान में बैठ गये। वह स्थान सद्ब्रह्म के संविदों (जानकारों) का था। वहाँ वह पर्यकासन आसीन होकर नासाग्र (नाक के अग्र भाग) पर अपनी दृष्टि स्थिर कर दी॥46-47॥

कष्टलभ्य कल्याण की स्थिति में तृण, स्त्री-सुलभ वस्तु, मणि और मिट्टी में समान भाव रखनेवालों के उपस्थित होने पर जया-विजया देवियाँ उन्हें प्रणाम करती हैं॥48॥

उन दोनों देवियों को एक कोने के अन्त में बैठी हुई देखकर उस सरल और चिन्तामग्न बुद्धिवाले ने, जिसकी आत्मा गहन अन्धकार में डूबी हुई थी, मन में सोचा॥49॥

वह शासनदेवी निश्चित ही हमें प्रतारित करनेवाली (छलनेवाली) हैं, जिन्होंने मुझे इस रास्ते पर भेजकर अवश्य ही कष्ट में डाल दिया है॥50॥

दिव्य आँगन के बीच में स्थित यह आचार्य निश्चय ही राजर्षि हैं। ओह! इनमें चारित्र्य भी है। अवश्य ही इनसे उपद्रवशान्त हो जायगा॥51॥

मुझे आता हुआ जानकर इन्होंने व्याजपूर्ण ध्यान लगाया है—ऐसा कौन नहीं जानता? इसलिए कुछ क्षण बाहर ही बैठता हूँ॥52॥

इस ऋजु धार्मिक ने गुरु के ध्यान पूरा होने पर मुट्ठी बाँधकर द्वार में प्रवेश किया और उन्हें (गुरु को) अवज्ञा-पूर्वक प्रणाम किया॥53॥

दोनों देवियों ने इंगित (चेष्टा) से उसकी पारस्परिक असम्बद्धता को जानकर अदृष्ट बन्ध-सम्बन्ध से उसे गिराकर (पटककर) बाँध दिया॥54॥

जोर-जोर से उसे चिल्लाते हुए देखकर प्रभु ने अनुकम्पापूर्वक, उसकी अज्ञानता को प्रकाशित करते हुए, उसे छुड़वा दिया॥55॥

जया देवी बोली— अरे महापापी! शाप की योगक्रिया करनेवाला नीच! चरित्र के विग्रह-रूप प्रभु मानदेव के सम्बन्ध में ऐसी विपरीत बुद्धि रखते हो, इसलिए तुम धूर्त श्रावक हो, पुरुषों के अभिशाप-स्वरूप हो, देवचिह्न के धारक तुम अनभिज्ञ और मूर्खशिरोमणि हो॥56-57॥

आँख की पलकहीन दृष्टि, धरती के स्पर्श से रहित पैर और कभी मलिन न होनेवाली पुष्पमाला, देवी की इन विशेषताओं को हमदोनों नहीं लक्ष्य कर पाते हैं॥58॥

जीवन के पहले ही, मुट्ठी के प्रहार से यमालय भेज दूँगी। श्रद्धालु जैन के दम्भ से मैं भी तुमसे छली गई हूँ॥59॥

प्रभु के आदेश ही तुम्हारे जीने में मुख्य कारण है। परन्तु पाप की भूमिस्वरूप तुम यहाँ कैसे आ गये?॥60॥

बँधी हुई मुट्ठी का अभिप्राय यहाँ लक्ष्य करने योग्य है। इस संसार में तुम मुट्ठी बाँधे हुए ही आये थे और वैसे ही फिर चले जाओगे॥61॥

वह बोला— हे देवियो! सुने। श्रीसम्पन्न संघ ने मुझे ही शासन के उपदेश से तक्षशिला नाम की नगरी में अकल्याण की शान्ति के लिए भेजा था। परन्तु सुप्रभु श्रीमानदेव के आवाहन के क्रम में मेरी मूर्खता से ही अकल्याण आ गया॥62-63॥

विजया बोली— वहाँ कुछ भी अकल्याण क्यों नहीं होगा, जहाँ तुम जैसे दर्शन में छिद्र करनेवाले श्रद्धालु होंगे॥64॥

ओ नीच! तुम उनका प्रभाव नहीं जानते हो। फसलों के (निष्पत्ति) उत्पादन के लिए इन्हीं के सत्त्व से मेघ बरसते हैं॥65॥

श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकर की सेवा करनेवाली वह शान्तिदेवी अपनी दो मूर्तियाँ रचकर हमारे व्याज से उनकी वन्दना करती है॥66॥

विजया बोली— एकमात्र तुम जैसे मदयुक्त श्रावक से एवं कान और हृदय से रहित मैं कैसे व्यवहार करूँगी॥67॥

जहाँ ऐसे उत्तम धार्मिक रहते हैं, वहाँ आपके जैसे बहुत लोग हैं। हमारे गुरु जब (आपके पास) भेजेंगे, तब आपके दर्शन कैसे होंगे?॥68॥

सूरि बोले— हमें संघ के आदेश के अनुसार ही कार्य करना है। अकल्याण की शान्ति भी करनी होगी। जो जैसी अवस्था में होंगे, उन्हें तदनुसार ही करना होगा॥69॥

यहाँ के संघ की आज्ञा के बिना हम नहीं आयेँगे। संघ की इन दोनों प्रमुख देवियों की अनुमति नहीं है॥70॥

पुराकाल में इन दोनों से उपदिष्ट जो बातूनी कमठ है, उसके निकट ही मन्त्राधिराज नामक श्रीपार्वदेव प्रभु का चरण (चिह्न) है॥71॥

श्री शान्तिनाथ के समीप स्थित प्रभु की स्मृति की पवित्रता से युक्त उस मन्त्र से सभी अकल्याणों का निषेध होता है॥72॥

'श्रीशान्तिस्तवन' नाम के श्रेष्ठ स्तवन को स्वीकार कर आप स्वस्थ रूप से अपने स्थान पर जायें। अवश्य ही अकल्याण शान्त हो जायगा॥73॥

इस प्रकार आदेश प्राप्त कर उसने हर्षपूर्वक वैसा ही किया। तक्षशिला पहुँचकर उसने वह स्तुति संघ को अर्पित कर दी॥74॥

उसके बाल-गोपाल पर्यन्त उस स्तुति का हर्षपूर्वक पाठ करते थे। कुछ ही दिनों में उपद्रव शान्त हो गया॥75॥

कोई भी कहीं से भी आता तो जनता के बीच खो जाता। तीन वर्ष बीतने पर तुकों ने उस महानगरी को ध्वस्त कर दिया॥76॥

आज भी पीतल और पत्थर की बनी वे प्रतिमाएँ उस भूमिगृह में विद्यमान हैं, ऐसी वृद्धजनों की श्रुति प्रसिद्ध है॥77॥

तबसे संघ के क्षुद्र उपद्रव को नष्ट करनेवाला वह अद्भुत स्तवन आज भी प्रचलित है। स्तुति के प्रथम श्लोक की प्रारम्भिक पंक्ति का प्रथमांश है - 'शान्तिं शान्त्यादि'॥78॥

उसका मन्त्र 'मन्त्राधिराज' नाम से प्रसिद्ध हो गया। वह मन्त्र आराधनावश चिन्तामणि के समान अभीष्ट अर्थ को प्रदान करनेवाला है॥79॥

श्रीमानदेवसूरि ने शासन की प्रभावना करके और अनेक योग्य शिष्य को पट्ट पर प्रतिष्ठित कर, आयु के अन्त में जिनकल्पाभ संलेखना द्वारा शरीर को क्षीण कर, परम ध्यान-धारणपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया॥80-81॥

इस प्रकार श्रीमान् मानदेव प्रभु का चरित्र हम जैसों के लिए चित्त को स्थिरता प्रदान करनेवाला है। साथ ही विद्याभ्यास के प्रति एकान्त आग्रहशील तथा निरन्तर ध्यानमग्न लोगों को भी यह चरित्र पुण्य प्रदान करे॥82॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि के पट्ट (गद्दी) रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र श्रीप्रभावचन्द्र सूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में, प्रद्युम्नसूरि द्वारा विवेचित श्रीमानदेव से सम्बद्ध यहाँ तेरहवाँ शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥83॥

मानों सर्वज्ञ के चिन्तनवश तन्मयता को प्राप्त उन जैनमुनि की जय हो। प्रचुर बुद्धिवाले कवियों के अर्थ और काव्य-विषयों में विचक्षण प्रद्युम्नसूरि की भी सदा जय हो॥84॥

॥ श्रीमानदेवसूरि-प्रबन्ध समाप्त॥



महाकवि श्रीसिद्धर्षिचरित

1. आध्यात्मिक बुद्धि के धाम की भूमि-स्वरूप श्रीसिद्धर्षि कल्याण प्रदान करें। सम्प्रति संसार में जिनके ग्रन्थ निर्ग्रन्थों के ग्रन्थ (गौठ) स्वरूप हो गये हैं।।1।।

श्रीसिद्धर्षि प्रभु की परिपक्व वाणी हमारी रक्षा करे। प्राच्यविद्या के संस्कार से युक्त विभिन्न प्रकार के लोग जिनकी उपासना करते हैं।।2।।

सुन्दर प्रभा और प्रतिभा वाले 'सुप्रभ' जिनके पूर्वज थे और सुन्दर भाग्यश्रीवाले कवीश्वर माध जिनके बन्धु रहे हैं।।3।।

मैं उनके चरित का कीर्तन करूँगा, जिन्होंने पृथ्वी पर चमत्कार प्रदर्शित किया है और जिनके चरित के कीर्तन से सभी कल्मष (पाप) दूर हो जाते हैं।।4।।

गुर्जर (गुजरात) नाम का एक देश है, जो कभी जर्जर न होनेवाली लक्ष्मी का धाम है और असत् रूप जरा से भी दुष्प्राप्य है।।5।।

वहाँ पृथ्वी के मुख-स्वरूप श्रीमाल नाम का नगर है। जहाँ चैत्य के ऊपर स्थित घट-पवित्र (नगर की) चूड़ामणि जैसी प्रतीत होती है।।6।।

जहाँ के प्रासाद (महल) सुन्दर बरामदे से सुशोभित हैं और मतवाले हाथियों से सुशोभित राजमार्ग भी बड़े सुहावने हैं।।7।।

जहाँ धूप से धूपित अनेक नये जैनालय हैं। बन्धुओं के सामीप्य से रहित अनेक अनासक्त महर्षि भी हैं।।8।।

वहाँ श्रीवर्मलात नाम का राजा रहता था। उसने हस्तिसेना और अश्वसेना द्वारा शत्रुओं को पराजित कर दिया था। उसके मर्म को भेदने में शत्रु असमर्थ थे।।9।।

संसार में मित्र-स्वरूप सुप्रभदेव उस राजा के मन्त्री थे। सभी व्यापारों में भुद्रा से व्यवहार करनेवाले राजा(वर्मलात) ने दुर्जनों के मुख को बन्द (मुद्रित) कर दिया था।।10।।

जिस (राजा) की नीति-रीति को देखकर देवार्य और उशना (शुक्राचार्य) दोनों ने ही तपस्या के हेतु विष्णुपद का सहारा ले रखा था।।11।।

उस राजा के दो पुत्र थे - पहला, निर्मल चरित्रवाले का नाम दत्त था और दूसरे का शुभंकर। दोनों ही अपने कन्धों पर विश्व के भरण-पोषण का भार वहन करने में समर्थ थे।।12।।

दत्त, चित्त से धर्मबुद्धि-सम्पन्न था। वह अपने अनुजीवियों को धन देने में मन लगाये रहता था तथा श्रीसम्पन्नता में इन्द्र की तरह था और कभी कुकृत्यों में प्रवृत्त नहीं होता था।।13।।

उसके करोड़ों महल थे; जिन पर करोड़ों ध्वजाएँ फहरती थीं और उन महलों की खिड़कियों से पदासना लक्ष्मी कभी बाहर नहीं निकलती थी, अर्थात् लक्ष्मी उन महलों में अविचल भाव से विराजती थी।।14।।

अनेक कृतियों के रचयिता राजा भोज उस (राजा) के बालमित्र थे। और, ब्राह्मी के रथ तथा शील के चन्दन-स्वरूप श्रीमाघ उसके पुत्र थे॥15॥

उन्होंने (श्रीमाघ ने) आधुनिक युग के लोगों के लिए सारस्वत सार-स्वरूप 'शिशुपालवध' महाकाव्य की रचना की, जो उनकी शाश्वत सारस्वत प्रशस्ति के रूप में प्रतिष्ठित है॥16॥

पुण्यात्मा एवं निर्मल बुद्धिवाले श्रीमाघ किसके लिए श्लाघ्य और प्रशंसनीय नहीं हुए? जिनकी काव्यगंगा के तरंग-बिन्दु आश्चर्यकर रूप से जड़ता का हरण करते हैं॥17॥

शुभंकर सेठ सम्पूर्ण विश्व के लिए अतिशय प्रियकारी था, जिसकी अद्भुत दानशीलता के गीतों से इन्द्र भी हर्षित होते थे॥18॥

लक्ष्मीपति (विष्णु) की लक्ष्मी के समान उसकी गृहिणी थी, जिसने विश्व-विश्रुत सीता आदि सतियों को सत्यापित किया था॥19॥

उसका, पुत्रों के शिरोमणि-स्वरूप पुत्र सिद्ध नाम से प्रसिद्ध था। वह याचकों को यथेच्छ दान देने में दूसरा कल्पवृक्ष के समान था॥20॥

पिता ने अनुरूप कुल की कन्या 'धन्या' के साथ उसका विवाह कर दिया। द्वितीय दोगुन्दक देव के समान वह वैषयिक सुख भोगने लगा॥21॥

2. एक दिन वह अपनी पत्नी के योग्य आचार से विमुख होकर अतिशय उदार जुआड़ी बन गया। वह एक ऐसा कर्म है, जो विद्वानों के लिए भी दुर्जय है॥22॥

इस दुर्वार व्यसन से पिता, माता, गुरु, स्नेही बन्धु और मित्रों के द्वारा निवारण किये जाने पर भी वह निवृत्त नहीं हुआ॥23॥

खुले तौर पर दिन-रात द्यूतक्रीड़ा में अतिसंलग्न वह एकचित्त भाव से धूर्तों के फेर में पड़कर, सदाचार से विमुख हो गया॥24॥

भूख-प्यास, सरदी-गरमी आदि के विमर्श से रहित वह साधु के वचन से तल्लीन योगी के समान त्रास की स्थिति में रहने लगा॥25॥

रात में भी, मध्यरात्रि के बाद ही वह अपना घर आता था। अकेली पत्नी उसकी नित्य प्रतीक्षा करती रहती थी॥26॥

रात्रि-जागरण से (पत्नी की) शरीर-चेष्टा कमजोर पड़ गई, फिर भी वह घर के कामकाज में अपनी शारीरिक चेष्टा को विलीन किये रहती थी॥27॥

इस तरह की स्थिति को जानकर आँसू बहाती हुई उसकी सास ने सम्बन्धवश कर्कश वचन से युक्त भरे कण्ठ से वहु से कहा-॥28॥

मेरे रहते तुम्हारा अपमान कौन कर सकता है। तुम स्वयं अनेक कुविचारों से अपने को खिन्न कर रही हो और गृहकर्म के प्रति अलसाई रहती हो॥29॥

तुम्हारे ससुर भी व्यग्र हो जाते हैं, जब वह राजकुल से यहाँ (घर) आते हैं। देवगृह को असज्जित देखकर वह मुझ पर ही क्रुद्ध हो जाते हैं। तो बताओ, तथ्य (असलियत) क्या है? ताकि, शीघ्र ही तुम्हारी पीड़ा का प्रतिकार करूँ॥30-31॥

वह (वधू) बोली— कुछ बात नहीं है। फिर भी, सास के आग्रह पर बोली— आपका पुत्र आधी रात बीतने के बाद ही घर आता है, मैं क्या करूँ?॥32॥

तब, सास यह सुनकर बोली— पहले मुझसे क्यों नहीं कहा? मैं अपने पुत्र को कर्कश-प्रिय बातों से समझाऊँगी॥33॥

बेटी, आज तुम निश्चिन्त होकर सो जाओ। लेकिन, मैं जगी हुई रहकर सब बात का पता करूँगी। तुम अधीर मत हो॥34॥

बहू के 'हाँ' कहने पर (सास) रात में अपने पुत्र के कमरे में जगी हुई रही। रात के पिछले पहर में पुत्र आया॥35॥

जभी ऊँची आवाज में उसने कहा कि दरवाजा खोलो, तभी उसकी माँ ने साफ शब्दों में कहा— इतनी रात को कहाँ से आ रहे हो?॥36॥

मैं 'सिद्ध' हूँ, (पुत्र के) ऐसा कहने पर कृत्रिम क्रोधपूर्वक उसकी माँ बोली— बेवजह घूमने-फिरनेवाले सिद्धों को मैं नहीं जानती हूँ॥37॥

'अभी मैं कहाँ जाऊँ?' सिद्ध के ऐसा कहने पर उसकी माँ ने कर्कश स्वर में कहा—दूसरे दिन शीघ्र आना॥38॥

किन्तु आज इतनी रात में जिसका द्वार खुला देखो, या जिसका द्वार सारी रात खुला रहता है, वहीं चले जाओ॥39॥

ऐसा ही हो, कहकर सिद्ध वहाँ से निकल गया, और एक अनगार (साधु) के द्वार को खुला देखकर वहीं चला गया॥40॥

सदा खुले द्वारवाले घर में उसने पापियों के लिए दुर्लभ, मुनियों को विविध चर्याओं में संलग्न देखा॥41॥

उसने दो रात से जगे गुरु के समक्ष कुछ मुनियों को उत्साहपूर्वक प्रभावना करते हुए, कुछ को स्वाध्याय में आसक्त, कुछ को उत्कटिका आसन में स्थित, कुछ को गोदोहिका आसन में और कुछ मुनिपुंगवों को वीरासन में स्थित देखा॥42-43॥

उसने सोचा—शान्ति-सुधा के निर्झर में देवता के समान ये मुनि सम्यक् स्नान कर शीतल हो गये हैं और ये मुमुक्षु तृष्णा के भय से मुक्त हैं॥44॥

मेरे जैसे दुर्व्यसन में आसक्त, अपने गुरुओं के प्रति भक्तिहीन, मनोरथ से द्रोह करने और विपरीत विहार करनेवाले को धिक्कार है। यहाँ (इस संसार में) मेरा जन्म अपयश और दुर्गति प्रदान करनेवाला है। इसलिए यह मेरे लिए पुण्यमय वेला है, जहाँ ये सारे मुनि दृष्टिगत हुए॥45-46॥

इनके दर्शन से (मैं धन्य हुआ), मेरी क्रुद्धा माता ने मुझपर उपकार ही किया है। माता का गरम दूध भी पित्त को शान्त करता है॥47॥

वह (तथाकथित सिद्ध) नित्य उन मुनियों के ही समक्ष रहकर उन्हें नमस्कार करता। निर्ग्रन्थ प्रभु ने उसे धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया और पूछा—॥48॥

तुम कौन हो? प्रभु के ऐसा पूछने पर उस साहसी ने प्रकट रूप से कहा— मैं शुभंकर का पुत्र सिद्ध हूँ। माँ ने मुझे जुआ खेलने से मना किया है॥49॥

दोपहर रात में घर का दरवाजा खोलकर (माँ ने मुझसे कहा—) तुम चले जाओ। माँ की इस बात से मैं आपका दरवाजा खुला देखकर यहाँ चला आया॥50॥

आज से पूज्यों के चरण ही मेरी शरण हैं। यान-(नौका) प्राप्त होने पर कौन नहीं समुद्र पार करना चाहेगा॥51॥

उसकी योग्यता से प्रसन्नमन उन प्रभुओं ने शास्त्र के उपयोग को मूल्य देकर और उसे भावी प्रभावक जानकर कहा— हमारे वेष को धारण किये बिना तुम हमारे पास नहीं रह सकते। सदा मनमाना विहार करनेवाले तुम जैसों के लिए यह वेष मुश्किल से ग्रहण करने योग्य है॥52-53॥

(तुम जैसे) कायर लोगों द्वारा घोर दुश्चर-ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करना होगा। कबूलर जैसी दाना चुगने की वृत्ति इस व्रत का दूसरा नाम है॥54॥

सभी अंगों को कष्ट देनेवाला अतिशय दारुण केश-लुंचन करना होगा। बालुका-पिण्ड जैसा स्वादहीन है यह संयम॥55॥

नीच ग्रामीणों की काँटों जैसी चुभनेवाली ऊँची-नीची बातें सहनी होंगी और, दाँतों से लोहे के जौ चबाने होंगे॥56॥

उग्रतर षष्ठ-अष्टम भक्त तप अतिशय दुष्कर कार्य है। स्वादु और स्वादहीन पारण मिलने पर उससे न तो राग करना है, न ही द्वेष॥57॥

यह सुनकर सिद्ध ने कहा— मेरे जैसे दुर्व्यसन में जीनेवाले मनुष्य के कान, ओठ, नाक आदि तथा दोनों हाथ-पैर छिन्नप्राय होते हैं। भूख मिटाने के लिए वे भिक्षा, चौर्य आदि वृत्ति को धारण करते हैं। उन्हें सोने के लिए अनुकूल जगह भी नहीं मिलती। अपने ही आदमियों से वे तिरस्कृत रहते हैं॥58-59॥

हे नाथ! ऐसी दशा में मेरे लिए दुष्कर क्या हो सकता है? विश्व-वन्दनीय संयम ही मुझे चाहिए। इसलिए आप मेरे माथे पर हाथ रख दें॥60॥

अदत्त (बिना दिये हुए) को हम ग्रहण नहीं करते। तो तुम एक दिन के लिए रुक जाओ। जबतक कि मैं तुम्हारे पिता की अनुज्ञा प्राप्त करता हूँ॥61॥

तो फिर आपका आदेश ही प्रमाण है, यह कहकर वह सुस्थित हो गया और सूरि ने अतिशय विनेय (शिष्य) के लाभ से अतिशय हर्ष अनुभव किया॥62॥

3. इधर, सेठ शुभंकर ने प्रातःकाल पुत्र को बुलाया। कोई उत्तर नहीं मिलने पर घबड़ाये हुए सेठ ने मुँह झुकाये खड़ी पत्नी को देखा॥63॥

आज रात को सिद्ध क्यों नहीं आया? सेठ को ऐसा पूछने पर लज्जानत होकर पत्नी बोली— जुआड़ी के सिखाने पर पुत्र चला गया॥64॥

सेठ ने सोचा— स्त्रियाँ निश्चय ही अनिपुण बुद्धिवाली होती हैं, व्यसनी कर्कश वचन के योग्य नहीं होता, इसलिए उसे धीरे से सीख देनी चाहिए॥65॥

तब, वह पत्नी से बोला— तुमने थोड़ा ही किया, पर खूब अच्छा किया। हम यहाँ क्या करें? वणिकों के लिए चह उचित नहीं है॥66॥

प्रयास को स्वीकार करने की स्थिति में उसने घर से बाहर निकलकर सारे नगर को देखा। पिता का पुत्र के प्रति मोह अद्भुत है॥67॥

चरित्रशाला में उसने देखा कि अपूर्व संस्थान उपशम की लहर से आप्लुत है, तब उसने उससे कहा—॥68॥

हे पुत्र! यदि ऐसी स्थिति है तो तुम्हें मैं अतिशय शान्त व्यक्तियों के समीप देखता

हूँ। पुत्र की आनन्ददायक स्थितिवाले तुम्हें मैं अमृत से सीचूँगा॥69॥

छूत-व्यसनी (जुआड़ी) तथा शिष्टाचार से रहित केतुग्रह के समान कुत्सित वेष-वालों की संगति में तुम्हारा रहना ही मेरे दुःख का कारण है॥70॥

हे वत्स! तुम आ जाओ। तुम्हारी माता उत्कण्ठा के साथ प्रतीक्षा कर रही है। कुछ मेरी बातों से वह दुःखी है और तुम्हारे चले जाने पर वह और भी दुःखी हो गई है॥71॥

वह बोला— हे तात! घर न आने के कर्म में पर्याप्त कारण यह है कि मेरा हृदय निश्चित ही गुरु के चरण-कमल में लीन है॥72॥

मैं जैन दीक्षा का धारक होकर निष्प्रतिकर्म के मार्ग का आचरण करूँगा, तो आप सब इसमें मेरे प्रति मोह नहीं रखेंगे॥73॥

खुले द्वारवाले घर में जायँ— ऐसा अम्बिका का वचन है। शान्त पुरुष की सन्निधि में अवस्थान उचित है, तो आपकी बात हमें अनुकूल लगती है॥74॥

यदि जीवन-पर्यन्त मैं आपकी बात का पालन करूँगा, तो यह मेरी कुलीनता होगी! हे तात! आप निश्चित जानें कि मेरे चित्त में यह (आपकी बात) सम्यक् रूप से अक्षत बनी रहेगी॥75॥

सेठ ने सम्भ्रमपूर्वक कहा— वत्स! तुमने यह क्या सोचा? (मेरे भवनों की) असंख्य ध्वजाओं द्वारा जानने योग्य मेरे धन को कौन सार्थक करेगा?॥76॥

तुम आनन्दपूर्वक सुखोपभोग करो। अपनी इच्छा से दान करो। सदाचार का त्याग नहीं करो, तभी तुम सज्जनों के लिए श्लाघ्य बनोगे॥77॥

तुम्हारी माँ (तुम जैसे) एक पुत्र की माँ है। बहू मेरी सन्तान-रहित है। हम दोनों की तुम्हीं गति हो। मुझ बूढ़े की गिनती मत करो॥78॥

पिता के ऐसा कहने पर शान्त सिद्ध की जैसी स्थितिवाले सिद्ध ने कहा— आपकी सारी बातें लोभ से भरी हैं, अर्थात् आपकी वाणी लोभियों की वाणी है। उसे मैं सुनकर भी अनसुना करने की स्थिति में हूँ॥79॥

मेरा मन ब्रह्म में लीन है। इसलिए गुरु-चरणों में गिरकर आप उनसे कहें कि 'आप मेरे पुत्र को दीक्षा प्रदान करें'॥80॥

(पुत्र के) अतिशय आग्रह के कारण शुभंकर सेठ ने वैसा ही किया। गुरु ने पुण्य (पवित्र) स्वरोदय की घड़ी में उसे परिव्रज्या प्रदान की॥81॥

कुछ दिनों के बाद, तपस्या के एक मास बीतने पर, शुभ लगन में, पंच महाव्रत के आरोपण-पर्व पर गुरु ने दिग्बन्ध सुनाया। सत्प्रभु ने कहा— पूरब की ओर जाओ। पुनः कहा— हे वत्स! तुम सुनो। पुराकाल में श्रीमान् वज्रप्रभु थे॥82-83॥

उनके शिष्य वज्रसेन थे। और फिर, उनके चार शिष्य हुए— जो नागेन्द्र, निर्वृत्ति, चन्द्र और विद्याधर नाम से विख्यात थे। 'निर्वृत्ति' गच्छ में बुद्धि के निधि सूर्याचार्य हुए। उनके शिष्य गर्ग ऋषि हुए। और मैं तुम्हारा दीक्षागुरु हूँ॥84-85॥

हजारों शीलांगों में तुम्हें अट्ठारह का वहन करना है। यही विशेष विश्रामदायक आभिजात्य का फल है॥86॥

उसने 'हाँ' कहकर स्वीकार किया और उग्र तप के आचरण में संलग्न हो गया। और, वर्तमान सभी सिद्धान्तों का अध्येता (तथा आदरसूचक सम्बोधन का अधिकारी) बन गया॥87॥

4. तब, उन्होंने 'उपदेशमाला' की 'बालावबोधिनी' वृत्ति लिखी। वह अवहितप्रज्ञ थे और अपनी वाणी से सर्वज्ञ के समान थे॥88॥

उनके गुरुभाई का नाम दाक्षिण्यचन्द्र सूरि था। उन्होंने शृंगारप्रधान 'कुवयलमाला' नाम के कथाकाव्य की रचना की॥89॥

तब उन्होंने सिद्धकृत ग्रन्थ के विषय में व्यंग्यपूर्वक कहा— आगमाक्षरों में लिखा गया ग्रन्थ क्या उस स्थिति में नया हो जाता है?॥90॥

संसार में 'समरादित्यचरित' शास्त्र के बारे में कहा जाता है कि वह रस की लहरों से लबालब है, उसे पढ़ते समय लोग भूख-प्यास को प्रायः भूल जाते हैं॥91॥

मेरी कुछ कथाएँ ऐसी भी हैं, जो अर्थोत्पत्ति एवं रसाधिक्य के सार-स्वरूप हैं। ओह! आपके जैसे लेखक का ग्रन्थ पुस्तकों के अभाव की पूर्ति करता है॥92॥

अनन्तर, सिद्धकवि ने कहा—मन के लिए कष्टकर होने हुए भी मेरा काव्य कर्कश नहीं है। उम्रदराज पाठकों के लिए ही ऐसी कविता होती है॥93॥

पूर्वसूरियों द्वारा 'समरादित्य' के कवित्व के प्रति स्पर्धा कैसी? मुझ जैसे मन्दमति की स्थिति सूर्य के समक्ष खद्योत जैसी है॥94॥

इस प्रकार उन विद्वान् ने उत्तेजित अन्तःकरण की स्थिति में ग्रन्थ का निर्माण किया, जो आठ प्रस्तावों से युक्त था और उस ग्रन्थ के भाव जितने अज्ञेय थे, उतने दुर्बोध भी॥95॥

और फिर, 'उपमितिभवप्रपंच' नाम की रमणीय महाकथा की रचना की। उसकी कविता सुबोध थी और प्रशंसक विद्वान् उसे सुनकर सिर हिलाने लगते थे॥96॥

उन्होंने जब शान्तरसाश्रित व्याख्यान-योग्य ग्रन्थ की रचना की, तब से संघ ने उन्हें 'व्याख्याता' का विरुद (प्रशंसासूचक पदवी) प्रदान किया॥97॥

उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित की और उपहास करनेवालों को जवाब दिया कि आपको गुण-वर्णन के लिए मेरे कथनानुसार इसी प्रकार के काव्य की रचना करनी चाहिए॥98॥

5. तब सिद्ध ने सोचा— जो मैं नहीं जानता हूँ, वह मेरी अज्ञानता है। इसलिए मुझे निश्चय ही अध्ययन करना चाहिए॥99॥

मैंने तर्कग्रन्थ पढ़े हैं, और दूसरे ग्रन्थ भी, जो यहाँ हैं। और फिर, बौद्धों के प्रमाणशास्त्र भी पढ़े हैं, जो इस देश में उपलब्ध हैं॥100॥

तदनन्तर, विनीत वचनों द्वारा उसने गुरु से पूछा— मैं सीमावर्ती देशों में जाने को व्यग्र हूँ। तब, शास्त्रीय विधि से निमित्त देखकर गुरु ने वात्सल्य से पूर्ण वचन कहा। वह वचन साहाय्य को प्राथमिकता देनेवाला था॥101-102॥

हे वत्स! अध्ययन में असन्तोष अच्छी बात है। फिर भी मैं कुछ कहता हूँ। सो, तुम यहाँ सत्त्वों (जीवों) के विनाश में बुद्धि को मत लगाना॥103॥

यदि तुम तद्विषयक हेत्वाभास (कुतर्क) से भ्रान्तचित्त हो जाओगे या फिर

तद्विषयक आगमों का अभिलाषी होकर अपने सिद्धान्त से विमुख हो जाओगे तो निश्चित ही तुम्हारे उपार्जित पुण्य का विनाश हो जायगा। मैं निमित्त से ऐसा मानता हूँ, इसलिए इस सन्दर्भ में प्रयत्नशील मत बनो॥104-105॥

यदि तुम अपने जाने के घमण्ड को नहीं छोड़ पाते हो, तो एक न एक दिन मेरी बात से मेरे पास अवश्य ही लौट आओगे॥106॥

हमारे व्रत का अंगभूत रजोहरण को मुझे सौंप दो। यह कहकर मानसिक व्यथा से युक्त गुरु मौन हो गये॥107॥

अपने कानों को बन्द कर सिद्ध ने कहा— पाप शान्त हो। मंस अमंगल दूर हो गया। कौन अकृतज्ञ ऐसा (गुरु-वचन का उल्लंघन) करना चाहेगा॥108॥

जिन्होंने हर्षपूर्वक मेरे ज्ञानचक्षु को उन्मीलित किया, उस फिर पराये के कहने पर कौन धुँधला करना चाहेगा॥109॥

हे नाथ! पूज्यो द्वारा मेरे प्रति कहा गया वचन घटिया कैसे हो सकता है? कौन कुलीन मनुष्य अपने गुरु के चरण-युगल का परित्याग करना चाहेगा॥110॥

मन कभी-कभी धतूरे के नशे से जैसे भ्रान्त हो सकता है, तो भी प्रभुपाद के आदेश का पालन मैं निश्चित रूप से करूँगा॥111॥

सुना है, बौद्धों के शास्त्र कठिनाई से पठनीय हैं, इसलिए अपनी प्रज्ञा का प्रमाण अपने रक्षक के मार्ग (आदेश) के अनुसार की प्राप्त करूँगा॥112॥

यह कहकर वह (सिद्ध) गुरु को प्रणाम करके, अव्यक्त वेष धारणपूर्वक अपने इच्छानुसार 'महाबोध' नाम के बौद्धों के नगर में चला गया॥113॥

कुशाग्र बुद्धिवाले उसने विना क्लेश के प्रबोधित होकर विद्वानों के लिए दुर्भेद्य शास्त्रों को अधिगत कर लिया। यह चमत्कार की बात है॥114॥

उसकी स्वीकृति में उसके लिए मन्त्र दुष्प्राप्य था, अन्धकार को प्रकाशित करनेवाले को रत्न पाकर माध्यस्थ भाव अपनाना चाहिए॥115॥

लोभ को बढ़ानेवाले वैसे वाक्प्रपंच से वह उसी प्रकार छला गया, जैसे जल में स्थित मछली मछुए को छलती है॥116॥

धीरे-धीरे उसकी मनोवृत्ति भ्रमित हो गई। जैसे-तैसे उसने उनकी दीक्षा स्वीकार कर ली। वह दीक्षा जैन मार्ग से अतिशय भिन्न थी॥117॥

एक दिन उन्होंने उसे गुरु के पद पर स्थापित करते हुए कहा— एक किसी समय मुझ गुरु का पहले दर्शन निश्चय ही करना चाहिए॥118॥

इस प्रकार वह प्रतिश्रुत हुआ। उसके समक्ष प्रतिश्रुति थी कि दृढ़प्रतिज्ञ कौन व्यक्ति उसे (प्रतिज्ञा को) छोड़ना चाहेगा, इसलिए मुझे वहीं (गुरु के पास) भेज दे॥119॥

इस प्रकार सौगत धर्म के प्रति अतिसुन्दर सच्ची प्रतिज्ञा के भाव को जानकर उसे भेज दिया और वह गुरु के निकट चला गया॥120॥

अनन्तर, उपाश्रय में जाकर वहाँ प्रभु को सिंहासन पर अवस्थित देखकर उसने कहा कि ऊर्ध्व स्थान आपके लिए शुभ है। यह कहकर वह मौन हो गया॥121॥

गर्गस्वामी ने विचार किया और कहा यह उसी का फल है, विना निमित्त का जैन वचन निश्चित ही अन्यथा नहीं हो सकता है॥122॥

हमारा ग्रह-वैषम्य यही है कि इस सुविनीत ने जो ऐसा कहा, वह महाविद्वान् परशास्त्रों से छल्ला गया है॥123॥

इसलिए किसी भी उपाय से उसे प्रतिबोधित करना चाहिए। यदि वह प्रतिबोधित हो जायगा तो यह हमारे भाग्य से यहाँ आया है। इस विषय में अधिक क्या कहना?॥124॥

ऐसा सोचकर गुरु ने खड़े होकर उसे पकड़कर आसन पर बैठाया और ललितविस्तर-वृत्ति से युक्त चैत्य की वन्दना के सूत्र का पाठ किया॥125॥

और कहा—जबतक हम चैत्य की वन्दना करके आते हैं, तबतक तुम इस ग्रन्थ का अवलोकन करो— यह कहकर वह बाहर चले गये॥126॥

तदनन्तर, महामति सिद्ध ने उस ग्रन्थ को देखकर विचार किया कि मैंने अचिन्तित रूप से आरम्भ करके अकार्य किया है॥127॥

मेरे जैसा विना विचारें कार्य करनेवाला दूसरा कौन होगा? पराये आख्यान से स्वार्थ-भ्रष्ट मेरी स्थिति तो ऐसी है, जैसे कोई काँच से मणि को हार जाता है॥128॥

श्रीमान् हरिभद्र प्रभु महा उपकारी हैं; क्योंकि उन्होंने मेरे लिए इस ग्रन्थ का निर्माण किया॥129॥

आचार्य हरिभद्र मुझे धर्मबोध करानेवाले गुरु हैं। प्रसन्नता की बात है, उसे (वृत्ति को) उन्होंने प्रारम्भ में ही प्रस्ताव में निवेशित कर दिया है॥130॥

जिन्होंने भविष्य को जानकर चैत्य-वन्दन से सम्बद्ध ललितविस्तर-वृत्ति को मेरे लिए निर्मित किया॥131॥

जिन अचिन्त्यवीर्य (हरिभद्र) ने कुवासनापूर्ण विष को छोड़कर कृपापूर्वक हमारे लिए सुवासना-सुधा का निर्माण किया, उन हरिभद्र सूरि को नमस्कार है॥132॥

मेरे गुरु मुझ कृत्रिम शिष्य द्वारा क्या कर पायेंगे? यह जानकर किसी निमित्त से उपकार करने के बहाने आपको बुलाया है॥133॥

मैं अभी निरन्तर आपकी चरण-रज से अपने सिर को पवित्र करूँगा। साथ ही, अपने अपराध को निवेदित करूँगा। क्योंकि, आपके जैसे गुरु दुर्लभ हैं॥134॥

इस ग्रन्थ से मेरी तथागत-सम्बन्धी भ्रान्ति दूर हो गई। जैसे कोदो के सेवन से काम-भ्रम दूर हो जाता है॥135॥

इस प्रकार वह सोच रहा था कि तभी बाहरी प्रांगण में गुरु आ गये। गुरु ने पुस्तक में लगी उसकी दृष्टि को देखकर परम आनन्द का अनुभव किया॥136॥

‘नैषेधिकी’ महाशब्द को सुनकर वह सम्भ्रम से ऊपर उठ गया। उसने गुरु को प्रणाम करके उनके दोनों चरणों को अपने माथे से लगाया॥137॥

और बोला— प्रभो! मेरे प्रति आपका यह मोह किस निमित्त से है? मेरे जैसा अधम आदमी बाद में क्या चैत्य बनवायेगा?॥138॥

नेत्र के उन्मीलन (आँख मटकाने) के दोष से युक्त स्वर के फूट पड़ने तथा मुख के विद्रोही होने तथा स्वाद में विघ्न के कारण दाँतों के बैठ जाने से कुशिष्यों की शुभ स्थिति नष्ट हो गई॥139॥

प्रभो! निश्चय ही मिलने के बहाने हरिभद्र को बुलाया गया तथा उनके ग्रन्थ को आपने अपने हाथ में लिया॥140॥

कुशास्त्र के प्रति मेरा भ्रम (आग्रह) दूर हो गया, इसीलिए यह मैं प्रभु से निवेदन कर रहा हूँ कि अपने निकम्मे शिष्य की पीठ पर आप अपना हाथ रखें॥141॥

देव, गुरु आदि की अवज्ञा से उत्पन्न मेरे महापाप के लिए दुर्गति को दूर करनेवाले आप मुझे प्रायश्चित्त प्रदान करने की कृपा दर्सायें॥142॥

अनन्तर करुणा द्वारा शरणागत के रक्षक प्रभु बोले— इस समय उनकी आँखों से आनन्दाश्रु झर रहे थे और उनकी चादर भी भीग रही थी॥143॥

वत्स! खेद मत करो। कुतर्क करने में अभ्यस्त, मद से विह्वल सुरापायी के समान तुम जैसा कौन नहीं बहकता है?॥144॥

मैं तुम्हें धूर्तता से युक्त नहीं मानता हूँ, जिसकी बात को मैं भुलाया नहीं हूँ। मदसे विकल कोई भी तुम्हारे विना पूर्व-प्रतिज्ञा का स्मरण कर सकता है॥145॥

उनके विश्वास के लिए वेष आदि का धारण सम्भव है। और, तुम्हारे मन में अतिभ्रान्ति को भी मैं नहीं मानता हूँ॥146॥

प्रख्यात वक्ता (पाठान्तर के अनुसार) तथा प्रज्ञा द्वारा शास्त्रार्थ के मर्म का ज्ञाता तुम्हारे जैसा कौन शिष्य इस श्रेष्ठ गच्छ में है, जो मेरे चित्त को विश्राम देनेवाला है॥147॥

इस प्रकार की उक्तियों से आनन्दित करने के बाद उसे गुरु ने प्रायश्चित्त प्रदान किया और फिर अपने पट्ट में स्थापित कर दिया॥148॥

तदनन्तर स्वयं निरासक्त होकर उन गुरु ने अंग की रंगभूमि को छोड़ दिया और प्राच्य ऋषियों द्वारा सम्पन्न तपस्या के लिए जंगल की शरण ली॥149॥

कायोत्सर्ग करने और कभी उपसर्ग को सहने की बुद्धि से युक्त और फिर कभी प्रतिमा को एकटक (विना पल झपकाये) देखने का अभ्यास वह करने लगे॥150॥

कदाचित् पारण में वह अल्पाहार स्वीकारने का संवर तप करते तो कदाचित् मासान्त पारण के तप से अपने कर्म का क्षय करते॥151॥

इस प्रकार उस सुधी ने दुश्चर चारित्र तप को स्वीकार कर, आयु के अन्त में अनशन करके स्वर्ग की यात्रा की॥152॥

इधर, सिद्ध व्याख्याता के रूप में सबके लिए चर्चा का विषय बन गया और उसने पाण्डित्य की दृष्टि से, अपने को पण्डित माननेवाले परशासन के मतानुयायियों को भी जीत लिया॥153॥

सूर्य के समान स्पष्ट रूप से समस्त शासन को प्रकाशमान करते हुए, विशेषतः शुद्ध चारित्र से निर्वृति की भी निर्वृति की॥154॥

अतिशय उत्साहपूर्वक उसने असंख्य तीर्थों की यात्राएँ स्वयं कीं और दूसरे धार्मिकों से भी करवाया। इस प्रकार, सिद्ध ने परम वाक्सिद्धि प्राप्त की॥155॥

श्रीमान् सुप्रभ देव के निर्मल कुल के अलंकार-चूड़ामणि तथा श्रीमान् माघ कवीश्वर की सहज प्रेक्षा की परीक्षा के निधि-स्वरूप श्रीसिद्धर्षि के वृत्त का चिन्तन कर कथंचित् कलि के प्रागल्भ्यवश दोनों लोकों (इहलोक-परलोक) की शुद्धि के लिए आसक्ति का परित्याग करें॥156॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि के पट्ट (गद्दी)-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र श्रीप्रभाचन्द्र सूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में प्रद्युम्नसूरि द्वारा विवेचित सिद्धर्षि-वृत्त नाम का चौदहवाँ शिखर समाप्त हुआ॥१५७॥

॥ श्रीसिद्धर्षि प्रबन्ध समाप्त॥



श्रीवीरसूरिचरित

1. आन्तरिक शत्रु-रूप सिंह को ध्वस्त करनेवाले, दुष्कर्म-रूप हाथियों के झुण्ड को नष्ट करनेवाले तथा अष्टापदतीर्थ में उदित कान्ति-स्वरूप श्रीवीर अपने वंश के लिए कल्याणकारी हों॥1॥

श्रीमान् वीरगणिस्वामिपाद हमारी रक्षा करें। जिनके सम्मान से कषाय आदि शत्रु-समूह पास आने में समर्थ नहीं होते॥2॥

विद्वान् देव-स्वरूप हैं, जिनके अमृतप्राप्ति उपदेशों से अपने और दूसरों के उपकार के लिए उन (श्रीवीरसूरि) का चरित यहाँ प्रसारित किया जा रहा है॥3॥

वहाँ, श्रीमाल नाम का नगर है, जो पूर्व-पश्चिम पर्वत के मध्य अवस्थित है, जिसके उद्यान-वृक्षों से सूर्य की किरणें आच्छादित रहती हैं॥4॥

वहाँ के लोगों में आलस्य और नीरसता नहीं है और वहाँ के सरोवर भी मुरझाये कमलों से रहित हैं॥5॥

वहाँ देवराज नाम के राजा रहते हैं, जो धूमराज-वंश में उत्पन्न हुए हैं। उनके सतत तरंगित नीति-समुद्र में आमोद के कुमुद खिले रहते हैं॥6॥

वहाँ शिवनाग नाम का वणिक् निवास करता था, जो विद्वान् और वणिकों में प्रमुख था, जिसके मन्त्र से अतिशय उग्र सर्पविष दूर हो जाता था॥7॥

उसका नाम धरण था, जो जैनधर्म में दृढ़ अनुराग रखता था। उसने नागेन्द्र की आराधना की और उसकी भक्ति से वह (नागेन्द्र) सन्तुष्ट हो गये॥8॥

नागेन्द्र ने उसे सर्वसिद्धिकर तथा कलिकुण्ड में चलने में समर्थ चरण प्रदान किये, जिनमें जप-होम आदि के बिना विष हर लेने की शक्ति थी॥9॥

जिसके फुफकार-रूप कर के स्पर्श से आठ प्रकार के नागकुलों का विष दूर हो जाता था, वैसा विषापहारक मन्त्र पुण्यहीन जनों के लिए दुर्लभ था॥10॥

उस (शिवनाग) ने नागेन्द्र से सन्दर्भित प्रताप से परिपूर्ण स्तवन किया। वह उरगेन्द्र धरण के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसके स्मरण-मात्र से दुःख-कष्ट दूर हो जाते थे॥11॥

धर्म-रूप वृक्ष पर आश्रित उसकी पत्नी का अन्वर्थ नाम था पूर्णलता। उस धर्मरूप वृक्ष का मूल उसका कुल था, उसके वचन उस कुलवृक्ष के पत्र-स्वरूप थे। यश उसका फूल था और कुलों में होनेवाले उत्सव उसके फल थे॥12॥

उन दोनों के कल्याणमय पुत्र का नाम वीर था, जो रत्नदीप के समान जगमगाता था; वह अपनी अक्षय चमक से अन्धकार का नाश करनेवाली, दिन के जैसी, स्पष्ट प्रभा से युक्त था॥13॥

उसके (महल में) फहरनेवाले करोड़ों ध्वज प्रकारान्तर से देवराज इन्द्र के ध्वज

जैसे प्रतीत होते थे। अपने सौमनस्य से देवों को जीतनेवाले वह वीर कैसे नहीं थे?॥14॥

उन्होंने सात कन्याओं से विवाह किया। व्यवहारकुशल सातों कन्याएँ सात समुद्र के समान रत्न-समूह और श्री से मण्डित थीं॥15॥

वीर, श्रीवीर की वन्दना के लिए श्रीसम्पन्न सत्यपुर में सदा जाता था। पिता के मरने के बाद तो वह वैराग्यवश सदैव पर्वों के अवसर पर जाता रहता था॥16॥

एक दिन वह जा रहा था तो कलंकित कार्य करनेवाले, सूखे पत्तोंवाले वृक्ष-विशेष जैसे तस्करों ने उसे घेर लिया॥17॥

तब, अपना सब कुछ गँवाकर वह सेठ का साला (सेठ के घर) आया। जनश्रुति के आधार पर उसकी माँ अधीर होकर घर के दरवाजे पर आई॥18॥

माँ ने पूछा— वीर कहाँ है? माँ के पूछने पर वीर ने विनोद के स्वर में कहा— चोरों ने मुझे आहत किया, इसलिए मैं वीर न होकर सत्त्वहीन मिथ्यावीर हूँ॥19॥

यह सुनकर उसकी माँ उसी क्षण निर्जीव जैसी हो गई। और वह सोचने लगा—ओह! माँ की बात को न माननेवाला वात्सल्य तो अति तुच्छ है॥20॥

पिता, पति, कलाचार्य और मित्र के उपकार-ऋण से मुक्त होना सम्भव है, लेकिन माँ के ऋण से उऋण होना किसी तरह भी कदापि सम्भव नहीं है॥21॥

तब महावीर की कृपा से वीर चोरों के समूह से (मुक्त होकर) अपने क्षेत्र में आया, मानों किसान शलभों (पतंगों) के उपद्रव से मुक्त हुआ हो॥22॥

मरे हुए स्वामी के कारण प्राप्त अपने संकट को भूलकर माँ ने पूछा— यह क्या हुआ? तब उसे उसने यथारूप घटी हुई घटना कह सुनाई॥23॥

वीर ने जब घटना कही, तब माँ अनुत्पन्न हो उठी। बोली—मेरे भाग्य को दूषित करनेवाली हड्डी टूटने की बात को कैसे तुमने हलकी बात जैसी कहा?॥24॥

उसने कहा— कोई भी (व्यक्ति) विनोदी बात से भी माँ के जैसा कष्ट में पड़ सकता है? बेल में चुभे, आजन्म नहीं निकलनेवाले शल्य की तरह (यह स्थिति कष्टकर होती है)॥25॥

वीर ने कहा— वैराग्यवश माँ से मेरे स्नेह-सम्बन्ध में कितनी दूर का फर्क है, इसे आप देखें॥26॥

हँसी-हँसी में भी मेरी मृत्यु सुनकर माँ उसे सत्य मान लेती है। यदि सच्चे अर्थ में मृत्यु हो जाय तो हम उसके लिए क्या कसर छोड़ेंगे?॥27॥

यह कहकर उसने अपनी पत्नियों के लिए एक-एक करोड़ प्रदान किया और शेष धन को संघ की पूजा और चैत्यों में व्यय किया॥28॥

गार्हस्थ्य की स्थिति में ही परिग्रह का परित्याग करके वह सत्यपुर चला गया और वहाँ वीर की आराधना में संलग्न हो गया॥29॥

अनन्तर, आठ उपवास करके पारण किया। समस्त विकृतियों के त्याग के कारण उसका यह महान् तप आश्चर्यकर है॥30॥

प्रासुक आहार लेनेवाले उसने चार प्रकार के प्रौषधोपवास किये। और, नगर के बाहर श्मशान आदि में रात को कायोत्सर्ग-क्रिया सम्पन्न की॥31॥

उसने दिव्य, मानुष और तिर्यच उपसर्गों का सहन किया। तीव्र तप तपते हुए वह तीर्थतुल्य हो गया। तीव्र बुद्धिवाले उसने सदा गुरु के प्रति उत्कण्ठित हरकर अपनी क्रिया के अनुपालनपूर्वक महावीर के चरणों के ध्यान में लीन रहने लगा॥32-33॥

2. एक दिन, प्रदोष के समय, जब वह व्रत के लिए बाहर की भूमि पर चल रहा था, तभी दूर से आते हुए, माया के अन्तक के समान जंगम शम (शान्तात्मा) को देखा॥34॥

वह विमल गणी थे। उनकी उम्र सौ वर्षों की थी और वह मूर्तिमान् चरित्र के समान थे। वह मथुरा से आ रहे थे॥35॥

वीर ने सब प्रकार से निकट जाकर और सिर को भूमि से सटाकर उनकी वन्दना की। और, उन्होंने धर्मलाभ के आशीर्वाद से उसे प्रसन्न किया॥36॥

असमय में, हे धर्मशील! नगर से बाहर कहाँ जा रहे हैं? वीर के ऐसा पूछने पर उन्होंने कहा-यहीं निकट की भूमि पर कायोत्सर्ग के लिए जा रहा हूँ॥37॥

पुनः गणी ने कहा- अंगविद्या के उपदेश के कारण मैं तुम्हारा अतिथि हूँ। तुमसे मिलकर अपनी नियतिवश में शत्रुंजय पर्वत पर जा रहा हूँ॥38॥

वीर बोला-मेरे लिए यह कल्याणकारी दिन है कि आप जैसे महानुभाव अपार कृपा करके मेरे प्रति उत्कण्ठित होते हैं॥39॥

तो मैं आप जैसे पूज्य जन की सेवा-भक्ति से आज की रात को सफल करूँगा। हाथ में आये हुए चिन्तामणि को पाकर कौन मूर्ख उसकी अवमानना करेगा?॥40॥

यह कहकर उसने सद्गुरु को अपना उपाश्रय दिखाया। देह दबाने आदि कार्यों से स्वयं उसने उनकी शुश्रूषा की॥41॥

तब मुनीश्वर ने (वीर से) कहा- हे निश्छल! तुम मुझसे अंगविद्या पढ़ो। श्रुतज्ञान से तुम अपने मत में प्रभावशाली हो जाओगे॥42॥

वीर ने कहा-गृहस्थों के लिए सिद्धान्त-वाचना कैसी? जो नहीं पढ़ा, वह कैसे समझ में आया और बुढ़ापे के कारण भी मैं क्या करूँ?॥43॥

अनन्तर गुरु ने कहा- तुम भवान्तर-यात्रा का पथिक हो? अंगविद्या महाविद्या है। वह तुम्हें स्वयं वरण करने के लिए आ जायगी॥44॥

उसके लिए मैं शीघ्र ही सूचित करूँगा। वह पुस्तक (अंगविद्या से सन्दर्भित) धारापद्रपुर में नाभिपुत्र आदिनाथ तीर्थकर के चैत्य शुकनास में है। वहीं से उसे लेकर वाचन करो। यह कहकर गुरु ने वीर को आदरपूर्वक परिव्रज्या प्रदान की॥45-46॥

तीन दिन रहकर, ग्रन्थ के अर्थ का निर्देश के बाद वह श्रीमान् विमल गणी विमलाचल पर चले गये॥47॥

पाप-रूप हाथी के लिए सिंह-स्वरूप वह (विमल गणी) वहाँ (विमलाचल पर) श्रीवृषभनाथस्वामी की वन्दना करके एकाग्रचित्त से उनका ही ध्यान करते हुए संन्यासपूर्वक स्वर्ग को प्राप्त हुए॥48॥

तदनन्तर, गुरु से वियोग हो जाने पर वीर वहीं उस नगर (धारापद्रपुर) में गया

और उन गुरु के द्वारा दिये गये आदेश के अनुसार श्रद्धालुओं से उक्त पुस्तक प्राप्त की॥49॥

वहाँ उसने गणिविद्या के अनुसार अंगविद्या का अध्ययन किया और उसी विद्या की कृपा से वह उग्र शक्ति से सम्पन्न महातपस्वी हो गया॥50॥

उसके प्राचीन पुण्य से उसके परिवार ने भी, अबुद्ध को बोधित करने के क्रम में, उसी नियम (व्रत) को ग्रहण किया॥51॥

3. वीर गणी, स्थान छोड़ने की इच्छा से अणहिल्लपुर के सम्मुख विरूनापाथ द्वारा आश्रित स्थिर ग्राम में चले आये॥52॥

वहाँ, व्यन्तर देवों का अधिपति रहता था, जिसका दूसरा नाम वलभीनाथ था। वह महाक्रोधी (देव) रात में देवगृह में सोनेवाले मनुष्य को मार डालता था॥53॥

उसके बोध के लिए महामातृपीठ के भीतर गणिविद्या से साढ़े चार हाथ परिमाण के कुण्ड का निर्माण कर अखण्डित व्रतवाले वह (वीर) महोदय, वहाँ रहनेवालों के मना करने पर भी, महाशक्ति के प्रभाव से वैसे भयावह स्थान में रह गये॥54-55॥

झंझावात आदि विघ्नों की परवाह न करते हुए वह मेरु पर्वत की तरह मन से भी अडिग रहकर कायोत्सर्ग में संलग्न हो गये॥56॥

तभी, घोर 'किलकिल' आवाज के साथ वह वलभीनाथ (व्यन्तरदेव) बाहरी व्यक्तियों को डराता हुआ तथा लोगों में आतंक फैलाता हुआ आया॥57॥

वहाँ उसने हाथी के समान जंगम पर्वतों को खड़ा कर दिया। मानों उसने उनपर आश्रित सुरेन्द्र के साथ वैरभय के कारण ऐसा किया हो॥58॥

ऊबड़-खाबड़ सूँडों (शृंगों) से युक्त वे भयंकर हाथी जैसे पर्वत भी, सागर के समान मर्यादा की रेखा को नहीं लाँघते थे॥59॥

उसने उस पर्वत से फुफकारते साँपों को निकलकर फैलते देखा। उन हाथियों की आँखों से निकलती ज्वाला से अन्य देहधारी भस्म हो जाते थे॥60॥

उस रेखा को लाँघे बिना खड़े उन पर्वतों को देखकर देवता भी मानों निष्प्रभ होकर इसकी अलौक-सामान्य महिमा को देख चिन्तातुर हो उठे॥61॥

तब उस व्यन्तर देव ने भयंकर राक्षस-रूपों की सृष्टि की। वे प्रतिकूल स्थितियाँ भी उसे (वीर को) क्षुब्ध, नहीं कर सकीं॥62॥

तब व्यन्तर देव ने उस मुमुक्षु को अनुकूल स्थितियों से छलना शुरू किया। उसने उसे उसके माता-पिता को रोते हुए दिखाया॥63॥

उस तत्त्वज्ञ मुमुक्षु (वीर) ने उसकी भी अवज्ञा कर दी। अगस्त्य के समान वीर के दक्षिण दिशा (दाक्षिण्य) का आश्रय लेने पर मोह-रूप विन्ध्य की उन्नति कैसे सम्भव है?॥64॥

कलियुग में भी तपोनिधि वीर के देवों द्वारा नहीं डिगा सकने योग्य सत्त्व को देखने के लिए सूर्य ने मानों कौतुकवश पूर्वाचल को प्राप्त किया (अर्थात् सुबह हो गई)॥65॥

देवता ने प्रत्यक्ष होकर उस तपोनिधि से कहा—उन्नत पर्वत के पथिक के गृहवासी वधू की भाँति तुम्हारी तपोयात्रा के चरण अडिग हैं॥66॥

मैंने पहले देवाधिराज (इन्द्र) के भी मान को तोड़ा था। तुम्हारे बिना किसी ने भी मेरी शक्ति को विफल नहीं किया॥67॥

4. मैं (वीर) पूर्व दिशा में स्थित डक्करीपुरी के शिवालय में चला आया। वहाँ भीमेश्वर नाम के शिवलिंग को बिना प्रणाम किये रह गया॥68॥

उन (शिव) के जलाधार में पैरों को रखकर मैं सो गया। राजा ने वहाँ आकर त्रिस्मित मन से मुझसे पूछा॥69॥

तुम आज्ञानवश या शक्ति के घमण्डवश देवता को क्यों नहीं नमस्कार करते हो? तब मैंने कहा— मैं स्पष्ट रूप से कारण बताता हूँ॥70॥

शक्ति से सम्बद्ध यह शिव मुझे देखकर लाज से झुक जायेंगे। क्योंकि पुरुष की लाज पुरुष के आगे ही रहती है॥71॥

देव के ऐसी स्थिति में रहने पर भी प्राकृत (ग्रामीण) जन उन्हें नमस्कार करते हैं। उस पशु के समान जन को तथा मुझे भी लाज कैसी?॥72॥

मुझे इसको प्रणाम करने के सम्बन्ध में यदि तुम्हें कोई कुतूहल है, तो कहो। उसमें मेरा दोष भी सम्भव है, जिसके कारण कोई उत्पात होगा॥73॥

मेरे ऐसा कहकर रुक जाने पर राजा ने कहा—सदा विस्तार से बात करनेवाले वैदेशिक ही इसमें कारण है॥74॥

चर्ममय देहवाले पुरुष अपने को देवतुल्य मानते हैं। यह सचेतन प्राणी के लिए हास्यजनक और मूर्खों के लिए ठगने जैसी बात है॥75॥

यदि आपमें कोई शक्ति है, तो उसका प्रयोग करें। इसमें आपका अणु-मात्र भी दोष नहीं है। इसमें नगर साक्षी-स्वरूप बने॥76॥

यह सुनकर ज्यों ही समाज की सन्निधि में आता हूँ, त्यों ही लोगों के देखते-देखते तड़ाक से (शिव-) लिंग फट गया॥77॥

अनन्तर मैं भय और घबराहट से अकचकाई आँखों से देखते हुए राजा से बोला। उस समय बच्चों जैसा मेरा गला भर आया था और मेरी आवाज भी साफ नहीं थी॥78॥

आपने दम्भयुक्त उत्तेजनावश मेरे साथ वैर साधा है। मैं चिरकाल से इस लिंग की अर्चना में होनेवाले क्लेश से दुःखी हूँ॥79॥

यह सुनकर सिर और पैरों को मिलाकर सपरिवार नीतिनिपुण राजा ने कहा—हमारे आप ही देवता हैं॥80॥

आपने ही तीर्थ प्रदान किया है, अन्यथा उसका उच्छेद ही हो जाता। शिवत्व तो देह में ही स्थित है। इससे इतर फिर तो पत्थर ही हैं॥81॥

ऐसा कहने पर मैंने इसे योगपट्ट से आवेष्टित कर दिया। आज भी द्विदल से सम्बद्ध लिंग की पूजा वहाँ होती है॥82॥

तदनन्तर महाबोध में पाँच सौ बौद्ध विहारों को जीतकर मैंने अपने सामर्थ्य से उन्हें तोड़ डाला॥१८३॥

सम्मुख विजय करने की मेरी निश्चित प्रतिज्ञा थी। महाकाल शिव मेरे डर से कोने में जा छिपे॥१८४॥

सोमेश्वर की विजय के लिए मैं चलकर यहाँ आया। वह यहाँ डरे हुए ब्राह्मण-रूप में आकर मुझसे मिले॥१८५॥

और यह बोले-यह पवित्र दारुण क्षेत्र है। महोदय के लिए यह क्षेत्र प्रदान किया गया है। यदि आप देने में समर्थ हैं, तो मैं आपसे इसकी याचना करता हूँ॥१८६॥

मैंने यह कहा- मैं माँगनेवालों को यथेच्छ दान देने में समर्थ हूँ। घी, अन्न और सोने के साथ लाखों घट, मूटक और टंक (प्रदान करता हूँ)॥१८७॥

तब वह ब्राह्मण बोले- मुझे कुछ प्रदान करें। 'माँगिए' ऐसा मेरे कहने पर वह बोले-सुनिए॥१८८॥

हे महाबली! इस क्षेत्र में आप स्थिर होकर रहें। यह सुनकर ज्ञानपूर्वक जब देखता हूँ, तब वह साक्षात् शंकर थे॥१८९॥

आतंक के कारण वह सोमनाथ नाम के शंकर मुझे छलने के लिए आये थे, जिस प्रकार वृद्ध ब्राह्मण के व्याज से वामन रूप भगवान् राजा बलि से दान माँगने आये थे॥१९०॥

(बोले-) मुझे कुछ दण्ड दें, यदि आप सत्यप्रतिज्ञा हैं। मेरे लिए अन्य उपाय भी है। मैं यहाँ आपको कष्ट में डालने के लिए हूँ॥१९१॥

अनन्तर वह बोले- मैं घमण्डी नहीं हूँ तो मेरी बात सुनें- मेरी यात्रा उसके लिए पूरी होगी, जो तुम्हें यहाँ नमस्कार करेगा॥१९२॥

अन्यथा, उसका नमस्कार आधा ही फल देनेवाला होगा- यह कहकर वह अपने आश्रय में चले गये। आज भी वह स्थिति वैसी ही है। मेरे वचन का उल्लंघन कौन कर सकता है?॥१९३॥

तब से वह गाँव 'स्थिर' नाम का हो गया। मेरी और शम्भु की बातों की स्थिरता दुर्लभ नहीं है॥१९४॥

मेरी शक्ति मनुष्यों और देवों से भी स्खलित नहीं हुई है। आप तो श्वेताम्बराकार देव हैं, जो मुझसे भी अधिक शक्तिमान् हैं॥१९५॥

मैं अवमानना नहीं कर सकता। दूर से ही रहकर देखता हूँ। जलते हुए शब्दयुक्त रेखाकुण्ड को पुरुष शक्ति होकर देखते हैं॥१९६॥

तुम्हारी तपस्या की शक्ति से मैं सन्तुष्ट हूँ। शीघ्र अपना वाञ्छित माँगो। विना देर किये, कल्पवृक्ष के समान मैं उसे पूरा करूँगा॥१९७॥

तब वीर ने परमेश्वरी को नमस्कार कर कहा- मैं यहाँ आग्रहशील नहीं हूँ; क्योंकि मैं सब प्रकार की आसक्ति से मुक्त हूँ॥१९८॥

फिर भी कुछ मेरी भक्ति के बदले लें-ऐसा उनके कहने पर मुनि ने कहा- जीव-वध बन्द हो; क्योंकि आपकी भी आयु नश्वर है॥१९९॥

प्राणियों का वध, दुर्गति में पड़ने में मुख्य कारण है। इस सम्बन्ध में पुराना वृत्त कहने से उत्पन्न अहंकार से मुझे हर्ष नहीं है॥२००॥

आपने महादान में अपने सामर्थ्य की बात कही। और फिर, जीवों को अभयदान सब दानों में उत्तम है॥101॥

हर्षपूर्वक उन्होंने कहा— मैं जानता हूँ, आपकी यह बात तथ्यपूर्ण है। मेरा परिवार स्वेच्छाचारी है। उसका यह व्यवहार प्रिय है॥102॥

अमृत के धारासार-स्वरूप आपकी बातों से मैं अतिशय हर्षित हूँ। संसार के प्रत्येक घर में जीवों की रक्षा करूँगा, उनका वध नहीं होने दूँगा॥103॥

श्रीवीर ने कहा— वही हो। यह बात मुझे राजा से ज्ञात हुई। चन्द्रमा के रहने के समय तक हम दोनों का वृत्त पुण्य का कारण बनेगा॥104॥

5. अणहिल्लपुर में नूतन चक्रवर्ती के समान श्रीमान् चामुण्डराज नाम के राजा रहते थे। उसी समय राजा ने यह सूचित किया कि वह विरूपानाथ ही हैं। तब राजा के प्रधान पुरुषों के साथ हर्षपूर्वक वह (विरूपानाथ) वहाँ आये॥105-6॥

सत्कर्म करने की इच्छा किसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं होती? यह जानकर जीव-रक्षा के लिए उन्होंने शासन किया॥107॥

राजा के बुलाने पर वह फिर अणहिल्लपुर आये। वहाँ उन्होंने अबोध जनों को प्रबोधित किया। परम ऋषियों ने उन्हें आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया। वर्द्धमान नाम के सूर ने महोत्सवपूर्वक उन्हें संघ का अध्यक्ष बना दिया॥108-109॥

वहाँ श्रीवलभीनाथ श्रीवीर प्रभु के प्रति भक्तिवश प्रत्यक्ष होकर आगे आ खड़े हुए और धर्मकथा सुनने लगे॥110॥

परन्तु क्रीड़ा की प्रियता के कारण वह लक्षण-सम्पन्न मनुष्य को देखकर बिना पीड़ित किये उसके शरीर में उतरकर क्रीड़ा करते थे॥111॥

श्रीमान् वीर ने यह देखकर कहा—ऐसा करना उचित नहीं है। हे व्यन्तर के अधिपति! आपकी क्रीड़ा को मनुष्य सहन नहीं कर पाते हैं॥112॥

इस प्रकार की स्थिति में प्रभु ने उनका निषेध कर दिया। और कहा—मेरे सन्तोष का कुछ भी फल आपको यहाँ नहीं मिलेगा॥113॥

6. प्रभु आनन्दपूर्वक बोले—अष्टापद पर्वत पर स्थित ऊँचे जैन-भवन में जाने का सामर्थ्य तुम्हें है क्या?॥114॥

उस देव ने कहा— हमें जाने की शक्ति है। पुनः हम दोनों वहाँ अवस्थित होंगे। क्योंकि हे सूर! वहाँ महाबली व्यन्तर के स्वामी रहते हैं॥115॥

किन्तु वहाँ टिकने में समर्थ नहीं हूँ। उनका तेज सहने में असमर्थ हूँ। वहाँ एक पहर ठहरूँगा। अगर आपको शौक है तो चले॥116॥

हे मित्र! अगर वहाँ आप अधिक समय तक ठहरेंगे तो आप वहीं रहें, पर मैं तो यहाँ लौट आऊँगा, यह निश्चित है॥117॥

तब मुनि ने वहाँ उज्ज्वल प्रकाश उत्पन्न किया और विकृति-बल से उसके मस्तक को वस्त्र-वेष्टित करके उसे (पर्वत पर) चढ़ा दिया॥118॥

क्षण भर में ही वह पर्वत के ऊँचे शिखर पर चला गया। और, चैत्य के द्वार पर मुनि को ऊँचाई से नीचे उतारा।।।19।।

वह दरवाजे पर स्थित पुतली के पीछे की ओर स्थित छेद में विलीन हो रहे और वहाँ रहनेवाले देवज्योति के तेज का सहन किया।।।20।।

उसने तीन गव्यूति (छह कोस) ऊँचे और एक योजन लम्बाई में फैले चार द्वारवाले महाचैत्य, जिसे राजा ने पहले बनवाया था, को देखा, और उसमें स्थित विहित प्रमाण और वर्णों से युक्त प्रतिमाओं को एक-एक कर नमस्कार-पूर्वक उनकी स्तुति की और हर्षपूर्वक उन्हें पुनः प्रणाम किया।।।21-22।।

प्रभावना करने की इच्छा की पूर्ति के लिए उन प्रतिमाओं का अभिज्ञान किया और देवों द्वारा लाये गये अक्षतों में से पाँच चावल के अक्षतों को ग्रहण किया।।।23।।

रात्रि के प्रथम प्रहर में तीर्थयात्रा से चलकर पहले की तरह दूसरे (दिन) एक घड़ी से अधिक समय में फिर लौट आया।।।24।।

चावल के अक्षतों की तीव्र सुगन्ध से उपाश्रय फूलों से भरे सौधर्म विमान की तरह सुशोभित (सुरभित) हो गया।।।25।।

पूछने पर मुनि ने कहा— अष्टापद पर्वत पर स्थित गुरु ने अतिशय हर्षपूर्वक देवों की वन्दना की और श्रद्धालुओं के समक्ष कहा—।।।26।।

चैत्य में श्रीसम्पन्न संघ का मिलन हुआ, राजा को इसकी सूचना दी गई, और वह राजा कौतूकपूर्वक वहाँ आये।।।27।।

उन्होंने अनुचरों को बुलाया, फिर अभिज्ञानपूर्वक कहा—चौबीस अर्हतों का स्वाभाविक आख्यान इस प्रकार है—।।।28।।

दो उजले रंग के, दो सौवले रंग के, दो रक्तकमल रंग के, दो मरकत मणि के रंग के और सोलह सोने जैसे रंग के (अर्हत् हैं)। अपने-अपने प्रमाण के अनुसार आँखों को आनन्द देनेवाली प्रतिमाओं का भरत ने निर्माण कराया। इन चौबीस जिनेन्द्रों की उन्होंने अपनी-अपनी मति के अनुसार वन्दना की।।।29-30।।

राजा ने कहा— अपने इष्टदेवों के स्वरूप-कथन में मुझे अच्छी प्रतीति नहीं होती, इसलिए कुछ दूसरा कहें।।।31।।

तब, असाधारण गुणोंवाले अक्षतों को दिखाया गया। वे सुन्दर रंग के अक्षत मानव-समूहों में अपूर्व सुगन्ध फैला रहे थे।।।32।।

वे अक्षत बारह अंगुल लम्बे और उसका पिण्ड-विस्तार एक अंगुल था। राजा ने उन अक्षतों को सोने से मढ़वा दिया।।।33।।

पहले तुकों ने जिन प्रतिमाओं को तोड़ दिया था, वे ही उपाश्रय में प्रतिष्ठित की गई थीं। संघ उन प्रतिमाओं को अष्टापद पर स्थित प्रतिमा के समान पूजता था।।।34।।

इस प्रकार सामान्य जनों के लिए दुस्तर सम्यक् अतिशयों से युक्त श्रीमान् वीरगणी सूरि विश्वपूज्य हो गये।।।35।।

7. एक दिन राजा ने मन्त्री वीर से एकान्त में कहा— मैं पूर्वदिशित क्रम से

न्यायपूर्वक राज्य का पालन करता हूँ। वीर मेरे गुरु और मन्त्री भी हैं, वह मेरी पीड़ा के लिए राहु के समान हैं। उन्हें वाक्सिद्धि प्राप्त है, वह सुन्दर मनवालों के लिए आश्रय-स्वरूप हैं॥136-37॥

मुझे एक ही चिन्ता ज्वर के समान सताती है। वह मेरे लिए महाबाधा-स्वरूप है। इसे सुनकर आप प्रतिकार करें। मैं अपनी पीड़ा दूसरे किसके समक्ष कहूँ॥138॥

अनन्तर वीर के मन्त्रिश्रेष्ठ ने कहा— हे स्वामिन्! मुझे आदेश करें। मुझ तुच्छ भृत्य द्वारा आप अधीश्वर के लिए क्या किया जा सकता है?॥139॥

राजा ने कहा— मेरे अन्तःपुर की स्त्रियों के गर्भ की सम्भावना की स्थिति में गर्भ का स्राव हो जाता है। आप इसका प्रतिकार करें॥140॥

ऐसा आदेश होने पर महामात्य ने श्रीमान् वीर प्रभु के समक्ष निवेदन किया। तदनन्तर सूरि के प्रसंग के साथ बोले—॥141॥

मेरे द्वारा अभिमन्त्रित जल से अन्तःपुर की स्त्रियों का अभिषेक करें, ताकि उन्हें पुत्र प्राप्त हों॥142॥

मन्त्रिश्रेष्ठ के ऐसा कहने पर, गुरु के वचनानुसार राजा के श्रीमान् वल्लभराज आदि पुत्र हुए॥143॥

8. एक दिन प्रभु 'अष्टादशशती' देश में विहार करते हुए नागरिक जना से युक्त 'उम्बरिणीग्राम' में गये। वहाँ जाकर विशुद्ध उपाश्रय में ठहरे। रात होने पर कायोत्सर्ग के लिए हर्षपूर्वक श्मशान में चले गये॥144-45॥

श्रेष्ठ परमार-वंश-रूप उत्तम हीरे की खान में उत्पन्न हीरे के समान रुद्र नाम के मनुष्य ने उन्हें देखकर अतिशय भक्तिपूर्वक प्रणाम किया॥146॥

और कहा—हे मुने! हिंस्रक जीवों से व्याप्त श्मशान में न रहें॥ ग्राम में स्थित प्रासुक (विशुद्ध) आश्रय में आ जायें और सुखपूर्वक रहें। यह सुनकर मुनि ने गुरु से कहा—प्रभु लोग बाह्य भूमि पर ही कायोत्सर्ग करते हैं॥147-148॥

हे राजपुत्र! अधीर मत हों। यह सुनकर वह अपने घर चला गया। तदनन्तर उसके लिए वह उपहार-स्वरूप जामुन ले आया॥149॥

जब स्वाद लेने की इच्छा से उसने जामुन के फल को निचोड़ा, तब उसके अग्रभाग में कृमि देखकर करुणा से सिर धुनने लगा॥150॥

और बोला— जब सूक्ष्म कृमि फलों में भी होती है, तब विवेकी द्वारा रात्रि आदि में अदृष्ट कुछ भी आस्वाद्य हो जाता है॥151॥

उसने ब्राह्मणों को बुलाकर पूछा तो उन्होंने कहा— विशुद्धि के लिए सोने की बनी कृमि ब्राह्मणों को दान करनी चाहिए॥152॥

यह सुनकर उसने सोचा—संकल्पपूर्वक दूसरी कृमि भी मुझे मारनी चाहिए। पर, मन म इसे मैं धर्म नहीं मानता हूँ॥153॥

यह विचार किसी शम-व्रतधारी मुनि से पूछना चाहिए। सुबह में गाँव में आये हुए जैन मुनि के पास वह गया॥154॥

तब उसने अपने सन्देह के बारे में पूछा। गुरु ने उसे विस्तार से कहा— स्थावर और जंगम दो प्रकार के जीव सब जगह रहते हैं॥155॥

धरती, जल, अग्नि, हवा और वृक्ष के जीव स्थावर होते हैं। दो, तीन और चार इन्द्रियोंवाले जीव जंगम होते हैं। पाँच इन्द्रियोंवाले देवता, तिर्यक्, मनुष्य और नैरयिक (नारकी) जीव भी जंगम होते हैं। हाथी, मत्स्य, मयूर आदि धरती, जल और आकाश में रहनेवाले जीव भी जंगम ही होते हैं। और फिर, वनस्पति तथा मूल, फल आदि में रहनेवाले बहुत सारे जो जीव हैं, वे जनमते और मरते हैं॥156-58॥

धर्म ही जीवों के लिए कृपा-स्वरूप है, ऐसा सोचें। संयमी की यह बात सुनकर वह (वीर) प्रतिबोधित हुआ॥159॥

शाश्वत श्रेय के लिए उसने सब कुछ छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली। शास्त्रों में 'पूर्वों' का अध्ययन कर उसने जैनागम का वाचन किया॥160॥

क्रिया और ज्ञान दोनों दृष्टियों से वह महाविद्वान् जैन मुनि हो गया। गुरु-रूप दीपक से वह समान ज्योतिवाला प्रदीप बन गया॥161॥

एक दिन श्रुतज्ञान से अपनी आयु का अन्त जानकर उन श्रीवीर सूरि ने शिष्य श्रेष्ठ रुद्र को गच्छ का भार सौंप दिया तथा उसे चन्द्रसूरि नाम देकर अपने पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और फिर स्वयं योगरोधपूर्वक निष्कम्पगति को प्राप्त किया॥162-63॥

जीर्ण घर की तरह देह का त्याग कर श्रीवीर प्रभु दिव्यलोक चले गये और बोध-शक्ति का आधार बन गये॥164॥

प्रभु का जन्म 938 विक्रमाब्द में हुआ; 980 विक्रमाब्द में उन्होंने व्रत ग्रहण किया और 991 विक्रमाब्द में उन प्रभु का अवसान हुआ॥165॥

अपनी उम्र के बयालीसवें वर्ष में उन्होंने गार्हस्थ्य स्वीकार किया था। ग्यारह व्रतों की स्वीकृति के समय उनकी आयु तिरपन वर्ष की थी॥166॥

श्रीवीर सूरि का यह विख्यात चरित्र सन्तजन अपने कान का आभूषण बनायें या बनाने को उत्कण्ठित हों, जैसे महानन्द की सुखानुभूति से युक्त श्रीजिनबोधि-रूप लक्ष्मी (सदा) उत्कण्ठित रहती हैं॥167॥

श्रीचन्द्रप्रभ सूरि के पट्ट (गद्दी)-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र श्रीप्रभाचन्द्र सूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में प्रद्युम्न सूरि द्वारा विवेचित प्रभु वीर का वृत्त-रूप पन्द्रहवाँ शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥168॥

यह नवीन प्रद्युम्न शिव के सहचर हैं, जिन्होंने प्रकट शत्रु के सन्तोष के लिए रति को भी अतुल प्रीति प्रदान की। कवित्व के चिन्तन के क्रम में शुभ ध्यान के उपाय को जो अमृत के आस्वाद के समान मानते हैं, मद आदि दुर्गुणों से रहित उस प्रभु की जय हो॥169॥

॥ श्रीवीरगणि-प्रबन्ध समाप्त॥



वादिवेताल श्रीशान्तिसूरिचरित

वादिवेताल श्रीमान् प्रभु शान्तिसूरि आपकी रक्षा करें। वह दुर्मन्त्रवादियों के लिए काल-स्वरूप हैं तथा सर्वसिद्धि-प्रदाता के रूप में प्रसिद्ध हैं॥१॥

उनकी भक्ति से भावित मैं (प्रभाचन्द्राचार्य) उनके आख्यान का विशद वर्णन करना चाहता हूँ। ऊरू-विहीन होते हुए भी सूर्य की सेवावश वह (अरुण) आकाश-मार्ग के पदाति पथिक क्यों नहीं हैं?॥२॥

1. शोभा-श्री से सम्पन्न कैलास पर्वत के समान गुर्जर देश है। वह देश धनपति कुबेर से अधिष्ठित है और वहाँ के निवासी सुन्दर मनवाले होने के कारण लोगों के मन में बस जाते हैं॥३॥

वहाँ अणहिल्लपुर नाम का नगर है, जो गर, अर्थात् दुर्गुण-रूप विष से रहित (न-गर) है॥४॥

वहाँ के प्रतापी शासक सद्बचन-रूप अमृत से कटुभाषियों (द्विजिह्वों) पर शासन करते हैं॥५॥

वहाँ भीम नाम के राजा हुए। उनका पराक्रम लोकोत्तर था। वह धृतराष्ट्र के पुत्र से द्वेष करनेवाले अर्जुन के समान यशस्वी थे॥६॥

श्रीचन्द्र गच्छ को विस्तार देनेवाले उनकी स्थिति सीपी में स्थित मोती के समान थी। वह गच्छ 'धारापद्र' नाम से प्रसिद्ध था। वह स्वच्छ बुद्धिवालों का निधि-स्वरूप ही था॥७॥

उस नगर में श्रीमान् विजयसिंह नाम के अतिशय गुणवान् तथा सच्चरित्र की शोभा से सम्पन्न सूरि रहते थे, जिनका यश जगद्विदित था॥८॥

वह श्रीसम्पन्न 'सम्पक' चैत्य के निकटवर्ती आश्रय में रहते थे। वह सूर्य के समान, भव्यजन-रूप कमलों को प्रबोधित करते थे॥९॥

2. श्रीसम्पन्न 'पत्तन' के पश्चिम में 'उन्नतायु' नाम का गाँव था। वह गाँव छोटा था, पर उसकी स्थिति बड़ी थी। वहाँ की जनस्थिति उन्नत आयुवाली थी॥१०॥

वहाँ श्रीमाल-वंश में उत्पन्न धनदेव नाम का सेठ रहता था। वह कृती पुरुष अर्हत् रूप गुरु के (कमल-रूप) चरणद्वय की सेवा में मधुकर की श्रेष्ठ भूमिका का निर्वाहक था॥११॥

धनलक्ष्मी के मूर्तिमान् विग्रह-स्वरूप 'धनश्री' उसकी पत्नी (गृहिणी) थी। उसके भीम नाम का पुत्र था, जो प्रज्ञावन्तों और प्रभावशालियों में सीमा-स्वरूप था॥१२॥

उसका कण्ठ शंख के आकार का था। सिर छत्राकार था। भुजाएँ जानु-पर्यन्त विस्तृत थीं। उसके हाथ-पैर-रूपी कमल छत्र, पद्म और ध्वज से अंकित थे॥12॥

वह सभी सुलक्षणों से सम्पन्न था; पुण्य और नैपुण्य का कोष था; गुरुओं का परिचित और संघ के भार-वहन में समर्थ था॥13॥

नागरिक बुद्धिवाले उस सेठ ने अपने विहार से गाँव को अलंकृत किया। और, उसने उत्साहपूर्ण विज्ञान से उस गाँव के सभी शुभ सम्भावनाओं की जानकारी प्राप्त की। 4॥

उस गाँव के चैत्य में श्रीनाभिपुत्र आदिनाथ को प्रणाम कर वह घर चला गया और धनदेव से (उसके पुत्र) भीम की माँग की॥15॥

यदि मेरा पुत्र पूज्यों के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला हुआ तो मैं पुण्यवान् हूँ, यह कहकर इहलोक और परलोक के कल्याण के लिए उसने अपने पुत्र (भीम) को प्रदान कर दिया॥16॥

माता-पिता से अनुज्ञा मिलने पर शुभ दिन में भीम को दीक्षा दे दी गई। अपनी उदग्र प्रतिभा के बल से भीम मिथ्यादृष्टिवालों के लिए भीम (भयकारक) बन गया॥17॥

(गुरु ने) उस शिष्य का नाम (दीक्षोत्तर नाम) शान्तिसूरि रख दिया। उसने सकल कलाएँ प्राप्त कर लीं, मानों उसके लिए वे कलाएँ जैसे पूर्व-संकलित थीं॥18॥

क्रम से वह समस्त शास्त्र-रूप समुद्र का पारदर्शी (पारगामी) बन गया। प्रभु ने इस बात को सोचकर उसे अपने पट्ट (गद्दी) पर प्रतिष्ठित कर दिया॥19॥

और, फिर अपने गच्छ का भार उसे सौंपकर स्वयं प्रभु ने प्रायोपवेशन से भरण का वरण कर संसार को समेटने का कार्य सम्पन्न किया॥20॥

3. अणहिल्लपुर में राजा भीम की सभा में शान्तिसूरि कविश्रेष्ठ के रूप में प्रतिष्ठित हुए और वादिचक्रवर्ती के रूप में प्रसिद्ध हुए॥21॥

एक दिन, अवन्तिदेश के निवासी धनपाल नाम के सिद्ध सारस्वत कवि द्वितीय प्राचैतस (कवि वाल्मीकि का गोत्रीय नाम) के नाम से विख्यात हुए॥22॥

दो दिन बीतने पर गोरस में साधुओं ने जीव देखा तो उन्होंने पूज्यश्री महेन्द्र के वचनानुसार उन्हें प्रबोधित किया॥23॥

दृढ़तापूर्वक सम्यक्त्व स्वीकार कर उन्होंने 'तिलकमंजरी' नाम के कथा-ग्रन्थ की रचना करके पूज्यों से निवेदन किया कि इस ग्रन्थ का संशोधन कौन करेगा?॥24॥

विचार करके उन साधुओं ने सूचित किया कि शान्तिसूरि नाम के विद्वान् हैं, वही आपके कथाग्रन्थ का संशोधन करेंगे। अनन्तर वह 'पत्तन' देश चले आये॥25॥

उस समय सूरि-तत्त्व के स्मरण में तत्पर सूरि महोदय देवाश्रय में मठ के भीतर ध्यान में लीन थे॥26॥

प्रतीक्ष्यों की प्रतीक्षा में संलग्न कवीश्वर ने एक शिष्य से सर्वथा नवीन और अद्भुत अध्ययन के बारे में कहा-॥27॥

जैसे-

खचर के आगमन से खचर हर्षित हुआ; खचर से अंकित पत्र को पकड़नेवाला खचर खचर के चर (खाद्य) को चरता है। हे खचरमुखी! खचर को देखो॥28॥

इस (श्लोक) की व्याख्या करें, यदि जानते हैं। आप तेज हैं। पण्डितों के अलंकार-स्वरूप हैं। यह सुनकर उन्होंने उस वृत्त (श्लोक) की आसानी से व्याख्या कर दी॥29॥

यह व्याख्या सुनकर हर्षित वह कविस्वामी (कवीश्वर) बोले-इसमें कुछ शान्त्यानार्य का प्रभाव देखा जा रहा है॥30॥

इस सन्दर्भ में सर्वज्ञ और जीव की प्रतिष्ठा की उपस्थिति प्रतीत होती है। मेघ के उर्जस्वल गर्जन-स्वर में उन्होंने यह व्याख्या की है॥31॥

तब उन गुरु ने शीघ्र ही सिंहासन को अलंकृत किया और दूसरे मातृकापाठ के योग्य शिष्य से कहा-॥32॥

हे वत्स! स्तम्भ का सहारा लेनेवाले तुमने अभी क्या किया? वह बोला- इन्होंने जो कहा, उस सबको मैंने ग्रहण कर लिया॥33॥

‘कहो’- ऐसा प्रभु के कहने पर उसने धीर-गम्भीर स्वर में अतिशय कष्ट से ग्राह्य तर्क-समूह को समेटने के प्रति आग्रहशील होकर कहा॥34॥

यह सुनकर धनपाल अतिशय चमत्कृत होकर बोला-तुम्हें बाल ऋषि-रूप में भारती प्राप्त हुई है क्या?॥35॥

भारी सन्देह-समूह-रूप पर्वत को भेदने में वज्र-स्वरूप उस बुद्धि के निधान को मेरे साथ भेज दें॥36॥

अनन्तर उन सूरि ने कहा- यह इसके क्लिष्ट प्रमाणशास्त्र पढ़ने का समय है, यह यदि परग्रन्थ के अधीन होने का पात्र है तो शास्त्र-समुद्र की शास्त्रार्थी रूप लहर बने। यह हमारी आशा है तो यह अध्ययन का व्यतिरेकी न बने॥37-38॥

अनन्तर, सिद्ध सारस्वत विद्वान् ने प्रभु से कहा- निश्चय ही आप अपने चरण-कमलों से इस मालव देश को अलंकृत करें। यह सुनकर प्रभु ने कहा- इस सन्दर्भ में यदि आपका आग्रह है तो मुझे प्रधानाचार्य-सहित संघ से पूछना पड़ेगा॥39-40॥

4. तब वह उनकी अनुमति से अवन्तिदेश में विहार करने चले गये। वहाँ सपरिवार भीम भूपाल ने उनका स्वागत किया॥41॥

रात में जब वह राह में चल रहे थे, तभी भारती ने उपस्थित होकर उन्हें अति प्रसादपूर्ण वाणी में आदेश दिया-॥42॥

तुम्हारे हाथ उठाने पर अपने-अपने दर्शन में निष्णात वादी (शास्त्रार्थी) लोग चतुरंग सभा के अध्यक्ष को परास्त कर देंगे॥43॥

वह धारा नगरी से एक कोस अधिक एक योजन दूर चले गये। वहाँ उनके पहुँचने पर श्रीभोज हर्षपूर्वक उनके सम्मुख गये॥44॥

तब एक-एक शास्त्रार्थी के विजय पर शर्त रखी गई। मेरे वादी किससे जीते जाने

योग्य हैं, यह भी करार हुआ॥45॥

मैं प्रत्येक विजयी वादी को एक-एक लाख दूँगा। गुर्जर देश के श्वेत भिक्षु का बल मैं निश्चित रूप से देखूँगा॥46॥

राजसभा में स्थित उसने अपने-अपने करार के अनुसार चौरासी विश्वदर्शन के श्रेष्ठ वादियों को जीत लिया॥47॥

न्यायबुद्धि में एकनिष्ठ उस श्रेष्ठ वक्ता (सारपूर्ण भाषणकर्ता) ने प्रतिदिन प्रत्येक (वादी) को ऊपर हाथ उठाकर अनायास ही जीत लिया॥48॥

राजा ने (वादियों की) संख्या के अनुसार उन वादियों को एक-एक लाख देकर तत्काल सिद्ध सारस्वत कवि को बुलाया॥49॥

तदनन्तर द्रव्य के व्यय से डरे हुए वह राजा के पास गये। पाँच सौ वादियों को जीतने के कारण उन्होंने पाँच करोड़ की व्यय-राशि प्राप्त की॥50॥

इस जैन ऋषि के बारे में क्या कहना! ऐसा धनपाल ने कहा। राजा ने सूरि का 'शान्ति' यह नाम सुना तो वादियों के लिए वेताल-स्वरूप वह सूरि 'शान्ति' नाम से प्रसिद्ध हो गये। तदनन्तर वाद को रोककर उन्हें सम्मान्यता से वंचित कर दिया गया॥51-52॥

तो, उस कथा के शोधक के रूप में मुझे यहाँ अलग किया, अन्यथा मेरी सभा को जीतकर अक्षतशरीर कौन जा सकता है?॥53॥

गुर्जर देश की धरती पर पाँच लाखवाले हजारों हैं; इस प्रकार के अंक में बारह लाखवाले भी उत्पन्न हुए हैं॥54॥

तब मैंने अभी साठ हजार दिये। बुद्धि के निधान धनपाल की कथा को शीघ्र संशोधित किया जाना चाहिए॥55॥

ऐसा विचार कर उन्होंने शान्तिसूरि को प्रतिष्ठित किया और बारह लाख से उस देश में चैत्यों का निर्माण कराया॥56॥

राजा द्वारा दी गई राशि में शेष साठ हजार को प्रभु ने 'धारापद्र' नाम के रंग (सभा-भवन) के लिए भेज दिया॥57॥

वहाँ स्थित प्रभु के चैत्य में मूल नायक की बाईं ओर देवकुलिका (देवालय) का निर्माण कराया गया और रथ-समेत विशाल शाल भी बनवाया गया॥58॥

उन्होंने धनपाल की कथा का संशोधन करके उसे निर्दोष कर दिया। तब राजा ने उन्हें 'वादिवेताल' का विरुद्ध प्रदान किया॥59॥

गुर्जर-नरेश की धरती के सीमावर्ती सभी कविश्रेष्ठों ने उनका अनुगमन किया। वह लौटकर पुनः श्री के आवास-स्वरूप 'पत्तन' नगर पहुँच गये॥60॥

5. आगे की कथा है, उस देश के निवासी बुद्धिमान् जिनदेव सेठ के 'पद्म' नाम के पुत्र को बड़े साँप ने डँस लिया॥61॥

सभी प्रकार के मान्त्रिकों द्वारा मन्त्रों और औषधों से अतिशय प्रतिकार किये जाने के बावजूद वह नहीं बच सका॥62॥

तब स्वजनों ने मिलकर उसके शव को गड्ढा खोदकर उसमें डाल दिया। पुनर्जीवन की आशा से साँप से डँसे हुआओं के लिए यही व्यवस्था की जाती है॥63॥

शिष्यों के सूचित करने पर जिनदेव घर आये। तब उन प्रभु ने उनसे 'सम्बोधन' के लिए आग्रह किया॥64॥

इन्होंने कहा—साँप से डँसे हुए को धरती के नीचे से निकालकर हमें दिखायें। यह सुनकर जिनदेव उनके साथ श्मशान में गये॥65॥

धरती खोदकर प्रभु ने उस अमृत (न मरे हुए) को दिखलाया। गुरु ने तत्त्व का स्मरण कर साँप से डँसे हुए के शरीर का स्पर्श किया। स्पर्श करते ही वह जीवित हो उठ खड़ा हुआ॥66॥

पद्म के समान मुखवाले पद्म ने गुरु के चरणों को नमस्कार कर कहा— मैं, गुरु और स्वजन यहाँ कैसे आ गये?॥67॥

जिनदेव ने हर्षित होकर तत्क्षण पहले के वृत्तान्त को कह सुनाया। तदनन्तर उत्सवपूर्वक वह अपने घर में आ गया॥68॥

उसके पिता के द्वारा सम्मानित पूज्यजन अपने-अपने घर आ गये। घर में आये उपकारी गुरु किसे कहाँ मिलते हैं? (अर्थात् वह दुर्लभ होते हैं)॥69॥

6. तब चैत्य में स्थित श्रीशान्तिसूरि बत्तीस शिष्यों को प्रमाणशास्त्र पढ़ाने लगे॥70॥

श्रीमुनिचन्द्र नाम के सूरि नड्डूलपुर से आये। अणहिल्लपुर में चैत्य की परिपाटी बनाने की उनकी इच्छा थी॥71॥

सम्पत्ति की अतिशयता से रैमणीय श्रीसम्पन्न 'सम्पक' जिनालय में उन्होंने श्रीवृषभनाथ को नमस्कार करने के बाद सूरिश्रेष्ठ को नमस्कार किया॥72॥

प्रमेय तथा दुष्परिच्छेद्य बौद्ध तर्क से उत्पन्न तथा छिछले अन्यप्रज्ञानवाले, सभी को उन्होंने पराजित किया॥73॥

तब अध्ययन के ध्यान में गम्भीर मनवाले उन्होंने वहाँ आकर विना पुस्तक के ऊर्ध्वस्थ होकर पन्द्रह दिनों तक (प्रमाणशास्त्र) सुना॥74॥

एक दिन दुर्घट प्रमेय के विषय में बहुत कहने पर भी छात्र जब नहीं समझ सके, तब पूज्य (गुरु) निर्वेद में पड़ गये॥75॥

'मैंने राख में हवन किया' ऐसा कहकर गुरु उसाँस लेने लगे। तब मुनिचन्द्र नाम के सूरि ने पूज्य से निवेदन किया—॥76॥

जो 'पुस्तक-सहित पढ़ते हैं, वे प्रौढ़ प्रज्ञाबल से उन्नत होते हैं; और जो पहले गुरु द्वारा पुरस्कृत हैं' वे यहाँ क्या कहेंगे?॥77॥

अनुपलक्षित रूप से दूसरा भी बाहर आ गया। वह भी क्या बोल पायगा या नहीं, इस सन्दर्भ में आप ही आदेश करें॥78॥

यह सुनकर प्रभु ने हृदय को चमत्कृत करनेवाली बात कही। हमें शिष्यों के प्रति प्रज्ञा के विचार से पक्षपात है और किसी दूसरे कारण से नहीं॥79॥

इधर सोलह दिन बीतने पर जो सुदुर्घट व्याख्यान हुआ, हमने उसी के सुविवेचित अभिप्राय को आज यहाँ कहा है॥80॥

यह सुनकर उस प्राज्ञ (विद्वान्) ने पढ़े हुए दिनों की अवधि में सभी दिन जो कहा गया, उसी को फिर से ज्यों का त्यों कहा॥81॥

उन्होंने तत्क्षण जो कहा, वह परमत के प्राज्ञों के लिए अतिशय कष्ट से सुनने योग्य था। तब सबके अनुवाद-रूप संवाद के माध्यम से विशद रूप में (विषय को) प्रस्तुत किया गया॥82॥

तब श्रीशान्तिसूरि ने तुष्टि-पुष्टिपूर्वक उसका आलिंगन किया और उसे गोद में बैठाकर कहा—तुम धूलि से लिपटा हुआ रत्न हो॥83॥

हे वत्स! तुम मुझसे, शठता-रहित मन से प्रमाणशास्त्र पढ़ो, और इस प्रकार मेरे नश्वर शरीर का लाभ लो॥84॥

पुनः मुनिचन्द्र सूरि ने निवेदन किया—प्रभो! स्थान के अभाव में हम कैसे पढ़ें—और यहाँ स्थान दुष्प्राप्य है॥85॥

तब उन्होंने टंकशाला के पिछले हिस्से में रहने के लिए सुन्दर घर दे दिया, जो श्रद्धा-योग्य और निर्दोष था॥86॥

षड्दर्शन-सहित प्रमाणशास्त्रों का आसानी से उसने अध्ययन किया। ज्ञापक और ज्ञाता का ऐसा संयोग दुर्लभ होता है॥87॥

तदनन्तर नगर में सुविहित (सुशिक्षित) साधुओं के आश्रय बन गये। और वहाँ सभी संधों के चरित्रवानों का ज्ञानकेन्द्र भी बन गया॥88॥

श्रीशान्तिसूरि ने वादी-रूप नागेन्द्र जैसे उत्तम नाग को दमन करनेवाली जैसी उत्तराध्ययन की टीका लिखी॥89॥

मुनिचन्द्र सूरि के शिष्य श्रीदेवसूरि ने उस टीका में स्त्रियों के निर्वाण की बात बलपूर्वक उपन्यस्त कर दी॥90॥

श्रीसिद्धराज के समक्ष वाद में दिगम्बर पराजित हो गये। उनकी ही बात से 'निश्रा' विद्वानों के दुःसाध्य को साधनेवाली बनी॥91॥

7. अनन्तर एक दिन ऊर्जा-सम्पन्न 'धर्म' के सम्बन्ध में धनपाल के द्वारा मालव देश-स्थित महापीठ में 'आपही कवि हैं' ऐसा मान लेने पर अणहिल्लपुर में अपना यह मन्तव्य व्यक्त किया कि श्वेताम्बराचार्य शान्तिसूरि ही एकमात्र विद्वान् हैं, दूसरा कोई नहीं॥92-93॥

कुछ दिनों बाद, उन्हें देखने धर्मकोविद स्वर्ग के श्रीजनित गर्व-रूप सर्वस्व को हरनेवाले श्रीपत्तनपुर में पधारे॥94॥

तदनन्तर धारापद्र महाचैत्य के निकटस्थ मठ के बारे में सुनकर अपराह्न में, विद्वद्दर्शन के कौतूहल के साथ वह वहाँ गये॥95॥

तभी खुजली से पीड़ित प्रभु देह में औषध मलकर और उसके योग्य वस्त्र पहन द्वार बन्द करके रहे॥96॥

(द्वार में) कुंजी डालने के छेद से देखकर यतियों ने गुरु से निवेदन किया—इसे पृच्छा (प्रश्न) द्वारा ही जीतूँगा, धर्म ने ऐसा सोचकर उससे कहा—॥१७७॥

‘आप कौन हैं’, ऐसा प्रश्न करने पर सूरि ने स्पष्ट उत्तर दिया— ‘देव हूँ’। ‘देव कौन?’ ऐसा प्रश्न करने पर ‘मैं देव हूँ’, यह उत्तर दिया॥१७८॥

पुनः ‘मैं कौन?’ ऐसा पूछने पर ‘कुत्ता हूँ’ यह उत्तर दिया। ‘कुत्ता कौन?’ ऐसा पूछने पर ‘मैं कुत्ता हूँ’ यह उत्तर दिया॥१७९॥

पुनः ‘तुम कौन हो?’ ऐसा प्रश्न करने पर पहले जैसा ही उत्तर दिया। इस प्रकार, दोनों के बीच चक्राकार अनन्तानन्त प्रश्नोत्तर जारी रहा॥१८०॥

तदनन्तर द्वार खुलने पर वह (धर्म) चमत्कृत रह गया। उसने ‘तत्त्वोपप्लव’ ग्रन्थ के अभ्यास को विस्तार से उपन्यस्त किया॥१८१॥

वितण्डा (बतकुच्चन) से विरत होने पर श्रीशान्त्याचार्य ने कहा— सबका अनुवाद (अनुकथन) करके विवादी को शान्त किया जाय॥१८२॥

मेरा अपना योगपट्ट आदि वेष अर्पित करें। मैं उन सभी अंगवेष्टाओं को यथावत् प्रस्तुत करूँगा॥१८३॥

सब तरह से वैसा करने पर धर्म ने अतिशय विस्मित होकर कहा— मैं उनके चरणों को प्रणाम करता हूँ। मैं उन्हें जीतने में समर्थ नहीं हूँ॥१८४॥

जैसी बात धनपाल ने कही, तदनुसार श्रीमान्! आप ही विद्वान् हैं। मेरे मन में विश्वास है, वैसी बात क्या झूठी हो सकती है?॥१८५॥

इस प्रकार कहकर अहंकार-रहित वह अपने स्थान पर चला गया। जिसे अहंकार की श्री प्राप्त है, उसके लिए अभिचार ही परम औषध है॥१८६॥

८. अनन्तर एक दिन द्रविड़ देश का निवासी वादी आया। उस वादी ने अव्यक्त रूप से शब्दहीन और भयानक कुछ कहा॥१८७॥

प्रभु भी उसकी भाषा से अनजान रहे। उन्होंने कुतूहलपूर्वक दीवार पर अंकित घोड़े पर हाथ रखकर स्पष्ट रूप में कहा॥१८८॥

कहें, आपने अन्य देश के वादी के साथ संगति की है? यह अव्यक्तवादी तो पशु के समान तिर्यक् आकृति के समान है॥१८९॥

प्रभु के ऐसा कहने पर, संक्रमण-युक्त सारस्वत उत्तर के क्रम में उस घोड़े की मूर्ति ने अतिशय तरल रूप में कहा—॥१९०॥

गहन विकल्पों के साथ बहुत कष्ट से भी उसके अनुवादक उसकी भाषा का अनुवाद नहीं कर सके। उन्होंने निरुत्तर होकर अपने को पशु के आकार में प्रतिरूपित कर लिया॥१९१॥

उसकी भगोड़े जैसी स्थिति में लोगों ने कहा— इस धरती पर श्रेष्ठ वाग्देवता से दूसरा कोई वादी (शास्त्रार्थी) नहीं है॥१९२॥

9. एक समय उन प्रभु के विहार करने के क्रम में धारापद्रपुर में देवी नागिनी व्याख्यान के समय नित्य पहुँचने लगी॥13॥

उन्होंने वहाँ के पट्ट पर आसन (बैठने) के लिए आवास का प्रबन्ध किया। इस प्रकार देवी (नागिनी) के साथ उन गुरु का समय बीतने लगा॥14॥

एक दिन चित्त की विकलतावश वह नागिनी के लिए आसन देना भूल गये। अतः, वह (नागिनी) ऊपर आकाश में ही देर तक खड़ी रही॥15॥

तब, मध्यरात्रि में ध्यानावस्था में तत्क्षण देवी-स्वरूपा (नागिनी) मठ के बीच उपालम्भ देने आ गई॥16॥

सूरि ने प्रकाश और अतिरिक्ति की स्थिति में स्त्री को देखकर प्रवर्तक मुनि से कहा—हे मुने! आपने कोई नारी प्राप्त की है?॥17॥

‘मैं नहीं जानता’— ऐसा उस मुनि के कहने पर देवी स्वयं बोली— वास नहीं प्राप्त होने पर मैं अपने पैरों पर कष्ट के साथ खड़ी रही॥18॥

आपको यदि श्रुतज्ञान-युक्त अंगों की विस्मृति हो जायगी तो इससे यह जानिए कि प्रभु की आयु छह मास ही शेष रहेगी॥19॥

अपने गच्छ को सुस्थित करके परलोक के लिए आप अपना हित-साधन करें। मैं ऐसा जानती हूँ, इसलिए प्रभु को भी काल-विज्ञापन करना मेरे लिए उचित है॥20॥

यह कहकर देवी के अन्तर्हित हो जाने पर प्रातः काल अपने गण और संघ को बुलाकर बत्तीस सत्पात्रों के बीच विद्वत्-श्रेष्ठ ने तीन को सूरिपद पर प्रतिष्ठित किया। ये तीनों थे— श्रीवीरसूरि, श्रीशालिभद्रसूरि और श्रीसर्वदेवसूरि। ये तीनों रत्नत्रयी जैसे थे। तीनों ही सच्चारित्र से अलंकृत एवं सत् के तेज से दीप्त होकर सुशोभित हुए॥21-23॥

श्रीवीरसूरि के किसी कारणवश सूरि-सन्तति (सूरि-परम्परा) नहीं प्रवर्तित हुई। उनका राजपुरी गाँव में श्रीनेमि ही शाश्वत शरीरधारी हुए॥24॥

करोड़ों विद्वानों से परिपूर्ण दूसरी दो शाखाओं में आज भी संघ के उद्धार में धुरन्धर सूरि विद्यमान हैं॥25॥

श्रीशान्तिसूरि श्रीसम्पन्न उज्जयन्त पर्वत पर यशोभिधान नामक श्रद्धालु पुत्र साढ़ के साथ मिल गये॥26॥

थोड़े कुछ दिनों की यात्रा करके वह उस पर्वत पर पहुँचे। और, मन से श्रीनेमि का ध्यान करके उन्होंने प्रायोपवेशन किया॥27॥

धर्मध्यान की अग्नि द्वारा भवपीडा-रूप विस्तृत पाप से तथा भूख-प्यास, नींद आदि की आन्तरिक प्रतीति से मुक्त हो गये॥28॥

पच्चीस दिन समाधि द्वारा बिताकर जगत् के प्रति नम्रता भाव के साथ वैमानिक देवों के आवास में चले गये॥29॥

विक्रमाब्द के एक हजार छियानवे वर्ष बीतने पर, ज्येष्ठ या आषाढ़ महीने में शुक्लपक्ष की नवमी तिथि एवं दिन मंगलवार को कृत्तिका नक्षत्र में शान्तिप्रभु का अस्त हो गया॥30॥

इस प्रकार वादिवेताल श्रीशान्तिसूरि का श्रेष्ठ (उत्तम) चरित पूर्ववर्ती श्रीसिद्धसेन प्रभृति के सुचरितों के अनुकरण पर, नवीन प्राचीन विद्वज्जनों की श्रेष्ठता के धारणपूर्वक, सैकड़ों विद्वानों द्वारा सम्यक् रूप से अभ्यास किया जाता हुआ (यथोक्त चरित) जबतक चन्द्रमा विद्यमान हैं, तबतक कल्याणकारी हो॥३१॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि के पट्ट-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र श्रीप्रभाचन्द्रसूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न सूरि द्वारा विवेचित श्रीशान्तिसूरि का कथा-रूप सोलहवाँ शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥३२॥

॥श्रीवादिवेताल-प्रबन्ध समाप्त॥



श्रीमहेन्द्रसूरिचरित

1. श्रीमान् महेन्द्रसूरि को मैं नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने अनगिनत पुण्य के क्रय-विक्रय को स्थिर किया है॥1॥

श्रीमान् धनपाल के गुणों की स्तुति में आलस्य कौन करेगा? जिसके अविचल विश्वास में तथ्यपूर्ण ब्राह्मी वाक्य का विस्तार हुआ है॥2॥

आन्तरिक शत्रुओं के काल-रूप वह धनपाल, श्लाघनीय हैं। मिथ्यात्व-रूप विष के विनाश के लिए जिनकी बुद्धि ही सिद्ध की आज्ञा के समान है॥3॥

उनके वृत्त के घर्जन में वाग्विस्तार करके, गुरु-रूप उनके चरणों की दासता में रहकर और फिर अपने को निर्मल बनाकर जन्म का फल लाभ करूँगा॥4॥

अवन्ती नाम का देश है, जो (समृद्धि में) वाडवामुख देश से कम है। जहाँ नव भोगियों के कुलों का वास है॥5॥

वहाँ पुरुषार्थों के आधार-स्वरूप धारा नाम की नगरी है, जिसके समक्ष, दान-रूप कल्पवृक्ष के बाहुल्य से अमरावती (इन्द्रपुरी) भी सारहीन प्रतीत होती है॥6॥

वहाँ निश्छल वैभव से परिपूर्ण राजा भोजराज का निवास है। जिस राजा का मुख-कमल सरस्वती और लक्ष्मी के निवास के समान है॥7॥

जिसके यश-रूपी स्वर्नदी के तट पर, आकाश में विद्रव (उपद्रव) होने पर, ब्रह्मा पूजा-विधि में चन्द्रमा को नारियल जैसा व्यवहार में लाते हैं॥8॥

2. इधर मध्यदेशीय प्रभापूर्ण स्थान का आश्रय-स्वरूप देवर्षि नारद के प्रभाव से युक्त देवभूमि के समान भूमि पर देवर्षि रहते थे॥9॥

उनके सर्वदेव नाम का पुत्र था, जिसने अनेक सत्कार्य किये थे। उसकी ब्राह्मणोचित निष्ठा से सभी शिष्ट-विशिष्ट जन सन्तुष्ट थे॥10॥

उन देवर्षि के दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके चरण विज्ञश्रेष्ठों द्वारा पूजित थे। प्रथम पुत्र का नाम धनपाल था और फिर दूसरे का नाम शोभन था॥11॥

एक दिन वहाँ श्रुतसागर के पारदृशवा, चान्द्रगच्छ-रूप कमल के लिए सूर्य-स्वरूप श्रीमहेन्द्रप्रभु पधारे॥12॥

लोगों के संशय का निवारण वह अपनी व्याख्या-शैली द्वारा करते थे। उनकी विख्याति की बात द्विजराज सर्वदेव ने सुनी॥13॥

वह इनके उपाश्रय में आये। वहाँ इन्होंने उनका उचित सम्मान किया। वह तीन दिनों तक दिन-रात समाधि की स्थिति में रहे॥14॥

प्रभु ने उनसे पूछा—आप सुधी हमारी परीक्षा के लिए आये हैं या और कुछ कार्य है?॥15॥

ब्रह्मा की दूसरी मूर्ति के समान उस द्विजश्रेष्ठ ने कहा—महात्माओं के माहात्म्य-दर्शन से पुण्यार्जन होता है॥16॥

हमें कुछ दूसरा भी कार्य है, हम उसी की याचना के लिए आये हैं। दूसरों के गुणोदय के सन्दर्भ में जो रहस्य है, वह न कहने योग्य है॥17॥

एकान्त में जाकर प्रभु ने कहा—जो कहना उचित है, वह ख्यात ही है। यह सुनकर वह बोले—हमारे पिता पुण्यवान् हुए एवं राजा द्वारा पूज्य भी। वह सदा दान में एक लाख पाते थे। मेरे घर में निधि की शंका—यह तृष्णा से युक्त बात है॥18-19॥

तो, समस्त विज्ञान के ज्ञाता आप यदि मुझपर परोपकार में उद्यत होंगे, तो यह अनुग्रह-बुद्धि के रूप में जाना जायगा॥20॥

तो, कुटुम्ब-सहित ब्राह्मण स्वजनों से खेलते हैं, अतः हे श्रीमान्, आप दान-भोग द्वारा प्रसन्न होकर मुझपर दृष्टिपात करें॥21॥

सूरि ने उत्तम शिष्य के लिए उस ब्राह्मण के माध्यम से लाभ की बात सोचकर कहा—हे बुद्धिनिधान! आपके कार्य को मैं अवश्य करूँगा॥22॥

परन्तु आप हमें क्या देनेवाले हैं, जिसे आप हमें एकान्त में कहेंगे? हे सामिस्वामिन्! उसके बराबर मैं भी आपको निश्चित रूप से दूँगा॥23॥

मैंने अपनी रुचि के अनुसार आपकी वस्तु का आधा दे दिया। यहाँ आप साक्षी जनों को प्रस्तुत करें; क्योंकि यह द्रव्य की आपस में अदला-बदली है॥24॥

वेद-वेदांग शास्त्रों के व्याख्याता मैं झूठ कैसे बोलूँगा? फिर भी हे प्रभो! आपके विश्वास के लिए यह हो॥25॥

तब गुरु ने वहाँ उपस्थितों को साक्षी के रूप में मान लिया। और, हर्षित मन से घर आकर दोनों पुत्रों से उसी रूप में कहा॥26॥

शुभ दिन में गुरु को बुलाया गया, और ज्ञान से जानकर वहाँ की जमीन को खोदकर उस ब्राह्मण ने वह द्रव्य प्राप्त कर लिया और तब निश्चित करके कहा॥27॥

चालीस लाख सोने का टंक निकला है। उसे देखकर भी निःस्पृह जनों की शिरोभणि-स्वरूप सूरि अपने उपाश्रय में चले गये॥28॥

श्रीमान् प्रभु सर्वदेव और महेन्द्र के बीच दान-ग्रहण के सम्बन्ध में वर्षों तक वाद (मुकद्दमा) चलता रहा॥29॥

एक दिन दृढ़प्रतिज्ञ होने के कारण ब्राह्मण ने सूरि से कहा— देवद्रव्य आपको देने के बाद मैं अपने घर में प्रवेश करूँगा॥30॥

सूरि ने उचित कहा—मैं आपकी बात मानता हूँ। यही हो, आप मित्र को स्वीकार करें—ऐसा ब्राह्मण ने कहा॥31॥

सूरि बोले—दो पुत्रों में एक पुत्र मुझे दे दें, यदि आप सत्यप्रतिज्ञ हैं। अगर नहीं हैं तो अपने घर जायँ॥32॥

किंकर्तव्यविमूढ उस ब्राह्मण ने बहुत कष्ट से कहा—‘दूँगा’। तदनन्तर वह चिन्तातुर होकर अपने घर चले गये॥33॥

तभी राजमहल से लौटे हुए धनपाल ने शिष्य द्वारा उपस्थापित बिछावन-रहित खाट पर बिना नींद के पड़े हुए ब्राह्मण को देखा॥34॥

मेरे जैसे आदेशानुसार कार्य करनेवाले पुत्र के रहने पर भी यह विषाद किसलिए है? तो आप इसका कारण मुझसे कहें॥35॥

तब पिता ने कहा- वत्स! तुम्हारे जैसे सत्पुत्र ही पिता के आदेश-पालन में इस प्रकार दृढ़प्रतिज्ञ होते हैं॥36॥

वेद में कहा गया है, पुत्र वही है, जो पिता की, ऋण लेकर भी रक्षा करता है, नरक से उद्धार करता है और सद्गति प्रदान करता है॥37॥

श्रुति, स्मृति और पुराण का अभ्यास तथा कुल का फल तुमलोगों के लिए यही है कि ऋण से हमारा उद्धार हो॥38॥

तो तुम सावधान होकर सुनो-महेन्द्रसूरि नाम के जैन महर्षि हैं, जिन्होंने ऐसा द्रव्य दिखलाया है॥39॥

यथाभिलषित का आधा मैं दूँगा, ऐसी प्रतिश्रुति मैंने की है। इसीलिए वह मुझसे दो पुत्रों में एक की याचना करते हैं, ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ?॥40॥

हे वत्स! अभी इस संकट से तुम्हीं मुझे उबार सकते हो, इसलिए, मेरे कारण ही तुम उनका शिष्य हो जाओ॥41॥

बुद्धिनिधान धनपाल ने भीतर से क्रुद्ध होकर कहा-हे तात! जैसा आपने कहा है, वैसा अनुचित कोई नहीं कह सकता॥42॥

हम सभी 'सांकाश्य' स्थान के समान उत्तम वर्णों में माने जाते हैं। चतुर्वेद के ज्ञाता हैं और सांगोपांग उन (वेदों) का पारायण करते हैं॥43॥

मैं श्रीमुंजराज का सम्मानित पुत्र हूँ; श्रीभोज मेरे बालमित्र हैं और मैं ब्राह्मण हूँ॥44॥

मैं पुत्र होकर पतित शूद्रों की निन्दित दीक्षा से अपने पूर्वजों को गड्ढे में ढकेल रहा हूँ॥45॥

एक आप हैं; जो ऋण से मुक्ति के योग्य हैं; और सभी पूर्वज गड्ढे में डालने योग्य हैं! सज्जनों द्वारा निन्दित इस कुत्सित व्यवहार को मैं नहीं करूँगा॥46॥

इस कार्य के द्वारा मेरी अपनी रुचि का कार्य मत करें। इस प्रकार पिता की अवहेलना करके वह अन्यत्र चला गया॥47॥

अश्रु-प्रवाह से डबडबाई आँखोंवाला वह भारी संकट की स्थिति में जब निराश हो रहा था, तभी उसका दूसरा पुत्र आ गया॥48॥

उसने भी इस दैन्य का कारण पूछा तो पिता ने कहा-धनपाल द्वारा कहीं किसी कार्य में हम आहत हुए हैं॥49॥

तुम तो अभी बच्चे हो, इसलिए क्या प्रतिकार कर सकते हो? तुम जाओ। मैं अपने कारणों से अपने कर्म का भोग भोगूँगा॥50॥

पिता की निराशा-भरी बात सुनकर शोभन बोला-मेरे जैसे पुत्र के रहने पर आप निश्चय ही विह्वल मत हों॥51॥

धनपाल राजा द्वारा पूज्य है, कुटुम्ब-परिवार के भरण-पोषण में समर्थ है। मैं निश्चित ही उसकी कृपा से आपके आदेश के अनुसार आचरण करूँगा॥52॥

मेरा बड़ा भाई वेद श्रुति और स्मृति का पारगामी पण्डित है; कृत्य और अकृत्य की जानकारी में भी कुशल है, वही अपनी रुचि के अनुसार विचार करेगा॥53॥

मैं तो बचपन से ही सीधा हूँ, इसलिए मेरा यही विचार है कि पुत्रों के लिए पिता के आदेश के पालन से दूसरा कोई धर्म नहीं है॥54॥

इसलिए मैं इस सम्बन्ध में कृत्य और अकृत्य की गिनती नहीं करता हूँ-अपनी रुचि के अनुसार चाहे मुझे कुछ में फँक दें या फिर चाण्डाल को दें॥55॥

यह सुनकर सर्वदेव ने उसे कसकर अपने अँकवार में भर लिया और कहा-हे महान् बुद्धिशाली! मुझे ऋण से मुक्त कर मेरा उद्धार करो॥56॥

तब उस उत्तम पुत्र ने, पहले कहे हुए को सुनाया। तदनन्तर (पिता ने) अतिशय हर्षपूर्वक कहा- यह काम मेरे लिए प्रिय से प्रियतर है॥57॥

जैन मुनि सत्त्व की निधि और तपस्या से उज्ज्वल होते हैं। उनकी सन्निधि में रहना अच्छे भाग्य से ही सुलभ होता है॥58॥

जीव के प्रति दया से धर्म वहीं रहता है; सत्त्वे धर्म का या सत्य-रूप धर्म का यही चिह्न है- ऐसा ज्ञान ही विश्वसनीय होता है॥59॥

पकिल विषयों से भरे घर में आवास के लिए कौन ठहरता है? और फिर जो 'यह करना है, यह करना है' इस प्रकार की चिन्ता की पीड़ा से जर्जर रहता है॥60॥

पत्नी धनश्री से बन्धुवर्ग दोनों प्रकार से भयग्रस्त रहा है- बहुत सारी भोग्य वस्तुओं के रहने पर भी पत्नियाँ असन्तुष्ट बुद्धि की होती हैं॥61॥

कन्या के सम्बन्ध में मेरी भी ऐसी ही गति होनेवाली है, यह निश्चित है। तो हे तात! मेरे प्रियकार्य के प्रति निषेध से आप क्यों शंकित हैं?॥62॥

तो उठें, स्नान करें, देवपूजन तथा वैश्वदेव आदि क्रियाएँ सम्पन्न करके निश्चिन्त भाव से भोजन करें॥63॥

तब मुझे वहाँ ले जाकर उन (जैन मुनियों) के निकट छोड़ आये। मैं उन मुनियों की चरण-सेवा से अपने जन्म को पवित्र करूँगा॥64॥

तब, यह बात सुनकर ब्राह्मण आनन्द के आँसू से अभिभूत हो गये। और उठकर पुत्र को जोर से आलिंगन में लेकर उसके माथे को चूमा॥65॥

तब (स्नान आदि) सभी क्रियाएँ करके, भोजन के बाद ब्राह्मण शोभनदेव के साथ आचार्य के प्रतिश्रय (आवास) में गये॥66॥

आचार्य ने उनके प्रिय पुत्र को गोद में बैठा लिया और कहा-पूज्यों द्वारा जितना करणीय होगा, उतना यह पुत्र भी करेगा। सूरि ने हर्षपूर्वक उस पुत्र को उसी दिन शुभ ग्रहयोग और शुभ लग्न में दीक्षा प्रदान की॥67-68॥

पद-विचलन से आशंकित उन्होंने सुबह में ही विहार के लिए प्रस्थान किया और विहार करते हुए वह क्रमशः अणहिल्लपुर पहुँचे॥69॥

3. इधर धनपाल ने सर्वदेव को अलग कर दिया और दुष्कर्मकारी पिता ने निधि

(खजाने) से द्रव्य (रुपये) लेकर पुत्र को बेच दिया॥70॥

वह अदूरदर्शी, दीक्षा से च्युत हो शूद्र-रूप में परिणत, कहीं-कहीं शान्ति के छल से स्त्री और बच्चों आदि को ठगनेवाला हो गया॥71॥

तदनन्तर उसके अद्भुत पाखण्ड को सोच-समझकर (लोगों ने) राजा को इसकी सूचना दी। राजा ने रुष्ट होकर उसे देश से निर्वासित कर दिया॥72॥

इस प्रकार राजा भोज की आज्ञा से बारह वर्षों तक मालव देश में वह विहार नहीं कर सका। अर्थात्, मालव देश से उसे निर्वासित कर दिया गया। वहीं उसे श्रीश्वेताम्बर (साधु) का दर्शन हुआ॥73॥

जब वह गुर्जर देश में रहा, तभी धारा नगरी के संघ ने श्रीमान् महेन्द्रसूरि से सारी बातें ज्यों की त्यों कहीं॥74॥

इधर तब सूरि ने शोभनदेव को अध्ययन कराया और उसे वाचनाचार्य बना दिया, जिसके गुणों की इन्द्र ने भी स्तुति की॥75॥

अवन्तिसंघ की विज्ञप्ति को सुनकर प्रभु शोभन ने कहा—मैं अपने भाई के प्रतिबोध के लिए शीघ्र ही जाऊँगा॥76॥

संघ में मेरे लिए यह दुर्मानसिकता आ गई है कि मैं ही उस सम्बन्ध में प्रतीकार खोजने का उत्साह दिखलाऊँगा॥77॥

अनन्तर, प्रभु द्वारा विद्वान् जैन मुनियों के साथ प्रेषित वह धारापुर चले आये; वहाँ उन्होंने अद्भुत परिपक्वता प्राप्त कर ली॥78॥

समय आने पर विभु शोभन ने गोचर-चर्या के लिए श्रीमान् धनपाल के चिर-परिचित घर में उन्हें भेजा॥79॥

तब, वहाँ उन दोनों साधुओं ने जाना कि वह श्रेष्ठ विद्वान् हैं। वहाँ रहकर उन्होंने स्नान के लिए अपने पुष्ट शरीर में तेल की मालिश की॥80॥

स्वस्थ चित्तवाले वे दोनों साधु धर्मलाभ की बात कर वहाँ ठहरे। जाने के समय उन दोनों ने धनपाल की प्रिया को उत्तर दिया॥81॥

धनपाल ने कहा— इन दोनों साधुओं को कुछ निश्चित रूप में देना चाहिए। घर से याचक खाली हाथ जायें, यह बड़ा अधर्म है॥82॥

तब उसकी पत्नी बासी अन्न ले आई; साधुओं द्वारा उसे लेने के बाद दूसरी वस्तु दही ले आई। तब साधुओं ने पूछा— यह क्या दिन में तैयार किया गया है?॥83॥

क्या दही में जीव हैं या नहीं? (पत्नी बोली—) आप लोग दयावान् हैं। यह तीन दिनों का है। लेना है तो लें, नहीं तो यहाँ से शीघ्र चले जायें॥84॥

वे दोनों साधु बोले— इस रीति से हमसे क्यों ईर्ष्या करती हो? ईर्ष्या में बड़ा दोष है। प्रिय वचन ही सुन्दर होता है॥85॥

यदि आप पूछते हैं तो यह भ्रान्तिहीन नहीं कि इसमें निश्चय ही जीव है। दो दिन के गोरस में जीव रहता ही है—ज्ञानियों की यह बात झूठी नहीं है॥86॥

विद्वान् ने तब क्लेशदायक बात कही—विश्वास के लिए हमें इस दही में जीव दिखायें॥87॥

उन दोनों साधुओं ने पूड़ी जैसी अलते की (लाल) पत्ती उस दही में डाल दी। तब शीघ्र ही उस दही में जीव कुलबुलाने लगे॥88॥

तब नहीं दिखाई पड़नेवाले जीव उस दही में दिखाई देने लगे। तब उन्होंने उसी रंग के, उसी तरह के जीव उसमें देखे॥89॥

उनकी बात से मिथ्यात्व का घमण्ड दूर हो गया, जैसे मन्त्रज्ञ के मन्त्रों से साँप का विष दूर हो जाता है॥90॥

उन्होंने सोचा— इनका धर्म जीवदया से उज्ज्वल है, यह जो पशु-हिंसा आदि है, वह मिथ्या ही लक्षित होता है॥91॥

उन्होंने कहा है —

धर्म सर्वत्र है। आपने जिन-शासन का मनन नहीं किया है। सोने के लिए आतुरों के निमित्त सोना नहीं पाना, अर्थात् सुवर्ण की अप्राप्ति ही दुःख का कारण है॥92॥

तदनन्तर श्रेष्ठ विद्वान् ने कहा— आपके कौन गुरु हैं? कहाँ से आये हैं? आप किस शुद्ध स्थान में ठहरे हैं?॥93॥

यह सुनकर उन दोनों ने कहा— आप सावधान होकर सुनें। हे श्रीमन्! हम गुजरात देश से आये हैं॥94॥

श्रीमान् महेन्द्रसूरि के शिष्य श्रीशोभन हमारे गुरु हैं। नाभिपुत्र आदिनाथ की पवित्र भूमि के निकट जीवरहित (प्रासुक) आश्रय में ठहरा हूँ॥95॥

यह कहकर वे दोनों महामुनि अपने स्थान पर चले गये। वहाँ स्नान और भोजन के बाद वे विद्वान् उपाश्रय में चले गये॥96॥

अनन्तर विज्ञ शोभन गुरु-बन्धु के पास गये। सहोदर के स्नेह-मोह से उन्होंने उनका आलिंगन किया॥97॥

तब, अग्रज के आधा आसान देने पर भी वह उसपर नहीं बैठे। और, बोले—आप जैसे जो धर्म के आश्रय हैं, वही हमारे पूज्य हैं॥98॥

जिनेन्द्र का दर्शन धर्म का मूल है। राजा भोज की आज्ञा से जिसे निर्वासित कर मैंने जो उपार्जन किया, उस महापाप का अन्त नहीं है॥99॥

पिता सर्वदेव और आप अनुज—ये दोनों ही महामति हैं। आप दोनों संसार को त्यागनेवाले इन धर्मरूप सुगुरु का आदर करें॥100॥

हम यहाँ पुनः धर्माभास (मिथ्या धर्म) में धर्मभाव से स्थित होकर नहीं जानते कि हमारी क्या गति होगी? और हम मरकर किस संश्रय (आश्रय) में जायेंगे॥101॥

आम्नाय—रूप समुद्र के रत्नस्वरूप मेरे अनुज! आप स्पष्ट रूप से कर्म के मर्म का विनाश करनेवाले शान्तिदायी धर्म को कहें॥102॥

अनन्तर विद्वान् श्रीशोभन ने बन्धु (भाई) के प्रति स्नेहभार का वहन करते हुए कहा—हे कुलाभर! आप धर्म सुनें, जो कृपा-स्वरूप ही है॥103॥

आप सावधान होकर देव, धर्म और गुरु के तत्त्वों को सुनें। जिनदेव महामोह-रूप मुख्य शत्रु कामदेव को जीतनेवाले हैं॥104॥

भगवान् (जिन) निश्चय ही स्वयं मुक्त हैं और दूसरों को भी मुक्त करने में समर्थ हैं, साथ ही परमानन्द-पद के प्रदाता हैं॥105॥

शापानुग्रह करनेवाले, विषय के पंक में भग्न तथा स्त्री, शास्त्र एवं रुद्राक्ष की माला के आधारवाले वे देवता राजा के जैसे हैं॥106॥

गुरु शम, दम, श्रद्धा, संयम और श्रेयस् के निधि-स्वरूप हैं, और फिर वह कर्म की निर्जरा (कर्म-पुद्गलों का आत्मा से पृथक्करण) में आसक्त तथा सदा संवर (नूतन कर्मबन्ध का संचय) के त्याग के साथ विहार करनेवाले होते हैं॥107॥

गुरु, परिग्रह-रूप महारम्भवाले तथा जीव-हिंसा के प्रति उद्यमशील समस्त अभिलाषाओं से सम्पन्न एवं ब्रह्महीन कैसे हो सकते हैं?॥108॥

सत्य, अस्तेय, दया, शौच, क्षमा, ब्रह्म (ब्रह्मचर्य), तप, मार्दव, आर्जव और सन्तोष ये ही जिनप्रोक्त धर्म हैं॥109॥

अति निन्दनीय वस्तु का दान और पशु-हिंसा से अधर्म होता है। कृत्रिम वस्तु के समान इसे धर्म कहना उचित नहीं है॥110॥

तदनन्तर बुद्धि के निधान श्रीमान् धनपाल ने कहा-मैंने सद्गति के लिए जैनधर्म स्वीकार कर लिया है॥111॥

तदनन्तर उसने श्रीमान् महावीर के चैत्य में जाकर उन्हें प्रणाम किया और वीतराग के नमस्कार में उसने दो श्लोक पढ़े॥112॥

श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है -

जिनका बल संसार के ध्वंस और रक्षा में समर्थ है और अपराध करनेवालों तथा संसार के प्रति आसक्त जनों के प्रति क्षमाशील है-इस प्रकार सोचकर तथा मन को मुक्त कर हे नाथ! आपका रोष भी क्रोध की तरह नष्ट हो गया॥113॥

आप कितने ही पुर के स्वामी हैं; शरीर का व्यय करके भी आप बड़ी मुश्किल से ग्राह्य हैं; मोहवश मैंने सीमित-प्रदाता आपका पहले अनुसरण किया था; आप त्रिभुवन के विभु सम्प्रति बुद्धि द्वारा आराध्य और अपना पद प्रदान करनेवाले हैं। पहले आप प्रभु प्राप्त हुए थे, वह बीता हुआ दिन अब नहीं रहा, यह मेरे हृदय को दुःखी करता है॥114॥

एक दिन (धनपाल ने) पूर्णिमा की सन्ध्या के समय राजा से देश में जैनदर्शन के प्रचार के लिए कहा- हे राजन्! आपका यश चाँदनी से उज्ज्वल आकाश तक विस्तृत है। वह प्रकट होकर अन्धकार का नाशक तथा वस्तुस्थिति (तत्त्वार्थ) का प्रकाशक बने॥115-16॥

राजा ने कहा-हे मित्र! मुझे इस सजिजश की जानकारी है। यहाँ देश में श्वेताम्बर विचरण करते हैं, इसलिए जैनदर्शन से कौन द्वेष कर सकता है?॥117॥

तदनन्तर धारा नगरी के संघ ने मिलकर प्रभु से श्रीमान् महेन्द्रसूरि के सम्बन्ध में निवेदन किया कि वह शीघ्र यहाँ आये॥118॥

धर्मतत्त्व में विचक्षण धनपाल क्रमशः दृढ़ सम्यक्त्व की निष्ठा से मिथ्यात्व को ध्वस्त कर अतिशय शोभा को प्राप्त हुआ॥119॥

4. एक दिन वह राजा के साथ महाकाल-भवन (मन्दिर) में गया। वहाँ वह मण्डप की खिड़की में शिव के आगे नहीं बैठा॥120॥

राजा ने जब उसे बुलाया, तब वह तीन बार द्वार के आगे आ खड़ा हुआ और

झट से लौट गया। तब राजा ने विस्मित होकर उससे पूछा— 'हे मित्र! यह क्या है?' राजा के ऐसा पूछने पर उस साथी (धनपाल) ने कहा— देवता शक्ति से युक्त होते हैं। लज्जावश उन्हें नहीं देखा जा सकता है॥121-22॥

राजा ने कहा— इतने दिन तुमने इसी प्रकार (देवता की) पूजा की? वह बोला— आपने कहा, इसलिए मैं लज्जित हुआ। यों मैं बाल-स्वभाववश लज्जित नहीं हुआ॥123॥

लोक (जनसमूह) और आप भी इसी तरह दिन बिताते हैं। अन्तःपुर की वधुओं (स्त्रियों) में आसक्त आपभी (देव को) देखने में असमर्थ हैं॥124॥

आप जैसे कामासक्त प्राचीन राजाओं ने भी यहाँ बलपूर्वक इन देवों की ऐसी ही पूजा प्रवर्तित की॥125॥

क्योंकि -

श्रेष्ठ देवता के सिर की पूजा की जाती है और फिर महादेव की लिंग-पूजा होती है। बली लोगों ने जिसकी जैसी प्रतिष्ठा की है, उसे ही ठीक माना जाता है॥126॥

राजा ने मुस्कराते हुए सोचा— यह हास्य (की बात) सत्य के समान है। मैं अब दूसरा (प्रश्न) पूछता हूँ। इसमें यही उत्तर स्पृहणीय है॥127॥

बाहर शिव के गण भृंगिरिटि की मूर्ति देखकर (राजा) कौतुकपूर्वक बोले—यह दुर्बल कथन क्यों? आप तो सिद्ध सारस्वत पुरुष हैं॥128॥

अनन्तर धनपाल ने कहा—सत्य-कथन में समय लगता है। अस्तु, सत्य-कथन में क्या दोष है, यह हमसे सुनें॥129॥

जैसे—दिगम्बर को धनुष से क्या प्रायोजन है? रुधिरराक्त को भस्म से क्या मतलब? भस्म से स्त्री को भी क्या जरूरत है, यदि वह काम से द्वेष करती है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध चेष्टा से युक्त अपने पति (शिव) को देखते हुए भृंगो (शिवगण) सूखी शिराओं से व्याप्त प्रायः अस्थिशेष शरीर को धारण करता है॥130॥

व्यास बाहर पार्श्वों के बीच 'साज्ञवल्क्यस्मृति' की उच्च स्वर में व्याख्या करते हैं और वहाँ राजा शुश्रूषु (सेवाकर्ता) के रूप में बैठे हैं॥131॥

लौटकर आये हुए वयस्य को देखा तो बोले— श्रुति-स्मृति के प्रति आपकी अवज्ञा है, इसीलिए उसे सावधानी से नहीं सुनते हैं॥132॥

उन्होंने कहा—नहीं समझ पा रहा हूँ, इसीलिए व्यस्त होने का लक्षण है। कौन मतिभ्रान्त प्रत्यक्ष रूप से विरुद्ध बात को सुनता है?॥133॥

कैसे?

अपवित्र वस्तु खानेवाली गाय का स्पर्श पाप का हरण करता है, वन्य वृक्ष अचेतन होते हैं; बकरे के वध से स्वर्ग प्राप्त होता है, और विप्रों को भरपूर भोजन कराने से पितरों का उद्धार होता है; वेद की इन निरर्थक और मधुर लीलापूर्ण बातों को कौन जानना चाहता है?॥134॥

राजा ने जब यथायोजित यज्ञ की सम्पन्नता के लिए बलि के निमित्त बँधे हुए पशुओं का मेमियाना सुना तो पूछा—ये बकरे क्या कह रहे हैं? तब कविश्रेष्ठ ने कहा— मैं इन (पशुओं) की भाषा जानता हूँ, इसलिए मेरी बात सुनें॥135-36॥

वह बात यह है -

अकवन के पत्ते को खाकर अपने उल्लासपूर्ण शरीर की रक्षा करनेवाला यह जो पशु (अज=विष्णु : बकरा) अपने नाम और गुणों से विष्णु-स्वरूप है, वह कैसे वध के योग्य है। बकरे के प्रतिनिधि के रूप में (कवि कहते हैं-) मुझे स्वर्गफल के उपभोग की तृष्णा नहीं है और न मैंने उसके लिए माँग की है; जो हम (पशु) घास खाकर सन्तुष्ट रहते हैं। यज्ञ में आपके द्वारा मारे गये प्राणी यदि निश्चित ही स्वर्ग जाते हैं तो अपने माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवों (की बलि) से क्यों नहीं यज्ञ करते हैं?॥137-38॥

कवि के विपरीत वचनों से राजा भोज कुपित हो गये। उन्होंने मन में सोचा-अपने को ब्राह्मण कहनेवाले इस विरुद्धवादी को मैं भार डालूँगा॥139॥

उन्हें साक्षात् मारने से भारी अफवाह फैलेगी, इसलिए कहीं एकान्त में समय देखकर मारना चाहिए, यह मेरी प्रतिज्ञा है॥140॥

तभी राजपथ पर तटस्थ भाव से एक बालिका के साथ अपने घर की ओर आती हुई बूढ़ी स्त्री दिखाई पड़ी॥141॥

उन्होंने उस वृद्धा को नौ बार सिर धुनते हुए देखा। राजा बोले-उस वृद्धा ने क्या कहा? तब श्रेष्ठ कृती पुरुष (महेन्द्रसूरि) ने कहा-क्या शिव हैं? क्या विष्णु हैं? क्या कामदेव हैं? क्या कुबेर हैं? अथवा क्या वह विद्याधर हैं? क्या इन्द्र हैं? क्या चन्द्रमा हैं? क्या विधाता (ब्रह्मा) हैं? यह नहीं, यह नहीं, यह भी नहीं; नहीं, नहीं, निश्चय ही नहीं; नहीं, वह भी नहीं, यह भी नहीं। अरी दासी! राजा भोज स्वयं यहाँ खेल करने में लगे हुए हैं॥142-43॥

यह सुनकर राजा ने सोचा- नौ बार का औचित्य क्या है? नौ बार शंका करके नकारना भी छोड़ दिया॥144॥

इस दुर्वचन बोलनेवाले के बिना ज्ञानी के समान बोलनेवाला कौन है? श्रीमान् मुंज ने जिसके शरीर का संवर्धन किया है, वही दण्ड के योग्य है॥145॥

तदनन्तर, राजा ने कदाचित् पापवृद्धि के क्रम में मित्र को बुलाया! वह गये, वहाँ शिकारियों ने सूअर को देखा॥146॥

कर्णपर्यन्त धनुष की डोरी को यथेच्छ रूप में खींचकर, प्राण हथेली पर लेकर मुँह को लिकोड़ते हुए बाण को छोड़ा॥147॥

वह सूअर घोर घरघराहट के स्वर के साथ जमीन पर गिर पड़ा। जानकारों ने कहा-प्रभु के समान योद्धा केवल अर्जुन हैं, दूसरा कोई नहीं॥148॥

तभी पण्डितश्रेष्ठ की ओर राजा भोज की दृष्टि गई। आप कुछ कहें - राजा के ऐसा कहने पर वह पण्डितश्रेष्ठ बोले-हे प्रभो! सुनें ॥149॥

पण्डितश्रेष्ठ की वाणी का हिन्दी-रूपान्तर इस प्रकार है -

यहाँ (प्रदर्शित) पौरुष रसातल चला जाय, इनकी कैसी है? शरण में (आया प्राणी) निर्दोष है। बलवान् लोग जो दुर्बल को मारते हैं; ओह! ऐसी अराजकतापूर्ण दुनिया महाकष्ट देनेवाली है॥150॥

एक दिन, नवरात्र के अवसर पर, लिम्बज के गोत्रज की पूजा करते समय राजा ने सौ बकरों को मरवा डाला। उस क्रम में बकरों की आँखें लाल थीं और मारनेवाले की भी आँखें लाल थीं। उन लाल आँखोंवाले पशुओं को बाँध कर उन्हें खड्ग से दो टुकड़े

कर दिये गये। एक ही वार में मार देने पर अपने आसन पर बैठे राजा ने मारनेवाले की प्रशंसा की ॥151-52॥

करुणा के एकमात्र सागर धनपाल ने कहा-ऐसा (क्रूर) कर्म करनेवाले लोग हैं और इसकी प्रशंसा करनेवाले विज्ञान भी हैं ॥153॥

मारे गये पशुओं के रुण्ड हँसते हैं, और साधु-साधु का स्वर सुनाई पड़ता है! इन दोनों को नरक जाना है, ऐसा जानें। इन्हें संस्कार देना उचित है ॥154॥

एक दिन पवित्र अरोहण-पर्व के अवसर पर राजा महोत्सवपूर्वक महाकाल-मन्दिर में गये और वहाँ उन्होंने अपने वयस्य (मित्र) से कहा-सखे! आपके देवता कभी पवित्र नहीं होते। इसलिए वे अपवित्र ही होते हैं। तब मित्र ने अपने राजा मित्र से कहा-॥155-56॥

कथन इस प्रकार है-

पवित्र अपवित्र की पवित्रता के लिए सर्वोपरि होता है। जिनदेव स्वयं पवित्र हैं। उन्हें अन्य पवित्रकों से क्या प्रयोजन? ॥157॥

शिव में अपवित्रता है, फिर भी शिवभक्त द्वारा समादृत हैं; क्योंकि शिवलिंग की पूजा के बाद शिव से जो माँगें, निश्चय ही देते हैं या निश्चित रूप से उसकी प्राप्ति होती है ॥158॥

रति से युक्त हँसमुख कामदेव की, ताली बजाने के लिए हाथ उठाये हुई मूर्ति को देखते हुए राजा ने कौतुकपूर्वक चण्डांशुपण्डित से कहा - क्या यह ताली बजाने या देने की इच्छा से हँसते हुए स्पष्ट कह रहे हैं ॥159-60॥

तदनन्तर धनपाल से सारस्वत सिद्धिबश शीघ्र ही असलियत को कहा। ज्ञानी (उत्तर देने में) विलम्ब नहीं करता है ॥161॥

वह उत्तर इस प्रकार है -

यह वही शंकर हैं, जिनका संयम तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। विरह से कातर वह सम्प्रति अपनी पत्नी को शरीर में (वामांक) में धारण करते हैं। इन्होंने हमें जीत लिया। इसलिए अपनी प्रिया के हाथ को अपने हाथ से परिताडित करते हुए दासभूत कामदेव की जय हो ॥162॥

एक दिन राजा ने (धनपाल से) कहा-आपके मधुर भाषण की क्या कोई पहचान है तो मुझे सच-सच बतायें ॥163॥

हे कवीन्द्र! चार द्वारों पर बैठे हुए हमारा सम्प्रति किस द्वार से निकलना होगा, यह (आप) कहें ॥164॥

तब उस महामति ने कुछ अक्षर कागज पर लिखे और उन्हें बन्द कर पनडब्बे में डाल दिया ॥165॥

राजा ने सोचा-चार द्वारों के बीच किसी एक द्वार से जाना होगा, ऐसा ज्ञात होता है ॥166॥

इस सन्दर्भ में ज्ञानी लोग भी इन (राजा) के भी वचन को मिथ्या प्रमाणित करेंगे। तदनन्तर मित्र के घर चले जानेपर खाने की बुलाहट हुई ॥167॥

मण्डप के ऊपरी हिस्से में लोगों ने छेद छोड़ दिया था। राजा उसी छेद से निकलकर अपनी रुचि से चले गये ॥168॥

तदनन्तर दोपहर में कवीश्वर को बुलाकर उस अद्भुत के बारे में (राजा ने) पूछा। तब उन्होंने पनडब्बे से कागज को निकालकर दिखलाया। इस कागज में लिखा था कि राजा निश्चय ही ऊपरी हिस्से से निकलेंगे। इस असली बात को जानकर राजा चमत्कृत हुए॥169-170॥

दूसरे दिन राजा ने लोगों को सेतुबन्ध के द्वारा भेजा। श्रीहनुमान ने इस सेतु को जहाँ बनाया था, वहाँ उसकी प्रशस्ति विद्यमान है॥171॥

उस प्रशस्ति को काव्य-रूप में लाने के लिए मछली की चरबी से आँजे हुए आँखवालों ने मोम की पट्टिका (तख्ती) को समुद्र में डालकर पुनः उस प्रशस्ति पर उस पट्टिका को मजबूती से रखकर और फिर उसे उठाकर दूसरी तैल से भीगी पट्टिकाओं में मिला दिया॥172-173॥

वहाँ से भी उस (पट्टिका को) उठाकर लोगों ने उसके पत्र पर कुछ अक्षर लिख दिये। अतः वे राक्षस-कुल के खण्डवृत्त के समान हो गये॥174॥

अविशद (अस्मष्ट) अर्थवाले उन पत्रों को पुनः राजा ने देखा। वे हाट (बाजार) में स्थित सब्जी और फलों के समान दूसरे रस को खण्डित करनेवाले थे॥175॥

अपनी-अपनी विशिष्ट प्रज्ञा से वे महामति (समस्या की) पूर्ति करेंगे। परन्तु किसी की बात राजा को चमत्कृत करनेवाली नहीं थी॥176॥

उन महामतियों में से किसी ने एक द्विपदी और त्रिपदी अर्पित की। श्रीमान् स्वल्पज्ञ धनपाल की कविता-विधि ऐसी ही थी॥177॥ जैसे—

(क) 'हरशिरसि शिरांसि यानि रेजु -

हरि हरि तानि लुठन्ति गृध्रपादैः।'

अर्थात्, जो सिर शिव के मस्तकों पर विराजते थे, वे अब हरि-हरि! गीध के पैरों से लुढ़काये जा रहे हैं।

(ख) 'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरमुता वारोङ्गराजस्वसु—

द्युतेनाद्य जिता निशा कमलया देवी प्रसाद्याद्य च।

इत्यन्तःपुरचारिवारवनिताविज्ञापनानन्तरं,

अर्थात्, कुन्तलेश्वर की पुत्री नहाकर खड़ी है; अंगराज की बहन को कमला ने आज जुए में जीत लिया। देवी की प्रसन्नता के लिए आज अन्तःपुर में विचरण करनेवाली वारवनिता (वेश्या) के विज्ञापन के बाद—इस कथन के बाद विद्वान् ने उन दोनों समस्याओं की पूर्ति की।

समस्याओं की पूर्ति द्र० ऊपर (क) और (ख), इस प्रकार है —

(क) अपि खलु विषमः पुराकृतानां

विलसति जन्तुषु कर्मणां विपाकः ॥178॥

अर्थात्, पुराकृत कर्मों का विषम प्रतिफल सभी जीवों को भोगना पड़ता है।

(ख) स्मृत्वा पूर्वसुरं विधाय बहुशो रूपाणि भूपोऽभजत्॥179॥

अर्थात्, पूर्व देवता को स्मरण कर और बहुत तरह से रचकर राजा ने अनेक रूप धारण किये।

सुग्गा-स्वरूप विद्वान् ने हँसते हुए कहा—यह जैनोचित वचन है॥180॥

इनके मत में यह कर्मों का फल कहा गया है। यह समस्या-पूर्ति अंजन की गन्ध से भरी हुई है॥181॥

कवीश्वर ने कहा—निश्चित ही मुँह में सुग्गे का राग है। मलिन अंग का सच तो सूर्य प्रकट करेंगे॥182॥

बावन पल जल से यदि मेरा मानुष-तन विशुद्ध हो जाय तो यहाँ ऐसे अक्षरों के प्रति अवश्य मेरी सहमति है॥183॥

अनन्तर, राजा ने कौतुकपूर्वक वैसा ही किया। तदनन्तर राजा के शुद्ध यश के निधान मित्र जल से शुद्ध हो गये॥184॥

इस सन्दर्भ में राजा को सच की प्रतीति होनेपर उन्होंने सोचा—कौन ईर्ष्यालु है। अनन्तर दूसरे दिन राजा भोज ने उन श्रेष्ठ सुधी से पूछा—॥185॥

जैन जलाश्रय के द्वार-रूप पुण्य को क्यों नहीं मानते? तब उन सत्यव्रत ने सच्ची बात कही— ॥186॥

सचमुच, जलाशय में चन्द्रकिरण (चाँदनी) जैसा उज्ज्वल और शीतल जल यथेच्छ रूप से पीकर प्राणी समस्त प्यास से मुक्त तथा अतिशय प्रसन्न मनवाले हो जाते हैं। सूर्य की किरणों से जलाशय के सूख जानेपर अनन्त प्राणी विनष्ट हो जाते हैं, इसलिए यतिजन कूप, जलाशय आदि के निर्माण-कार्य में उदासीन भाव से युक्त होते हैं॥187॥

राजा ने कहा—यह सत्य है। धर्म और सत्य जिनों का आश्रय है। व्यवहार में स्थित जनों के लिए यह किसी भी तरह रुचिकर नहीं है॥188॥

तब राजा के मित्र ने कहा—मुझे पिता ने पढ़ाया है। कुछ जानकर ही मैंने यह सुनाया है, अन्यथा मूर्ख जनों की बात ही क्या है? ॥189॥

क्योंकि—नरक के मार्ग-रूप हिंसा छोड़ देनी चाहिए, झूठ भी नहीं बोलना चाहिए। चोरी करना भी त्याग देना चाहिए। विषय से विरति (विराग) का अर्थ है— सब प्रकार की आसक्ति से निवृत्ति। जैनधर्म यदि नहीं रुचा, तो वह व्यक्ति पाप-पंक से लिपटे हुआ भी क्या कम है? अन्यथा, ऐसा व्यक्ति तो उस प्रमेही की तरह है, जो वर्जित होते हुए भी धी का भोजन करता है॥190॥

5. तदनन्तर सुधी धनपाल पहले सप्तक्षेत्री में धन का व्यय करने लगा। फिर उसके लिए चैत्य ही संसार से उद्धार का कारण हुआ॥191॥

इस प्रकार विचार कर (धनपाल ने) नाभिपुत्र प्रभु आदिनाथ का प्रसाद (मन्दिर) बनवाया। श्रीमहेन्द्र प्रभु ने उसमें प्रभु-प्रतिमा (तीर्थकर-प्रतिमा) की प्रतिष्ठा की ॥192॥

उन सर्वज्ञ के समक्ष बैठकर उन्होंने स्तुति की। वह स्तुति पाँच सौ 'जय जन्तुक' इत्यादि गाथाओं में परिमित थी॥193॥

एक दिन स्मार्तकथा के विस्तार से प्रसन्न राजा ने अपने वयस्य से कहा—कोई जैन कथा सुनवाओ॥194॥

तब उन विद्वान् ने काचदोष से उद्धार के निमित्त यथार्थ से युक्त 'तिलकमंजरी' नाम की कथा कही। वह कथा बारह हजार श्लोकप्रमाण में पूरी हुई थी; वह विद्वत्समूह से अवधारित (सुनिश्चित) की गई थी और अपने कथारस से कविता-चक्षु को निर्मलता देनेवाली थी। विद्वज्जन के मुख में स्थित कर्पूर के प्रवाह की आभावाली थी और अनेक वर्णों (अक्षरों) तथा नवों रसों से सम्पन्न थी॥१९५-१९७॥

कषिचक्रवर्ती ने (उस कथा में) नवों रसों की पराकाष्ठा उपस्थित की थी। कथा की समाप्ति में वह ध्यान में परिवर्तित हो गई॥१९८॥

अपने जनों के समूह के समक्ष उन्होंने निश्चय ही यह प्रस्ताव रखा। विद्वान् लोगों ने उन रसों का छह महीनों तक आस्वाद लिया॥१९९॥

तदनन्तर पुत्री ने पूछा-पिताजी! क्या ग्रन्थ समाप्त हो गया? पिता के ध्यान एवं पुत्री के ज्ञान में आश्चर्यकारी स्पर्धा थी॥२००॥

अनन्तर उन श्रेष्ठ विद्वानों के शिरोमणि गुर्जरराज ने प्रसिद्ध वादिवेताल शान्त्याचार्य को बुलाया॥२०१॥

उन्होंने उत्कृष्ट सूत्र आदि के प्ररूपण से उसे संशोधित कर दिया। सिद्ध सारस्वतों में शब्द-साहित्य-सम्बन्धी दोष क्या सम्भव है?॥२०२॥

६. उसकी व्याख्या करते समय राजा ने रस-संग्रह के लिए पुस्तक के नीचे सोने का थाल रख दिया॥२०३॥

तब राजा ने पहले आधि-व्याधि के विनाश के हेतुभूत तथा अक्षय तृप्ति देनेवाले उस रसामृत का संचय कर लिया॥२०४॥

व्याख्या पूर्ण होने पर राजा ने कहा-मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। अगर आप कुछ क्रोध न करें या नाराज न हों तो मैं आपसे कुछ माँगता हूँ॥२०५॥

पहले ही, कथा के शुरू में 'शिवः पातु' यह कहना ही अमंगल हो गया, इसलिए मेरी बात से चार स्थान बदलें॥२०६॥

अयोध्या में धारा नाम की नगरी और महाकाल के नाम की तथा शक्रावतार के स्थान पर शंकर और वृषभ की और फिर मेघवाहन की कथा में मेरे नाम की आनन्दसुन्दर कथा विश्व में चन्द्रमा की स्थिति-पर्यन्त विजयी बनी रहे॥२०७-२०८॥

विद्वान् ने कहा-महाराज! इसमें परिवर्तन करने पर शुभ नहीं, अशुभ ही होगा। इसलिए मेरी सच्ची बात सुनें॥२०९॥

श्रोत्रिय (वेदज्ञ ब्राह्मण) के हाथ में स्थित दूध से भरे बरतन में यदि एक बूँद भी मद्य पड़ जाय, तो वह अपवित्र हो जायगा॥२१०॥

इस प्रकार की अदला-बदली करने पर पवित्रता की हानि होगी, जिससे मेरा कुल और आपका राज्य और राष्ट्र निश्चय ही नष्ट हो जायगा॥२११॥

अन्त में, सेवा-विशेष के क्रम में जो दो प्रकार की बात करना नहीं जानते, वे यदि कुलहीनता दिखाते हैं तो वह (आचरण) क्या मनीषियों को लज्जित नहीं करता?॥२१२॥

अनन्तर राजा ने गुस्से में आकर पुस्तक को अँगोठी की आग में डाल दिया

जबकि जड़तावश उस (पुस्तक को) उन्होंने पहले पुरस्कृत किया था॥213॥

तदनन्तर, विद्वान् ने रोषवश राजा से एक गाथा कही। पुनः उन्होंने ऐसी कठोर वाणी में अपनी प्रतिज्ञा दुहराई॥214॥ वह प्रतिज्ञा इस प्रकार है—

मालव-निवासी होकर अपने को दूसरा क्यों मानते हैं? काव्य से निर्वृति (कल्याण) चाहते हैं? धनपाल को भी नहीं छोड़ते हैं! इस वंचनापूर्ण कृत्य के लिए मैं आपसे पूछता हूँ॥215॥

अनन्तर दुर्भावना से भरकर वह अपने घर चले गये और विना बिछावन की खाट पर मुँह के बल सो गये॥216॥

न स्नान किया, न देवपूजा की और खाने की तो बात भी नहीं की। और किसी से कुछ कहा भी नहीं और न उस पण्डित को नींद ही आई॥217॥

नई उम्र की बाला जैसी तथा साकार सरस्वती के समान उस (पण्डित) की पुत्री ने क्रोध का कारण पूछा तो उन्होंने असली कारण बताया॥218॥

(पुत्री ने कहा—) पिताजी उठिए। यदि राजा ने पुस्तक को आग में झोंक दिया (तो कोई बात नहीं); मेरे मन में वह पुस्तक अक्षय्य बनी हुई है। मैं उसमें अंकित समस्त कथा को कह सकती हूँ॥218-19॥

आप शीघ्र स्नान, देवपूजा और भोजन करें। तदनन्तर उस (पुत्री) ने हर्षित होकर समस्त कथा का पाठ किया॥220॥

उन (पिता) ने पुत्री के मुख से सारी कथा सुनी। कदाचित् जो (कथांश) नहीं सुना, वह मूल कथा में नहीं आ पाया॥221॥

उस कथा का तीन हजार भाग त्रुटिपूर्ण रह गया। शेष कथा से सम्बद्ध सब कुछ पुस्तक में सन्निविष्ट हो गया॥222॥

अनन्तर अपमान से भरे वह वहाँ से आगे चले गये। सज्जन पुरुष मान के विना कदाचित् कहीं नहीं ठहरते हैं॥223॥

विना देर किये पश्चिम दिशा की ओर चल पड़े और श्रेष्ठ पुरवासियों से सम्पन्न 'सत्यपुर' नाम के नगर में पहुँचे॥224॥

वहाँ उन विद्वद्भर ने नित्य देवस्थान जैसे श्रीमहावीर के चैत्य को देखकर परमानन्द को प्राप्त किया॥225॥

वहाँ उन्होंने (तीर्थंकर को) नमस्कार किया और उनकी विरोधाभासयुक्त स्तुति की। 'देव निम्मल' इत्यादि स्तुति प्राकृत-भाषा में की। वह स्तुति आज भी (लोक में) विद्यमान है॥226॥

कुछ दिनों तक राजा भोज ने उन्हें खोजा। जब पता चला कि वह यहाँ नहीं है, तब उन्हें कुछ खेद हुआ॥227॥

और बोले—मन से जिनकी चिन्ता की जाती है, कटूक्ति के कारण कदाचित् वह चले भी जायँ, परन्तु उनके जैसा भारती-तुल्य तथ्यभाषी दूसरा कोई नहीं है॥228॥

ऐसे पुरुष के संसर्ग में हम मन्दभाग्य नहीं हैं। हंस के वास से पवित्र उनके देश को कैसे छोड़ सकते हैं॥229॥

पूर्णिमा की रात में चकोर की तरह राजा खेद अनुभव कर रहे थे, तभी 'धर्म' नाम के कौल विद्वान् वहाँ आये! उन्होंने का वृत्त कहा जा रहा है॥230॥

वह वृत्त इस प्रकार है -

7. ऋद्धि-वृद्धि-सम्पन्न लाटदेश है। वह देश अनेक गोत्रों का आधार है। वहाँ श्रेष्ठ पुरुषों का निवास है तथा वह अनेक रत्नों की खान है॥231॥

उस देश में भृगुकच्छ (भड़ौच) नाम का नगर है। वहाँ नर्मदा नदी की लहरों के दर्शन से लोग पवित्र हो जाते हैं॥232॥

वहाँ वैयाकरणों में अग्रणी तथा वेद-वेदांग के पारगामी विद्वान् सूरदेव नाम से प्रसिद्ध थे। वह शरीरधारी ब्रह्मा के समान थे॥233॥

उनकी पत्नी कमनीय नीति से युक्त सती-शिरोमणि थीं। उनका नाम सावित्री था। श्रेष्ठ दानी पात्र के रूप में वह ख्यात थीं॥234॥

उन दोनों के, माता-पिता के लिए आशा के आश्रय-स्वरूप धर्म और शर्म नामक के दो पुत्र हुए तथा गोमती नाम की पुत्री हुई॥235॥

धर्म अपने नाम के विपरीत दुर्जन और अन्यायी हुआ। सूर्य के लिए शनिग्रह की तरह वह अपने पिता के लिए सन्तापकारी हुआ॥236॥

पिता ने उससे कहा-वत्स! जीविका के लिए धन का अर्जन करो। बेकारी में तुम्हारे उदर की पूर्ति के लिए धान्य (धन) का लाभ नहीं होगा॥237॥

कला-विहीनता तथा नीच-संसर्ग के कारण और फिर पढ़ने से वैर होने के कारण भी सभी उपायों से परिभ्रष्ट वह ईख के खेत का रखवाला हो गया॥238॥

वहाँ बरगद के नीचे देवता-स्वरूप क्षेत्रपाल प्रतिष्ठित थे। धर्म सदैव भक्तिनिष्ठ होकर उनकी पूजा में संलग्न रहने लगा॥239॥

वह किसी पर्व के अवसर पर अपने खेत के मालिक के घर गया। मालिक ने कहा-भोजन कर लो, तो उसने स्पष्ट शब्दों में कहा- ॥240॥

क्षेत्रपाल की पूजा के विना मैं प्रलय की स्थिति में भी भोजन नहीं करूँगा। (यह कहकर) वह खेत में गया और वहाँ क्षेत्रपाल की पूजा की। खेत से जैसे ही वह ऊपर (बाहर) हुआ, वैसे ही उसे खेत की मेड़ के बाहर नग्न योगिनी दिखाई पड़ी। वह योगिनी क्षेत्रपाल की कृपा से मूर्तिमयी शक्ति जैसी लग रही थी॥241-42॥

उस योगिनी ने अतिशय भक्तिपूर्वक उस (धर्म) से ईख की एक डाँड़ माँगी। धर्म ने उसे रस से परिपूर्ण दो डाँड़ दे दी॥243॥

ईख के आस्वाद के आनन्द से प्रसन्न योगिनी बोली- वत्स! क्या तुम मुझसे घृणा करते हो या नहीं? तब धर्म ने कहा- हे महामाया! मैं घृणा नहीं करता हूँ। तब पुनः योगिनी बोली- मुँह खोलो। योगिनी के आदरपूर्ण वचन के अनुसार धर्म ने मुँह खोला॥244-45॥

उस योगिनी ने सुधा-तुल्य (ईख के) रस का कुल्ला उस (धर्म) के मुँह में डाल दिया। और, जब वह खेत की मेड़ के बाहर आया। तब योगिनी ने उसके माथे पर अपना हाथ रख दिया॥246॥

वह वाग्देवी (योगिनी) क्षणभर में ही अन्तर्हित हो गई। और धर्म सब कुछ छोड़

शोग्र ही वहाँ से निकल गया॥247॥

धीरे-धीरे चलता हुआ वह सामने पूर्ववत् गंगा-तट पर पहुँचा। सहसा सारस्वत शक्ति के उदय के कारण उसने अचिन्तित रूप से काव्य का पाठ किया॥248॥

काव्य का अर्थ इस प्रकार है -

ये नर्मदा के प्रेमी तथा पाताल-मूल का स्पर्श करनेवाले एवं विन्ध्य पर्वत को भेदनेवाले जल-प्रवाह सन्त्रास पैदा करते हैं। ये जलप्रवाह क्रीडापूर्वक उछलते हैं, नाचते हैं, तट से टकराकर लौटते हैं; प्रेरित, त्यक्त, स्वीकृत, प्रच्छन्न और प्रकट होकर तट के वृक्षों को उखाड़ डालते हैं॥249॥

तदनन्तर वह (धर्म) नाव से नदी पार कर नगर में स्थित अपने घर में गया। वहाँ माँ ने अपने दोनों हाथों से उसका स्पर्श किया॥250॥

आज सूर्य उगते ही कैसे आ गये-पिता ने जब ऐसा कहा, तब उसके छोटे भाई ने प्रसन्न भावसे अपने सिर से उसके हृदय में स्पर्श किया॥251॥

बहन ने गद्गद होकर बार-बार 'हे भाई! हे भाई!' कहा। और फिर, सब कुछ को छोड़कर वह (धर्म) रूखे शब्दों में बोला-॥252॥

माँ! तुम भी मेरा स्पर्श मत करो, मत करो। हे पिता! आप भी प्रसन्न न हों। हे भाई! तुम व्यर्थ ही मेरा आदर कर रहे हो। हे बहन! तुम अकारण क्यों रोती हो? मेरे जैसे निर्दय व्यक्ति ही निःशंक मदिरा पीते हैं, नरमांस खाते हैं और घृणारहित भाव से चण्डाली के पास जाते हैं। ओह! हमारे जैसे व्यक्ति ही वाममार्गी (कौल) होते हैं॥253॥

यह कहकर वह तत्क्षण अपना स्नेहभाव त्यागकर घर से निकल गया और अवन्ती देश के सार-स्वरूप धारा नगरी पहुँच गया॥254॥

उसने राजमहल के द्वार पर कागज लटका दिया और उसपर सम्मान-रूप पर्वत के शिखरगामी उस कवीश्वर ने यह काव्य लिखा-॥255॥

काव्य का अर्थ इस प्रकार है-

गौड़ महाराजा की राजधानी में शम्भु, धारा नगरी में द्विज, भट्टिअ-मण्डल में विष्णु और कान्यकुब्ज में पशुपति जिसके द्वारा पराजित हुए-और जो कुछ दूसरे भी 'वादी' बातचीत में जड़ीभूत कर दिये गये, हे राजन्! वही धर्म स्वयं आपके द्वार पर आकर खड़ा है॥256॥

इस पृथ्वी पर जो कोई भी दर्शनशास्त्र में और फिर तर्कशास्त्र, लक्षणशास्त्र और उपनिषदों में अपने को पण्डित मानता है, वह हमसे बात करे॥257॥

अनन्तर राजा भोज के समक्ष पर्षद् (सभा) में आकर सबको तृण के समान (तुच्छ) मानते हुए उसने अहंकार के साथ यह कहा-॥258॥

चिरकाल से संचित मनीषियों का प्रतिमल्ल होने का मद नष्ट हो! यहाँ तपोधन का स्वरूप धारण करनेवाली अपूर्व रूपवती वह सरस्वती स्वयं उपस्थित है॥259॥

हे राजन्! आपके समक्ष बाहु ऊपर उठाकर, जिसकी शक्ति है, वैसा कोई वादी मुझसे बात करे। वितण्डावाद (निरर्थक तर्क-वितर्क) करने में प्रवीण मेरे बोलते रहने पर, समुद्र से घिरी इस पृथ्वी पर कोई (दूसरा प्रतिद्वन्दी) विद्वान् नहीं है॥260॥

सुमेरु पर्वत की प्रमाणपटुता बलवती है; गरुड़ का पंख बहुत मजबूत है; पर्वतों की प्रतिवादिता प्रसिद्ध है; देवताओं का सत्पात्र को प्रति अवलम्ब का आग्रह रहता है; मैं अधिक क्या कहूँ, इस देश के सरस्वती-विलास को सभी जानते हैं; 'धर्म' के, इस धरा पर संचरण करते रहने पर, ग्रहों के बीच कवि बुध की ही ख्याति अधिक रहती है॥261॥

बृहस्पति मन्दबुद्धि बने रहें, बेचारे इन्द्र भी क्या करें, मेरे जैसे वादिसिंह वादी (शास्त्रार्थी) के रहने पर महेश्वर भी एक अक्षर नहीं जानते॥262॥

मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, वादिराज पण्डित भी मैं ही हूँ। दैवज्ञ (ज्योतिषी) हूँ, वैद्य हूँ, मान्त्रिक और तान्त्रिक भी मैं हूँ। हे राजन्! अधिक क्या कहूँ, समुद्र की परिखा (खाई) रूप मेखला (करधनी) वाली इस पृथ्वी पर आज्ञासिद्ध सिद्ध सारस्वत मैं ही हूँ॥263॥

महाबुद्धि कवीश्वर का आडम्बरपूर्ण यह काव्य सुनकर सबने अपनी आँखें नीचे झुका लीं। तब राजा ने विचार किया—॥264॥

उन पुरुष के विना पर्षद्, (सभा) सूनी जैसी लगती है। जो इस प्रकार अपमानित हुआ, वह फिर कैसे (सभा में) आयगा? ॥265॥

वह फिर किसी तरह प्राप्त हो जायँ, ऐसा उपाय मैं करूँगा—ऐसा सोचकर राजा ने विश्वसनीय आदमियों को सब ओर भेजा॥266॥

उन पुरुषों ने सारे देश में खोजा। उनमें एक पुरुष ने मरुमण्डल के बीच सत्यपुर नाम के नगर में उन (कवीश्वर) को प्राप्त कर लिया॥267॥

उन पुरुषों ने विनयपूर्ण वाणी से उन्हें सान्त्वना दी। उदासीन भाव से उन्होंने कहा— मैं अब तीर्थ की सेवा में संलग्न हूँ, इसलिए नहीं लौटूँगा॥268॥

उन (खोजनेवाले) पुरुषों ने, जो बात हुई थी, उसे यथावत् राजा से निवेदित किया। तब राजा ने फिर उन(कवीश्वर) से कहा—आपकी उदासीनता-भरी बात सुनने में प्रिय नहीं लगती॥269॥

आप राजा मुंज के सर्वज्ञात पुत्र हैं। ज्येष्ठ होकर भी मैं कनिष्ठ हूँ, तो छोटों की बात की क्या गिनती?॥270॥

पहले बड़े भाई महाराजा ने आपको अपनी गोद में बैठाकर जो विरुद कहा था, वह ब्रह्मपत्नी सरस्वती के समान हो॥271॥

हम वृद्धों द्वारा परित्यक्त राज्य को भाग्य से आपने प्राप्त किया। जय-पराजय की दृष्टि से भी अवन्तिदेश आपकी केन्द्र-भूमि है॥272॥

मेरे लिए प्रिय होने की स्थिति में आप आयें या न आयें, कौल लोग धारा नगरी को जीतकर परदेश चले जायेंगे॥273॥

तो आप अपने रूप या विरूप को स्वयं जानते हैं। इसके बाद सम्प्रति कुछ कहना समझ में नहीं आता॥274॥

ऋकृत को भी स्वयं जान लिया, फिर दूसरा वह कुछ नहीं करते। और फिर क्या? आप महाविद्वान् हैं, अतएव यथारुचि करें॥275॥

यह सुनकर धनपाल अपनी भूमि के पक्षपातवश शीघ्र वहाँ चले गये और सब कुछ जानकर राजा के सम्मुख पहुँचे॥276॥

दिखाई पड़ने पर राजा स्वयं पैदल चलकर उन बुद्धिनिधान से मिले और हर्षपूर्वक आलिंगन कर बोले—मेरे अविनय को क्षमा करें॥277॥

तब धनपाल आँसू बहाते हुए बोला—मैं ब्राह्मण हूँ। निःस्पृह जैनधर्मी हूँ, इसलिए अवश्य ही जैन व्रत के प्रति स्पृहा रखता हूँ॥278॥

महाराजा! अपने प्रति मोह ही मुझे यहाँ विलम्बित करता है (रोकता है)। यहाँ मान हो या अपमान, मुझ उदासीन-चित्त के प्रति इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता॥279॥

तब राजा ने कहा— मुझे आपके लिए अणुमात्र भी खेद नहीं है; क्योंकि आपके जीवित रहने पर राजा भोज की सभा परिभूत होती है॥280॥

आपका ही यह पराभव है, यह सुनकर कृतार्थ प्रभु ने कहा— खेद मत करें। प्रातःकाल भिक्षु को बिना किसी क्लेश के पराजित कर दिया जायगा॥281॥

यह सुनकर मन से परितुष्ट राजा भोज चले गये। और, विद्वज्जन भी चिरकाल से छोड़े हुए अपने घर में पुनः आ गये॥282॥

घर में सफाई नहीं होने से खरहे और चूहे ने बिल बना लिये थे। दिखाई पड़नेवाली असंख्य बाँबियों से दुर्गम घर में वह प्रविष्ट हुए॥283॥

राजा अपने महल में चले गये। सुबह राजा ने घर की शुद्धि के बारे में पूछा तो विद्वान् प्रभु ने कहा— मेरी सच्ची बात सुनें॥284॥

वह कथन यह है —

महाराज! छोटे बच्चों के आर्त स्वर का आश्रय, समस्त परिजनों से अलंकृत तथा क्रीड़ा करते हाथियों से भरा हम दोनों का घर एक समान है॥285॥

तब राजा ने इन्द्रसभा जैसे अपने राजभवन में धर्म को बुलाया और कहा—सुनें, वादियों (शास्त्रार्थियों) का घमण्ड चूर करनेवाले यह धनपाल आये हैं॥286॥

अनन्तर धर्म ने पूर्वपरिचित विज्ञ 'छित्तप' को देखा तो उसको आवर्जित करनेवाला यह काव्य (श्लोक) कहा, जिसका अर्थ है—कर्मराज के शिष्य श्रीछित्तप के, सभा के स्वामी राजा भोज की सभा के सभ्य होने पर मुझ धनपाल की पुआल जैसी बात सारस्वत नदी के प्रवाह में सन्तरण करो॥287-88॥

राजा के द्वारा 'धनपाल' कहकर मुझे आमन्त्रित किये जाने पर मेरी और उनकी वाणी सिद्ध सारस्वत निर्झर में मछली की भाँति तैरे॥289॥

इस प्रकार राजा ने मित्र (धनपाल) द्वारा शब्दों के ऐसे खण्डन से इसका ही विपरीत अर्थ इन शब्दों में कहा—॥290॥

सिद्ध सारस्वत कवि ने समस्या उपस्थित की। धर्म ने उसकी आठ सौ बार पूर्ति की॥291॥

उन समस्या-पूर्तियों में एक भी न तो निर्दोष थी, न ही विद्वानों के मन को आकृष्ट करनेवाली थी। अन्तिम समय में उन विद्वान् ने इस प्रकार समस्या-पूर्ति की॥292॥

समस्या के दो चरणों का अर्थ है—

आकाश रूप समुद्र के तट पर सूर्य वेगपूर्वक पहुँचकर, रात्रि-रूप नौका से विलग हुई, मेघ से घिरी दिशा को विघटित करता है। (समस्या) वणिक् के रथचक्र की शब्द-कान्ति और पक्षियों की चहचहाहट में तदनुवर्त्ती निराधार तारक जैसी मणियाँ निमग्न

हो जाती हैं॥293॥ (पूर्ति) अतिशय श्रुतिकटुत्व तथा चन्द्रास्त के वर्णन से एवं न्यूनोक्ति-दोष से युक्त होने के कारण भी सभासदों ने इस पूर्ति को मान्यता नहीं दी॥294॥

तब वह मिथ्याडम्बरी कवि विजय की आशा के नहीं रहने से कान्तिहीनमुख होकर बोला—समस्या वज्रपात जैसी हो जाय॥295॥

तब धनपाल ने अनायास समस्या की, विद्वानों के मन को मोहनेवाली पूर्ति कर दी। जिसका अर्थ है—करघनी के टूट जाने से हाथ से फिसलकर गिरते हुए श्वेत वस्त्र जैसी उजली किरणें अस्त हो रही हैं॥296-97॥

पराजय के समुद्र में टूटकर डूब गया, ऐसा जब बोध हुआ, तभी धर्म ने 'कवीन्द्रेण...' इस गाथा-रूप नौका द्वारा सिद्ध सारस्वत कवि को उबार लिया॥298॥

गाथा का अर्थ है- *

श्रेष्ठ कवियों ने समस्त संसार में प्रतिदिन सार ग्रहण किया है, अतः आज भी मुद्रा (आकृति) की अभिन्नता से युक्त उनके वचन का स्पन्दन विजयी बना रहे॥299॥

तदनन्तर श्रीभांजराज ने भी कृतीश्वर (कविश्रेष्ठ) की अनुमति से धर्म को एक लाख धन देने का प्रस्ताव किया, किन्तु उन्होंने उसका निवारण कर दिया॥300॥

निवारण इस प्रकार है-

ब्रह्माण्ड के उदर-कोटर का परिणाम क्या है, उसमें भी मिट्टी का गोला है। पृथ्वी-मण्डल जिसकी सज़ा है, उसमें भी उसके ये करोड़ों इष्ट पति (मालिक) हैं। उनमें एक ही ऐसे हैं, जो श्रेष्ठ आनन्दपूर्ण बोली (वाणी) से याचकों को धन देते हैं। अफसोस! वज्र जैसे कठोर हम उनसे ही (याचकों से ही) धन माँगते हैं॥301॥

(इस विचार के बाद तय किया कि) निस्सार और क्षणस्थायी धन मैं नहीं लूँगा। अभिमान के नष्ट हो जाने पर पुरुष श्वेतुल्य हो जाता है॥302॥

उन्होंने कहा- हे बुद्धिनिधान धनपाल! कवि तो एक ही हैं। मेरे मन में ऐसा विश्वास है कि उनसे भिन्न दूसरा कोई विद्वान्, निश्चित ही नहीं हैं॥303॥

तदनन्तर सिद्धसार कवि ने विस्मयपूर्वक कहा-विद्वन्! 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह धरती रत्नगर्भा (रत्नों की खान) है॥304॥

अणहिल्लपुर में कृतिश्रेष्ठ प्रभु श्रीमान् शान्तिसूरि हैं। वह त्रिभुवन में प्रसिद्ध जैन पण्डित हैं, उनका ही दर्शन किया जाय॥305॥

राजा ने और कवीश्वर ने भी उन्हें स्नेहपूर्वक विदा किया। विजय के प्रति हताश हो उन्होंने गम्भीर मन से विचार किया॥306॥

आज से पहले किसी ने भी मेरी बात को नहीं टाला। मेरी बात को इस प्रकार न माननेवाली साक्षात् ब्राह्मी (सरस्वती) ही हो सकती हैं, ब्राह्मण नहीं॥307॥

इसलिए विद्वानों के आलोक के बहाने मेरी यात्रा सुन्दर (शुभ) होगी, ऐसा विचार कर उन्होंने गुर्जर देश की ओर प्रस्थान किया॥308॥

प्रातः काल सभा में राजा ने उन विशारद (पण्डित) को बुलवाया। जब ज्ञात हुआ कि वह यहाँ नहीं हैं, तब धनपाल कवि वहाँ गये॥309॥

'धर्म का जय होता है, अधर्म का नहीं', इस बात को मिथ्या सिद्ध कर दिया। किन्तु इस बात को सत्य कर दिया कि 'धर्म की गति शीघ्रगामी होती है'॥310॥

राजा ने कहा— जिस प्रकार जीव के बिना सारे अवयवों से युक्त रहने पर भी शरीर सामर्थ्यहीन होता है और उत्तर काल में भी उसकी श्रेष्ठगति नहीं होती है॥311॥

उसी प्रकार श्रेष्ठ कृती मित्र धनपाल के बिना धर्म की बातचीत में मूक जैसी सभा शोभाहीन रहती है॥312॥

इसलिए वही (धनपाल) सर्वदा मेरे सामीप्य को भृंगारित करें। यह सुना तो धनपाल भी प्रभु के सम्मान से परितुष्ट हो गये॥313॥

वह जिस प्रकार पत्तन पहुँचे, श्रीशान्तिसूरि से पराजित हुए, यह जानकर राजा ने उन्हें सम्मानित किया, इत्यादि बातें उनके चरित्र से ही ज्ञातव्य हैं॥314॥

8. इधर सर्वशास्त्र के महोदधि-स्वरूप विद्वान् शोभन यमक से युक्त तीर्थकर की अतिशय भक्ति के साथ स्तुति की॥315॥

उन (तीर्थकर) के प्रति एकान्त रूप से ध्यानस्थ रहकर तथा श्रद्धापूर्ण आग्रह के साथ तीन भीख के लिए गया तो श्राविका ने पूछा— तुम्हारा तीन के प्रति अनुराग का कारण क्या है?॥316॥

वह बोला—चित्त की उद्विग्नता के कारण अपने गत-आगत को नहीं जान पाया। श्राविका के मुख से ज्ञात होने पर गुरु ने भी उससे यही पूछा॥317॥

वह बोला—स्तुति और ध्यान में संलग्न रहने के कारण ही नहीं देख पाया और न जान पाया। गुरु ने चमत्कृत होकर अतिशय हर्षपूर्वक उसके काव्य की प्रशंसा की॥318॥

तत्सम्बन्धी दृष्टि के आसंग से शोभन तत्क्षण ज्वर-ग्रस्त हो गया और संघ के अभाग्य से वह कृती पुरुष परलोक को प्राप्त हुआ॥319॥

सिद्ध सारस्वत कवि ने उन जिन-स्तुतियों की टीका, मन में सौन्दर्य का दृढ़ आग्रह रखते हुए, रची॥320॥

एक दिन उस श्रेष्ठ विद्वान् ने अपनी आयु का अन्त जानकर राजा से, गुरु-सान्निध्य में परलोक साधने के बारे में पूछा॥321॥

श्रीमान् महेन्द्रसूरि के चरण-कमल को मन में रखकर, सदा गृहधर्म में रहते हुए ही उन्होंने अपने शरीर को संलेखना सम्पन्न की॥322॥

उग्र तप से देहशुद्ध होकर तथा अन्तर्मन की क्षिप्त स्थिति से द्वेष रखते हुए उन्होंने गुरु-गृह में अतीचार-रहित सम्यक्त्व का पालन किया॥323॥

उन्होंने श्रुतपारगामी स्थविरों के साथ रहकर समय बिताते हुए, अन्त में देह का परित्याग कर, सौधर्म लोक का आश्रय लिया॥324॥

तब, वह गुरु भी उनकी अद्भुत निपुणता को देखकर इह और पर दोनों लोकों से संन्यासपूर्वक स्वर्ग चले गये॥325॥

श्रीमान् महेन्द्र गुरु से दीक्षित शोभन का और प्रज्ञा के धनी धनपाल कवि का यह जीवन-वृत्त है। भव्य जन जैनधर्म के प्रति दृढ़ अनुसंगवश अन्धकार-समूह का विनाशक बोधिरत्न का लाभ करें॥326॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि के पट्ट (गद्दी)-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और

लक्ष्मी के पुत्र श्रीप्रभाचन्द्रसूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिश्रेष्ठ द्वारा विवेचित महेन्द्र प्रभु का वृत्त-रूप मुनिचन्द्र-सदृश सत्रहवर्ग (शिखर) समाप्त हुआ॥३२७॥

वह श्रीदेवानन्दसूरि मोक्ष प्रदान करें, जिन्होंने हेमचन्द्र-कृत जिस लक्षण से उद्धृत कर विद्वानों के लिए सिद्धसारस्वत नामक अभिनव शब्दशास्त्र की रचना की, उनके ही वंश के सुमेरु और कल्पवृक्ष-सदृश श्रीमान् प्रद्युम्नसूरि वाणी की व्याख्या करते हैं, जो हमारे लिए पदार्थ का प्रदाता हो॥३२८॥

॥ महेन्द्रप्रभसूरि-चरित (प्रबन्ध) समाप्त॥



श्रीसूराचार्यचरित

पवित्र मनवाले संघ द्वारा पूजित श्रीमान् सूराचार्य हमारे लिए कल्याणकारी हों, जिनकी प्रज्ञा से देवों के आचार्य बृहस्पति ने कुछ अधिक ही मात्रा (प्रज्ञा की) प्राप्त की है॥1॥

प्रभु सूराचार्य के गुण-गौरव के प्रति मैं यहाँ क्या कहूँ, जो अपनी प्रतिभा से राजा भोज के समाविजयी (कवि) हुए॥2॥

उनका चित्रात्मक चरित्र विद्वानों के हृदय-रूप दीवार पर अंकित है। उनके उज्ज्वल वर्णों से विभूषित चरित्र की, चित्त की स्थिरता के लिए, व्याख्या करता हूँ॥3॥

1. गुर्जर (गुजरात) की धरती के अलंकार-स्वरूप अणहिल्लपुर नाम का नगर है। वह पूर्व के राजाओं की नीति-पद्धति के प्रशस्ति-स्वरूप है॥4॥

वहाँ भीम नाम के राजा हुए, जो चक्रेश्वर (चक्रवर्ती) के समान थे। उनके प्रबल प्रताप से राजन्य-वर्ग आक्रान्त थे। उन्होंने अपने सुशासन से दुःशासकों को परास्त कर दिया था॥5॥

इस राजा के क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न मामा का नाम द्रोणाचार्य था। द्रोणाचार्य शास्त्र-शिक्षा के गुरु थे, जो सत्य-रूप व्रत का अखण्ड रूपसे पालन करते थे॥6॥

उनके संग्रामसिंह नाम के भाई के पुत्र महीपाल नाम से प्रसिद्ध थे। वह महामति थे और अपनी बुद्धि से उन्होंने बृहस्पति को जीत लिया था॥7॥

बचपन में ही प्रभु सूराचार्य की आँखों के सामने ही, महीपाल के पिता देवयोग से अस्तंगत हो गये। तब उनकी माँ ने प्रभु से कहा— आप अपने भाई के पुत्र को प्रशासित करें॥8॥

निमित्त के अतिशय से उसे (भ्रातृपुत्र को) शासन को विभूषित करनेवाला जानकर राजा ने आदरपूर्वक अपनी बातों से भाभी को सन्तोष दिलाया॥9॥

गुरु के साक्षित्व में उसे स्वयमेव शब्दशास्त्रप्रमाण, साहित्य और आगम-संहिता की शिक्षा प्राप्त हो गई॥10॥

(माँ ने) स्नेहवश ही उसे गुरु के पास छोड़ दिया था। उसने गुरु से व्रत स्वीकार किया। (माँ ने उसे गुरु के पास इसलिए छोड़ा था कि) उसे गुरु अपने पट्टमें रख लेंगे। वैसे लोग औचित्य की अतिक्रमण नहीं करते॥11॥

वह सूराचार्य वर्तमान शास्त्र-रूप कमल के लिए सूर्य जैसे थे और जन-जन के अज्ञान-रूप अन्धकार के विनाशक के रूप में ख्यात थे॥12॥

2. अब, एक दिन श्रीभोजराज की वाग्देवी के कुलगृह-स्थित कलासागर-स्वरूप महासागर-जैसे विद्वानों के लीला-महागृह से कुछ प्रधान पुरुष श्रीभीमराजा की सभा में पधारे। उन्होंने अपने नाम और गुणों से अंकित एक गाथा (आर्या) कही, जिसका अर्थ है-

खेल ही खेल में, जिसने गजकुम्भ के विदारण में अपने श्रेष्ठ प्रताप को प्रकट किया है, उस सिंह के मद के साथ विग्रह भी उचित नहीं है और मेल भी अनुचित है॥13-15॥

अनायास उसका अर्थ जानकर राजा ने उन पुरुषों का सम्मान किया। आवास, भोजन, वृत्ति आदि पाकर वे भूपस्थानीय हो गये॥16॥

उन सबके चले जाने पर राजा ने अपने प्रधान पुरुषों को आदेश किया-आर्या के प्रत्युत्तर के लिए किसी अद्भुत विद्वान् की खोज की जाय॥17॥

कवियों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् आर्याएँ रचीं। लेकिन उनमें से एक भी आर्या राजा को चमत्कृत करनेवाली नहीं प्रतीत हुई॥18॥

सर्वदर्शनी शालाओं में, चौक-चौराहों पर, तिराहों पर, भवनों और चैत्यों में उसे देखने के लिए लोग जाने लगे॥19॥

एक दिन वे (दर्शक) श्रीमान् गोविन्दसूरि के चैत्य में गये। तब कहीं उसे पर्व के अवसर पर (उसके) देखने का समय रखा गया॥20॥

वहाँ नर्तकी अपने अंगों को मोड़ने-फैलाने आदि प्रकारों से या फिर त्रिपताका आदि जैसे हाथों के इशारे से लास्य और ताण्डव जैसी नृत्य-शैली में नाचती रही॥21॥

विशिष्ट वाद्य, ताल, संवाद के साथ तथा सम-विषम आसनों से नृत्य करने से थकी नर्तकी ने स्पर्श में मृदुल शिला-स्तम्भ का आश्रय लिया॥22॥

पसीना पोछने के लिए हवा की चाहवाली नर्तकी खम्भे से लिपट गई। खम्भे के कड़ेपन की मृदुता उसके पसीजने पर निर्भर थी॥23॥

विशिष्ट जनों ने गोविन्दसूरि से निवेदन किया-प्रभो! इस और ऐसी अवस्था का स्पष्ट वर्णन करें॥24॥

वहाँ स्थित सूर्याचार्य को उसके सम्बन्ध में वर्णन के लिए कहा गया। उन पूज्य ने तत्क्षण कहा॥25॥

कथन का प्रकार -

मृगाक्षी नवयौवना के कंगन के आभूषण से युक्त कोमल लता जैसी बाहु का सम्पर्क पाकर भी आप न खिन्न होते हैं, न विचलित होते हैं, और न कम्पित होते हैं। इससे स्पष्ट है, आप सचमुच पत्थर के बने हैं॥26॥

तत्काल वह जाकर राजा से हर्षपूर्वक यह बोले कि गोविन्दाचार्य के पास प्रत्युत्तर देने में समर्थ कवि हैं॥27॥

राजा ने कहा- वह सूरि हमारे सौहार्द के केन्द्र हैं। उन श्रेष्ठ सत्कवि को सम्मानपूर्वक बुलाइए॥28॥

आदेश के बाद वह गोविन्दाचार्य के आश्रय में गये। और, बुलाने पर वह कवि भी राजसभा में आ गये॥29॥

उस कवि के पास सूराचार्य को देखकर राजा प्रमुदित हुए और उन्होंने यह सोचा कि सम्भवतः यह मेरे मामा के पुत्र हैं॥30॥

वह सूरि राजा को आशीर्वाद देकर राजा के योग्य आसन पर बैठे। और, राजा भोज द्वारा प्रेषित गाथा को विद्वानों द्वारा उन्हें सुनाया गया। तदनन्तर सूराचार्य बोले—वैसा पुण्योदय होने पर विलम्ब की कोई गुंजाइश नहीं है॥31-32॥

गाथा का अर्थ इस प्रकार है -

अन्धक-पुत्रों (राक्षसों) के लिए कालस्वरूप भीम राजा ने पृथ्वी का विधिपूर्वक निर्माण किया। इस बात की स्वयं उन्होंने कोई गिनती नहीं की, तो फिर अकेले तुम्हारी क्या गिनती?॥33॥

इस आर्या (गाथा) को सुनकर राजा भीम रोमांचित हो उठे और धारानरेश के प्रधान का हाथ जल्दी से अपने हाथ में ले लिया॥34॥

राजा भोज ने उस आर्या का वाचन कर मन में विचार किया - जिस देश में ऐसा कवि हो, उसका परिभव (अनादर) कैसे सम्भव है? ॥35॥

श्रीभीमराज से सम्मानित होकर सूरि विदा हुए। विद्वानों के लिए निधि-स्वरूप राजा भोज जिसके पास विराजते हैं, उसका कोई क्या कर सकता है?॥36॥

3. एक दिन गुरु ने उन्हें शिष्यों को पढ़ाने के लिए नियुक्त किया। गुण ही मनुष्यों को प्रतिष्ठित करता है॥37॥

कुशाग्र बुद्धिवाला वह अपनी प्रभा-पटुता से, जो उसे बताया जाता था, उसे एक बार सुनकर ही जान लेता था॥38॥

तारुण्य वय और अत्यधिक प्रज्ञापटुता से कुछ दर्पपूर्ण वह अपने शिष्यों की अज्ञता के प्रति कुपित होता था॥39॥

उन शिष्यों को शिक्षित करने के क्रम में प्रतिदिन एक (रजोहरण के डण्डे को तोड़ता था)। क्रोध-रूप शत्रु वैसे (ज्ञानी) का भी गंजन कर देता है॥40॥

एक दिन तो अवलेप (घमण्ड) भी स्वजातीय की सहायता करने आ गया। आत्मीयों के प्रति अनुग्रहशील कौन नहीं होता॥41॥

वैयावृत्यकारी अपने रजोहरण के नित्य तोड़ने से खिन्न (गुरु ने) आदेश किया कि लौहदण्ड ही हमारे रजोहरण में काम आयेगा॥42॥

छात्र उपाध्याय से सन्त्रस्त हो गये, उन्हें पसीना आ गया, उनके रोंगटे खड़े हो गये। उन्होंने बड़ी मुश्किल से दिन बिताया। आवश्यक विधि तथा शास्त्र के अनुचिन्तन के बाद वे आधी रात के बाद भी जगे रहे॥43-44॥

ज्येष्ठ प्रभु के चरण-कमलों की सेवा की उत्कट इच्छावाले छात्रों ने चरणों की सेवा-संवाहना करते हुए गुरु से नमस्कारपूर्वक निवेदन किया— ॥45॥

हम रक्षक की शरण में आये हैं, माथा फटने से होनेवाली मृत्यु से भयभीत हम उपाध्याय की कार्यवाही के (प्रतीक्षु हैं)॥46॥

यह सुनकर प्रभु ने कहा—आप बच्चे अवश्य ही स्वच्छ मनवाले हैं। हम (उपाध्याय) शीघ्र पाठ के लिए जल्दीबाजी करते हैं, न कि वैर से ॥47॥

ये जो लौहदण्ड के इच्छुक हैं, वह आचार-विरोधी है। इन्हें सिखाया जायगा, ताकि ये उपद्रवी आचरण न करें॥48॥

इस तरह आश्वस्त करने पर वे अपनी-अपनी जगह पर जाकर सो गये। प्रभु की शुश्रूषा-हेतु सूर्याचार्य भी वहीं चले गये॥49॥

उन प्रभु ने कृत्रिम कोप से वन्दना का उत्तर अनुवन्दना से नहीं दिया। तब अप्रसन्नता के हेतु के बारे में पूछने पर प्रभु ने पुनः कहा— ॥50॥

लोहदण्ड यम का आयुध (अस्त्र) है, चरित्रवानों के लिए नहीं। वैसे परिग्रह का उपयोग हिंसक लोग करते हैं॥51॥

न तो पहला उपाध्याय और न पाठक ने ही ऐसा कहा है। पुरुषों के हृदय में चुभनेवाली आपकी स्फुरणशील प्रभा (बुद्धि) आश्चर्यजनक है॥52॥

यह सुनकर उन्होंने विचार किया कि छात्रों के बीच यह उपद्रव क्यों खड़ा हुआ। तब उन्होंने प्रभु के समक्ष यह बात विनयपूर्वक कहा— ॥53॥

पूज्य का कर-कमल मेरे माथे पर नहीं पड़ा है क्या? आपने इस प्रकार की कठोर आशंका मेरी ओर से क्यों की? ॥54॥

काठ के डण्डे से शरीर पर जैसा प्रहार किया जाता है, वैसा लोहे के डण्डे से नहीं। लोहे के डण्डे का प्रयोग तो चेतावनी के लिए किया जाता है॥55॥

मेरे गुण इन्हें प्राप्त हों, यही चिन्ता मुझे हुई। चंचल चित्तवालों की ऐसी धृतपूर्ण बात सच नहीं हो सकती॥56॥

4. अनन्तर ज्येष्ठ प्रभु ने कहा— सबका गुण-समूह उनके गुण का करोड़वाँ अंश भी नहीं है। तो फिर उनके गुण के सम्बन्ध में अपने गुण के लिए अहंकार कैसा?॥57॥

यह सुनकर सरल मति की स्थितिवाले सूर्याचार्य ने कहा—मैं अहंकारी नहीं हूँ, अतिशय-रहित मुझे गर्व कैसा?॥58॥

मेरा इतना ही आग्रह है कि यदि मैंने उन्हें पढ़ाया है तो परदेश में जाकर ये वादियों को जीतनेवाले बनें॥59॥

पूज्यों की किरण-स्वरूप होकर जन-जन की जड़ता के परिहार में आप लोग शृंगार-स्वरूप हों, ताकि जिन-शासन में उन्नति हो॥60॥

गुरु ने अन्त में उत्तान स्वर में कहा—मूर्खों की क्या बात? भोज की सभा के जय के लिए संलग्न आप क्या पधार रहे हैं?॥61॥

सुनकर उन्होंने कहा—यह आदेश प्रभु-समर्थित प्रमाण-स्वरूप है। प्रभु के इस आदेश को पूरा कर मैं सभी विकृतियों को स्वीकार कर लूँगा॥62॥

यह कहकर उन्होंने अपने शेष समय को अपने संसार में लगा दिया और सूरी के शार्दूल (व्याघ्र) की तरह वह पंजा फटकारने लगे॥63॥

सुबह होने पर उन्होंने कहा— आज पठन-पाठन में अनध्याय रहेगा। महोत्सव जैसा आने पर उन्होंने शिशुता के अधीन शिष्यों को छुट्टी दे दी॥64॥

दोपहर में शुद्ध आहार लाकर, यतिमण्डल के मिलने पर सद्गुरु ने उन सूरसूरि को बुलाया॥65॥

वह आकर मण्डल में सम्मिलित हो गये, पर विद्वानों और पूज्य जनों के अनुनय-विनय करने पर भी विकृति को स्वीकार नहीं किया॥66॥

संघ के कहने पर उन्होंने अपना आग्रह छोड़कर यह कहा—मेरी प्रतिज्ञा को तोड़नेवाले आश्रय-रहित मुझे मुक्त कर दें॥67॥

फिर भी अगर कहेंगे तो मेरा अनशन निश्चित है। तदनन्तर विद्वानों और साधुओं के साथ उन्हें बुलाया॥68॥

तदनन्तर अपनी गोद में बैठाकर सुधी ने उन्हें शिक्षा दी—हे वत्स! परदेश में विहार करते समय सचेत रहना चाहिए॥69॥

शास्त्र, वंश, जाति, प्रज्ञा, कुल और बहुत संयम भी हैं और फिर यम-नियम भी वेगपूर्ण हैं, तो भी यौवन विश्वसनीय नहीं है॥70॥

इस प्रकार पूज्योपदेश की श्रीपूर्ण शृंगार से तरंगित वह अपने को अन्य देशों के श्रेष्ठजातीय तपस्वी जैसा मानने लगा॥71॥

तदनन्तर राजा भीम से पूछताछ के लिए गुरु से आदिष्ट वह राजसभा में पहुँचा। उसे राजा पहले से ही जानते थे॥72॥

राजा ने इस स्वर्णिम और अद्भुत विशिष्ट सौरभ से युक्त विद्वान् बन्धु को सोना और मणि-माणिक्य से निर्मित पीठ (आसन) पर बैठाया॥73॥

तब मालव-नरेश के विशिष्ट जन पुनः आ गये और उन्होंने अपने मालिक के स्वरूप को राजा से निवेदित किया॥74॥

महाराज! श्रीसम्पन्न राजा भोज आपके विद्वान् की प्रज्ञा-प्रतिभा से प्रसन्न हैं और उनके प्रति वह प्रभु अच्छी उत्कण्ठा रखते हैं॥75॥

तो प्रेक्षा में दक्ष हे स्वामी! आप उन्हें बलपूर्वक भेजें। विद्वान् राजा को एक दूसरे के प्रति बड़ा कौतूहल है॥76॥

राजा ने कहा—वह महाविद्वान् मेरे नये बन्धु हैं। वह मेरे अपने प्राण-समान हैं, उन्हें कैसे परदेश भेजूँ?॥77॥

आपके राजा यदि मेरी तरह ही उनका आदर करेंगे और स्वयं उनको मान-सम्मान के साथ (महल में) प्रवेश करायेंगे तो वही हो॥78॥

सूराचार्य ने भी सन्तोष के साथ सोचा। यहाँ मेरा भाग्योदय हुआ है। मेरे पूज्यों की कृपा से ही उनका बुलावा आया है॥79॥

अनन्तर बोले—हे राजन्! पुण्यवान् धारा-नरेश के पास मैंने गाथा में निबद्ध कविता देखी, जिसका मैंने उत्तर भी दे दिया है॥80॥

इस विचित्र संसार में निश्चय ही शान्त (आत्मसंयमी) पुरुषों के प्रति मेरा कौतूहल रहता है। आपकी आज्ञा हो तो मैं श्रीमान् राजा भोज के मनोरंजन के लिए जाऊँ॥81॥

राजा ने कहा—वहाँ मेरे भाई रहते हैं। आप क्या उनका वर्णन करेंगे? सूराचार्य बोले—मुनि राजा की स्तुति कैसे कर सकते हैं?॥82॥

मालव-नरेश के प्रधान द्वारा स्वीकार करने पर राजा भीम ने विद्वत्-श्रेष्ठ को जाने की अनुमति दे दी॥83॥

अपने बन्धु के प्रति भक्तिनिष्ठ उन्होंने उनके लिए एक हाथी, पाँच सौ घोड़े, और एक हजार पैदल सेना भेजी॥84॥

नक्षत्र, दिन और ग्रह-बल से युक्त शुभ मुहूर्त में, चर लग्न में और उस लग्न में स्थित क्रूर ग्रह की शुभ दृष्टि के योग में उन्होंने गुरु और संध की अनुज्ञा से बाहर प्रस्थान किया। पाँचवें दिन चक्रेश्वर के समान उन्होंने प्रयाण किया॥85-86॥

तदनन्तर थोड़ी दूर प्रस्थान के बाद ही वह गुर्जर की धरती पर स्थित सीमा-भूमि पर पहुँच गये और सम्यक् विजय के लिए तैयार हो गये॥87॥

वह अतिश्रेष्ठ विद्वानों की भूमि धारा नगरी पहुँच गये। प्रधानों को ज्ञात हुआ तो उन्होंने अपने प्रभु को सूचित किया॥88॥

तदनन्तर, सब प्रकार की ऋद्धिपूर्ण सामग्री के साथ सैन्यों के मान्य और उदारता के केन्द्र-स्वरूप अवन्तिनरेश सज्जित होकर उनके सम्मुख चले गये॥89॥

हाथियों से युक्त तथा रथ के पहिये के मधुर स्वर से ध्वनित, समीप-स्थित पर्वतों से विन्ध्य के समान तथा सघन मेघ से युक्त वह भूमि अतिशय या विशेष रूप से सुशोभित हुई॥90॥

घुड़सवारों एवं पदातियों के समूह से सुशोभित धरती, तरंगों से युक्त समुद्र के समान लग रही थी और राजा तारकों के राजा (चन्द्रमा) की तरह प्रतीत हो रहे थे॥91॥

राजा के अमात्यों के अनुरोध से व्रताचार के व्यतिक्रम की स्थिति में प्रायश्चित्त के इच्छुक सूरि हाथी पर सवार हुए॥92॥

एक दूसरे के दृष्टिगत होने पर दोनों ही हाथी के स्कन्ध से उतरकर जमीन पर खड़े हुए। राजा और मुनिराज दोनों ही भाई की तरह आपस में मिले॥93॥

देश में आये महाविद्वान् के योग्य, राजकोष से प्रवाल-निर्मित पट्ट निकालकर कोषाध्यक्ष (वहाँ) लेआये॥94॥

अनन्तर वहाँ नियुक्त पुरुष मोटे बैठन में उसे लपेटकर ले आये। वह (पट्ट) लम्बाई और चौड़ाई में एक हाथ की करछी के बराबर था॥95॥

उसकी ऊँचाई आठ अंगुल की थी; देखने में वह सूर्य-बिम्ब के समान था, जो बड़ी मुश्किल से देखा जा सकता था। राजा की आज्ञा से उसे शुद्ध भूमि पर रखा गया॥96॥

तब, यहाँ बैठें — ऐसी राजाज्ञा से उन्होंने रजोहरण से तीन बार साफ की गई भूमि पर बैठे॥97॥

अनन्तर राजा भोज ने कहा— ऊन से बनी पिच्छी से साफ करने पर भी वहाँ क्या रेणुकण-प्रमाण जीव नहीं रह गये हैं?॥98॥

सूरि काँपते शरीर से वहाँ बैठे। राजा ने पूछा—आप किस कारण से काँप रहे हैं? तब उन्होंने कहा— ॥99॥

मैं म्यान से निकाली हुई तलवार को देखकर डर रहा हूँ। राजा ने कहा— यह तो राजाओं की सहज स्थिति है। उन्होंने कहा—यह तो (वीर) व्रतधारियों की सामान्य स्थिति है॥100॥

राजा ने कहा—यही ऐसी ही बात है। तब कलानिधि-स्वरूप सूरि ने जैनों में प्रचलित परम्परा के अनुसार, उत्तर की दृढ़ता से हर्षित राजा को आशीर्वाद दिया—॥१०१॥

हे भोजराज! आप अतिशय मनस्वी पुरुषों से युक्त पृथ्वी-मण्डल पर तबतक विजयशील बने रहें, जबतक मन्त्रवादी विधाता सान्ध्य तेज-रूप अग्नि में लवण-रूप तारों का हवन करते रहें; ब्राह्मणों द्वारा उच्चरित महामन्त्र के घोष के साथ धात्री-पात्र छोड़ा जाता रहे; उषा-रूप शाकिनी बार-बार चन्द्रमा-रूप जाँता (चक्की) को चलाती रहे और जबतक मुरगा बाँग देता रहे॥१०२॥

इस प्रकार, परस्पर प्रशंसा द्वारा कुछ क्षण बिताकर राजा अपने महल में चले गये और सूरि भी नगर के भीतर प्रवेश कर गये॥१०३॥

5. नगर के बीच पृथ्वी के हार-स्वरूप विहार था। कलानिधि सूराचार्य लोगों से उस विहार के बारे में जानकर वहाँ गये॥१०४॥

भूजा में अर्पित सुवर्ण, मणि और माणिक्य की कान्ति फैल रही थी। वीतराग की ऐसी रत्नमयी प्रतिमा को उन्होंने भक्ति-भावपूर्वक नमस्कार किया॥१०५॥

वहाँ पाठक पाठ की प्राप्ति में मशगूल थे; कर्मठ और सच्चरित्र पण्डित विराजमान थे; कल्मष-युक्त वह ज्ञान-केन्द्र रूप मठ में प्रविष्ट हुए ॥१०६॥

वहाँ बूटसरस्वत्याचार्य अनार्य-रूप अन्धकार के लिए सूर्य-स्वरूप थे। उनकी प्रशस्ति सदा विश्व के विद्वानों के मुख में ध्वनित होती रहती थी॥१०७॥

प्रभु ने हर्षपूर्वक सबकी जानकारी में उन्हें प्रणाम किया। उनके शिष्यों ने भी स्वागतपूर्ण वाणी में उन्हें प्रणाम किया॥१०८॥

तब उन्होंने पूर्ववत् अतिथियों को गोचर के लिए नहीं भेजा। शुद्ध आहार लाकर उन्हें भक्तिपूर्वक भोजन कराया॥१०९॥

समानधर्माओं के साथ श्रद्धायुक्त तथा परितोषपूर्ण उनके कुशल-प्रश्न की शब्द-क्रीड़ा में शीघ्र ही अपराह्न हो आया॥११०॥

अतिशय की प्रचुरता से राजा को घमण्ड हो आया। कदाचित् कमल में भी कीट उत्पन्न हो जाता है॥१११॥

तब उन्होंने षड्दर्शन को मिलाकर कहा—पृथक्-पृथक् आचारवाले आप सभी लोगों को भरमाते हैं॥११२॥

इसलिए सभी दर्शन के विद्वान् एक साथ मिलकर ऐसा करें कि किसी को कोई सन्देह न रहे॥११३॥

तब मन्त्रिमुख्यों द्वारा सूचित किया गया कि कोई प्राच्य (विद्वान्) नहीं हैं, जो इस प्रकार के कामों को करने में समर्थ हों॥११४॥

राजा ने कहा—पुराकाल में परमार-वंश में क्या कोई भी ऐसा नहीं था, जो गौड-सहित दक्षिणा-पथ का उपभोक्ता हो॥११५॥

इस सम्बन्ध में उन सबके मौन रहनेपर राजा ने अपने आदमियों से सबको पशुओं की तरह एक बाड़े में इकट्ठा करवा दिया॥११६॥

वहाँ हजारों की संख्या में स्त्री-पुरुष को भी (राजा ने) बुलवा लिया। सबको एक जैसी-मतिवाला बनाने के लिए उन्हें भोजन भी नहीं दिया॥17॥

अपने-अपने अनादि सिद्ध शास्त्र-समूह के प्रमाणों द्वारा विविध धान्यों में एकरस के समान सबकी मति एक समान कैसे हो?॥18॥

भूख की बाधा के परिणाम-स्वरूप सब एकमत हो गये। अपने प्राण की रक्षा कैसे करूँ, इसी चिन्ता के महाज्वर में सभी पड़ गये॥19॥

उनके बीच दर्शन की स्थिति में सूर्याचार्य भी आ गये। तब सबने एक साथ मिलकर सान्त्वनापूर्ण बात कही॥20॥

यह भूपाल काल (समय) ही है; जो इस प्रकार दर्शन की स्थिति में ऐक्य-बुद्धि का विस्तार करना चाहते हैं—ऐसा न हुआ, न होगा॥21॥

परन्तु आपने हजारों लोगों को प्राणदान किया है, जिससे इतना पुण्य आपने अर्जित किया है कि उसकी गिनती नहीं हो सकती॥22॥

आप गुजरात के निपुण नागरिक हैं; किसी वाक्प्रपंच से इन्हें दृढ़तापूर्वक कुविकल्प-पूर्ण कार्य करने से रोक सकते हैं॥23॥

तब सूर्याचार्य ने कहा—हमारे आये हुए अतिथियों का कार्य होगा ही। राजा भी उसका प्रत्युत्तर हमें नहीं दे सकते॥24॥

परन्तु लगातार दर्शन द्वारा अनादि (अपूर्व) पद्धति से उनके कहे हुए उपक्रम से कुछ विशेष करेंगे॥25॥

अमात्य के पास रहकर गुरु ने राजा के समक्ष कहा—राजा के साथ हमारा आना-जाना नाममात्र का होता है॥26॥

परन्तु बहुत सारे दर्शनार्थी लोगों की अनुकम्पा से फिर कुछ बोलूँगा, यदि राजा उसे मन से तत्त्वतः स्वीकारना चाहें॥27॥

गुजरात के कविश्रेष्ठ शीघ्र आयें— राजा के यह कहने पर वह मन्त्रियों के साथ राजभवन गये॥28॥

और बोले— राजन्! अभ्यागतों का अद्भुत आतिथ्य उचित रूप से समीचीनता के साथ किया गया; क्योंकि तपस्वियों के लिए तप ही प्रधान होता है॥29॥

परन्तु हमारा यथास्वीकृत दर्शन का कार्य नहीं हुआ, इसलिए दुःखी हृदय से हम अपनी भूमि पर वापस जा रहे हैं॥30॥

वहाँ भी वह गये, जिसका स्वरूप हम बता रहे हैं; धारापुर और वहाँ रहना, दोनों के विषय में आपसे पूछता हूँ॥31॥

राजा ने कहा—अभ्यागतों के सम्मुख मैं कुछ नहीं कहूँगा। किन्तु इनके पार्थक्य के विषय में निश्चित रूप से कारण पूछना चाहूँगा॥32॥

आप मेरे समक्ष शान्तचित्त से उसका स्वरूप सुनें। वहाँ चौरासी महल विद्यमान हैं। प्रत्येक नगर के चौराहे भी उतनी ही संख्या में हैं। चौबीस रहत वहाँ चलते हैं। इस प्रकार नगर की रचना हुई है॥33-34॥

सूरि बोले—यह तो एक महल के बारे में कहा गया। फिर बहुत सारे महलों के

बारे में क्या कहना? एक ही जगह (महल में) सब कुछ प्राप्त हो जाता है, ताकि और जगह उन्हें भटकना न पड़े॥135॥

राजा ने कहा—अलग-अलग वस्तुओं के एक जगह मिलने में बड़ी बाधा होती है, इसलिए मैंने अलग-अलग हाट बनवा दी॥136॥

यह सुनकर सूरि बोले— महाराज! प्रचुर वक्तृता की क्रीड़ा में विद्वान् भी क्या विचार नहीं करते?॥137॥

अपने द्वारा बसाई गई हाट को यदि नहीं उजाड़ सकते तो अनादि दर्शन को ध्वस्त करने के लिए आप कैसे तैयार हो गये?॥138॥

जैन दयार्थी होते हैं, कौलदर्शन रसलिप्सु होता है, वेद व्यवहारविद् है; निरंजन पुरुष मुक्तिकामी होते हैं॥139॥

चिर काल से चित्त में स्थित घमण्ड (अहंकार) से युक्त सभी जन एक कैसे होंगे? राजन्! इसके बारे में आप विचार करें॥140॥

यह सुनकर राजा का आग्रहपूर्ण घमण्ड दूर हो गया। उन्होंने सम्मानपूर्वक सबको भोजन कराया और धैर्यपूर्वक, दर्शन के आग्रह का त्याग कर दिया॥141॥

स्थिति यह है कि आप सबने मिलकर आग्रह किया था (जो दूर हो गया)। इस प्रकार वह सूरि सर्वसम्मत रूप से अपने उपाश्रय में चले गये॥142॥

6. वहाँ श्रीमान् भोजराज द्वारा रचित व्याकरण विद्या-मन्दिर के सभी छात्र दिन-रात जोर लगाकर पढ़ने लगे॥143॥

वहाँ अकारण आये हुए सभी विद्वान् मिलते हैं। तदनन्तर श्रीमान् सूरि 'बूटसरस्वती' नाम से प्रसिद्ध हो गये॥144॥

सूराचार्य के यह कहने पर कि हम साथ ही आयेँगे, गुर्जर की धरती की विद्वत्ता की आशंका से उन्होंने उनको आने से मना कर दिया॥145॥

दर्शन के अर्थ में परिश्रान्त आप आज रुक जायँ। सदा आपको देखने को उत्सुक और तत्पर उन्होंने फिर कहा—आप जैसे विद्वानों के दर्शन में तरुणाई में श्रम कैसा? हमारा विहार कुतूहल के साथ है, इसीलिए आया हूँ॥147॥

अनन्तर अनुमति देनेवाले वे विना किसी निषेध के उन्हें अपने साथ पाठशाला में ले गये, किन्तु वह शक्ति भी थे॥148॥

तब उपाध्याय बोले—यह अतिथि कहाँ से आये हैं? वहाँ स्थित आचार्य ने कहा—अणहिल्लपुर से॥149॥

अध्यापक (आचार्य) ने विशेष सम्भ्रमपूर्वक उनका स्वागत आदि किया। पुनः वे दोनों प्रधान आसन पर बैठे॥150॥

तब सूराचार्य ने पूछा—यहाँ कौन-सा ग्रन्थ पढ़ाया जाता है? उन्होंने उत्तर दिया—भोजराज-निर्मित शब्दशास्त्र की कृति॥151॥

उन्हें मेरा नमस्कार कहें—ऐसा आये हुए विद्वान् के कहने पर छात्रों के साथ उपाध्याय ने स्पष्ट शब्दों में कहा, जिसका भाव इस प्रकार है—ब्रह्मा के निवासभूत

कमलवन की हंसिनी जैसी शुक्लवर्णा सरस्वती मेरे मन में नित्य रमण करें ॥152-153॥

तदनन्तर सूर्यार्य ने उत्प्रास-गर्भित शब्दों में कहा— इस प्रकार के विद्वान् इसी देश में हैं, अन्यत्र नहीं॥154॥

पहले सुना था, हमारी भारती ब्रह्मचारिणी कुमारी है। सम्प्रति सूचना मिली कि वह विवाहिता वधू है॥155॥

यह आश्चर्यकर और अश्रुतपूर्व है, इसलिए अन्य कुछ पूछता हूँ—जैसा कि दक्षिणापथ में मामा की पुत्री अगम्या नहीं होती है॥156॥

सौराष्ट्र में देवर-भौजाई का सम्बन्ध यथोचित होता है, तो आपके देश में अनुज-पुत्रवधू गम्या कैसे?॥157॥

‘वधू’ शब्द के सामीप्यवश आपने जो ‘मानसे रमतां मम’ का प्रयोग किया, वह भिन्न प्रकार का देशाचार है॥158॥

उत्तर नहीं मिला, दूसरी बात चलाकर इष्ट के अनध्याय के प्रति आदरशील होने से समय में विलम्ब हुआ॥159॥

सन्ध्या का समय आ गया, भोजराज के समक्ष अपराह्न में इस विस्मयकारी इतिवृत्त को कहा गया॥160॥

राजा विस्मित होकर बोले—गुर्जर की भूमि पर ऐसा सम्भव है। इसे देखकर उन्होंने निश्चित रूप से विद्वानों को बुलाने को सोचा॥161॥

राजा ने वहाँ के आचार्य के निकट अपने आदिमियों को भेजकर भक्तिपूर्वक उन अतिथि विद्वान् को बुलवाया॥162॥

तदनन्तर आचार्य बूटसरस्वती के साथ वह प्रभु स्वर्ग-समान राजा भोज की सभा में गये॥163॥

राजा ने अपने प्रांगण के आगे एक शिला रखवा दी थी; क्योंकि गुर्जर देश के समक्ष वह अपने प्राण की स्फूर्ति को देखना चाहते थे॥164॥

वहाँ वैसे छल करने की इच्छा से राजा ने एक बड़ा छेद बनवाकर उसे उसी रंग के लेपन-द्रव्य से ढकवा दिया था॥165॥

तब राजा ने सूरि को आते हुए देखकर घनुष पर बाण चढ़ाकर उसे कान तक खींचकर लक्ष्य पर दृष्टि को एकाग्र करते हुए छोड़ा॥166॥

सूक्ष्मदर्शी सूर्यार्य ने किनारे में लगे लेपन-द्रव्य के आलेप को बाण से उत्कीर्ण देखकर अर्थगर्भ काव्य कहा॥167॥

इस काव्य (श्लोक)का अर्थ इस प्रकार है—

धनुष-बाण से क्रीड़ा करनेवाले के द्वारा अवश्य ही यह शिला विद्ध हो जाय। हे श्रीमान्! पत्थर वेधने के व्यसन की रसिकता छोड़कर आप प्रसन्न हों। यदि वेधने में आपका कौतूहल है तो कुलपर्वतों को क्यों नहीं अपने बाण का लक्ष्य बनाते हैं? हे नृपश्रेष्ठ! धारा नगरी की यह धरती ध्वस्त होकर पाताल के तल में जा रही है॥168॥

इस प्रकार अदभुत सामर्थ्य के वर्णन से राजा सन्तुष्ट हो गये। धनपाल ने भी इनकी प्रज्ञा को अजेय समझ लिया॥169॥

और, राजा के इस विज्ञान को (विशिष्ट ज्ञान को) जानकर सोचा— ओह! यह तो अर्थगर्भ उक्ति है। जैन किस बुद्धि से विजयी होते हैं?॥170॥

राजा से सम्मानित श्रीमान् सूराचार्य अपने आश्रय में चले गये। राजा भी सभामण्डप में खड़े होकर (उच्च स्वर में) समस्त विद्वानों से कहा— ॥171॥

7. श्वेत घीवरवाले यह गुजराती महाविद्वान् आये हुए हैं। इनके साथ यहाँ कोई भी हमारे (विद्वान्) शास्त्रार्थ करें॥172॥

पाँच सौ पण्डितों के बीच सभी मुँह लटकाये रहे। जिस प्रकार मेघ के गरजने से बच्चे डर जाते हैं, उसी तरह राजा के उस स्वर-प्रतिघात से वे टूट-से गये॥173॥

म्लान पड़ गये राजा ने कहा— क्या आप सभी केवल घर में ही गरजनेवाले हैं। हमारी वृत्ति को भोगनेवाले और स्वयं को विद्वान् कहनेवालों आप सभी विद्वान् व्यर्थ ही हैं॥174॥

उनमें एक महाप्राज्ञ ने राजा को सलाह दी— प्रभो! आप म्लान मत हों। यह वसुन्धरा (धरती) रत्नगर्भा है॥175॥

प्रभो! गुजरात के श्वेताम्बर भिक्षु देहधारी देव के समान हैं। वे दुर्जेय हैं। इसलिए सलाह द्वारा साध्य कार्य करें॥176॥

हे महाप्राज्ञ! सोलह वर्ष की उम्र के किसी छात्र को शठता-रहित सुधी प्रमाणशास्त्र के ग्रन्थ को पढ़ाये॥177॥

यह सुनकर, पण्डित की बात से राजा सन्तोष से तृप्त हो गये और बोले - ऐसा ही हो। हे विद्वान्! आप यही करें॥178॥

तदनन्तर एक सौम्य निपुण बटुक को प्रज्ञा और वक्तृत्व के कोष-स्वरूप पण्डित ने तर्कशास्त्र के सघन अभ्यास के साथ ग्रन्थ को पढ़ाया॥179॥

उस बटुक ने गुरु के समक्ष अतिशय व्यक्त अक्षरोंवाले पाठ को ग्रहण किया। इस बात की सूचना राजा को दी गई और शास्त्रार्थ के लिए शुभ मुहूर्त निर्धारित किया गया॥180॥

राजा ने शास्त्रार्थवीर (वादशूर) सूराचार्य को सूचित किया और शास्त्रार्थ के लिए उन्हें बुलाकर श्रेष्ठ आसन पर बैठाया॥181॥

शरीर के ऊपर-नीचे पहने जानेवाले रेशमी वस्त्रों, सुवर्ण, रत्न और फूलों के शोभा-संरक्षक आभरणों से छात्र को सजाया गया। उसे अपनी गोद में बैठाकर राजा ने कुछ कहा तो वादिश्रेष्ठ ने स्पष्ट शब्दों में कहा— दुधमुँहे के मुँह से दूध की गन्ध आ रही है। इसलिए अपक्व बुद्धिवाले (शिशु) के साथ युवा का विग्रह (शास्त्रार्थ) उचित नहीं है॥182-84॥

राजा ने कहा— यह बालक हैं, ऐसा हठात् नहीं सोचें। शिशु-रूप में यह ब्राह्मी (सरस्वती)-स्वरूप हैं। इन्हें जीतने पर मेरी सभा पराजित हो जायगी॥185॥

पहले का शास्त्रार्थ छोटों के लिए हो; ऐसा सूरि के कहने पर उस शिशु ने व्यक्त रूप में और बोलने में विना लड़खड़ाये यथालिखित का पाठ किया॥186॥

पदच्छेद-रहित वाक्य तथा विभक्ति के विश्लेषण से युक्त (शब्दों को) बोलते हुए उसे सुनकर वह समझ लेता था। और उसे, अर्थ को जाने बिना, ज्यों का त्यों कह देता था॥187॥

इस प्रकार शंका से ग्रस्त विषय को विचारते हुए उसने निश्चय किया कि यह तो पट्टिका-पाठ ही है, ऐसा यहाँ दूसरा कुछ नहीं है॥188॥

जभी बोला ही जा रहा है, तभी वेगपूर्वक और कड़े शब्दों में पीछे के कूटपद को वह कह देता था। और जब कहा जाता था कि इसे फिर से कहो, तब वेगपूर्वक उसने कह दिया कि पट्टिका में मैंने लिख दिया है, यह मेरा निश्चय है॥189-90॥

यह सुनकर सूरार्य ने पूर्ण सन्तुष्ट होकर कहा—लक्षणशास्त्र आदि में जैसा श्लोक रहता है, शास्त्रार्थ भी उसी के अनुसार है॥191॥

हे नृपश्रेष्ठ श्रीमान् भोजराज! तो मैं आपसे पूछता हूँ, आपने मालव देश को देखा है? और वहाँ के 'मण्डक' (पकवान-विशेष) का आस्वाद भी लिया है?॥192॥

यह कहकर सूरि, हठपूर्वक हुए पराजय के प्रति द्वेष प्रकट करते हुए मठ में चले गये और लज्जा तथा क्रोध से तमतमाये हुए राजा ने भी सभा को विसर्जित कर दिया॥193॥

8. श्रीमान् बूटसरस्वत्याचार्य ने अतिथि से कहा— हमें शासन के प्रकाश से सुख है, किन्तु आपकी मृत्यु की बात से दुःख होता है॥194॥

श्रीभोजराज अपनी सभा को जीतनेवाले को निश्चित ही मार डालते हैं। जय हो या पराजय, किसी में भी कल्याण नहीं है, तो मैं क्या कहूँ?॥195॥

तब धुन्धर वीरश्रेष्ठ सूरार्य ने कहा— मैं अपनी रक्षा करूँगा, आप दुःखतप्त न हों॥196॥

तब कविचक्रवर्ती धनपाल ने पुरुष को भेजा। उसने गुर्जराचार्य को अपने स्वामी का सन्देश कह सुनाया॥197॥

किसी भी बहाने पूज्य (सूरार्य) शीघ्र ही मेरे घर पधारें। राजा की प्रसन्नता अविश्वसनीय होने के साथ ही भयंकर भी होती है॥198॥

आप जैसे विख्यात विद्वान् सभी देशों के अलंकार-स्वरूप होते हैं। मेरे जैसे आदमी के लिए (आप जैसे) दुर्लभ जन भाग्यातिशय से ही प्राप्त हैं॥199॥

मेरे दर्शन के बाद किसी प्रकार से उन्हें अधीन नहीं होना चाहिए। मैं निश्चित ही सुखपूर्वक उन्हें गुजरात पहुँचवा दूँगा॥200॥

ऐसा साधुजन कहते हैं कि ओह! आपका भाग्य जाग रहा है। सुबह होते ही क्षण भर में घुड़सवारों द्वारा उनके चैत्य को निश्चित रूप से घेर लिया जाय।॥201॥

वह श्रेष्ठ राजा सन्तोषपूर्वक आपको जयपत्र प्रदान कर देंगे। विनाशवादी विद्वान् अतिथि को भी वहाँ भेजा जाय।॥202॥

उन्होंने वहाँ के निवासी मलिन मुखवाले सूरि से कहा— सुन्न होने के बाद होश में आये हुए वह अवश्य ही यहाँ आयेंगे— ऐसा अपने उन आदमियों से कहा॥203॥

कुम्भ राशि के तीव्र और कर्कश सूर्यतापवाली दोपहरी में उसने अपना वेश बदल लिया और गले में रस्सी डाल ली॥204॥

वहाँ मलिन और पुशने वस्त्र से अपने को ढककर चैत्य के द्वार से निकलते हुए एक अनगर (भिक्षु) को सैनिकों ने कहा— हे श्वेताम्बर! बाहर क्यों निकल रहे हो? भीतर जाओ। गुर्जरों के अधीनस्थ हो जाने पर हम सभी निश्चित रूप से सब ओर से बँधे हुए हैं॥205-206॥

यह भयंकर उक्ति सुनकर अतिशय विकराल मुखवाले अनगर ने बीच में सिंहासन पर आसीन गर्वीले राजा की तरह बैठे (सैनिक से कहा—) ॥207॥

मुझ वैरी के कान पकड़कर प्रभु के समक्ष ले चलो। वहाँ तुम जयपत्र प्राप्त करोगे या यमपत्र॥208॥

हम प्यासे तुम्हारे नगर में बस गये हैं। तुम्हारे धर्म से जल के लिए जाऊँगा। हमें शीघ्र छोड़ दो॥209॥

अनन्तर एक घुड़सवार ने कृपा करके उसे छुड़वा दिया। तब प्रभु मनीषियों के शिरोरत्न-स्वरूप (विद्वान्) के घर पर गये॥210॥

उन्होंने कहा—अतिशय निपुण यतिश्रेष्ठ बोलने की सीमा को पार कर तथा यम के दृष्टिपथ से छिपकर मेरे दृष्टिपथ में खड़े हैं॥211॥

आज आपका जन्म हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ। आज आपका गच्छ पुण्यवान् हुआ कि आप जैसे जैन शासन-रूप आकाश के सूर्य-स्वरूप यहाँ आये॥212॥

कैसे आये, यह पूछने पर सूराचार्य ने स्पष्ट कहा, जिसे सुनकर परम आनन्द प्राप्त किया॥213॥

प्रभु को सुविस्तृत भूमिगृह में आदरपूर्वक रखा और उत्साह के साथ उन्हें शुद्ध आहार भक्तिपूर्वक प्रदान किया॥214॥

तदनन्तर ताम्बूल-विक्रेताओं को जाते हुए देखकर उन्होंने उन्हें अतिशय आदर के साथ भोजन-वस्त्र आदि से सम्मानित किया॥215॥

तदनन्तर उन्होंने उनसे अभ्यर्थना की कि मेरे अपने भाई को निश्चित रूप से वापस अणहिल्लपुर ले आयें॥216॥

उन्होंने कहा— ब्राह्मण पूज्य होता है, यह विद्वत्-श्रेष्ठ राजा को ज्ञात है। उन (राजा) का आदेश हमारे लिए प्रमाण है, इसलिए उस (राजा) का अवश्य पालन करना है॥217॥

इस कार्य में निश्चिन्त हो नहीं बैठना है। सपरिवार उन्हें उत्तम सवारी पर ले आयेंगे। यहाँ वह भोजनपूर्वक निश्चिन्त भाव से ठहरें॥218॥

(अनुरोध) स्वीकार करने पर आमोदप्रेमी श्रीमान् धनपाल ने इसके लिए सौ दीनार दिये॥219॥

तब उन्होंने गुरु को परदे में छिपा दिया और बैलों को शीघ्र ही यान (सवारी) में जोतकर गुर्जर भूमि के लिए चल पड़े॥220॥

सूराचार्य के 'महीतट' पर आते ही सद्गुरु के लोगों ने कोशल से उत्तर अपने आने की सूचना दी॥221॥

9. इधर अपराह्न में स्वयं सैनिकों ने चैत्य में प्रवेश किया और सिंहासन पर बैठाये गये, मोटी तोंदवाले, अति श्रेष्ठ वस्त्र पहने तथा चमकती मदविह्वल आकृति को देखकर इस प्रकार कहा— राजा के आदेश से यह जिनालय से बाहर निकल जायें॥222-23॥

बीच में जो यहाँ विलम्बित होंगे, वे ऊखल में चोट से बचे जैसे होंगे। वह उठकर, आगे होकर घुड़सवारों के साथ चला गया॥224॥

वह राजा के आगे चुपचाप खड़ा हो गया। तब क्षुब्ध राजा ने आदेशपालकों से कहा—॥225॥

आप यह किस मोटी तोंदवाले मूर्ख को यहाँ लाये हैं? वह निपुण गुर्जर तो आपके सामने ही चला गया है॥226॥

आँख में धूल झोंककर कैसे किसी ने आपको अन्धा कर दिया? आपके जैसा कोई चेतना-शून्य नहीं है॥227॥

उन्होंने कहा—हे नाथ! प्रभो! जल वहन करनेवाले एक अभागे मुनि को छोड़कर कोई भी हमारे आगे से नहीं निकला है॥228॥

राजा ने कहा—वेष बदलकर वह आपके देखते-देखते चला गया। हमारी सभा को जीतनेवाला वह उत्पन्नमति दूसरा नहीं हो सकता॥229॥

राजा ने आगे खड़े (मुनि) से कहा—आप अपने आवास में जायें। आप पुण्यवान् हैं, जो हमसे जीवित हैं। उसकी मूर्खता भी प्रशंसनीय है॥230॥

इस प्रकार राजा से भेजा गया वह लौटकर मठ में आ गया। मुण्डन होने पर माथे पर ही अक्षत छींटा जाता है, न कि भीहों पर ॥231॥

10. इधर राजा भीम ने अपने आदेशपालक आदमियों को मरवा दिया। और उधर, (राजा के) अपने भाई के मामा व्रतियों के साथ अपने देश में प्रकट होकर राजधानी चले आये। और, संघ से घिरे गुरु उसके सम्मुख आ गये॥232-33॥

सब सामग्री से युक्त राजा ने सोचा कि शुभ कार्य में विरोधी जैसा बनना उचित नहीं। आचार्य अपने गुरु के पैरों को देखकर लज्जित के समान उनके समक्ष आ खड़े हुए॥234॥

वह उनके समीप सभी जानकारीयों के साथ अष्टांग योग से युक्त योगी के समान नम्रतापूर्वक यह बात बोले—॥235॥

आज गुरु की आज्ञा सफल हुई, माँ का आशीर्वाद सफल हुआ। मेरे प्रति सबकी आँखें प्रसन्न हुई। और, संघ भी सफल हुआ॥236॥

तब, बिना विचारे काम करनेवाला वह मालवा चला गया। और मैं राजा भोज की सभा को जीतकर अक्षत रूप में यहाँ आ गया हूँ॥237॥

ये अन्तेवासी मुझ श्रीगुरु के चरणों के समक्ष गलत बात नहीं कहेंगे और प्रभु ने ऐसा उन्हें सिखाया भी नहीं है॥238॥

मैं अज्ञ हूँ, यदि मैंने घमण्ड में आकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं की। गुरु का हाथ यदि माथे पर हो, तो इसका कौन प्रमाण यहाँ कहा जाय॥239॥

यह सुनकर सोन नद की तरह स्थिर तथा आचार-रूप सुन्दर चरित्र से युक्त विशेषज्ञ प्रभु द्रोण ने बात कही-श्रीमन्! इस प्रकार क्लीबों (दुर्बलों) के लिए दुष्कर प्रतिज्ञा का निर्वाह आप जैसे प्रामाणिक वचन बोलनेवाले के सिवा कौन मनुष्य कर सकता है?॥240-241॥

गच्छ और संघ-सहित हम आचाम्ल (व्रत-विशेष) के साथ उपस्थित हैं। आपके मुख का सम्यक् अवलोकन शासन-देवता का आभास कराता है॥242॥

इस प्रकार गद्गद भाव से बोलकर उन्होंने दृढ़ आलिंगन किया। तब राजा भीम ने गुरु से आदरपूर्वक कहा - ॥243॥

आपके बिना दूसरा कोई नहीं दिखाई पड़ता है, जो मनीषी, विनयी, चतुर, तत्काल उपस्थित बुद्धिवाला, तेजस्वी तथा दृढ़ धैर्य की आधारभूमि हो॥244॥

वैसे प्राज्ञों के परिग्रह से युक्त श्रीभोज को छलकर आप अक्षतशरीर आकर मेरे तेज को बढ़ावें॥245॥

कुछ सन्देह की बात पूछता हूँ- उस राजा की स्तुति आपने की या नहीं? सूरसूरि ने मेघ-गम्भीर स्वर में कहा-॥246॥

महाराज! मेरी जीभ आपके सिवा दूसरों की स्तुति नहीं करती है। मेरे द्वारा कथित काव्य का भावार्थ आप कौतुकपूर्वक सुनें-॥247॥

बीधी हुई शिला और सती के शरीर के छिद्र में बाण छोड़नेवाले का कैसा पराक्रम? इसलिए किसी व्याज से की गई धनुष-क्रोड़ा आप छोड़ दें॥248॥

आपके पूर्वज ने खेल-खेल में अर्बुद गिरि के पाषाण को बेध दिया था। उसके बेधने से धरती का आधार ध्वस्त हो गया॥249॥

पातालमूल में जाती हुई यह (धरती) 'मैं सिखाऊँगी' ऐसा बोलती हुई गई। शान्तिपूर्वक जीनेवालों को, पत्थर को भी अच्छी शिक्षा देनी चाहिए॥250॥

उसे सुनकर अतिशय पुलकित भीम ने कहा-मेरे बन्धु द्वारा भोज को जीत लिये जाने पर, उनको जीतने की मेरी कैसी चिन्ता?॥251॥

राजा ने अपने समीप सूराचार्य को हाथी जैसे ऊँचे श्रेष्ठ आसन पर बैठाकर प्रवेशोत्सव आयोजित किया॥252॥

11. उन महामति ने गुरु को अतीचारों के बारे में सूचित कर देशान्तर जाने से उत्पन्न (अशुचिता) को दृढ़तापूर्वक तपस्या से शुद्ध कर दिया॥253॥

अनन्तर उस कविश्रेष्ठ ने युगादिनाथ और नेमिनाथ के अद्भुत चरित के वर्णनपूर्वक द्विसन्धानपरक इतिवृत्त प्रस्तुत किया॥254॥

शिष्यवर्ग ने जो पहले पढ़ा था, उसे सूरिराज ने श्रेष्ठवादी होने के नाते यहाँ सम्यक् रूप से निष्पादित कर समायोजित कर दिया॥255॥

श्रीद्रोणसूरि के अनशन-क्रियाविशेष द्वारा परलोक चले जाने पर, इस पृथ्वी पर अक्षत चरित्र से पवित्र तथा श्रुत के सागर सूर सद्गुरु ने अपनी प्रभावनाओं से संघ को उन्नत कर शिष्यों को जैन प्रवचन से निष्पन्न और सम्पन्न किया॥256-57॥

पुनः योग्य शिष्य को सूरि के पद पर प्रतिष्ठित कर और धर्म का भार सौंपकर पैंतीस दिनों का प्रायोपवेशन किया॥258॥

भीम राजा के बन्धु ने उन सद्गुरु आत्माराम की भावना के प्रति आदर के साथ तीन योगों (मन, वचन, कर्म) के सम्यक् निरोधपूर्वक उत्तम गति को प्राप्त किया॥259॥

यह परिचित श्रीसूराचार्य का वृत्त रचा गया है। इस वादविद्या-विनोद से वादी क्षुब्ध होंगे। इसे गुरु-मुख से सुनकर और कुछ अन्यत्र से भी (सामग्री ली गई है)। जिनेन्द्र के वचन के स्थिरतापूर्वक प्रकाशन के हेतु-स्वरूप यह (चरित्र) जड़ता-रूप समुद्र को पार करने में सेतु बने तथा संसारियों को ज्ञान के प्रति उद्यम को जगाये॥260॥

श्रीचन्द्रप्रमसूरि के पट्ट-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र श्रीप्रभाचन्द्र सूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिश्रेष्ठ द्वारा विवेचित श्रीसूरसूरि की कथा-रूप यह अट्टारहवाँ शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥261॥

॥ श्रीसूराचार्य-प्रबन्ध (चरित) समाप्त॥



श्रीअभयदेवसूरिचरित

श्रीअभयदेव प्रभु कल्याणकारी हों। वह जैन तीर्थों के (धम्मिल सिर के जूड़ा)-स्वरूप हैं; सौमनस्य के उदय के भास्कर हैं तथा सबके लिए शिरोमणि हैं॥11॥

जिन्होंने अपने अंग को उपेक्षित कर अष्टांगयोग को आदर दिया और श्रुत के नौ अंगों को प्रकाशित किया; वह दोनों प्रकार की श्री (ज्ञान और मोक्ष) प्रदान करें॥12॥

जिस प्रकार बालक की तुतली बोली माता-पिता को आनन्द देती है, उसी प्रकार गुरुजनों के आनन्द के लिए मैं यह वृत्त (अभयदेवचरित) कहता हूँ॥13॥

1. सच्चरित्र के रस से पूर्ण मालव नाम का देश है। यह सद्गुण और सद्वृत्त की जन्मभूमि है तथा वहाँ फल-मूल की प्रचुरता से युक्त जम्बूद्वीप नाम का द्वीप है॥14॥

वहाँ धारा नाम की नगरी है; उसकी स्थिति उस प्रदेश की उदयप्राप्त नगरियों में अग्रणी है। दुष्टों के प्रति विनाश और विद्रोह की भावनावाली वह नगरी राजश्रीका मूल है॥15॥

वहाँ के पृथ्वीपालक राजा श्रीभोजराज थे। विश्व के उद्धार के लिए उनकी दोनों भुजाएँ शेषनाग की दूसरी मूर्ति जैसी थीं॥16॥

वहाँ लक्ष्मीपति नाम का महाधनी व्यापारी था, जिसकी श्री से पराजित धनपति कुबेर ने कैलास पर्वत का आश्रय लिया था॥17॥

एक दिन मध्यदेशवासी कृष्ण-नेम के ब्राह्मण के दो पुत्र, देश-देशान्तर देखने की इच्छा से अपनी नगरी से निकलकर वहाँ आये। वे दोनों विनय और बुद्धि-बल से सम्पन्न तथा वेदविद्या में विशारद थे। उन दोनों ने 'पूर्व' का अध्ययन किया था। वे दोनों सभी चौदहों विद्याओं तथा स्मृति, इतिहास और पुराणों के ज्ञान का अर्जन करके कुल के पताका-स्वरूप हो गये थे॥18-9॥

श्रीधर और श्रीपति उनके नाम थे। वे युवा थे और उद्यमी भी थे॥10॥

उन दोनों ने लक्ष्मीधर (लक्ष्मीपति) के घर-आँगन को पवित्र किया था। उन लक्ष्मीधर ने भी उनकी आकृति के वशीभूत होकर भक्तिपूर्वक उन्हें शिक्षा दी॥11॥

घर के सम्मुख की दीवार पर लिखनेवाले लेखक को प्रतिदिन बीस लाख टंक प्राप्त करते हुए उन दोनों ने देखा॥12॥

सतत दर्शन से एवं बुद्धिबल से इन दोनों के मन में सदा अभ्यस्त जैसी यह बात स्फुरित हुई कि रसोइए जैसी रसोई बनानेवाला यह क्या इतना निष्ठुर है कि मुझे कुछ नहीं देता है॥13-14॥

ब्राह्मण भी, जो मेरे मुख के माध्यम से देवों को आहुति प्रदान करते हैं, तृप्त हों।
कर्म करने से ही मुझे फल प्राप्त हो॥15॥

इससे मानों कुपित अग्नि ने एक ही दिन में प्रतिकारवश उस नगरी को जलाकर
भस्म कर दिया॥16॥

दूसरे दिन लक्ष्मीपति सर्वस्व-नाश से खिन्न हो गाल पर हाथ रखकर बैठा था,
विशेषतः लेख्य के जल जाने से वह (अधिक खिन्न) था॥17॥

समय आने पर वे दोनों भिक्षा के लिए उसके घर के आँगन में गये। सब कुछ
जलकर खाक हुए उसके घर को देखकर वे दोनों खिन्न हो बोले—॥18॥

यजमान! आपके महान् कष्ट से हम दोनों अतिशय दुःखी हैं। लेकिन क्या करूँ?
भूख तो सभी दुःखों में बढ़कर होती है॥19॥

और फिर, आप जैसा सत्त्व वृत्ति से सम्पन्न मनुष्य ऐसे शोक से आक्रान्त होता
है क्या? आप जैसे धीर पुरुष तो कष्ट की घड़ी में भी सत्त्व (साहस-बल) को कभी
नहीं छोड़ते हैं॥20॥

उन दोनों की यह बात सुनकर सेठ ने कहा— सुनिए, मुझे धन, अन्न और वस्त्र
के जल जाने का वैसा दुःख नहीं है, जैसा दुःख लेख्य के नष्ट हो जाने से है। अधर्मी
जनों से कलह की स्थिति सम्भव है। धर्महानि करनेवाले कर ही क्या सकते हैं?॥21-22॥

वे बोले— भिक्षावृत्तिवाले हम दोनों आपका दूसरा उपकार नहीं कर सकते, परन्तु
लेख्य की पुनः व्याख्या हम दोनों करेंगे॥23॥

यह सुनकर अतिशय हर्षित सेठ ने अपने समक्ष उन दोनों को श्रेष्ठ आसन पर
बैठाया। मनुष्य स्वार्थ-पूर्ति करनेवाले को निश्चय ही सम्मान देता है॥24॥

उन दोनों ने शुरु से लेकर तिथि, दिन और नक्षत्र के साथ तथा स्पष्टतः वर्ष,
मासांक-सहित और फिर वर्ण, जाति, नाम, मूलद्रव्य और संख्यावृद्धि-युक्त अपने नाम के
आख्यान-पर्यन्त लेख्य को बुद्धिबल द्वारा खल्ली से लिख दिया॥25-26॥

उसे कागज पर लिखकर सेठ ने सोचा—मेरे प्रति अनुकम्पावश ये दोनों कोई देवता
पहुँचे न, जो सुनते मात्र ही बिना भूले, तख्ती, स्लेट और कागज से निरपेक्ष लेख्य को कह
डालते हैं॥27-28॥

तब उस हितैषी सेठ ने बहुत मानपूर्वक सुन्दर भोजन, वस्त्र आदि से सम्मानित कर
अपने घर के चिन्तक के रूप में उन्हें रखा॥29॥

उन दोनों को शान्त और जितेन्द्रिय के रूप में देखकर धनी (सेठ) ने विचार
किया—ये दोनों मेरे गुरु के पास शिष्य के रूप में संघ के भूषण-स्वरूप होकर रहें॥30॥

2. इधर सवा लाख (कोस की दूरी पर) कूर्चपुर नाम का नगर है, जो शत्रु के
मुख पर कूची से स्याही पोतने के लिए पर्याप्त है॥31॥

यहाँ अल्लभूपाल का पोता था, जो कुल-रूप समुद्र में जहाज या फिर पर्वत के
जैसा था। वह अपने श्री-सम्पन्न वंशनाम के साथ भुवनपाल नाम से विख्यात था॥32॥

वहाँ वर्द्धमान नाम के सूरि रहते थे। वह अपनी शान्त भावना की श्री से निरन्तर

वृद्धि को प्राप्त गुण के समुद्र थे तथा संसार के पार की भूमि-स्वरूप थे॥33॥

उन्होंने सिद्धान्त के अभ्यास द्वारा संसार के सत्य-तत्त्व को जानकर चौरासी चैत्यों का त्याग किया था॥34॥

एक दिन, मेघ की तरह विहार करते हुए, तथा अपने वचन-ब्रह्म की धारा से जन-जन में नीति को उज्जीवित करते हुए वह धारापुरी पधारे॥35॥

तदनन्तर, श्रद्धा और लक्ष्मी के पति-स्वरूप (अर्थात् श्रद्धालु एवं धनवान्) लक्ष्मीपति सेठ सूरि के पधारने की बात सुनकर गया और प्रद्युम्न तथा शाम्ब की तरह दोनों ब्राह्मण-पुत्र भी गुरु (सूरि) की प्रणति के लिये गये॥36॥

सर्व-अभिगमपूर्वक प्रभु को प्रणाम कर सेठ बैठा और वे दोनों ब्राह्मण-पुत्र भी कर जोड़े हुए वहाँ प्रविष्ट हुए॥37॥

श्रेष्ठ लक्षण से युक्त उन दोनों के शरीर को देखकर गुरु बोले— इनकी मूर्ति (आकृति) अपने और पर को सम्यक् रूप से जीत लेनेवाली है॥38॥

पूर्वभव से सम्बद्ध वे दोनों अपलक आँखों से गुरु के मुख को देख रहे थे। गुरु ने मान लिया कि ये दोनों व्रत के योग्य हैं॥39॥

देशना (व्रतोपदेश) के इच्छुक उन दोनों के तामस भाव ध्वस्त हो गये थे तथा बोध के प्रति उनमें अनुराग हो आया था; लक्ष्मीपति की अनुमति से वे दोनों शिक्षित और दीक्षित हो गये॥40॥

महाव्रत द्वारा संसार के भार से उद्धार करने में अग्रणी तथा तपोनिधि-स्वरूप उन दोनों को (गुरु ने) योगभार के वहनपूर्वक सिद्धान्त का अध्ययन कराया॥41॥

औचित्य जानकर सूरि ने उन दोनों को सूरि के पद पर प्रतिष्ठित किया। शुद्ध गन्ध ही शुद्ध सौरभ का अनुगमन करती है॥42॥

जिनेश्वरसूरि तदनन्तर दूसरे बुद्धिसागरसूरि इन दोनों नामों से वे विख्यात थे और पूज्यों द्वारा वे विहार में रहने को अनुमत थे॥43॥

उन चैत्य-स्थित सूरि ने श्रीसम्पन्न 'पत्तन' (नगर) में (वहाँ के वासियों को) शिक्षा प्रदान की। वहाँ उनके रहने से मना करने पर सत्कर्मियों को विघ्न हो सकता है॥44॥

आप दोनों अपनी बुद्धि और शक्ति से उस विघ्न का निवारण करें। क्योंकि इस समय आपके जैसा विद्वान् नहीं है॥45॥

गुर्जर की धरती पर हम दोनों अनुशासन की प्रतीक्षा करते हैं— ऐसा कहकर वे दोनों क्रमशः विहार करते हुए हर्षपूर्वक श्रीसम्पन्न 'पत्तन' (नगर) पहुँचे॥46॥

सज्जन विद्वज्जनों से घिरे वे दोनों घर-घर भ्रमण करते रहे। विशुद्ध उपाश्रय का लाभ मिलने पर वे गुरु के वचन का स्मरण करते॥47॥

वहाँ दुर्लभराज नामक प्रजापालक राजा रहते थे। नीति-विक्रम के शिक्षण में बृहस्पति के समान उपाध्याय भी (वहाँ थे)॥48॥

वहाँ सोमेश्वर नाम के पुरोहित भी थे। सूर्य-पुत्र जैसे वे दोनों उन पुरोहित के घर में गये॥49॥

उनके द्वार पर उन दोनों ने संकेत-सहित वेद का उच्चारण किया। और ब्राह्म, दैव एवं पितृ-सम्बद्ध तीर्थ का सत्यापन किया॥50॥

तदनन्तर सारणी (पाठ) के शुद्धिपूर्वक चारों वेदों के रहस्य की व्याख्या की, जिसे देवालय में उन (सोमेश्वर) ने सुना॥51॥

उस चतुर्वेद की ध्वनि के ध्यान में मग्नचित्त वह तब स्तम्भित जैसा हो गया। समग्र इन्द्रिय-चैतन्य को उसने जैसे कानों में समेट लिया॥52॥

तदनन्तर भक्तिपूर्वक अपने बन्धु को वचनामृत से तृप्त कर देखने की अपेक्षा से उन दोनों को बुलाने के लिए ब्राह्मणश्रेष्ठ ने उन्हें भेजा॥53॥

उन्हें देखकर वे दोनों भीतर आये और सोचा कि यह क्या ब्रह्मा के प्रतिरूप हैं? इस क्रम में दर्शन दो प्रकार से हुए— एक तो दर्शन, दूसरा शस्यदर्शन॥54॥

भद्रासन आदि को छोड़कर उन्होंने उनके लिए दूसरे आसन दिये। वे दोनों अपने शुद्ध कम्बल के आसन पर बैठे॥55॥

वेद, उपनिषद् तथा जैनतत्त्व से सम्बद्ध श्रुतवाणी के उच्चारण से इनमें साम्य प्रकाशित करने के बाद इन्होंने आशीर्वाच्य प्रदान किया॥56॥

आशीर्वाच्य इस प्रकार है - वह भगवान् जिन आपकी रक्षा करें, जिन्हें न हाथ है, न पैर हैं; ग्रहण करनेवाला मन भी जिन्हें नहीं है। विना आँख के ही वह देखते हैं; विना कान के ही वह सुनते हैं। वह विश्व को जानते हैं, पर उनको जाननेवाला नहीं है। कल्याणकारी रूप-रहित वह जिन (इन्द्रियजयी) आपकी रक्षा करें॥57॥

वे दोनों बोले— इन दोनों के अर्थ-संग्रह को अच्छी तरह जानकर हम दोनों दया से अधिक जैन का आदर करते हैं॥58॥

‘आप दोनों कहाँ ठहरे हैं?, ऐसा पूछने पर वे दोनों बोले— चैत्यवासी द्वारा अन्यत्र कहीं भी स्थान का लाभ नहीं लिया जाता है॥59॥

तब चौदनी जैसे निर्मल मनवाले उसने (संठ ने) अपनी चन्द्रशाला उन्हें अर्पित कर दी। वे दोनों सपरिवार वहीं ठहरे॥60॥

तब बयालीस भिक्षादोषों से रहित, तथा लोलुपता से मुक्त उन दोनों ने नवकोटि-विशुद्ध भिक्षान्न का भोजन किया॥61॥

दोपहर में याज्ञिक, स्मार्त-दीक्षित और अग्निहोत्रियों को बुलाकर वहाँ उनकी परीक्षापूर्वक दोनों अविवाहितों को दिखलाया॥62॥

ब्रह्मा की सभा की तरह अभी यह विद्याविनोद हो रहा था, तभी यथानियुक्त चैत्य के आदमी वहाँ आ गये॥63॥

वे बोले— आप सभी शीघ्र ही नगर से बाहर चले जाइए। चैत्य से बाहरी श्वेताम्बर यहाँ स्थान नहीं पा सकते हैं॥64॥

पुरोहित बोले—यह राजसभा में निर्णय के योग्य है। इस प्रकार कहकर पुरोहित अपने मालिक (राजा) की सभा में जाकर उनसे कहा॥65॥

यह कहकर उन सबने मिलकर सुबह में राजा से भेंट की। वहाँ वह स्वस्तिवाचक भी था॥66॥

अनन्तर उन्होंने राजा से कहा— महाराज! हमारे घर में वे दोनों जैन मुनि हैं। अपने पक्ष में स्थान नहीं मिलने पर वे यहाँ पहुँचे हैं॥67॥

गुणग्राहिता के कारण मैंने उन्हें अपने आश्रय में रखा है। इन चैत्य के पक्षपातियों ने भट्टपुत्रों को मेरे पास भेज दिया॥68॥

यहाँ मुझ दोषी के लिए यथोचित दण्ड का आदेश करें। यह सुनकर समदर्शी राजा ने हँसकर कहा—॥69॥

मेरे नगर में किस देशान्तर से गुणीजन आये हैं? उन्हें ठहराने से कौन रोक रहा है? उनमें कौन-सा दोष दिखता है?॥70॥

वहाँ नियुक्त आदमियों ने कहा—हे राजन्! सुनिए। पुराकाल में श्रेष्ठ चापोत्कट वंश में श्रीवनराज नाम के राजा हुए॥71॥

उन्हें बचपन में श्रीमान् देवचन्द्र सूरि ने संवर्द्धित किया। पुराकाल में नागेन्द्र गच्छ की भूमि के उद्धारक के रूप में वे सूअर के समान अस्पृश्य थे॥72॥

‘पंचाश्रय’ नामक स्थान में स्थित चैत्यवासियों ने उन्हें इस नगर में बसाया और नया राज्य प्रदान किया॥73॥

प्रभु ने वहाँ ‘वनराज-विहार’ की स्थापना की। कृतज्ञतावश उन्होंने उन गुरुओं को सम्मानित किया॥74॥

संघ ने राजा के साक्ष्य में ऐसी व्यवस्था की, ताकि सम्प्रदाय-भेद से (कार्यक्रम में) हलकापन न आने पाये॥75॥

मुनि चैत्य, गच्छ और यति-समूह की सम्मति से नगर में रहें, किन्तु इनसे असम्मत मुनि यहाँ नहीं रहें॥76॥

पश्चाद्वर्ती राजाओं के लिए पूर्ववर्ती राजाओं की आज्ञा पालनीय है। हे राजन्! ऐसा होने पर जो आदेश दिया जायगा, वही करणीय होगा॥77॥

राजा ने कहा— पूर्ववर्ती राजाओं के आचार का हम दृढ़तापूर्वक पालन करेंगे, किन्तु गुणियों की पूजा का उल्लंघन नहीं करेंगे॥78॥

आप जैसे सदाचारनिष्ठ पुरुषों के आशीर्वाद से राजा संवर्द्धित होते हैं। यह राज्य भी आप सबका ही है, इसमें संशय नहीं है॥79॥

हमारे अनुरोध से आप इन मुनियों को नगर में बसने की अनुमति दें - यह सुनकर उन्होंने तब वैसा ही किया॥80॥

तब स्वस्तिवाचक (पुरोहित) ने कहा— स्वामिन्! इनकी अवस्थिति के सन्दर्भ में, आश्रय के लिए कोई भूमि (स्थान) अपने श्रीमुख से प्रदान करें॥81॥

तभी वहाँ जैनदर्शन के इन्द्र-स्वरूप ज्ञानदेव नाम के ‘कूर समुद्र’ विरुद के योग्य पुरुष आये॥82॥

राजा ने अपने आसन से उठकर उनकी अर्चना की और उन्हें अपने आसन पर बैठाया। (तब उन्होंने राजा से) कहा—प्रभो! आज मैं कुछ निवेदन कर रहा हूँ॥83॥

कतिपय जैन ऋषि यहाँ पधारे हैं। उन्हें आप उपाश्रय प्रदान करें। यह सुनकर वह श्रेष्ठ तपस्वी (राजा) हँसमुख होकर बोले— ॥84॥

आप निष्पाप गुणियों की अर्चना करें। वह हमारे लिए उपदेश का प्रतिफल और कल्याण की निधि-स्वरूप होगा॥85॥

शिव ही जिन हैं। बाह्य (आडम्बर) के त्याग के कारण परमपद पर प्रतिष्ठित हैं। दर्शनों में विभेद है— ऐसा यह विचार मिथ्या बुद्धिवालों का चिह्न (लक्षण) है॥86॥

भूसा से रहित चावल की हाट में तीन पुरुषों (पीढ़ियों) से आश्रित भूमि पुरोहितों को उपाश्रय के लिए स्वीकार कर लेनी चाहिए॥87॥

मैंने अपने और दूसरे पक्षों द्वारा निषेध किये जाने के सारे विघ्नों का निराकरण कर दिया है। तब ब्राह्मण ने उसे स्वीकार कर आश्रय ग्रहण किया॥88॥

तभी से 'वसति' (निवास) की परम्परा प्रारम्भ हुई। महान् पुरुषों द्वारा स्थापित (वस्तु) दिनानुदिन वृद्धि को प्राप्त करती रहती है॥89॥

3. श्रीबुद्धिसागर सूरि ने नये व्याकरण की रचना की। एक हजार आठ श्लोक-प्रमाण वह व्याकरण 'बुद्धिसागर' नाम से प्रसिद्ध हुआ॥90॥

एक दिन विहार करते हुए श्रीजिनेश्वर सूरि पुण्य से प्राप्त होनेवाले दर्शन (की महिमा से युक्त) धारापुरी में पुनः पधारे॥91॥

वहाँ तीन पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम) से उन्नत (समृद्ध) महाधर नाम का सेठ था, जो अपने धन के प्रति एक संख्या को छोड़कर वह सर्वत्र विचक्षण था (अर्थात् उसे धन के अतिरिक्त सब विषयों में असंख्यता प्राप्त थी)॥92॥

उसकी धर्मपत्नी धनदेवी के शरीर से उत्पन्न उसके अभयकुमार नाम का पुत्र था, जिसके गुण के वर्णन में हजार जिह्वाओंवाले शेषराज भी समर्थ नहीं थे॥93॥

वह पुण्यात्मा (सेठ) एक दिन पुत्र के साथ सूरि को प्रणाम करने के लिए गया। वहाँ उसने संसार की असारता-मूलक चार प्रकार के धर्म का श्रवण किया॥94॥

अनन्तर, उस अभयकुमार ने वैराग्य से तरंगित तपःश्री के संगम के लिए उत्सुक होकर अपने पिता से पूछा॥95॥

अनुमति मिल जाने पर उसके गुरु ने उसे दीक्षा प्रदान की और गुरु से उसने ग्रहण और आसेवन-रूप दो शिक्षाएँ ग्रहण कीं॥96॥

वह सिद्धान्त के अवगाहन तथा तत्त्वप्रेक्षानुमान से महान् क्रियानिष्ठ होकर श्रीसम्पन्न संघ-रूप कमल के सूर्य के रूप में शोभित हुआ॥97॥

तदनन्तर गुण के सागर-स्वरूप श्रीजिनेश्वर सूरि ने श्रीवर्द्धमान सूरि के आदेश से उसे सूरि-पद प्रदान किया॥98॥

श्रीमान् अभयदेवसूरि अपने संसारव्यापी यश से युक्त होकर विहार करते हुए क्रमशः पल्यपद्रपुर पहुँचे॥99॥

उस श्रेष्ठ वर्द्धमानसूरि ने क्रमशः आयु के अन्त में संन्यास ग्रहण कर स्वर्गपुरी को अलंकृत किया॥100॥

उसी समय, दुर्मिक्ष के विभिन्न उपद्रवों से देश की दुःस्थितिबश (यथानिर्धारित) सिद्धान्तों में त्रुटि आ गई और इनकी वृत्ति उच्छिन्न हो गई॥101॥

जो थोड़े सूत्र बच गये थे, वे निपुण द्रष्टाओं के लिए भी दुर्बोध हो गये या उनमें निरर्थक जोड़-तोड़ किये गये॥102॥

अर्द्धरात्रि में शासनदेवी ने धर्मस्थान में स्थित तथा तन्द्रा से मुक्त मुनीश्वर अभयदेव को प्रणाम कर उनसे कहा—॥103॥

पुराकाल में आचार्यश्री शीलांक 'कोट्याचार्य' के नाम से प्रसिद्ध थे। उन पुण्यात्मा ने ग्यारह अंगों की वृत्ति की रचना की॥104॥

दो अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों का काल के प्रभाववश उच्छेद हो गया। अतः आप संघ के अनुग्रह के लिए (वृत्ति की रचना के लिए) उद्यम करें॥105॥

तब सूरि ने कहा— हे माता! मैं अल्प बुद्धिवाला जड़ हूँ। मेरी बुद्धि तो श्रीसुधर्मा-रचित ग्रन्थ को देखने में भी असमर्थ है॥106॥

अज्ञता के कारण कहीं सूत्र की उलटी व्याख्या हो गई तो मैं पाप का अर्जन करनेवाला होऊँगा। प्राच्य विद्वानों ने अनन्त संसार को महान् भ्रान्ति से युक्त बतलाया है॥107॥

आपकी बात अनुल्लंघनीय है। आदेश दें, मैं क्या करूँ? किंकर्तव्यमूढ मुझे कोई उत्तर नहीं मिला॥108॥

तब, देवी बोली— हे मनीषिवर! सिद्धान्त के अर्थ के विचार में आपकी योग्यता को मानकर ही मैं कह रही हूँ—आप चिन्तन करें॥109॥

पुनः देवी बोली—जहाँ मन में सन्देह हो, वहाँ सदा मुझसे पूछना है। श्रीमान् सीमन्धरस्वामी वहाँ जाकर धैर्य बँधायें॥110॥

इसे प्रारम्भ कर दें। आप यहाँ संशय मत करें। स्मरण करते ही मैं आ जाऊँगी। इस सम्बन्ध में मैं आपके पद की कसम खाती हूँ॥111॥

यह सुनकर मैंने (सूरि ने) इस दुष्कर कार्य को करना स्वीकार कर लिया। ग्रन्थ की सम्पूर्णता की अवधि तक आचाम्ल (व्रतविशेष) भी मैंने शुरू कर दिया॥112॥

नौ अंगोंवाली वृत्तियाँ विना किसी क्लेश के ही पूरी हो गई। और, देवी ने भी जो पहले प्रतिज्ञा की थी, उसका निर्वाह किया॥113॥

पुराने महाश्रुतधरों ने उन संशोधित वृत्तियों के साथ पुस्तकों के लेखन को श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया॥114॥

तदनन्तर शासनदेवी ने एकान्त में उन श्रुतधरों को सूचित किया—प्रभो! मेरे ही धन से इस पुस्तक की प्रथम प्रति तैयार करें॥115॥

यह कहकर उन देवी ने समवसरण पर सुनहली चादर तथा अपनी ज्योति से आहत दृष्टि की चमक डाल दी॥116॥

तदनन्तर देवी तिरोहित हो गई। गोचरी के क्रम में आये हुए यतियों ने सूर्यबिम्ब जैसे उस विभूषण (स्वर्णिम चादर) को देखा॥117॥

तदनन्तर चमत्कृत चित्त से उन्होंने हर्षपूर्वक प्रभु से पूछा—उन्होंने वह रहस्यपूर्ण बात कही तथा श्रद्धालुओं को बुलवाया॥118॥

गुरु ने आये हुए उन यतियों को उस विभूषण को दिखलाया। श्रावक लोग उसका मूल्य विना जाने ही 'पत्तन' चले गये॥119॥

वहाँ उन्होंने उसे रत्न-पारखियों को दिखलाया। वे भी उसके मूल्य को नहीं जानते थे। तब उन अज्ञों ने उसके मूल्य के विषय में ऐसी मन्त्रणा की—॥120॥

अब इसे राजा भीम के समक्ष रखिए। उनके द्वारा दिया गया मूल्य ग्राह्य है और वही मूल्य का निर्णय करेंगे॥121॥

सबने मिलकर उस अद्भुत वस्तु को राजा के समक्ष रखा। इसे इन्द्र ने प्रेमवश उपहार-स्वरूप दिया है॥122॥

उस बात को राजा को सूचित करने पर वह तुष्ट होकर बोले— तपस्वियों का उपहार विना मूल्य नहीं लूँगा॥123॥

वह बोले—राजा अपने श्रीमुख से जो मूल्य आदेश करें, वही हो। इसमें हमारे राजा भीम ही प्रमाण हैं॥124॥

राजा ने तीन लाख द्रम्म (सिक्का-विशेष) कोषाध्यक्ष से दिलवाया और उन्होंने पुस्तक लिखवाकर सूरि को प्रदान किया॥125॥

ताम्रलिपि पत्तन की आशापल्ली के 'धवलकक' स्थान में चौरासी श्रावक थे। वे सभी चतुर और श्रीसम्पन्न थे॥126॥

अंगों की वृत्तियों के ज्ञान से विशद आशयवाले राजा ने पुस्तक लिखवाकर हर्षपूर्वक सूरि को प्रदान किया॥127॥

इस प्रकार नवों अंगों की सूरिकृत वृत्तियाँ प्रवर्तित हुईं, जो श्रीसुधर्मा द्वारा उपदिष्ट तत्त्व-रूप ताले की कुंजी जैसी थीं॥128॥

4. अनन्तर वह संयमित यात्रा द्वारा 'धवलकपुर' पहुँचे। विभिन्न स्थानों में प्रतिबन्ध-रहित होना सिद्धान्तोपासना का लक्षण है॥129॥

आचाम्ल तप के कष्ट, रात्रि में अतिजागरण और अधिक परिश्रम के कारण प्रभु को दुःखपूर्ण रक्तदोष की लम्बी बीमारी हो आई॥130॥

असहिष्णु लोग कहने लगे—अनियमित देशना से शासनदेव के क्रुद्ध हो जाने से वृत्तिकार को कुष्ट हो गया॥131॥

यह सुनकर शोक से आक्रान्त प्रभु अन्तर्मुख हो गये और रात्रि में उन्होंने श्रीचरण नामक सर्पराज का ध्यान किया॥132॥

सत्त्व की कसौटी-स्वरूप श्रीमान् ने थोड़े ही समय में स्वप्न में सर्पराज द्वारा चाटे गये देह को देखा॥133॥

कालरूप कालसर्प द्वारा चाटे गये शरीरवाले प्रभु ने सोचा कि मैं क्षीण आयुवाला हो गया हूँ, इसलिए अभी संन्यास ही मेरे लिए उपयुक्त है॥134॥

ऐसा सोचते हुए प्रभु ने दूसरे दिन रात्रि में स्वप्न में देखा कि धरणेन्द्र ने चाटकर मेरे रोग को हर लिया है॥135॥

यह सुनकर गुरु बोले—मृत्यु के भय से मुझे कोई दुःख नहीं है। रोग के कारण चुगलखोर लोग मेरे बारे में जो कुवाणी बोलते हैं, वही मेरे लिए दुःसह है॥136॥

नाग (सर्पराज) ने कहा—यहाँ आप अधीर न हों। जैन प्रभावना करें। आज आप एक काम करें— दैन्य त्यागकर जिन से उद्धार के लिए (प्रार्थना करें)॥137॥

‘श्रीकान्ती’ नगरी के निवासी श्रावक धनेश समुद्र के बीच जहाज से यात्रा कर रहा था॥138॥

तभी अधिष्ठायक देव ने उसके जहाज को स्तम्भित कर दिया। तब पूजित व्यन्तर देव के उपदेश से व्यापारी (धनेश) ने वहाँ की भूमि से तीन काली प्रतिमाओं को खींचकर निकाला। उनमें एक प्रतिमा ‘चारुपग्राम’ में प्रतिष्ठित की गई, जिससे वह स्थान तीर्थस्वरूप हो गया॥139-40॥

दूसरी प्रतिमा को श्रीपत्तन में, इमली के पेड़ के नीचे स्थापित किया गया। भवन के भीतर प्रतिष्ठित वह अरिष्टनेमि की प्रतिमा थी॥141॥

तीसरी प्रतिमा स्तम्भनग्राम में ‘सेटिका’ नदी के तट पर पेड़ों के झुरमुट में भूमि के बीच स्थापित है॥142॥

(गुरु ने कहा—) उस पार्श्वनाथ की अप्रतिम प्रतिमा को यहाँ प्रकट (स्थापित) करो, तभी यह स्थान महातीर्थ हो जायगा॥143॥

पुराकाल में नागार्जुन हुए। उन्होंने रस की विद्या सिद्ध की थी। भूमि के भीतर स्थित जिन-प्रतिमा के प्रभाव से रस स्तम्भित हो गया॥144॥

तदनन्तर वहाँ स्तम्भनक नाम का ग्राम बस गया। तो यह प्रतिमा तुम्हारी शाश्वत तथा पुण्यमय कीर्ति-स्वरूप होगी॥145॥

दूसरों के लिए अदृश्य वृद्धा-रूप देवी तुम्हारी मार्गदर्शिका होगी। सफेद कुत्ते के रूप में क्षेत्रपाल तुम्हारे आगे-आगे चलेंगे। यह कहकर अधिष्ठायक देव अन्तर्हित हो गये। तब अहंकारी और निर्बन्ध सूरि ने संघ की इस अद्भुत निशावृत्त (रहस्यावृत्त घटना) की विभिन्न रूपों से व्याख्या करते हैं॥146-47॥

तदनन्तर अहंकारी और प्रचण्ड धार्मिकों द्वारा यात्रा प्रारम्भ की गई, जिसमें नौ सौ शकट (गाड़ियाँ) चल पड़े॥148॥

प्रभु आगे होकर चल रहे थे। उनके पीछे वृद्धाएँ और कुलीन लोग थे। तृण और कण्टकों से भरे रास्ते पर श्रावक भी अनुगमन कर रहे थे॥149॥

धीरे-धीरे वे सभी ‘सेटीतीर’ पर पहुँचे। वहाँ वृद्धा और कुत्ते गायब हो गये। तब इस बात की जानकारी होते ही वहाँ सब ठहर गये॥150॥

आगे (राह में मिले) ग्वालों से उन सबने पूछा— ओ भाई! यहाँ कोई पूज्य (देवादि) हैं क्या? उन ग्वालों में एक ने कहा— प्रभो! सुनें। यहाँ जाली में (पूज्यदेव) हैं॥151॥

‘महीणल’ नाम के ग्राम में मुखिया पटेल की काली गाय यहाँ आकर अपने सभी धनों से दूध टपकाती है॥152॥

घर वह खाली-खाली लौटती है। दुहने पर बहुत कष्ट से थोड़ा दूध देती है। पता नहीं चलता कि इसमें क्या कारण है॥153॥

तब पटेल ने वहाँ दूध (बहता हुआ) देखा, तो उसके निकट बैठकर श्रीमान् पार्श्वनाथ प्रभु का प्राकृत-निबद्ध स्तोत्र पढ़ने लगा॥154॥

‘जय तिहुयण’ (‘जय त्रिभुवन’.....) इत्यादि बत्तीस वृत्तों में निबद्ध, स्तुति का, नाक के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर कर, पाठ किया॥155॥

तब श्रीपार्श्वनाथ प्रभु की जैसी तेजस्वी प्रतिमा धीरे-धीरे वहाँ प्रकट हुई॥156॥
- तब संघ-सहित सूरि ने नमस्कार किया, जिससे शीघ्र ही उनका सारा रोग दूर हो गया और शरीर सोने की तरह दमकने लगा॥157॥

उन्होंने सुगन्धित जल से प्रतिमा को स्नान कराया और कपूर आदि के विलेपन से लिप्त कर शुद्ध मन से, सुन्दर पुष्पों से उस प्रतिमा की पूजा की॥158॥

उस प्रतिमा पर चमकीले पट-मण्डप द्वारा छाया की व्यवस्था की गई। किसी प्रकार की रोक-टोक से रहित सत्र में संघ ने ग्रामीणों को भोजन कराया॥159॥

मन्दिर के लिए श्रद्धापूर्वक द्रव्यों (धन) का जुगाड़ किया गया। विना किसी क्लेश के ग्रामीणों से लाख (रुपये) मिल गये और जमीन भी सुलभ हो गई॥160॥

मल्लवादी शिष्य और महिष नाम के नगर के निवासी बुद्धि के निधान आग्नेश्वर को श्रद्धापूर्वक बुलाया गया॥161॥

कर्मकारिता की दृष्टि से विचक्षण उसे सम्मानित कर (प्रासाद-निर्माण के लिए) नियुक्त किया गया। उसने प्रासाद (मन्दिर) का निर्माण शुरू किया और उसे थोड़े ही समय में पूरा कर दिया॥162॥

कर्माध्यक्ष की वृत्ति में प्रतिदिन एक द्रम्म दिया जाता था और भोजन में घृतयुक्त चावल की व्यवस्था की गई थी॥163॥

उसने भोजन से बचाकर उस द्रव्य से चैत्य में देवगृह का निर्माण किया। वह देवगृह आज भी देखा जाता है॥164॥

पूज्यों ने शुभ मुहूर्त में प्रतिमा को स्थापित किया। उस रात्रि में धरणेन्द्र ने उन (पूज्यों) को यह उपदेश किया॥165॥

मेरी बात मानकर स्तवन द्वारा उन दोनों वास्तुओं की रक्षा करनी चाहिए। कितने ही पुण्यहीनों के लिए मैं प्रकट होता हूँ॥166॥

उनके आदेश से आज भी पुण्यवानों द्वारा तीस वृत्तों में परिमित क्षुद्र उपद्रव का नाश करनेवाली स्तुति पढ़ी जाती है॥167॥

तभी से यह तीर्थ मनोवांछित को पूरा करता है, तथा रोग, शोक आदि दुःख-रूप वनाग्नि के लिए सघन मेघ के समान है॥168॥

आज भी जन्मकल्याणक-महोत्सव में कलश की प्राथमिकता है, जिससे श्रद्धालु धवलक प्रभु को स्नान कराता है॥169॥

प्रतिमा के आसन के पिछले हिस्से में जो अक्षर-पंक्ति है, वह लोक-प्रसिद्ध है, ऐसा इतिहासविदों द्वारा पूर्वकथित रूप में सुना जाता है॥170॥

तीर्थंकर नमिस्वामी के तीर्थ में, दो हजार दो सौ बाईसवें वर्ष में 'आपाढ' नाम के गौड़देशीय श्रावक ने तीन प्रतिमाओं का निर्माण कराया॥171॥

श्रीमान् जिनेश्वर सूरि तथा श्रीबुद्धिसागर सूरि दीर्घ आयु भोग कर दोनों ही संन्यासपूर्वक स्वर्ग सिधारे॥172॥

श्रीमान् अभयदेव भी धरणेन्द्र की उपासना से शोभित हुए। उन्होंने कर्णसैन्य के अधीन पत्तन में जैनशासन की प्रभावना करके योग द्वारा अन्यान्य वासनाओं के निरोधपूर्वक धर्मध्यान में एकनिष्ठ होकर परलोक को अलंकृत किया॥173-74॥

सद्गुरु अभयदेव सूरि का इस प्रकार का वृत्तान्त सज्जनों द्वारा समादृत है; यह कल्याण का आश्रय है; कलियुग की कला-रूप पर्वत-शिखर के भेदन में वज्र के समान है; दुर्धर और दुर्घट रूप में छाये हुए अन्धकार के विनाश के लिए सूर्योदय-स्वरूप है; कल्याण और श्री का आधारभूत यह वृत्तान्त अनन्त उदयवाले ब्रह्म में आपको लीन करे॥175॥

श्रीचन्द्रप्रभ सूरि के पट्ट (गद्दी) रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र श्रीप्रभाचन्द्र सूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न सूरि द्वारा ईक्षित सद्गुरु अभयदेव सूरि का यह वृत्तान्त-रूप चन्द्र ग्रह के समान प्रभायुक्त उन्नीसवाँ शिखर समाप्त हुआ॥176॥

श्रेष्ठ, करुण, बन्धुजीव, नृतिलक और कमल रूप विजय से युक्त श्रीप्रद्युम्न-रूप सुजाति में उत्पन्न आश्चर्यकर सुमन-स्वरूप तथा (अभयदेव सूरि) नवकुल की श्री हैं॥177॥

॥ श्रीअभयदेवसूरिचरित (प्रबन्ध) समाप्त॥



श्रीवीराचार्यचरित

1. सन्त वीराचार्य आपके लिए कल्याणकारी हों। वह ऐसे सन्त हैं, जिनके निकट सम्प्रति अभ्यस्त जन क्रोध आदि शत्रुओं का नाश करना चाहते हैं॥1॥

जिसके कर-स्पर्श मात्र से भारती कन्याओं आदि में संक्रान्त होकर कहती है—
उस वीर का वर्णन कैसे होता है?॥2॥

बहुश्रुत लोगों के मुख से सुनकर मैं उनके वृत्त का कुछ वर्णन करूँगा। यों, अज्ञ व्यक्ति अनुमान से क्या नहीं कहता है?॥3॥

श्रीमान् चन्द्र महागच्छ-रूप समुद्र में रत्नपर्वत (सुमेरु) के समान विख्यात गच्छ है, जो 'षंडिल्ल' नाम से जाना जाता है॥4॥

उक्त गच्छ के रत्नस्वरूप श्रीभावदेव नाम के सूरि थे। पात्र के खयाल से स्नेह आदि से हीन होते हुए भी वह सदा लोक-कल्याण में संलग्न रहते थे॥5॥

उस स्थान में श्रीमान् विजयसिंह नाम के सूरि हुए। वह प्रतिवादी-रूप हस्ती-समूह के मद को नष्ट करने में तत्पर रहते थे॥6॥

श्रीवीरसूरि उन सूरि के पट्ट-रूप मानसरोवर के हंस-स्वरूप थे। गति और शब्द के अभ्यास में उनकी श्री के समान दूसरा नहीं था॥7॥

राजा श्रीसिद्धराज ने उनके गुणों के कारण उन्हें अपने मित्र के रूप में रख लिया। स्वभाव से निर्मल वह निरानन्द को भी आनन्दित कर देते थे॥8॥

अनन्तर सुखपूर्वक बैठे हुए राजा ने विलासपूर्वक जगे हुए मित्र वीराचार्य से कहा—आपका तेज राजाश्रय के कारण है॥9॥

सूरि ने कहा—मनुष्य अपनी बुद्धि और भाग्य से बढ़ता है। उसकी प्रतिष्ठा दूसरे से नहीं होती। राजा से दुलराया गया कुत्ता क्या सिंह के समान ओजस्वी हो जाता है?॥10॥

राजा ने कहा—मेरी सभा छोड़कर आप भी विदेशगामी हों तो अनाथ भिखारी की तरह बाहर की भीख खाकर जीने लगें॥11॥

सूरि ने कहा—आपका प्रेम हमारे लिए बन्धन के समान हो गया है। दिन बीत रहे हैं। सम्प्रति आप से पूछकर जाऊँगा॥12॥

राजा ने कहा—मैं आपको अपने नगर से नहीं जाने दूँगा। सूरि ने कहा—जाते हुए मुझे कौन रोकेगा?॥13॥

यह कहकर विभिन्न कलाओं के निधिस्वरूप सूरि अपने आश्रय में चले गये। राजा ने अपने आदमियों से नगर के सभी द्वारों को बन्द करा दिया॥14॥

इधर गुरु ने सान्ध्य धर्मकृत्य सम्पन्न करके श्रीपर्णी-पट्टक आसन पर बैठकर

विधिवत् ध्यान किया। पुनः अध्यात्मयोग से प्राणवायु का निरोध कर विद्याबल से आकाशमार्ग द्वारा 'पल्ली' नाम की पुरी में (कुशलतापूर्वक) पहुँच गये॥15-16॥

सुबह जब वह नहीं दिखाई पड़े, तब राजा ने सोचा— सदा मोहबुद्धि को शिथिल रखनेवाले यह मित्र क्या चले ही गये? अनेक सिद्धियों के आधार ऐसे मित्र फिर कहाँ मिलेंगे? सिद्ध स्नेह की स्थिति में हम हींग के समान अभागे हो गये हैं॥17-18॥

इधर पल्ली के निवासी ब्राह्मणों ने श्रीपत्तन नगर में श्रीमान् जयसिंह नरेश को सूचित किया॥19॥

तिथि, नक्षत्र, समय और अवसर की अभिव्यक्ति से युक्त दिन में श्रीवीरसूरि हमारे पास आयेंगे, यह स्पष्ट है॥20॥

यह सुनकर राजा ने सोचा— ऐसी विकृत क्रीड़ा वह करेंगे? यह तो प्रेम के सम्बन्ध में ऊहापोह का समय है॥21॥

वह उसी रात आकशमार्ग से चले गये, यह निश्चित है। इस विलास-लीला के दूसरे दिन ब्राह्मणों से वह मिले थे॥22॥

उत्कण्ठा के आनन्द से पूर्ण राजा ने महाभक्तिपूर्वक उन्हें बुलाने के लिए प्रधान पुरुषों को भेजा। वे (पुरुष) शीघ्र ही वहाँ चले गये॥23॥

उन्होंने (प्रधान पुरुषों ने) राजा के अनुनय को अतिशय रुचिकर बनाकर कहा (प्रकाशित किया)। किन्तु प्रचुर संयमवाले (वीरसूरि) उदासीन रहकर ही बोले— हम अपने विद्या-बल को जानने के लिए देशान्तर-भ्रमण की इच्छा रखते हैं। पुराकाल से ही अपने देश में स्थित लोग अपने विद्वानों की विद्वत्ता को नहीं जानते हैं॥25॥

यहाँ राजा की ऊँची-नीची बात ही सहकारी कारण है, इसीलिए विभिन्न देशों में विहार करके आपके नगर में कदाचित् लौटूँगा॥26॥

मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। विद्या ही व्रत है और शास्त्र ही बल है। राजा के स्नेह के मोह में कौन अपने जीवन को व्यर्थ गँवाये॥27॥

अनन्तर यह सुनकर वे बोले—राजा की एक बात सुनें: हमें वाक्सिद्धि प्राप्त है। आपके संग से वह तथ्य का आधार-स्वरूप होगी॥28॥

इतने समय तक फिर पिता का ही नाम होगा। अगल-बगल के लोगों के सिद्ध होने पर हम भी सिद्ध हो जायेंगे, अन्यथा नहीं॥29॥

यह सुनकर उन्होंने बहुत सम्मानपूर्वक उनकी बात मान ली। वह अपने नगर में लौट आयेंगे, इसलिए इस सम्बन्ध में चिन्ता न करें॥30॥

वह महाबोधपुर में बहुत सारे बौद्धों को शास्त्रार्थ में जीतकर गोपालगिरि आ गये। वहाँ भी राजा ने उन्हें सम्मानित किया॥31॥

उन्होंने परम वादियों को भी जीत लिया था, इसलिए राजा ने उनको वर्षपूर्वक छत्र तथा चँवर जैसे दो राज-चिह्न प्रदान किये॥32॥

अनन्तर लौटकर अपनी भूमि पर आये हुए वह नागपुर नगर में ठहर गये और उन्होंने वहाँ प्रभावना की॥33॥

भक्तियुक्त राजा सिद्धराज को जब यह जानकारी हुई, तब उन्होंने राजा गोपगिरि द्वारा समर्पित परिच्छद (साज-सामान) भेजा॥34॥

वहाँ से सूरि धीरे-धीरे संयमपूर्वक विहार करने चले गये और अणहिल्लपुर के निकटवर्ती 'चारूपग्राम' आ गये। अनन्तर राजा जयसिंह ने उनकी अगवानी की और देवों के द्वारा भी पहले नहीं देखा गया (भव्य) प्रवेशोत्सव आयोजित किया॥35-36॥

2. अनन्तर वहाँ वादिसिंह नाम के सांख्यवादी का आगमन हुआ। उन्होंने इस प्रकार के दुर्घट श्लोक लिखा हुआ पत्र प्रदान किया॥37॥

पत्र का लेख इस प्रकार था -

उद्धृत्य बाहू किल रारटीति यस्यास्ति शक्तिः स च वावदीतु।

मयि स्थिते वादिनि वादसिंहे नैवाक्षरं वेत्ति महेश्वरोऽपि॥38॥

अर्थात्, भुजा उठाकर चिल्लाता है, जिसे शक्ति है, वह हमसे शास्त्रार्थ करे। मेरे जैसे वादसिंह के वादी रहने पर महेश्वर भी एक अक्षर नहीं जानते हैं, अर्थात् वह भी वाक्शक्ति से रहित हो जाते हैं॥38॥

श्रीमान् योगीश्वर कर्ण महाराज मेरे बालमित्र हैं। उनका नाम गोविन्दाचार्य है। वह वीराचार्य के कलागुरु हैं॥39॥

रात्रि में, एकान्त में छद्म वेश धारण कर राजा आये और बोले—क्या यह भिक्षु भी पूज्यों द्वारा प्रतीक्षित है?॥40॥

आचार्य बोले—राजन्! आपकी बात को ही यहाँ देखकर सुबह में वीराचार्य शास्त्रार्थ करते हुए आपको पराजित करेंगे॥41॥

प्रसन्न होकर राजा ने सुबह में राजसभा में उन्हें (वीराचार्य को) बुलाया। तब उन्होंने निःस्पृहता और दम्भपूर्वक शान्तभाव से यह कहा—॥42॥

हम निरासक्त क्यों आयेगे? राजा यदि हमारी बात में कौतुक रखते हैं, तो वही पैदल यहाँ आयेँ॥43॥

सुबह कुतूहलयुक्त राजा आचार्य की बात स्वीकार कर उनके आवास में पैदल आये और धरती पर ही बैठे॥44॥

सूरि-सभा के सदस्य गोविन्द सूरि को बुलाया गया। वह दूसरे सशरीर थोड़े से विद्वान् के समक्ष उपस्थित हुए॥45॥

गोविन्दसूरि ने अपनी महाप्रज्ञा द्वारा अनेक शास्त्रों का ज्ञान अर्जित किया था। उन्होंने अपने कवित्व और वक्तृत्व के प्रयोग से वीराचार्य को पीछे छोड़ दिया॥46॥

तभी वहाँ राजा आये और वह कम्बल के आसन पर बैठे और बोले— इस वादी के साथ इन विद्वानों में कौन शास्त्रार्थ कर सकता है?॥47॥

श्रीगोविन्दप्रभु ने कहा—अनौचित्य के ज्वर से ग्रस्त यह (वीराचार्य) शास्त्र-समुद्र की नौकासदृश बुद्धि से युक्त हैं। यह अज्ञ के साथ बोलने से लज्जा अनुभव करते हैं। क्योंकि वह (वादी) शिशु-रूप विद्वान् हैं। वीराचार्य प्राज्ञ पुरुष हैं, वही बोलेंगे। यह सुनकर वादी ने कहा— दूध की गन्ध अब भी इनके मुँह में है, अर्थात् यह दुधमुँहा सरल व्यक्ति मेरे साथ क्या बात करेंगे? यह वाग्युद्ध समानान्तर नहीं है। इसलिए हमें यह शुभ नहीं प्रतीत होता है॥48-50॥

राजा ने कहा— इस दूधवाले कण्ठ से निकली बात अर्थ के अमृत की सुगन्ध

से भरी होती है। वह इस (अमृत) से आपके मद-रूप धतूरे के नशे को दूर कर देंगे॥51॥

यह सुनकर उन्होंने अवज्ञावश हथेली पर सिर रखकर तर्क से उत्पन्न संन्यास की मुद्रा धारण कर ली॥52॥

उनके मौन हो जाने पर विद्वानों के प्रभु श्रीवीर ने कहा—गद्य या पद्य के माध्यम से कहूँ, जो आपके मन को भाये॥53॥

आप स्वेच्छापूर्वक मेरे समक्ष छन्द और अलंकार की फरमाइश करें। सर्व-अनुवाद या अर्थानुवाद, जो चाहें, जल्दी कहें॥54॥

यह सुनकर उसने पुनः कहा— मेरे समक्ष गुर्जरदेशीय आडम्बर नहीं किया जाय। आप यहाँ क्या मुझे बालक समझते हैं?55॥

यदि आपमें शक्ति है, तो पद्य या मतमयूर छन्द में ही कहें। या फिर अपहृति अलंकार का माध्यम स्वीकार करें॥56॥

या फिर सर्व-अनुवाद का ही आश्रय लेकर कहें। यह सुनकर वीर प्रभु ने उससे कहा—उठे हुए आसन पर आप स्थित होकर सावधानी से सुनें॥57॥

हम वाग्देवी की अवहेलना नहीं करेंगे। आधा लेटा हुआ वह वाद सुनकर उठ बैठा॥58॥

वाग्वीर वीर द्वारा यथापूर्वोक्त रूप में उपन्यस्त विषय को सुनकर उसका उन्नत बुद्धिबल द्रवित हो उठा॥59॥

श्रीवीर के कथन करने से विरत होने पर उसका अर्थानुवाद करते समय वह बोला—सबका अनुवाद कहें॥60॥

मैं समर्थ नहीं हूँ, ऐसा राजा वादिसिंह ने कहा। तब (वीर ने) स्वयं बाँह पकड़कर उन्हें जमीनपर पटक दिया और कहा—कहने में असमर्थ हैं तो ऊँचे आसन पर क्यों बैठे हैं? पुनः उसने कविराज श्रीपाल का वाक्य कहा, जिसका अर्थ है—॥61-62॥

मनुष्य गुण से ऊँचा होता है, न कि ऊँचे आसन पर बैठने से। महल की छत पर बैठा हुआ कौआ क्या गरुड हो जाता है?॥63॥

तदनन्तर उन (राजा) को परेशान देखकर श्रीवीर ने कहा—राजन्! मेरी बात सुनें: प्राणी दर्प से जीता है। हे राजन्! आप शुद्ध न्याय के प्रति एकनिष्ठ बुद्धिवाले हैं। सभाध्यक्ष के रूप में जाने जाते हैं। आप वर्णाश्रम के गुरु (स्वामी) हैं॥64-65॥

अपने मुख-कमल में स्थिर आवास प्रदान करने में आपकी गृहदेवी अतिशय प्रीत हुई हैं। किन्तु यहाँ कोप की भूमि देवी ने आपकी वाणी मन्द कर दी है॥66॥

वाग्युद्ध में हमारा यह समय पहले से ही रूढ़ (प्रसिद्ध) है। निगृहीत होता हुआ वादी प्रतिवादी द्वारा संरक्षणीय है॥67॥

इसलिए, हे श्रीमन्! यह मदान्ध है। कृपा के पात्र इसे मुक्त कर दें। यह सुनकर राजा ने उसे मुक्त कर दिया। तब वह बाहर चला गया॥68॥

तब, जयपत्र के अर्पण से उसका उत्कृष्ट तेज आयत्त कर लिया गया, किन्तु निःस्पृहता के कारण उसने द्रव्य (धन) का स्पर्श तक नहीं किया॥69॥

3. एक दिन गुर्जर-नरेश जय-यात्रा में चले तो उनकी चतुरंग सेना (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल) ने सूर्य को धूल से ढक दिया॥70॥

श्रीवीराचार्य के चैत्य के आगे राजा जब चल रहे थे, तभी विख्यात कविश्रेष्ठ उन्हें देखने पहुँचे॥71॥

क्रम से राजा सिद्धाधीश भी वहाँ पहुँचे। उन्हें देखकर कवि ने कोई समस्या-पद कहा॥72॥

उसे उद्दिष्ट कर राजा ने कवि वीराचार्य पर अपनी नजर डाली। तब उस कृती कवि ने शीघ्र ही अनायास समस्या की पूर्ति कर दी॥73॥

समस्या-पूर्ति का अर्थ इस प्रकार है—

हे नदी यमुने! कहो, मैं अगस्त्य ऋषि का समुद्र हूँ, मेरे शत्रु का नाम किसलिए लेती हो? मैं नर्मदा हूँ, तुम भी मेरी सौतिन का नाम लेती हो तो मालव-निवासिनियों के निरन्तर बहते हुए काजल से मलिनता किसलिए है? इनके अश्रुजल से क्या हो गया कि गुर्जर-नरेश चल पड़े?॥74॥

यह सुनकर राजा ने कहा—आपकी इस सिद्ध वाणी से मैं मालव-नरेश को पकड़ लूँगा, इसमें, मेरे मन में कोई सन्देह नहीं है॥75॥

आपके राजद्वार पर स्थित रहने से मेरे द्वारा शत्रु का निग्रह अशिष्टता होगी। तो, यह विजय-पताका वहाँ दृढ़ता से फहरे॥76॥

तो, श्रीभावाचार्य के चैत्य के द्वार पर यह पताका फहरे। महान् लोग जो काम करते हैं; उसका विनाश चिरकाल तक भी नहीं होता॥77॥

4. कमलकीर्ति नाम के वादी दिग्म्बर योगिराज थे। वाद (शास्त्रार्थ) की मुद्रा में वह पधारे। उन्हें अन्य विद्वान् भी जानते थे॥78॥

जीभ की खुजलाहट से पीड़ित उन्होंने विद्वानों के युद्ध में ब्रह्मास्त्र-स्वरूप वीराचार्य को सिद्धराज की निवास-भूमि में बुलाया॥79॥

वह पाँच वर्ष की बालिका अपने साथ लेकर आये। उस वादी को अवज्ञापूर्वक देखकर आसन पर बैठे॥80॥

तदनन्तर उन गुरु ने सर्व-सामर्थ्य के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज की। श्रीवीराचार्य मानो कौतुक के खयाल से उस बालिका के साथ खेलने लगे॥81॥

वादी उसे देखकर बोला— राजन्! बालक्रीड़ा के वैपरीत्य से युक्त आपकी सभा विद्वानों के योग्य नहीं है॥82॥

राजा ने कहा—यह पण्डितराज अपने प्रमाण के अनुसार क्रीड़ा करते हैं। यह कहकर राजा ने वीराचार्य पर नजर डाली और मुस्कराते हुए बोले— ॥83॥

समान वयवालों के साथ वाद होना चाहिए, यह विचार कर ही मैंने इस बालिका को मान दिया, जिसे अभी कपड़ा पहनने का भी शऊर नहीं है॥84॥

यह दिग्म्बर वादी भी नग्नता के कारण बच्चा जैसा ही दिखते हैं। इन दोनों का वाद हमारे लज्जाभाव से हो। स्त्री-निर्वाण के निषेध के कारण इससे उनका विग्रह (वाद) उचित है। तो यह वाद-मुद्रा से इसे जीत लेंगे॥85-86॥

योगिराज ने उस (बालिका) के माथे पर स्पर्श-रहित हाथ रखकर उससे कहा—
इस वादी से कहो कि वह स्त्री के निर्वाण की बात को सिद्ध करें॥87॥

तब उस बालिका ने निपुण और अधीत प्रामाणिक विद्वानों की तरह, उस वादी के लिए अशक्य, स्थिर उत्तर की बातों से (स्त्री-निर्वाण को) स्थापित कर दिया॥88॥

वादी के गूँगा-बहरा और मन से सन्त्रस्त जैसा हो जाने पर सभासदों का और राजा का भी जयघोष गूँजने लगा॥89॥

राजा ने कहा— मेरी सभा में प्रतापी प्रभु तथा अनेक सिद्धियों में सिद्ध वादिवीर श्रीवीराचार्य के रहते कौन विजयी हो सकता है?॥90॥

जिसके हाथ के स्पर्श से जहाँ-तहाँ वाग्देवी संक्रान्त हो अनवरत बोलती रहती है; उसका वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है?॥91॥

इस प्रकार, युगप्रधान की आभा और गुण से बुने गये कपड़े के जैसा तथा भव्यों की जड़ता के विनाशक श्रीवीरसूरि हमारी रक्षा करें॥92॥

श्रीमान् कालकसूरि की अद्भुत प्रभा अनिर्वचनीय है। आज भी जिसके कुल में ये वीर पहले के वीरों को भी उद्भासित करते रहे हैं॥93॥

श्रीचन्द्रप्रभ सूरि के पट्ट (गद्दी)-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र श्री प्रभाचन्द्र सूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न सूरि द्वारा विवेचित श्रीवीर का अद्भुत वृत्तान्त-रूप बीसवाँ शिखर समाप्त हुआ॥94॥

॥ श्रीवीराचार्यसूरि-प्रबन्ध (चरित) समाप्त ॥



श्रीवादिदेवसूरिचरित

श्रीदेवसूरि आपकी रक्षा करें, जिन्होंने दिगम्बर को आक्रान्त कर स्त्री की भी कीर्ति की सिद्धि के मूल सामर्थ्य को प्रतिष्ठित किया॥1॥

देवाचार्य केवल ज्ञानवालों के लिए कल्याणकारी हों, जिन्होंने भोजन का त्याग कर शासन में सुख-शान्ति की स्थापना की॥2॥

जिनका मुख जीवितों के लिए नित्य नवीन है तथा जीवन-पर्यन्त जिन्होंने मध्यम मार्ग से कल्याण और उदय की कामना की तथा जो अनन्त भय के प्रति विद्रोही बने रहे, उनको हम स्तुति करते हैं॥3॥

भ्रमणशील संवर्तक (इस नाम का मेघ) की जैसे भ्रम और दुश्चारित्र की धूल को शान्त करने में दुर्निवार मेघ जैसी जिनकी शोभा है, उनके चरित्र का मैं वर्णन करता हूँ॥4॥

1. गुर्जर देश का, नवनीत (मक्खन) की तरह मथकर निकाला हुआ 'अष्टादशशती' नाम का स्वर्गखण्ड जैसा 'मण्डल (जिला)' है॥5॥

वहाँ 'मड्डाहत' नाम का नगर है, जो पर्वत-श्रेणियों से घिरा हुआ अन्धकार की तरह महादुर्ग है, जो सूर्य की रोशनी के लिए भी अगम्य है, अर्थात् जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँच पाती हैं॥6॥

वहाँ वीरनाग नाम का गृहस्थ था, जो प्राग्वाट-वंश का मुक्ता-स्वरूप था। वहाँ सच्चरित्रों का जीवन छाया रहता था और वह अपने तेज से राजसम्मानित था॥7॥

उसकी पत्नी जिनदेवी हिमालय की पत्नी मेना की भाँति सुशोभित थी; वह सत्कार्यों का आधार तथा प्रिय लगनेवाले गुणों की भूमि थी॥8॥

एक दिन उसने स्वप्न में देखा कि उसके मुख से पृथिवी पर अवतार लेने की इच्छा से देवता प्रवेश कर रहे हैं। उसके वंश में श्रीमुनिचन्द्र सूरि रहते थे, जिनके नामाक्षर शान्ति-मन्त्र के अन्त में उच्चरित होते थे॥9-10॥

प्रातःकाल सत्त्व से सम्पन्न वह उन सूरि के पास गई और उसने उन प्रसन्नहृदय आचार्य से अतिशय-स्पर्शी स्वप्न के बारे में पूछा॥11॥

तुम्हारे उदर में चन्द्रमा-स्वरूप कोई देव अवतरे हैं, जो विश्व को आनन्दित करनेवाले होंगे— ऐसा उन मुनि ने कहा॥12॥

अनन्तर, समय पर उसने हीरे जैसी कान्तिवाले पुत्र को जन्म दिया, जिसके तेज से भिदने के डर से कलि-रूप पर्वत काँप उठा॥13॥

हृदय को आनन्दित करनेवाला वह पुत्र क्रमशः संवर्द्धित होने लगा। उसकी माँ ने स्वप्न में चन्द्रमा देखा था, इसीलिए पिता ने उसका नाम पूर्णचन्द्र रख दिया॥14॥

किसी दिन उस नगर में जन-संहार का अकल्याण आ पड़ा, जिस कारण लोगों के लिए दृश्य अदृश्य में बदलने लगा॥15॥

वीरनाग इस स्थिति को विचार कर दक्षिण दिशा की ओर लाट देश के अलंकार-स्वरूप भृगुकच्छपुर (भड़ौच) पहुँच गया॥16॥

श्रीमुनिचन्द्रसूरि तीर्थ में विहार करने चले गये। उनके आदेश से समानधर्माओं ने वीरनाग को वहाँ ठहरा लिया॥17॥

वीरनाग का पुत्र आठ वर्ष की उम्र में शैशवोचित सुखपूर्वक बैठकर किया जानेवाला वाणिज्य-व्यापार करने लगा॥18॥

वित्त (धन) की चिन्ता के योग्य महलों में खिलते हुए चने के समान या कुशयुक्त स्थिति में भी दाख के समान पुण्य जागरित रहता है॥19॥

एक दिन वीरनाग व्यंजन (सब्जी) की बिक्री के लिए किसी घर में गया। वहाँ गृहपति को पेटी से द्रम्भ (सिक्का-विशेष) और सोना निकाल कर फेंकते हुए देखा॥20॥

भव के अभाग्यवश चिकने घट में अंगार-रूप कंकड़ को देखा तो पूर्णचन्द्र ने अतिशय विस्मित होकर कहा-॥21॥

मनुष्य के लिए संजीवन औषध के समान महाद्रव्य को क्यों त्यागते हो? यह कहने पर गृहस्थ ने मन में सोचा- ओह यह तो पुण्यवान् है॥22॥

हे वत्स! इस द्रव्य को बाँस के बरतन में डालकर मुझे अर्पित कर दो। तब ऐसा कहने पर उसने बरतन में सिक्कों को भरकर उसे दे दिया॥23॥

उसने उसके हाथ के स्पर्श के माहात्म्यवश द्रव्य को (कुछ और रूप में) देखा। पाप और पुण्य में ऐसा प्रत्यक्ष अन्तर दिखाई पड़ता है॥24॥

उसने द्रव्य को इस प्रकार भीतर घर में फेंककर सबको सुरक्षित रख दिया। सुख आदि के लिए उसने एक पसर द्रव्य उसे (पूर्णचन्द्र को) भी दे दिया॥25॥

हर्षपूर्वक वह द्रव्य पिता को भी दिया। तब वीरनाग ने प्रभु का यह वृत्त यथायथ रूप में कहा॥26॥

तब उसने (पिता ने) सोचा- क्या यह उत्तम पुरुष है? जिसे लक्ष्मी अपने स्वरूप को दिखाने की अभिलाषा रखती है॥27॥

तब क्या खिलते कुमुद पर छाये, उगे हुए चन्द्र की किरण का फैलाववाले यदि सूर्य भी शिक्षणीय हैं, तो इनकी अनन्त उन्नति सम्भव है?॥28॥

तदनन्तर वे बोले-हमारी बात सुनें, जो आपके लिए शुभकारक है। किसी को जो कुछ प्राप्त होता है, वह भक्ति से ही सम्भव होता है॥29॥

उन्होंने कहा-हे नाथ! गुरुता धारण करनेवाले पूज्यों के कुल में मैं ही एक जीर्ण पुत्र हूँ। यहाँ जीने की मेरी आस्था (बलवती) है॥30॥

मैं किसी प्रकार के व्यवसाय में भी समर्थ नहीं हूँ। मेरी माँ मुझ जैसे पुत्र के मर जाने पर दूसरा कोई पुत्र नहीं प्रसव कर सकती, तो मैं कहूँ तो क्या?॥31॥

यहाँ फिर किसी पूज्यवाद का मेरे लिए आग्रह भी नहीं है। विचारणीय है, इस पुत्र को स्वीकार कर लें॥32॥

प्रभु ने कहा— चरित्रवानों के समूह में मेरा पाँच सौवाँ स्थान है। एक तुम्हें छोड़कर सभी तुम्हारे पुत्र हों॥33॥

ये सभी सधर्मी आजीवन तुम्हारे पोषक हों। तुम निश्चिन्त होकर परलोक के लिए एकमात्र सम्बल-स्वरूप धर्म का ध्यान करती रहो॥34॥

जैसा आदेश हो, तदनुसार उसका पालन करनेवाली उसकी माँ को अनुमान कर प्रभु ने दृढ़भक्तिवाले पूर्णचन्द्र को सम्यक् दीक्षा प्रदान की॥35॥

2. (दीक्षित होने पर) प्रभु ने आनन्दपूर्ण आकृतिवाले उसका नाम रामचन्द्र रखा। यह दर्शन के प्रति उल्लास रखता था तथा संध-रूप समुद्र की वृद्धि करनेवाला भी था॥36॥

जिसकी प्रज्ञा दुर्बोधता-रूप कलंक के निवारण-रूप उपकार करनेवाली है, दुर्ग-रूप शास्त्रों को वचन-गोचर करनेवाली भी वह क्या? और वह तर्क, लक्षण और साहित्य की विद्या का पारंगत है। अपने और पर के सिद्धान्त में उसकी वर्तमान भूमिका कसौटी-स्वरूप है॥37-38॥

धन्ध ब्राह्मण ने धवलकपुर में शिवाद्वैत का प्रवचन किया। कश्मीरवासी सागर ने सत्यपुर में शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त किया॥39॥

उसी प्रकार नागपुर में दिगम्बर विद्वान् गुणचन्द्र को परास्त किया। फिर, चित्रकूट में शिवभूमि नाम के भागवत मनीषी को पराजित किया। इसी तरह गोपगिरि में गंगाधर, धारा नगरी में धरणीधर, पुष्करिणी में वाद-मद के धुरन्धर पद्याकर विप्र, भृगुक्षेत्र में ब्राह्मणश्रेष्ठ कृष्ण नाम के विद्वान् एवं इस पृथ्वी पर वाद में विजयोन्मुख रामचन्द्र जैसे वादकुशल मनीषी हुए॥40-42॥

विद्वान् विमलचन्द्र, प्रभा की निधिस्वरूप हरिश्चन्द्र, विद्वत्कुल के भूषण सोमचन्द्र और पार्श्वचन्द्र, प्राज्ञवर शान्तिचन्द्र तथा चन्द्रमा के समान उल्लसित यशवाले अशोकचन्द्र ये सभी मेरु के लिए कुलपर्वत जैसे इनके (धन्ध के) मित्र हुए॥43-44॥

तदनन्तर मनीषी रामचन्द्र को तथा देवदत्त सूरि नाम के विद्वान् को पद पर प्रतिष्ठित किया॥45॥

पुनः वीरनाग नाम के पिता को व्रत प्रदान किया। फिर, पहले व्रत की मुद्रा और अमुद्रा के महाव्रतों से महत्तर प्रतिष्ठा को प्राप्त एवं पाप को दूर करनेवाली बहन को प्रतिष्ठित किया, जिसको हर्षपूर्वक श्रीमती चन्दनबाला नाम दिया॥46-47॥

3. एक दिन गुरु से आज्ञा-प्राप्त पूज्य श्रीमान् देवसूरि धवलक नाम के नगर में विहार करने लगे॥48॥

वहाँ उदय नाम का गृहस्थ था। वह धार्मिकों के अग्रणी के रूप में जाना जाता था। उसने सीमन्धरस्वामी की प्रतिमा का निर्माण करवाया॥49॥

तदनन्तर उसने उनकी प्रतिमा की प्रतिष्ठा-विधि से सद्गुरु का चुनाव किया और तीन दिन उपवासपूर्वक श्रीमती शासनदेवी की आराधना की॥50॥

उन शासनदेवी ने आदेश किया कि युगप्रधान स्वरूप श्रीमान् देवसूरि से मेरी अपनी प्रतिमा की प्रतिष्ठा करावें॥51॥

तब, उनकी इच्छा के अनुसार प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई गई। 'ऊदावसति' नाम का वह चैत्य आज भी विद्यमान है॥52॥

4. अनन्तर, एक दिन नागपुर में प्रभु विहार करने की इच्छा से अर्बुद गिरिश्रेष्ठ पहुँचे और उत्कण्ठित होकर उन्होंने उस पर्वत पर आरोहण किया॥53॥

गुरु के साथ पहाड़ पर चढ़ते समय, कर्म की विचित्रतावश, मन्त्री अम्बप्रसाद के पैर में साँप ने डँस लिया॥54॥

यह जानकर (प्रभु ने) उसके निमित्त पैर धोने के लिए जल भिजवाया। उस जल से पैर धोते ही दंश विषमुक्त हो गया॥55॥

तब, उन्होंने संसार-सागर से उद्धार करनेवाले श्रीनाभिपुत्र आदिनाथ को नमस्कार कर प्रत्यक्ष शासनेश्वरी श्रीमती अम्बा को सन्तुष्ट किया॥56॥

वह (शासनदेवी) बोली—अतिशय सम्मानपूर्वक तुम्हें कुछ कहती हूँ। तुम मेरी बात मानकर सवा लाख (कोश) से अधिक दूर मत जाना॥57॥

तुम्हारी पूर्ण आयु आठ महीने और आठ दिन की है। इसीलिए अणहिल्लपुर से बहुत जल्दी लौट आना॥58॥

यह कहकर देवी अन्तर्हित हो गई। तब प्रभु ने सोचा— यह देवी माँ मेरी माँ की तरह ही मुझपर वात्सल्य-भाव रखती है। ओह! यह अवश्य ही बड़ी बात है॥59॥

जब लौटकर आये, तब उन्होंने पूज्यपुर में देवी की बात को कहा। और, अपने समय के ज्ञान से अपार आनन्द प्राप्त किया॥60॥

5. एक दिन भागवत दर्शन करनेवाला तथा अनेक वादों में विजयी होने की मनोवृत्ति से प्रसन्न देवबोध नाम का व्यक्ति श्रीसम्पन्न पत्तन में आया॥61॥

उस महा अभिमानी ने राजद्वार पर एक कागज चिपका दिया। उसमें उस पण्डित ने दुर्बोध्य श्लोक लिया॥62॥

श्लोक इस प्रकार है —

एक द्वित्रिचतुःपञ्च षण्मेनकमने न काः।

देवबोधे मयि क्रुद्धे षण् मेनकमनेनकाः॥63॥*

तनन्तर सभी विद्वानों ने सूर्य के समान इस श्लोक को देखकर अपनी दृष्टि घुमा ली। इसका अर्थ सुधी जनों के लिए भी दुर्बोध था॥64॥

तब, छह महीने के बाद अम्बाप्रसाद ने राजा के समक्ष विज्ञ जनों के अधिपति प्रभु

* [द्र० : मूल पुस्तक में इस श्लोक की गहन और लम्बी व्याख्या गद्य में उपन्यस्त है, जिसकी यहाँ प्रस्तुति अनपेक्षित एवं अप्रासंगिक है। —अनु०]

देवसूरि को यह श्लोक दिखलाया॥65॥

व्याख्या को विस्तार देनेवाली बुद्धि के निधान उन्होंने कुलथी के जल (की कुल्ली) से भरे हुए गाल-रूप पर्वत के सदृश श्लोक को राजा के समक्ष रखा। राजा ने उन्हें मित्र के समान ही अनुमत किया॥66॥

6. कोई 'थाहड' नामक के धनी और धार्मिकों में अग्रणी पुरुष थे। गुरु-चरणों में प्रणाम निवेदित कर उन्होंने विज्ञापना की॥67॥

कोई ऐसा अतिप्रशंसनीय कृत्य का आदेश करें, जिसमें धन का व्यय किया जाय। प्रभु ने कहा— जैनालय में द्रव्य का व्यय सफल होगा॥68॥

आदेश के बाद उन्होंने जिनालय का निर्माण कराया। वह जिनालय मेरुगिरि जैसा उज्ज्वल और ऊँचा था तथा उसका कलश महामणि से परिदीप्त था॥69॥

श्रीमान् वर्द्धमान तीर्थंकर की अद्भुत प्रतिमा (उस जिनालय में) प्रतिष्ठित हुई, जिसके तेज से चन्द्रमा, सूर्य और कान्तमणि की प्रभा मन्द पड़ गई॥70॥

विक्रमाब्द के 1115 वर्ष के बीतने पर श्रीमुनिचन्द्र सूरि श्रेष्ठ आराधना-विधि तथा प्रायोपवेशन करके शान्तिरूप अमृत की लहरों से आप्लावित होकर स्वर्ग चले गये॥72॥

एक वर्ष पूरा होने पर श्रीदेवसूरि ने श्रीवीर की (प्रतिमा की) प्रतिष्ठा की, जिसे थाहड ने हर्षपूर्वक सम्पन्न करवाया॥73॥

7. अनन्तर श्रीमान् प्रभु देवसूरि नागपुर चले गये। वहाँ श्रीमान् राजा आह्लादन भी आ गये॥74॥

साथ आये भागवतेश्वर ने प्रभु को प्रणाम किया। देवबोध ने आर्य आचरणवाले प्रभु के लिए यह आर्य कही-॥75॥

यो वाविनो द्विजिह्वान् साटोपो विषममानमुद्विगरतः।

शमयति स देवसूरिर्निद्रवन्द्यः कथं न स्यात्॥76॥

अर्थात्, रोषयुक्त फुफ्फुकारवाले तथा अपरिमित विष उगलते साँप जैसे वादियों को जो शान्त कर देते हैं, वह देवसूरि वन्दनीय कैसे न हों॥76॥

इस प्रकार उन्होंने नगर के मध्य महाभक्तिपूर्वक जैनालय स्थापित किया, जिसके मूल उद्देश्य के तत्त्वार्थ की जानकारी राजा को दी गई। इसके बाद वह (देवसूरि) भव्यों को बोधित करने लगे॥77॥

अनन्तर श्रीसिद्धराज ने नगर की नाकेबन्दी कर दी। वहाँ देवसूरि को टिका हुआ जानकर उन्हें भी घेर लिया॥78॥

उन मित्र के मध्य में रहने के कारण उन्हें दुर्ग में लाया नहीं जा सकता था। यह सोचकर राजा ने भक्तिपूर्वक प्रभु को श्रीपत्तन में बुलवाया॥79॥

उन्हें वर्षाऋतु में रोककर आश्विन मास में आमन्त्रित किया। श्रीमान् सिद्धराज ने शीघ्र ही परकोटे का निर्माण कराया॥80॥

8. अनन्तर एक दिन 'कर्णावती-संघ' ने उत्कण्ठित होकर महाभक्तिपूर्वक चातुर्मास के लिए प्रभु को आमन्त्रित किया॥81॥

तदनन्तर वहाँ संघ के आदेश से सम्मानित पूज्य जनों ने शुद्ध उपाश्रय प्राप्त कर डेरा डाल दिया॥82॥

अरिष्टनेमि के भवन में व्याख्यान आयोजित हुआ, जिसके श्रवण से अनेक अज्ञजनों ने बोध प्राप्त किया॥83॥

इधर दक्षिणदेशवासी राजा श्रीकर्णाट के गुरु श्रीसिद्धेश के जन्मदाता पिता श्रीजयकेशिदेव के निकट आये। वहाँ वादियों के चक्रवर्ती दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र नाम के थे। वह अनेक वादियों के विजेता थे। वादियों के प्रतिरूप कठपुतलियों के समूह को बायें पैर में वहन करते थे। वह बराबर गर्व के पर्वत की अधित्यका (ऊर्ध्वभूमि) पर रहते थे। वह जैन थे तथा जैनमत के विद्वेषियों के लिए अहंकार-पूर्ण साँप का पिटारा थे। वर्षाकाल के निर्वाह के लिए वह श्रीवासुपूज्य तीर्थंकर के चैत्य में टिके थे तथा श्रीदेवसूरि के धर्म-प्रवचन के प्रभाव के प्रति असहिष्णु हो उठे थे॥84-87॥

अपनी दानशीलता के प्रति प्रशंसामुखर कराते हुए वन्दी-समूह को उन्होंने मरवा दिया तथा शान्तिपुरुषों में श्रेष्ठ उन सूरि को अपनी बातों से उद्दीप्त कर दिया॥88॥

वैतालिकों के अधिपति ने धार्मिकों की सभा के बीच प्रवेश कर स्तुति करते हुए, क्रोध को भड़काने के निमित्त उनके लिए काव्य (श्लोक) का पाठ किया॥89॥

जिनकी बुद्धि को पद्य और गद्य में पारदर्शी देखकर वीणा-पुस्तकधारिणी सरस्वती उनका पार न पाकर विस्मित हो गई॥90॥

तो उनके ब्रह्म (ज्ञान) के विषय में सोचकर उनके परम उपासक आस्तिक श्वेताम्बर परम आनन्दित क्यों नहीं हों॥91॥

कहा गया है-

हे श्वेताम्बर! यह क्या? विकट रोषपूर्ण (चुभनेवाली) उक्ति से अच्छी तरह टंकितों द्वारा संसार-रूप बरगद के अति विषम कोटर में सीधे-सादे लोगों का डाला जाता है। तत्त्व और अतत्त्व के विचार में यदि आपको लेशमात्र भी उत्कण्ठा है तो सचमुच, कुमुदिनी-पति चन्द्रमा के दोनों पैरों का रात-दिन ध्यान करें॥92॥

अनन्तर देवसूरि के 'माणिक्य' नामक श्रेष्ठ वाक्चतुर शिष्य ने रोष प्रकट करते हुए दर्शन के प्रतिकूल बात कही॥93॥

जैसे-सिंह की गरदन के केसर की जटा के भार को पैर से कौन छू पाता है? सान चढ़ाये गये छुरे से आँख के कोटर को कौन खुजलाना चाहता है? सर्पराज के मस्तक पर स्थित रत्न (मणि) को अपने सिर की शोभा बनाने को कौन तैयार होता है? वही, जो इस वन्दनीय श्वेताम्बर-दर्शन की निन्दा करता है॥94॥

शिष्यों में माणिक्य (रत्न)-स्वरूप माणिक्य को देवसूरि ने कहा- यहाँ खरा बोलनेवाले दुर्जन के रहने पर क्रोध का अवकाश (गुंजाइश) नहीं है॥95॥

अनन्तर बन्दिराज ने कहा—यहाँ वादी श्वेताम्बर-रूप चने को खानेवाला घोड़ा जैसा है! श्वेताम्बर-रूप अन्धकार के लिए सूर्य है तथा श्वेताम्बर-रूप मच्छर को भगाने के लिए धुआँ जैसा है॥११६॥

वह प्रभु कुमुदचन्द्र श्वेताम्बर-रूप प्रहसन (नाट्य-विशेष) के लिए सूत्रधार-सदृश हैं। कहें, आपकी बात पर क्या कहा जाय या फिर यहाँ दूसरे वागाडम्बर से क्या होना है?॥११७॥

उन गुरु ने कहा—हमारे दर्शन में अहंकार का संस्कार नहीं है! तो कहें, मेरे भाई के समक्ष एक ही कथ्य है॥११८॥

जैसे—हे दिगम्बरों के शिरोमणि! गुण से विमुख न हों; गुण ग्रहण करने का जो फल है, वह लक्ष्मी-रूप कमल में बसता है; इसलिए घमण्ड का त्याग करें, प्रशम द्वारा संयत अपने गुणों को मूल्य दें; दम मुनियों का भूषण है। वह मद का विरोधी बने॥११९॥

इन मुनि के समक्ष बन्दीश्रेष्ठ द्वारा ऐसा कहने पर उन्होंने वादियों से कहा—प्रशम मूर्ख साधुओं के लिए उत्तर-स्वरूप है॥१२०॥

यह कुछ भी उत्तेजन चित्त को पीड़ित करता है—जिससे तत्त्वतः इस विद्या-रूप कला का मर्म जाना जाता है॥१२१॥

ऐसा विचार कर राजमार्ग पर आये हुए साधु-वृन्द को अपने अद्भुत वैरानुबन्धपूर्ण चेष्टाओं से विसर्जित कर दिया॥१२२॥

इस प्रकार, वहाँ सम्पर्क होने पर सुमेरु के समान अविचल दिगम्बर अपने सामान्य रूप की आभा के साथ चक्रमण करने लगे॥१२३॥

दूसरे दिन उद्यत होकर वह गोचर-चर्या के क्रम में अपने चैत्य के आगे जाती हुई वृद्धा साध्वी को विधित करने लगे॥१२४॥

अनन्तर अन्धकार-रूप वृक्ष की नई कोपल जैसे लम्पट को भेजकर उस वृद्धा को मटके में डालकर उन साहसियों ने नचवाया॥१२५॥

ओह! उस वृद्धा साध्वी को देखने के छल में चाण्डाल रूप वह उसे विडम्बित (परेशान) करता है, इसलिए वह पापी है, ऐसी लोक में उसकी निन्दा होने लगी॥१२६॥

अनन्तर किसी दयालु आदमी ने उसे (लम्पट के चंगुल से) मुक्त करा दिया। तब वह अतिशय गद्गद शब्द (धन्यवाद) करती हुई सूरि के उपाश्रय में चली गई॥१२७॥

सूरि ने पूछा— इसने आपका अपमान क्यों किया? तब बुढ़ापा और क्रोध से भरी उस वृद्धा ने उनके समक्ष घिघियाये हुए स्वर में कहा— ॥१२८॥

हमारे गुरु ने आपको पाल-पोसकर बड़ा किया, पढ़ाया और सूरि-पद पर प्रतिष्ठित किया। तो यह सब क्या निश्चय ही मेरे जैसों की विडम्बना के लिए किया गया?॥१२९॥

यह दिगम्बर है, देखने में बीभत्स है, ऐसा कहकर उन धूर्तों ने राजमार्ग पर जाती हुई मुझे अनाथ जैसी समझकर उपद्रुत (परेशान) किया॥१३०॥

फल न देनेवाले वृक्ष की तरह आपके जैसों की विद्वत्ता और प्रभुत्व से क्या लाभ? हाथ में स्थित अस्त्र से क्या लाभ? यदि उससे शत्रु नहीं मारा जाता॥१३१॥

शान्ति-रूप शीतलता की बड़ी लता का पराक्रम-रूप फल बहुत दृढ़ होता है। राहु अपनी इच्छा से चन्द्रमा को निगलता और उगलता है॥112॥

आज आपका विक्रम-रूप यह काल (समय) आपके पढ़ने का फल है। धान-रूप धन के सूख जाने पर बरसता मेघ क्या करेगा?॥113॥

अनन्तर देवसूरि ने क्रोध से दुस्सह बात कही—हे आर्य! विषाद मत करें। उस दुर्विनीत का पतन हो जायगा॥114॥

आर्य बोली—इस दुर्विनीत का पतन हो या नहीं; लेकिन जिस संघ ने अपना भार आपको सौंपा है, उसका बेंत की तरह पतन अवश्य होगा॥115॥

प्रभु ने कहा— स्थिर होकर यदि देखें तो, मोती में किया जानेवाला वेध (छेद) हमारे गुण के संयोग के लिए ही होगा॥116॥

और फिर वह बोले— हे माणिक्य! मेरी ओर से श्रीसम्पन्न पत्तन-संघ के लिए अतिशय विनय से युक्त विज्ञप्ति लिखें॥117॥

आदेश के बाद उन्होंने स्पष्ट अक्षरों में पत्र लिखा और प्रभु को दिखलाया, फिर बाद में उन्होंने उसका वाचन किया॥118॥

(पत्र इस प्रकार है—)

स्वस्ति। जिन (तीर्थंकर) को नमस्कार कर हम श्रीमान् देवसूरि श्रीसम्पन्न अण्डिल्लपुर में प्रभु को और कर्णावतीपुरी के संघ को भक्तिपूर्वक विज्ञापित करते हैं कि यहाँ विवाद करनेवाले दिगम्बर ने वाद-रूप आश्रव उत्पन्न कर दिया है, इसलिए आप शीघ्र ही यहाँ आ जायें॥119-120॥

सन्देहवाहक हो हाथ में शीघ्र ही वह पत्र सौंपा गया। पत्र लेकर वह तीन पहर में गुर्जरों की राजधानी में पहुँचा॥121॥

संघ ने उस मनुष्य (पत्रवाहक) को भोजन-वस्त्र आदि से सम्मानित किया। और, पत्रलेख का उत्तर सौंपकर उसे शीघ्र वापस भेज दिया गया॥122॥

देवगुरु के पास आकर उसने हर्षपूर्वक संघ का आदेश उन्हें दिया। गुरु ने पत्र को माथे से लगाकर खोला और उसका वाचन करने लगे॥123॥

“स्वस्तिश्री तीर्थनेता को नमस्कार कर श्रीपत्तन से प्रभु ने लिखा है कि कर्णावतीपुरी का संघ परवादियों के जय से ऊर्जित श्रीदेवसूरि को हर्षपूर्वक निवेदन करता है कि हे वादिश्रेष्ठ! आप शीघ्र ही यहाँ पधारें॥124-25॥

और फिर, श्रीवादिवेताल सद्गुरु शान्त्याचार्य के समीप पढ़े हुए महामति शैववादी के विजेता मुनिचन्द्र प्रभु के शिष्यशिरोमणि आप क्या नहीं हैं? इस समय संघ का उदय आपमें ही प्रतिष्ठित है॥126-27॥

तदनन्तर, कौतूहलपूर्वक श्रीसिद्धभूपाल को सूचित कर उनसे कहा—आपके द्वारा किये गये विजय को हम निश्चित ही अपने विजय के रूप में देखते हैं॥128॥

श्रीमन्! तीन सौ सात श्रद्धालु श्राविकाएँ आपके विजय के लिए आचाम्ल व्रत का अनुष्ठान कर रही हैं॥129॥

विघ्नकारी देवों के लघु वैभव के विनाश (प्रतीकार) के लिए श्रीशासनेश्वरी देवी अपने सत्त्व से बल प्रदान करेंगी॥”॥130॥

उन धीमान् विश्ववन्दनीय (सिद्धभूपाल) ने वस्तुस्थिति को जानकर अपने वक्ता को शिक्षित कर वादी के पास भेजा॥131॥

उन्होंने जाकर कहा— वादिश्रेष्ठ देवाचार्य यह कहते हैं कि मैं पत्तन में अपनी इच्छा से जा ही रहा था कि आप आ गये॥132॥

सिद्धराज की सभा में उनके सभासदों को देखें, जिससे आपको स्व और पर की वाणी (वक्तृत्व-प्रतिभा) का प्रमाण मिल जायगा॥133॥

ऐसा ही हो, कहकर उसने दिगम्बर के समीप जाकर कहा कि उसने वह सब कुछ सावधान होकर सुना है॥134॥

‘जाऊँगा’ ऐसा वादी के बोलने पर उसे छींक आ गई, तो उसे अशकुन मानकर गुरु के समीप जाकर उसने कहा— ॥135॥

तब सूरि ने शुद्ध दिन में मेष लग्न में सूर्य के रहने पर तथा चन्द्रमा के सप्तम स्थान में और शत्रुद्रोही राहु के छठे भाव में रहने पर - ॥136॥

प्रयाण करते समय उसके निमित्त शुभ शकुन होने लगे; दाईं आँख स्फुरित होने लगी और सिर भी अधिक प्रस्पन्दित होने लगा॥137॥

नीलकण्ठ पक्षी दिखाई पड़ा; मयूर बोलने लगा और विषमता के निवारक मृग विषम संख्या में दाहिनी ओर जाकर विचरने लगा॥138॥

लोगों ने तीर्थनाथ प्रभु के रथ की पूजा की एवं पूजित प्रतिमा सम्मुख आ गई॥139॥

इस प्रकार के शुभ निमित्तों से मन को शुभ स्थिति का अनुभव होने लगा। इस शुभ स्थिति में अतिशय रूपवान् प्रभु विना किसी रुकावट के पत्तन पहुँचे॥140॥

तदनन्तर उत्कण्ठित संघ ने प्रवेशोत्सव का आयोजन किया। उसी शुभ क्षण में वहाँ लोगों ने राजा सिद्धाधिप को देखा॥141॥

पुनः मगधपति दिगम्बर के समक्ष उपस्थित हुए। और, स्पष्ट शब्दों में उन्होंने श्रीदेवाचार्य का मौखिक समाचार कहा॥142॥

अभिमान का त्याग करें; क्योंकि वह पुरुषों को महान् कष्ट में डाल देता है। पुराकाल में रावण जैसे शलाकापुरुष को भी महान् कष्ट भोगना पड़ा था॥143॥

वैतालिक (स्तुतिपाठक)के ऐसा कहकर रुक जाने के बाद दिगम्बर ने कहा— श्वेताम्बर कथा के जानकार हैं; इनका यही जीवन है॥144॥

मैं तो उनकी कथा को बाद कर केवल वाद (शास्त्रार्थ) से ही प्रसन्न हूँ; जिससे अपने और पर के प्रमाण की प्रतीति होती है॥145॥

उन्होंने राजा के समक्ष एक ही उचित बात कही हैं— वाद की मुद्रा में सम्मिलित होना चाहिए तो, इसे निश्चय ही किया जाना चाहिए॥146॥

आज हम निश्चित ही शीघ्र वहाँ आ रहे हैं। हम प्रस्थान करनेवाले ही हैं— यह कहकर वह सुखासन पर बैठ गये॥147॥

पुनः सम्मुख में ही छींक आ गई, तो विचार किया गया कि यह कफ का विकारजनित शब्द है। मेरे जैसों की उसके प्रति आस्था कैसी?॥148॥

शायद वात से मेरी जीभ में खुजलाहट हो रही है, आदमी से नहीं। वाद में पराजय हो जायगा, इसीलिए छींक हमें रोक रही है॥149॥

जाऊँगा ही, ऐसा कहकर जब वह चलने लगे, तब कालरात्रि के कटाक्ष के समान एक साँप सामने आ गया॥150॥

उस अशकुन की घबराहट से परिवार ने उन्हें रोक लिया और कहा— स्वामी के लिए यह कुशल नहीं दिखाई पड़ता है॥151॥

उन्होंने कहा— पार्श्वनाथ प्रभु के तीर्थ के अधिष्ठाता धरणेन्द्र ने निश्चय ही हमारी सहायता के लिए दर्शन दिया है॥152॥

इत्यादि अशकुनों द्वारा निश्चित रूप से रोके जाने पर भी दिगम्बर अणहिल्लपुर पहुँच गये। वहाँ किसी ने उन्हें प्रवेश कराया॥153॥

9. इधर श्रीदेवसूरि के नगर में प्रवेश करते ही थाहड और नागदेव उनके सम्मुख आ गये॥154॥

उन दोनों ने प्रणाम करके देवसूरि को सूचित किया कि दिगम्बर के पराजय के निमित्त अपनी इच्छा से इसके लिए अर्जित धन हमें दें॥155॥

श्रीदेवसूरि ने कहा—यदि सरस्वती की कृपा से विजय प्राप्त नहीं हुआ तो सत्यप्रतिज्ञ के लिए उत्कोच-रूप संकोच से क्या होगा?॥156॥

अनन्तर थाहड ने कहा—दिगम्बर स्वामी ने और वहाँ के धनाध्यक्षों ने धन व्यय करके गांगिल आदि को वश में कर लिया है॥157॥

प्रभु ने कहा है—देवता और गुरु के जागरित रहनेपर आप सबको बेजगह धन व्यय नहीं करना चाहिए॥158॥

तदनन्तर नगर में आये हुए कुमुदचन्द्र ने श्वेताम्बर की जयान्ति के लिए पत्र का सहारा लिया॥159॥

बीस दिनों तक उपाश्रय के यतियों ने जल और तृण छोड़कर अग्रगामियों से कहलवाया॥160॥

तीन केशव सभ्यतावश उनके पक्ष में रहे। फिर दूसरे भी सभी अग्रदर्शी उनके पक्ष में आ गये॥161॥

थाहड ने राजद्वार पर लटके जयश्री के शृंगार-स्वरूप उनके पत्र को फाड़ दिया॥162॥

श्रीसिद्धाधीश्वर राजा ने श्रीपाल से उस बात को जानकर वहाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों को बुलवाया॥163॥

सभा की व्यवस्था करके गांगिल मन्त्री के लिए उन दोनों के परस्पर सम्बन्ध के स्थापन के निमित्त दूत को शीघ्र भेजा॥164॥

तदनन्तर उन्होंने न्यायालय में श्रीदेवगुरु को बुलवाया। कुछ जाति के प्रत्ययवश मानों विद्वेषपूर्ण भाव से कहा— ॥165॥

जैसे - दाँतों के मलों (मैल) से परिचय होने पर दन्तपंक्ति मजबूत होती है;

भिक्षा के कौर को निगलने की विधि पूरी करके आचाम्ल व्रत से शुद्धि की कामना रहती है; शरीर-शुद्धि के लिए जो जल को साक्षी मानने का कौतुक रखते हैं, वे श्वेताम्बर राजा के समक्ष बोलने का आनन्द लेना चाहते हैं॥166॥

देवगुरु बोले— ब्रह्म-विचार की आसक्ति से युक्त धीवर (मछुए) ही आपके शुद्धाचार के विचार के लिए उपयुक्त हैं॥167॥

लेकिन कहा गया है -

विचार करें, विचारक के जल से पेट-रूप बरतन में स्थित मल के लेशमात्र को भी दूर करना सम्भव नहीं है; ओह! सदा निराकार आत्मा में स्थित उस अपवित्र पाप-रूप कीचड़ को वे किस तरह दूर कर सकते हैं? ॥168॥

माणिक्य ने कहा— इस ब्राह्मण का क्या दोष है, श्रीसिद्धेश ज्ञानी हैं और वह विवेक-बृहस्पति भी हैं॥169॥

संस्कार के सूत्रपात से हृदयात्माओं के शरीर, मन, वचन और कार्यों में अन्यान्य रूप से चार प्रकार होते हैं॥170॥

अकृत्य और कृत्य में सदा समान कर्तव्यता से युक्त ब्राह्मणों में दर्शनों की विडम्बना की प्रधानता रहती है॥171॥

तब, इस प्रकार के ऊहापोह से सम्बन्ध न बन सका। प्रातःकाल सभा में आये सचिव गांगिल से राजा ने पूछा ॥172॥

दोनों वादियों में क्या सम्बन्ध है, यह आपने क्या लिख दिया है? वह बोले— इनकी अपवित्रता से राजसभा की स्थिति आदरणीय नहीं है॥173॥

इसलिए, मैंने इनके सम्बन्ध के विषय में नहीं लिखा। तब राजा बड़वानलवाले समुद्र की तरह अन्तर्हृदय में क्रोधाग्नि से जल उठे॥174॥

इस प्रकार भले और बुरे की मानवीय विशेषता से युक्त आप विद्वान् के लिए व्यय का माध्यम-रूप अलंकार का आरोप उचित है॥175॥

प्रजाओं का गोरा रंग भी काला ही लगता है। इसमें आपका थोड़ा भी दोष नहीं है। यह तो मेरी ही अविवेकता है॥176॥

परन्तु बाह्य दर्शन के विचार से नागरिक होते हुए भी ग्राम्यवत् प्रतीति होती है, इसीलिए, आप अन्तर्मुख न होकर गुणों को दोष बनाकर कहते हैं॥177॥

आपका एक और भाग्य है कि उस ब्रह्मचारी से विवाद करते हुए भी आप उसके शाप से भस्म नहीं हुए॥178॥

इनके सम्बन्ध को सम्मानित कर तथा वाद के समय में हुए वादियों के जय-पराजय को अभी लिखकर आप दे दें॥179॥

उन्होंने राजा के आदेश को लेकर अपने अनुज को भेजा। उन्होंने भी प्रभु की सान्त्वना के लिए वैसा करके उन्हें यहाँ बुलाया॥180॥

प्रभु ने विजयसेन नाम के विद्वान् को वहाँ भेजा। सचिवों का वहाँ जाना उचित नहीं है, इसलिए स्वयं दोनों वहाँ आ गये॥181॥

दिगम्बर यदि परास्त होजाते हैं तो धिक्कारपूर्वक चोर के समान भागते हुए उन्हें पकड़कर नगर से बाहर कर देना चाहिए॥182॥

अनन्तर श्वेताम्बर उनके शासन को अधिकृत कर लेंगे और उनकी दिगम्बरता उच्छिन्न कर उन्हें विस्थापित कर देंगे। उनके यहाँ रहने से क्या होने को है?॥183॥

इस प्रकार लिखकर उसे राजसभा में रख दिया गया। पक्ष में होकर भी उन उन्नत बलवालों द्वारा सम्बन्ध को अनुमत कर लिया गया॥184॥

सिद्धराज ने कवीश्वर श्रीश्रीपाल को भेजा। वात्सल्य की अतिशयतावश उन्होंने प्रभु देवसूरि को उपदेश दिया॥185॥

उन्होंने प्रणाम कर राजा से वाचिक (सन्देश) कहा और उनके समक्ष स्फुरित होते हुए वह बोले—स्वदेश और परदेश में स्थित सभी विज्ञ (विद्वान्) मेरे पूजनीय हैं॥186॥

हैं बन्धु! वादलीला के विषय में आपको वैसा बोलना चाहिए, जिससे देशान्तर मेरे लिए (सदा) जेय, स्थेय (रहने योग्य) तथा श्रेय के लिए हो॥187॥

आपके प्रति मेरे मन की ऐसी दृढ़ स्थिति है कि हमारी सभा जैसे लज्जित न हो, वैसा आपको निश्चित रूप से करना चाहिए॥188॥

अनन्तर देवसूरि ने भी प्रतिवाचिक (प्रत्युत्तर) दिया— हे महाराज! आपका प्रताप विदेशी विद्वानों को भी जीत लेनेवाला है॥189॥

हम उसमें सहकारी हैं, पर मेरा मन काँपता है। फिर भी, गुरु द्वारा उपदिष्ट पक्षों से उस विवादी को हम जीत लेंगे॥190॥

कौन ऐसा विद्वानों का शास्ता है, और उनकी बात में कौतूहल रखनेवाला भी कौन है? आप तो आप ही हैं, अर्थात् अद्वितीय हैं। (आपके बल पर ही) मैं वाद करने को इच्छुक हूँ॥191॥

कवीन्द्र श्रीपाल ने जब यह कहा, तब राजा, देवसूरि के वचनानृत से हर्षित हो गये॥192॥

10. विक्रमाब्द ॥18॥ में, वैशाख पूर्णिमा के दिन वादशाला में उन दोनों वादी-प्रतिवादी को बुलाया गया॥193॥

वादी कुमुदचन्द्र पूरे आडम्बर के साथ आये और छत्र-चामर से शोभित होकर सुखासन पर आसीन हुए॥194॥

प्रतीहार से मुक्त पट्ट पर वह बैठे और बोले— आजतक कोई श्वेताम्बर भिक्षु डर से यहाँ कैसे आते?॥195॥

अनन्तर श्रीदेवसूरि राजासभा में पधारे। अपने बुद्धिबल से गर्वित कुमुदचन्द्र ने कहा— ॥196॥

मेरे वाद की रणभूमि में यह श्वेताम्बर क्या बोले? सम्प्रति इसका शीघ्र पलायन ही उचित है॥197॥

सूरि बोले— मेरे यह बन्धु क्या असत्य बोलेंगे? क्योंकि, यह श्वेताम्बर मेरे वाद की रणभूमि में है॥198॥

वाद-युद्ध में उनका बोलना उनकी सक्षमता है। किन्तु फिर उन्हें अधिकार नहीं है। परन्तु शीघ्र पलायन ही उचित है, ऐसा यह युक्तियुक्त ही बोलते हैं॥199॥

शब्द-खण्डनपरक इस बात को सुनकर पार्षद विस्मित हो उठे। फिर मुस्कराते हुए सोचा— इनका विजय निश्चित है॥200॥

शासन के पक्षधर थाहड़ और नागदेव हर्षपूर्वक वहाँ एकाग्र मन से साथ-साथ आये॥201॥

थाहड़ ने अपने गुरु को जानकारी दी कि सभासदों को द्रव्य (धन) देकर फोड़ लिया गया है— ऐसा मैंने सुना है; तो हम भी निश्चय ही दुगुना धन देंगे॥202॥

अपने शासन में प्रभावना के लिए (जो करणीय है), उसे आदेश करें। अनन्तर गुरु ने कहा—आपको द्रव्य का व्यय नहीं करना चाहिए॥203॥

प्रभु श्रीमुनिचन्द्र सूरि ने आज आदेश किया है कि हे वत्स! स्वप्न में जो बोलना चाहिए, उसका प्रयोग स्त्रियों की मुक्ति के बारे में होगा॥204॥

श्रीशान्तिसूरि ने 'उत्तराध्ययन' की टीका रची है, तदनुसार हम शत्रु को जीत लेंगे॥205॥

सूरि ने यह कहकर राजा के लिए दर्शन-संगत आशीर्वाद के बारे में तथा आनन्द के हेतु और विवादियों के विजय-ध्वज फहराने के बारे में कहा॥206॥

श्वेताम्बर उल्लसित होते हुए स्त्रियों के मोक्ष-पद की बात करते हैं; वह मोक्ष-पद कीर्ति की समृद्धि से मनोहर तथा नय के मार्ग के विस्तार से युक्त तथा सप्तभंगी का आश्रय है, जिससे हस्ती-स्वरूप केवली सदा दूसरे के अहंकार पर पूर्ण विजय प्राप्त करते हैं। हे चौलुक्य! ऐसा राज्य और वैसा जिन-शासन चिरकाल तक जीवित रहे॥207॥

वादी कुमुदचन्द्र ने कहा—अपनी सीमा तक की भूमि के स्वामी तथा विद्वानों के विजय से सुशोभित सिद्धभूपति का आशीर्वाद बना रहे॥208॥

वह आशीर्वाद यह है—

सूर्य जुगनू जैसी आभा के विस्तारक हो जाते हैं; चन्द्रमा पुराने मकड़े के घर जैसी छायावाले हो जाते हैं; और जहाँ पर्वत मशक के समान हो जाते हैं; इस प्रकार वर्णित आपके यश का आकाश स्मृतिगोचर हो जाता है। तदनन्तर हे राजन्! आपके मुद्रित वचन भ्रमर का रूप ले लेते हैं॥209॥

महर्षि 'उत्साह', कलानिधि 'सागर' प्रज्ञा से अभिराम 'राम' ये उन राजा के सभासद थे॥210॥

उन्होंने कहा— यह लिखित बात है कि जहाँ दिगम्बर की क्षति, नारी की मुक्ति और ज्ञानियों की मुक्ति होती है, वहाँ विजय निश्चित है॥211॥

देवाचार्य प्रभा की भूमि हैं और श्रीपाल महाकवि हैं। दिगम्बर के पक्ष में तीन केशव हैं॥212॥

वहाँ महान् उत्साह से सम्पन्न महर्षि उत्साह ने दिगम्बर पार्षदों को देखकर कुछ हास्यगर्भित बात स्पष्ट शब्दों में कही— ॥213॥

सभा में आवृत अंग जैसे दूषण से रहित साधन को दिखलाते हुए इन लुचित केशवाले का 'केवल' केशवत्रय की सभ्यता को प्राप्त करता है॥214॥

महर्षि के सूचित करने पर प्रभु ने कौतुकपूर्वक सम्यक् आदेश किया— प्रयोग करें॥215॥

(देवसूरि ने कहा—) स्त्री-भव में स्थित देही का निर्वाण (मोक्ष) सम्भव नहीं है। सत्त्व की तुच्छता की दृष्टि से जो तुच्छ है, उसकी मुक्ति नहीं होती॥216॥

यहाँ उदाहरण अज्ञ पुरुष है— इसलिए अबला का भव तुच्छ है; क्योंकि अज्ञता के कारण उस (स्त्री-भव) में मोक्ष नहीं है। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह प्रयोग कहा— ॥217॥

तब देवसूरि ने कहा— धार्मिक विशेषण (कथन) असिद्ध है। स्त्री-भव में मरुदेवा ने मोक्ष प्राप्त किया था, यह आगम में मत है॥218॥

यदि आपका यह कथन अप्रसिद्ध है तो अनेकान्त को पढ़ें। उसके मार्ग का अतिक्रमण करके कोई अवधारणा दुर्नय ही है॥219॥

अनैकान्तिकता के कारण आपका हेतु दूषणीय मत है; क्योंकि प्रत्यक्ष आगम की वीक्षिका स्त्रियाँ भी महासत्त्व से सम्पन्न होती हैं॥220॥

सीता आदि स्त्रियाँ आगम में प्रत्यक्ष हैं। साक्षात् महीपति की 'मयणल्ला' नाम की माता सत्त्वधर्म की एकमात्र निधि थीं॥221॥

यह जो व्याप्ति (एक की दूसरे में समानता) है, वह मिथ्या ही है। इस प्रतिव्याप्ति को ढोना कि जो स्त्रियाँ हैं; वे निश्चय ही तुच्छ हैं, यह उचित धारणा नहीं है; क्योंकि उनमें (स्त्रियों में) भी सत्त्व (अस्तित्व) के दर्शन होते हैं॥222॥

उन (स्त्रियों) को उस रूप में देखने से, उनके सम्बन्ध में तथाकथित उदाहरण दोषपूर्ण है। 'अतिमुक्तक' (वीतराग या जीवन्मुक्त) साधु की तरह पुरुषों को बालक (अज्ञ) की तरह मानना (उचित नहीं)॥223॥

पूर्व-सिद्धान्तों के दोषयुक्त रहने के कारण उनका उपनय (उपलब्धि) असिद्ध है। इसलिए, प्रत्यनुमान से निगमन (प्रत्युदाहरण) दोषपूर्ण है॥224॥

इस प्रकार पर-पक्ष और स्व-पक्ष के दोष को कहकर देवगुरु ने अपना पक्ष कहा— स्त्रीत्व में भी मोक्ष सम्भव है॥225॥

प्राणियों के सत्त्व-वैशिष्ट्य की दृष्टि से स्त्रियाँ अधिक सत्त्ववाली होती हैं। कुन्ती, सुभद्रा आदि स्त्रियाँ आगम में उदाहरण-स्वरूप देखने को मिलती हैं॥226॥

स्त्रियाँ महासत्त्व से सम्पन्न होती हैं, इसलिए वे निश्चित ही मोक्ष प्राप्त करती हैं। यह कहकर देवगुरु को विरत हो जाने पर दिगम्बर बोलते रहे॥227॥

तदनन्तर इतने पर भी अनिश्चयता की स्थिति में देवगुरु बोले कि फिर पढ़ें। इस प्रकार तीन बार पढ़ने को कहा गया, फिर भी न समझकर दिगम्बर ने उसे दूषित कह दिया॥228॥

प्रतिवादी बोले—वाच्य का न समझना ही प्रकट उत्तर है। दिगम्बर ने कहा—यह जल्प (प्रलाप) है। यहाँ वस्त्र पर लिखें॥229॥

महर्षि ने कहा—यहाँ वादमुद्रा पूरी होती हुई दिखती है। दिगम्बर पराजित हुए और श्वेताम्बर विजयी सिद्ध हुए॥230॥

इस प्रकार राजा की अनुमति होने पर केशव ने प्रयोग लिखा। उसमें दोष जानकर देवसूरि ने कहा— यहाँ अनुवाद करके दोष को दूर कर अपने पक्ष की स्थापना की गई है। यहाँ 'कोटाकोटि' शब्द का प्रयोग दोषपूर्ण है॥231-232॥

यह अपशब्द (दोषपूर्ण शब्द) है, वादी के ऐसा कहने पर 'उत्साह' बोले— पाणिनि द्वारा सूचित यह शब्द शुद्ध है॥233॥

कहा गया है— “कोटाकोटिः”, “कोटिकोटिः”, “कोटीकोटिः” ये तीनों शब्द अपनी साधुता के कारण पाणिनि-सम्मत हैं॥234॥

इस प्रकार अनुयोग नियोजित कर आपकी यह निग्रह-भूमिका आ गई है। इसे ग्रह से मुक्त करायें॥235॥

‘नहीं सकूँगा’ ऐसा देवगुरु के प्रत्युत्तर देने पर वह दिगम्बर ने मुख की विवर्णता के साथ हमें उत्तर दिया—॥236॥

महाराज! देवाचार्य महान् वादी हैं, ऐसा क्यों कहा जाता है। राजा बोले— निस्तन्द्र भाव से बोलें। मैं विस्मृत को कहूँगा॥237॥

अन्य सभासदों के नहीं बोलने पर ‘हारिताला’ लटका दी गई। राजा ने अपने आदमियों से सम्बन्ध बनाने की विधि का आदेश किया॥238॥

राजा ने प्रसन्नतापूर्वक देवसूरि को जयपत्र प्रदान किया। तदनन्तर गुरु ने उनसे कहा—मैं कुछ बात कहूँगा॥239॥

शास्त्रीय वाद-मुद्रा में जो पराजय है, वह दण्डस्वरूप है; तो किसी भी वादी को तिरस्कार कोई भी नहीं करे॥240॥

राजा बोले—आपके कहने से फिर यह भी हो। आडम्बर का परित्याग कर दार्शनिकता प्राप्त करें॥241॥

तब ऐसा काने पर, श्रीमती कामाख्या देवी द्वारा भेजी गई वज्रागला नाम की सिद्धयोगिनी वेगपूर्वक वहाँ आ गई॥242॥

हे सिद्धाधीश! आप अक्षय स्कन्धवाले मित्र हों; इस प्रकार कहकर श्रीदेवसूरि ने उन दोनों को आशीर्वाच्य से अभिनन्दित किया॥243॥

स्याही और कूची की माला दिगम्बर ने अपने भाल पर रखी। तदनन्तर वह देवी देखते ही देखते आकाश-मार्ग से चली गई॥244॥

तब राजा ने तुष्टिदान-स्वरूप लाख द्रव्य देना चाहा, किन्तु स्पृहा-रहित निर्ग्रन्थेश्वर ने उसे लेने से मना कर दिया॥245॥

गण, गन्धर्व, सिद्ध आदि देवों द्वारा पहले ही यह दर्शन-सुलभ हुए थे। राजा के आदेश से इनका प्रवेश-महोत्सव मनाया गया॥246॥

कुलांगनाओं द्वारा किये गये वाद्य-निर्धोषपूर्वक संगीत-मंगल की ध्वनि के साथ उन्होंने वसति में प्रवेश किया॥247॥

राजा के वैतालिकों (चारणों) ने सदा उचित कृत्य के जानकार देवगुरु के प्रति उच्च स्वर से आशीर्वाच्य दिया॥248॥

(आशीर्वाद के शब्द हैं—)

अनेक अकिंचन जनों के वचनों से आदृत नये सन्तोष को देखकर हिंसा आदि के द्वारा पराभूत अन्धकार जैसे शत्रुपक्ष में शान्ति आदि के कार्य में कामादिष्ट हैं; जिनका चित्त राजा के परिभव के कारण पुण्य के बाजार में प्रवेश कर बैठा हुआ है, वह देवसूरि

अतिशय प्रसरणशील शुचिता को उजागर कर प्रसन्न होते रहें॥249॥

श्रीहेमचन्द्राभिधान-रूप शब्दानुशासन में सूत्रधार-स्वरूप प्रभु श्रीमान् हेमचन्द्र का उद्गार व्यक्त हुआ है॥250॥

जैसे- देवसूरि-रूप सूर्यरश्मि यदि कुमुद-रूप चन्द्र को नहीं जीतता है तो संसार में कौन श्वेताम्बर कटिवस्त्र धारण करेगा?॥251॥

वहाँ श्रीचन्द्रसूरि सिद्धान्त के ही मूर्तिमान् रूप हैं। शासन के उद्धार में कछुआ-सदृश श्रीदेवसूरि के लिए ही ऐसा कहा गया है॥252॥

11. सिंहासन पर स्थित श्रीदेवगुरु के भासमान रहने पर महान् लोगों के वृत्त प्रतिष्ठा में नहीं संलग्न होते॥253॥

तब समस्त गच्छ और संघ की रात ऐसी रात है, जो विनिद्रता के कारण क्षणभर में बीत गई॥254॥

तब, प्रातः साधु लोग प्रत्युपेक्षावश प्रचण्ड चूहों द्वारा उपधि (आधार-स्तम्भ) को टुकड़े-टुकड़े में चूर-चूर किया हुआ देखा॥255॥

व्यवस्थापक द्वारा गुरु को सूचित किये जाने पर वह सोचने लगे-दिगम्बर मुझे भी अपने समान वेषवाला बनाना चाहते हैं॥256॥

हमारे पास पूज्य जनों की कृपा से उसके प्रतिकार की शक्ति है। ऐसा सोचकर उन्होंने सुरमे से भरा, एक जगह एकत्रित घड़ा मँगवाया और उसका मुँह बाँधकर भीतर घर में रखवा दिया। तदनन्तर उस साहसी ने सब ओर से साधुओं को बुलाकर कहा- ॥257-58॥

आप सभी कुछ भी खेद न करें, बड़ा भारी तमाशा देखें। इन चूहों को दुर्विनय का फल मिलनेवाला है॥259॥

सवा पहर से कम ही समय में श्रद्धालु और विनम्र दिगम्बर वहाँ आ गये। वे बोल रहे थे-हमारे इन गुरु को कृपापूर्वक छोड़ दें॥260॥

हमारे बन्धु को क्या बाधा होगी, निश्चय ही हम यह नहीं जानते। अज्ञान के दम्भवश सब तरह से उनका निषेध कर दिया गया॥261॥

आधा पहर बीतते ही नग्न आचार्य वहाँ आ गये। स्पष्ट रूप से प्रशंसा करते हुए वह नगनाचार्य के समान पूजित हुए॥262॥

सूरि ने उनका आलिंगन कर उन्हें अपने आधे आसन पर बैठाया। फिर वह बोले- भाई! आपको कौन-सी पीड़ा है, यह मैं निश्चय ही नहीं जानता॥263॥

वह बोले-आप मुझे मत छोड़ें और न अधिक क्रुद्ध हों। मेरा निरोध भी छोड़ दें। निरोध करने (रोकने) पर मेरी मृत्यु निश्चित है॥264॥

उनके इस दीन वचन को सुनकर वह प्रभु बोले-सपरिवार आप मेरी वसति (घर) से बाहर चले जायें॥265॥

उस आदेश से आपके द्वार पर स्थित डकरते पूरे भीगे शरीरवाले तोंदियल बड़े भेंसे की तरह वह शोभित हुए॥266॥

साधु के पास से सुरमे से भरे घड़े को लाकर उसके मुख को खोल दिया, फलतः उससे आनन्ददायक स्राव होने लगा॥267॥

पंखदार बनाये गये उन घड़ों से रुक-रुककर नृजल (मूत्र) का प्रवाह होने से सब लोग विस्मित हो गये॥268॥

पूजित होकर भी उस पराभव से अतिशय शोकतप्त कुमुदचन्द्र अमावस्या के अन्धकार में अदृश्य हो गये॥269॥

राजा के तुष्टिदान देते समय उसे न लेने की घटना के साल भर बाद राज्य-रूप आराम (उपवन) के शुक-सदृश मन्त्री ने (राजा से) कहा-॥270॥

महाराज! इन निःस्पृहों को धन की इच्छा नहीं है तो (इस धन से) जिनालय का निर्माण कराया जाय। ताकि, इनका और आपका भी पुण्य बढ़े॥271॥

‘यही हो’-राजा के ऐसा कहने पर और फिर खुद अपने और इतरजनों तथा स्वामी की अनुमति से मन्त्री ने चैत्य का निर्माण कराया॥272॥

थोड़े ही दिनों में गगनचुम्बी महान् प्रासाद बनकर तैयार हो गया। उसका शिखर मेरुगिरि के समान था और वह सुवर्ण तथा रत्न-निर्मित कुम्भ और ध्वज की कतारों से सुशोभित था॥273॥

श्रीआदिनाथ प्रभु की, पीतल की अद्भुत प्रतिमा सूर्यबिम्ब की तरह किरण के प्रवाह के कारण दृष्टि को चौंधियाने वाली थी॥274॥

(विक्रम के) 1183 वर्ष में, वैशाखा की (शुक्ला) द्वादशी की रात्रि में चार सूरियों ने वहाँ (प्रतिमा की) प्रतिष्ठा की॥275॥

इस प्रकार प्रभावना के प्रवाह से लबालब धार्मिकों के हृदय क्षेत्र में बोधि (ज्ञान) का बीज बोते हुए प्रभु चिर काल तक विहार करते रहे॥276॥

एक दिन ‘पिप्पलवाटक’ नाम के वन में जाते समय शार्दूल-रूप गुरु ने शार्दूल (व्याघ्र) को, रेखा खींचकर उसे लाँघने से मना कर दिया॥277॥

जंगल की धरती पर विहार के क्रम में गच्छ के बच्चे-बूढ़े, प्रतिकार न करने के योग्य, भूख प्यास आदि की बाधा के क्लेश से व्याकुल हो उठे। तब उनकी चिन्ता मात्र से अकस्मात् वहाँ व्यापारी आ गये। उन भव्यों ने प्रामुक (विशुद्ध) अन्न-पान से उन्हें प्रतिलाभित कराया॥278-279॥

उन्होंने स्याद्वादपूर्वक रत्नाकर को प्रमेय-रूप सौ रत्नों से पूर्ण स्वादिष्ट वचनामृत द्वारा समृद्धतर रूप से स्वागत किया॥280॥

पुराकाल में अगस्त्य मुनि द्वारा पीये गये समुद्र को देखकर सैकड़ों परवादी-रूप घट से उत्पन्न नये दुर्गम समुद्र का निर्माण कर दिया गया॥281॥ (युग्म)

इस प्रकार श्री देवसूरि के अतिशय असंख्य वर्षों के तेरासीवें वर्ष के बीतने पर तन्द्राविहीन श्रीभद्रेश्वर सूरि को गच्छ का भार सौंपकर वह जैन प्रभावना में स्थित विशुद्ध कल्याण-कार्य में प्रभु अवस्थित हो गये॥282-283॥

(विक्रमाब्द के) 1220वें वर्ष में, सावन महीने के कृष्णपक्ष की सप्तमी तिथि को, अपराह्न में गुरु के दिन मर्त्यलोक में स्थित जनों को और इन्द्र को प्रतिबोधित कर बोधक के समान श्रीदेवसूरि स्वर्ग चले गये॥284-285॥ (विशेषक)

विक्रमाब्द के वर्ष 1143 में प्रभु का जन्म हुआ, वर्ष 1152 में दीक्षा विधि सम्पन्न हुई और वर्ष 1174 में प्रभु ने सूरिपद को प्राप्त किया॥286॥

नवम वर्ष में दीक्षा, इक्कीसवें वर्ष में सूरिपद; इस प्रकार देवसूरि प्रभु की आयु तेरासी वर्ष की हुई॥287॥

इस प्रकार श्रीदेवसूरि का चरित क्षुद्रवादियों के प्रवाह को रोकनेवाला है; जैन प्रवचन के भव्यों के स्वर को बढ़ानेवाला तथा सत्त्व से रहित जन के लिए असेव्य है। आधुनिक काल में संसारी जीवों के लिए यह श्रेष्ठ कल्याण को प्रदान करनेवाला हो; सैकड़ों विद्वज्जनों द्वारा नित्य अभ्यास किया जानेवाला यह चरित चन्द्रकाल-पर्यन्त आनन्दित करनेवाला हो॥288॥

श्रीचन्द्रप्रभसूरि के पट्ट-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र श्रीप्रभाचन्द्रसूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिश्रेष्ठ द्वारा विवेचित श्रीदेवसूरि की कथा-रूप इक्कीसवाँ शृंग समाप्त हुआ॥289॥

यह चरित अर्थ देता है, संसारवासियों के दुःख को दूर करने में समर्थ है; कल्पद्रुम के समूह-रूप चिन्तामणि पत्थर के संवाहक देवसूरि प्रभु अतिशय अद्भुत हैं। इन श्रीमान् कनकप्रभ का वर्णन करना मेरे लिए कैसे सम्भव है? जिनके नाम-मन्त्र की स्मृति से प्रसुम्न यतिनायक हो गये॥290॥

॥ श्रीवाविवेकसूरिचरित (प्रबन्ध) समाप्त ॥



श्रीहेमचन्द्रसूरिचरित

श्रीहेमचन्द्रसूरि का वचनामृत अपूर्व है। विश्व के जीवों के लिए यह जीवन-स्वरूप है। यह राजाओं के चित्त-रूप धरती पर अवस्थित है॥1॥

यह चरित पापनाशक है; चण्डाल के स्पर्श से उत्पन्न दोष के विनाश के लिए सूर्य-सदृश है; श्रीहेमचन्द्रसूरि का वचन स्वर्णोदक से युक्त है॥2॥

यह अनन्त आगम-विद्या का धारक है; मृत को जीवित करने की महिमा से संवलित है; श्रीपादलिप्त के प्रतिरूप श्रीहेमचन्द्रसूरि हमारी रक्षा करें॥3॥

प्रभु का यह चरित कृति-सद्वृत्त-रूप मोती की माला जैसा है। सज्जनों के हृदय-गृह में अन्तःप्रकाश के लिए इसे स्थापित किया जा रहा है॥4॥

1. क्लेश के आवेश से रहित भूमिवाला श्रीगुर्जर देश है। तीन पुरुषार्थ-रूप श्रीसम्पन्न त्रयी में स्वर्ग भी जिसकी बराबरी करना चाहता है॥5॥

प्रेमी जनों की इच्छापूर्ति करनेवाला अणहिल्लपुर नाम का नगर है। महल की कतारों से वह नगर पर्वत की रंगभूमि जैसा है॥6॥

कृष्ण जैसे देवता के भी शत्रु कपटी पुरुष, सुर, असुर तथा नाग के अधीश लोकेश्वर भी जिस (नगर) की उपमा नहीं प्राप्त कर सके॥7॥

वहाँ सिद्धाधिप नाम के राजा थे, जो अपने वचनामृत के सार से सन्तुष्ट करनेवाला चकोर जैसे थे। सिद्धों के अधिपति उनका यशोगान करते थे॥8॥

उस देश में सत्पूजा एवं भोग-शृंगार के प्रभाव से पूर्ण समृद्ध रंगभूमि-स्वरूप तथा जवाकुसुम-सदृश धन्धूक नाम का श्रेष्ठ नगर है॥9॥

वहाँ सुविकसित, प्रौढ एवं समृद्ध महिमा से दृढ़ 'मोढ' नाम का वंश था। उस वंश के प्रौढ चित्तवालों की प्रौढता में अतिशय दृढता निहित थी॥10॥

वहाँ 'चाच' नाम का सेठ हुआ। वह रिश्वत से धन प्राप्त करने में संकोच करता था। सत्त्व के मण्डप में वह चैदोवा के समान सुशोभित था तथा वह विद्वानों का सदा समादर करता था॥11॥

उसके पाहिनी नाम की गृहिणी थी। शरीरतः वह साक्षात् गृहलक्ष्मी थी, जिसके सतीत्व से सीता, सुभद्रा आदि सतियाँ सत्यापित होती थीं॥12॥

स्त्रियों की शिरोमणि उस (पाहिनी) ने एक दिन स्वप्न में 'चिन्तामणि' देखी, जिसे उसने भक्ति के आवेश के निवेशवश अपने गुरु को प्रदान कर दिया है॥13॥

वहाँ चान्द्र गच्छ-रूप सरोवर के कमल-सदृश, गुणों से मण्डित प्रद्युम्नसूरि के शिष्य श्रीदेवचन्द्र मुनीश्वर थे॥14॥

प्रातः जगने पर पाहिनी ने उस स्वप्न की बात को उन मुनीश्वर के समक्ष रखा।
उन गुरु ने स्वप्न-दर्शन के शास्त्र-वर्णित फल को कहा-॥15॥

जैनशासन-रूप समुद्र के कौस्तुभ (मणि)-स्वरूप पुत्र उत्पन्न होगा, जिसके
सच्चरित्रवश देवता भी तुम्हारी स्तुति करेंगे॥16॥

उस (पाहिन) ने श्रीवीतराग की प्रतिमा की प्रतिष्ठा के दोहद (गर्भकाल की
आकांक्षा) वाला गर्भ धारण किया और एक दिन उसने अपने सत्पति के प्रचुर पुण्यवश
उस (इच्छा) को पूरा किया॥17॥

पवित्र दिन में उस (पाहिनी) ने हर्षपूर्वक पुत्र प्रसव किया, जो मलयाचल के
शिखर पर स्थित चन्दन के समान था और जिसने अपनी कान्ति से अग्नि की प्रभा को
पराजित किया था॥18॥

तब हर्षपूर्ण स्थिति में, अनेक प्रकार के वाद्यों की ध्वनि से आसमान गूँजता रहा,
इस प्रकार बधाई के बारह दिन बीत गये॥19॥

अपने पुत्र की नामकरण-विधि के आकांक्षी, सदाचरण के प्रति निष्ठावान् चाच
ने भक्तिपूर्वक अपने रिश्तेदारों के बुलाया॥20॥

हमारे घर में अवतीर्ण होने पर इसकी माँ को प्रतिमा-प्रतिष्ठा का दोहद हुआ था,
इसलिए देवता भी विविध पूजाओं से प्रसन्न हों॥21॥

तब इस पुत्र का वंशानुकूल स्थानवाची नाम चंगदेव रखा गया; क्योंकि विश्व के
वस्तुओं का शुभ परिणाम सत्य है॥22॥

(उस सेठ ने) सुपारी, ढेलाकपूर, सुगन्धित तेजपात तथा सोंठ के टुकड़े मिलाकर
तैयार किया गया 'पान' देकर उन (समागत) बन्धुओं को विदा किया॥23॥

वह वर्द्धनशील (शिशु हेमचन्द्र) वर्द्धमान मंगल के आश्रय हुए। शैशव में भी
उनकी प्रज्ञा प्रौढ़ थी। वह अखण्ड दक्षता से सम्पन्न हुए॥24॥

अनन्तर वह पाँचवें वर्ष में ही अपेक्षाकृत वृद्ध के समान हो गये। पाप से रहित
उनकी मति सद्गुरु की सेवा-विधि में तत्पर रहती थी॥25॥

2. एक दिन, मोठ चैत्य के भीतर, प्रभु के द्वारा चैत्य की वन्दना किये जाते समय
पाहिनी पुत्र-सहित उस पुण्यभूमि पर आई॥26॥

वह प्रदक्षिणा करके जभी जिन (तीर्थंकर) की स्तुति करती, तभी चंगदेव जल्दी
से खाट पर बैठ गये॥27॥

स्मरण करो, एक बार तुम महास्वप्न देखोगी। पुत्र ने जो किया, उसकी पहचान
स्वयं देखो॥28॥

यह कहकर गुरु ने संघ को आनन्द देनेवाले कल्पवृक्ष के समान पुत्र की, उसकी
माँ के समीप ही, अपने लिए माँग की॥29॥

वह (माँ) बोली-इसके पिता से प्रार्थना करें, यही उचित होगा। पर, वह उन
(गुरु) की आज्ञा के विना डरकर कुछ भी नहीं बोले॥30॥

गुरु-वाक्य की अलंघ्यता के कारण तथा आचार की मर्यादावश दुःखित होते हुए भी
उसने (माँ ने) स्वप्न का स्मरण कर स्नेहवश पुत्र को (गुरु के लिए) अर्पित कर दिया॥31॥

उसे लेकर गुरु, माघ शुक्ल चतुर्दशी को, शनिवार के दिन, ब्राह्म वेला में स्तम्भ-तीर्थ में स्थित श्रीपार्श्वनाथ-मन्दिर में चले गये॥32॥

तथा, आठवें दिन, धर्म की स्थिति में, चन्द्रमा के वृष लग्न में रहने पर, बृहस्पति के दिन, सूर्य और भौम की शत्रु-स्थिति में श्रीमान् उदयन ने उस (बालक) का दीक्षोत्सव कराया और गुरु ने उसका विख्यात नाम सोमचन्द्र रख दिया॥33-34॥

उन्होंने (गुरु ने) आर्हत परमाक्षरों द्वारा परिष्कार (मन्त्र) जपकर एकाग्रतापूर्वक अर्हों (पूज्यों) के अर्ह (पूज्य) का सम्मान किया॥35॥

अनन्तर, क्रुद्ध और कटुभाषी चाच के आकर मिलने पर वरुण-स्वरूप उसे स्वयं इन गुरु ने शान्त किया॥36॥

तदनन्तर चन्द्र के समान उज्ज्वल प्रज्ञाबल से उस सोमचन्द्र ने तर्क, लक्षण तथा साहित्य-विद्याओं को शीघ्र ही अधिगत कर लिया॥37॥

3. एक दिन उस (सोमचन्द्र) ने सोचा कि पहले मैं लाख पैरों से अनुगमन करता था, पर अब एक पैर से। इसलिए मेरे जैसे अल्पबुद्धि को धिक्कार है॥38॥

तो मैं चकोर पक्षी के लिए रुचिकर कलापूर्ण ज्योत्स्ना जैसी काशीरवासिनी देवी की आराधना करूँगा॥39॥

प्रातःकाल उसने विनय-नम्र वचनों से प्रभु को यह सूचित किया और सम्मुख आई हुई जैसी देवी का ध्यान कर उसने भी वैसा ही अनुमान किया॥40॥

उन विद्याओं के धाम-स्वरूप विद्वान् ने साधुओं के साथ ताम्रलिपि के ब्राह्मीदेश के लिए प्रस्थान किया॥41॥

और वहाँ श्रीरैवतावतार (उज्जयन्त) तीर्थ में श्रीनेमि नाम से अवहित चित्तवाले साधुबुद्धि व्यापारी रहते थे॥42॥

मध्यरात्रि में जगे हुए तथा नाक के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर रख आराधना करने से ब्रह्मोत्सव के निधि-स्वरूप इन व्यापारी के समक्ष ब्राह्मी देवी प्रत्यक्ष हुई॥43॥

(और बोलीं) हे स्वच्छमति वत्स! आप देशान्तर मत जायें। आपकी भक्ति से सन्तुष्ट मैं यहीं आपकी कामना पूरी कर दूँगी॥44॥

वचन की अधीश्वरी वह देवी यह कहकर अन्तर्हित हो गई। उन देवी की स्तुति में रात बिताने के बाद व्यापारी अपने घर आ गये॥45॥

बिना किसी क्लेश के जागरित चित्त से अपने वैरियों में द्रोह उत्पन्न करनेवाले सिद्ध सारस्वत सोमदेव विद्वानों के लिए सीमा-स्वरूप हुए॥46॥

प्रभावकों के धुरन्धर इन्हें सूरि-पद के योग्य जानकर गुरु ने संघ को आमन्त्रित कर सलाह की॥47॥

योग्य शिष्य को पद पर प्रतिष्ठित कर अपना कार्य करना उचित है। हमारे पहले इन्हें सदा 'पूर्वों' से सम्पन्न लोग आचार से अवगत कराये॥48॥

तभी विज्ञ दैवज्ञों द्वारा लग्न का विचार किया गया। उन्होंने विचार कर सर्वोत्तम गुणवाले क्षण को व्यक्त किया॥49॥

कर्क लग्न में बृहस्पति और मेष राशि में सूर्य और आकाश में बुध से युक्त चन्द्रमा एवं लाभस्थानीय मंगल धनु राशि में छठे स्थान में थे। और फिर, धर्मस्थानीय शुक्र मीन राशि में तथा ग्यारहवाँ शनि वृष राशि में एवं विघ्न-विनाशकारी तृतीय राहु कन्या राशि में थे॥50-51॥

इस प्रकार, सभी ग्रहों के बल से युक्त लग्न समृद्धकारी था। चान्द्री होरा (ज्योतिष-शास्त्रीय काल-विशेष), तदनन्तर पूर्वा तथा प्रथम द्रेष्काण का संयोग भी था। उत्तम वर्ग तथा चन्द्रांश नवम और द्वादश था। बृहस्पति का तीस अंश गुणमण्डित छठे लग्न में था॥52-53॥

(इस लग्न में) पुरुष या देवता जिसकी प्रतिष्ठा होती है, वह राजा द्वारा ज्ञात और जगत्पूज्य होने के साथ ही विश्व का शिरोमणि होता है॥54॥

अनन्तर वैशाख मास की (शुक्ल) तृतीया में, दिन के मध्यभाग में श्रीसंघ के नगरपति ने उत्सवपूर्वक आयोजन किया। पूर्व-निर्णीत मुहूर्त में नान्दीश्राद्ध आदि के विधि क्रम सम्पन्न हुए। वाद्यस्वर गूँज रहा था और अखण्ड मंगलाचार परिव्याप्त था॥55-56॥

गुरु श्रीदेवचन्द्र ने शब्दाद्वैत (अद्वितीय स्वर) के धमने पर और समय घोषित होने पर पूरके से आपूरित तथा कुम्भक श्वास से सधन एवं अग्रह, कपूर और चन्दन द्रव से चर्चित कान में विद्वानिष्ठ अन्तरात्मावाले कृती सोमचन्द्र के लिए श्रीगौतम आदि सूरिश्वर द्वारा अबाध रूप से आराधित सूरिमन्त्र का कथन किया गया॥57-59॥

रागयुक्त कलापूर्ण केलि को तिरस्कृत करनेवाले तथा विशुद्ध कलाओं की विविध केलियों का आश्रय के रूप में वह श्रीमान् हेमचन्द्र प्रभु विख्यात हो गये॥60॥

तब उनकी स्नेहशीला अकिंचन माता पाहिनी ने अपने पुत्र के अति उत्तम चारित्र के लिए उन्हें गुरु के हाथों में सौंप दिया॥61॥

विनीत वचनवाली माता ने (भिक्षुजनोचित) प्रवर्तिनी-प्रतिष्ठा अपने पुत्र को दिलवाई॥ तभी वह सभ्यों के साक्ष्य में गुरु द्वारा अभिनव आचार्य के रूप में मान्य हुए॥62॥

उनकी माता के लिए गुरु ने सिंहासन का आसन प्रदान किया। व्यवहार में मातृ-भक्ति उत्तम जनों की कसौटी होती है॥63॥

4. संघ-रूप सागर के कौस्तुभ (मणि)-स्वरूप श्रीहेमचन्द्रसूरि विहार के क्रम में एक दिन श्रीसम्पन्न अणहिल्लपुर पहुँचे॥64॥

श्रीसिद्धराज एक दिन राजमार्ग से जाते समय हेमचन्द्र प्रभु को देखकर पार्श्ववर्ती बाजार में खड़े रहे॥65॥

उतरने के स्थान के समीप आने पर अंकुश से हाथी की चाल को रोककर, कुछ कहूँगा, ऐसा सोचकर प्रभु बोले- ॥66॥

हे सिद्ध! हस्तिराज को अशक्त भाव से चलाइए! दिग्गज क्यों डरें; क्योंकि उनकी मार्गभूमि का उद्धार आपने ही किया है॥67॥

यह सुनकर तुष्टि से पुष्ट सुधीश्वर राजा ने कहा-आप सदा मध्याह्न में मेरे प्रमोद के लिए आते रहें॥68॥

इसके पूर्व भी कहीं किसी अच्छे क्षण में (राजा के) दर्शन हुए थे। आनन्द-मन्दिर में, जहाँ प्रभु की राजा से मित्रता हुई थी॥69॥

एक दिन सिद्धराज भी मालव-मण्डल को जीतकर आये थे। दर्शन करनेवालों ने उन्हें आशीर्वाद दिया था॥70॥

वहाँ विभिन्न कलाओं के निधि-स्वरूप श्रीहेमचन्द्र ने भी स्थिर भाव से सुनने योग्य निदर्शन-स्वरूप काव्य कहा था॥71॥

उस काव्य (श्लोक) का अर्थ है—

हे कामधेनु! अपने गोमय के रस से भूमि का सिंचन करें। हे रत्नाकर! स्वस्तिकारक मुक्ताओं को प्रसारित करें। हे नौकास्वरूप! आप पूर्णघट हों। कल्पतरु के पत्तों को लेकर सरलतापूर्वक दिग्गज तोरण बनायें। अपने हाथों से जीतकर इस जगत् को जिसने सुव्यवस्थित किया, वही सिद्धराज आ रहे हैं॥72॥

विभु के व्याख्या-विभूषित वृत्त के प्रस्तुत होने पर राजा ने बार-बार उन्हें अपने महल में बुलाया॥73॥

5. एक दिन नियुक्त व्यक्तियों द्वारा अवन्तिकोश से सम्बद्ध पुस्तकों को दिखलाते समय राजा ने लक्षण-पुस्तक देखी॥74॥

यह क्या है, ऐसा स्वामी ने पूछा। उन व्यक्तियों ने कहा— यह शब्द-शास्त्र-सम्बन्धी भोज-व्याकरण है। इसी से शब्दशास्त्र प्रवर्तित हुआ है॥75॥

विद्वन्मण्डली के शिरोमणि उन मालवनरेश ने शब्दालंकार, ज्योतिष और तर्कशास्त्र की रचना की॥76॥

इसके अतिरिक्त चिकित्साशास्त्र, राजसिद्धान्त, रसशास्त्र, वास्तुशास्त्र, सूर्यसिद्धान्त, अंकशास्त्र, शकुनशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, स्वप्न और सामुद्रिकशास्त्र का भी निर्माण किया॥77॥

और फिर, निमित्त-व्याख्यान, प्रश्नचूडामणि, विवृति, आयसद्भाव से सम्बद्ध अर्थकाण्ड एवं मेघमाला-शास्त्र की भी रचना की॥78॥

राजा ने कहा— हमारे कोश में शास्त्र-पद्धति नहीं है क्या? विश्व में, देश में और गुर्जर में कोई भी विद्वान् क्यों नहीं है?॥79॥

तब, सभी विद्वानों ने मिलकर हेमचन्द्र को देखा। राजा ने महाभक्तिपूर्वक उन प्रभु को सम्मानित कर उनसे प्रार्थना की—॥80॥

आप शब्द की व्युत्पत्ति करनेवाले शास्त्र का निर्माण कर हमारे मनोरथ को पूरा करें। हे महर्षे! आपके बिना इस कार्य में कौन समर्थ है?॥81॥

राजा से प्रेरित होकर हेमचन्द्र ने कलापक-व्याकरण की रचना की। इस समय शब्दों के लक्षण और निष्पत्ति से सम्बद्ध वैसी कोई (व्याकरण) पुस्तक नहीं है॥82॥

पाणिनि-लिखित वेद के अंगस्वरूप इस लक्षणशास्त्र के प्रति द्विजवर्ग घमण्डवश ईर्ष्या का भाव रखने लगे। परन्तु, उन उन्मन आचारवालों से प्रयोजन ही क्या है?॥83॥

हे मुनिश्रेष्ठ! मेरे यश और आपकी ख्याति और पुण्य का उदय हुआ है। आप विश्वलोक के उपकार के लिए नये व्याकरण की रचना करें॥84॥

यह सुनकर विद्वानों के निधि-स्वरूप हेमचन्द्र सूरि ने कहा— हमारी उक्ति अवश्य ही आपके केवल स्मरण के लिए ही है॥85॥

परन्तु व्याकरण तो आठ हैं और इनकी पुस्तकों भी हैं। उनमें—‘श्रीभारतीदेवीकोश’ का ही अस्तित्व निश्चित है॥86॥

अपने आदिमियों द्वारा काश्मीर देश से उन पुस्तकों को भँगवाया जाय, ताकि महाराज शब्दशास्त्र को विस्तार दे सकें॥86॥

उन (हेमचन्द्र) की उक्ति को सुनकर राजा ने तत्क्षण ही प्रधान पुरुषों को वाग्देवी के देश में भेजा॥88॥

उन्होंने प्रवरपुर में वाग्देवी को प्राप्त किया और तब वन्दना आदि से उनकी पूजा कर पाठ और स्तुतियों से उन्हें सन्तुष्ट किया॥89॥

तब वाग्देवी ने सन्तुष्ट होकर अपने अधिष्ठायकों को आदेश किया कि श्वेताम्बर हेमचन्द्र मेरे कृपापात्र हैं॥90॥

तो हमारे प्रतिरूप इनके (हेमचन्द्र के) लिए पुस्तक-संग्रह को समर्पित कर भृत्यों द्वारा भिजवा दें॥91॥

तदनन्तर उनका (हेमचन्द्र का) अच्छी तरह सत्कार कर भारती के सचिव (राजा) ने पुस्तकों को अर्पित कर दिया और उन्हें उत्साहपण्डित (हेमचन्द्र) के पास भिजवा दिया॥92॥

हर्ष के उत्कर्ष से सम्पन्न तथा रोमांच से पुलकित एवं देवी से कृपाप्राप्त हेमचन्द्र थोड़े ही समय में अपने नगर पहुँच गये॥93॥

उन्होंने सरस्वती द्वारा कही गई बातों को राजा से निवेदित किया। निष्ठानिष्ठ प्रभु हेमचन्द्र के प्रति राजा ने अतिशय आदर के साथ सन्तोष व्यक्त किया॥94॥

यह सुनकर चमत्कृत राजा ने कहा—मैं और मेरा देश धन्य है, जहाँ ऐसे कृती पुरुष रहते हैं॥95॥

श्रीहेमचन्द्रसूरि ने यहाँ व्याकरण-समूह को देखकर ‘सिद्धहैम’ नामक अद्भुत नवीन व्याकरण-शास्त्र की रचना की॥96॥

जिसका नाम ‘रंगलिङ्गानुशासन’ रखा। वह बत्तीस पाद और उणादि-युक्त, आठ अध्यायों में पूरा हुआ था, साथ ही वह धातु-पारायण से समन्वित था॥97॥

सद्वृत्ति-सहित सूत्र एवं अनेकार्थ से सुन्दर नाममाला से विभूषित लक्षणशास्त्रों में मौलि-स्वरूप इस शब्दानुशासन को विद्वानों द्वारा पर्याप्त समादर प्राप्त हुआ॥98॥

इसके प्रारम्भ में समाविष्ट विस्तीर्ण शास्त्र सब जगह पाठ्य नहीं है; पूरी आयु में भी पुरुषों के लिए (अध्ययनगत) स्वलन की स्थिति बनी रहती है॥99॥

इसलिए आधुनिक विद्वानों ने प्रमाणित किया है कि इसमें कुछ ऐसे स्थल हैं, जो संकीर्ण, दुर्बोध और दोषपूर्ण हैं॥100॥

इसके पादान्त में श्रीमूलराज प्रभृति राजाओं के पूर्वज राजाओं के वर्ण के वर्णन से सम्बद्ध एक श्लोक है॥101॥

सबके अन्त में चार श्लोक हैं और तब पैंतीस श्लोकों में सावधानी से प्रशस्ति प्रस्तुत की गई है॥102॥

पुरोगामी विद्वानों द्वारा राजा के समक्ष इसका वाचन किया गया है। राजा ने पुस्तक-लेखन में तीन लाख एक वर्ष में व्यय किया है॥103॥

राजा के आदेश से सभी स्थानों से, समुद्यत रूप से नियुक्त तीन सौ लेखकों को बुलाकर इस ग्रन्थ को लिखवाया गया॥104॥

सभी दर्शकों तथा उद्यमी प्रत्येक अध्येताओं को पुस्तक दी गई॥105॥

और फिर अंग, वंग, कलिंग (उड़ीसा), लाट, कर्णाट, कुंकण, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, वत्स, कच्छ, मालव, सिन्धु, सौबीर, नेपाल, पारसीक, मुरण्ड, गंगापार, हरिद्वार, काशी, चेदि, गया, कुरुक्षेत्र, कान्यकुब्ज (कन्नौज), गौड, श्रीकामरूप, सवा लाख जैसा जालन्धर और खस के बीच, सिंहल, महाबोध, चौड, मालव और कैशिक इत्यादि विश्व के देशों में इस शास्त्र का स्पष्ट रूप से विस्तार हुआ॥106-109॥

उपनिबन्ध-सहित इस पुस्तक को बीस की संख्या में कश्मीर के राजा ने बहुत आदर के साथ (विभिन्न स्थानों में) भिजवाया॥110॥

यह शास्त्र जहाँ गया, वहाँ के राजा ने इसे अपने कोश में रखवा दिया॥ सभी ने इसके प्रति आदर का निर्वाह किया, और फिर इस सन्दर्भ में रानियों की बात ही क्या?॥111॥

कायस्थ-कुल के कल्याण के शिरोरत्न-स्वरूप 'काकल' नाम का था। वह आठ व्याकरणों का अध्येता और प्रज्ञा से शेषनाग का भी विजेता था॥112॥

प्रभु, उसे देखते ही उसके तत्त्वार्थ को जान गये और उस शास्त्रज्ञाता को शीघ्र ही उन्होंने अध्यापक के रूप में नियुक्त कर दिया॥113॥

प्रतिमास वह ज्ञानपंचमी को पिच्छी धारण करता था। राजा ने उस त्यागशील को कँगनों से विभूषित किया॥114॥

शास्त्र में निष्पन्न उसे राजा ने चादर और सोने के आभूषणों से तथा सुखासन और छत्र से सम्मानित किया॥115॥

6. एक दिन, देवों से सुशोभित इन्द्र-सभा के समान विद्वत्समूह से सुशोभित सत्प्रभु की सभा में एक चारण आया॥116॥

अवज्ञावश कोई भी उसके सम्मुख नहीं देख रहा था। उसकी स्थिति रत्नों के दिखाई पड़ने पर पुराने तिनके को उपेक्षित करने जैसी हो गई थी॥117॥

अनन्तर उसने अपभ्रंश में एक श्रेष्ठ दोहक (दोहा) पढ़ा। उसके पुण्य की फलाकांक्षा की तरह कृपामयी ब्राह्मी वहाँ प्रकट हुई॥118॥

ब्राह्मी बोली-हे हेमचन्द्रसूरि! आपके अर्थ को समझने में वही समर्थ हैं, जो पण्डित हैं। लक्ष्मी की जो मौखिक वाणी है, वह मुख से निकलकर पद की भागी हो जाती है॥119॥

पूर्वाह्न में इनके जोर से बोलने पर तथा नाम लेकर पूज्यों द्वारा बातचीत करने पर ये अवज्ञाकारी हो गये तथा सम्यों की कोप-दृष्टि भी इनपर पड़ी॥120॥

उन अनुरागियों के सावधान होने पर चारण ने तीन पद कहे, जिन्हें सुनकर वे पुलकित हो उठे॥121॥

इसके सम्बन्ध में चमत्कृत करनेवाली उन्नत वाणी (सरस्वती) ने सोचा— जहाँ बुध की स्थिति है, वहीं गुरु की महिमा है॥22॥

वे हर्षपूर्वक एक साथ मिलकर बोले—फिर पढ़ें, फिर पढ़ें। पढ़ने पर प्रभु बोले—क्षोभरहित होकर तीन बार फिर पढ़ें॥123॥

चार बार पढ़ने पर कृती पुरुषों के लिए वह सम्मत हुआ और आदरणीय भी। तब कोपाभास की स्थिति से मुक्त होकर चारण ने विचारपूर्वक कहा—॥124॥

आप यथेष्ट देनेवाले हैं। यदि मैं स्वयं अपने अनुमान से उस गुरु भार को लेता हूँ तो भारवाहक जैसे मेरे लिए वह दुर्वह हो जायगा॥125॥

इस दोहक के तीन बार पढ़ने पर जो उपलब्ध हुआ, उसी में मुझे धैर्य है। इससे अधिक लेकर मुझे क्या करना है? उलटे वह मेरे लिए हृदयरोग का संवाहक होगा॥126॥

पूज्यों ने उसे सभ्यों से तीस हजार दिलवाये। वह (चारण) बोला—यह धन मेरे लिए सात पुरखों तक के लिए पूरा रहेगा॥127॥

इसलिए, मैं उतना ही दान लूँगा, उससे अधिक नहीं। यह कहकर वह (चारण) अपने इच्छित प्रदेश में चला गया॥128॥

7. एक दिन राजा श्रीसिद्धराज ने प्रभु से पूछा—आपके पट्ट का कोई अधिक गुणवान् योग्य शिष्य है? तो उसे आप हमें चित्त के उत्कर्ष के लिए दिखलायें। मेरे जैसे अनुकम्पा-योग्य पुत्रहीन के प्रति आप सदैव हैं, ऐसा पहले मैंने नहीं सोचा था॥129-130॥

श्रीहेमचन्द्र ने कहा—पहले भी समुद्र के सत्पात्र-रूप चन्द्रमा जैसे अनेक राजा हुए हैं, परन्तु आपके जैसा चिन्तक कोई नहीं हुआ॥131॥

कल्पवृक्ष के समान आप जैसे कृती राजा के रहने पर मुनियों के सद्ज्ञान की महिमा से युक्त चिन्त की स्थिरता क्या नहीं होती है?॥132॥

कृती पुरुषों के शिरोरत्न-स्वरूप सुविख्यात कुल में उत्पन्न रामचन्द्र नाम के हैं, जो नखशिख से सुन्दर और अतिशय रूपवान् हैं तथा संघ में विश्व के कलानिधि-स्वरूप हैं॥133॥

एक दिन उसे राजा के दर्शन के लिए उपस्थित किया गया। उसने राजा की पहले के विद्वानों द्वारा अकथित तथा हृदय को आनन्द देनेवाली स्तुति की॥134॥

स्तुति का अर्थ इस प्रकार है—

विजेता मात्रा से अधिक कुछ सहन नहीं करते। हे राजन्! इसीलिए आप धारानाथ होकर धारानाथ का निराकरण कर देते हैं॥135॥

राजा ने सिर के हिलाने के साथ राम (रामचन्द्र) की ओर दृष्टि-निक्षेप किया। महिमा-सम्पन्न विद्वान् वामाचारी नहीं होते॥136॥

हे वत्स! जैनेन्द्र-शासन के प्रति आप दृष्टि की एकता रखें। अर्थात्, आप एकदृष्टि (काना) हो जायें। यह आचार्य महापुण्यशाली हैं, जिनके आप पद की रक्षा करनेवाले हैं॥137॥

यह कहकर राजा के चुप हो जाने पर राम के एक नेत्र को दूषित कर दिया गया।

अतिशय पुण्यवालों की दृष्टि दुःसह होती है॥138॥

उपाश्रय में आश्रित इनकी दाईं आँख अतिशय पीड़ापूर्वक नष्ट हो गई। रत्न उपद्रव-रहित (निर्दोष) नहीं होता॥139॥

कर्म की प्रामाणिकता को विचार कर वे ठण्डे मनवाले हो गये और तपस्या में स्थिर होकर वहाँ चार महीने तक रह गये॥140॥

8. चतुर्मुख नाम के जैनेन्द्रालय में अद्भुत व्याख्यान हुआ। श्रीसम्पन्न संघ के समक्ष इन्होंने श्रीनेमिचरित प्रस्तुत किया॥141॥

वहाँ सेवा के इच्छुक सभी दर्शनार्थी आने लगे। सुधासार जैसे वचनों के प्रति उनके मन की वासना आकृष्ट थी॥142॥

एक दिन पाण्डवों की वनवास-कालीन परित्रज्या (परिभ्रमण) की कथा हो रही थी, तभी ईर्ष्या से ग्रस्त ब्राह्मणों ने राजा से यह कहा— ॥143॥

हे स्वामिन्! पुराकाल में कृष्णद्वैपायन महाव्यास ने भविष्य के ज्ञान से युधिष्ठिर आदि के अद्भुत चरित का वर्णन किया है॥144॥

उस सम्बन्ध में यह कहा गया है—वे पाण्डुपुत्र अपनी आयु के अन्त में हिम से मण्डित हिमालय पर्वत के मार्ग से गये थे॥145॥

उसी क्रम में उन्होंने स्नान-पूजनपूर्वक श्रीकेदार-स्थित शिव की आराधना करके परम भक्तिपूर्ण अन्तःकरण के साथ अपना अन्त किया था॥146॥

ये श्वेताम्बर शूद्र अपनी सभा में स्मृति-सूक्ति को विकृत कर, उस उक्ति के विपरीत बकवास करते हैं॥147॥

अनौचित्य-पूर्वक किये गये आचार से ही नगर में यह अरिष्ट हुआ है। प्रजाकृत दुराचारों से रक्षा करना राजा का कर्तव्य है॥148॥

हे विचारक! मन में विचार कर कार्य करें। यह कहकर अतिशय धीर वाणीवाले ब्राह्मणों ने विराम ले लिया॥149॥

राजा ने भी कहा—राजा विना विचारे कार्य नहीं करते। और, विचार किये विना दर्शनों का तिरस्कार भी नहीं करते॥150॥

यहाँ ये आज्ञाकारी सेवक यदि सच्चा उत्तर दे सकें तो वह मेरे लिए गौरव की बात होगी और हमारे मित्र यहाँ न्याय ही करेंगे॥151॥

हेमाचार्य (हेमचन्द्राचार्य) निर्ग्रन्थ और निरासक्त महामुनि हैं। बहुत विचार कर वह झूठ कैसे बोलेंगे?॥152॥

ऐसा ही हो,—प्रवीण ब्राह्मणों ने भी कहा। तब राजा ने मुनीश्वर हेमचन्द्र को बुलाया॥153॥

सर्वसाधारण राजा ने माध्यस्थों से पूछा—पाण्डवों ने क्या आर्हती दीक्षा ली थी?॥154॥

सूरि ने भी कहा—पूर्व-सूरियों ने शास्त्र में ऐसा नहीं कहा है, लेकिन उनका हिमालय जाना महाभारत में वर्णित है॥155॥

परन्तु, शास्त्र में जो वर्णित नहीं है, उसे हम नहीं जानते। दूसरे-दूसरे कहते हैं कि वह व्यास-शास्त्र में भी कहा गया है॥156॥

राजा बोले— हे मुने! बहुत लोग पहले कैसे हुए? अनन्तर गुरु बोले— हे राजन्— इस सम्बन्ध में उत्तर सुनें॥157॥

व्यास द्वारा सन्दर्भित आख्यान में (कहा गया है—) श्रीभीष्म पितामह ने युद्ध के प्रारम्भ के समय अपने अनुचर से कहा था— ॥158॥

मेरे मरने पर मेरे शरीर का संस्कार उस पवित्र भूखण्ड पर करना, जहाँ पहले किसी को नहीं जलाया गया हो॥159॥

न्याययुद्ध करके पितामह (भीष्म) के मरने पर उनकी बात पर विचार कर उनके मृत शरीर को उठाकर पहाड़ पर ले गये॥160॥

मनुष्य के संचरण से रहित किसी ऊँचे शिखर पर उनके मृत शरीर को रख दिया। तभी, देववाणी (आकाशवाणी) सुनाई पड़ी— यहाँ सौ भीष्म जलाये गये हैं और फिर तीन सौ पाण्डव तथा एक हजार द्रोणाचार्य जलाये गये हैं। जलाये गये कर्ण की तो गिनती ही नहीं है॥161-162॥

इस (देववाणी को) सुनकर हमने अपने मन में सोचा— बहुतों के बीच यदि कुछ लोग भी 'जिन' के आश्रित हुए हैं तो उनकी मूर्तियाँ शत्रुंजय पर्वत पर दृष्टिगत होती हैं और कुछ मूर्तियाँ श्रीनासिक्यपुर में श्री-सम्पन्न चन्द्रप्रभालय में हैं॥163-64॥

केंदार महातीर्थ में कोई भी कहीं भी धर्म में संलीन है। बहुतों के बीच धर्म का ज्ञान नहीं है, यह हमारे लिए स्पष्ट है॥165॥

वेदविद्या में विशारद स्मार्तों का भी अनुयोग करें। ज्ञान की गंगा कहीं भी प्रवाहित हो सकती है। उसपर किसी का पैतृक अधिकार नहीं है (किसी की बपौती नहीं है)॥166॥

यह सुनकर राजा बोले— जैन ऋषि यह सत्य ही कहते हैं। यदि आपके मतानुसार कोई तथ्य है, तो उत्तर के रूप में उसे कहें॥167॥

इस काम में आपने एक तथ्यपूर्ण बात कही है— जिस किसी कार्य को राजा द्वारा विचार कर ही किया जाना चाहिए॥168॥

और भी कहा— इस कार्य में समदर्शिता दृष्टान्त-स्वरूप है कि सभी देव-भवनों का निर्माण होना चाहिए॥169॥

यह उत्तर कहकर राजा मौन हो गये। कोई हेतु निरर्थक भी है, ऐसा संसार का स्वभाव नहीं है॥170॥

राजा ने सत्कार कर सूरि से कहा— आप अपने आगम के उचित व्याख्यान प्रस्तुत करें, इसमें अणु-मात्र भी दोष नहीं है॥171॥

तब राजा द्वारा सत्कार-प्राप्त प्रभु हेमचन्द्र जैनशासन-रूप आकाश में सूर्य के समान प्रकाशित हुए॥172॥

9. एक दिन राजा के 'आमिग' नामक स्वस्तिवाचक व्यर्थ ही क्रोध (रोष) का वहन करते हुए राजसभा में आये उन सूरि से कहा— ॥173॥

शान्ति और करुणा से शोभित धर्म में जो एक कमी है, वह यह कि व्याख्यान में स्त्रियाँ सदा अपना शृंगार किये हुए आती हैं॥174॥

वे आपके निमित्त से नहीं तैयार किया गया प्रासुक प्रदान करती हैं। आहार विकार का सार है। उससे आपका ब्रह्म कहाँ रहता है?॥175॥

क्योंकि— विश्वामित्र, पराशर प्रभृति जो ऋषि जल पीकर और पत्ता खाकर रहते हैं, वे भी स्त्री के अतिशय ललित मुख-कमल को देखकर मोहित हो गये। जो मनुष्य अतिशय पुष्टिकर और बलकारक आहार खाते हैं, उनका यदि इन्द्रिय-निग्रह हो जाय तो विन्ध्य पर्वत के समुद्र में तैरने जैसी बात होगी॥176॥

इस सन्दर्भ में सूरि बोले— यह विद्वज्जन के योग्य बात नहीं है। हे शुद्ध पुरोहित! यह बिना विचारे प्रकट की गई (समाने रखी गई) बात है॥177॥

क्योंकि, इस विश्व में प्राणियों, पशुओं की भी चित्तवृत्तियाँ विचित्र हैं, तो फिर मनुष्यों की चित्तवृत्तियों के बारे क्या कहना?॥178॥

सिंह बली होकर भी हरिण और सूअर का मांस खाता है और वर्ष में एक ही बार रतिकार्य करता है। रुखड़े कंकड़ों को खाकर भी कबूतर दिन-प्रतिदिन कामी होता जाता है, तो कहें, इसमें क्या कारण है?॥179॥

यह सुनकर राजा ने कहा— मनुष्यों के लिए यह अतिशय साहस की बात है। जो उत्तर देने में समर्थ नहीं है, यह सभा में आकर बोले ॥180॥

राजा के सम्मान्य और पुण्यार्थियों के लिए अतिशय उदार संध के धुरन्धर उद्धारक श्रीहेमसूरि बोले— ॥181॥

10. अनन्तर, एक दिन श्रीभागवत-दर्शन के ज्ञाता, महाविद्वान् सारस्वत उत्तर के प्रस्तोता तथा बुद्धि के धाम 'देवबोध' नाम के व्यक्ति अणहिल्लपुर आये। अनुचरों ने श्रीसिद्धाधिपति को इसकी सूचना दी॥182-183॥

तदनन्तर राजा ने श्रीपाल नाम के कविराज को बुलाकर एकान्त में मन्त्रणा की कि यह आपका सहोदर जैसा ही उपस्थित हुआ है॥184॥

हमें देखना चाहिए कि वह देवबोध नाम के महाविद्वान् कैसे हैं! तपस्या से तेजोदीप्त वह निस्पृहता के कारण सभा में कभी नहीं आये थे॥185॥

अपने देश में आये हुए दूसरे देश के जो विद्वान् सम्मानित नहीं होते तो अपयशकारी उस आत्मापराध का निवारण कौन कर सकता है?॥186॥

अनन्तर कविराज भी बोले— जो विद्वान् आडम्बरी होते हैं, वह स्वयं निस्पृह होते हैं, परन्तु लक्ष्मी के बिना उनके परिजन कैसे रहते हैं?॥187॥

वह लक्ष्मी आप जैसे विद्वत्प्रिय राजाओं के माध्यम से देती है, अन्यथा इस लक्ष्मी के अर्जन में दूसरा कोई उपाय नहीं है॥188॥

लेकिन यदि श्रीभारती के भक्तिवश स्वामी (राजा) का आदर मिलता है तो सुधर्मा (देवसभा)—सदृश अपनी सभा में उन्हें बुलाइए॥189॥

ऐसा ही हो—राजा के यह कहने पर प्रधान पुरुषों को भेजा गया। उन्होंने वहाँ जाकर उन मदोद्धत (विद्वान्!) से कहा— हम राजा की आज्ञा से आपको बुलाने आये हैं।

आप जैसे स्पृहा-रहित आत्मावालों के लिए हमारे राजा क्या कर सकते हैं?॥190-91॥

काशी-नरेश और कान्यकुब्ज-नरेश को देखने के बाद स्वल्प देशवाले गुर्जर-नरेश की हम कैसे गिनती करें?॥192॥

यदि आपके स्वामी हमें देखना चाहते हैं तो वह धरती पर बैठकर मुझे सिंहासन पर बैठे हुए देखें॥193॥

इस प्रकार उन्हें विदा कर दिया गया और जैसी स्थिति थी, उसे उसी रूप में सूचित करते हुए राजा ने कविराज की बात से चमत्कृत होकर उनसे कहा-॥194॥

शान्त जैन मुनियों के विना घमण्ड से भरी बुद्धिवाला कौन है? तारतम्य (अनुपात) पर आश्रित ज्ञान रहने पर घमण्ड का कोई अवकाश नहीं, अर्थात् घमण्ड की कोई गुंजाइश नहीं रहती॥195॥

तदनन्तर एक दिन, इनका व्यवहार देखना चाहिए, इस कुतूहल से श्रीपाल-सहित राजा उनके घर आये॥196॥

सिंह के समान दुर्धर्ष कवीश्वर देवबोध को सिंहासन पर बैठे हुए तथा विद्वद्वृन्द से सेवित देखा॥197॥

विनयावनत राजा ने अतिशय भक्ति के साथ उन्हें नमस्कार किया। गुणी सज्जनों के मन में घमण्ड की कोई गुंजाइश नहीं रहती॥198॥

प्रत्यक्ष विश्व-रूप उन राजा को विश्व-रूप श्रेष्ठ आशीर्वाच्य से अभिनन्दन करके और हाथ के इशारे से जमीन को दिखलाते हुए कवीश्वर ने कहा - हे राजन्! यहाँ बैठें। तब यह सुनकर राजा ने श्रीपाल-कृत काव्य स्पष्ट शब्दों में कहा- ॥199-200॥

जैसे- पर्वतों का मुकुट - सदृश मेरु यहाँ ही अवस्थित है; और दूसरे सात समुद्र भी यहीं अपना भार डाले हुए हैं; शेषनाग के दम्भ-रूप स्तम्भ की ऊर्जा के समान स्थिर यही धरातल यहीं हमारे जैसों के लिए स्थान है॥201॥

यह कहकर, प्रतिहारी (द्वारपाल) द्वारा बिछाये गये वस्त्र से आवृत धरती पर दोष-रूप शत्रुओं के विनाशक राजा बैठे॥202॥

राजसभा के लिए अनुचित (स्थिति में बैठा हुआ) यह कौन है, ऐसा कविराज द्वारा हाथ से संकेत करने पर राजा ने क्लेशपूर्ण वाणी में कहा-॥203॥

एक दिन के लिए किये गये समृद्ध प्रबन्धवाले यह कृतीश्वर हैं। मान के केन्द्र-स्वरूप श्रीपाल नाम के प्रसिद्ध कविराज हैं॥204॥

श्रीदुर्लभसरोराज ने शिव के महालय में अनिर्वाच्य रस से युक्त काव्यों (श्लोकों) द्वारा प्रशस्ति प्रस्तुत की॥205॥

और फिर, 'वैरोचन-पराजय' नाम के महाप्रबन्ध की रचना की। सज्जनों द्वारा उपहास-योग्य इस (प्रबन्ध) के बारे में क्या नहीं कहा जा सकता है॥206॥

यह सुनकर मुस्कराते हुए कवि देवबोध ने कहा-पर्वत की अधित्यका (ऊर्ध्वभूमि) के समान गर्व से सुशोभित यह एकमात्र काव्य है॥207॥

एक आँख से विकलांग होते हुए श्रीशुक्राचार्य कवि कहलाते हैं। दोनों आँखों से विहीन आपको कविराज कहना अधिक उपयुक्त है॥208॥

अतिशय शीघ्रता में रची गई दीवार के अन्तर्गत की आकृति के प्रति अभिमान

कैसा? है धीमान्! आप मेरी एक बात सुनें॥209॥

वह बात इस प्रकार है -

ओ गाँव के बुनकर! इस वस्त्र को बुनते समय चिथड़े जैसे वस्त्र बुनने के भ्रम में अपनी आत्मा को बार-बार क्यों आयासित करते हो? देर से ही सही, एक भी सुन्दर नया वस्त्र यदि बुनते हो, तो उसे क्षण भर के लिए भी राजपत्नियाँ अपने कुच-स्थल से नहीं हटाती हैं॥210॥

किसी दुर्गम समस्या को पूछें- ऐसा राजा के कहने पर श्रीपाल ने स्पष्ट रूप से एक शिखरिणी का पद (चरण) कहा- ॥211॥

वह पद है -

‘कुरङ्गः किं भुङ्गे मरकतमणिः किं किमशनिः।’

अर्थात्, मृग क्या भृंग है, मरकत मणि क्या वज्र है?

उस समस्या के पाठ के सम्बन्ध में पूछने पर कविनायक ने यह कहा- इस प्रकार की समस्या के तीन चरणों को प्रस्तुत करने में विलम्ब कैसा?॥212॥

वे तीन चरण समस्या-पूर्ति के इस प्रकार हैं-

चिरं चित्तोद्याने चरसि न मुखाब्जं पिबसि च

क्षणादेणाक्षीणां विषयविषमुद्रां हरसि च।

नृप! त्वं मानाद्रिं दलयसि च किं कौतुककरः

कुरङ्गः किं भुङ्गे मरकतमणिः किं किमशनिः॥213॥

अर्थात्, चित्त-रूप उद्यान में देर तक टहलते हैं नहीं, अपितु मुख-कमल को आँखों से पीते हैं। और फिर, क्षण भर मृगाक्षी की विषय-विष से युक्त मुद्रा का हरण करते हैं। हे राजन्! आप मान-रूप पर्वत का दलन करते हैं। कौतुक उत्पन्न करनेवाला कुरंग (मृग) क्या भृंग है और मरकतमणि क्या वज्र है?॥213॥

मेरे पास से व्यवहारवश एक ‘किं’ शब्द को ग्रहण करें। जहाँ दुस्स्थिति हो, और जिसका अधमर्ण (ऋणी) वह क्या नहीं है?॥214॥

ऐसी इस समस्या का अनेक विषम अर्थ कहे जाते हैं। जिसका एक चरण, दो चरण और तीन चरण विद्वानों के लिए उचित हैं॥215॥

हे राजन्! शब्दों की विचित्रता से युक्त ये, शून्य प्रश्न के समान हैं। इसके जैसी भणिति विद्वानों की सभा में निन्दनीय है॥216॥

जैसे -

1. पौत्रः सोपि पितामहः।

2. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

3. नमः कर्पूरपूराभं चन्द्रो विद्रुमपाटलः।

कज्जलं क्षीरसंकाशं....।

वाक्य के अनुपद ही कवीश्वर ने उन समस्याओं को पूरा कर दिया। सिद्ध सारस्वत पुरुषों के लिए देर से कविता कहाँ होती है?॥217॥

वे हैं-

(1) शम्भु की जलमयी इस एक मूर्ति को नमस्कार करता हूँ। कमल से उत्पन्न होने के कारण जिसका पौत्र है, वह भी पितामह है? हे महाराज! आपके प्रयाण (यात्रा) करने पर लोग चंचल, चकित और त्रस्त हैं।

(2) आप हजार मस्तक, हजार आँख और हजार पैरवाले पुरुष हैं। 218-19॥

(3) मूँगे की तरह पाटल वर्ण का चन्द्रमा आकाश को कपूर के प्रवाह की आभावाला और काजल को दूध के जैसा उज्ज्वल धीरे-धीरे करेगा। 220॥

तब, इस प्रकार, गोष्ठी में (उपस्थित) महाविद्वान् सिर हिलाने लगे। कुछ क्षण और ठहरकर राजा अपने महल में चले गये। 221॥

11. एक दिन, श्रीदेवसूरि द्वारा शास्त्रार्थ में विजयी होने की घड़ी में राजा ने हर्षपूर्वक उनके (जीवन के) उद्धार के लिए एक लाख धन दिया। 222॥

और फिर, दूसरे स्रोत से प्राप्त धन से जैन मन्दिर को ऊँचा करने पर ध्वजारोपण नाम के महोत्सव को सम्पन्न किया गया। 223॥

देवबोध ने भी हर्षपूर्वक वहाँ सत्पात्र को बुलाया। धर्म में आने पर राजा भी औरों के ही समान थे। 224॥

श्रीजयसिंह मेरु नाम के व्यक्ति महेशभुव नाम से शंकर को आते हुए देखकर व्याघ्रपद की रचना की। 225॥

क्योंकि प्रियतम (पार्वती) के आधे शरीर को अपनानेवाले शिव एकमात्र रागियों के बीच विराजते हैं।

श्रीसम्पन्न राजविहार में आयोजित उन्नत उत्सव में वह भी सम्मिलित हुए। दूसरे अर्हत् के समान उन्हें देखकर उन्होंने उनके पैरों को प्रणाम किया। 226॥

ललनाओं (स्त्रियों) के आसंग से विमुक्त जिन जैसा विरागहीन दूसरा नहीं होता। तब वहाँ अपने ज्ञान की आशा से अहंदोष बुद्धिवाले शंकर ने महासभा के सभासद, चोटी के पण्डितप्रवरों को अवहेलनापूर्वक देखकर कहा— 227॥

उनका कथन इस प्रकार है—

दुर्निवार काम-रूप घस्मर (निगल जानेवाला) जैसे सर्प के विष से व्याप्त मूढ़ जन काम से परेशान शेष की तरह विषयों को न भोग सकता है, न छोड़ सकता है। 228॥

भद्रासन पर आसीन उन्होंने शक्ति प्रकट करने के लिए राजा ने कहा—किसी पामर (गँवार) आदमी को बुलवायें। 229॥

राजा का आदेश मिलने पर प्रतिहार तत्क्षण शीघ्र ही श्रीसिद्धाधीश के सरोवर से सरोवर के किसी वाहक को ले आया। 230॥

भगवान् राजा ने भी उससे पूछा—क्या तुम्हें अक्षर से परिचय है? उसने अपने गोत्रज के समान बात कही— 231॥

स्वामिन्! मैंने अपने जीवन में 'धा' और 'जा' इन दो अक्षरों के अतिरिक्त कुछ नहीं सीखा। लाल आँखवालों के प्रति मैं भी रक्ताक्ष हुआ; उसके पुच्छ और मुख में भूत और वर्तमान को देखा। 232॥

उसके सिर पर हाथ रखकर विद्वानों के अधिपति देवबोध बोले— आप लोग इनकी बात सुनें॥233॥

तदनन्तर सभासदों के सावधान होने पर रानी के महामात्य काव्य के अभ्यासी की तरह स्थिर और धीर वाणी में यह बोले—॥234॥

जिसके हाथ के स्पर्श-मात्र से व्यामोह से मलिन हृदय में तत्क्षण गद्य-पद्य के प्रबन्ध की रचना में विदग्धता प्राप्त होती है॥235॥

यह सुनकर साधारण और उत्कृष्ट कानवालों को चमत्कृत करनेवाले इन कवीश्वर को सिद्धाधीश्वर ने एक लाख धन दिया॥236॥

12. पहले से ही उन कवीश्वर के प्रति विरसता के कारण थोड़ा ईर्ष्यालु मनवाले कृती प्रभु श्रीपाल ने इनके चरित्र के विषय में खोज की॥237॥

एक दिन गुप्तचरों द्वारा भगवान् (कवीश्वर) के अतिशय अवज्ञा के योग्य चरित्र को अच्छी तरह जानकर प्रभु ने कहा—॥238॥

हमारी प्रीति से अश्रद्धेय बात पर भी श्रद्धा करनी चाहिए। जिसे आँखों से प्रत्यक्ष देखा है, उसके प्रति भी मन में सन्देह होता है॥239॥

वेद का ज्ञाता तथा सोमरसपायी एवं भागवत व्रत को प्राप्त (व्यक्ति) यज्ञोपवीत को जलाकर गांगजल पीता है, वही सारस्वत तट पर यतियों के आश्रमाभासी आचरणवाला मध्य रात्रि में अपने परिवार के साथ वारुणी (मदिरा) पीता है॥240-241॥

राजा, विद्वान्, कवि, शूर, गुरु और वक्र शनि वारुणी के आसंग से विनष्ट हो जाते हैं—यह आश्चर्यकारी नहीं है?॥242॥

सम्भ्रम से उद्भ्रान्त आँखोंवाले कविराज ने भी कहा—यह कैसे (घटना) घट गई, इसे देखकर भी इसपर श्रद्धा नहीं होती॥243॥

इस चौथे आश्रम में स्थित के भोग-व्यवहार से भी कोई प्रयोजन नहीं है, तो फिर इसके आचार-विरुद्ध दर्शन के बारे में क्या कहा जाय?॥244॥

वे बोले—हम अपनी आँख से देखकर कह रहे हैं, अन्यथाभाव से नहीं। जिसके बारे में आदेश करें, उसे ही प्रतिज्ञावश देख रहा हूँ॥245॥

श्रीपाल ने श्रीमान् राजा जयसिंह से कहा— आज वहाँ संगति होने पर रात्रि के उत्तरार्द्ध में दिखायें॥246॥

‘हाँ’ कहकर स्वीकार करने पर उन्होंने राजा के समक्ष वास्तविक स्थिति सूचित की कि यह पूर्णतः सिद्ध सारस्वत कवि हैं॥247॥

यह सुनकर राजा ने कहा— यदि यह सत्य है तो मुझे दिखलायें। साक्षात् देखने पर भी यह साफ प्रतीति नहीं होती॥248॥

तब अर्द्धरात्रि में राजा देखी-सुनी राह से चलकर काथर आदमियों द्वारा दुष्प्राप्य गीली बालू से युक्त स्थान पर पहुँचे॥249॥

पेड़, लता और बड़ी-बड़ी झाड़ियों से आच्छादित स्थान को राजा जब देखते हैं, तब उन्हें वह उन्मत्त अनुचरों से आश्रित दिखाई पड़ा॥250॥

वहाँ यथेच्छ रूप से अव्यक्त स्वर से पूर्ण गीत हो रहा था; सब मित्रभाव से एकत्र होकर प्याले में लबालब मदिरा छलका रहे थे॥251॥

अतिशय विश्वस्त सिद्धराज भी इस अति जघन्य स्थिति को देखकर नाक सिकोड़ते हुए मन में सन्देह ले बैठे॥252॥

संसार की विचित्रता अद्भुत है! दर्शन के आश्रित विद्वान् भी इस प्रकार मर्यादा-विहीन कुत्सित कर्म करते हैं॥253॥

यदि मैं अभी इन्हें साक्षात् रूप में नहीं कहता हूँ तो सुबह में, यह दुश्चरित्र है, ऐसा नहीं मानेंगे क्या?॥254॥

यह ऐसा सोच ही रहे थे कि राजा की वाणी कानों से प्रविष्ट हुई— वह वाणी प्रकट थी और अतिशय कैलिवश रस की कोटि को प्राप्त थी॥255॥

अन्तिम दशा में अपने अधिपति को देखकर उनके तेज के प्रसार से उज्ज्वल चौदनी सती की स्थिति को प्राप्त होकर सुशोभित और अनुगामिनी होती है॥256॥

प्रसन्ना (मदिरा-विशेष) के आस्वाद से अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने स्थान को जाते और विश्राम करते हैं॥257॥

इस प्रकार अपनी स्मृति के अनुसार राजा ने उन्हें प्रकट रूप से कहा— हमारा यदि सहयोग हो तो स्वाद से कौन विमुख होता है?॥258॥

क्षणभर सोचकर समुत्पन्न प्रतिभा से युक्त वह बोले—हे राजन्! आपके निधि-सहित भाग्य (भाग) से हम संवर्द्धित होते हैं॥259॥

अनन्तर राजा ने सुवर्ण का पात्र भरकर उन्हें अर्पित किया। जब उस पात्र को देखते हैं, तब वह दूध से भरा हुआ दिखाई पड़ा॥260॥

पीने पर वह अमृत जैसा आस्वादवाला प्रतीत हुआ। तब राजा ने क्षणभर के लिए सोचा—शक्ति से आवृत यह रस दूध है या मद्य है?॥261॥

इसे यदि पुनः पीया जाय तो यह अद्भुत शक्ति और प्रतिभा-सम्पन्न प्रतीत होगा। तदनन्तर इन विद्वान् ने इस अवसर को त्याग दिया॥262॥

तदनन्तर देवबोध ने सुबह राजसभा में जाकर कहा—हे महाराज! आपसे अनुमति चाहता हूँ, हम लोग तीर्थ की यात्रा करना चाहते हैं॥262॥

श्रीसिद्धभूषति ने कहा—आप जैसे मुनीश्वर हैं, तो देश के शान्तिजल को, प्रत्येक कानवाला कौन ऐसा है, जो परित्याग करेगा॥264॥

उन्होंने कहा—जहाँ राजा विश्वस्त रूप से अर्थवाद से काम लेता है, वहाँ दुर्जनोचित भाषा की स्थिति युक्त नहीं है॥265॥

कुल, विद्या, वय, ज्ञान और शक्ति यदि मनुष्य को सज्जनों द्वारा निन्दनीय कर्मों से विमुख नहीं कर पाते हैं तो और उपायों से क्या होगा?॥266॥

देव, देवियाँ और महामन्त्र तथा अनेक विद्याएँ जिसके वश में हैं और आठ सिद्धियाँ जिन्हें प्राप्त हैं, वे स्वस्थ हैं; किन्तु आधुनिक लोगों से यह क्या सम्भव है?॥267॥

तो हे राजन्! यह सभा स्पष्टतः हम जैसों के योग्य नहीं है। ऐसी सभा तो ग्रामनट जैसे ग्राम्यजनोचित व्यक्तियों के संयोग के समान है॥268॥

राजा ने कविश्रेष्ठ श्रीपाल से साभिप्राय कहा— आपने शान्त पुरुष की कोपयुक्त बात सुनी है?॥269॥

प्रज्ञाचक्षु कवि ने सोचा— कार्य के सम्मानवश दण्डित यह भिक्षु मानों क्रियाभ्रष्ट और बेतरतीब रूपवाला बन गया है॥270॥

और बोला— हे महाराज! यह अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न है। महाप्रभावशाली मुनि अपने देश से अन्यत्र न भेजने योग्य होते हैं॥271॥

विद्वान् द्रव्य (धन) से या चाटूक्तियों से अनुकूलित नहीं किये जा सकते हैं। जाने हुए स्वभाववालों विद्वान् केवल सज्जनोचित वात्सल्य से ही अनुकूल होते हैं॥272॥

राजा ने सुनने योग्य तथ्यपूर्ण वचन सुनकर, अपने सिर को मुनि के चरणों से सटाकर विनयपूर्ण यह बात कही— ॥273॥

मुनिजोचित सच्चारित्र के माहात्म्य से राजा पृथ्वी का पालन करते हैं और इन्द्र की तरह विराजते हैं। इसमें दूसरा कोई कारण नहीं है॥274॥

हे क्रियानिष्ठ मुनिश्रेष्ठ! आप हमारे देश में ही रहें। महात्मा पुरुष याचकों के प्रणय (प्रार्थना) का भंग नहीं करते॥275॥

तब इस प्रकार की बातों से गुरु प्रसन्न हो गये। तीन वर्ष पूरा होते ही धीरे-धीरे दरिद्रता आ गई॥276॥

उसके क्रय-विक्रय के व्यवहार से धन की आय नहीं होने लगी। राजा द्वारा दिये गये ही धन का भोग करता था, उसके विना दुस्थिति आ गई॥277॥

श्रीहेमचन्द्रसूरि को इस बात की जानकारी हो गई। श्रीश्रीपाल ने उनके पास इस रहस्य के बारे में सलाह की ॥278॥

वह भिक्षु अपने आचार से भ्रष्ट, नष्ट क्रियावाला कुबुद्धि होने के साथ ही निष्ठानिष्ठ यतियों के लिए अदृश्य रूप से वक्र और कदाचार का केन्द्र हो गया॥279॥

दरिद्रता की राजधानी होने के कारण वह सम्प्रति ऋण से जर्जर, मद से उद्धत तथा अतिशय चंचल, लीलावश विनष्ट भूमिवाला हो गया॥280॥

सम्प्रति वह सपरिवार भिक्षा के अन्न से भोजन का निर्वाह करता था। अपने लक्षणों से उसने दर्शनाचार में दर्शनी स्थापित की॥281॥

आठ सिद्धियों और छह सदगुणों से युक्त उसने अणिमा और लघिमा जैसी अद्भुत सिद्धियाँ भी प्राप्त कीं॥282॥

अपने तेज से मूर्तिमान् देवेन्द्र जैसे श्रीसिद्धाधीश्वर को महल के शिखर पर स्थित काले कौए जैसा सिंहासन पर बैठे हुए देखा॥283॥

भूमि पर वर्णाश्रमगुरु को जो उपदेश दे रहा था, वह उस विवेकहीन का मान्य के प्रति अवज्ञा-रूप लता का फल था॥284॥

मैंने भी सुना कि उनकी सलाह, ऋण-रूप उपद्रव जैसा हमारे लिए है। जो राजा द्वारा पूज्य हेमचन्द्र के विना उऋण होना सम्भव नहीं है॥285॥

यदि वह पूज्य के पास आते भी हैं तो भी वह मान्य नहीं हैं। इस पतित का मुँह कौन विद्वान् देखता है?॥286॥

अनन्तर गुरु ने कहा—आप जो कह रहे हैं, वही वह है? इसके एकत्र गुण में ही

मेरा बहुमान है, अन्यत्र नहीं। इनके विना अनन्यसामान्य संक्रमणकारी सारस्वत श्रेष्ठ गुण अन्यत्र कहीं भी नहीं देखा जाता है।॥287-288॥

तदनन्तर वह विषहीन सौंप की तरह यदि आयेंगे तो मलिन मानवाले इनके जैसे बुद्धिमान् को सत्कार कहाँ प्राप्त होगा।॥289॥

अनन्तर कविराज ने भी कहा—महान् लोग गुण ही देखते हैं। काला मोती भी कृष्ण के समान होता है। अन्य ठजला मोती जैसी वस्तु तो कुत्ते के दाँत जैसी है।॥290॥

मैंने अपना अभिप्राय कह दिया; आगे फिर बहुश्रुत पूज्य जनों द्वारा अपने विचार के अनुसार गरिमोचित कार्य किया जाना चाहिए।॥291॥

एक दिन दूसरे ग्रन्थ की रचना में व्यस्त महाकवि के पट्टिका-रूप पट्टों पर राह चलते हुए लिखे जानेपर शब्द की व्युत्पत्ति के निमित्त परस्पर ऊहापोह में व्यस्त पुराने कवियों द्वारा सन्दर्भित दृष्टान्त-रूप शब्द से युक्त ब्रह्मोल्लास के निवास-रूप सरस्वती के पितृ-मन्दिर में प्रतिष्ठित विद्वान् श्रीहेमचन्द्र सूरि के निवास पर क्षुधा से पीड़ित परिवार द्वारा प्रेरित होकर वह दूसरे दिन अपराह्न में प्रतिहार द्वारा आने की सूचना पर आये।॥292-295॥

मन्त्र और औषधि की प्रभा से स्थिर आग की तरह शीतल तेजवाले देवबोध जैसे प्रकाण्ड विद्वान् के सम्मान में वे उठ खड़े हुए।॥296॥

विद्वत्-शिरोमणि द्वारा उच्चरित 'स्वागत है, स्वागत है', ऐसा शब्द सुना गया। मैंने पुण्य अर्जित किया था। आप मेरी आँखों के अतिथि हुए।॥297॥

हे कलानिधे! संकट-काल में भी वृद्धि-प्राप्त कला की प्रगल्भता से विभूषित! आप हमारे आधे आसन को अलंकृत करें।॥298॥

यह सुनकर देवबोध ने भी सोचा कि वह मेरे मर्म को जानते हैं। कथन से कथन की अतीत कला को हम नहीं जान रहे हैं।॥299॥

भाग्यलक्ष्मी से अर्जित वह जैसे-तैसे महाविद्वान् हैं। इसमें ईर्ष्या कैसी? स्वच्छ व्यक्ति के प्रति बहुमान शुभोदय का प्रतीक है।॥300॥

वर्तमान समय में इनके समान विद्या और पुण्य में कौन है? गुण के प्रति प्रतिद्वन्द्वी कौन हो सकता है, इसलिए इस सन्दर्भ में प्रांजलता (सरलता) उचित है।॥301॥

इनसे अनुमत आधे आसन पर कृती बैठ गये। मन से सब उन्हें पुरुष-रूप में सरस्वती मान रहे थे।॥302॥

सार-रूप सारस्वत प्रतिभा से उज्ज्वल उन्होंने बरसनेवाले मेघ की प्रभा से पुलकित अंकुर जैसे पार्षदों से विस्मयपूर्वक बात कही।॥303॥

जैसे-दण्ड और कम्बल वहन करते हुए, जैन गोचर से षड्दर्शन-रूप पशुओं को चराते हुए हेमगोपाल हमारी रक्षा करें।॥304॥

सिर हिलाते हुए सामाजिकों ने इस श्लोक को सुनकर सच्चे अर्थ की पुष्टि हो जाने से अतुलनीय विस्मय में पड़ गये।॥305॥

तदनन्तर उन प्रभु ने श्रीपाल को बुलाकर उनके प्रति स्नेह प्रदर्शित किया। व्रत में स्थित लोगों का पहला धर्म निश्चित रूप से विरोध को शान्त करना है।॥306॥

तदनन्तर श्रीमान् जयसिंह नरेश को इनके वृत्त की जानकारी दी और उनके पास से इन्हें एक लाख धन दिलवाया।॥307॥

अन्य दर्शन से सम्बद्ध विद्वानों को प्रणाम करने के माध्यम से अपने भाग्य, शक्ति और आयु की स्थिति के हीन होने के सम्बन्ध में अच्छी तरह विचारकर महामति देवबोध उन-उन स्थितियों से उद्धृण हो गये और उस द्रव्य के साथ गंगा में जाकर (डूबकर) परभव को प्राप्त हुए॥308-309॥

13. एक दिन सिद्धभूपाल सन्तानहीनता के कारण से पीड़ित होकर विना जूते का पैदल ही तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े॥310॥

हेमचन्द्र प्रभु भी उनके साथ चले। विना चन्द्रमा के नीलकमल क्या खिल सकता है?॥311॥

दोनों पैरों से पैदल चलते हुए प्रभु ने जीवरक्षा के निमित्त मूर्तिमान् संयम के समान धीरे-धीरे जाते हुए जिन (साधु को) देखा, उन साधु ने यान-वाहन पर चढ़ने के लिए आग्रह करने पर भी अपने चरित की स्थिति का खयाल कर निषेध कर दिया। तब प्रभु ने उनसे सौहार्दपूर्वक कहा—आप सब कुछ दुःखी एवं चेतनाशून्य भी हैं॥312-313॥

साधु ने प्राकृत के माध्यम से उत्तर दिया कि हम 'निजड' हैं। राजा ने चमत्कृत होकर सोचा और फिर कहा— आप सजड जड हैं॥314॥

हम सुधी तो अपने आचार का पालन करनेवाले हैं। 'निजडा' अवश्य ही चमत्कारी प्रयोग है, जो सूरि की ध्वनि की व्याख्या में अवश्य ही अतिशय चातुरी को संकेतित करता है॥315॥

तीन दिन भी नहीं बीते थे कि रास्ते में राजा को कुपित जैसा जानकर उनकी सान्त्वना के लिए हम आ गये॥316॥

प्रति सीर (खेत में हल से बनी रेखा) के बीच के स्थान में आचाम्लपूर्वक (व्रतविशेषपूर्वक) भोजन करें। उसे छोड़कर राजा ने उनके खाने की विधि देखी॥317॥

ओह! ये तो जितेन्द्रिय हैं। जल से अन्न गीला हो गया है। उसे ही आकर्षित कर ये उसे ग्रहण करते हैं। निश्चय ही इनका तप दुश्चर है॥318॥

अज्ञान में ही ये लोग मिष्टान्नभोजी हो गये। भक्ति की अतिशयता ही भव्य लोगों के वृत्त का वर्णन करती है॥319॥

यह सोचकर आपके शरीर की पीड़ा के विनाश के लिए अभक्तिवश कर्कश बात कहने का अपराध किया, इसलिए हे पुरुषश्रेष्ठ! मुझे क्षमा करें॥320॥

सूरि बोले—हे महाराज! क्रूर और द्वेषपूर्ण चरितवाले राजा या दरिद्र के लिए कर्कश या प्रिय वाणी का प्रयोग क्या किया जा सकता है?॥321॥

क्योंकि—हम भिक्षान्न खाते हैं, जीर्ण वस्त्र पहनते हैं; धरती की पीठ पर सोते हैं। धनवानों से हमें क्या लेना-देना है॥322॥

तदनन्तर राजा ने उन्हें सम्मानित कर तथा ब्राह्मणों के लिए सिंहपुर नामक स्थान प्रदान कर श्रीपूर्ण शत्रुंजय गिरि पर आरूढ़ हुए॥323॥

वहाँ युग के आदि प्रभु को नमस्कार कर तथा भाव से अर्चना कर अपने को कृतार्थ तथा अतिशय हर्ष का केन्द्र माना॥324॥

राजा ने वहाँ तीर्थ की पूजा के लिए बारह गाँव प्रदान किये। जो महान् थे, वे अपने अनुमान से पूजा करते थे॥325॥

तदनन्तर स्वामी पहाड़ी रास्ते से शीघ्र ही रैवतक पर्वत के निकट, पुण्यवानों के लिए कसौटी-स्वरूप भूमि पर गये॥326॥

उन राजा ने संकलीग्राम के निकट आवास बनाया। वहाँ रहकर वह आँखों के लिए अमृत रसायन-स्वरूप पर्वत को देखते थे॥327॥

तब, पर्वत की ऊर्ध्वभूमि पर अवस्थित श्रीनेमिचैत्य की जीर्णोद्धार श्रीमान् सज्जन मन्त्री ने करवाया॥328॥

उज्ज्वल प्रासाद को देखकर, राजा ने पूछा तो तीर्थ की प्रभावना से प्रफुल्ल आँखोंवाले उन मन्त्री ने कहा— ॥329॥

हे महाराज! यादव-वंश के शिरोभूषण-स्वरूप जिनेश्वर का यह प्रासाद आप स्वामिपाद की ही कृति के रूप में दिखाई पड़ रहा है॥330॥

राजा ने कहा—श्रीहेमचन्द्र के उपदेश से उज्जयन्त महातीर्थ को जानता हूँ। वहाँ श्रीनेमिनाथ तीर्थकर विराजते हैं॥331॥

मेरी कृति जगत्पूज्य कैसे हो? ऐसे संशय की बात सुनकर मन्त्री ने कहा—सावधानी रखें॥332॥

आज से पूर्व नौवें वर्ष में स्वयं स्वामी द्वारा अधिकृत किये गये जिस गिरि पर उन्होंने आरोहण किया, उसपर जीर्ण जिनालय को देखा॥333॥

प्रतिवर्ष तीन लाख व्यय करके स्वामी ने चैत्य का उद्धार किया। स्वामिपाद द्वारा यदि यह चैत्य अनुमत नहीं होता तो प्रामाणिक भी नहीं होता॥334॥

राजा सत्ताईस लाख द्रम्म (सिक्का-विशेष) ग्रहण करें—यह सुनकर अतिशय रोमांचित प्रभु बोले—॥335॥

हे मन्त्रिन्! यह आपने कैसे कहा—अशाश्वत (क्षणभंगुर) द्रव्य से मेरे शरीर को शाश्वत (चिरस्थायी) करें तथा उसे महान् पुण्यशाली और यशोमय बनायें॥336॥

मेरा इस लोक और परलोक में आपके समान स्वजन कौन है? हमारे मित्र विषाद न करें, इसीलिए उस पर्वत पर आरोहण किया जाता है॥337॥

इस प्रकार बात करने के तुरन्त बाद ही स्वामी पर्वत की अधित्यका पर चले गये। वहाँ मण्डप की शुद्ध भूमि पर रहकर 'जिन' को अष्टांग-सहित प्रणाम किया॥338॥

पीठ पर ले आने के बाद उस आदमी को यह कहकर रोक दिया कि इस तीर्थ में पराये को यहाँ के आसन आदि पर नहीं बैठना चाहिए॥339॥

पलंग पर सोना तथा खाने के बाद डकार नहीं लेना चाहिए। स्त्री-प्रसंग, प्रसव-कार्य और दही बिलोने का काम भी नहीं करना चाहिए—॥340॥

इत्यादि सिद्ध-मर्यादा आज भी शाश्वत रूप में विद्यमान है। तदनन्तर उन्होंने 'जिन' की स्वर्ण-रत्नमय फूलों से अर्चना की॥341॥

तब अम्बा-शिखर पर जाकर अम्बा देवी की पूजा करके उन्हें प्रणाम किया। और उन्होंने कौतूहलपूर्वक 'अवलोकन-शिखर' पर आरोहण किया॥342॥

वहाँ भक्ति-भाव और विनयपूर्वक नेमिनाथ को नमस्कार कर दिशाओं की ओर देखा, तो उस चारण ने कहा-॥343॥

“हे सिद्धेश! यह आप जान लें कि आपने जो गिरनार पर्वत के शीर्ष पर आरोहण किया है, उससे सुन्दर देश अलंकृत हुआ है॥344॥” (इस छन्द की अपभ्रंश-भाषा दुरूह है। यह अर्थ अनुमानाश्रित है।-अनु०)

राजा पर्वत से उतरकर श्रीहेमचन्द्र के साथ श्रीसोमेश्वर पत्तन में स्थित शिवालय में गये॥345॥

सूरि ने वहाँ परमात्मा के स्वरूप की स्तुति की और उन्हें नमस्कार किया। विरोधहीनता ही मुक्ति का श्रेष्ठ कारण है॥346॥

नमस्कार-मन्त्र का अनुदित रूप— जहाँ-तहाँ समय पर जैसे-तैसे आप जो हैं, सो हैं, जिस-तिस नाम से हैं। दोष-कालुष्य से रहित आप एक ही हैं। हे भगवन्! आपको नमस्कार है॥347॥

महादान देकर और अद्भुत महिमा से युक्त पूजा करके राजा अम्बिका से समादृत (सनाथ) कोटिनगर लौट आये॥348॥

सन्तान की चिन्ता से आक्रान्त उन्होंने अम्बिका की आराधना की॥ ब्रह्ममूल में आवसित श्रीहेमचन्द्रसूरि ने उनका सम्मान किया॥349॥

तीन दिनों का उपवास करके उन्होंने शासनदेवी का आवाहन किया। वह देवी प्रत्यक्ष होकर बोली— हे मुने! मेरी बात सुनें—॥350॥

इस राजा को सन्तान का भाग्य नहीं है और न वह जीव भी ऐसा पुण्यात्मा हैं। इस समय राजा के भ्रातृज ‘कुमार’ ही भावी भूपति होगा, जो पुण्य प्रताप की महिमा से ऊर्जित होगा। वह अनेक दूसरे राज्यों को जीतनेवाला होगा और परम अर्हत् की कृपा से उन राज्यों का भोक्ता भी होगा॥351-52॥

पुत्र-रूप प्रजा के अभाव की पीड़ा से शक्ति तथा भीतर मन से दुःखी राजा अनायास उत्सवोदय से युक्त अणहिल्लपुर पहुँचे॥353॥

14. इधर श्रीकर्णभूपाल के बन्धु क्षत्रिय-शिरोमणि देवप्रसाद थे, सो सम्पत्ति के प्रासाद-स्वरूप थे॥354॥

उनका पुत्र श्रीत्रिभुवनपाल थे, जो सद्ब्रतों का पालन करते थे। उनका पुत्र कुमारपाल थे, जो राजकीय लक्षणों से सम्पन्न थे॥355॥

अनन्तर श्रीसिद्धभूमीश पुत्र-प्राप्ति की आशा भंग हो जाने से मन से खिन्न रहते थे। उन्होंने परमज्ञानी-तुल्य दैवज्ञों (ज्योतिषियों) को बुलवाया॥356॥

ग्रहों के संचारजन्य सद्भाव एवं प्रश्नचूडामणि की क्रमिकता तथा केवलियों से संवाद करके उन दैवज्ञों ने प्रभु के समक्ष कहा—॥357॥

हे स्वामिन्! कुमारपाल निश्चित ही आपके बन्धु का पुत्र है, वही राज्य को अलंकृत करेगा। उसके बाद यह राज्य नहीं चल सकेगा॥358॥

यह कुमारपाल अपने प्रताप से दिग्विजयी होगा एवं अनेक राजाओं को जीतनेवाला होगा। उसके बाद यह राज्य नष्ट हो जायगा॥359॥

यह सुनकर राजा, होनी अवश्य होती है, यह जानते हुए भी अतिशय द्वेष से भर गये और (कुमारपाल के) वध के इच्छुक हो गये॥360॥

कुमार को किसी तरह यह जानकारी मिल गई तो वह शिव-दर्शन के बहाने भागकर अपनी जटा बढ़ा ली और शरीर में भस्म लगाकर तपस्या करने लगे॥361॥

एक दिन गुप्तचरों से जानकारी मिली कि यहाँ जो तीन सौ जटाधारी (तपस्वी) आये हैं, उनमें आपका भ्रातृपुत्र भी है, जो आपका ही शत्रु है॥362॥

राजा ने उन सभी तपस्वियों को भोजन के लिए आमन्त्रित किया। (राजा को बताया गया कि उन तपस्वियों में) जिनके पैर में पद्म, ध्वज और छत्र का चिह्न है, वही आपका शत्रु है॥363॥

यह सुनकर राजा ने उन तपस्वियों को बुलाकर उनके चरणों को (भक्तिपूर्वक) स्वयं धोया। तभी उन्हें यह अवसर मिल गया। पैरों में पद्म का चिह्न दिखाई पड़ने पर आँख के इशारे से राजा ने उसके बारे में कहा, किन्तु कुमार भी उसे समझ गये॥364-365॥

तदनन्तर, कमण्डलु हाथ में लेकर, पेशाब करने के बहाने या छल से वह राजा के आवास से बाहर आ गये। दिन में कोई लक्ष्य न कर ले, इस बात से वह भयत्रस्त भी थे और उनके शरीर का बल भी शिथिल पड़ गया था। वह 'राजन्! बचाइए, बचाइए' इस प्रकार लड़खड़ाती आवाज के साथ हेमचन्द्रसूरि के आवास में आ गये॥366-367॥

प्रभु के द्वारा साहसपूर्वक लाख ताड़पत्रों के बीच में रखा हुआ वह पैदल आये हुए राजा के आदमियों द्वारा देखा गया, पर खयाल नहीं किया गया॥368॥

रात में उसे आकर्षित कर भेजा गया वह फिर देशान्तर में चला गया। किन्तु साहसिकता के कारण पहले जैसा ही आ गया। भाग्य का लक्षण अद्भुत है॥369॥

वहाँ से निकलकर वामदेव तपोवन-रूप तीर्थस्थान के दम्भवश वह जटाधारी निर्भय भाव से चला गया॥370॥

जबतक वह 'आली' नाम के कुम्हार के घर के निकट पहुँचता है, तभी पीठ पीछे घुड़सवार को आते देखा॥371॥

बोला—हे प्रजापते! हे शरणागतवत्सल! पराश्रित के रूप में आये हुए मुझे इस संकट से रक्षा करें॥372॥

तब उसने उसे एक सुरक्षित कोने में रखकर उसकी अवस्थिति को सोचकर शीघ्र ही आग से मुक्त कर दिया॥373॥

आये हुए घुड़सवारों द्वारा किसी जटाधारी से पूछा गया। वहाँ आया हुआ वह न तो कुछ बोला, न ही व्यग्रतावश उसे देखा॥374॥

तब, विद्या और आदर से रहित वे (घुड़सवार) लौटकर चले गये। रात में बाहर निकला वह भी देशान्तर के लिए चल पड़ा॥375॥

15. तदनन्तर ब्राह्मणों द्वारा अनुगत वह स्तम्भतीर्थपुर चला गया। तब श्रीमान् कुमार अपनी त्याग-महिमा से विशाल वृत्त (चरित्र) का केन्द्र बन गये॥376॥

वहाँ श्रीमालवंश नाम का महाधनी व्यापारी था। उद्यान नाम का एक बटुक उसके पास गया॥377॥

इसके द्वारा एकान्त में अपना वृत्तान्त सच-सच निवेदित करने पर, कुछ पाथेय के लिए प्रार्थित वह वणिक्-श्रेष्ठ बोला-॥378॥

जो राजा के लिए अनभीप्सित है, उससे स्पष्ट ही हमें कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए तुम यहाँ से जल्दी खिसक जाओ, ताकि राजपुरुष तुम्हें नहीं देख सकें॥279॥

हे बटुक! अपने स्वामी के नगर की सीमा को छोड़कर चले जाओ। ऐसा कहने पर वह निराश हो गया और डर भी गया॥380॥

यह सुनकर कुमारपाल रात में उस नगर में प्रविष्ट हुए। भूख से पेट पिचक गया था। वह उपवास का चौथा दिन था॥381॥

श्रीहेमचन्द्रसूरि चातुर्मास व्रत में थे। तब वह गौतम की तरह चारित्र के संज्ञान की लब्धि से सम्पन्न थे॥382॥

शान्ति से सम्पन्न प्रभु उत्कृष्ट व्याख्यान की लीला से, वृष्टि से मेघ के समान, सदा भव्यों की मनोभूमि को शीतल करते रहते थे॥383॥

संयोगवश कुमार वहाँ आये और उन्होंने देखा-आकृति से और विचक्षण लक्षणों से युक्त उन्हें उपलक्षित किया॥384॥

इन्हें ऊँचे श्रेष्ठ आसन पर बैठाकर स्वयं राजपुत्र भी निश्चिन्त होकर बैठे। कुमार ने कहा-आज से सातवें वर्ष में यह राजा होंगे और यह पूज्यपाद जनों की कृपा से होगा। जैसे अकिंचनों द्वारा भूख से मुक्ति पाई जाती है, वैसे ही सब कुछ इनके लिए प्राप्य होगा॥ 385-386॥

अनन्तर श्रावक के पास से इन्हें बत्तीस द्रम्म दिलवाकर पुनः कहा-आप मेरी एक बात स्थिर होकर सुनें-॥387॥

आज से आपके पास दरिद्रता नहीं आयगी। व्यवहार से और भोजन-आच्छादनआदि से भी आप अपरित्याज्य नहीं हैं॥388॥

हे विभो! मेरे द्वारा राज्य प्राप्त करने पर ऐसा ही होगा। यही अभी देखना है। ज्यादा व्यर्थ बोलने से क्या लाभ?॥389॥

यह गूढ़ बात कहकर धने बरसनेवाले मेघ से ढके पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह राजा देशान्तर को चले गये॥390॥

कौल के कापालिक व्रत में और शैव के श्रेष्ठ चित्रपट में विचरण करते समय कहीं भी कृत्रिम में कृत्रिम का संचार होता है॥391॥

तदनन्तर सात वर्ष की अवधि बीत गई। गुरु के वचन को मन में धारण करते हुए वह संकट में भी संकटहीन (शक्तिशाली) बने रहे॥392॥

भोपलदेवी पत्नी की तरह उनकी अनुगामिनी बनी रही। सभी अवस्थाओं में छाया की तरह उनका नैकट्य (सामीप्य) नहीं छोड़ती थीं॥393॥

एक कम बारह सौ वर्षों के बीतने पर राजा सिद्धाधीश स्वर्गगामी हो गये॥394॥

कहीं से यह जानकर सत्त्व-सम्पन्न कुमार अपने नगर चले गये। और, निकटवर्ती एक देश में श्रीवृक्ष के नीचे रहे॥395॥

वहाँ सुधी कुमार ने दुर्गा देवी का मधुर स्वर सुना। तब उन जिज्ञासु ने उसे भाग्य की प्रामाणिक जानकारी को देनेवाली के रूप में उन देवी का आवाहन किया॥396॥

हे ज्ञान की निधि-स्वरूपा देवी! यदि आप मेरे राज्य को देखती हैं तो मेरे माथे पर बैठकर श्रुतिसुख स्वर का उच्चारण करें॥397॥

कुमार के यह कहने के बाद ही उस देवी ने भी वैसा ही स्पष्ट रूप से उच्चारण किया— 'तू राजा', ऐसा स्वर पूरे राजमहल में उद्दीप्त से उठा॥398॥

श्रीसाम्ब का नगर के मध्य मिलित स्वर गूँज उठा। मन में राज्य की प्राप्ति में सन्दिग्ध निमित्त के अन्वेषण के प्रति आग्रह या आदर होने लगा॥399॥

विशिष्ट बुद्धि से सम्पन्न वह उनके साथ मिलकर सुप्रभु श्रीहेमचन्द्र के पास आसन से आवृत पट्ट पर बैठे॥400॥

चूँकि हमारे आसन पर आप बैठे, इसलिए आपका राज्य अवश्य होगा। इनके गुरु ने भी इसी निमित्त की बात कही थी॥401॥

राज्य की इच्छा से मैं चरण-नत दूँ, न कि निन्दा के भय से। मैं नत हूँ, इसलिए हे प्रभो! मेरे प्रति दुर्विनय की शंका नहीं करेंगे॥402॥

वहाँ 'कृष्णदेव' नाम के दस हजार घोड़ों की स्थितिवाले सामन्त थे। वह कुमार के भगिनीपति थे, जो आपस में सघन भाव से मिले हुए थे॥403॥

राज्य के योग्य परीक्षक तथा राज्य के सर्वस्व-रूप प्रधान पुरुष श्रीसिद्धराजमेरु पर स्थित शिव-मन्दिर में गये॥404॥

कुमार भी नगर के बीच स्थित चौराहे पर आ गये। तब वहाँ वह एकत्रित साथियों और प्रधान पुरुषों से मिले॥405॥

कृष्ण ने हाथ से पकड़कर उन्हें महल में प्रवेश कराया। वहाँ स्थित अन्य दो राजकुमारों को भी प्रवेश कराया॥406॥

उनमें एक वहाँ पार्श्वों को प्रणाम कर बैठ गये और दूसरे ने भी अपनी चादर को खोलकर फैला दिया॥407॥

अनन्तर श्रीकृष्णदेव के 'बैठिए' कहने पर अपने वस्त्र-युग्म को समेटकर श्रेष्ठ आसन पर बैठ गये॥408॥

तभी नमस्कार कर एक ने कहा—नीतिज्ञों ने विचार किया है कि जो निस्तेज और निन्दनीय बुद्धिवाले होते हैं, वे अपनों और दूसरों से भी पराभव प्राप्त करते हैं॥409॥

फहराते आँचलवाले दूसरे ने अकचकाई आँखों से देखते हुए कहा कि इससे शत्रुराजा विश्वव्यापी राज्य का अधिग्रहण कर लेते हैं॥410॥

वह कुमारपाल पहले दैवज्ञ से अनुमत होकर, अपने उत्तरीय के आँचल को समेटकर, धीरतापूर्वक देखते हुए यहाँ आये॥411॥

(दैवज्ञ ने कहा था—) वह कुमारपाल विपक्षियों को शासित करनेवाला तथा दिग्दिगन्त में विजयी होनेवाला महाभाग्यशाली राज्यश्री से सार्वभौम राजा के समान होगा॥412॥

दुर्बुद्धियों के संहारक इनका यहीं अभिषेक किया जाय, क्योंकि यह निश्चय ही समुद्र की सीमा-पर्यन्त पृथ्वी का पालन करेंगे॥413॥

अनन्तर बारह प्रकार के वाद्यों की ध्वनि से गूँजते आसमान के नीचे इनका तीनों भुवनों के लिए मंगलकारी राज्याभिषेक किया गया॥414॥

उत्सवपूर्वक राजा ने राजमहल में प्रवेश किया और वहाँ वह राजा के आसन पर बैठे। गोत्रवृद्धि-सूचक अक्षतों से उनका अभिवर्द्धन किया गया॥415॥

अनाचार को शान्त करके तथा उग्र प्रताप से शत्रुओं को दबाकर राजा कुमारपाल ने पृथ्वी का पालन किया॥416॥

16. सवा लाख (कोश में) विस्तृत भूमि के स्वामी तथा मद से उद्धत 'अर्णोराज' से लड़ने की इच्छा से उस (कुमारपाल) ने सेना सज्जित की॥417॥

हाथी, घोड़े और पैदल सेना से चारों ओर से घिरे कुमारपाल तारा-मण्डल से घिरे शुक्र ग्रह के समान प्रतीत हुए॥418॥

शीघ्र ही सामन्त-मण्डली-रूप पर्वत से घिरे तथा अन्य क्षत्रियों से सेवित चरण-कमलोंवाले वह कुमारपाल (सैन्य-अभियान में) चल पड़े॥419॥

वह राजा, कुछ ही दिनों में बहुत कठिनाई से पहुँचने योग्य तथा लंका दुर्ग के समान अगम्य परकोटे के पास पहुँच गये॥ वह स्थान चारों ओर से बबूल, बैर, खैर और बाँस के पेड़ों से घिरा था। दो योजन (आठ कोस) में फैला यह क्षेत्र मनुष्यों के लिए सहज ही दुर्गम था॥420-21॥

बहुत आदमियों से बहुत तरह से काटे जाने पर भी (यह वन्य क्षेत्र) नष्ट नहीं हुआ। तदनन्तर खिन्न होकर राजा लौट आये॥422॥

एक वर्ष के भीतर अणहिल्लपुर के बीच आकर उन्होंने चातुर्मास के अवसर पर क्षीण होते सैन्य का फिर से पोषण किया॥423॥

चातुर्मास के अन्त में सेना को प्रवर्तित किया और फिर ग्रीष्म के अन्त में उसे निवर्तित किया। इस प्रकार राजा के ग्यारह वर्ष बीत गये॥424॥

सूखे सरोवर जैसा मेरा अधिक भाग्य कहाँ? राजा अर्णोराज इस प्रकार क्षणभर सोचते रहे॥425॥

उनके वाग्भटदेव नाम के मन्त्री देवताओं के मन्त्री के समान थे। अपनी नीति, प्रभुता एवं मन्त्रणा-शक्ति से वह राजा उदयन के अंगस्वरूप हो गये॥426॥

इस आये हुए संकट के समय राजा ने उनसे (मन्त्री से) पूछा— कोई देव, यक्ष या देवी विश्वास में लेने योग्य है?॥427॥

देवपूजा के प्रभाव से हम विजयी होंगे? जिस-तिस का मन अवश्य ही निश्चित रूप से हमारा वशवर्ती हो॥428॥

उनके वाग्वीर मन्त्री श्रीमान् वाग्भट ने प्रभु से निवेदन किया कि मेरी बात को सावधान होकर सुना जाय॥429॥

श्रीस्वामिपाद के आदेश से जब प्रभु के सहोदर भाई महाबाहु कीर्तिपाल सौराष्ट्र-मण्डल गये और वहाँ के राजा, जिसका नाम 'नवधन' था, को वशवद बनाने के लिए अनेक बार युद्ध के माध्यम से परेशान किया—॥430-31॥

तब मेरे पिता श्रीमान् उदयन ने जो स्तम्भतीर्थपुर के निवासी थे, सेनाओं को बल प्रदान किया॥432॥

एक दिन यात्रा के क्रम में अतिशय उन्नत पुण्डरीक पर्वत को, जिसका दर्शन दुर्लभ था, उन्होंने देखने की अवधि में देखा॥433॥

और फिर, अपने उन स्वामी को उस पर्वत के अद्भुत माहात्म्य के बारे में कहा। धर्म पर आश्रित आश्चर्य और श्रद्धावश उन्होंने इस पर्वत पर आरोहण किया॥434॥

प्रभु के उन अनुज ने युगादिनाथ को अतिभक्तिपूर्वक प्रणाम करके अपने को कृतार्थ माना॥435॥

उन्होंने (युगादिनाथ के) मन्दिर को अत्यन्त जर्जर स्थिति में देखा, तो कीर्तिपाल ने वास्तुकार से कहा—॥436॥

हमारे मन में निश्चय ही उस प्रासाद के उद्धार की इच्छा है। इस युद्ध में विजयी होकर लौटने पर मैं सब कुछ करूँगा॥437॥

पुनः राजा पर्वत से उतरकर आगे के लिए प्रस्थित हुए। वह मदोद्धत राजा वीरतापूर्वक शत्रु का सामना करने लगे॥438॥

परस्पर महाभयंकर भाला और गदायुद्ध हुआ। दोनों सेनाओं के बीच शौर्यविशेष अनगिनत और अबूझ घात-प्रत्याघात हुए॥439॥

उस युद्ध में उदयन स्वामी के आगे था। उसने अनेक प्रहार किये, फिर भी वह (शत्रु के) प्रहार से आहत होकर जमीन पर गिर पड़ा॥440॥

युद्ध में विजयी होने तथा शत्रु के मारे जाने पर रणांगण में प्रभु सोच रहे थे, तभी श्वासावशेष आयुवाले उदयन को देखकर उन्होंने कहा— ॥441॥

यह भौतिक देह अनित्य है; आपने यश से स्थिर वाणिज्य-व्यवहार-रूप चटाई स्पष्ट रूप से अच्छी तरह बेची है॥442॥

यदि आपके मन में कुछ भी काँटा चुभता हो, तो कहें, हम आपको ऋणमुक्त करने को तैयार हैं॥443॥

उन्होंने कहा—हे नाथ! हम तो बराबर स्वामी के वश में रहे। स्वामी के प्रति अनन्य चित्तवाला मैं दूसरा कोई काम जानता ही नहीं॥444॥

श्रीमान् सिद्धाधिप से डरकर आपके बन्धु राजा ने एक बटुक को मेरे पास भेजा था, उसका मैंने धिक्कार किया॥445॥

श्रीमान् कुमारपाल ने भी तब मेरे प्रति गहरा रोष प्रकट किया; मैंने भी उस उग्र स्थिति को मन में नहीं लेते हुए, स्वीकार कर लिया॥446॥

सम्प्रति आपके चरणों में प्राण छोड़ते हुए मैंने अपने दोनों लोक, आम्नाय, श्रुत और शील को पवित्र किया है॥447॥

मृत्यु के प्रति मुझे कोई पछतावा नहीं है, यह मैं आपको विज्ञापित कर रहा हूँ। मेरे वाग्भट नाम के पुत्र के बारे में कुछ कहें॥448॥

शत्रुंजय महातीर्थ में प्रासाद-निर्माण के लिए मैं प्रतिश्रुत हूँ। तो, मेरे कल्याण के निमित्त उसका जीर्णोद्धार करायें॥449॥

तब, कीर्तिपाल के द्वारा 'हाँ' कहकर स्वीकार करने पर श्रीमान् शान्तिशील उदयन प्राणहीन हो गये॥450॥

पिता से उद्ग्रहण होने के लिए मैंने सम्प्रति फिर नगर के बीच अपना एक देव-मन्दिर बनवाया॥451॥

और फिर यहाँ इसी नगर में, धर्मस्थान में श्रीछड्डक नाम के महाधनी व्यापारी सेठ ने मेरी मैत्रीवश श्रीमान् अजितस्वामी (तीर्थकर) की नौ लाख की प्रतिमा स्थापित कराई॥452-453॥

प्रचुर ज्ञानवाले श्रीहेमचन्द्रसूरि ने उस प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई। उन्हीं के हाथों के मन्त्र-माहात्म्य से सारा कार्य सम्पन्न हुआ॥454॥

स्वामी (अजितनाथ) अपनी इच्छा से माँगी गई वस्तु निश्चित ही देते हैं, तो इनकी अमिथा (नाम) भी विजय-सूचक है, साथ ही अपराजेयताकारी भी है॥455॥

इस विज्ञापन को सुनकर हमारे राजा विचार कर ही कार्य करें, प्रभु के बहाने से बुद्धि का प्रयोग न हो॥456॥

इस विज्ञप्ति के बाद राजा ने अमात्य की बात के सिलसिले में सोचा और कहा- हे मन्त्रिप्रवर! आपकी बात से मुझे कार्यों का खयाल हो आया॥457॥

मित्र! सुनो। पहले हम सामान्य वृत्ति के थे। तीन दिन उपवास में रहकर स्तम्भ-तीर्थ गये॥458॥

बोसरि बटुक ने हमें उदयन के पास भेजा। अकृतार्थ भाव से मैं वहाँ गया, तभी मुझे अपने अपराध की बात स्फुरित हुई॥459॥

ओह! मेरे मन में यह हुआ कि ये तो स्वामी के भक्त हैं। वह कृती पुरुष दूसरों पर रुष्ट होकर अपने अभाग्य को देखनेवाला नहीं है॥460॥

तब मैंने वैदुष्य की श्री से कल्पवृक्ष के समान श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि को सन्ध्याकाल में देखा॥461॥

यदि वह प्रभु कृपा करके कुछ पाथेय नहीं दें तो आपके संगम से सुन्दर आनन्ददायक राज्य को कौन प्राप्त करेगा?॥462॥

उनका वह वचन देववाणी के समान बड़ा तथ्यपूर्ण सिद्ध हुआ। आज भी वह (वचन) बजाये गये घण्टे के टंकार की तरह जोरों से गूँज रहा है॥463॥

उस प्रतिमा की प्रतिष्ठा के व्याज से गुरु का स्मरण करते हुए मेरे जैसा आवेदक नराधम व्यक्ति अतिशय उपकृत हुआ है॥464॥

और फिर, श्रीसिद्धराज ने भी खंगार-नरेश की हत्या कर उनके जातियों की बहुलता के कारण देश को नहीं बसा सके॥465॥

सम्प्रति आपके पिता की बुद्धि से सभी शत्रु विनाश को प्राप्त हुए। उनके नामों का भी आज पता नहीं है॥466॥

भोग के बाद देश का निक्षेप किया गया। वहाँ के अधिकारियों द्वारा भी भोग किया गया। इस प्रकार आपके पिता धीमान् थे। यह सब स्वामिभक्ति का ही फल है॥467॥

वह कुमार कीर्तिपाल पदाति-युद्ध आदि में नासमझ ही थे। भारी बोद्धा थे आपके पिता। उन्होंने ही आपको युद्धविद्या में कुशल बनाया॥468॥

उन्होंने तीर्थोद्धार का भी सन्देश दिया। यहाँ हमें वही करना चाहिए। सम्प्रति वह आदेश आपके लिए भी पालनीय है॥469॥

राजकोश से धन लेकर उस कार्य को पूरा होने तक किया जाय - यह उनके प्रधान पुरुष आपका और मेरा भी वांछित है॥470॥

सम्प्रति उस देव की प्रतिमा को मुझे शीघ्र दिखायें। उनकी पूजा कर मैं पुण्यलाभ करूँ, तब प्रस्थान करूँ॥471॥

तदनन्तर श्रीमान् वाग्मट मन्त्री के द्वारा दिखलाये गये मार्ग से चलकर राजा उस जिनालय में पहुँचे॥472॥

मूलनाथक श्रीमान् पार्श्वनाथ को पहले नमस्कार किया। तब, मन्त्री द्वारा कथित प्रभु अजितनाथ के दर्शन किये॥473॥

स्मृति में प्राप्त ज्ञानवश राजा ने कुंकुम, अगुरु, कपूर, कस्तूरी, चन्दन द्रव एवं सुगन्धित फूलों से उनकी अर्चना की॥474॥

और, तीर्थकर से निवेदन किया - नाथ! आप तीर्थकर के प्रभाव से और कृपा से इस अवसर पर शत्रु-राजा को जीतूँगा॥475॥

आप ही मेरे देव, माता, गुरु और पिता हैं। हे मन्त्रिप्रवर! इस सन्दर्भ में आप ही मेरे साक्षी हैं। मैं मेरे लिए वचन पालनीय है॥476॥

यह कहकर पुलकित शरीर वाले राजा ने उस प्रतिमा को नमस्कार करने के बाद विजय-यात्रा के लिए सेना का आवाहन किया॥477॥

17. सीमातीत प्रयाण के क्रम में राजा चन्द्रावती के समीप गये। वहाँ उन्होंने हर्षपूर्वक सेना के लिए आवास की व्यवस्था की॥478॥

वहाँ राज्य में विक्रमसिंह मुख्य महाधर थे। राजा की फौज की सेवा में जाने का मन बनाते ही निर्वेद को प्राप्त हुए॥479॥

उन्होंने अपने प्रशंसा-योग्य अमात्य (मन्त्री) के साथ मन्त्रणा की-निर्जीव राजसेवा से हम खिन्न हैं॥480॥

देशान्तर में भ्रान्त आदमी का क्या प्रताप और क्या बल? यहाँ चित्रपट से आजीविका चलाने पर नमस्कार भी अतिदुष्कर है॥481॥

भस्म रमाना, अंजलि को ही भोजन-पात्र बनाना, माथे पर जटा धारण करना और शिवार्चन करना, इस प्रकार के वेष में ही हमें प्रणाम मिले, इसमें राज्य की विडम्बना कैसी?॥482॥

इसलिए, यहीं किसी तरह यदि उस राजा को साध लिया जाता है, तो वह लँगड़े खरगोश की तरह होगा, जो भूसे के बाड़े में घुनघुनाता रहेगा॥483॥

कोई चौलुक्यवंशीय क्षात्र तेज से अद्भुत व्यक्ति हमें राज्य में निविष्ट करेगा। वह राजा के लिए करना उचित है॥484॥

उनके प्रधान पुरुषों ने कहा-आपके कुल में यह स्वामी-द्रोह उचित नहीं है। क्योंकि, राजा सिद्धाधिप अपने पद पर अवस्थित हैं॥485॥

वह हमारे लिए सर्वथा आराध्य है। युद्धों में जय कोई निश्चित नहीं होता। किले पर अवरोध-विशेष से गहराई से विचारणीय है॥486॥

और कहा-वह राजा किस प्रकार वध्य होंगे, जिन्होंने आपके लिए श्रेष्ठ शिक्षा की व्यवस्था की है? इसमें निश्चित उपाय कहें॥487॥

हम फिर स्वामी के न्यायालय में उनके वक्ता हैं; तो हे नाथ! आप अपनी रुचि से कोई प्रमाण उजागर करें॥488॥

विक्रम ने कहा- सम्प्रति अग्नियन्त्र की व्यवस्था करें। हमारे महल में वह अवश्य ही बिना किसी क्लेश के विनाश को प्राप्त करेंगे॥489॥

उसके निमित्त अपने आवास में आग जलाने का विचार किया। यह कुबुद्धि की प्रगल्भतावश विनाश का ही सूचक है॥490॥

हम यहाँ व्यवस्था करें। भवितव्यता (होनी) दुर्लभ्य होती है। इससे राज्य का उच्छेद तो होगा, परन्तु फिर राजा विजयी होंगे॥491॥

श्रीसिद्धाधीश के पट्ट पर पूर्व के पुण्यों से जो निवेशित हैं, उनके जैसे भृत्यों के लिए यह योग्य (कार्य) नहीं होगा॥492॥

इस प्रकार विचार कर हाथ से ललाट छूते हुए उन्होंने कहा-हमारे लिए स्वामी का आदेश ही प्रमाण है, इसमें किसी प्रकार की विचारणा (सन्देह) नहीं करना है॥493॥

तदनन्तर सूत्रधारों ने भूमि के नीचे महल का निवेश किया। ऊपर से स्तम्भ-पट्ट आदि वस्त्र के चंचल आँचल जैसा सामान रख दिया॥494॥

उसपर प्रत्येक पंक्ति में चादर, बिछावन आदि फँला दिये गये। फिर उसे विस्तृत चँदोवा और लहराते वस्त्रों एवं कमल के फूलों से आच्छादित कर दिया गया। मोती, पुष्प-गुच्छ, तथा सैकड़ों मालाओं से सुन्दर तथा धामे से छानकर बनी शय्या तैयार की गई॥495-96॥

उस भूमि के भीतर स्थित महल में एक कील लगा दी गई, जिसे खींचते ही तत्क्षण वह भस्म हो जाय॥497॥

इस प्रकार उन्होंने वाष्पपूरित आँखों से तैयारी पूरी होने की बात निवेदित की। तब नायक ने कहा- ऐसी बुद्धि ही कार्यसाधिका होती है॥498॥

वह तपस्वी इस प्रकार की शय्या पर आरामयुक्त भंगी से आँख उठाकर बैटेगा, तभी यह नीचे चली जायगी, जिससे मृत्यु हो जायगी॥499॥

इस प्रकार प्रातःकाल सोचकर वह शिविर से आया और धरती पर लेट कर राजा के चरणों को नमस्कार किया॥500॥

दम्भ के कारण मुख पर अमृतवाले और भीतर विष से भरे घड़े के समान विज्ञ मण्डलेश्वर 'मारव' ने निवेदन किया-प्रभो! मेरे महल को अलंकृत करने की कृपा करें। ठहरने से मेरी दुर्गति दूर हो जायगी॥501-502॥

बुद्धि के निधान राजा ने यह भंग्यन्तर से कहा-मारव के प्रति विश्वास नहीं करना चाहिए। हमारा परिवार पहले ही भोग चुका है, तब बाद में हमने भोगा है॥503॥

परमार-वंश में उत्पन्न आप जैसे निर्भय पुरुष को छोड़ कोई भी हितैषी और स्वामिभक्त नहीं दिखाई पड़ता है॥504॥

हे महाधर! इस शुभ कार्य में रोक-टोक करनेवाला कौन है? मेरे लिए तो आपका आवास ही देखने योग्य है॥505॥

स्वामी का आदेश ही मेरे लिए प्रमाण है। यह कहकर उस भक्त ने अवधि की बाध्यता से रहित अपराह्न में भोजन कराया॥506॥

तदनन्तर, स्वामी की मूर्ति की रक्षा में सदा उद्यत अंगरक्षकों को बुलाया गया। उन्होंने सभी कुट्टियों को (चबूतरों को) प्रकट कर दिया॥507॥

वहीं निकट में विद्वानों के अधिपति एक वृद्ध पुरुष थे। अंगारों को सुलगानेवाले उन्होंने अतिशय उग्र गन्ध का अनुभव किया॥508॥

उन्होंने अपने मन में विचार किया कि यह कोई अद्भुत विज्ञान है। वहाँ प्रभु के, आग से जुड़े किसी द्रोह का कारण है॥509॥

तदनन्तर विक्रम ने उस गन्ध को अभिप्राय-सहित दृष्टि-विकार से जानकर वक्र आशय के शिरोमणि-स्वरूप उन्होंने उसे अतिशय सत्कृत किया (मूल्य दिया)॥510॥

अनन्तर विक्रमसिंह उसके साथ मन्दिर में गये। और, राजा से कहा- नाथ! मेरे महल में पधारें॥511॥

अनन्तर राजा ने भौंह के इशारे से उनका जाना रोक दिया। फिर बोले- आपने मेरे समस्त तन्त्र (परिजन) को भोजन कराया॥512॥

अभी चिन्ताजनित जागरण से पीड़ित हम प्रथम तीन प्रहर से व्यवहार-निर्वाह में अपने चित्त को लालायित नहीं पाते हैं॥513॥

दैवज्ञों ने प्रयाण के लिए मुहूर्त का भी विचार किया है। तो अभी ही प्रयाण का डंका बजना चाहिए॥514॥

हे कृत्यविशारद! आप भी अपनी सेना को सज्जित कर शीघ्र आये। हमारे सैन्यजन जल्दीबाजी करने के लिए जैभाई ले रहे हैं॥515॥

अन्तःशक्तित मन से 'हाँ' कहकर वह अपने घर चले गये। क्षणभर मन में विचार करते हुए इस स्थिति को अपने मन में ज्ञात जैसा माना॥516॥

तब शीघ्र ही प्रभु की सेना प्रस्थान कर गई और शीघ्र ही शत्रु के किले के पास पहुँच कर उसने शिबिर की स्थापना की॥517॥

उन्होंने यथास्थान शिबिर का पड़ाव डाला। दिन-रात हर पहर सभी उद्भट योद्धा व्यग्रतापूर्वक जागते रहे॥518॥

अर्णोराज सिद्ध अगस्त्यव्रत को नहीं जानते थे। उग्र घमण्ड के व्यक्त करने की झोंक में उसे मूल्य नहीं दिया॥519॥

अनन्तर ग्यारह वर्षों तक उन्हें पैर के नीचे दबाये रखा। बारहवें वर्ष में मेरे अधीन रहे, इसलिए उनको राजा मानने की कैसी कल्पना?॥520॥

भय से आई सत्त्व की हीनता और कृत्रिम दर्शनों से युक्त 'जियो'-'जियो' इस प्रकार अपने सेवकों द्वारा कहे जानेवाले उन्हें राजा मान लिया गया॥521॥

श्रीमान् सिद्धराज के चारुभट नाम के पुत्र, जिनके हाथी डक्का-डक्का की आवाज से इधर-उधर भागने लगते हैं, मेरी उपासना करते हैं॥522॥

इस प्रकार स्वल्प विकल्पों से उन्होंने (यौद्धिक) यन्त्रों को नहीं सजाया, तो वह उदासीन और अकुतोमय होकर स्वर्ग-रूप दुर्ग में आसीन हुए॥523॥

कुन्त (भाला), तोमर (भाला-विशेष) और शक्ति (अस्त्र-विशेष) आदि से अटारी भरी हुई होने पर भी अपने भाग्य की कदर्थता से युक्त वह सैन्य-समूह नहीं लाभ कर सके॥524॥

श्रीमान् कुमारपाल ने भी गुप्तचरों द्वारा यह जानकर अपनी सेना का दान-मान आदि से सत्कार किया॥525॥

हाथी, हाथी, बाँधने का साँकल, ऐनक, घोड़ों की लगाम, लगाम की रस्सी, पलान, रथ के घुँघरू, दोनों रथचक्रों की जंजीर; योद्धाओं के हाथों का वीरता-सूचक सुवर्ण, रत्न और मणि से निर्मित वलय (कंगन) और चन्द्रक एवं सूचीमुख एवं व्यूह में सजी चतुरंग सेनाओं में भी हर्षपूर्वक भूषण वितरित किये॥526-28॥

और फिर, रोहणवृक्ष, कपूर और कश्मीरद्रव से निर्मित विलेपन से युद्धपटु सैन्यों के मुखों को स्वयं विलिप्तकर सहस्रदल कमल, चम्पा, जूही और चमेली के फूलों की मालाओं से स्वयं प्रभु ने उनके केश-कलाप को बाँधकर सजाया॥529-30॥

हेमन्तकालीन श्वेतपत्र-सदृश तथा सुवर्ण के समान फूलों से उन्होंने हर्षपूर्वक प्रधान योद्धाओं के समूह का सम्मान किया॥531॥

अन्धकारपूर्ण मध्यरात्रि में तेज और प्रताप के केन्द्र तथा हर्षपूर्ण उत्ताल केलि-समूह के आधार-स्वरूप राजा उन योद्धाओं को सुधा-सदृश वचनों की लहरों से उत्साहित कर विना रणवाद्य के (तूर्य के) केवल मुख के निर्घोषपूर्वक ध्वनिरहित (मौन) एकान्त योगी के समान चल पड़े॥532-533॥

पर्वत की अधित्यका-भूमि पर जाकर राजा ने वाद्यघोष का आनुपातिक विस्तार किया तथा सूकरिका (पक्षी-विशेष) को चित्रित किया॥534॥

और तब, राजा ने वाग्भट अमात्य को आदेश किया कि सुबह होते-होते भैंसे के पाँच सौ गीले चमड़े ले आये॥535॥

उन्होंने वे कवच में काम आनेवाले चमड़े ला दिये। अनन्तर कवचधारियों तथा रथ-मण्डल के मध्यवर्ती उत्कट योद्धाओं के किले के छोटे गुप्त द्वार (के कपाट) को गिरा (बन्द कर) दिया॥536॥

दाँतों से खड्गों को पकड़कर तथा परकोटे के शीर्ष (सिर) जैसे कंगूरे को पराक्रमपूर्वक उखाड़कर शीघ्र ही उसपर चढ़ गये॥537॥

फैलाव होने पर वे भीतर ही भीतर द्रवित थे। आख्यातवेदी राजा कुमार ने उस फैलाव को संकुचित कर दिया॥538॥

सुबह में किले के दरवाजे को खोलकर वह बाहर निकल गये। अर्णोराज भी युद्ध में अपने जीवन के प्रति स्पृहाहित थे॥539॥

रणवाद्य के बजने पर उसकी प्रतिध्वनि से दोनों पक्षों में अनवरत शब्द होने लगे॥540॥

तब वहाँ रणवीरों के, जीवन की आशा रखने में असमर्थ जैसे शरीर को छोड़कर शरणार्थी जैसे प्राण पाताल चले गये॥541॥

तब, परस्पर खड्गयुद्ध और शरयुद्ध एवं बाहुयुद्ध शुरू हो गया। इसमें सर्वत्र आदमी का मुख अदृश्य हो गया॥542॥

वीरों के शरीर संक्रान्ति-काल में विस्मय-रहित पहाड़ जैसे हाथियों के टुकड़ों में बँटे शरीर की तरह दिखाई पड़ रहे थे॥543॥

घोड़े, पके कुम्हड़े की तरह टुकड़े-टुकड़े हो गये थे। रथी चावल के पापड़ की तरह बिलकुल चूर-चूर हो गये थे॥544॥

पदाति-सेना के पेट पके हुए तरबूज के समान रणभूमि में पड़े थे, जो यकृत (जिगर), प्लीहा और फेफड़ों से परिव्याप्त थे॥545॥

आकाश में मांस के अभिलाषी गिद्ध विचरण कर रहे थे; विमान में अपने पति के साथ अप्सराएँ युद्ध की सन्देशवाहिका दूती जैसी प्रतीत हो रही थीं॥546॥

इस प्रकार, वंश के ख्यातिपूर्ण नाम के उद्धोषपूर्वक युद्ध में हाथियों के मद-जल से रणभूमि की धूल शान्त हो गई थी॥547॥

इस युद्ध में पट्ट और अंकुश हाथी के दाँतों में फँसे थे; राजा ने शत्रु-संहारक के रूप में स्थित चारुभट को देखा॥548॥

श्यामल नाम के पीलवान ने हाथी हाँकने के भय का निवारक हाथी की आँख की पट्टी को हटाकर और उसे दुहरा तह कर उसके कान को ढक दिया॥549॥

तदनन्तर चारुभट ने गर्वपूर्वक हाथी के दाँत पर पैर रखा मन में यह सोचते हुए कि हाथी को इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है॥550॥

गुर्जर-नरेश ने भी इस पक्ष में अपनी दृष्टि डाली, तभी महाधर प्रमुख सब सेना विघटित हो गई॥551॥

शक्ति होकर उन्होंने कहा— ओ शामल! तुमने यहाँ क्या हाथी को आगे जाने क लिए अंकुशित किया है और अब उसे मित्र! पीछे लौटा रहे हो?॥552॥

उसने कहा—नाथ! स्वप्न में भी तीन प्रकार से भेदन मुझसे सम्भव नहीं है। श्यामल तो केवल अंकुश धारण करता है; सिंहशिशु-रूप हाथी तो आप स्वामी ही हैं॥553॥

पीछे हटने के क्रम से नीचे गया हुआ, फिर विपक्ष के हाथी से गिरते हुए शत्रु-राज्य के सर्वस्व चारुभट को आपके द्वारा पकड़ लिया जाय॥554॥

जबतक ऐसी बात हो रही थी, तभी हाथी के दोनों दाँत टूट गये। परिणामतः अपने स्वामी के तेज से वह दोनों (दाँतों) के बीच वेग से वहाँ (रणभूमि में) गिर पड़ा॥555॥

नीचे अवस्थित संयत सुभटों ने उसे पकड़ लिया। और, राजा के भाले से सिर में आहत अर्णोराज मार डाला गया॥556॥

पीलवान ने विनाशोन्मुख भगोड़ा चारुभट के विना हाथी को लौटा लाया। बाद में उसकी सेना भी तितर-बितर हो गई॥557॥

‘जीत लिया, जीत लिया’, ऐसा कहकर प्रभु ने कपड़ा फहराया। और, अपने राजा को विक्रम से ऊर्जित माना॥558॥

वहाँ शीघ्र ही सभी सामन्त आ गये। आपसे हम जीत लिये गये, ऐसा माननेवालों को वहाँ बुलाया गया॥559॥

लुटेरों और उनकी सेना ने भी देश को और कोश को लूट लिया। युद्ध में पीठ दिखानेवाले सभी अतिशय आहत और सत्त्वहीन होते हैं॥560॥

तदनन्तर सभी सैनिक उसके (चारुभट के) प्रचुर द्रव्यों से स्वयं तो तृप्त हुए और उसके सात पुरखे भी तृप्त होंगे॥561॥

तब, अपने विजय से गर्वान्वित राजा अपने नगर में लौट आये और कल्पवृक्ष के समान उन्होंने याचकों को यथेच्छ दान दिया॥562॥

18. (राजा) 'अष्टादशशतीदेश' नाम के नगर में पहुँचे। (प्रजाओं ने) पहले की तरह अपने स्वामी को अतिशय उग्र जाना॥563॥

राजा ने अपने विजय के क्रम में सौविदल्ल और मल्लों को आदेश दिया, तब निमन्त्रण आया, पीछे बाहु का संकेत किया गया॥564॥

अपने नौकरों को, अश्वशाला से सम्पन्न उसके घर भेजा। और घर को क्षण भर में ही जला दिया, जिससे वह अस्तित्वहीन हो गया॥565॥

अन्न से भरी गाड़ी में (आग को) फेंका और अपने स्थान से हट गया। केवल हुंकार से ही अग्निमातृ हो गया, बोलने की बात ही क्या?॥566॥

नदी के ऊँचे पथर के बने संकटपूर्ण घाट की भूमि पर वह रक्त से लिप्त आँखोंवाले तथा आघात से फड़कती सिराओं से युक्त थे॥567॥

परमारवंशीय राजपुत्रों ने राजा को उतारकर उन्हें यथाविधि प्रणाम किया और वस्तुस्थिति सूचित की। तब राजा ने घास के बिछावन को स्वीकार किया॥568॥

राजा जयोदय प्राप्त कर अणहिल्लपुर पहुँचे। वहाँ उनके लिए मंच पर मंच तैयार किया गया था और उसे ऊँचे तोरणों से सजाया गया था॥569॥

हाथी पर चढ़े हुए राजा इन्द्र की तरह महोत्सव में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने आँखों के लिए रसायनस्वरूप वाग्भट के विहार को देखा॥570॥

राजा ने वहाँ प्रवेश कर सुगन्धित पूजा-द्रव्यों से, समीप आये भक्तों के उपकारक श्रीमान् अजितस्वामी की पूजा की॥571॥

श्रीपार्श्वनाथ का स्मरण और पूजन करने के बाद राजा ने प्रार्थना के स्वर में कहा—हे नाथ! मैंने जो पहले कहा है, उसको उसी तरह मन में लायें॥572॥

तदनन्तर (तीर्थंकर को) प्रणाम करके, पट्टकुंजर के कुम्भ पर स्थित श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठकर राजा राजमहल में गये॥573॥

अपने गोत्र की बूढ़ी स्त्रियाँ स्पष्ट स्वर में संगीतबद्ध मंगलगीत गा रही थीं; और सिर झुकाकर उनके द्वारा दी जानेवाली बधाई को उन्होंने (राजा ने) यथाप्रतीक्षित रूप में स्वीकार किया॥574॥

तदनन्तर विक्रमसिंह के स्थान में विश्राम करके उन्हें अपने निकट बुलाकर मुस्कराते हुए राजा ने कहा— ॥575॥

हे विक्रम! अग्नियन्त्र से राजा ही मृत्यु को प्राप्त करते हैं, सामन्त नहीं, यह आपको किसने बताया?॥576॥

हे विक्रम! वहीं यदि मैं पुत्र-पशु-बान्धव-सहित आपको आग में हवन कर दूँ, तो भस्म में परिणत आपको कौन देखेगा?॥577॥

आप जिस प्रकार मेरे गृहकर्म को करनेवाले हैं, और हम मालिक वैसे मलिन नहीं हैं, ऐसा मानकर आप अपने प्राणों की रक्षा करें॥578॥

तदनन्तर उन्हें बन्दिशाला (कासगार) में डाल दिया गया। तामस लोग इसी लोक में राजा द्वारा दिये गये तम (अन्धकार) को भोगते हैं॥579॥

और फिर राजा ने श्रीरामदेव नाम के उनके भाई के पुत्र यशोधवल को चन्द्रावती में प्रतिष्ठित कर दिया॥580॥

19. दूसरे दिन, धर्म के प्रति आत्यन्तिक वासना से युक्त, अर्थात् अतिशय धर्मनिष्ठ मोक्षार्थी राजा ने वाग्भट अमात्य तथा आर्हत आचार के उपदेष्टा गुरु से पूछा-॥581॥

तब उन्होंने हेमचन्द्र सूरि के गुण-गौरव के सौरभ तथा अनन्त विद्याओं के माध्यम से लक्ष्मी (धन की तृष्णा) को शान्त करने की शक्ति के बारे में कहा॥582॥

तब राजा ने वाग्भट मन्त्री से कहा कि उन्हें (हेमचन्द्रसूरि) को शीघ्र बुलाइए। उन सूरि को बहुमानपूर्वक राजा के महल में लाया गया॥583॥

राजा ने खड़े होकर उन्हें आसन दिया। उसी पर वह बैठे। राजा ने कहा— हे श्रेष्ठ गुरु! अन्धकार के विनाशक जैनधर्म का उपदेश करें॥584॥

अनन्तर, उन मुनिश्रेष्ठ ने असत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह-त्याग तथा दयामूलक जैनधर्म के बारे में कहा। पुनः रात्रि-भोजन से मुक्ति तथा मांसाहार का त्याग एवं श्रुति, स्मृति-विषयक अपने सिद्धांत के दृढ़तापूर्वक नियमन के बारे में भी कहा॥585-86॥

योगशास्त्र में कहा गया है -

प्राणियों का प्राण लेकर जो मांस खाना चाहता है, वह धर्म के वृक्ष के दयारूप मूल को उन्मूलित करता है॥587॥

सदा मांस को खाते हुए जो दया करना चाहता है, वह जलती हुई आग में लता रोपना चाहता है॥588॥

प्राणी को मारनेवाला, मांस बेचनेवाला, मांस को पकानेवाला और खानेवाला, मांस खरीदनेवाला, मांस का अनुमोदन करनेवाला मांस दान करनेवाला ये सभी, प्राणी का वध करनेवाले हैं। जैसा कि मनु ने भी कहा है—अनुमोदन करनेवाला, काटनेवाला, नियमन (दमन)करनेवाला, खरीद-बिक्री करनेवाला पकानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला ये सभी घातक (वधकर्ता) हैं॥589-90॥

प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस का उत्पादन नहीं हो सकता। प्राणियों का वध किसी भी रूपमें स्वर्ग-लाभ या स्वर्ग की प्राप्ति नहीं कराता। इसलिए मांस का त्याग कर देना चाहिए॥591॥

इस प्रकार (मुनिश्रेष्ठ ने) सब प्रकार ही हेय वस्तुओं के परित्याग का उपदेश किया। राजा ने 'ऐसा ही है' कहकर उनके बताये नियमों को स्वीकार किया (ग्रहण किया)॥592॥

श्रीचैत्य का वन्दन, स्तोत्र द्वारा मुख्य स्तुति, वन्दना, क्षमापन, आलोचन और प्रतिक्रमण (मिथ्या दुष्कृत-जन्य पाप के लिए पश्चात्ताप) तथा सब प्रकार का प्रत्याख्यान, गाथा पर विचार, नित्य दो शाम और पर्व के दिनों एक शाम भोजन, स्नानाचार का प्रकार, तथा आरती करने की भी शिक्षा राजा ने प्राप्त की। इस प्रकार, समस्त जैन-विधि का अभ्यास कर राजा पक्के श्रावक की भाँति सुशोभित हुए॥593-95॥

राजा ने कहा—पहले जो मैंने मांसाहार किया है, उसके लिए मुझे अतिशय पश्चात्ताप है। यह मेरा गर्त में गिरानेवाला पाप है॥596॥

इस पाप से निष्कृति (उद्धार) नहीं है। फिर मैं यह कहता हूँ, अपराधी को दण्ड मिलता ही है, राजनीति की यही स्थिति है॥597॥

मैं मांसाहार के अपराधी दौतों को तुड़वा रहा हूँ। स्मृति में भी ऐसा विधान देखा गया है कि सर्वत्र कर्त्ता ही (सब) सहन करता है॥598॥

गुरु ने कहा—महाराज! यह रूढ़ और स्थूल बात है। एक बार देह को आपद् में डालने से कृत कर्मों की निष्कृति नहीं होती॥599॥

तो आप आर्हत धर्म की कामना से पवित्र मनवाले हो जायँ। आप ऐसा करें कि समस्त पाप-पंक धुल जाय॥600॥

आप अपने बत्तीस दौतों को पाप से मुक्ति के लिए रहने दें। आप हार-स्वरूप अपनी पृथ्वी का बत्तीस बार विहार करें॥601॥

और, अपने पिता त्रिभुवनपाल के पुण्य के लिए मेरुगिरि के उन्नत शिखर के समान श्री जैनेन्द्र के चैत्य का निर्माण करायें॥602॥

तब राजा ने कहा—यह सुरीति अतिशय उज्ज्वल है। भव-रूप घोर जंगल की यात्रा से उद्धार का यही शम्बल (पाथेय) है॥603॥

अनन्तर, राजा ने परम भक्तिपूर्वक प्रभु को उनके अपने घर भेज दिया। दूसरे दिन वह (राजा) वाग्भट द्वारा बनवाये गये जिनालय में पहुँचे॥604॥

राजा के वहाँ आने पर, नेपाल देश से इक्कीस अंगुल की चन्द्रमणि से निर्मित प्रतिमा (जिन-प्रतिमा) उनके पास लाई गई॥605॥

चिन्तामणि के समान उपहार में प्राप्त उस अनावृत मूर्ति को राजा ने पूर्णमासी की मध्य रात्रि की तरह सब ओर से प्रकाशित स्थिति में रखा॥606॥

तदनन्तर प्रसन्नता से स्वच्छ मुखवाले राजा ने मन्त्री को बुलवाकर कहा—हे अमात्य! मैं किसी भी काम में आपका ऋणी हो गया हूँ॥607॥

यह सुनकर उन (मन्त्री) ने कहा—मेरे प्राण तो आप स्वामी के वश में हैं। परिवार, धन, भूमि या किसी भी अन्य वस्तुओं में मेरी आस्था का आधार आप ही हैं॥608॥

राजा ने कहा—मैं कर जोड़कर माँगता हूँ, मुझे अपना भवन दे दें। मित्र! मैं उसे इस प्रतिमा से सनाथ करूँगा॥609॥

(मन्त्री ने कहा—) हे नाथ! मुझे महती प्रसन्नता होगी; मेरी भी धारणा है—ऐसा ही हो। आज के बाद भी श्रीकुमारविहार स्वामी के ही नाम पर हो॥610॥

20. स्वामी से मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, उसपर आप ध्यान दें। पिता ने कीर्त्तिपाल के द्वारा मेरी जिस बात को सन्देश-रूप में भेजा है (वह यह है)॥611॥

श्रीशत्रुंजय तीर्थ का भवन मेरे कल्याण के लिए है। जीर्ण-शीर्ण उस भवन का आप उद्धार करायें—यही मेरी मंशा है॥612॥

उस समय, यात्रा के क्रम में प्रभुपाद ने आदेश किया था, देवता की स्मृति की वेला में कीर्त्तिपाल की प्रतिश्रुति स्मरणीय है॥613॥

मेरे कोश में रखे धन को लेकर आपको चैत्य का उद्धार करना चाहिए। वह आदेश मेरे पिता के उद्भ्रम (ऋणमुक्त) होने के निमित्त (कार्यान्वित) हो॥614॥

यह सुनकर राजा ने कहा— हमारे इस कार्य में सहोदर के प्रति आदर-स्वरूप ऐसा ही हो। हे मित्र! हमारे लिए आपका वचन अनुल्लंघनीय है॥615॥

स्वामिन्! यह महती कृपा है। यह कहकर बौद्धिक मित्र सेठ के व्यापारी जनों से घिरे हुए वह विमलाद्रि पर चले गये॥616॥

वहाँ तीर्थ में प्रभु नाभिपुत्र को नमस्कार कर भक्तिनिर्भर मन से सब ओर से प्रत्येक हल-रेखा के गहरे मध्य भाग को दान-राशि से भरकर ठहर गये॥617॥

विमानों (बड़े भवनों), मंचों, वाटिकाओं तथा चौराहों को रेशमी वस्त्रों से मण्डित कर ऊँटनियों प्रदान कीं॥618॥

चमकते चतुरकों (निपुण आदमियों) और स्वर्ग के विमान जैसी द्युतिवाले तथा अनेक योद्धाओं से पर्वत को सँकरा कर दिया गया था॥619॥

वहाँ निकटवर्ती ग्राम से एक वणिक् आया। दुःस्थिति का निधिस्वरूप वह अपने शरीर पर अत्यन्त जर्जर दो चिथड़े लपेटे हुए था॥620॥

छह द्रम्म टेंट से निकालकर खरीदे गये धी के बरतन वह ढो रहा था। ग्राहकों के वैविध्य से फौज में रूपों की अधिकता थी॥621॥

उसने द्रम्म अर्जित कर अत्यन्त सन्तुष्ट भाव से श्रीवृषभ प्रभु की, रुपये से खरीदे गये फूलों से, भक्तिपूर्वक पूजा की॥622॥

गाँठ में सात द्रम्म को सात लाख के समान ढोते हुए हर्षपूर्वक वह वीक्षक सचिवाधीश के सिंहद्वार के पास आ गया॥623॥

हृद में सघन सँवारों के छिद्र से कछुए की तरह उसने हलके परदे के भीतर से मन्त्रिश्रेष्ठ को देखा॥624॥

उसने विचार किया—पुराने पाप और पुण्य में यही अन्तर है—पुरुषत्व में समान रहने पर भी इसकी और मेरी आकृति नुकीली आँखोंवाली है॥625॥

व्यापारी, व्यवहारी (वणिक्) और अस्त्रजीवी का वेश सोना, मोती और मणिबन्ध

के आभरणों से लदे, रेशमी वस्त्र से आवृत होने के कारण उनके रोग बहुत मुश्किल से दिखाई पड़ते हैं॥626॥

चक्रवर्ती के समान मुकुट से आबद्ध राजाओं द्वारा जिनके पैर पूजित थे और जो नाभिपुत्र आदिनाथ के महातीर्थ के जीर्णोद्धार के मनोरथ से युक्त थे॥627॥

मैं अपनी गृहिणी की निर्धनता से भी विचलित था। सन्ध्याकाल तक आहार-प्राप्ति सन्दिग्ध रहती थी और तज्जन्य परिश्रम व्यर्थ होता था॥628॥

शैशव-काल से बैल की तरह भार ढोते-ढोते सिर क्लेश पा रहा था। दिन भर में एक रुपया मिल जाने पर अपने को धन्य मानता था॥629॥

इस प्रकार सोचते हुए मुझे द्वारपाल ने परे कर दिया। तभी श्रीमान् मन्त्री वाग्भट देव ने देव का दर्शन कराया॥630॥

प्रभु के आदेश से, वणिक् को बुलाईए, ऐसा कहने पर उस द्वारपाल ने दूर चले गये भी उसे बुलाया॥631॥

प्रभु के आगे, सभा के एक छोर पर, वह स्थिर और लम्बे स्थाणु (दुँठ) की तरह खड़ा रहा। सीधा-सादा ग्रामीण होने के कारण प्रणाम आदि शिष्टाचार से भी अतिशय वह अनभिज्ञ था॥632॥

आप कौन हैं?—ऐसा मन्त्री द्वारा स्पष्ट शब्दों में पूछने पर भारी दुःख से दबा हुआ वह अपने पूर्वोक्त वृत्त को कहा॥633॥

मन्त्रिश्रेष्ठ ने पुनः कहा—आप धन्य हैं कि आपने क्लेश से अर्जित धन को श्रीजिन की अर्चा में व्यय किया॥634॥

यह कहकर प्रभु ने उसका हाथ पकड़कर अपने आधे आसन पर बैठाया और कहा—आप मेरे धर्मबन्धु हैं। हे भाई! मेरे योग्य कोई कार्य हो तो कहें॥635॥

उन्होंने अपने उन प्रभु की प्रिय बातों से प्रसन्न होकर हर्षपूर्वक सोचा—इन्होंने मुझ अकिंचन को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया॥636॥

तब, व्यापार में धन निवेश करनेवाले धार्मिक लोग प्रिय तीर्थ के उद्धार-कार्य में अनन्त पुण्यभार के इच्छुक होकर आये॥637॥

द्रव्य-प्राप्ति के लिए द्रव्य वहन करनेवालों (दाताओं) की सूची बनाई गई; उसमें पहले मन्त्री लोग, तदनन्तर ज्येष्ठता के क्रम से नाम रखे गये॥638॥

उन प्रभु ने नामों को देखकर सोचा—यदि मेरे पक्ष के लोग इस कार्य में सात द्रम्म देकर उपकार करते हैं, तो मेरे समान आदमी धन्य हो जायगा॥639॥

मैं कुछ और कहना चाहता हूँ, ऐसा राजा के कहने पर मन्त्री ने उनसे कहा—प्रभो! ये सात द्रम्म लेकर मुझे प्रीत करें॥640॥

राजा के आचरणवश परम आनन्द से भरे हुए मन्त्री ने कहा—भाई! आप मेरे धर्ममित्र हैं, इसलिए आप मुझे उन द्रम्माँ को शीघ्र अर्पित करें॥641॥

अभी मुझे तीर्थ के जीर्णोद्धार के लिए निश्चित प्रत्याशा हो आई है। अपने मूल धन को जीवन-तुल्य मानकर विना क्लेश के उसे व्यय नहीं करना उचित ही है॥642॥

बही आदि में उसका और अपना नाम लिखकर और फिर उसके नीचे अन्य धनियों के नाम लिखें॥643॥

हम करोड़ों की संख्या में क्रूर कर्म से प्राप्त धन के व्यय में आलस्य करते तथा दूसरों का धन हड़पना चाहते हैं॥644॥

तदनन्तर, उन्होंने अपने कोष से तीन रेशमी वस्त्र निकाले और फिर पाँच सौ द्रव्य निकालकर कहा-प्रभो! इसे आप ग्रहण करें॥645॥

मन्त्रिश्रेष्ठ के ऐसा कहने पर कुछ क्षण रुककर वणिक् ने कहा-नश्वर लेशमात्र धन से भी पुण्य को मैं निश्चित ही नहीं बेचूँगा॥646॥

पूर्वार्जित पुण्य से वैभव-सम्पन्न आप जैसे स्वामी मुझ जैसों के साथ छल करने में क्यों नहीं लज्जित होते हैं?॥647॥

यह सुनकर रोमांचित मन्त्रिश्रेष्ठ ने वणिक् से कहा-मुझसे भी आप (अधिक) धन्य हैं, जिसका ऐसा निःस्पृह मन है॥648॥

तदनन्तर रागोपयुक्त सुपारी तथा नागरखण्डयुक्त एवं कपूर से पूरित पान का बीड़ा उन्हें दिया॥649॥

उसे ग्रहण कर सम्मान से पूरित वह अपने घर गये। पर, वह (अपनी) गृहिणी के दुर्वाक्यों को लक्षित कर डर रहे थे॥650॥

अकस्मात् उनकी उस गृहिणी ने मोठी बातों से उन्हें परितुष्ट कर दिया। आजन्म उन्होंने जिस व्यवहार को नहीं देखा था, उसे देखकर वह विस्मित हो गये॥651॥

यथाघटित पत्नी के व्यवहार पर उनके कुछ बोलने पर पत्नी बोली- आपने जो पारितोषिक पहले नहीं लिया, उससे मुझे बहुत सघन शान्ति मिली है॥652॥

यदि आप मन्त्री से आधा लोह-टंक भी लेते तो मैं निश्चित ही आपके घर में नहीं रहती॥653॥

तो, गाय बाँधने योग्य शिथिल (ढीले-ढाले) खूँटे को मजबूत करें। उसके (पत्नी के) ऐसा कहने पर उन्होंने हल के फाल की प्रार्थना कर उससे वहाँ वह गड़्ढा खोदने लगे॥654॥

थोड़ा ही खोदा था कि खनती किसी चीज से खट-खट आवाज केसाथ टकराने लगी। तब उन्होंने पत्नी को बुलाकर उससे कहा। उसकी पत्नी बोली-॥655॥

अभी निर्जन रात्रि में कुछ नहीं करना चाहिए। समय (रात) बिताकर उन्होंने यत्नपूर्वक उस गड़्ढे से उस टकरानेवाली वस्तु को निकाला॥656॥

चार हजार स्वर्ण टंक उन्हें प्राप्त हुआ। जिनेश की स्वल्प पूजा का भी यह (बड़ा) फल है॥657॥

मैं यह धन मन्त्री वाग्भट को अर्पित कर दूँगा। इस प्रकार तीर्थ में व्यय किया गया धन करोड़गुना हो जाता है॥658॥

पत्नी से भी अनुमत वह प्रातःकाल पर्वत पर चढ़कर और वहाँ मन्त्री को देखकर उन्होंने (प्राप्त धन को) दिखलाया तथा उनसे कहा-इसे लें॥659॥

यह सुनकर धी-सम्पन्न स्वामी बोले-मेरी बात सुनें। आपके सत्त्व (प्रभाव) वश सात द्रव्यों से ही मेरा मनोरथ पूरा हो गया॥660॥

इसके बाद आपका धन लेना मुझे अभीप्सित नहीं है। क्योंकि, इससे सभी पर्वत सुवर्णमय हो जायेंगे॥661॥

हमारी वैसी कोई अभिसन्धि (प्रतिज्ञा) नहीं है कि अपने धन का यथारुचि व्यय करें, उसे बढ़ायें और उसका भोग करें या फिर शीघ्रता से धर्म में लगायें॥662॥

उन्होंने कहा—जिसका भाग्य अन्न के कुछ दानों पर निर्भर है, उसके लिए सोने का क्या? जो मेरे घर में है, उससे अधिक के लिए क्लेश स्वीकार करना क्या?॥663॥

आप प्रभुतावश जैसा-तैसा करने में समर्थ हैं; तो प्रसन्न होकर इसे ग्रहण करें, ताकि मेरी आकांक्षा तुष्ट हो॥664॥

मन्त्री ने कहा—मैं तो निरर्थक द्रव्य नहीं लेता हूँ; भारवाही की तरह मैं इस दुर्वह भार को नहीं ढोनेवाला हूँ॥665॥

इस प्रकार विवाद करते हुए मन्त्री और वणिक् का दिन बीत गया। रात्रि में साक्षात् ईश्वर शिव ने वणिक् से कहा—॥666॥

श्रीयुगादि प्रभु की प्रतिमा की अर्चना से तुष्ट मैंने यह धन आपको दिखलाया है, तो आप अपनी इच्छा से इसका व्यय करें॥667॥

यह धन दान और प्रचुर भोग से भी क्षय नहीं होगा और न दूसरे के अधीन होगा। इस सम्बन्ध में अन्यथा न सोचें॥668॥

इसकी यही पहचान है कि आपकी अतिशय दुर्मुख पत्नी अकस्मात् प्रियवादिनी हो गई। इसे भक्ति की ही महिमा जानें॥669॥

इस प्रकार विचार कर प्रातःकाल उसने श्रीनाभिपुत्र प्रभु की सुवर्ण, रत्न, पुष्प आदि से ध्यानपूर्वक पूजा की॥670॥

तदनन्तर वह ईश्वर शिव की पूजा कर अपने घर आ गये। और, अपने द्वारा किये गये पुण्य से जन्म को पवित्र किया॥671॥

श्रीमान् वाग्भटदेव ने भी देवकुल-सहित प्रासाद का अतिशय भक्तिपूर्वक जीर्णोद्धार कराया॥672॥

तब, प्रचुर द्रव्य के व्यय की चिन्ता किये बिना निक्षेप से चढ़े को भर दिया और हर्षपूर्वक (पर्वत पर) आरोहण किया॥673॥

श्रीहेमचन्द्रसूरि ने संवत् 1213 में ध्वजारोपण किया और प्रतिष्ठापूर्वक (प्रतिमा की) प्रतिष्ठा की॥674॥

21. इधर, तब से फिर वह स्वर्गीय विमान (देव का निवास-भवन) श्रीसे सम्पन्न 'कुमार-विहार' नाम से विख्यात हो गया, जो भव्यों की दृष्टि में पुण्यमय प्रतीक के समान था॥675॥

निपुण शिल्पियों द्वारा उत्तम कोटि से टंकित श्रीपार्श्वनाथकी रमणीयतम प्रतिमा तैयार हुई॥676॥

मन्त्री ने शुभ लग्न में अतिशय-युक्त चिन्तामणि-सदृश तथा प्राणियों को वार्छित से अधिक वस्तु प्रदान करनेवाली प्रतिमा की श्रीहेमचन्द्रसूरि द्वारा प्रतिष्ठा कराई॥677॥

विश्व के उपकार में तत्पर राजा ने शुकनास प्रासाद में मोक्षक नामक छिद्र का अनावरण किया॥678॥

तदनन्तर पूर्णिमा की मध्यरात्रि में, रोगियों की प्रार्थना से प्रकटित, छिद्र में स्थित प्रतिमा से अमृत का स्राव होता था॥679॥

उस स्राव से लोगों के चक्षु आदि के रोगों का निवारण होता था। इस प्रकार राजा ने सर्वतोमुख उपकार किया॥680॥

राजा ने यथोचित वर्णवाले सप्तहस्त प्रासाद एवं देव-विमान-सदृश बत्तीस विहारों का निर्माण करवाया॥681॥

दो उजले, दो श्यामल, दो रक्तकमल वर्ण के, दो नीले, इस प्रकार के सोलह स्वर्णिम प्रासाद थे॥682॥

चौबीस चैत्यों में श्रीमन्त ऋषभदेव आदि और चार भवनों में सीमन्धर आदि चार तीर्थंकर थे॥683॥

तब, श्रीरोहिणी-समवसरण, प्रभु-पादुका और बत्तीस अशोकवृक्ष स्थापित किये गये॥684॥

प्रभु के पूर्व वचन के अनुसार, राजा ने पूर्ण रूप से सूचित किया-बत्तीस पुरखों तक मैं उद्घृष्ट हो गया॥685॥

वहाँ जिनेश्वर पच्चीस सौ अंगुल परिमाण के थे; 'तिहुवणपाल' नाम के स्थान में पच्चीस हाथ के थे॥686॥

अन्य लोगों ने भी विहार-में श्रीमान् नेमिनाथ की स्थापना की। इस प्रकार, समस्त देश के सभी स्थानों में जैन चैत्यों का निर्माण कराया गया॥687॥

22. धर्मोपदेश के क्षण में सात व्यसनों का वर्णन अपार दुर्गति, कुयोनि की प्राप्ति और संसार में भटकने के कारण से सम्बद्ध है॥688॥

प्रभु ने राजा को उपदेश किया और राजा ने सातों व्यसनों का अपने देश में निषेध करा दिया तथा डुगडुगी के उद्घोषपूर्वक अहिंसा का प्रचार करवाया॥689॥

पूर्वकाल में देश-भ्रमण के क्रम में राजा ने राजपुरुषों द्वारा पीड़ित मृत वणिक्-पत्नी के लिए सवा लाख की राशि प्रदान की॥690॥

तब उसी प्रभु की अनुकम्पा से लोगों ने निषेध को स्वीकर किया। राजा ने कहा-यदि मेरा राज्य होगा तो कमजोरों के प्रति ऐसा नहीं किया जायगा॥691॥

सम्प्रति कहीं भी किसी विख्यात पुत्रहीन व्यापारी के मर जाने पर अधिकारियों द्वारा उसका धन उसकी पत्नी के लिए प्रदेय होगा॥692॥

स्वामी ने उनसे पूछा- किस पुत्रहीनकी यह श्री (धन) होगी तो उन्होंने कहा-यह बात रूढ़ हो गई है कि वह धन उसके पुत्र का या फिर राजा का होगा॥693॥

मुस्कराकर राजा ने कहा- पूर्व के राजाओं की यह बुद्धिहीनता या विवेकहीनता ही रही है। कुटिलता के विना अपने गुरु के भी दोष कहना चाहिए॥694॥

सबके अधीनस्थ क्षणस्थायी धन राजा के लिए है। उत्तम, अधम और मध्य जनों का धन भी उनके पुत्र का ही अनुगमन करता है॥695॥

इसलिए मैं विश्वलोक को आनन्दित करनेवाला नहीं होऊँगा। कमजोरों द्वारा धन छोड़ने पर वह विश्व के आनन्द के लिए होगा॥696॥

जिस स्त्री के पति या पुत्र मर गये हैं, सुधी राजा उसके धन को त्याग देते हैं। पुराकाल के नल, राम आदि राजाओं ने भी ऐसा ही त्याग किया है॥697॥

प्रभु ने अपने उपदेश की सत्यता के प्रति परितोष व्यक्त किया और राजा के चरित्रगत इस व्यवहार के सम्बन्ध में यह वृत्त उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया॥698॥

उदाहरण इस प्रकार है -

पूर्वकाल के, सत्ययुग में उत्पन्न रघु, नघुष (नहुष), नाभाग, भरत आदि राजाओं द्वारा जो त्याग किया गया, वह सम्प्रति सन्तोषपूर्ण होने पर भी उस त्यक्त धन की रोने जैसी स्थिति है। हे राजन् कुमार! आप महान् पुरुषों के शिरोमणि हैं॥699॥

इस प्रकार, अन्तःपुर-सहित राजा निरन्तर प्रत्याख्यान करते हुए, देवेन्द्र के समान निष्कण्टक होकर विशाल राज्य को धारण किया॥700॥

23. दूसरे दिन, जैनधर्म में स्थित राजा को कल्याणकटक के राजा ने अपने गुप्तचरों से बलहीन तथा दुविधा में पड़ा हुआ जानकर करोड़ों सेनाओं के साथ आक्रमण कर दिया। कुमारपाल गुप्तचरों द्वारा इसे जानकर चिन्ता में पड़ गये॥701-2॥

प्रभु को इसकी सूचना दी गई तो उन्होंने सोचा-इससे मुझ जैन प्रभु का पराभव तथा शासन में हलकापन आनेवाला है॥703॥

प्रभु ने कहा - महाराज! शासनदेवता आपकी रक्षा करते हैं और सातवें दिन घटित होनेवाले लग्न को आप जानते हैं॥704॥

यह सुनकर चमत्कृत राजा अपने महल में चले गये। रात्रि में सूरि ने विधिपूर्वक परमाक्षर का ध्यान किया॥705॥

तब उसके अधिष्ठायक ने उसे साक्षात् आदेश दिया (बताया) कि भाग्य से कुमारपाल के शत्रु विनाश को प्राप्त हुए॥706॥

सातवें दिन गुप्तचरों द्वारा शत्रु की मृत्यु जानकर संवर्द्धित राजा ने कहा-ओह! मेरे गुरु का जैसा ज्ञान है, वैसा किसी अन्य में नहीं है॥707॥

24. एक दिन पुरानी रीति से बुद्धिनिधान के लिए लिखे जानेवाले गुरु के ग्रन्थ-संचय में फतिंगे और जंगली आग से तालपत्र में त्रुटि आ गई। देशान्तर से आयात न होने के कारण उन तालपत्रों के सम्बन्ध में राजा को चिन्ता हो आई॥708-9॥

अपने गुरु के लिए रचना करने और लिखने में मेरी शक्ति नहीं है। शास्त्रों के लिए आज मैंने अपने पूर्वजों को लज्जित किया है॥710॥

उद्यान में जाकर, अपने तालवृक्षों के बीच रहकर, राजा ने सुगन्धित फूलों तथा गन्ध-द्रव्यों से उन (तालवृक्षों) की पूजा की॥711॥

और कहा- हे तृणराज! ज्ञान-प्राप्ति में उपकार करने के कारण आप पूज्य हैं। अपने मनोरम पत्तों से आप सभी दृश्यमान शास्त्रों के आधार हैं॥712॥

पुस्तकों की अवस्थिति में ही मेरे भाग्य का जागरण निर्भर है। तो ये सभी तालवृक्ष श्रीसम्पन्न हों॥713॥

शंकारहित बुद्धिवाले राजा ने यह कहकर वृक्ष की धड़ में मुक्ता, भाणिक्य और सोने से निर्मित कण्ठहार पहनाया॥714॥

वहाँ से लौटकर राजा अपने महल के शीर्ष-भाग में विराजमान हुए। प्रातःकाल प्रभु ने हर्षपूर्वक उद्यानपालों का संवर्द्धन किया॥715॥

यहाँ के ताड़वृक्ष के नीचे स्थित सभी वृक्ष ताड़वृक्ष ही बन गये। तदनन्तर लेखकों द्वारा यथेच्छ रूप में विभिन्न प्रकार के शास्त्र समूह-रूप में लिखे जाने लगे॥716॥

निर्दोष मनवाले राजा ने उन लेखकों को वस्त्र, आभूषण भोज्य वस्तु आदि का, दीनता को दूर करनेवाला सत्पारितोषिक प्रदान किया॥717॥

तब पुस्तकों की लेखन-विधि प्रवर्तित हो गई। मानों राजा के यश वहाँ एक साथ सम्मिलित हो गये॥718॥

राजा अपने अन्तःपुर के साथ अनिन्दित रूप से गृहस्थ-व्रत का पालन करते हुए तेरह चक्रवर्ती के समान साम्राज्य का सम्यक् संचालन करने लगे॥719॥

25. एक दिन श्रीमान् अजितस्वामी की स्तुति करते हुए राजा को शत्रुओं के विनाश के संकल्प से परिपूरित प्रभु ने स्पष्ट आदेश दिया—अनेक सिद्धों की उन्नत स्थिति से युक्त 'तारंगनाग' नाम के पर्वत पर श्रीसम्पन्न तथा अक्षय वैभव से युक्त स्थान में विहार का निर्माण उचित है। इसके लिए श्रेष्ठ मूर्ति-स्वरूप शत्रुंजय पर्वत के सम्बन्ध में विमर्श किया जाय॥720-22॥

उस पर्वत पर स्थित मन्दिर चौबीस हाथ ऊँचा है। उसमें स्थित प्रतिमा का आकार एक सौ एक अंगुल का है॥723॥

आज भी पर्वत के अलंकार-स्वरूप प्रासाद वहाँ है। वह देवसमूह तथा राजाओं द्वारा की जानेवाली स्तुति से शोभित है तथा संघ के जनों द्वारा दृश्य (दर्शनीय) है॥724॥

26. उदयन के द्वितीय श्रेष्ठ पुत्र अम्बड नाम के थे। वह अलौकिक पराक्रम से सम्पन्न थे॥725॥

श्रीमान् राजा कुमारपाल के आदेश से उन्होंने कुंकण के अधिपति मल्लिकार्जुन का सिर काट दिया था॥726॥

पूरे कुल-सहित 'राजसंहार' इस उग्र विरुद को धारण करते हुए कुमारपाल, स्वामी की कृपा से तथा अपने विक्रम से लाटमण्डल, भम्भेरी, कुंकण, आनन्दपद्र और पल्लीवन इन देशों का उपभोग करते थे॥727-28॥

अनन्तर, उन्होंने भृगुकच्छ में श्रीसुव्रतस्वामी के मन्दिर को पुराना, लकड़ी का तथा जर्जर स्थिति में देखा॥729॥

उस मन्दिर के घुन खाये पुराने काठ से निकलती घुन की बुकनी जमीन पर फैल

गई थी। उसकी लोहे की कीलें ढीली पड़ गई थीं तथा उसे कपड़े आदि से आच्छादित कर दिया गया था॥730॥

अतिवृष्टि के जल से उस मन्दिर की दीवारें गिर रही थीं। गर्भगृह में भी पानी के चूने से तीर्थंकर की प्रतिमा प्रभावित हो रही थी॥731॥

तदनन्तर पूर्व के भवन को उजाड़ कर और अपने स्थान में स्थित प्रभु को भी हटाकर, जीर्णोद्धार के उपक्रम में गहरा गड्ढा खोदा गया॥732॥

इस बीच, इस कार्य में, किसी छल की मानसिकता से योगिनियों ने बत्तीस लक्षणों से श्रीमान् अम्बड को छलने का प्रयास किया। तभी से उनका सारा शरीर रोगी और व्यथा से आक्रान्त हो गया; भूख-प्यास भी नहीं रही; और विलीन होते अंग बराबर क्षीण होते चले गये॥733-34॥

उनकी माता पद्मावती ने पद्मावती देवी की आराधना की। उन्होंने स्वप्न में यह कहा— बेटी! मेरी सच्ची बात सुनो—॥735॥

विश्वयोगिनी की रंग-संगति से सम्बद्ध यह महापीठ है। उस (योगिनी) से ग्रस्त इन्हें गुरु हेमचन्द्र के बिना दूसरा नहीं मुक्त करा सकता है॥736॥

तब प्रातः काल इन्होंने प्रभु को बुलाने का आदेश किया। उन्होंने भी वेगपूर्वक प्रभु को देखकर यथादेश सूचित किया॥737॥

छींक के नष्ट होने में सूर्य ही कारण है, दूसरा नहीं। तो हे प्रभो! पुत्र-सहित मुझे जीवन प्रदान करें॥738॥

यह सुनकर गुरु शीघ्र ही यशश्चन्द्र के साथ पैदल चलकर अम्बड मन्त्री के निकट आये॥739॥

गणित में निष्णात तथा लक्ष्य न करने योग्य बुद्धिवाले गणनायक ने उसकी चेष्टा देखकर मन में कुछ सोचा, फिर उसकी माता को शिक्षा प्रदान की—॥740॥

मध्यरात्रि में विश्वासपात्र मनुष्य को मेरे पास भेजें। उस मनुष्य का हाथ अन्न-बलि प्रदान करने में चंचल और व्यस्त होना चाहिए तथा वह हाथ सुगन्ध से युक्त भी हो॥741॥

मुख्य मार्ग से सम्बद्ध जनों को आदेश देने के बाद सूरि उस गणनायक के साथ दुर्ग से बाहर चले गये॥742॥

नगर के बाहरी दरवाजे को खोलकर वह वहाँ से निकलकर जा रहे थे तो मार्ग में पक्षिसमूह को देखा॥743॥

‘चगच्चग’ इस प्रकार की आवाज निकालते उन पक्षियों के खुले मुँह में उन्होंने अन्न डाल दिया। तब यशश्चन्द्र के देखते ही वे पक्षी क्षण भर में ही गायब हो गये॥744॥

रास्ते की ओर कुछ दूरी पार करते समय उन्होंने बन्दरों का झुण्ड देखा। और तभी देखा कि उन बन्दरों के पैर और आँख क्षतिग्रस्त हैं॥745॥

तभी वे असन्तुलित होकर उससे कुछ आगे अतिशय कातर और भयंकर श्रीसैन्धवी सूरी के घर के पास गये॥746॥

और कुछ आगे जाने पर बिलाव के झुण्ड को देखा। वे बिलाव लगातार अतिशय भयंकर शब्द कर रहे थे और उनके रोएँ खड़े हो गये थे॥747॥

अनन्तर वहाँ लाल फूल फेंकते ही वह (झुण्ड) नष्ट हो गया। तोरण (बहिर्द्वार) के आगे प्रभु साँस रोककर महादेवी के समक्ष खड़े थे॥748॥

तभी गणी हेमसूरि अनाकुल भाव से बोले—हम आपके आँगन में अत्यन्त दूर से, कष्टकर भूमि पर पैदल चलकर आये हैं॥749॥

इसलिए, आपको उनकी, अभ्युत्थान आदि रूप में पूजा करनी चाहिए; क्योंकि यह सभी जालन्धर आदि पीठों द्वारा पूजित हैं॥750॥

ऐसा बोलते ही, उन (हेमसूरि) के आगे कान में हिलते कुण्डलोंवाली सैन्धवी देवी अपने हाथों को जोड़कर खड़ी हो गई॥751॥

हेमसूरि बोले—हे देवि! अतिथियों का आतिथ्य न करें, अपितु अपने परिवार से बलपूर्वक भी अम्बड को मुक्त करायें॥752॥

सद्गुरु की यह बात सुनकर वह देवी परमार्थ की बात बोली—लेकिन वह (अम्बड) तो योगिनियों द्वारा हजार भागों में बँट गया है॥753॥

अनन्तर गणी बोले—यदि आपका इस प्रकार महाक्षेप आदि हो तो लौटकर अपने स्थान में बैठने को आप समर्थ हैं॥754॥

प्रभु श्रीहेमचन्द्र को अद्भुत सम्मान प्रदान करें, ताकि वह अपने मण्डल में दोनों (अतिथि एवं आतिथेय) रूपों में विराजमान रहें॥755॥

यह सुनकर भय से उद्भ्रान्त देवी जोरों से चिल्लाई। जब सुरी-वर्ग को बुलाया गया, तब शीघ्र ही मन्त्री को छोड़ दिया गया॥756॥

देवी ऐसा कह सकती हैं कि आपसे क्या बात करें। पर ब्रह्मनिधि-स्वरूप प्रभु की ब्रह्मा आदि की बातों में क्या आस्था?॥757॥

फिर प्रातःकाल भक्ति के सम्बन्ध में कुछ उपहार प्रस्तुत करूँगा— इस प्रकार सुरी (देवी) को विसर्जित कर प्रभु वहाँ से अपने स्थान में चले गये॥758॥

मन्त्रिश्रेष्ठ श्रीमान् अम्बड को रात्रि में नींद आ गई। प्रातः देवी के लिए हजारों प्रकार के भोगों की व्यवस्था की गई॥759॥

इस प्रकार प्रभु ने सैन्धवी देवी से अम्बड को मुक्त कराया तथा श्रीसुव्रतस्वामी के चैत्य का जीर्ण-उद्धार कराया॥760॥

अट्टारह हाथ का चैत्य विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न हुआ। अनेक देवगृहों से भरा वह पर्वत हिमालय के शिखर के समान शोभित हुआ॥761॥

श्रेष्ठ सचिव ने उस शिखर पर ध्वजारोपण का उत्सव आयोजित किया। उसे देखकर तुष्टि के भार से गरिमामय गुरु ने आशीर्वाद दिया॥762॥

जैसे— आप जहाँ हैं, वहाँ सत्ययुग का क्या प्रयोजन? आप जहाँ हैं, वहाँ कलियुग की स्थिति कैसी? यदि कलियुग में आप (जैसे पुण्यवान्) का जन्म हुआ, तो कलि ही रहे, सत्ययुग का क्या प्रयोजन?॥763॥

चन्द्र और सूर्य के स्थितिकाल तक आप अपने वंश के लोगों का मनोरथ पूरा करते रहें और अपने बाहरी और भीतरी शत्रुमण्डल को चूर्ण-विचूर्ण करते रहें॥764॥

प्रभु भूपति ने गुरु से आज्ञा लेकर और अपने स्थान पर आकर प्रधान को आयु प्रदान कर उन्हें हर्ष से पूर्ण कर दिया॥765॥

राजा ने कहा— जिन गुरु की, दुस्साध्य को भी साध्य बनानेवाली ऐसी अमानुषी (दिव्य) शक्ति है, उस शक्ति से किया गया पुण्य मुझमें ही निहित है॥766॥

27. दूसरे दिन, संघ के साक्ष्य में, सम्यक्त्व के उपदेश करने पर और गुरु के माध्यम से उसे ग्रहण करने पर उन राजा ने एक गाथा कही— ॥767॥

उस गाथा का अर्थ है —

मैं आपका किंकर (दास) हूँ और आप नाथ हैं। भवसागर में पड़े हुए मैंने समग्र धन आदि सहित अपने को आपके लिए सौंप दिया है॥768॥

व्याख्या करने पर इस गाथा के अर्थ को सत्यापित करते हुए राजा ने राज्य को समर्पित कर दिया, तब गुरु ने कहा— ॥769॥

हे राजन! हम जैसे निस्संग और निरीहों को राज्य से क्या दरकार? वमन किये हुए भोगों को कैसे पीऊँ? यह पीना अनुचित होगा॥770॥

इस प्रकार दान न लेने कारण में विवाद-बाधा उपस्थित होने पर मन्त्री ने गुरु और राजा के बीच यह वैशिष्ट्य उपस्थित किया॥771॥

सारे राजकार्य न सुनाये गये अथवा मौन रूप में किये जाने चाहिए। इसके बाद प्रभु के राज्य में यह अनुमत होना चाहिए॥772॥

तदनन्तर श्राद्ध, व्रत और सच्चे ध्यान के लिए स्वीकृति होने पर उन प्रभु ने राजा को अध्यात्म-तत्त्व के अर्थ से अवगत कराया॥773॥

सुशास्त्रों में योगशास्त्र को शिरोरत्न जैसा मूल्य दिया गया। उस शास्त्र को स्वयं पढ़ाकर उनके समक्ष उसे व्यक्त और प्रचारित किया॥774॥

28. दर्शनकारी राजा ने जिनदर्शन में नियम को स्वीकार किया। जैसे-तैसे भी वह राजा की मुद्रा के समान मेरे लिए वन्दनीय है॥775॥

एक दिन हाथी पर सवार राजा चतुरंग सेना के बीच राजमार्ग से जाते समय जैन ऋषि को वेश्या के साथ देखा॥776॥

उनके सिर का केश उस्तरे से काटा गया (भूड़ा गया) था। शरीर उजले वैकक्षक (चादर, जो यज्ञोपवीत की तरह एक कन्धे के ऊपर से तथा दूसरे कन्धे के नीचे से धारण की जाती है) से ढका था। टीन बिछे हुए मार्ग पर ध्वनिपूर्ण जूते उनके पैरों में थे॥777॥

अनुपम फण के आकार जैसे पान के बीड़े के समान उनके हाथ थे; उनके भुजदण्ड कन्धे से लटकते हुए थे; वह इस देवी के मन्दिर के बाहर खड़े थे॥778॥

गज के दोनों कुम्भों पर सिर रखकर राजा ने उन्हें प्रणाम किया। हस्तिपृष्ठ के आसन पर बैठे नङ्गूल-नरेश ने मुस्करा दिया॥779॥

वाग्धत मन्त्री ने उसे देखा तो राजा से निवेदन किया। तदनन्तर राजा के समक्ष इस प्रकार की पूज्य धर्मकथा प्रस्तुत की—॥780॥

जैसे-पार्श्वनाथ की वन्दना करनेवाले की न तो कीर्ति होती है, न ही उसका कर्म-विनाश होता है। इस प्रकार वह केवल कायक्लेश ही पाता है तथा कर्मबन्ध भी आयत करता है॥781॥

राजा ने इस बात को किसी से निवेदन करने की सोची। और उसे पूज्यों से निवेदन भी किया कि मैं शिक्षाओं से निर्वृत हूँ॥782॥

इधर उन राजा ने राजा के पैर के नमस्कार को उद्दिष्ट कर मन में चिन्तन किया- क्या मुझमें नमस्यता है?॥783॥

वीतराग की आज्ञा के उल्लंघन तथा त्यक्त भोग के पुनर्ग्रहण करने एवं प्रतिज्ञा के भ्रष्ट होने के साथ देवमुख के अदृश्य होने पर नाम भी दुर्ग्राह्य हो जाता है॥784॥

कामदेव के धनुष जैसे इसके बाहु को छोड़ दिया। कुबुद्धियों के पेटारे को और व्रतकण्टक-रूप पान के बीड़े को भी त्याग दिया॥785॥

नरक के रास्ते में यान-तुल्य जूतों को भी इसने छोड़ दिया। स्वल्प स्वामित्ववाला यह विरागी अपने मूल्यवान् आश्रय में चला गया॥786॥

फिर से व्रत को स्वीकार कर उन महामना ने गुरु के निकट अनासक्त, अनशन-व्रतधारी और प्रत्याख्यान करनेवाला हो गया॥787॥

अपनों द्वारा अनेक बार कहने पर वह अपने आग्रह पर दृढ़ नहीं रह सका। पीछे चलकर वह बदल गया। समुद्र में डूबता हुआ कौन आदमी नाव मिलने पर उसे छोड़ देता है?॥788॥

अनशन में स्थित उसने प्रभावना शुरू कर दी। कौन कल्याणेच्छु तपस्या की महत्ता को स्वीकार नहीं करता? या फिर तपस्या की मूल भावना का त्याग कौन करता है?॥789॥

अधिकारियों द्वारा सूचित किये जाने पर राजा तपोनिधि को नमस्कार करने के लिए अन्तःपुर स्थित परिवार के साथ आनन्दपूर्वक गये॥790॥

जब भी उनके मुख को देखते, वही दिखाई पड़ते। वेश्यागृह के द्वार पर कुत्सित वेशवाले भी नत होते हैं॥791॥

राजा उन गुरु और मुनिवर्ग को नमस्कार करने के बाद उन्हें भी प्रणाम किया और वेश्या की बाँह पकड़ने का निषेध किया॥792॥

महाराज! आप मेरे गुरु हैं। आपने मुझे संसार-सागर से उद्धार किया है। विश्व-वन्दनीय आपका प्रणाम भी अतिदुर्जर है॥793॥

मेरे जैसे भ्रष्टचरित्र लोग, जिन्होंने जिन-वचन का विरोध किया है, नरक के प्रति उत्कट इच्छावाले आराधक क्यों नहीं हों?॥794॥

आप जैसे राजा और अपूर्व पितृतुल्य प्रभु हों, तो वह प्राणधारियों के दोनों लोकों की विपत्ति के विनाशक होंगे॥795॥

अवन्दनीय की वन्दना करने तथा मुझे उद्धार करने के लिए आपने आसक्ति से छुड़ाने वाली मेरी सम-संवेगात्मक वासना (इच्छा) की पूर्ति की है॥796॥

अपने गृहवासियों और यतियों से अभियुक्त भी क्लीब जन जीने के लिए व्रत के कष्टों को प्रायः नहीं सहन कर पाते हैं॥797॥

राजा बोले-हे धीमन्! आप जैसा मुनिश्रेष्ठ कौन है? जो प्रत्येकबुद्ध के समान नैमित्तिक रूप से एकबारगी अनासक्त हो॥798॥

तीर्थकर का दर्शन और प्रणाम ये दोनों ही मेरे लिए स्वभावज हैं। इसे अपने उपकार के लिए मानना कृतज्ञों का शिखर-स्वरूप होना है॥799॥

मेरे वन्दना-मात्र से अर्जित पुण्य को ग्रहण करने और बाँटने को इच्छुक या इस कार्य के योग्य मुझे नहीं मानते हो?॥800॥

सज्जनों के लिए केवल अपना पेट भरना उचित नहीं है, ऐसा बोलनेवाले की बात को मैंने मूल्य दिया और इसके वाचक को बलपूर्वक प्रणाम भी किया॥801॥

अनन्तर यह भी कहा-वह अनशनव्रती धन्य है, जिसने देश और पुण्यशाली प्रजाओं के पाप-पंक को दर्शनामृत की वृष्टि से धो डाला है॥802॥

यह सुनकर आनन्द के विस्तार से गद्गद आँखवाले राजा ने जाकर प्रभु श्रीहेमचन्द्रजी से यह वृत्तान्त कहा-॥803॥

हे प्रभो! आपके द्वारा उपदिष्ट नियमों का भली भाँति पालन कामनाओं का पूरक तथा समस्त मनोवांछित को देनेवाला है॥804॥

गुरु ने कहा-यह आपकी पुण्यदशा जाग रही है, जो गुरुभक्ति-रूप अग्निशिखा से उद्दीपित वह सभी वस्तुओं को प्रकाशित करती है॥805॥

इस प्रकार, जन्म को कृतार्थ करते हुए, सप्तक्षेत्री में धन को लगाते हुए जैन राजा सम्प्रति (सम्राट् अशोक का पौत्र) के समान राजा ने पृथ्वी को जैन भवनों से मण्डित किया॥806॥

29. एक दिन प्रभु ने राजधर्म को स्थिर करने के लिए शलाकापुरुषों के स्वोपज्ञ वृत्त की व्याख्या की॥807॥

एक दिन सूरि ने राजा के समक्ष व्याख्यान के अन्तर्गत श्रीमहावीर के वृत्त तथा देवाधिदेव के सम्बन्ध की व्याख्या की॥808॥

पुराकाल में राजा उदयन की पत्नी प्रभावती देवी राजा चेटक की पुत्री थी॥809॥

समुद्र में किसी व्यन्तर ने विशाल जहाज को स्तम्भित कर श्राद्ध के अर्द्ध समुद्र को अर्पित किया॥810॥

इन प्रभु देवाधिदेव को उपलक्षित और प्रकाशित करनेवाले वही हैं, दूसरा नहीं; यह कहकर वह अन्तर्हित हो गये॥811॥

वीतभय नाम के नगर में जहाज का जुगाड़ कर उसका उद्घाटन किसी दूसरे ने नहीं किया, वरन् वीरा देवी ने उसे प्रकाशित किया॥812॥

जब प्रद्योतराज के हाथ में वह प्रतिमा गई, तब दासी ने उस प्रतिमा को बाद में उसी नगर में छोड़ दिया॥813॥

ग्रन्थ के भारी-भरकम हो जाने के भय से उनकी कथा का वर्णन नहीं किया गया। श्रुति के प्रति कौतूहल रखनेवाले लोग श्रीवीरचरित से ही उनके बारे में जानेंगे॥814॥

उस बात को सुनकर निपुण और धीर बुद्धिवाले उन राजा ने अपने प्रतिनिधि को भेजकर उस जनहीन वीतभय नगर की उस भूमि को क्षणभर में खुदवाया॥815॥

भूमि के भीतर राजमहल को देखकर राजा अतिशय हर्षित हुए। वहाँ उन्होंने देवता के रहने योग्य स्थान में अर्हत की प्रतिमा प्राप्त की॥816॥

राजा अतिशय उत्सवपूर्वक उस प्रतिभा को अपनी राजधानी ले आये। और, उन्होंने महल के देवगृह में उस प्रतिभा का प्रवेश कराया॥817॥

राजा ने उन देवता के योग्य स्फटिक पत्थर का प्रासाद बनवाना शुरू किया, किन्तु भविष्यविज्ञाता प्रभु ने उस निर्णय का निषेध कर दिया॥818॥

यह कहकर कि राजमहल के बीच देवगृह नहीं होना चाहिए। तब इस प्रकार की प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न कर राजा ने निर्माण रुकवा दिया॥819॥

मिथ्यात्व-रूप पर्वत के लिए वज्र-स्वरूप जैनशासन की एकच्छत्रता को प्रकाशित करते हुए प्रभु श्रीहेमचन्द्र सुशोभित हुए॥820॥

30. तण्डक-राजा ने लोलार्क चैत्य के आगे क्षेत्रपति के घर में मांस से भरा थाल देखा॥821॥

शिव की तरह (ऋद्ध) उन राजा ने उस क्षेत्रपति के संहार के लिए त्रिलोचन नाम के नगर-रक्षक को उसे दिखाया॥822॥

असंख्य जनों के संचार के बीच जब वह (क्षेत्रपति) उपलब्ध नहीं हुआ, तब महामति राजा को उसे खोजने का उपाय सूझा॥823॥

कुशाग्रबुद्धि राजा ने कुम्हारों को बुलाकर प्रत्येक से पूछा-वह थाल (बरतन) किसने बनाया है?॥824॥

उनमें से एक ने अभिज्ञापूर्वक कहा-मैंने बनाया है। वह नड्डूल राजा के पनडब्बा ढोनेवाले के रूप में पहचाना गया॥825॥

उन कुम्हारों को विसर्जित करने के बाद नगर-रक्षक ने राजा को सूचित किया। राजा ने तत्क्षण केल्लहण नाम के मण्डलेश्वर को बुलाया और कहा-॥826॥

देश की शोभा बढ़ाने में आज्ञा-भंग करने के अपराध में तुम्हारी गिनती की जा रही है। इस पर उस कुम्हार ने कहा-प्रभो! यह क्या हो रहा है, मैं नहीं जानता॥827॥

तदनन्तर द्वार-रक्षक के रूप में प्रसिद्ध पनडब्बा ढोनेवाले ने प्रभु के व्याकुल करनेवाले लाख (राशि) को छोड़कर सन्तोष किया॥828॥

चैत्र, माघ और आश्विन मास के उत्सवों में भी अहिंसा से देवियों ने हर्ष प्राप्त किया। गुण के प्रति ईर्ष्या की बात कौन करे?॥829॥

कपूर की प्रमुखता से युक्त भोगों तथा लड्डू आदि दैनिक आहारों से सन्तुष्ट व्यक्ति का मद्य, मांस आदि लिजलिजे आहारों के प्रति आग्रह शिथिल ही रहता है॥830॥

तब शैवाचार्य भी मिथ्या धर्म के प्रति आग्रहशील होते हैं। और फिर, कर्तव्य कर्म के समय जटा धारण कर स्थापनाचार्य की भूमिका का संवहन करते हैं॥831॥

श्रीवीतराग की अर्चना करने तथा परमेष्ठी को नमस्कार करने से धर्म की प्राप्ति होती है, फिर भी लोग राजा की अर्चना करते हैं॥832॥

शशांक-कुल के शिरोमणि हेमचन्द्र प्रभु की जय हो। वह चर-अचर प्राणियों को अभय दान देने में समर्थ है; अखिल जड़ की दृष्टि-रूप नदी में पैर के नीचे रत्नराशि

प्रदान करते हैं। वह अपने प्रकाशमान श्रेष्ठ आगम द्वारा प्रकटित तत्त्व के पारगामी (विद्वान्) हैं॥833॥

वह पंचांग व्याकरण, प्रमाणशास्त्र, प्रमाणमीमांसा, छन्द और अलंकार के चूडामणि हैं; उन प्रभु ने शास्त्रों की रचना की है॥834॥

शुद्ध कविता-नदी के उपाध्याय (हेमचन्द्र) ने एकार्थ, अनेकार्थ, देश्य और निर्घण्ट इन चार नामकोशों का भी निर्माण किया है॥835॥

गृही जनों के व्रत-विचार के क्रम में उन्होंने तिरसठ शलाकापुरुषों के व्रत की रचना की है। जगत् के उपकार करने को इच्छुक उन्होंने अध्यात्म योगशास्त्र की रचना की है॥836॥

लक्षण, साहित्य-गुण और द्रव्याश्रय-महाकाव्य तथा बीस श्रेष्ठ वीतराग-स्तवों का भी निर्माण किया है॥837॥

इस प्रकार, उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या नहीं है, अर्थात् वे असंख्य हैं। मेरे जैसा मन्दबुद्धि (ग्रन्थकार : प्रभाचन्द्राचार्य) उनके ग्रन्थों के नाम भी नहीं जानता है॥838॥

31. एक दिन व्याख्य के क्रम में प्रभु ने राजा के समक्ष श्री-सम्पन्न शत्रुंजय गिरि तथा श्री-सम्पन्न रैवतक गिरि की स्तुति की व्याख्या की॥839॥

तदनन्तर उपदेश-रूप प्रदीप से अन्तस्तम (मन के अन्धकार) को विध्वस्त (दूर) करनेवाले तथा इन्द्र-सदृश उज्ज्वल कीर्ति से मण्डित राजा ने तीर्थ यात्रा की॥840॥

एक दिन गुरु के साथ उन्होंने बिना जूते के (नंगे पाँव) पैदल पाँच गव्यूति (दस कोस) की यात्रा के क्रम में शीघ्र ही वलभी के निकट पहुँच गये॥841॥

वहाँ 'स्थाप' ओर 'ईर्ष्या' दो पर्वत थे। गुरु ने उनके नीचे प्रसन्नतापूर्वक प्रातःकालीन आवश्यक कार्य सम्पन्न किये॥842॥

धर्म की वासना के हर्ष से भरे हुए, अपने प्रभुत्व से आत्मीयों के मन के विजेता तथा गुरुनिष्ठा के प्रति विशिष्ट बुद्धिवाले राजा ने वहाँ आकर, उस प्रयाण के प्रारम्भ में प्रभु के चरणों को नमन कर गुरुभक्तिवश प्रासाद का निर्माण कराया॥843-844॥

श्रीनाभिपुत्र आदिनाथ तथा अन्य तेईस जिन-प्रतिभाओं का निर्माण और प्रतिष्ठा सम्पन्न कर उन राजा ने यहाँ उन्हें प्रभु के पार्श्व में स्थापित किया॥845॥

विमलाद्रि पर जिनाधीश को अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और अपने अनुमान से उनकी पूजा कर रैवतक पर्वत पर चले गये॥846॥

पगडण्डी के अभाव में भारी कष्ट से चढ़ने योग्य पर्वत को देखकर उन राजा ने वाग्भट मन्त्री को, उस पूजा-कार्य को सम्पन्न करने का आदेश दिया। मन्त्री ने राजाज्ञा को स्वीकार किया॥847॥

वहाँ छत्रशिला की आशंकावश पर्वत पर चढ़ना राजा के लिए विघ्न-स्वरूप हुआ। इसलिए उन्होंने नीचे भूमि (उपत्यका) पर अवस्थित तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ की पूजा की॥848॥

तदनन्तर लौटकर वह राजा अपने नगर पहुँच गये और जैन-यात्रोत्सव करके अपने को पुण्यवान् माना॥849॥

वर्ष ग्यारह सौ पैंतालीस (1145) में, कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि में, प्रभु का जन्म हुआ। वर्ष ग्यारह सौ पचास (1150) में उन्होंने व्रत धारण किया॥850॥

वर्ष ग्यारह सौ छियासठ (1166) में सूरि-पद पर उनकी प्रतिष्ठा हुई। वर्ष बारह सौ उनतीस (1229) में प्रभु का अवसान हो गया॥851॥

इस प्रकार श्रीजिनशासन-रूप मेघ के लिए सूर्य-स्वरूप श्रीहेमचन्द्र प्रभु का वृत्त (चरित) अज्ञान-रूप अन्धकार के प्रचार का हरण करनेवाला है। मेरे जैसे सीमित दृष्टिवालों की विद्या-रूप कमलिनी को विकसित करनेवाला है। राजा की अतिशय वृद्धि के लिए इसका स्फुरण सर्वविदित है। यह वृत्त विश्व के जागरण के लिए तथा दुष्कर्म के विनाश के लिए हो॥852॥

श्रीचन्द्रप्रभुसूरि के पट्ट-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप तथा श्रीराम और लक्ष्मी के पुत्र श्रीप्रभाचन्द्रसूरि द्वारा मन में संकल्पित पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण के क्रम में श्रीप्रद्युम्न मुनिश्रेष्ठ द्वारा विवेचित श्रीहेमचन्द्र की कथा के समान यह बाईसवाँ शृंग (शिखर) समाप्त हुआ॥853॥

॥ श्रीहेमचन्द्रसूरि-प्रबन्ध (चरित) समाप्त॥



ग्रन्थकार-कृत अपनी प्रशस्ति

प्रकाशपूर्ण पात्र-स्वरूप, कवि, मुनि और विद्वान् से विभासित, राजसेव्य, सभी इष्टार्थ को प्रदान करनेवाला, सुप्रकाशित, कल्पवृक्ष के समान अति सुन्दर, श्रीजैन-चरणाश्रय से शुद्ध सिरों से युक्त, सिद्धि-सम्पन्न, चन्द्र-स्वरूप तथा सुमेरु के तुल्य भद्रशाल गच्छ है॥१॥

उस गच्छ में, पुराकाल में प्रद्युम्नसूरि हुए। वह गच्छ मन्दार वृक्ष के तुल्य था, जिसकी धड़ और शाखाएँ कमनीय थीं। जिसके संगम-रूप अमृत रस से अनेक सुधर्माधीश एवं अतिशय मनोऽभिराम सुधी हुए॥२॥

अल्लू-सभा में दिगम्बर के पराजित होने पर उसके पक्ष के कोशरक्षक प्रभु को देने के लिए एकपट (वस्त्र) ले आये। उस एकपट को विद्वानों ने ग्रहण किया॥३॥

इनके शिष्य अभयदेवसूरि हुए। यह जड़ता-रूप अन्धकार का हरण करनेवाले थे; शरीरेन्द्रिय से सूर्य के समान थे; भव्यों और आप्तों को परम आनन्द देनेवाले थे; इनका 'वादमहार्णव' ग्रन्थ विदित है, जो प्रौढ़ प्रमेय-रूप तरंग का वहन करता है। जिन शासन-रूप जलयान में यात्रा करनेवाले भवरूप समुद्र के व्यापारियों को निश्चित ही अर्थ प्रदान करता है॥४॥

त्रिभुवनगिरिस्वामी श्रीसम्पन्न कर्दम-नरेश थे; उनके शिष्य श्रीधनेश्वर नाम के हुए। उन सद्गुरु के पट्ट में 'अवनि-स्तुत' प्रभृति हुए। तत्पश्चात् यह गच्छ विश्व में 'राजगच्छ' नाम से विदित हुआ॥५॥

सद्गुरु अजितसिंह के चरण-कमल के सूर्य-स्वरूप, भव्य-रूप कमल के लिए श्री के जनक जिनकी वचन-रूप किरणों का देदीप्यमान वितान को जड़ जगत् की विकृत दृष्टि सहन करने में असमर्थ है॥६॥

सुगुरु श्रीवर्द्धमान कर्कराशि के सूर्य के उन्नत धाम से मिलकर, मत-रूप संघ के जंगम शरण होकर जन के दोष का हरण करनेवाले हैं॥७॥

उस पट्ट-रूप वृक्ष के लिए पोषक-स्वरूप ग्रीष्मान्त की शोभा धारण करनेवाले श्रीशीलभद्र ने सूरि-पद प्राप्त किया, जिनकी कीर्ति का लता-वितान संसार में धर्मोपदेश-रूप मेघ के जल से उन्नति को प्राप्त हुआ॥८॥

उनके ही चरण-रूप सरोवर के हंस-स्वरूप श्रीचन्द्रसूरि हुए। वह विवेचक, शुद्ध, सद्बचन बोलनेवाले तथा उनके वचन से लोग उपजीवी होते थे॥९॥

सदाबहार कान्ति धारण करनेवाले इन सूरि की मति अर्थ की प्रकाशिका, शास्त्रचक्षुवालों के लिए अमृतांजन तथा कपूर के रस से युक्त जैसी थी॥१०॥

श्रीशीलभद्र गुरु के राजपूजित चार शिष्य हुए— उक्त श्रीचन्द्र के अतिरिक्त प्रामाणिक ग्रामणी श्रीभरतेश्वर; और तीसरे जिनके स्मरण-मात्र से पाप का हरण होता था,

वैसे शिष्य का नाम था प्रभु धर्मघोष, कल्याण-रूप कन्दल के लिए मेघ-स्वरूप श्रीसर्वदेव चौथे शिष्य थे॥11॥

कालजयी श्रीश्रीचन्द्र मुनिश्रेष्ठ के ये शिष्य हुए-जिनेश्वर प्रभु, जो श्री के पात्र तथा संघ-रूप समुद्र के चन्द्रमा-स्वरूप थे; श्रीजिनदत्त सूरि, जो उदय-युक्त बुद्धि और उन्निद्र विद्या से विभूषित थे; श्रीपद्मदेव प्रभु, जो चरित्र-रूप निर्मल पर्वत के नन्दन वन-स्वरूप थे॥12॥

संघ-रूप पर्वत पर उत्पन्न सुन्दर रत्न-स्वरूप श्रीपूर्णभद्र गुरु थे, जिनकी सन्निधि में संसार के भव्य जन विश्व-विषयों का अवलोकन करते थे॥13॥

उनके ही पट्ट में श्रीचन्द्रप्रभसूरि हुए, जो पट्ट-रूप उदय पर्वत के अमृतरुचि (चन्द्र) के समान थे, जो भव्यजन-रूप चकोरों को प्रीत करते थे। उनकी मति अद्भुत थी; वह ज्योत्स्ना के निधान की तरह सुशोभित थे। इसमें आश्चर्य नहीं कि कलंक के धाम तथा अनुल्लङ्घ्य अन्धकार के मूर्ति-स्वरूप संसार-समुद्र को क्षण में पार करनेवाले थे तथा विनम्र कमलों को उल्लसित करनेवाले थे, फिर भी दोषाकर नहीं थे॥14॥

श्रीप्रभाचन्द्र आचार्य के चरण-कमलों का भ्रमर यद्यपि फूलों पर रहनेवाला होता है, फिर भी गुरु का चरण सदा नया ही रहता है॥15॥

श्रीहेमचन्द्रसूरि की अनुध्यान-प्रवृत्ति से परिशिष्टपर्व की दृष्टि सम्पुटित वासना जैसी है॥16॥

श्रीवज्र से अनुप्रवृत्त प्रकट मुनिपति के श्रेष्ठ वृत्तों को उन-उन सम्बद्ध ग्रन्थों से और कुछ को श्रुतधर के मुख से सुनकर और कुछ को संकलित कर इनके दुष्प्राप्य होने के कारण छिटपुट रूप में एकत्र चित्रित कर जिज्ञासा के एकमात्र आग्रहवश अधिगत विषय में संकलन को विस्तार दिया गया है॥17॥

सम्प्रदाय के भेद से यहाँ जो कुछ कमी रह गई है, उसे विद्वान् मुञ्ज (प्रभाचन्द्राचार्य) पर कृपा करके संशोधित कर लें॥18॥

मैंने शून्य की आराधना की है; अपनी तुष्टि को मूल्य दिया है। अपनी उक्ति में पूर्व के कथाकारों द्वारा प्रोक्त कथाओं की स्थापना की है॥19॥

आकाश के रन्ध्र से जानेवाले सिद्ध-किन्नरों के लिए तुंगता के कारण शिखर की स्थिति अनुल्लङ्घनीय है। उदित वृत्त-रूप कोष के प्रति अनुराग और प्रौढ अर्थ की सम्पत्ति का कारक, पूर्व की रत्नप्रभा से पर की ज्योति को तिरस्कृत कर प्रकाशित उदय से युक्त पूर्व के ऋषियों के चरित्र-रूप पर्वत पर आरोहण सूर्य-चन्द्र के अस्तित्व तक बना रहे॥20॥

श्रीप्रद्युम्न गुरु का चन्द्र-सदृश विशद बोध शुद्धता से मिलकर मेरे रक्त की कान्ति से मेरा यश-पुरुष प्रति-पद स्फुरित रहे। ज्ञानश्री के समक्ष पदार्थ के दो घटना-बिम्ब के उदय से, ग्रन्थ के व्याज से उत्पन्न मेरा अक्षर-शुचि-सहित द्रम्भ चिरकाल तक विराजता रहे॥21॥

वर्ष तेरह सौ चौतीस (1334) में चैत्र की शुक्ल-सप्तमी को शुक्र के दिन, पुनर्वसु नक्षत्र में पूर्व ऋषि का चरित सम्पूर्ण हुआ॥22॥

अपने गुरु की शिक्षा के प्रसादवश मैंने जो यह प्रयास किया है, वह मेरे पुण्य

का संवाहक है। व्याख्यान में जिनका मन लगा है, वे श्रवण के प्रति आग्रहशील होकर उत्कृष्ट कल्याण की सुसंगति प्राप्त करें॥23॥

इस ग्रन्थ का मान प्रति अक्षर की गणना से सुनिर्णीत है। कुल पाँच हजार सात सौ चौहत्तर (5774) अक्षर हैं॥24॥

शिवमस्तु।





सिद्धि गदे वीरजिणे वि-जदु-चदु-वे सुवास संकंते ।
वित्त सिया तेरसिपं चंददिणे जाद-ऊसवे संते ॥१॥
वेसालीए पागय-विज्जाबीडरुस मूल-पहरुस ।
सिरि राजिंदपसादे रदुई ठावणं किदवं ॥२॥

महावीर भगवान के निर्वाण से २४८२ (दो हजार
चार सौ ब्यासी) वर्ष व्यतीत होने पर चैत्र शुक्ल त्रयो-
दशी दिन सोमवार को महावीर जन्मोत्सव के
सुअवसर पर वैशाली प्राकृत विद्यापीठ की
शिलान्यास विधि राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद जी
ने अपने कर-कमलों द्वारा सम्पन्न की ।



प्रमुख प्रवृत्तियाँ

1. स्नातकोत्तर अध्यापन
2. शोधकार्य
3. शोध प्रकाशन
4. विद्वद् गोष्ठियाँ एवं विशेष व्याख्यान
5. स्नातकोत्तर तथा शोध छात्रवृत्तियाँ